भारत की
जन-जातियाँ तथा संस्थाएँ
(PEOPLES AND INSTITUTIONS OF INDIA)

अखिल-भारतीय-मंगलाप्रसाद-पारितोषिक-प्राप्त
विद्यामार्तण्ड प्रो० सत्यव्रत सिद्धान्तालंकार
भूतपूर्व वाइस-चाँसलर, गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय

१९६०] प्रथम-संस्करण [मूल्य १२॥)

प्रकाशक :
विजयकृष्ण लखनपाल एण्ड कम्पनी,
'विद्या-विहार', ४-बलबीर एवेन्यू,
देहरादून

मुद्रक
न्यू इण्डिया प्रेस
कनाट सरकस
नई दिल्ली

विषय-सूची

[१] भारत की जन-जातियाँ

[२] भारत की संस्थाएँ

भूमिका

वनस्पति के जीवन को **तीन** भागों में बाँटा जा सकता है। **बीज** जिसमें वृक्ष-पौधे फूटते हैं, जो वनस्पति का आधार है; **शाखा-प्रशाखा-पत्ती-पुष्प-फल** जो वनस्पति का मानो शरीर है; वनस्पति का **आभ्यन्तर-रस** जो उसे जीवन प्रदान करता है। **प्राणि-जगत्** को भी इसी तरह तीन भागों में बाँटा जा सकता है। प्राणी का **रज-वीर्य** जिसमें वह जीवन ग्रहण करता है, जो उसका मूलाधार है; प्राणी के **अंग-प्रत्यंग** जो उसके शरीर हैं; प्राणी का **व्यवहार**, उसकी शिक्षा-दीक्षा जो उसका जीवन है। वनस्पति तथा प्राणी की तरह **समाज** के भी उसी प्रकार के तीन भाग हैं। समाज के **मूल-तत्त्व** जो हर समाज में काम कर रहे हैं; समाज की **संस्थाएँ** जो मानो समाज रूपी वनस्पति की शाखा-प्रशाखाएँ या समाज रूपी प्राणी के अंग-प्रत्यंग हैं; समाज का **कल्याण** या अकल्याणमय जीवन जो उस समाज को जीवित या मृत, उन्नत या अवनत बनाते है।

समाज की उक्त तीन बातों को सम्मुख रख कर हमने तीन ग्रन्थ लिखे हैं। समाज के मूल तथा आधारभूत तत्त्वों को दृष्टि में रख कर '**समाजशास्त्र के मूल-तत्त्व**'-ग्रन्थ को लिखा है जिसमें समाज के उन सब मूल-तत्त्वों का वर्णन है जो प्रत्येक समाज के आधार में काम करते हैं; समाज के शरीर अथवा समाज की संस्थाओं को दृष्टि में रख कर '**भारत की जन-जातियाँ तथा संस्थाएँ**'---यह ग्रन्थ लिखा है जिसमें इस देश के आदिवासियों तथा हिन्दू-मुसलमान आदि निवासियों की संस्थाओं का विस्तार से वर्णन है; समाज के कल्याण या अकल्याणमय जीवन को दृष्टि में रख कर '**समाज-कल्याण तथा सुरक्षा**'---यह ग्रन्थ लिखा है जिसमें इस देश की शिक्षा, निर्धनता, बेकारी, अपराध, कल्याण-योजनाओं आदि का वर्णन है, उन सब समस्याओं का वर्णन है जिनके समाधान से समाज उन्नत हो सकता है। इन तीनों ग्रन्थों के समन्वय से समाज के मूल, समाज के शरीर तथा समाज के जीवन---समाज के इन तीनों पहलुओं पर प्रकाश पड़ जाता है।

अभी तक हमारे दो ग्रन्थ ही प्रकाशित हुए थे---'समाजशास्त्र के मूल-तत्त्व' और 'समाज-कल्याण तथा सुरक्षा'। हमारे मित्रों का अनुरोध था कि समाजशास्त्र के विषय पर हमारी रचनाओं को तब तक वे अधूरा मानते रहेंगे जबतक हम 'भारत की संस्थाओं' पर भी एक ग्रन्थ नहीं लिखेंगे। मित्रों के इस आग्रह को टालना हमारे लिए जब कठिन हो गया तब इस ग्रन्थ को न लिखना भी हमारे लिए

कठिन हो गया। आत्म-सन्तोष के अतिरिक्त मित्रों के उक्त आग्रह को न टाल सकना--इन दो बातों से इस ग्रन्थ की रचना हुई है।

हमने इस ग्रन्थ में केवल युरोपियन विद्वानों की बातों का उल्लेख नहीं किया। जहाँ उसकी ज़रूरत पड़ी वहाँ किया भी है, परन्तु भारत की संस्थाओं पर भारतीय दृष्टि-कोण क्या है--इसको अधिक महत्त्व दिया है। वर्ण-व्यवस्था का आधार क्या था, आश्रम-व्यवस्था क्या थी, संस्कारों की प्रथा के आधार में क्या तत्त्व काम कर रहे थे, गृहस्थ-आश्रम का आदर्श क्या था, वैदिक-काल में स्त्रियों की क्या स्थिति थी--इन सब विषयों पर हमने प्रचलित विचार-सरणी को न अपना कर इनकी तात्त्विक विवेचना की है, और हमें पूर्ण आशा है कि पाठकों को इन विचारों में कुछ मौलिकता का आभास मिलेगा। हमने इस ग्रन्थ में अपनी लेखनी को खुली छूट दी है, इसलिए ग्रन्थ कुछ बड़ा हो गया है, परन्तु बड़ा होने से इसकी उपादेयता भी कुछ बढ़ ही गई है।

समाज से सम्बन्ध रखने वाले सब विषयों का इस पुस्तक में समावेश है इसलिये यह पुस्तक सर्व-साधारण के काम की तो है ही, परन्तु विश्व-विद्यालयों की 'समाज-शास्त्र'-विषयक स्नातक तथा स्नातकोत्तर कक्षाओं में भी इसका उपयोग किया जा सकेगा--इसमें सन्देह नहीं। पुस्तक के आगामी संस्करणों को अधिक उपयुक्त बनाने के लिए जो महानुभाव अपने निर्देश भेजेंगे उनका हृदय से स्वागत किया जायगा।

—सत्यव्रत

विद्या-विहार
३० जून १९६०

भारत की जन-जातियाँ

[PEOPLES OF INDIA]

भारत की जन-जातियाँ तथा संस्थाएँ

१

संसार की जीवित प्रजातियाँ
(LIVING RACES OF THE WORLD)

प्रागैतिहासिक-काल के मानव का अध्ययन करते हुए मानव-शास्त्र में कई प्रकार के मानवों का वर्णन किया जाता है। कहीं पिथैकैन्थ्रोपस का, कहीं पेकिंग और पिल्टडाउन मानव का, कहीं हीडलबर्ग-मानव का और कहीं नियेन्डरथल-मानव का। हमें इन सब का यहाँ वर्णन नहीं करना। आदिकालीन-मानवों के इन रूपों में से किसी एक रूप से वर्त्तमान-मानव का प्रारम्भ हुआ है, जिसे मानव-शास्त्र की परिभाषा में 'मेधावी-मानव' (Homo Sapiens) कहा जाता है। इसी 'मेधावी-मानव' से हम इस ग्रन्थ की कहानी शुरू करेंगे। इसे 'मेधावी-मानव' इसलिए कहते हैं क्योंकि विकास की परम्परा में से गुजरते हुए जब मानव इस अवस्था में पहुँचा तब वह पशु-जीवन छोड़ कर कुछ-कुछ मेधा से, बुद्धि से काम लेने लगा। इस 'मेधावी-मानव' से मनुष्य की कई शाखाएँ फूटी हैं जिनमें सफ़ेद, पीले, काले रंग के मानव हैं। इन सफ़ेद, पीले, काले मानवों से हर-एक से फिर आगे शाखाएँ फूटी हैं जो मानव की भिन्न-भिन्न नस्लें हैं, भिन्न-भिन्न प्रजातियाँ हैं। इन नस्लों अर्थात् प्रजातियों का आधार रुधिर की एक-दूसरे से भिन्नता माना जाता है। एक प्रकार के रुधिर के लोग एक प्रजाति के और दूसरे प्रकार के रुधिर के लोग दूसरी प्रजाति के माने जाते हैं। जो लोग अपनी प्रजाति के रुधिर को श्रेष्ठ मानते हैं, वे दूसरे रुधिर वालों से विवाह-सम्बन्ध तथा मेल-जोल उचित नहीं समझते। उनका कहना है कि अपने से भिन्न रुधिर के व्यक्तियों में विवाह-सम्बन्ध से उनकी प्रजाति के गुण कम हो जायेंगे। प्रजाति के आधार पर श्रेष्ठता का विचार प्रायः हर देश में पाया जाता है। युरोप में जर्मन लोग अपने को अन्य प्रजातियों से श्रेष्ठ मानते रहे। इसी विचार के आधार पर हिटलर का दावा था कि जर्मन प्रजाति संसार पर राज्य करने के लिए ही पैदा हुई है। भारत में भी ब्राह्मण लोग अपने रुधिर को दूसरों से श्रेष्ठ मानते रहे, और अन्य प्रजातियों के साथ विवाह-सम्बन्ध पर प्रतिबन्ध लगाते रहे। प्रजाति का विचार आज भी संसार के लिए

एक जीवित-जागृत विचार है। इससे संसार में मनुष्य मनुष्य में दीवार खड़ी हुई है। इस विचार पर लोग वैज्ञानिक-दृष्टि से विचार नहीं करते, अटकलपच्चू अपनी-अपनी हाँकते हैं। इसलिए यह जानना आवश्यक है कि प्रजाति का वैज्ञानिक पहलू क्या है। प्रजाति के वैज्ञानिक पहलू पर समाज-शास्त्रियों ने अध्ययन किया है। हम उसी की चर्चा इस अध्याय में करेंगे।

'प्रजाति'-शब्द अंग्रेजी के 'रेस'-शब्द के लिए घड़ा गया है। 'प्रजाति' के स्थान में हम लोग प्रायः 'जाति'-शब्द का प्रयोग करते रहे हैं। 'जाति'-शब्द और इसी तरह अंग्रेजी का 'रेस'-शब्द —ये दोनों इतने व्यापक तथा लचकीले रहे हैं कि इनका वैज्ञानिक रूप कुछ नहीं रहा। हम अंग्रेजों, फ्रांसीसियों तथा चीनियों के लिए अंग्रेज-जाति, फ्रेंच-जाति, चीनी-जाति—इन शब्दों का प्रयोग करते रहे हैं। वास्तव में ये जातियाँ नहीं, एक भूखंड पर रहने वाले लोग हैं। इंग्लैण्ड के भू-खंड पर रहने वाले अंग्रेज, फ्रांस के भू-खंड पर रहने वाले फ्रेंच तथा चीन के भू-खंड पर रहने वाले चीनी। हम लैटिन-जाति, ग्रीक-जाति—इन शब्दों का प्रयोग करते रहे हैं। वास्तव में ये भी जातियाँ नहीं, एक भाषा बोलने वाले लोग हैं। लैटिन-भाषा बोलने वाले लैटिन तथा ग्रीक-भाषा बोलने वाले ग्रीक। हम मनुष्य-जाति, पशु-जाति—इन शब्दों का प्रयोग करते रहे हैं। वास्तव में ये भी जातियाँ नहीं, प्राणियों के भिन्न-भिन्न विभाग हैं। इसी लिए समाज-शास्त्रियों ने 'जाति' से पृथक् एक 'प्रजाति'-शब्द की रचना की है ताकि हम इस विषय पर चालू भाषा में विचार करने के स्थान में वैज्ञानिक-भाषा में विचार कर सकें। जिस विषय को हम स्पष्ट रूप से समझना चाहते हैं उसके लिए हमें 'जाति', 'प्रजाति', 'अभिजाति', 'प्रजातीय-गुण' तथा 'स्कन्ध'—इन पाँच शब्दों के अर्थों को अलग-अलग समझना होगा।

१. जाति, प्रजाति, अभिजाति, प्रजातीय-गुण तथा स्कन्ध (Species, Race, Breed, Strain, Stock)

हम इस विषय को वैज्ञानिक रूप देने के लिए, जाति, प्रजाति, अभिजाति, प्रजातीय-गुण तथा स्कन्ध—इन पाँचों शब्दों को भिन्न-भिन्न अर्थों में प्रयुक्त करेंगे जिससे विषय स्पष्ट हो जाय।

'प्राणि-शास्त्र' में प्राणियों के मुख्य तौर पर दो विभाग किये जाते हैं। एक तो शेर, कुत्ता, बिल्ली—यह विभाग है, दूसरा शारीरिक-रचना के भेद से शेरों में कई तरह के शेर, कुत्तों में कई तरह के कुत्ते, बिल्लियों में कई तरह की बिल्लियाँ हैं। शेर, कुत्ता, बिल्ली की तरह मनुष्य भी प्राणियों का एक विभाग है, और जैसे शेरों में कई तरह के शेर, और कुत्तों में कई तरह के कुत्ते हैं, वैसे मनुष्यों में भी शारीरिक-रचना के भेद से कई तरह के मनुष्य होते हैं। कुत्ते को 'नस्ल' या 'प्रजाति' (Race) नहीं कहा जाता, उसे 'जाति' (Species) कहा जाता है, तरह-तरह के कुत्तों को कुत्ते की 'नस्लें' या 'प्रजातियाँ' (Races) कहा जाता है। कुत्ता तो एक 'जाति' (Species) है, परन्तु इस जाति में कोई अलसे-

शियन हैं, कोई भबरा और बालों वाला है—यह 'प्रजाति' (Race) कहलाता है। जिस 'नस्ल' या 'प्रजाति' का कुत्ता हो, उस 'नस्ल' या 'प्रजाति' की कुतिया के साथ उसके संयोग से सन्तान हो सकती है; दूसरी 'नस्ल' या 'प्रजाति' की कुतिया के साथ संयोग से भी इसकी सन्तान हो सकती है। यह सन्तान 'अभिजाति' (Breed) कहलाती है। शुद्ध प्रजातियों के संयोग से शुद्ध तथा अमिश्रित-रुधिर की सन्तान होगी, जिसे 'शुद्ध-अभिजाति (True breed) कहा जायगा, भिन्न-भिन्न प्रजातियों के संयोग से मिश्रित-रुधिर की सन्तान होगी, जिसे 'मिश्रित-अभिजाति' या 'संकर' (Mixed breed) कहा जायगा। इसी प्रकार वैज्ञानिक परिभाषा में 'मनुष्य' को 'नस्ल' या 'प्रजाति' (Race) नहीं कहा जाता, उसे 'जाति' (Species) कहा जाता है। 'मेधावी-मानव' (Homo Sapiens) शेर-कुत्ते-बिल्ली आदि प्राणि-वर्ग की तरह प्राणियों का एक वर्ग है, एक 'जाति' (Species) है, तरह-तरह की और भिन्न-भिन्न शारीरिक-रचना के मनुष्यों को—काले, गोरे, पीले, लम्बे, नाटे, घुंघराले—इन को 'प्रजाति' (Races) कहा जाता है। काले का गोरे से संयोग हो सकता है, पीले से संयोग हो सकता है, गोरे का काले-पीले से संयोग हो सकता है। । इस प्रकार के संयोग से जो सन्तान होगी वह 'अभिजाति' (Breed) कहलायेगी। एक ही 'प्रजाति' की अपनी 'प्रजाति' में संयोग से जो सन्तान होगी वह 'शुद्ध-अभिजाति' (True breed) कहलायेगी, दूसरी 'प्रजाति' में संयोग से जो सन्तान होगी वह 'मिश्रित-अभिजाति' (Mixed breed) कहलायेगी। 'शुद्ध-अभिजाति' (True breed) में अभिजाति के शुद्ध गुण आते हैं; 'मिश्रित-अभिजाति' में दो प्रजातियों के गुण आ जाते हैं। इन गुणों को 'प्रजातीय-गुण' (Strains) कहते हैं। अंग्रेज और नीग्रो के मेल से जो सन्तान होगी उसमें कुछ अंग्रेज के गुण आ जायेंगे, कुछ नीग्रो के। ये गुण 'प्रजातीय-गुण' (Strains) कहलायेंगे। वर्तमान-युग में प्रजातियों का इतना सम्मिश्रण हो चुका है कि 'शुद्ध-अभिजाति' (True breed) तो कहीं मिलती ही नहीं, सभी जगह 'प्रजातीय-गुण' (Strains) मिलते हैं।

जाति, प्रजाति, अभिजाति तथा प्रजातीय-गुणों के अलावा 'स्कन्ध'-शब्द का अर्थ जान लेना भी आवश्यक है। मनुष्य एक 'जाति' (Species) है, आज 'प्रजातियाँ' (Races) हजारों मौजूद हैं। 'जाति' से एकदम तो 'प्रजातियाँ' नहीं पैदा हो गईं। जैसे वृक्ष का एक बड़ा तना होता है, उससे दो या तीन तने निकलते हैं, और इन तनों से बीसियों-पचासों टहनियाँ निकलती हैं, इसी प्रकार 'मनुष्य-जाति' (Homo sapiens या Human species) तो पहला तना है। इससे शुरू-शुरू में तीन-चार तने और फूटे जिनमें से हर-एक से 'प्रजातियों' (Races) के रूप में सैकड़ों टहनियाँ निकल पड़ीं। ये तीन-चार तने मानव-शास्त्र की परिभाषा में 'स्कन्ध' (Stocks) कहलाते हैं। मानव-जाति (Human Species) से मानव-स्कन्ध (Human stocks) फूटे। ये 'स्कन्ध' चार कहे जाते हैं—सफ़ेद-स्कन्ध, काला-स्कन्ध, पीला-स्कन्ध तथा ऑस्ट्रेलॉयड-स्कन्ध।

एक-एक 'स्कन्ध' (Stock) से 'प्रजातियाँ' (Races) फूटीं। सफ़ेद-स्कन्ध से एलपाइन, नॉर्डिक तथा भूमध्यसागरीय; काले-स्कन्ध से नीग्रो, नीग्रिटो तथा बुशमैन; पीले स्कन्ध से मंगोल, इन्डो-अमरीकन तथा पौलीनेशियन। इस प्रकार आदि-मानव-जाति से भिन्न-भिन्न स्कन्धों द्वारा प्रजातियों, अभिजातियों तथा प्रजातीय-गुणों का विकास होता गया। इस सारी प्रक्रिया को चित्र में निम्न प्रकार प्रकट कर सकते हैं :

मानव-जाति या मेधावी-मानव
(Homo sapiens or Human species)

सफ़ेद स्कन्ध	काला-स्कन्ध	पीला-स्कन्ध	आॅस्ट्रेलॉयड
१. एलपाइन-प्रजाति	१. नीग्रो-प्रजाति	१. मंगोल-प्रजाति	
२. नॉर्डिक-प्रजाति	२. नीग्रिटो प्रजाति	२. इंडो-अमरीकन प्रजाति	
३. भू-मध्यसागरीय-प्रजाति	३. बुशमैन-प्रजाति	३. पौलीनेशियन प्रजाति	

२. प्रजाति की व्याख्या

भिन्न-भिन्न लेखकों ने 'प्रजाति'-शब्द की भिन्न-भिन्न व्याख्याएँ की हैं जिनमें से कुछ निम्न हैं :—

[क] क्रोबर की व्याख्या—"प्रजाति एक प्राणि-शास्त्रीय विचार है। प्रजाति एक ऐसा समूह है जो वंशानुसंक्रमण द्वारा बँधा हुआ है। इसका पैदाइश से, वाहक-तत्त्वों से या उप-जाति से सम्बन्ध है।"

[ख] बीसेंज तथा बीसेंज की व्याख्या—"प्रजाति एक ऐसा बड़ा समूह है, जिसमें पैदाइश से ही कुछ शारीरिक-लक्षण दूसरों से भिन्न प्रकार के पाये जाते हैं।"

[ग] होबेल की व्याख्या—"प्रजाति उस प्राणि-शास्त्रीय समूह को कहते हैं जिसमें आपस में संयोग से सन्तानोत्पत्ति होती है, जिसके शारीरिक-लक्षण दूसरों से भिन्न होते हैं। ये भिन्न शारीरिक लक्षण एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी में शुद्ध रूप में पाये जाते हैं, मिश्रित रूप में नहीं।"

[क] "A race is a valid biological concept. It is a group united by heredity, a breed or genetic strain or sub-species." —*Kroeber*.

[ख] "A race is a large group of people distinguished by inherited physical differences." —*Biesanz and Biesanz*.

[ग] "A race is a biologically inbred group possessing a distinctive combination of physical traits that tend to breed true from generation to generation." —*Hoebel*.

[घ] एटेबरी की व्याख्या—"प्राणि-शास्त्र की परिभाषा में 'प्रजाति' व्यक्तियों के उस समूह का नाम है जिनके शारीरिक-गुण माता-पिता द्वारा वंश-परम्परा से एक-समान चले आते हैं और इन शारीरिक गुणों से हम उन्हें दूसरी 'प्रजाति' के व्यक्तियों से पृथक् पहचान सकते हैं।"

'प्रजाति' की ऊपर जो व्याख्याएँ दी गई हैं उनसे यह स्पष्ट है कि 'प्रजाति' को समझने के लिए हमें यह समझना होगा कि वंश-परम्परा के किन तत्त्वों के कारण एक प्रजाति दूसरे से भिन्न हो जाती है। इसके साथ ही हमें यह भी समझना होगा कि एक प्रजाति को दूसरी प्रजाति से भिन्न करने वाले शारीरिक-गुण कौन-से हैं। एक प्रजाति दूसरी प्रजाति से किन तत्त्वों द्वारा भिन्न होती है—यह 'वंश-परम्परा' (Heredity) को समझने का विषय है; एक प्रजाति के शारीरिक-गुण दूसरी प्रजाति के शारीरिक-गुणों से किस प्रकार भिन्न होते हैं—यह 'भौतिक मानव-शास्त्र' (Physical Anthropology) का विषय है। हम पहले 'वंश-परम्परा' द्वारा और फिर 'भौतिक मानव-शास्त्र' द्वारा प्रजाति-भेद पर प्रकाश डालेंगे।

३. वंश-परम्परा—प्रजाति-भेद का आधार 'वंश' (Heredity as the basis of Race)

'वंश-परम्परा' के नियम द्वारा एक 'प्रजाति' के गुण पुत्र-पौत्र तथा आगे की सन्तति में संक्रान्त होते रहते हैं। 'वंशानुसंक्रमण' का यह कौन-सा नियम है जिसके द्वारा ये गुण संक्रान्त होते हैं। यह तो सब जानते हैं कि सन्तान रज तथा वीर्य के मिलने से पैदा होती है। रज तथा वीर्य दोनों 'उत्पादक-कोष्ठ' (Generative cells) कहलाते हैं। इन दोनों 'उत्पादक-कोष्ठों' (Generative cells) के बीच म एक कठोर गाँठ-सी होती है, जिसे 'न्यूक्लियस' (Nucleus) कहते हैं। इस 'न्यूक्लियस' में भी छोटे-छोटे रेशे-से, सूत्र-से होते हैं, जो रंगदार होने के कारण 'वर्ण-सूत्र' (Chromosomes) कहलाते हैं। 'वर्ण-सूत्रों' की रचना अन्य छोटे-छोटे दानों से होती है जिन्हें 'वाहकाणु' (Genes) कहते हैं। यही 'वाहकाणु'—'जेनीज़'—गोरापन, कालापन, पीलापन, मोटा बाल, पतला बाल—गर्ज़ कि सब शारीरिक-गुणों के 'वाहक' (Carriers या Factors) होते हैं। किसी 'प्रजाति' या 'नस्ल' में जो-जो भी उस नस्ल के विशेष गुण दिखाई देते हैं, वे इन 'जेनीज़' के कारण हैं। 'वर्ण-सूत्र' (Chromosomes) २४ माता के और २४ पिता के मिल कर ४८ बनते हैं। एक-एक 'वर्ण-सूत्र' में अनेक 'जेनीज़' होते हैं, और हर 'जेनी' की 'वर्ण-सूत्र' पर एक खास जगह होती है। इस जगह को 'स्थिति' (Loci) कहते हैं। माता तथा पिता के मिलकर 'वर्ण-

[घ] "A race, in the original biological sense of the word, is a group of people who possess a common set of hereditary physical characters which serve to distinguish them from other groups of people."—*Atteberry.*

सूत्र' ४८ होते हैं, जिसका अर्थ यह है कि इनके २४ जोड़े होते हैं। जैसे 'वर्ण-सूत्रों' के जोड़े होते हैं, वैसे 'जेनीज' का भी 'वर्ण-सूत्रों' के प्रत्येक जोड़े पर 'स्थान' (Loci) होने से 'जेनीज' के भी जोड़े होते हैं। इसका अर्थ यह हुआ कि २४ जोड़ों अथवा ४८ 'वर्ण-सूत्रों' पर एक ही तरह के दो-दो 'जेनीज' होते हैं। इस प्रकार जैसे दो 'वर्ण-सूत्रों' का एक जोड़ा हुआ, वैसे ही उन पर के दो-दो 'जेनीज' का भी एक जोड़ा हुआ। जेनीज के इन जोड़ों की संख्या बहुत अधिक होती है। जेनीज के एक-एक जोड़े को 'एल्लीलस' (Alleles) कहते हैं, और 'जेनीज' के इस जोड़े में ही मोटा, पतला, गोरा, काला आदि गुण रहते हैं। अगर हम वर्ण-सूत्रों के जोड़े की बात करें तो २४ और अगर जोड़े की बात न कर सिर्फ़ वर्ण-सूत्रों की संख्या की बात करें तो ४८ वर्ण-सूत्रों में जोड़ेदार 'जेनीज' के अत्यधिक स्थान होते हैं। अर्थात्, 'वर्ण-सूत्रों' के एक-एक जोड़े पर अनेकों 'जेनीज' के जोड़ों के स्थान होते हैं। 'वर्ण-सूत्रों' पर 'जोड़ेदार जेनीज' (एल्लीलस) के ये स्थान (Loci) कितने होते हैं—यह नहीं कहा जा सकता। इनकी संख्या ५,००० से १ लाख तक कही जाती है। 'जेनीज के 'वर्ण-सूत्रों' पर अगर एक लाख स्थान हैं, तो एक लाख के लगभग तो 'जेनीज के जोड़े' (एल्लीलस) होने ही चाहिएँ। कहने का अभिप्राय यह है कि माता-पिता के मिला कर ४८ 'वर्ण-सूत्रों' में अनगिनत 'जेनीज के जोड़े' (एल्लीलस) होते हैं, जो माता-पिता के, नस्ल के, प्रजाति के गुणों के 'वाहक' होते हैं। ये 'वाहकाणु' ये 'जेनीज' या 'जेनीज के जोड़े' ही वंश-परम्परा द्वारा प्राणी की शारीरिक-रचना को बनाते हैं। अगर कोई काला है तो इनके कारण, गोरा है तो इनके कारण, अगर किसी के बाल भेड़ के-से हैं तो इनके कारण, मुलायम हैं तो इनके कारण। 'प्रजाति' या 'नस्ल' को बनाने का काम 'वाहकाणुओं' (Genes) का ही है। जिनके 'वाहकाणु' एक तरह के हैं वे एक नस्ल के, जिनके दूसरी तरह के हैं वे दूसरी नस्ल के। परन्तु प्रश्न हो सकता है कि शुरू-शुरू में नस्ल का भेद कैसे हुआ, शुरू में तो मनुष्य एक ही 'जाति' (Species) का था, उससे 'प्रजातियाँ' (Races) कैसे बनीं? इस एक 'जाति' से अनेक 'स्कन्ध' (Stocks) कैसे बने, अनेक 'स्कन्ध' बन गये तो उनसे अनेक 'प्रजातियाँ' (Races) कैसे बनीं?

इस प्रश्न के दो उत्तर दिये जाते हैं। एक उत्तर तो यह है कि शुरू-शुरू में ही अनेक भिन्न-भिन्न प्रजातियाँ उत्पन्न हुईं। आउट-रंग, चिपांज़ी तथा एप—ये प्राणी तो पहले थे ही, इनमें से हर-एक से मनुष्यों की भिन्न-भिन्न प्रजातियाँ बन गईं। इसे 'बहुज-उत्पत्ति-सिद्धान्त (Multiple origin theory) कहा जाता है। परन्तु प्रश्न होता है कि आउट-रंग, चिपांज़ी तथा एप से भिन्न-भिन्न प्रजातियाँ बन कैसे गईं। अगर बनीं भी, तो भी इन तीन से इतनी अधिक प्रजातियाँ कैसे बनीं? अगर तीन से इतनी अधिक बन सकती हैं, तो एक से अनेक क्यों नहीं बन सकतीं? तीन से अनेक विकास की प्रक्रिया से ही तो बनेंगी, फिर एक से अनेक उसी विकास की प्रक्रिया द्वारा बन सकती हैं। इस दूसरे सिद्धान्त को 'एकज-उत्पत्ति-सिद्धान्त'

(Monogenetic theory) कहा जाता है। हिन्दू लोग भी तो ब्रह्मा से ही सारी सृष्टि का उत्पन्न होना मानते हैं, ईसाई-मुसलमानों में भी आदम से सृष्टि की उत्पत्ति मानी जाती है। विकासवाद का कहना है कि आदि-काल के एक ही मानव से विकास की प्रक्रिया द्वारा भिन्न-भिन्न प्रजातियों का उद्भव हुआ। गहराई से देखा जाय तो 'बहुज' तथा 'एकज' दोनों का आधार विकासवाद का सिद्धान्त है। 'एकज'-उत्पत्ति के सिद्धान्त से काम चले, तो 'बहुज'-उत्पत्ति के सिद्धान्त को मानना व्यर्थ है। 'एकज-उत्पत्ति' के सिद्धान्त का कहना है कि आदि-पूर्वज एक ही था, 'पर्यावरण' द्वारा ही उसमें विभिन्नता आती गई और एक से अनेक प्रजातियाँ उत्पन्न हो गईं।

४. वंश-परम्परा में भिन्नता कैसे आयी ?

विकासवाद का कहना है कि 'पर्यावरण' (Environment) प्राणी में भेद उत्पन्न करता रहा है। 'पर्यावरण' प्राणी की शारीरिक-रचना में भेद कैसे उत्पन्न करता है ? इस भेद के निम्न कारण हैं :—

(क) प्राकृतिक-चुनाव (Natural Selection)
(ख) आकस्मिक-परिवर्त्तन (Mutation)
(ग) वाहकाणुओं की आकस्मिक हानि (Accidental loss of genes)
(घ) पृथक्ता (Isolation)
(ङ) अन्तर्यौन-सम्बन्ध (In-breeding or Crossing)

(क) प्राकृतिक-चुनाव (Natural Selection)—डार्विन का कहना है कि प्रकृति में 'प्राकृतिक-चुनाव' का नियम काम कर रहा है। 'प्राकृतिक-चुनाव' कैसे होता है ? विषम-पर्यावरणों में कुछ प्राणी पर्यावरण का मुकाबिला नहीं कर सकते, नष्ट हो जाते हैं; जो विषम-पर्यावरणों का मुकाबिला कर सकते हैं, वे बच रहते हैं। ये जो बच रहते हैं, इन्हें मानो प्रकृति आगे सन्तान पैदा करने के लिए चुन लेती है। प्रकृति नहीं चाहती कि कमजोर प्राणी दुनिया में बढ़ते चले जायें और अपने जैसी कमजोर सन्तान पैदा करें। विषम-पर्यावरणों में प्राणी के बच रहने का एक ही उपाय है। वह उपाय यह है कि प्राणी अपने को पर्यावरणों के अनुकूल बनाये, अपने भीतर 'परिवर्त्तन' करे, ऐसा परिवर्त्तन जिससे विषम-पर्यावरण में वह टिक सके। यह परिवर्त्तन जो विषम-पर्यावरण का मुकाबिला करने के लिए प्राणी अपने भीतर पैदा करता है उसका धीरे-धीरे प्रभाव 'वाहकाणुओं' (Genes) पर पड़ता है और एक नई नस्ल, नई प्रजाति पैदा हो जाती है। प्रकृति का यह नियम है कि विषम-पर्यावरणों में टिकने के लिए जो गुण आवश्यक हैं, उन्हें जब प्राणी अपने में ले आता है, तब वे गुण आगे-आगे बढ़ते चले जाते हैं। ये गुण जिस प्राणी में प्रत्यक्ष रूप धारण कर लेते हैं, वही उन गुणों के कारण एक खास नस्ल या प्रजाति का प्रवर्त्तक बन जाता है।

(ख) आकस्मिक परिवर्त्तन (Mutation)—हमने अभी लिखा कि विषम-पर्यावरणों में प्राणी के भीतर इन पर्यावरणों का मुकाबिला करने के लिए जो परिवर्त्तन होते हैं, वे धीरे-धीरे होते हैं। डार्विन का कथन है कि कभी-कभी ये परिवर्त्तन एकदम, अचानक हो जाते हैं। इन परिवर्त्तनों का 'वाहकाणुओं' (Genes) पर प्रभाव आकस्मिक होता है। यह एकदम परिवर्त्तन क्यों होता है, इसे कोई नहीं जानता। डार्विन ने सिर्फ़ इतना कहा है कि इस प्रकार के 'आकस्मिक-परिवर्त्तन' देखे जाते हैं, इन्हें 'आकस्मिक-परिवर्त्तन' (Mutations) कहा जाता है। यह 'आकस्मिक-परिवर्त्तन' एक नस्ल से अन्य नस्ल के बन जाने में दूसरा कारण है। इस प्रकार 'पर्यावरण' (Environment) के द्वारा जो 'आकस्मिक-परिवर्त्तन' (Mutations) प्राणी के 'वाहकाणुओं' (Genes) में हो जाते हैं, वे 'वंश-परम्परा' (Heredity) से आगे-आगे चलते चले जाते हैं, और इससे एक नस्ल से अनेक नस्लें हो जाती हैं। जो 'स्कन्ध' (Stock) का आदि-पुरुष था, उसके 'वाहकाणुओं' (Genes) में 'आकस्मिक-परिवर्त्तन' (Mutation) द्वारा कोई ऐसा प्रभाव पड़ा होगा जिससे उसकी सन्तति काले, या गोरे, या पीले रंग की होने लगी। यह 'परिवर्त्तन' ऐसा था जिससे प्राणी अपने यहाँ के विषम-पर्यावरण में टिक सकता था। यह परिवर्त्तन न होता तो प्राणी टिक ही न सकता, नष्ट हो जाता।

(ग) वाहकाणुओं की आकस्मिक हानि (Accidental loss of genes)—'आकस्मिक-परिवर्त्तन' (Mutation) में प्राणी के शरीर में एका-एक ऐसा परिवर्त्तन हो जाता है जिससे प्राणी को एक भिन्न प्रजाति का कहा जा सके। ऐसा परिवर्त्तन तभी हो सकता है अगर उसमें नये प्रकार के 'वाहकाणु' (Genes) उत्पन्न हो जायें। जैसे 'आकस्मिक-परिवर्त्तन' में नये 'वाहकाणु' प्रकट हो जाते हैं, वैसे 'आकस्मिक-परिवर्त्तन' में इससे उल्टी प्रक्रिया भी तो हो सकती है, नये 'वाहकाणु' प्रकट होने के स्थान में जो 'वाहकाणु' प्राणी में मौजूद हैं, वे एकाएक, अचानक लुप्त हो जायें। जब इस प्रकार का अचानक परिवर्त्तन होता है तब भी एक नयी प्रजाति, नयी नस्ल पैदा हो जाती है।

(घ) पृथक्ता (Isolation)—पृथक्ता के कारण भी भिन्न-भिन्न नस्लें पैदा हो जाती हैं। पृथक्ता दो तरह की है—भौगोलिक तथा सांस्कृतिक। भौगोलिक पृथक्ता का अर्थ यह है कि भौगोलिक दूरी के कारण दो नस्लों का पार-स्परिक वैवाहिक सम्बन्ध नहीं हो सकता। वे एक-दूसरे से इतनी दूर हैं कि उनका सम्बन्ध सम्भव नहीं। कोई अमरीका में तो कोई आफ्रीका में। इस भौगोलिक-पृथक्ता के कारण भिन्न-भिन्न स्त्री-पुरुषों में यौन-सम्बन्ध न हो सकने के कारण नस्लें भिन्न-भिन्न बनी रहती हैं। दूसरी पृथक्ता का संस्कृति से सम्बन्ध है। आज के युग में जब मोटर, रेल, हवाई जहाज के कारण भौगोलिक-पृथक्ता मिटती-सी चली जा रही है, सांस्कृतिक-पृथक्ता के कारण एक नस्ल दूसरी नस्ल से वैवाहिक

सम्बन्ध नहीं करती। एक ही देश के लोगों में धर्म, भाषा, संस्कृति के भेद के कारण विवाह नहीं होता जिससे उनका प्रजातीय-भेद बना रहता है।

(ङ) अन्तर्यौन-सम्बन्ध (In-breeding or Crossing)—कभी-कभी दो विभिन्न प्रजातियों के यौन-सम्बन्ध से एक नवीन प्रजाति उत्पन्न हो जाती है। मनुष्य भोजन की तलाश में जहाँ-तहाँ मारा-मारा फिरता है। वह इस तलाश में बिलकुल नवीन प्रदेशों में भी पहुँच जाता है। वहाँ पहुँच कर वह वहाँ के निवासियों के सम्पर्क में आकर विवाह-सम्बन्ध भी कर लेता है। ऐसी हालत में दो विभिन्न प्रजातियों के मेल से एक नवीन प्रजाति को जन्म मिल जाता है। उदाहरणार्थ, अंग्रेज भारत में आये। कई अंग्रेजों ने भारतीय महिलाओं से और अंग्रेज महिलाओं ने भारतीय पुरुषों से विवाह किया। इससे एंग्लो-इण्डियन नाम की एक प्रजाति उत्पन्न हो गई। इस प्रकार भूमंडल के अनेक प्रदेशों में नई-नई प्रजातियों का निर्माण हुआ है।

५: भौतिक मानव-शास्त्र
(प्रजाति-भेद के आधार—'शारीरिक-लक्षण')
[Physical Anthropology as the basis of Race]

हम पहले कह आये हैं कि एक प्रजाति दूसरी प्रजाति से वंश-परम्परा तथा शारीरिक-गुणों के कारण भिन्न होती है। 'वंश-परम्परा' पर हम लिख चुके हैं। अब यह देखना है कि किन-किन शारीरिक-गुणों, शारीरिक-भेदों के कारण हम एक प्रजाति को दूसरी प्रजाति से भिन्न कहते हैं। प्रजातियों के शारीरिक-भेद जिनके आधार पर प्रजाति अर्थात् नस्ल का निर्णय किया जाता है—दो प्रकार के हैं। एक शारीरिक-भेद के निश्चित लक्षण, दूसरे शारीरिक-भेद के अनिश्चित-लक्षण।

शारीरिक-भेद के निश्चित-लक्षण वे हैं जिन्हें नापा-तोला जा सकता है। खोपड़ी की लम्बाई-चौड़ाई, खोपड़ी का घनत्व, शरीर का कद, हाथ-पैर की लम्बाई, रक्त-समूह—ये सब ऐसी चीजें हैं जिन्हें नापा-तोला जा सकता है। इनके नापने के लिए भिन्न-भिन्न उपकरण बने हुए हैं। शारीरिक-भेद के अनिश्चित-लक्षण वे हैं जिन्हें नापा-तोला नहीं जा सकता। त्वचा तथा आँख का रंग, बालों की विशेषता, पलकें, होंठ, जबड़े—ये सब ऐसी चीजें हैं जिनमें प्रत्येक नस्ल की अपनी विशेषता तो होती है, परन्तु जिन्हें ठीक नाप-तोल में बैठाना कठिन होता है

इससे पहले कि हम शारीरिक-भेद के निश्चित तथा अनिश्चित प्रजाति संबंधी लक्षणों पर कुछ लिखें यह स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि शारीरिक-भेद के इन प्रजातीय लक्षणों का वर्गीकरण किस आधार पर किया जाता है। शारीरिक-भेद के लक्षणों का वर्गीकरण करते हुए निम्न बातों को ध्यान में रखा जाता है :—

(क) प्रजातीय-भेद का आधार निश्चित तथा अनिश्चित लक्षण—पहली बात यह है कि निश्चित तथा अनिश्चित शारीरिक-लक्षणों के आधार पर ही

प्रजातीय-भेद का वर्गीकरण किया जाता है। उदाहरणार्थ, अगर किसी की खोपड़ी लम्बी है, दूसरे की चौड़ी, तो इस निश्चित शारीरिक-लक्षण के आधार पर दोनों की प्रजाति भिन्न-भिन्न कह दी जायगी। इसी प्रकार अगर किसी के होंठ मोटे है, दूसरे के पतले, तो इस निश्चित शारीरिक-लक्षण के आधार पर दोनों की प्रजाति भिन्न-भिन्न कह दी जायगी। किसी लक्षण को हमने निश्चित और किसी को अनिश्चित क्यों कहा—यह आगे स्पष्ट किया जायेगा।

(ख) प्रजातीय-भेद की परीक्षा के लिए 'शुद्ध-अभिजाति' का होना आवश्यक—जब हम निश्चित तथा अनिश्चित लक्षणों का वर्गीकरण करने लगें तब यह ध्यान में रखना होगा कि जिन व्यक्तियों की परीक्षा करके इन लक्षणों का वर्गीकरण किया जा रहा है उनका वंशानुसंक्रमण शुद्ध होना चाहिए, वे 'शुद्ध अभिजाति' (True breed) के होने चाहिएँ, 'संकर' (Mixed breed) के नहीं। 'संकर' व्यक्तियों के शारीरिक-लक्षणों की परीक्षा से परिणाम कैसे निकाला जा सकता है?

(ग) प्रजातीय-भेद के लिए एक नहीं अनेक लक्षण होने चाहियें—किसी एक निश्चित अथवा अनिश्चित लक्षण को देख कर प्रजाति-भेद नहीं कहा जा सकता। मानव-शास्त्रियों का कथन है कि वर्गीकरण करने के लिए, किसी एक व्यक्ति के शारीरिक-लक्षणों को पक्के तौर पर किसी प्रजाति-विशेष का कहने के लिए, उस व्यक्ति में कम-से-कम पच्चीस लक्षण ऐसे होने चाहिएँ जो उस प्रजाति में पाये जायें जिस प्रजाति के वर्गीकरण में हम उस व्यक्ति को लाना चाहते हैं।

(घ) प्रजातीय-भेद के लिए अनेक लक्षणों के होने पर भी रक्त-भेद आदि मुख्य निश्चायक हैं—किसी व्यक्ति की प्रजाति असल में तो वही है जिस मूल-वंश से उसके आदि-पुरुषों का प्रारम्भ हुआ है, परन्तु क्योंकि वहाँ तक पहुँच सकना कठिन है, कौन कह सकता है कि उसके आदि-पुरुष का प्रारम्भ कहाँ से, किस वंश से हुआ, इसलिए कुछ लक्षण ऐसे भी हैं जिनके आधार पर उसकी प्रजाति का निर्णय किया जा सकता है। उदाहरणार्थ, रक्त के आधार पर, इसकी परीक्षा करके प्रजाति का निर्णय किया जा सकता है। पच्चीस लक्षणों के समान न होते हुए भी यह लक्षण किसी व्यक्ति की प्रजाति को निश्चित करने में सहायक सिद्ध हो सकता है।

(ङ) प्रजातीय-भेद के लिए व्यक्तियों के नहीं, समूह के लक्षण निश्चायक होते हैं—प्रजातियों का वर्गीकरण करते हुए हमें ध्यान में रखना होगा कि जिन लक्षणों को हम किसी प्रजाति का विशेष लक्षण कहते हैं, तब हमारा अभिप्राय व्यक्तियों से न होकर उस प्रजाति के समूह से होता है। अगर हम कहें कि नीग्रो-प्रजाति के होंठ मोटे होते हैं तब हमारा यह अभिप्राय नहीं होता कि हर नीग्रो व्यक्ति के होंठ मोटे होते हैं; अगर हम कहें कि आर्य-प्रजाति के होंठ पतले होते हैं तब हमारा यह अभिप्राय नहीं होता कि हर आर्य व्यक्ति के होंठ पतले ही होते हैं। हमारा अभिप्राय इस वर्गीकरण में समूह से होता है। नीग्रो प्रजाति के अधिक

व्यक्तियों के होंठ मोटे और आर्य प्रजाति के अधिक व्यक्तियों के होंठ पतले होते हैं—यही प्रजातीय वर्गीकरण में हमारा अभिप्राय होता है।

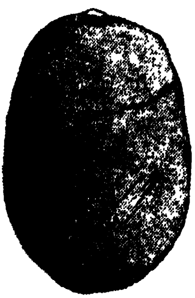
(च) प्रजातीय-भेद का वर्गीकरण करते हुए समान आयु तथा समान लिंग आवश्यक है—प्रजाति-भेद के निश्चित तथा अनिश्चित शारीरिक-लक्षणों का वर्गीकरण करते हुए यह भी ध्यान में रखना चाहिए कि जिन व्यक्तियों की परीक्षा करके हम परिणाम निकाल रहे हैं, वे एक ही आयु के हों, एक ही लिंग के हों। भिन्न-भिन्न आयु तथा भिन्न-भिन्न लिंग के व्यक्तियों के आधार पर प्रजातीय-भेद के लक्षणों को ठीक नहीं कहा जा सकता। उदाहरणार्थ, अगर हम कहें कि नीग्रो प्रजाति के बाल घने होते हैं, तो नीग्रो प्रजाति के युवकों पर या वृद्धों पर गवेषणा होनी चाहिए, युवा और वृद्ध मिला कर नहीं, क्योंकि हो सकता है कि वृद्धों के वृद्धावस्था के कारण बाल झड़ जाते हों, और हमारी गवेषणा में उनका सम्मिलित किया जाना हमारे परिणाम में बाधा पहुँचाये।

प्रजातियों के निश्चित तथा अनिश्चित शारीरिक-लक्षणों का वर्गीकरण करते हुए हमें किन बातों का ध्यान रखना चाहिए—इसकी तरफ़ हमने ध्यान खींचा। अब हमें देखना है कि प्रजातियों के सम्बन्ध में शारीरिक-भेद के निश्चित तथा अनिश्चित लक्षण क्या हैं ?

हम पहले निश्चित लक्षणों का विवरण देंगे, फिर अनिश्चित लक्षणों का।

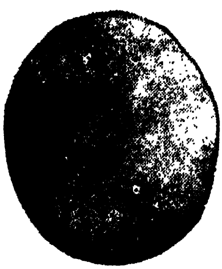
[शारीरिक-भेद के निश्चित लक्षण]

(क) शीर्ष-देशना तथा कपाल-देशना (Cephalic-index and Cranial-index)—नस्लों के हिसाब से सिर की खोपड़ी के तीन प्रकार माने जाते हैं—'लम्बी', 'बीच-की' और 'चौड़ी'। लम्बी खोपड़ी 'डौलिको-सैफ़ेलिक' (Dolicho-cephalic), बीच-की खोपड़ी 'मेसो-सैफ़ेलिक' (Meso-cephalic) तथा चौड़ी-खोपड़ी 'ब्रैकी-सैफ़ेलिक' (Brachy-cephalic) कहलाती है। इन तीनों प्रकार के व्यक्तियों की शीर्ष-देशना



क

(क) लम्बी खोपड़ी



ख

(ख) चौड़ी खोपड़ी

निकाली जाती है। जीवित-व्यक्तियों की सिर की देशना को 'शीर्ष-देशना' (Cephalic-index) तथा मृत-व्यक्तियों की खोपड़ी की देशना को 'कापालिक-देशना' (Cranial-index) कहते हैं। 'शीर्ष-देशना' या 'कापालिक-देशना' निकालने का तरीका यह है कि खोपड़ी की चौड़ाई को खोपड़ी की लम्बाई से भाग देकर १०० से गुणा कर देते हैं। इस प्रकार खोपड़ी की चौड़ाई और लम्बाई का पारस्परिक अनुपात निकल आता है। सिर या खोपड़ी की लम्बाई और चौड़ाई के अनुपात में लम्बाई बड़ी होगी तो 'लम्ब-कपाल', बराबर होगी तो 'मध्यम-कपाल', चौड़ाई बड़ी होगी तो वह 'चौड़ा-कपाल' कहलायेगी। भिन्न-भिन्न नस्लों में खोपड़ी के भिन्न-भिन्न प्रकार हैं।

इस प्रकार हमने देखा कि 'शीर्ष-देशना' या 'कपाल-देशना' निकालने का फ़ार्मूला निम्न है :

$$\frac{\text{सिर की चौड़ाई}}{\text{सिर की लम्बाई}} \times १०० = \text{शीर्ष-देशना या कपाल-देशना}$$

सिर की चौड़ाई और लम्बाई से हमारा क्या तात्पर्य है? एक कान के ऊपर से दूसरे कान के ऊपर तक सिर के ऊपर से जो माप होता है उसे सिर की चौड़ाई कहते हैं; माथे में नाक की सीध में दोनों भौं जहाँ मिलती हैं वहाँ एक गढ़ा-सा होता है, और खोपड़ी के पीछे जहाँ बाल समाप्त होते हैं उससे ऊपर एक उभार-सा होता है; इन दोनों बिन्दुओं का खोपड़ी के ऊपर से जो माप होता है उसे सिर की लम्बाई कहते ह।

(i) लम्बा-कपाल ([1]Dolicho-cephalic)—यदि किसी व्यक्ति या किसी नस्ल की शीर्ष-देशना ७५ से कम है तो यह लम्ब-कपाल कहलायेगा। पश्चिमी-आफ्रीका की नीग्रो-जातियों की शीर्ष-देशना ७५ से कम पायी गई है, इसलिए उन्हें लम्ब-कपाल का कहा जाता है। भारत में पंजाब, राजस्थान तथा उत्तर-प्रदेश के पश्चिमी भागों में भी लम्ब-कपाल के व्यक्ति पाये जाते हैं। आज से १० हज़ार वर्ष पहले की जो खोपड़ियाँ पायी गई हैं, वे लम्ब-कपाल की हैं।

(ii) मध्यम-कपाल ([2]Meso-cephalic)—यदि किसी व्यक्ति या किसी नस्ल की शीर्ष-देशना ७५ से लेकर ७९.९ तक हो, तो उसे मध्यम-कपाल का कहा जाता है। युरोप के बीच की पूर्व-पश्चिम मेखला के लोग मध्यम-कपाल के हैं। स्केन्डीनेविया, ब्रिटेन, हौलेंड, बेलजियम, जर्मनी, फ्रान्स के लोग नौर्डिक-प्रजाति के कहे जाते हैं और मध्यम-कपाल हैं।

---

1. Dolicho-cephalic=Greek : *Dolichos*, long; *Kephale* (कपाल) the head.

2. Meso-cephalic=Greek : *Mesos*, middle; *Kephale* (कपाल) the head.

(iii) चौड़ा-कपाल ([1]Brachy-cephalic)—यदि किसी व्यक्ति या किसी नस्ल की शीर्ष-देशना ८० या इससे अधिक हो, तो उसे चौड़े-कपाल का कहा जाता है। यह सिर दिखने में छोटा और चौड़ा होता है। मंगोलियन-स्कन्ध की प्रजातियाँ चौड़े कपाल की हैं क्योंकि उनकी शीर्ष-देशना ८० से अधिक पायी जाती है। भारत में बंगाल तथा असम में ऐसे सिर पाये जाते हैं।

सिर की खोपड़ी को इस प्रकार मापने में फ़ायदा यह है कि जीवित तथा मृत दोनों हालतों में खोपड़ी की लम्बाई-चौड़ाई में फ़रक नहीं आता, इसलिए वर्त्तमान तथा भूत की खोपड़ियों की तुलना आसानी से की जा सकती है। इसके अतिरिक्त दूसरा लाभ यह है कि बचपन में जो 'शीर्ष-देशना' होती है, अर्थात् खोपड़ी की चौड़ाई तथा लम्बाई का जो अनुपात होता है, जवानी तथा बुढ़ापे में यह अनुपात वैसे-का-वैसा बना रहता है, इसमें भेद नहीं आता।

१० हज़ार वर्ष पहले की खोपड़ियों की वर्त्तमान-काल की खोपड़ियों के साथ तुलना करने से ऐसा जान पड़ता है कि पहले लम्बी-खोपड़ी के लोग थे, अब चौड़ी-खोपड़ी की तरफ़ मानव का विकास हो रहा है। इससे कई लोगों का कथन है कि लम्बी-खोपड़ी की नस्लों से चौड़ी-खोपड़ी की नस्लें ज्यादा उन्नत हैं, ज्यादा विकसित हैं, ज्यादा श्रेष्ठ हैं, परन्तु यह धारणा ग़लत है। ज्यों-ज्यों इस विषय का गहराई से अध्ययन हो रहा है, विद्वान् लोग इस परिणाम पर पहुँचते जा रहे हैं कि शीर्ष-देशना के आधार पर मानव का वर्गीकरण कोई विश्वसनीय वर्गीकरण नहीं है। मंगोल-प्रजातियों में हमने अभी ऊपर कहा, चौड़ा-कपाल पाया जाता है, परन्तु अन्वेषणों से पता चलता है कि मंगोल-प्रजातियों में लम्बा-कपाल भी पाया जाता है। फिर भी यह कहना असंगत नहीं होगा कि लम्बे-कपाल की अपेक्षा मंगोलों में चौड़ा-कपाल अपेक्षाकृत अधिक पाया जाता है। लम्बे अथवा चौड़े कपालों के विषय में यह मानने की अपेक्षा कि चौड़े-कपाल अधिक उन्नत व्यक्तियों के होते हैं, यह मानना अधिक युक्तिसंगत प्रतीत होता है कि भोजन, जल-वायु, रहन-सहन पर लम्बा अथवा चौड़ा कपाल बनता है, ऊँच-नीच के आधार पर नहीं।

(ख) खोपड़ी का घनत्व (Capacity of the skull)—खाली खोपड़ी में रेता भर कर पता लगाया जाता है कि इस खोपड़ी का कितना घनत्व है। यह विधि मरने पर ही काम में आ सकती है, जीवित अवस्था में नहीं। प्रत्येक व्यक्ति की खोपड़ी का घनत्व दूसरे से भिन्न होता है। नस्लों की खोपड़ियों के घनत्व को भी एक-दूसरे से भिन्न पाया गया है। क्योंकि नीग्रो-स्कन्ध के लोग लम्बे-कपाल के होते हैं, उनके कपाल में चौड़ाई कम होती है, इसलिए उनकी खोपड़ी का घनत्व कॉकेशियन या आर्य-प्रजातियों की खोपड़ी के घनत्व से कम

---

1. Brachy-cephalic=Greek : *Brachys*, short; *Kephale* (कपाल) the head.

पाया गया है। ज्यादातर शरीर की बनावट तथा खाने-पीने पर भी खोपड़ी का घनत्व निर्भर करता है। स्वस्थ व्यक्ति की खोपड़ी का घनत्व १००० या १०५० घन सेंटीमीटर से १८०० घन सेंटीमीटर तक होता है। स्त्रियों म १५० से १७० घन सेंटीमीटर पुरुष से कम होता है। खोपड़ी के घनत्व की कमी या ज्यादती का मनुष्य की बुद्धि से कोई सम्बन्ध नहीं है। प्रजातिवादियों का यह कहना कि ज्यादा घनत्व की खोपड़ी में बुद्धि भी ज्यादा होगी—ग़लत धारणा है। एस्किमो लोगों की खोपड़ियाँ कॉकेशियन लोगों से बड़ी पायी गई हैं, परन्तु बुद्धि में वे कॉकेशियन से बड़े नहीं हैं। छोटी खोपड़ी में विशाल बुद्धि और बड़ी खोपड़ी में मूर्खता छिपी रह सकती है। बुद्धि का सम्बन्ध खोपड़ी के भीतर पड़े मस्तिष्क-तत्त्व से है। मस्तिष्क की 'दरारें' (Convolutions) जितनी गहरी होंगी, उतनी बुद्धि ज्यादा होगी, खोपड़ी चाहे बड़ी हो चाहे छोटी। हाँ, नस्लों के वर्गीकरण में खोपड़ी के घनत्व का जानना सहायक हो सकता है।

(ग) नासिका-देशना (Nasal index)—नस्लों के हिसाब से नाक के भी तीन प्रकार माने जाते हैं—'लम्बी-नाक', 'चपटी-नाक', 'चौड़ी-नाक'। लम्बी-नाक 'लेप्टोराइन' (Leptorrhine[1]), चपटी-नाक 'मेसोराइन' (Mesorrhine[2]) तथा चौड़ी-नाक 'प्लैटीराइन' (Platyrrhine[3]) कहलाती है। इन तीनों प्रकार की नासिकाओं की 'नासिका-देशना' निकाली जाती है। नासिका-देशना निकालने का तरीका यह है कि नासिका की चौड़ाई को नासिका की लम्बाई से भाग देकर १०० से गुणा कर देते हैं। इस प्रकार नासिका की चौड़ाई तथा लम्बाई का पारस्परिक-अनुपात निकल आता है। यह अनुपात पतली तथा लम्बी-नाक में ६९.९९ से कम, चपटी-नाक में ७०–८४.९९ के बीच तथा चौड़ी-नाक में ८५ या इससे अधिक निकलता है। नीग्रो-नस्ल में चौड़ी-नाक तथा कॉकेशियन में लम्बी-नाक पायी जाती है।

(घ) शरीर का कद (Stature)—किसी नस्ल के लोग लम्बे, किसी के नाटे पाये जाते हैं। कद के टोपीनार्ड (Topinard) ने चार वर्ग किये हैं। ५ फ़ीट ७ इंच से ऊपर के कद को वह लम्बा कहता है; ५ फ़ीट ५ इंच से ७ इंच तक के कद को औसत से अधिक और ५ फ़ीट ३ इंच से ५ इंच तक को औसत से कम कहता है; ५ फ़ीट ३ इंच से कम कद को वह छोटा कद कहता है। नस्लें बड़े कद की भी हो सकती हैं, छोटे कद की भी हो सकती हैं, परन्तु कद के आधार पर नस्लों के ऊँचे-नीचे होने की धारणा युक्ति-युक्त नहीं है। कद का सम्बन्ध केवल 'वाहकाणुओं' (Genes) के साथ ही नहीं है, कद के ऊपर जल-वायु, भोजन के पौष्टिक-तत्त्वों आदि का भी बहुत बड़ा प्रभाव पड़ता है। जापानी छोटे कद के माने जाते हैं,

---

1. Leptorrhine=Greek : *Leptos;* slender, *rhinos*, nose.
2. Mesorrhine=Greek : *Mesos;* middle, *rhinos*, nose.
3. Platyrrhine=Greek : *Platys;* broad, *rhinos*, nose.

परन्तु हवाई टापू में छोटे कद के जापानी रखे गये तो उनके कद बढ़ होने लगे, अमरीका में जिन जापानियों की परवरिश हुई है उनके कद भी बढ़ गये हैं। आफ्रीका की 'पिग्मी' (Pygmy)-नस्ल ऐसी अवश्य है जिसमें कद आनुवंशिक तौर पर नाटा चला आता है, और नील नदी के डिन्का और शिलुक ऐसे हैं जिनका कद आनुवंशिक तौर पर लम्बा चला आता है, परन्तु अभी इस दिशा में और अधिक गवेषणा की जरूरत है, और हो सकता है कि इनके कद पर भी जल-वायु का प्रभाव दीखे।

(ङ) हाथ-पैर की लम्बाई—इसमें कन्धों से लेकर कोहनी और कोहनी से लेकर हाथों तक, और इसी प्रकार कमर से लेकर घुटनों तक और घुटनों से लेकर पैरों तक की लम्बाई मापी जाती है। यह लम्बाई भिन्न-भिन्न नस्लों में भिन्न-भिन्न पायी गई है।

(च) रक्त-समूह (Blood Group)—रक्त के सम्बन्ध में अन्वेषण करने से पता चला है कि भिन्न-भिन्न व्यक्तियों का रक्त एक-दूसरे से मेल नहीं खाता। इसी प्रकार नस्लों का रक्त एक-दूसरी नस्ल से भिन्न होता है। अगर एक नस्ल का रक्त दूसरी नस्ल से भिन्न है, तो नस्लों का भेद तो अपने-आप पैदा हो गया। मानव-शास्त्री के लिए यह देखने की बात रह जाती है कि रक्त-भेद के कारण अगर हमने एक नस्ल को दूसरी नस्ल से अलग कर लिया, तो यह भेद शारीरिक-भेद के लक्षणों से भी मेल खाता है या नहीं? अगर शरीर के नाप आदि से एक व्यक्ति नीग्रो नस्ल का ठहरता है, तो रक्त के परीक्षण से भी उसे नीग्रो नस्ल का ही सिद्ध होना चाहिए। अगर ऐसा नहीं होता, तो रक्त की परीक्षा से नस्ल का निर्धारण व्यर्थ हो जाता है। इस दिशा में मानव-शास्त्री प्रयत्नशील हैं और 'रक्त-परीक्षा' द्वारा जो लोग नस्ल का निर्धारण करते हैं उन के प्रयत्नों को दिलचस्पी से देख रहे हैं। इस प्रकार 'रक्त-परीक्षा' से नस्ल का निर्धारण 'लसी-विद्या' (Serology) कहलाता है। 'लसी-विद्या' इसलिए क्योंकि रक्त में जो पीला पानी का-सा द्रव भाग होता है उसे 'लस' कहते हैं, अंग्रेजी में इसे 'सीरम' (Serum) कहते हैं। इस लस से 'लसी-विद्या' (Serology) शब्द बन गया है।

१९०० में लैंडस्टीनर (Landsteiner) ने यह पता लगाया कि एक ही जाति के व्यक्तियों के रुधिर में भेद होता है। मनुष्य-मनुष्य तो सब एक 'मानव-जाति' या 'मेधावी-मानव' (Human Species or Homo Sapiens) से निकले हैं, परन्तु हर मनुष्य का रुधिर एक-सा नहीं होता। रुधिर को परीक्षण-नलिका में डाल कर रखने से कुछ देर के बाद उसके दो भाग हो जाते हैं। एक भाग तो पीले पानी का-सा हो जाता है, दूसरा रुधिर के कोष्ठों का लाल-लाल-सा रह जाता है। पीले-पानी-के-से भाग को हिन्दी में 'लस' तथा अंग्रेजी में 'सीरम' (Serum) कहते हैं। अगर सब मनुष्यों का रुधिर एक-सा ही हो, तो इस 'सीरम' में किसी भी मनुष्य का रुधिर क्यों न डाल दिया जाय, यह 'सीरम' और 'रुधिर' आपस में घुल-मिल जाने चाहिएं। परन्तु ऐसा नहीं होता। कुछ

व्यक्तियों का रुधिर तो इस 'सीरम' में पड़ कर घुल जाता है, कुछ का घुलने के स्थान में अलग होकर गोंद-सा बन जाता है, कुछ का न 'सीरम' में घुलता है, न गोंद-सा बनता है, परन्तु वैसे-का-वैसा, रुधिर-का-रुधिर बना रहता है। रुधिर के इन भेदों के कारण लैंडस्टीनर ने रुधिर के तीन भेद किये जिन्हें उसने A, B तथा O का नाम दिया। दो वर्ष बाद स्टरली तथा डेकैस्टेलो (Sturli and Decastello) ने रुधिर के एक चौथे प्रकार को AB—यह नाम दिया।

रुधिर के ये चार प्रकार क्यों होते हैं—यह एक समस्या थी। इस समस्या का समाधान यह दिया गया कि मनुष्य के उत्पादक-कोष्ठों में जो 'वाहकाणु' (Genes) होते हैं, वही रुधिर में ये चार प्रकार के भेद उत्पन्न कर देते हैं। इन 'वाहकाणुओं' के कारण ही किसी का रुधिर दूसरे व्यक्ति के 'सीरम' में घुल-मिल जाता है, किसी का जम जाता है, किसी का वैसे-का-वैसा पड़ा रहता है। अगर यह बात ठीक है, तब तो एक 'प्रजाति' को दूसरी 'प्रजाति' से भिन्न करने वाली एक बड़ी चीज हाथ में आ जाती है। 'वाहकाणु' भिन्न-भिन्न प्रजातियों के रुधिर में A, B, O, AB—ये गुण पैदा करते हैं, अर्थात् 'वाहकाणुओं' द्वारा रुधिर घुलता, जमता या वैसे-का-वैसा रहता है, और इसी भेद से प्रजातियाँ उत्पन्न हो जाती हैं। मानव मानव के रुधिर में इस प्रकार का भेद है, इसीलिए जब किसी को रुधिर-दान देना होता है, तो हर-किसी का रुधिर नहीं लिया जा सकता, रुधिर उसी का लिया जा सकता है जिसका रुधिर उस व्यक्ति के रुधिर के अनुरूप हो जिसकी रक्षा के लिए रुधिर दिया जा रहा है।

गवेषणा से पता चला है कि 'A' रक्त-समूह की युरोप में प्रधानता है, 'B' की एशिया में प्रधानता है, 'O' रुधिर की अमेरिकन इंडियन्स में प्रधानता है। विद्वानों का कथन है कि आदि-मानव के रुधिर में पहले-पहल सिर्फ़ 'O' रुधिर था, 'A' बाद को पश्चिम में उत्पन्न हुआ और वहाँ से संसार के अन्य प्रदेशों में फैला। इसी प्रकार 'B' एशिया में पैदा हुआ और इसका प्रसार एशिया से युरोप की तरफ़ हुआ। भारत में 'B'-प्रधान रक्त है। 'O' से 'A' तथा बाद को 'B' कैसे पैदा हुआ—इसका उत्तर यह दिया जाता है कि विकास में 'आकस्मिक-परिवर्त्तन' (Mutation) की एक प्रक्रिया होती है जिसका वर्णन हम ऊपर कर आये हैं। इस 'आकस्मिक-परिवर्त्तन' के नियम से ही 'O' से अन्य रक्त-समूह प्रकट हुए।

मानव-शास्त्रियों को रक्त-समूह-परीक्षा में दिलचस्पी इसलिए है क्योंकि अन्य जितने भी उपाय वे प्रजाति-भेद के जानने के लिए प्रयोग में लाते हैं, उनमें निश्चितता कहने पर भी अनिश्चितता की मात्रा खटकती रहती है। अगर रक्त-समूह-परीक्षा द्वारा प्रजाति-भेद के जानने में निश्चितता आ जाय, तो उन्हें बहुत सहारा मिले।

हर नस्ल में अबतक इतना सम्मिश्रण हो चुका है कि ऊपर के चार रक्त-समूहों में से हर नस्ल में थोड़ी-अधिक मात्रा में हर रक्त का 'प्रजातीय-गुण'

(Strain) मिलता है, फिर भी हर प्रजाति में अपने-अपने रक्त की प्रधानता रहती है। नीचे के चित्र से भिन्न-भिन्न प्रजातियों के रक्त-समूह का कुछ आभास हो जायगा। इसमें रक्त-समूह का प्रतिशत दिया गया है :—

रक्त-समूह	अमरीका के श्वेत	अमरीका के नीग्रो	अमरीकन इंडियन	रूसी	चीनी
O	४५	४४.२	१००	३१.९	३४.२
A	४१	३०.३	...	३४.४	३०.८
B	१०	२१.८	...	२४.९	२७.७
AB	४	३.७	...	८.८	७.३

[शारीरिक-भेद के अनिश्चित लक्षण]

शारीरिक-भेद के अनिश्चित लक्षणों में त्वचा तथा आँख का रंग, बालों की विशेषता, पलकें, होंठ, जबड़े—ये सब आ जाते हैं। निश्चित शारीरिक-लक्षणों के बाद अब हम संक्षेप से अनिश्चित शारीरिक-लक्षणों का वर्णन करेंगे। यह हम पहले ही लिख आये हैं कि इन्हें अनिश्चित इसलिए कहते हैं क्योंकि इन लक्षणों की ठीक-ठीक नाप-तोल नहीं हो सकती। अनिश्चित लक्षण निम्न हैं :—

(क) त्वचा का रंग (Pigmentation)—त्वचा के रंग के तीन भेद हैं—'गोरा-रंग' (Leucoderm[1]), 'पीला-रंग' (Xanthoderm[2]) तथा 'काला-रंग' (Melanoderm[3])। कॉकेशियन का गोरा, मंगोल का पीला तथा नीग्रो का काला रंग होता है, परन्तु हर नस्ल में रंग की विविधता भी पायी जाती है। कई व्यक्ति जो अन्य शारीरिक-लक्षणों के अनुसार कॉकेशियन हैं, रंग में आफ्रीकन नीग्रो जैसे काले हैं। भूमध्य-रेखा पर के देशों में मनुष्य का काला रंग न हो, तो वह वहाँ की जल-वायु को सहन न कर सके। गोरे रंग वाले भूमध्य-रेखा के देशों में परेशान हो जाते हैं। इसलिए त्वचा का काला रंग मनुष्य की रक्षा के लिए है, और किसी बात के लिए नहीं। काले रंग से यह समझ लेना कि इस रंग का व्यक्ति गोरे रंग से किसी प्रकार भी हीन होगा, ग़लत है। आफ्रीका का काला नीग्रो मानसिक स्तर में काले रंग के बावजूद इतना ही ऊँचा है जितना उत्तरी युरोप का कोई भी व्यक्ति। इस दृष्टि से त्वचा का रंग नस्ल या 'प्रजाति' का निर्धारण तो कर सकता है, मनुष्य के ऊँचा-नीचा होने का नहीं।

त्वचा का तीन प्रकार का रंग तीन प्रकार के पदार्थों के कारण है जो त्वचा में रहते हैं। एक पदार्थ 'हेमोग्लोबीन' (Haemoglobin) है। यह रुधिर में अधिक मात्रा में रहता है। अगर त्वचा का रंग काला या पीला न हो तो 'हेमोग्लोबीन' के कारण त्वचा का रंग लाल दिखाई देता है। होता यह सब में है, परन्तु

1. Leucoderm = Greek : *Leukos*, white; *Derma* (चर्म), skin.
2. Xanthoderm = Greek : *Xanthos*, yellow; *Derma*, skin.
3. Melanoderm = Greek : *Melan* (मलिन), black; *Derma*, skin.

जिसमें यह पदार्थ अधिक मात्रा में होता है उसका चेहरा लाल दिखाई देता है। प्रायः लाल वर्ण 'श्वेत-प्रजातियों' (White races) में पाया जाता है जिसके उदाहरण युरोप के लोग हैं। त्वचा के वर्ण का दूसरा पदार्थ 'कैरोटीन' (Carotene) कहलाता है। यह वर्ण पीला होता है। वैसे तो हर प्रजाति में 'कैरोटीन' पाया जाता है, परन्तु जिसमें अधिक पाया जाता है उसका रंग पीला-सा दीखता है। इस वर्ण से 'पीत-प्रजातियाँ' (Yellow races) बनती हैं जिसके उदाहरण चीन, बर्मा, जापान के लोग हैं। त्वचा के वर्ण का तीसरा पदार्थ 'मैलानिन' (Melanin) है। यह वर्ण काला—मलिन—होता है। यह भी हर प्रजाति में पाया जाता है, परन्तु जिस प्रजाति में अधिक हो उसका रंग काला दीखता है। इस वर्ण से 'काली-प्रजातियाँ' (Black races) बनती हैं जिसके उदाहरण नीग्रो आदि हैं। त्वचा के रंग और प्रजाति का लोग इतना घनिष्ठ सम्बन्ध समझते हैं कि डार्विन ने तो स्पष्ट लिखा था कि त्वचा का रंग प्रजाति का मुख्य लक्षण है। परन्तु अब यह बात नहीं मानी जाती। त्वचा पर गर्मी-सर्दी, धूप-छाँह का प्रभाव है—इस बात को सब लोग मानने लगे हैं।

(ख) आँख का रंग तथा बनावट—कॉकेशियन नस्ल के आँख के तारे का रंग नीला, हरा या भूरा होता है। दूसरी नस्लों के आँख के तारे का रंग काला होता है। कॉकेशियन नस्ल के लोगों का वर्गीकरण करने के लिए आँख का रंग सहायक है, क्योंकि इनकी आँख का रंग भिन्न-भिन्न प्रकार का पाया जाता है। दूसरी नस्लों में प्रायः सभी की आँख का रंग एक-सा है, इसलिए उनके वर्गीकरण में इससे विशेष सहायता नहीं मिलती। यह उपाय सिर्फ़ जीवित व्यक्तियों के वर्गीकरण के काम में लाया जा सकता है, मृत के नहीं, इसलिए इस उपाय का क्षेत्र बहुत परिमित है। आँख की बनावट भी नस्लों के वर्गीकरण में सहायक है। मंगोल नस्ल के लोगों की आँखें भौंहों की खाल से ढकी-सी होती हैं, बादाम की शक्ल की-सी पायी जाती हैं, दूसरों की नहीं।

(ग) बाल—मृत-व्यक्तियों के बाल देर तक नहीं टिकते, इसलिए बालों द्वारा वर्गीकरण भी जीवित-व्यक्तियों के वर्गीकरण में ही सहायक है। बालों पर बाहर के प्रभाव कम असर करते हैं इसलिए बालों का मानव-जाति के वर्गीकरण में प्रधान स्थान है। बाल तीन तरह के होते हैं—सीधे ([1]Leiotrichi or straight hairs), घुंघराले, ([2]Cymotrichi या Frizzly या curly hairs) तथा ऊन की तरह गोल ([3]Ulotrichi या Frizzly या wooly)। इसी प्रकार बालों का रंग भी कई प्रकार का होता है—काला, भूरा और कहीं-कहीं लाल। सीधे बाल कॉकेशियन, मंगोल तथा ऑस्ट्रेलॉयड में, घुंघराले

1. Leiotrichi=Greek; *Leios*, smooth; *trichos*, hair.
2. Cymotrichi=Greek : *Kyma*, a wave; *trichos*, hair.
3. Ulotrichi=Greek : *Oulos*, Crisp or curly; *trichos*, hair.

कॉकेशियन, आयनूस, ऑस्ट्रेलॉयड, वेडॉयड, माइक्रोनेशियन-पौलीनेशियन में, ऊनी बाल पिग्मी, नीग्रॉयड, मैलेनेशियन तथा ऑस्ट्रेलॉयड में पाये जाते हैं।

(घ) होंठ—नीग्रो लोगों के होंठ मोटे, आर्यों के पतले होते हैं—इस प्रकार होठों को भी नस्ल का एक विभेदक शारीरिक-लक्षण माना जाता है।

(ङ) जबड़ों का ढाँचा—नीग्रो नस्ल में चौड़े जबड़े पाये जाते हैं, मंगोलियन नस्ल में कम चौड़े, कॉकेशियन के साधारण जबड़े होते हैं।

६. शारीरिक-लक्षणों को मापने के यंत्र
(Anthropometric instruments)

ऊपर हमने प्रजाति के वर्गीकरण के लिए भिन्न-भिन्न नस्लों के भिन्न-भिन्न अंगों को मापने का वर्णन किया। इस सब को मापने के लिए मानव-शास्त्रियों ने कई यन्त्र बना रखे हैं। उन यन्त्रों में से कुछ का वर्णन हम यहाँ करेंगे :—

(क) मानव-मापक यंत्र (Anthropometer)—यह धातु की २०० सैंटीमीटर लम्बी एक छड़ होती है। यह शून्य से शुरू होती है, २०० सैंटीमीटर तक जाती है। इसके पचास-पचास सैंटीमीटर के चार बराबर-बराबर-के टुकड़े होते हैं, जिन्हें अलग भी किया जा सकता है, जोड़ा भी जा सकता है। हर-एक टुकड़े पर सैंटीमीटर के अलावा मिलिमीटर के चिह्न भी लगे रहते हैं। छड़ के सिरे पर एक हत्था बना होता है जिसमें भिन्न-भिन्न शक्लों के माप के टुकड़े लगाये जा सकते हैं जिन्हें मापने के लिए ऊपर-नीचे-तिरछा किया जा सकता है।

(ख) गोलाई-मापक दीर्घ परकार (Large sliding caliper)—यह ६० सैंटीमीटर की एक लम्बी परकार होती है, जिसके द्वारा गोल वस्तु का भीतरी तथा बाहरी माप लिया जा सकता है।

(ग) गोलाई-मापक लघु परकार (Small sliding caliper)—यह २५ सैंटीमीटर की एक छोटी परकार होती है जिसके दोनों सिरे नोकदार होते हैं। यह चेहरे के भिन्न-भिन्न मापों को लेने के काम आती है।

(घ) फैलने वाला लघु परकार (Small spreading caliper)—यह परकार ३० सैंटीमीटर की होती है। इस परकार को उलट भी सकते हैं, स्थिर भी कर सकते हैं, सब तरफ़ घुमा-फिरा सकते हैं ताकि किसी अंग को हर पहलू से मापा जा सके।

७. प्रजातियों का वर्गीकरण
(Race Classification)

मनुष्यों के भिन्न-भिन्न शारीरिक-लक्षणों का वर्णन हमने किया। इन लक्षणों में कहीं रंग का भेद है, कहीं बालों का भेद है, कहीं खोपड़ी के आकार का भेद है। इन भेदों के आधार पर मानव-शास्त्रियों ने मनुष्यों की प्रजातियों का भिन्न-भिन्न वर्गीकरण किया है।

(क) बर्नियर का वर्गीकरण—सब से पहले १६८४ में फ्रांसीसी यात्री बर्नियर (Bernier) ने मानव की प्रजातियों का वर्गीकरण किया था। उसने मानव को चार या पाँच विभागों में बाँटा था। वे विभाग थे—(१) युरोप, जिसमें ईजिप्ट भी शामिल है, एशिया का बहुत-सा भाग जिसमें भारत भी शामिल है। ईजिप्ट तथा भारत को युरोप के साथ गिनते हुए उसने लिखा कि यद्यपि इन देशों में काले या ताँबाई रंग के लोग पाये जाते हैं, तो भी वे और युरोप के वासी एक ही नस्ल के हैं। इनका काला या ताँबाई रंग जलवायु के कारण हो गया है। (२) आफ्रीका के वासी जिनका काला रंग जल-वायु के कारण नहीं, परन्तु नस्ल के कारण है, मोटे होंठ, चपटी नाक, तथा सिर के ऊनी बाल। (३) एशिया का वह भाग जो पहले वर्गीकरण में नहीं आया। इनका रंग गोरा, चौड़े कन्धे, चपटा चेहरा, बैठी हुई छोटी-सी नाक, लम्बी, गहरी, सूअर की-सी आँखें और दाढ़ी के सिर्फ़ तीन बाल। (४) लैप लोग जो कद में छोटे, मोटी टाँगें. बड़े कन्धे, छोटी गर्दन तथा बहुत लम्बा रीछ का-सा चेहरा। (५) अमरीका तथा दक्षिणी-आफ्रीका के निवासी जो नीग्रो कोटि के नहीं हैं, जिन्हें होट्टनटौट या बुश-मैन (झाड़ीवासी) कहा जा सकता है। बर्नियर का वर्गीकरण अधिकतर त्वचा के रंग पर आश्रित था।

(ख) लीनियस का वर्गीकरण—बर्नियर के वर्गीकरण के बाद १७३५ में लीनियस (Linnaeus) ने त्वचा के रंग के आधार पर ही एक दूसरा वर्गीकरण किया जिसमें उस समय के ज्ञात चार महा-प्रदेशों के आधार पर (१) युरोप-वासी, (२) अमरीका-वासी, (३) एशिया-वासी तथा (४) आफ्रीका-वासी—मानव-प्रजातियों को इन चार भागों में बाँटा।

(ग) ब्लुमैनबैच या वर्गीकरण—इसके बाद ब्लुमैनबैच (Blumenbach) ने वर्गीकरण किया जिसका आधार त्वचा के रंग के साथ-साथ खोपड़ी की शक्ल भी थी। इसके वर्गीकरण में मानवों की पाँच प्रजातियाँ गिनी गईं—(१) कॉकेशियन, (२) मंगोलियन, (३) युथोपियन (ईजिप्ट की), (३) अमेरिकन तथा (५) मलायन। मलायन में ऑस्ट्रेलियन, पपाऊन तथा मलाया के वासी सम्मिलित थे।

प्रजातियों के वर्गीकरण में 'कॉकेशियन'-शब्द का प्रयोग पहले-पहल ब्लुमैनबैच ने किया। कॉकेशियन प्रजाति में युरोप के निवासी, पश्चिमी-एशिया के निवासी तथा उत्तरी-आफ्रीका के निवासी सम्मिलित समझे जाते हैं। इन सब के लिए 'कॉकेशियन'-शब्द के प्रयोग पर कई मानव-शास्त्रियों को आपत्ति रही, परन्तु अब यह शब्द इन सब के लिए प्रयुक्त होने लगा है। आपत्ति का कारण यह था कि इस शब्द के प्रयोग से ऐसी झलक-सी निकलती थी कि इन प्रजातियों का उत्पत्ति-स्थान कॉकेशिया जगह है। असल में ब्लुमैनबैच ने इन प्रजातियों के लिए 'कॉकेशियन'-शब्द का प्रयोग इसलिए किया था क्योंकि ये प्रजातियाँ अन्य प्रजातियों से सुन्दर हैं, और कॉकेशिया के स्त्री-पुरुष भी सुन्दर होते हैं। मानव-

शास्त्रियों को इस शब्द से आपत्ति इसलिए थी क्योंकि अगर कॉकेशिया के लोग सुन्दर होते हैं, तो इसका यह अर्थ तो नहीं हो सकता कि इन प्रजातियों का उत्पत्ति-स्थान भी वही था। अस्तु, जैसा हमने कहा, अब इस शब्द का इन प्रजातियों के लिए प्रयोग प्रचलन के कारण सर्व-सम्मत-सा हो गया है।

(घ) कुवियर का वर्गीकरण—इसके बाद कुवियर (Cuvier) के वर्गीकरण का नम्बर आता है। कुवियर ने मानव-जाति को तीन भागों में बाँटा है। उसका कथन है कि नूह के जल-विप्लव के बाद मानव ख़त्म हो गया था। जल-विप्लव के बाद नूह से संसार चला। नूह की तीन सन्तानें थीं—जैफ़ट, शैम तथा हैम। जैफ़ट से कॉकेशियन, शैम से मंगोलियन तथा हैम से आफ्रीकन नस्लें पैदा हुईं। एक ही पूर्वज से भिन्न-भिन्न रंगों की सन्तानें कैसे पैदा हो गईं—इसका कुवियर के पास कोई समाधान नहीं। वह इतना कहता है कि हैम के पुत्र कनान को नूह ने शाप दिया था, सम्भवतः इस शाप से हैम की सन्तान का रंग काला हो गया और उसी से आफ्रीकावासी उत्पन्न हुए, दूसरों का रंग काला न हुआ।

(ङ) इसिडोर ज्योफ्रे सेन्ट हिलेयर का वर्गीकरण—अब तक त्वचा के रंग या खोपड़ी के परिमाण से नस्लों का विभाग होता रहा। १९वीं शताब्दी में नस्लों का वर्गीकरण बालों के आधार पर किया जाने लगा। १८२७ में बोरी डी सेंट विनसेंट ने तथा बाद को हक्सले ने नस्लों के वर्गीकरण के लिए बालों को दो भागों में बाँटा था—'सीधे-बाल' (Leiotrichi) तथा 'ऊन की तरह गोल घुँघराले बाल' (Ulotrichi या Frizzly)। इसके बाद १८६० में इसिडोर ज्योफ्रे सेंट हिलेयर (Isidore Geoffrey Saint-Hilaire) ने संसार की मुख्य-मुख्य चार नस्लों को बालों की भिन्न-भिन्न रचना के आधार पर १३ उप-प्रजातियों में बाँटा। इस विभाजन में उसने बालों के अलावा नाक, त्वचा का रंग, खोपड़ी का परिमाण तथा चेहरे की आकृति आदि का भी सहारा लिया।

(च) हक्सले का वर्गीकरण—१८७० में हक्सले (Huxley) ने मानव-जाति को चार प्रजातियों में बाँटा—(१) ऑस्ट्रेलॉयड, (२) नीग्रॉयड, (३) क्सैंथोक्रॉयिक तथा (४) मंगोलॉयड। उसका कथन था कि क्सैंथोक्रॉयिक के ही किसी अन्य रक्त के सम्मिश्रण से कॉकेशियन-प्रजाति उत्पन्न हुई है।

(छ) हेकल का वर्गीकरण—हेकल (Haeckel) ने १८७९ में सिर्फ़ बालों के आधार पर नस्लों का चार में वर्गीकरण किया—(१) ऊनी बाल वाले, (२) भेड़ों के-से बाल वाले, (३) सीधे-सख्त बाल वाले, (४) घुंघराले बाल वाले। इनमें से पहले और दूसरे में कोई मौलिक भेद नहीं है।

(ज) टोपीनार्ड का वर्गीकरण—१८८५ में टोपीनार्ड (Topinard) ने नाक तथा रंग के आधार पर मानव-प्रजातियों का वर्गीकरण किया—(१) सफ़ेद रंग तथा लम्बी नाक वाले, (२) पीला रंग तथा चपटी नाक वाले, और (३) काला रंग तथा चौड़ी नाक वाले।

(झ) इलियट स्मिथ का वर्गीकरण---इलियट स्मिथ (Elliot Smith) ने मानव-प्रजातियों को ६ प्रजातियों में बांटा है---(१) ऑस्ट्रेलियन, (२) नीग्रो, (३) मंगोल, (४) नौर्डिक, (५) एलपाइन तथा (६) मैडिटरेनियन। नौर्डिक, एलपाइन तथा मैडिटरेनियन---इन तीनों के लिए एक नाम कॉकेशियन---यह है। दूसरे शब्दों में हम कह सकते हैं कि प्रजातियाँ चार हैं---ऑस्ट्रेलियन, नीग्रो, मंगोल और कॉकेशियन, किन्तु कॉकेशियन के तीन भाग हैं---नौर्डिक, एलपाइन तथा मैडिटरेनियन। कॉकेशियन की तीन शाखाओं में 'नौर्डिक' को मुख्य कहा जाता है, और यही 'आर्य'-प्रजाति कहलाती है।

८. मुख्य-मुख्य प्रजातियों का विवरण

प्रजातियों की संख्या किसी के मत में कुछ है, किसी के कुछ। हम इस समय संख्या को ध्यान में रखते हुए संसार की मुख्य-मुख्य प्रजातियाँ ११ मान कर उनकी जन-संख्या के हिसाब से उनका क्रम सामने रखते हुए नीचे इन ग्यारह प्रजातियों का विवरण दे रहे हैं :---

१. कॉकेशॉयड (Caucasoid)
२. मंगोलॉयड (Mongoloid)
३. आफ्रीकन नीग्रॉयड (African Negroid)
४. मेलेनेशियन (Melanesian)
५. माइक्रोनेशियन-पौलीनेशियन (Micronesian-Polynesian)
६. कौंगो या सेंट्रल आफ्रीकन पिग्मी (Congo or Central African Pygmy)
७. फ़ार ईस्टर्न पिग्मी (Far Eastern Pygmy)
८. ऑस्ट्रेलॉयड (Australoid)
९. बुशमैन-हौट्टनटौट (Bushmen-Hottentot)
१०. अयनू (Ainu)
११. वेडॉयड (Veddoid)

(१) कॉकेशॉयड---संसार के १ अरब के लगभग जन-संख्या कॉकेशॉयड नस्ल की है। इनकी त्वचा का रंग श्वेत से भूरे वर्ण तक विविध रंगों का पाया जाता है, इसलिए इस नस्ल को श्वेत-वर्ण का ही नहीं कहा जा सकता। इस प्रजाति के लिए श्वेत-वर्ण का इसलिए प्रयोग होता है क्योंकि अधिकांश व्यक्ति इसमें श्वेत-वर्ण के ही पाये जाते हैं। सिर के बालों में भी पर्याप्त भिन्नता पायी जाती है, सिर पर सीधे बालों से लेकर घुंघराले बालों तक सब भेद इस प्रजाति में मिलते हैं, इनके शरीर पर काफ़ी बाल होते हैं। इस नस्ल के ओष्ठ पतले, नाक नोकीली और उभरी हुई है, परन्तु नाक में एक किस्म नहीं है, अनेक किस्में हैं। शीर्ष-देशना साधारण तथा असाधारण दोनों प्रकार की पायी जाती है। कद छोटा भी मिलता है, बड़ा भी। कॉकेशॉयड के आगे तीन वर्ग माने जाते हैं---(i) एलपाइन, (ii) मैडिटरेनियन तथा (iii) नौर्डिक।

(i) एलपाइन—ये लोग युरोप के मध्य में फ्रांस से पश्चिमी-एशिया के केन्द्रीय भाग तक फैले हुए हैं। 'शीर्ष-देशना' (Cephalic-index) के अनुसार ये 'चौड़े-कपाल' (Brachy-cephalic) के कहे जाते हैं। इनका सफ़ेद रंग और भूरी आँखें होती हैं। चेहरा चौड़ा, बाल सीधे और किसी-किसी के घुंघराले, कद नौर्डिक से छोटा और मैडिटरेरियन से बड़ा। ये एलपाइन नस्ल के लोग नाटे, गठीले, वर्गाकार, छोटे और चौड़े पैर वाले होते हैं।

(ii) मैडिटरेनियन—मैडिटरेनियन में स्पेन से लेकर मोरोक्को के पार तक तथा वहाँ से पूर्वीय दिशा में भारत तक यह प्रजाति फैली हुई है। त्वचा का रंग भूरे से गोरे तक भिन्न-भिन्न वर्णों का पाया जाता है। मडिटरेनियन के आस-पास ४ प्रतिशत लोगों का गोरा रंग और नीली आँखें पायी जाती हैं, परन्तु ज्यों-ज्यों पूर्व की तरफ़ जाते हैं, त्यों-त्यों यह प्रतिशत और कम होता जाता है। 'शीर्ष-देशना' (Cephalic-index) के अनुसार ये 'लम्बी-खोपड़ी' (Dolicho-cephalic) कहे जाते हैं। कद में एलपाइन तथा नौर्डिक से छोटे होते हैं।

(iii) नौर्डिक—इस नस्ल के लोगों का सब से मुख्य स्थान स्वीडन है। स्कैन्डीनेविया, बाल्टिक-प्रदेश, ब्रिटिश द्वीप-समूह आदि में ये पाये जाते हैं। सिर लम्बा, नाक ऊँची तथा नोकीली, होंठ पतले, कद लम्बा और शरीर पतला, सिर के बाल सुनहरे, सीधे, घुंघराले, चमकदार, सुन्दर तथा विरल होते हैं। 'शीर्ष-देशना' (Cephalic-index) के अनुसार ये 'लम्बी-खोपड़ी' (Dolicho-cephalic) के कहे जाते हैं।

(२) मंगोलॉयड—इनकी संख्या १ अरब से काफ़ी कम है। इनकी त्वचा का रंग पीला-सा होता है। इनके सिर के बाल अक्सर सीधे और काले रंग के होते हैं। बुशमैन तथा होट्टनटौट प्रजातियों को छोड़ कर अन्य प्रजातियों की अपेक्षा इन के सिर तथा शरीर के अंगों के बाल कम होते हैं। नीग्रो की अपेक्षा इनकी नाक चौड़ी होती है, परन्तु उतनी मोटी नहीं होती। ओष्ठ मुटाई की तरफ़ झुके होते हैं। गालों की हड्डियाँ उभरी तथा एक ओर को झुकी होती हैं। उत्तरी-एशिया की तरफ़ जो मंगोल-प्रजाति के लोग रहते हैं, उनकी आँखों की पलकें भारी, मांसल तथा आँखों को ढके-सी रहती हैं, आँखें बादाम की-सी शक्ल की होती हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि अत्यन्त शीत से रक्षा करने के लिए प्रकृति ने आँखों के लिए गढ़ा-सा बना दिया है। कद मध्यम परन्तु छोटेपन की तरफ़ होता है।

(३) ग्राफ्रीकन-नीग्रॉयड—इस प्रजाति की संख्या १० करोड़ के लगभग है। इसका निवासस्थान आफ्रीका में दक्षिणी-सहारा से लेकर केप-आफ़-गुड-होप तक है। इन की त्वचा का रंग भूरे से लेकर बिलकुल काले वर्ण तक होता है। सिर के बाल घुंघराले तथा ऊनी किस्म के होते हैं, शरीर पर बाल बहुत कम पाये जाते हैं। नाक बहुत चौड़ी, कान छोटे तथा ऊपर का जबड़ा आगे को बढ़ा हुआ होता है। ओष्ठ दूसरी प्रजातियों की अपेक्षा मोटे तथा ऊपर को निकले होते हैं।

(४) मैलेनेशियन—इनकी संख्या २० लाख के लगभग है। दक्षिणी-प्रशान्त-द्वीपों में, जिन्हें मैलेनेशिया कहा जाता है, इस प्रजाति के लोगों का निवास है। न्यू गिनी से फ़ीजी तक २ हज़ार मील में ये द्वीप बिखरे पड़े हैं। इन्हीं में यह प्रजाति पायी जाती है। त्वचा का रंग काला, घुंघराले बाल तथा उभरी हुई भौएँ इनकी विशेषता है। मैलेनेशियन को आफ्रीकन-नीग्रो से अलग गिनने का कारण यह है कि मानव-शास्त्री इन दोनों नस्लों का उद्‌भव अलग-अलग मानते हैं।



मैलेनेशियन जन-जाति का व्यक्ति

(५) माइक्रोनेशियन-पौलीनेशियन—मैलेनेशिया के उत्तर में जो द्वीप हैं उनमें १ लाख के लगभग माइक्रोनेशियन रहते हैं, और मैलेनेशिया के पूर्व में द्वीपों का जो त्रिभुजाकार समूह है, उसमें ३ लाख के लगभग पौलीनेशियन रहते हैं। ये हवाई द्वीप से न्यूज़ीलैण्ड और न्यूज़ीलैण्ड से ईस्टर आईलैंड तक फैले हुए हैं। इन्हें ओशेनियन भी कहते हैं। इनके शरीर पर बाल कम होते हैं, त्वचा का रंग हल्का और सिर के बाल ऊनी होते हैं।



फ़िलिपाइन नीग्रिटो स्त्री

(६) कौंगो या सेंट्रल आफ्रीकन पिग्मी—इन की संख्या १ लाख के लगभग है। कई विद्वान् इन्हें आफ्रीकन नीग्रॉयड में गिनते हैं, परन्तु इन दोनों में इतना भेद है कि इन्हें एक ही वर्ग में नहीं गिना जा सकता। इनका कद ५ फ़ीट से भी कुछ छोटा होता है। यह सम्भव है कि अगर इनके खान-पान में कुछ सुधार कर दिया जाय, तो कद भी कुछ बढ़ जाय। ये आफ्रीकन-नीग्रॉयड तथा

मैलेनेशियन जितने काले भी नहीं होते और इन दोनों से इनके शरीर पर बाल भी अधिक होते हैं।

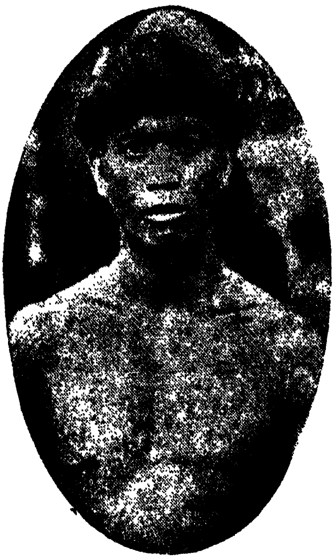
(७) फ़ार-ईस्टर्न पिग्मी—इनमें २,००० के लगभग अंडमान द्वीप के निवासी हैं, २५,००० के लगभग लुज़ोन, मिन्डानाओ तथा फ़िलिपाइन के अन्य द्वीपों के निवासी हैं और कुछ-सौ मलय प्रायद्वीप के आदि-वासी हैं। इन्डोनेशिया, न्यू गिनी तथा मैलेनेशिया में भी अनिश्चित संख्या इन नाटे कद वालों की है। इन्हें कई लोग सेंट्रल आफ्रीकन पिग्मी में गिनते हैं। इनके होंठ काफ़ी मोटे, सिर के बाल ऊनी, त्वचा का रंग बहुत काला, शरीर पर बाल बहुत कम और ऊँचाई ५ फ़ीट के लगभग होती है।

(८) ऑस्ट्रेलॉयड—ऑस्ट्रेलिया में ४०,००० के लगभग कृष्ण-वर्ण के आदि-वासी वहाँ पर ब्रिटिश उपनिवेश हो जाने पर भी मौजूद हैं। इनकी त्वचा का रंग चौकलेट जैसा और काला है, इसके अलावा इनके अन्य सब लक्षण कॉके-शॉयड के-से हैं। सिर के बाल इनके घुंघराले हैं।

(९) बुशमैन-हौट्टनटौट—कलहारी के रेगिस्तान तथा आस-पास के प्रदेशों में नाटे कद के पिग्मी नस्ल के २० हज़ार के लगभग लोग रहते हैं। बन्तु-भाषा बोलने वाले नीग्रॉयड-प्रजाति के लोगों के आने से पूर्व सम्पूर्ण दक्षिणी आफ्रीका में यही बुशमैन-हौट्टनटौट प्रजाति निवास करती थी। इस प्रजाति के किसी-किसी व्यक्ति में बोस्कोप-प्रजाति के लक्षण भी पाये जाते हैं, यद्यपि बोस्कोप-प्रजाति अब दक्षिणी-आफ्रीका में लुप्तप्राय हो गई है। बुशमैन नाटे होते हैं, इनकी औसत लम्बाई ५ फ़ीट होती है। हौट्टनटौट की लम्बाई बुशमैन से ज्यादा होती है। बुशमैन के सिर के बाल गोलेदार और हौट्टनटौट के घुंघराले होते हैं। इन दोनों की आँखें मंगोल जैसी होती हैं। कौंगो-पिग्मी की भाँति इनके शरीर पर बाल बहुत थोड़े और त्वचा का रंग काला न होकर बीच का पाया जाता है। जाँघें और कमर के नीचे का हिस्सा मांसल होता है, और इसके मांसल होने का कारण सम्भवतः 'वाहकाणु' (Genes) न होकर इनका खान-पान तथा हर समय आगे को झुके रहने की आदत है। इनकी आँखों की मंगोल-प्रजाति के लोगों की आँखों से समता को देख कर कई लोगों का कहना है कि मंगोल-प्रजाति के 'वाहकाणु' (Genes) इस प्रजाति में किसी तरह पहुँचे हैं, परन्तु अधिक सम्भावना यह है कि इस प्रजाति की आँख का भी मंगोलों की तरह समानान्तर-विकास (Parallel evolution) हुआ है। यह समझना कि विकास एक ही से सब का हुआ है, ग़लत है। जैसे एक प्रजाति में 'आकस्मिक-परिवर्त्तन' (Mutation) के सिद्धान्त के अनुसार कोई गुण अचानक प्रकट हो जाता है, उसके 'वाहकाणु' भी प्रकट हो जाते हैं, वैसे दूसरी प्रजाति में भी वैसा ही 'आकस्मिक-परिवर्त्तन' हो

सकता है। विकास एक ही जगह से नहीं उत्पन्न होता, समानान्तर रूप से भी विकास की प्रक्रिया काम करती है।

(१०) अयनू—जापान के आस-पास के द्वीपों में, विशेष कर होकायडू में जापान की एक पुरानी प्रजाति निवास करती है जिसका नाम अयनू है। इनकी संख्या १० हजार के लगभग है। अयनू-प्रजाति के लक्षण थोड़े-बहुत जापान की अन्य प्रजातियों में भी पाये जाते हैं। अयनू दक्षिण-पूर्व आस्ट्रेलिया के आदि-वासियों से मिलते-जुलते हैं, परन्तु त्वचा का रंग इनका काला न होकर कुछ गहरे रंग के कॉकेशियन लोगों से मिलता है। इनके सिर के बाल घुंघराले, होंठ पतले और शरीर पर बाल अन्य प्रजातियों की अपेक्षा बहुत ज्यादा होते हैं।



इंडोनेशियन जन-जाति का व्यक्ति

(११) वेडॉयड— बीसवीं शताब्दी के शुरू में कुछ सैंकड़ों में वेडॉयड नाम की एक प्रजाति, जिसका धंधा कृषि था, सीलोन में रहती थी। इनके अवशेष कम रह गये हैं। इनके सिर पर घुंघराले बाल, शरीर पर भी कुछ बाल होते हैं, त्वचा का रंग चाकलेट का-सा और अंग-प्रत्यंग नाजुक-से। ये कॉकेशियन तथा ऑस्ट्रेलॉयड के बीच के मेल की प्रजाति समझनी चाहिए।

'हमने ऊपर संसार की ११ मुख्य-मुख्य प्रजातियों के शारीरिक-लक्षणों का विवरण दिया। इनमें कॉकेशॉयड के हमने तीन भाग किये—एलपाइन, मैडिटरेनियन तथा नौर्डिक। नीचे जो चित्र दिया जा रहा है इसमें इन तीनों को एक कोटि में रख कर चित्र दिया जा रहा है। इसी प्रकार आफ्रीकन-नीग्रॉयड, माइक्रोनेशियन-पौलीनेशियन, कौंगो पिग्मी, ईस्टर्न पिग्मी, बुशमैन-होट्टनटौट, अयनू तथा वेडॉयड—इन सब को इस चित्र में नीग्रो वर्ग में रख दिया गया है। इन सब में अवान्तर भेद हैं, तो भी संसार की मुख्य प्रजातियाँ कॉकेशॉयड, मंगोलॉयड, नीग्रॉयड तथा ऑस्ट्रेलॉयड मान कर इनके मुख्य-मुख्य शारीरिक-लक्षण निम्न चित्र से स्पष्ट हो जायगे :—

संसार की मुख्य-मुख्य प्रजातियों के शारीरिक-लक्षण

शारीरिक-लक्षण	काकशायड	मंगोलायड	नीग्रायड	आस्ट्रेलायड
	१. एलपाइन २. मैडिटरेनियन ३. नौर्डिक		१. माइक्रोनेशियन-पौलीनेशियन २. कौंगो पिग्मी ३. ईस्टर्न पिग्मी ४. बुशमैन-हौट्टनटौट ५. मयनू ६. वेडॉयड	
कद	छोटा तथा अधिकतर लम्बा	मध्यम पर छोटे की तरफ़	अधिकतर नाटा	छोटा तथा अधिकतर लम्बा
वर्ण	श्वेत	पीत	गहरा भूरा तथा काला	काला
सिर के बाल	सीधे, घुंघराले	सीधे	घने तथा ऊनी	घुंघराले
शरीर पर बाल	न ज्यादा, न कम	अभाव अथवा बहुत कम	अभाव अथवा बहुत कम	मध्यम
नाक	ऊँची	नीची	समतल	ऊँची, चौड़ी
होंठ	पतले	मध्यम तथा मोटे	मोटे	पतले तथा मध्यम
सिर का आकार	लम्बा तथा मध्यम	चौड़ा	लम्बा तथा चौड़ा	लम्बा तथा मध्यम

९. शारीरिक-लक्षणों के आधार पर प्रजाति के वर्गीकरण में कठिनाई

इस अध्याय में हमने भिन्न-भिन्न प्रजातियों के शारीरिक-लक्षणों के आधार पर किये गए वर्गीकरण का वर्णन किया। इस बात पर तो हम आगे 'प्रजातिवाद' के अध्याय में विचार करेंगे कि 'प्रजाति' के आधार पर किसी को ऊँचा और किसी को नीचा कहना कहाँ तक ठीक है, परन्तु यहाँ यह कह देना आवश्यक है कि मानव-शास्त्री जिस प्रकार निश्चित तथा अनिश्चित प्रजातीय शारीरि का वर्गीकरण करते हैं, उसे प्रामाणिक मान लेने में अनेक कठिनाइयाँ हैं। वे कठिनाइयाँ क्या हैं?

(क) शुद्ध लक्षणों का न मिलना—इस दिशा में सब से पहली कठिनाई तो यह है कि जब हम किसी प्रजाति के लक्षणों का वर्णन करते हैं तब हम यह भूल जाते हैं कि वर्त्तमान-युग में कोई प्रजाति अपने शुद्ध रूप में नहीं मिलती। अगर रंग के आधार पर वर्गीकरण किया जाय, तो शुद्ध काला, शुद्ध श्वेत या शुद्ध पीला रंग किस प्रजाति में मिलता है? अगर रक्त के आधार पर वर्गीकरण किया जाय तो शुद्ध A या शुद्ध B या शुद्ध O कहाँ मिलता है? संसार इतना पुराना है और प्रजातियों का इतना सम्मिश्रण हुआ है कि किसी व्यक्ति के सम्बन्ध में निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता कि वह किस प्रजाति का है। यही कारण है कि प्रजातियों का वर्गीकरण कोई कुछ करता ह, कोई कुछ। अगर प्रजाति कोई स्पष्ट वस्तु है तब इसके वर्गीकरण में इतनी विभिन्नता क्यों है?

(ख) वंशानुसंक्रमण तथा पर्यावरण का झगड़ा—प्रजाति के सम्बन्ध में दूसरी कठिनाई यह है कि जिस लक्षण को हम प्रजातीय कहते हैं उसमें हमारा अभिप्राय यह होता है कि यह लक्षण वंश-परम्परा से, वंशानुसंक्रमण से चला आ रहा है, और इसी प्रकार यह आगे चलता चला जायगा। परन्तु यह बात कहाँ तक ठीक है? पर्यावरणवादियों का कथन है कि हर-एक शारीरिक लक्षण पर्यावरण के कारण होते हैं। काला आदमी काला इसलिए नहीं है क्योंकि वह काले माँ-बाप का बेटा है, वह काला इसलिए है क्योंकि वह ऐसे जल-वायु में रहा है जिसमें आदमी लगातार रहने से एक पीढ़ी में नहीं तो अगली पीढ़ियों में काला हो जाता है। यही बात गोरे आदमी के लिए भी ठीक है। हम यह निश्चय नहीं कर सकते कि मनुष्य की शारीरिक रचना में वंशानुसंक्रमण का हाथ है या पर्यावरण का। ऐसी हालत में शारीरिक-लक्षणों के आधार पर हम प्रजातीय-भेद के विचार को कैसे खड़ा कर सकते हैं क्योंकि प्रजाति-भेद का तो अर्थ ही यह है कि इस पर पर्यावरण का कोई प्रभाव नहीं पड़ता, वंश-परम्परा का ही पड़ता है।

इस प्रकार इस अध्याय में हमने देखा कि प्रजाति क्या है, प्रजाति का वंश तथा शारीरिक-भेदों से क्या सम्बन्ध है, भिन्न-भिन्न विद्वान् संसार की प्रजातियों का क्या वर्गीकरण करते हैं, इस वर्गीकरण के आधार पर संसार की मुख्य-मुख्य प्रजातियाँ कौन-सी हैं, उन प्रजातियों की क्या-क्या विशेषताएँ हैं, तथा इस प्रकार के प्रजातीय-वर्गीकरण में क्या कठिनाइयाँ हैं। अगले अध्याय में हम संसार की प्रजातियों की चर्चा न करके भारत की प्रजातियों की चर्चा करेंगे।

२

भारत की प्रजातियाँ तथा उनका इतिहास

(INDIAN RACES AND THEIR HISTORY)

हमने पिछले अध्याय में संसार की मुख्य-मुख्य प्रजातियों के सम्बन्ध में लिखा। इस विवरण से यह नहीं समझना चाहिए कि संसार में ये ही और इतनी ही प्रजातियाँ हैं। भिन्न-भिन्न लेखकों के अनुसार प्रजातियों की भिन्न-भिन्न संख्या और उनके भिन्न-भिन्न नाम दिये जाते हैं जिनमें से मुख्य-मुख्य का वर्णन हमने किया। हम इस अध्याय में भारत की मुख्य-मुख्य प्रजातियों का वर्णन करेंगे।

भारत में प्रजातियों के सम्बन्ध में सब से पहले चर्चा सर हर्बर्ट रिज़ले ने अपनी पुस्तक 'पीपल्स ऑफ इंडिया' में की। इनके बाद ए० सी० हैड्डन, जे० एच० हट्टन तथा डॉक्टर बी० एस० गुहा ने भारत की प्रजातियों के वर्गीकरण पर अपने-अपने विचार प्रकट किये। इन्हीं के विचारों के आधार पर हम यहाँ इस विषय पर लिखेंगे।

१. सर हर्बर्ट रिज़ले का भारतीय-प्रजातियों का वर्गीकरण

सर हर्बर्ट रिज़ले (H. H. Risley) ने भारत की प्रजातियों को सात भागों में बाँटा। इन सात में अन्डमान द्वीप के नीग्रिटो का नाम नहीं है, क्योंकि श्री रिज़ले के कथन के अनुसार नीग्रो प्रजाति का भारत की प्रजातियों में कोई महत्त्वपूर्ण स्थान नहीं है। रिज़ले का कहना था कि मुख्य तौर पर तो भारत में तीन प्रजातियों का निवास रहा है—(१) ड्रैविडियन, (२) इंडो-आर्यन तथा (३) मंगोलियन, परन्तु इन तीन में से ड्रैविडियन तथा इंडो-आर्यन के सम्मिश्रण से (४) इण्डो-ड्रैविडियन पैदा हो गये; ड्रैविडियन तथा मंगोलियन की एक शाखा के सम्मिश्रण से (५) मंगोलो-ड्रैविडियन पैदा हो गए; मंगोल की अन्य शाखा और ड्रैविडियन के सम्मिश्रण से (६) सीथियन-ड्रैविडियन पैदा हो गये। सीथियन तथा मंगोल का लगभग एक ही अर्थ है, इसलिए मंगोल तथा ड्रैविडियन के सम्मिश्रण से मंगोल-ड्रैविडियन कहने के स्थान में 'सीथियन-ड्रैविडियन'-शब्द प्रचलित है। इन छः के अलावा बिलोचिस्तान तथा उत्तर-पश्चिमीय सीमा-प्रांत जो अब पाकिस्तान में चला गया है, वहाँ (७) टर्को-ईरानियन प्रजाति के लोग पाये जाते हैं। इस प्रकार पहले के तथा अब के भारत में मुख्य तौर पर सात प्रजातियाँ हैं। इन प्रजातियों के सम्बन्ध में श्री रिज़ले का विशेष विवरण निम्न है:

(१) ड्रैविडियन (Dravidian)—द्राविड़ लोग भारत के दक्षिण में पाये जाते हैं, विशेष कर मद्रास, हैदराबाद, मध्य-प्रदेश के दक्षिण तथा छोटा नागपुर में इनका निवास अधिक है। दक्षिण-भारत के पनियन लोगों और छोटा नागपुर के सन्थाल लोगों में द्राविड़ प्रजाति के सब लक्षण पाये जाते हैं। इनका रंग काला, आँखें काली, कद नाटा और बाल खूब होते हैं। बाल प्रायः घुंघराले पाये जाते हैं। सिर लम्बा होने के कारण ये 'लम्बी-खोपड़ीवाले' (Dolicho-cephalic) कहे जा सकते हैं। नाक इनकी खूब चौड़ी होती है जिसकी जड़ में एक भराव का स्थान दीख पड़ता है। इन्हीं को मैडिटरेनियन भी कहते हैं।

(२) इंडो-आर्यन (Indo-Aryan race)—ये लोग उत्तर-भारत में—पूर्वी पंजाब, राजपूताना तथा काश्मीर में पाये जाते हैं। इन इलाकों के लम्बे कद के खत्री और जाट इस वर्ग में आते हैं। इनका लम्बा चौड़ा देह, लम्बा सिर, नोकीली तथा उभरी हुई नाक, काली आँखें और गोरा रंग इनकी विशेषता है। इन्हें 'लम्बी-खोपड़ी वाले' (Dolicho-cephalic) कहा जा सकता है।

(३) मंगोलॉयड या किरात (Mongoloid)—हिमालय के प्रदेशों में मंगोल प्रजाति जहाँ-तहाँ बिखरी पड़ी है। नेपाल, असम तथा बर्मा में इन की संख्या अधिक है। सामाजिक-दृष्टि से भिन्न-भिन्न प्रदेशों में इनके भिन्न-भिन्न नाम हैं; परन्तु शारीरिक बनावट की दृष्टि से ये सब मंगोल प्रजाति के हैं। इनके चौड़े सिर और छोटी-सी सुन्दर नाक होती है, जो किसी-किसी व्यक्ति में चौड़ी भी पायी जाती है। इनका चेहरा चपटा होता है और आँख पर तहें-सी होती हैं जिनसे आँखें ढकी-सी रहती हैं। प्रायः इनके शरीर पर बाल नहीं पाये जाते। कद में ये नाटे होते हैं। इनको भारतीय ग्रन्थों में 'मंगोल' न कहकर 'किरात' कहा गया है।

(४) इंडो-ड्रैविडियन (Indo-Dravidian race)—उत्तर-प्रदेश, राजपूताना तथा बिहार में इस प्रजाति के लोगों की प्रधानता है। इन्डो-आर्यन तथा ड्रैविडियन प्रजातियों के सम्मिश्रण से इनकी उत्पत्ति हुई है। रंग स्थान-स्थान के भेद से बदलता हुआ पाया जाता है, साधारण तौर पर इनका रंग भूरे तथा काले के बीच का है। इनकी नासिका की दृष्टि से इनकी 'चपटी-नाक' (Mesorrhine) तथा कहीं-कहीं 'चौड़ी-नाक' (Platyrrhine) है। इन्डो-आर्यन की नाक इस प्रजाति से सुन्दर होती है, और ये लोग इन्डो-आर्यन से कद में छोटे होते हैं। सिर की दृष्टि से इन्हें 'लम्बी-खोपड़ीवाला' (Dolicho-cephalic) कहा जा सकता है।

(५) मंगोलो-ड्रैविडियन (Mongolo-Dravidian race)—यह प्रजाति बंगाल तथा उड़ीसा में पायी जाती है। बंगाली ब्राह्मण, बंगाली कायस्थ एवं बंगाली मुसलमान ज्यादातर मंगोलो-ड्रैविडियन प्रजाति के ही हैं। गुजरात में भी इसके लक्षण पायें जाते हैं। रिज़ले का कथन है कि मंगोलियनों का ऐसे ड्रैविडियनों के साथ सम्मिश्रण होने से जिनके रुधिर में कुछ अंश इंडो-आर्यन का

था, यह प्रजाति उत्पन्न हुई है। इनकी त्वचा का रंग काला और चेहरे पर काफ़ी बाल होते हैं। सिर इनका गोल, चौड़ा, मध्यमान की नाक के साथ-साथ इनका कद भी बिचले दर्जे का होता है, इनके कद को किसी-किसी हालत में छोटा भी कहा जा सकता है।

(६) सीथियन-ड्रैविडियन (Scytho-Dravidian race)—मंगोलों की एक बहुत निकट की शाखा सीथियन तथा ड्रविडियन के सम्मिश्रण से इनकी उत्पत्ति हुई है। ये मध्य-प्रदेश, सौराष्ट्र तथा कुर्ग के पहाड़ी इलाकों में पाये जाते हैं। इन इलाकों में उच्च-स्तर के मिश्रित-वर्ग में सीथियन रुधिर प्रधान है, निम्न-स्तर के मिश्रित-वर्ग में ड्रैविडियन रुधिर प्रधान है। इनकी सुन्दर छोटी-सी नाक होती है जो प्रायः लम्बी नहीं देखी गई। मध्यम कद, गोरा रंग, शरीर पर कम बाल तथा 'चौड़े सिरवाले' (Brachy-cephalic) हैं इस प्रजाति के लोग।

(७) टर्को-इरानियन प्रजाति (Turko-Iranian race)—यह प्रजाति बिलोचिस्तान तथा पाकिस्तान के सीमा-प्रान्त में निवास करती है। ये लोग कद में विशेष तौर पर लम्बे और रंग के गोरे होते हैं। इनकी आँखों का रंग काला होता है, परन्तु इनमें कभी-कभी भूरी आँखों के लोग भी मिल जाते हैं। घनी दाढ़ी, चेहरे पर भरपूर बाल, उभरी हुई नोकीली-लम्बी नाक। इनका सिर छोटा होने के कारण इन्हें 'चौड़े-सिरवाला' (Brachy-cephalic) कहा जा सकता है।

२. ए० सी० हैडुन का भारतीय-प्रजातियों का वर्गीकरण

श्रीयुत् हैडुन (A. C. Haddon) रिज़ले के वर्गीकरण से सहमत नहीं। रिज़ले के वर्गीकरण पर पहली आपत्ति यह है कि उन्होंने मंगोल प्रजाति को बहुत बढ़ा-चढ़ा कर अपने वर्गीकरण में स्थान दिया है, यहाँ तक कि द्राविड़ों के साथ सम्मिश्रण से एक मंगोलो-ड्रैविडियन प्रजाति की उत्पत्ति की कल्पना की है। इस प्रजाति की उत्पत्ति की कल्पना रिज़ले ने क्यों की है? इसका कारण यह है कि उन्हें बंगाल तथा गुजरात में चौड़े सिर मिले और मंगोलों का भी सिर चौड़ा होता है। इस आधार पर उन्होंने बंगाल तथा गुजरात में मंगोलो-ड्रैविडियन प्रजाति की कल्पना की। परन्तु यह कल्पना निराधार है। यह कल्पना निराधार इसलिए है क्योंकि मंगोलों के चौड़े ही सिर हों यह ज़रूरी नहीं। अनेक स्थानों पर मंगोलों के चौड़े सिर नहीं भी मिलते। बंगाल तथा गुजरात के लोगों के चौड़े सिर का कारण रिज़ले को कहीं अन्यत्र ढूंढना चाहिए था। रिज़ले के वर्गीकरण पर दूसरी आपत्ति यह है कि मंगोलों की-सी थैली की-सी आँखें दार्जिलिंग, चिटागांग आदि में तो मिलती हैं, परन्तु बंगाल की उच्च-जातियों में, ब्राह्मणों में, कायस्थों में कहीं नहीं मिलतीं। ऐसी हालत में बंगाल में मंगोल-प्रभाव क्या हुआ? इन सब बातों के आधार पर हैडुन महोदय को रिज़ले का वर्गीकरण स्वीकार नहीं। हैडुन ने अपना एक स्वतंत्र वर्गीकरण किया है जिसमें पाँच प्रजातियाँ गिनाई गई

हैं—(१) आदि-द्राविड़ या निषाद, (२) द्राविड़, (३) इंडो-आर्यन, (४) इंडो-एलपाइन तथा (५) मंगोल या किरात।

(१) आदि-द्राविड़ या निषाद (Pre-Dravidians)—हैड्डन के कथनानुसार भारत में सब से पुरानी प्रजाति 'द्राविड़' नहीं हैं, परन्तु इनसे पहले कई प्रजातियाँ थीं, जो भारत के जंगलों में जहाँ-तहाँ घूमती रहती थीं। क्योंकि द्राविड़ों से भी पहले भारत की आदि प्रजाति 'प्रोटो-ऑस्ट्रेलॉयड' थी, इसलिए 'प्रोटो-ऑस्ट्रेलॉयड' को ही 'आदि-द्राविड़' या 'निषाद' कहा जाता है। 'प्रोटो' का अर्थ है—पहला, आदि। ये ही भारत में शुरू-शुरू में आये थे।

(२) द्राविड़ या मैडिटरेनियन (Dravidian)—इनके बाद द्राविड़ आये, जो पश्चिमी-बंगाल की घाटी में बस गये और वहाँ से भारत को चीरते हुए छोटा नागपुर में आकर बस गये। इन्हीं को 'मैडिटरेनियन' भी कहते हैं।

(३) इंडो-आर्यन (Indo-Aryan)—आर्य-भाषाओं को बोलने वाले लोग द्राविड़ों के बाद ईसा से २००० साल पहले की सहस्राब्दी में भारत में प्रविष्ट हुए। वे धीरे-धीरे भारत में आये और कई शताब्दियों तक वे आते रहे। पहले-पहल वे पंजाब की उपजाऊ भूमि में आकर बसे, दक्षिण में वे इसलिए न बढ़ सके क्योंकि रास्ते में राजपूताने के रेगिस्तान उनके आगे बढ़ने में रुकावट बने रहे और पूर्व में वे इसलिए न बढ़ सके क्योंकि उस तरफ़ घने जंगलों के कारण आगे न बढ़ा जा सकता था। अन्त में वे गंगा और जमना की घाटी में फैल गये।

(४) इंडो-एलपाइन (Indo-Alpine)—रिज़ले ने भारत में पाये जाने वाले 'चौड़े-सिर' (Brachy-cephalic) के लिए यह कल्पना की थी कि मंगोल-रक्त के लोगों के द्राविड़ों के सम्मिश्रण से एक प्रजाति उत्पन्न हुई जो जंगल तथा गुजरात में पायी जाती है। इस कल्पना का हैड्डन ने विरोध किया और इसके मुकाबिले में यह कल्पना रक्खी कि भारत में 'चौड़े-सिर' के लोग इसलिए पाये जाते हैं क्योंकि कॉकेशियन-स्कन्ध की एलपाइन शाखा, जिसका सिर चौड़ा होता है, भारत में आकर बसी। हैड्डन का कहना है कि एलपाइन शाखा के ये लोग मंगोलों से पहले भारत में आकर बसे।

(५) मंगोल या किरात (Mongoloid)—इंडो-एलपाइन के बाद मंगोल भारत में आये और हिमालय के नैपाल, असम, बर्मा आदि में बस गये। जैसा हम पहले लिख आये हैं, भारतीय-साहित्य में इन 'मंगोलों' को 'किरात' का नाम दिया गया है।

३. हट्टन का भारतीय-प्रजातियों का वर्गीकरण

हैड्डन के बाद जे० एच० हट्टन ने १९३१ की भारत की सेन्सस-रिपोर्ट में भारतीय-प्रजातियों का अध्ययन करके एक और वर्गीकरण किया। इस वर्गीकरण में (१) नीग्रिटो, (२) प्रोटो-ऑस्ट्रेलॉयड, (३) मैडिटरेनियन, (४) एलपाइन की आर्मेनॉयड शाखा, (५) मंगोलॉयड तथा (६) इंडो-आर्यन—इस क्रम से ये प्रजातियाँ भारत में आयीं—ऐसा कहा गया है।

(१) नीग्रिटो—'नीग्रॉयड' (Negroid) तथा 'नीग्रिटो' (Negrito) में भेद है। मानव-जाति का विशाल वर्गीकरण जिसमें कॉकेशॉयड, ऑस्ट्रलॉयड, मंगोलॉयड तथा नीग्रॉयड प्रजातियाँ हैं, इनमें 'नीग्रॉयड' एक हिस्सा है। 'नीग्रॉयड' एक तरह से मानव-जाति के एक 'स्कन्ध' (Stock) का नाम है। यह 'स्कन्ध' संसार के दो महाभागों में निवास करता है—आफ्रीका तथा ओशेनिया। इस प्रकार 'नीग्रो-स्कन्ध' आफ्रीका तथा ओशेनिया—इन दो भागों में बँट जाता है। इन दोनों महा-प्रदेशों के भिन्न-भिन्न भागों में नीग्रो लोगों की अनेक प्रजातियाँ रहती हैं, जिनमें से एक 'पिग्मी' (Pygmy) कहलाती है। इस पिग्मी की सम-कक्ष यह 'नीग्रिटो' (Negrito)प्रजाति है जो कौंगो, अण्डमान, फ़िलिपाइन आदि में पायी जाती है। यह बहुत छोटे कद की होती है। इसकी औसत ऊँचाई १५० संटीमीटर है। यह 'चौड़े-सिर वाली' (Brachy-cephalic) है और इसकी 'शीर्ष-देशना' (Cephalic-index) ८३ है। त्वचा का रंग गहरा पीला, बाल काली मिर्च के-से और घुंघराले होते हैं।

डा० हट्टन तथा बी० एस० गुहा इस 'नीग्रिटो' प्रजाति को भारत की प्राचीनतम प्रजाति मानते हैं। इस प्रजाति का मूल-स्थान 'मंलेनेशिया' है, जो प्रशान्त-महासागर का एक टापू है। उस टापू से यह प्रजाति असम, बर्मा, अण्डमान-निकोबार, मलाबार आदि में फैली। हट्टन और गुहा के अनुसार यह प्रजाति भारतवर्ष में सब से पहले फैली, परन्तु अब उसके अवशेष हमें भारत के मुख्य भाग पर कहीं प्राप्त नहीं होते—यह इन दोनों विद्वानों का कथन है।

(२) प्रोटो-ऑस्ट्रेलॉयड, 'आग्नेय' या 'निषाद'—नीग्रिटो के बाद भारत में प्रोटो-ऑस्ट्रेलॉयड ([1]Proto Australoid) अर्थात् ऑस्ट्रेलिया के प्रथम-वासी आये। 'प्रोटो-ऑस्ट्रेलॉयड' तथा 'ऑस्ट्रेलॉयड' में इतना ही भेद है कि 'ऑस्ट्रेलॉयड' की भी जो सब से पहली शाखा है, उसे 'प्रोटो-ऑस्ट्रेलॉयड' कह देते हैं। हिन्दी में इसे 'आदि-ऑस्ट्रेलियन' कहेंगे। हिन्दी के कई लेखकों ने 'प्रोटो-ऑस्ट्रेलियन' को 'आग्नेय' लिखा है। उन्होंने इस प्रजाति को 'आग्नेय' नाम इसलिए दिया है क्योंकि यह प्रजाति संसार के 'दक्षिण-पूर्व' में पायी जाती है जो 'आग्नेय-दिशा' है। 'दक्षिण-पूर्व' दिशा को संस्कृत में 'आग्नेय-दिशा' कहा जाता है। इनकी त्वचा का रंग भी चाकलेट जैसा और काला होता है, अग्नि की आभा जैसा नहीं। अस्तु, श्री हट्टन के कथनानुसार 'नीग्रिटो' के बाद 'आदि-ऑस्ट्रेलियन' भारत में आये। इनका आगमन किधर से हुआ—इस विषय में हट्टन का कथन है कि ये पैलेस्टाइन में रहते थे और उधर से ही भारत में प्रविष्ट हुए। जैसा हम पहले कह आये हैं, ये 'प्रोटो-ऑस्ट्रेलॉयड' ही 'आदि-द्राविड़' हैं। इन्हें भारतीय-साहित्य में 'निषाद' का नाम दिया गया है।

(३) मैडिटरेनियन या द्राविड़—'आदि-ऑस्ट्रेलियन' के आने के बाद भारत में भूमध्यसागर की एक शाखा का आगमन हुआ जो मैडिटरेनियन- प्रजाति

1 Proto=Greek: *Protos*, First.

की आदि-शाखा (Early branch of Mediterranean race) थी। यह शाखा खेती करना जानती थी और इसकी भाषा में शब्दों के अन्त में प्रत्यय जोड़े जाते थे। आजकल के आॅस्ट्रेलिया, न्यू ज़ीलैण्ड, तथा आस-पास के द्वीप-समूहों के आदि-वासियों में ऐसी ही भाषा बोली जाती है। इस शाखा के बाद पूर्वी-युरोप से एक और भूमध्यसागरीय शाखा (Eastern European Mediterranean race) ने भारत में प्रवेश किया जो धातुओं के उपकरण बनाना जानती थी, जो नगर-सभ्यता में दीक्षित थी। श्री हट्टन का कथन है कि पूर्वी-युरोप से आने वाली इसी मैडिटरेनियन-प्रजाति ने सिन्धु-सभ्यता को जन्म दिया और मोहनजोदड़ो तथा हड़प्पा की सभ्यता का इन्होंने श्रीगणेश किया। 'मैडिटरेनियन' का ही नाम भारत में 'द्राविड़' है।

(४) एलपाइन की आर्मेनॉयड शाखा—भारत में चौड़े सिर के लोग किस प्रजाति से उत्पन्न हुए—यह विषय बहुत विवाद का बना हुआ है। रिज़ले ने इसके लिए मंगोलो-ड्रैविडियन प्रजाति की कल्पना की, हैडुन ने इंडो-एलपाइन की कल्पना की, हट्टन महोदय ने इसके लिए यह कल्पना की कि यद्यपि ये 'चौड़े-सिरवाले' (Brachy-cephalic) एलपाइन-प्रजाति के हैं, तो भी एलपाइन में से उसकी 'आर्मेनॉयड-शाखा' (Armenoid branch of Alpine race) के ये लोग हैं। इस शाखा ने ईसा से ४००० वर्ष पहले एक ऊँचे स्तर की सभ्यता का विकास कर लिया था। सम्भवत: ये द्राविड़ भाषा बोलते थे और प्रागैतिहासिक काल के मैसेपोटामिया के लोगों में और इनमें समानता थी। ईसा से ३००० वर्ष पहले ईरान के पठार तथा पामीर की पहाड़ियों से इस प्रजाति के लोगों ने पश्चिम में अपनी सभ्यता की बाढ़-सी ला दी और यही चौड़े सिर वाले लोग भारत भी पहुँचे।

(५) मंगोलॉयड—पूर्व की तरफ़ से मंगोल प्रजाति के लोग बंगाल की खाड़ी, इंडोनेशिया आदि में फैले और बंगाल में आने के कारण उनका भारत में भी काफ़ी विस्तार हुआ। ये मंगोल भारतीय साहित्य के 'किरात' हैं।

(६) इंडो-आर्यन—श्री हट्टन का कहना है कि इन सब के बाद ईस्वी सन् से १५०० वर्ष के लगभग पहले इंडो-आर्यन प्रजाति के लोग भारत में प्रविष्ट हुए और पंजाब में बस गये।

४. डा० गुहा का भारतीय प्रजातियों का वर्गीकरण

डा० गुहा का वर्गीकरण हट्टन के वर्गीकरण से मेल खाता है। भेद इतना है कि डा० गुहा ने हट्टन के वर्गीकरण को कुछ और गहराई तक पहुँचाया है। डा० गुहा के वर्गीकरण में जो प्रजातियाँ गिनाई गई हैं, वे हैं—(१) नीग्रिटो, (२) प्रोटो-आॅस्ट्रेलॉयड, (३) मंगोलॉयड, (४) मैडिटरेनियन, (५) 'चौड़े-सिर की प्रजाति' (Brachy-cephalic race) जिसके डा० गुहा ने तीन भेद किये हैं—एलपाइन, दिनारी और आर्मेनॉयड तथा (६) नौर्डिक अथवा इण्डो-आर्यन।

(१) नीग्रिटो—नीग्रिटो का वर्णन हम पहले कर आये हैं। डा० हट्टन तथा डा० गुहा इसे भारत की सबसे प्राचीन प्रजाति मानते हैं। इनके अवशेष अब निकोबार-अण्डमान द्वीपों के सिवाय और कहीं नहीं मिलते।

(२) प्रोटो-ऑस्ट्रेलॉयड (निषाद)—नीग्रिटो के बाद भारतवर्ष में आने वाली दूसरी प्रजाति प्रोटो-ऑस्ट्रेलॉयड है। ये मुख्य तौर पर मध्य-प्रदेश तथा दक्षिण भारत में फैले हुए हैं, ख़ास कर निम्न जातियों में इनका रक्त अधिक है। इनके सम्बन्ध में पहला मत तो यह है कि ये ऑस्ट्रेलिया से भारत में आयें, दूसरा मत यह है कि नीग्रिटो से ही इनकी उत्पत्ति हुई, तीसरा मत यह है कि पैलेस्टाइन से ये लोग इस देश में आये।

(३) मंगोलॉयड (किरात)—इनकी शारीरिक विशेषताओं का तो हम पहले ही वर्णन कर आये हैं। इनमें 'बी'-समूह के रक्त की प्रधानता है। इनका मूल स्थान इरावती नदी की घाटी, तिब्बत, चीन और मंगोलिया है। वहाँ से ये असम, नेपाल, बर्मा आदि में फैल गये हैं।

(४) मैडिटरेनियन (द्राविड़)—भूमध्य-सागर से यह प्रजाति भारत में आयी। यह स्पेन और मोरक्को से भारत तक पायी जाती है। जैसा हम पहले कह आये हैं, दो शाखाओं में इसका भारत में प्रवेश हुआ। एक शाखा अपने साथ कृषि करने तथा पत्थरों के स्मारक खड़े करने (Agricultural and Megalithic Culture) की सभ्यता को अपने साथ लायी, दूसरी शाखा पूर्वी-युरोप से ईरान की खाड़ी से होते हुए भारत में प्रविष्ट हुई। यह शाखा अपने साथ धातुओं का ज्ञान लायी। इस शाखा को नगर-सभ्यता का ज्ञान था और इसका मैसोपोटामिया की सभ्यता से सम्पर्क भी था। भूमध्यसागर की इसी शाखा ने सिन्धु-सभ्यता को जन्म देकर मोहनजोदड़ो तथा हड़प्पा आदि नगरों का निर्माण किया। भूमध्य-सागर से आने वाली इन दोनों शाखाओं को 'मैडिटरेनियन' अथवा 'द्राविड़'—इन दोनों नामों से स्मरण किया जाता है।

(५) चौड़े सिर की तीन आर्य प्रजातियाँ—डा० गुहा का कथन है कि भारत में तीन चौड़े सिर की प्रजातियों के लक्षण पाये जाते हैं, जिनमें से मुख्य हैं—(i) एलपाइन, (ii) दिनारी, (iii) तथा आर्मेनॉयड।

(i) एलपाइन (Alpine)—हट्टन के वर्गीकरण में तो एलपाइन की शाखा आर्मेनॉयड (Armenoid) का परिगणन है, परन्तु डा० गुहा ने एलपाइन तथा आर्मेनॉयड—इन दोनों को अलग-अलग गिना है। इन्होंने इन दो के साथ 'दिनारी' प्रजाति को भी मिला कर चौड़े सिर की तीन प्रजातियों को इकट्ठा करके तीनों की सत्ता को इस देश में माना है। 'एलपाइन' नाम इस प्रजाति को इसलिए दिया गया है क्योंकि इस प्रजाति के लोग युरोप के मध्य में एल्प्स पर्वत के आस-पास बड़ी संख्या में पाये जाते हैं। इनका औसत कद १६५ सेंटीमीटर, कन्धे चौड़े, छाती गहरी, टाँगें लम्बी तथा चौड़ी, उंगलियाँ छोटी होती हैं और इन्हीं लक्षणों से भूमध्यसागरीय प्रजातियों से ये पृथक् गिने जाते हैं।

(ii) दिनारिक (Dinaric)—युरोप की ऐल्प्स पर्वतमाला की एक शाखा का नाम 'दिनारिक' है। ये लोग युरोप में फ्रांस से मैसीडोनिया तक फैले हुए हैं। मुख्य-मुख्य प्रजातियों की उप-जातियों के आपस में सम्मिश्रण से यह प्रजाति उत्पन्न हुई है। ऊँचा, शिखर वाला सिर, ढलुआँ माथा, सिर का पिछला भाग चपटा, चौड़ा सिर, शीर्ष-देशना ८३ से अधिक, लम्बा-तंग चेहरा, उठी हुई नाक और ठोडी तथा पतले होंठ, लम्बा कद, औसत ऊँचाई १७० सेंटीमीटर, गठीला शरीर, भारी और लम्बी टाँगें, मोटी गर्दन, होंठ नौर्डिक लोगों से अधिक चौड़े, त्वचा का वर्ण हल्का, जैतूनी और ज्यादातर काला, आँखें भूरे रंग की, बाल काले, भूरे और घुंघराले—ये विशेषताएँ हैं इस प्रजाति की।

(iii) आर्मेनॉयड (Armenoid)—एलपाइन प्रजाति की एक शाखा आर्मेनॉयड नाम से मशहूर है। यह चौड़े सिर की है। इसके विषय में हम पहले भी लिख आये हैं। बम्बई के पारसी मुख्य रूप में इसी शाखा के हैं।

(६) नौर्डिक या इंडो-ग्रार्यन—ये युरोप, बाल्टिक-प्रदेश, स्कैंडीनेविया, ब्रिटिश द्वीप-समूह के शीत प्रधान तथा समुद्री प्रदेशों में फैले हुए हैं। ईस्वी सन् से १५०० वर्ष पहले ये भारत में आये और पहले पंजाब में आकर बसे, फिर जमना तथा गंगा की घाटी में रहने लगे, बाद में ये सारे भारत में फैल गये।

इनका सिर लम्बा, नाक ऊँची, पतली तथा नोकीली, होंठ पतले, शरीर इकहरा तथा लम्बा, औसत ऊँचाई १७२ सेंटीमीटर, त्वचा गुलाबी और श्वेत, आँखें नीली, बाल घुंघराले तथा सुनहरे होते हैं। इनकी 'शीर्ष-देशना' ७५ के लगभग होती है। इनकी एक विशेषता यह है कि इनमें नीचे के दाँतों और ठोडी की एक-दूसरे से दूरी अन्य प्रजातियों की अपेक्षा ज्यादा होती है।

डा० डी० एन० मजूमदार का 'नीग्रिटो' के संबंध में मत

जैसे रिज़ले ने भारतीय-प्रजातियों के वर्गीकरण में 'मंगोल'-प्रजाति को अनावश्यक महत्त्व दिया है, वैसे डा० मजूमदार के मत में इस वर्गीकरण में हट्टन तथा गुहा ने 'नीग्रिटो' को अनावश्यक महत्त्व दिया है। श्री मजूमदार के मत में भारत में आने वाली सब से पहली प्रजाति 'नीग्रिटो' न होकर 'प्रोटो-ऑस्ट्रेलॉयड' थी। 'नीग्रिटो' भारत में आने वाली पहली प्रजाति नहीं थी, इस सम्बन्ध में श्री मजूमदार ने निम्न युक्तियाँ दी हैं :—

(१) नीग्रिटो का भारत में अभाव—हम 'नीग्रिटो' के विषय में लिखते हुए लिख आये हैं कि 'नीग्रॉयड' तथा 'नीग्रिटो' में भेद है। 'नीग्रॉयड' तो नीग्रो 'स्कन्ध' (Stock) का नाम है, 'नीग्रिटो' है नीग्रो-'प्रजाति' (Race) का नाम। 'नीग्रॉयड' स्कन्ध की 'नीग्रिटो'-'पिग्मी' आदि अनेक प्रजातियाँ हैं। गुहा का कथन है कि मध्य एवं दक्षिण भारत की आदिम प्रजातियों में 'नीग्रिटो'-तत्त्व की प्रधानता है। सी० एस० वेंकटाचार का कथन है कि मध्य-प्रदेश की गोंड प्रजाति नीग्रॉयड ही है। ये गोंड अर्थात् नीग्रॉयड जाति के लोग ही द्राविड़ों से पूर्व,

के लोग हैं। कई लोग 'प्रोटो-ऑस्ट्रेलॉयड' को द्राविड़ों से पूर्व का मान कर इन्हें 'आदि-द्राविड़' (Pre-Dravidian)—यह नाम देते हैं। द्राविड़ों ने 'आदि-द्राविड़ों' को मद्रास से जब भगाया, तब वे खदेड़े जाकर मध्य-प्रदेश में आ बसे और वहाँ उनका नाम गोंड हुआ। श्री अय्यर का कथन है कि कोचीन के कडार तथा पुलय एवं नीलगिरि की तरफ़ रहने वाली उराली तथा कनिकर प्रजातियों में जो बाल पाये जाते हैं, वे 'नीग्रिटो'-तत्त्व के लक्षण हैं। गुहा, वेंकटाचार तथा अय्यर के इन कथनों का उत्तर देते हुए श्री मजूमदार कहते हैं कि अगर 'नीग्रिटो' प्रजाति का भारत की प्रजातियों में इतना महत्त्वपूर्ण स्थान था, तो क्या कारण है कि आज सिर्फ़ अंडमान द्वीप को छोड़ कर इनका उत्तरी तथा दक्षिणी भारत में कहीं नामो-निशान नहीं मिलता? रिज़्ले न कहा है कि मानव-शास्त्र के अध्ययन में 'नीग्रिटो' का नाम हमारी उत्सुकता को, जिज्ञासा को, कितना ही बढ़ाता हो, परन्तु यहाँ की प्रजातियों के निर्माण में इस प्रजाति का कोई हाथ नहीं दीखता। 'नीग्रिटो' इतने साहसी नहीं थे कि वे भारत जैसे विशाल देश के मूल आधार बन जाते। मेजर मोलेस्वर्थ मनुष्य के भिन्न-भिन्न अंगों को माप कर 'मानव-मिति' ([1]Anthropometry) द्वारा इस परिणाम पर पहुँचे हैं कि अण्डमान की 'नीग्रिटो'-प्रजाति का भारतीय-जनता के निर्माण में कोई हाथ नहीं रहा। सर विलियम टर्नर कपालों को माप कर 'कपालमिति' ([2]Craniometry) द्वारा भी इसी परिणाम पर पहुँचे हैं। अय्यर महोदय ने बालों को देख कर 'नीग्रिटो'-तत्त्व भारत में होने की बात कही है, परन्तु कोचीन तथा नीलगिरि की कडार, पुलय, उराली, तथा कनिकर जातियों के बालों को सूक्ष्म-वीक्षण-यंत्र से अब तक कोई परीक्षा नहीं हुई जिससे सिद्ध हो कि इनके बाल 'नीग्रिटो'-प्रजाति के हैं। सिर्फ़ घुंघराले बालों से कोई प्रजाति 'नीग्रिटो' नहीं बन जाती।

'नीग्रिटो' के भारतीय-प्रजातियों के आदि-वंशज होने के हट्टन तथा गुहा के कथन की अय्यप्पन महोदय ने धज्जियाँ उड़ा दी हैं। उनका कथन है कि जिन प्रजातियों को हम 'नीग्रिटो'-वर्ग की कहते हैं, वे उस वर्ग की न होकर स्थानीय जनता की अभिन्न अंग हैं। अगर कहीं इने-गिने व्यक्तियों में कोई 'नीग्रिटो' लक्षण पाया भी जाता है, तो एक-आध में ऐसे लक्षण पाये जाने से यह नहीं कहा जा सकता कि यह 'प्रजाति' भारत की आधारभूत प्रजाति थी। दक्षिण-भारत में सर्वत्र 'प्रोटो-ऑस्ट्रेलॉयड'-प्रजाति के लक्षण हर जगह दिखाई देते हैं, जिन्हें लोग 'नीग्रिटो' कहते हैं, वे भी 'प्रोटो-ऑस्ट्रेलॉयड' ही हैं, अन्य कुछ नहीं। कोचीन के कादर, पुलय तथा नीलगिरि के उराली एवं कनिकर को अय्यर ने तो 'नीग्रिटो'-रक्त का कहा है, परन्तु अय्यप्पन का कथन है कि इन चारों में 'नीग्रिटो' के स्थान में 'ऑस्ट्रेलॉयड' के लक्षण मौजूद हैं। आन्ध्र की रेड्डी, कोया

1. Anthropometry=Gk.: *Anthropos*, a man; *metron*, measure.
2. Craniometry=Latin: *Cranium*, a skull; *metron*, measure.

तथा चेंचु प्रजातियों में भी 'नीग्रिटो' लक्षण कहे जाते हैं, परन्तु श्री अय्यप्पन का कथन है कि अगर इन प्रजातियों को साधारण आन्ध्रों के वस्त्र पहना दिये जायें तो इन्हें कोई उनसे पृथक् प्रजाति का अर्थात् 'नीग्रिटो' नहीं कह सकता। इनके बाल तथा चेहरा-मोहरा सब ऑस्ट्रेलॉयड हैं, नीग्रिटो नहीं।

मोहनजोदड़ो में जो अस्थि-पंजर मिले हैं, उनसे भी यहाँ के आदि-वासियों की प्रजाति 'प्रोटो-ऑस्ट्रेलॉयड' सिद्ध होती है, 'नीग्रिटो' नहीं। श्री बसु ने श्री गुहा के साथ मिलकर मोहनजोदड़ो के १५ अस्थि-पंजरों का अध्ययन किया। इन के अध्ययन का परिणाम यह था कि इन्हें इन पंजरों में दो प्रजातियों के लक्षण दिखाई दिये। एक प्रजाति के पंजरों का सिर लम्बा था, ऊँची खोपड़ी थी, प्रमुख भौंएँ थीं, ये सम्भवतः 'प्रोटो-ऑस्ट्रेलॉयड' प्रजाति के थे; दूसरी प्रजाति के पंजर ऊँची, पतली नाक वाले थे, जो 'मेडिटरेनियन' माने गये हैं। ज्यादातर इन पंजरों को इन दोनों प्रजातियों का मिश्रण पाया गया है। इन सब पंजरों में 'नीग्रिटो' लक्षण नहीं मिले। गेट्स का कथन है कि भारत के उत्तर से जिन प्रजातियों ने इस देश में प्रवेश किया उनके साथ शुरू-शुरू के काल में ही यहाँ के 'प्रोटो-ऑस्ट्रेलॉयड' का रक्त सम्बन्ध हो चला था और उन्हीं के पंजरों के अवशेष हमें मोहनजोदड़ो आदि में उपलब्ध हुए हैं। इन उपलब्ध अवशेषों में 'नीग्रिटो' के लक्षण नहीं पाये जाते। अगर 'नीग्रिटो' भारत के प्रारंभ के निवासी होते, तो ऊनी बाल, चौड़ा सिर, चपटी नाक, काला रंग उत्तर-भारत में आम पाया जाता। ऐसा न होना सिद्ध करता है कि यहाँ के आदिवासी 'प्रोटो-ऑस्ट्रेलॉयड' थे, 'नीग्रिटो' नहीं थे। 'प्रोटो-ऑस्ट्रेलॉयड' अर्थात् 'आदि-द्राविड़'—ये 'द्राविड़ों' से भी पहले भारत में आये थे, और इन्हें 'द्राविड़ों' ने परास्त कर इस देश में अपना आधिपत्य जमाया था।

(२) 'बी' रक्त का भारत में अभाव—'लसी-विद्या' (Serology) के आधार पर भी यह कहना पड़ता है कि 'नीग्रिटो' इस देश की सब से प्राचीन प्रजाति नहीं है। 'नीग्रिटो' में 'बी' रक्त-समूह की प्रधानता पायी जाती है, परन्तु भारत की सब प्रजातियों में 'बी' रक्त-समूह की प्रधानता नहीं है। भारत के भीतरी भागों की प्रजातियों में 'ए' रक्त-समूह की प्रधानता है, और 'ऑस्ट्रेलॉयड' में भी 'ए' रक्त-समूह की प्रधानता है। इसका अर्थ यह हुआ कि इस देश में 'ए'-प्रधान 'ऑस्ट्रेलॉयड'-प्रजाति से ही अन्य प्रजातियों की उत्पत्ति हुई है, 'बी'-प्रधान 'नीग्रिटो' प्रजाति से नहीं। इसका यह मतलब नहीं कि भारत की प्रजातियों में 'बी' रक्त मिलता ही नहीं। मुण्डा और भील प्रजातियों में 'बी' रक्त की प्रधानता है, परन्तु 'बी' रक्त होने पर भी इन प्रजातियों के अन्य लक्षण 'नीग्रिटो' प्रजाति से नहीं ... सिर्फ़ रक्त की समानता के आधार पर ही तो किसी वर्ग की प्रजाति मिलते। आ की जा सकती। रक्त के आधार पर जिस प्रजाति का निश्चय किया नहीं उसकी भौतिक-मानव-शास्त्र से पुष्टि भी होनी चाहिए, तभी किसी वर्ग की प्रजाति निश्चित की जा सकती है।

अगर रक्त के आधार पर हम किसी वर्ग को 'नीग्रिटो' घोषित करते हैं, परन्तु उसके बाल, उसका सिर, उसकी आँखें उस वर्ग की पुष्टि नहीं करतीं, तब हमारा उसे 'नीग्रिटो' घोषित करना युक्ति-संगत नहीं हो सकता। भारत की प्रजातियों में 'बी' रक्त जहाँ-जहाँ पाया जाता है, वहाँ-वहाँ उन प्रजातियों का 'नीग्रिटो' से सम्बन्ध होने के अतिरिक्त अन्य कारण हो सकते हैं। उदाहरणार्थ, पहाड़ी इलाकों की थारु प्रजाति में 'बी' रक्त पाया जाता है। यह इसलिए नहीं पाया जाता क्योंकि थारु लोग 'नीग्रिटो' हैं, परन्तु इसलिए पाया जाता है क्योंकि जहाँ-जहाँ मलेरिया होता है, वहाँ-वहाँ मलेरिया का मुकाबिला करने के लिए प्रकृति वहाँ के मनुष्यों में 'बी' रक्त को 'आकस्मिक-परिवर्त्तन' (Mutation) के नियम के अनुसार उत्पन्न कर देती है। जिसमें 'बी' रक्त होगा उस पर मलेरिया आक्रमण नहीं करेगा। थारु लोगों को मलेरिया नहीं होता। उन्हें मलेरिया के प्रदेशों में रहते-रहते सदियाँ बीत गईं, इसलिए प्रकृति ने उनके रक्त में मलेरिया के प्रति 'बी' रक्त द्वारा निरोध-शक्ति उत्पन्न कर दी। ऐसी हालत में किसी प्रजाति में 'बी' रक्त को देख कर उसका 'नीग्रिटो' से सम्बन्ध जोड़ देना युक्ति-संगत नहीं है।

६. भिन्न-भिन्न प्रजातीय-तत्त्वों का भारत में सम्मिश्रण

[भारतीय संस्कृति की सामासिकता]

हमने देखा कि भारत में भिन्न-भिन्न प्रजातीय-तत्त्वों का सम्मिश्रण पाया जाता है। यह अलग बात है कि कोई विद्वान् 'मंगोल'-तत्त्व (किरात) पर विशेष बल देता है, कोई 'नीग्रिटो'-तत्त्व पर, कोई 'प्रोटो-ऑस्ट्रेलॉयड'-तत्त्व (आदि-द्राविड़, निषाद) पर, कोई 'भूमध्यसागरीय'-तत्त्व (द्राविड़) पर और कोई 'इंडो-आर्यन'-तत्त्व पर, परन्तु इसमें सन्देह नहीं कि इन सब प्रजातियों के सम्मिश्रण से इस देश में एक संस्कृति ने जन्म लिया है, जो भारतीय-संस्कृति के नाम से पुकारी जाती है। भारतीय-संस्कृति इन सब प्रजातियों के रुधिर तथा विचारों के सम्मिश्रण से पैदा हुई है, इसमें सब संस्कृतियाँ पचा ली गई हैं, और इन्हें इस प्रकार पचाया गया है कि आज यह कह सकना कठिन है कि इस संस्कृति का कौन-सा तत्त्व इसका अपना है, कौन-सा अपना नहीं है। असल में, प्रजातियों तथा उनकी संस्कृतियों का उत्थान इसी प्रकार हुआ करता है। जब दो या दो से अधिक प्रजातियाँ अपनी भिन्न-भिन्न संस्कृतियों को लेकर एक जगह पर मिलती हैं, तब दो प्रकार की प्रतिक्रिया होती है। पहली प्रतिक्रिया तो यह होती है कि वे अपना स्वतंत्र व्यक्तित्व बनाये रखना चाहती हैं। वे एक-दूसरे से विवाह-सम्बन्ध नहीं करतीं, एक-दूसरे के रीति-रिवाजों में भाग नहीं लेतीं, अपनी स्वतंत्र, शुद्ध सत्ता बनाये रखने का प्रयत्न करती हैं। यह प्रतिक्रिया 'अपसार' (Divergence) कहलाती है। परन्तु जब एक जगह आ ही मिले, तब कब तक वे अलग-अलग रह सकती हैं। इसलिए पहले 'अपसार' की प्रतिक्रिया के बाद दूसरी 'अभिसार' (Convergence) की प्रतिक्रिया प्रारंभ हो जाती है, और इन प्रजातियों का आपस में मेल-मिलाप, रोटी-

बेटी का व्यवहार, रीति-रिवाजों में सहयोग प्रारम्भ हो जाता है। अगर किसी समाज में केवल अपने को पृथक् रखने की प्रतिक्रिया ही बनी रहे, तो वह उन्नति न कर सके, और साथ ही अगर वह अपने को दूसरे में मिटा ही दे, तब तो उसकी सत्ता ही न रहे। इसलिए स्वस्थ तथा प्रगतिगामी प्रजातियों में दोनों तरह की प्रतिक्रियाएँ सदा चलती रहती हैं, और भारत में भी आदि-काल से यही नियम काम करता रहा है। प्रागैतिहासिक भारत में सब प्रजातियाँ आपस में लेती-देती रही हैं, एक-दूसरे में घुलती-मिलती रही हैं। यह तो हाल की बात है जब हमारे देश में एक-दूसरे से अपने को पृथक् करने की प्रवृत्ति की प्रबलता हो गई। यहाँ की प्रजातियाँ किस प्रकार अपने से भिन्न प्रजातियों के साथ सम्मिश्रित होती रही हैं— इसकी कुछ चर्चा कर देना असंगत न होगा।

(१) नीग्रिटो प्रजाति की भारत को देन—श्री हट्टन तथा गुहा के कथनानुसार भारत में बाहर से आने वाली सब से पहली प्रजाति 'नीग्रिटो' है। श्री मजूमदार इस बात को नहीं मानते, परन्तु इसमें सन्देह नहीं कि यह पहली हो, या न हो, इस प्रजाति के लक्षण भारत में कहीं-कहीं पाये अवश्य जाते हैं। आफ्रीका से अरब के रास्ते होते हुए 'नीग्रिटो' भारत में आये और यहाँ से मलाया, हिन्द-द्वीप-समूह होते हुए न्यू-गिनी तक चले गये। इस समय इनके कुछ अवशेष अण्डमान द्वीप में मौजूद हैं। इन लोगों की सभ्यता बहुत अविकसित दशा में थी, ये 'पूर्व-पाषाण-युग' की सभ्यता को लेकर यहाँ आये थे, पत्थर, हड्डी के अनघड़ हथियार तथा तीर-कमान के सिवाय इन्हें कुछ ज्ञात न था। खेती, मट्टी के बर्त्तन बनाना तथा भवन-निर्माण का भी इन्हें ज्ञान न था। ये लोग गुफ़ाएँ बना कर रहते थे। ऐसी हालत में ये क्या देन भारत को देते। इसी लिए इनके लक्षण यद्यपि कहीं-कहीं पाये जाते हैं, तो भी बहुत थोड़े। विद्वानों का कथन है कि ये लोग वट-वृक्ष की पूजा करते थे। इस पूजा का उद्देश्य सन्तान प्राप्त करना तथा मृतकों को सद्गति प्रदान करना था। इन विद्वानों का कथन है कि भारतीय-संस्कृति में वट-वृक्ष की पूजा का चलन इस 'नीग्रिटो' प्रजाति से ही प्रारंभ हुआ।

(२) प्रोटो-ऑस्ट्रेलॉयड (आदि-द्राविड़, आग्नेय या निषाद) प्रजाति की भारत को देन—डा० मजूमदार तथा अन्य मानवशास्त्री 'नीग्रिटो' को भारत की प्रथम प्रजाति न मान कर 'प्रोटो-ऑस्ट्रेलॉयड'-प्रजाति को आदि-प्रजाति मानते हैं। ये प्रोटो-ऑस्ट्रेलॉयड कौन थे? डा० मजूमदार का कथन है कि सम्भव है, युरोप के 'नियेन्डरथल-मानव' का अनुवंशज 'प्रोटो-ऑस्ट्रेलॉयड' हो, और 'प्रोटो-ऑस्ट्रेलॉयड' का अनुवंशज 'ऑस्ट्रेलॉयड' हो। जो-कुछ भी हो, 'प्रोटो-ऑस्ट्रेलॉयड'-प्रजाति का भारत की सभ्यता में महत्त्वपूर्ण स्थान है। ये लोग 'नव-पाषाण-युग' की सभ्यता को लेकर इस देश में आये। ये पत्थरों को घिस कर उनके धारदार औज़ार बनाते थे, कुदाल से ज़मीन को खोद कर खेती करते थे, कुम्हार के चाक के मट्टी के गोल-गोल घड़े, बर्तन आदि बनाते थे। उत्तर-भारत में जहाँ-जहाँ खुदाई हुई है, इनके उपकरण प्रायः हर जगह उपलब्ध हुए हैं। भारत को ये वस्तुएँ इस प्रजाति की

देन हैं। इस समय भी विन्ध्य-पर्वत के पूर्वी-भाग में सन्थाल, मुण्डा, भूमिज, बिरहोर, असुर, अगर, कोरवा आदि प्रजातियाँ 'प्रोटो-ऑस्ट्रेलॉयड'-भाषा बोलती हैं। श्री सुनीतिकुमार चैटर्जी के कथनानुसार इस प्रजाति की भाषा के अनेक शब्द भारत की प्रचलित भाषाओं में पाये जाते हैं जिससे प्रतीत होता है कि कुदाली और खेती के साथ-साथ कृषि के ये शब्द और ये चीजें भी इसी प्रजाति की देन हैं। उदाहरणार्थ, धान, केला, नारियल, बैंगन, पान, तोरी, नींबू, जामुन, कपास—ये सब इसी प्रजाति से अपने देश को मिले हैं। इसी प्रजाति ने हाथी को पालतू बनाया। इसी प्रजाति से संस्कृत भाषा को बाण, लकुट (लाठी), शाल्मली, (सिंबल), कुक्कवाकु (मुर्गा), गज (हाथी), ताम्बूल (पान), बैंतगन (बैंगन), कदली (केला) आदि शब्द मिले।

भौतिक-क्षेत्र में जैसे खेती तथा पशु-पालन इस प्रजाति ने भारतीय-संस्कृति को प्रदान किये, वैसे सांस्कृतिक तथा धार्मिक क्षेत्र में भी अनेक चीजें इस प्रजाति की देन हैं। पान-सुपारी का व्यवहार तथा विवाहोत्सव में सिन्दूर और हल्दी का प्रयोग इसी प्रजाति से लिया गया है। पुनर्जन्म का विचार, ब्रह्मांड तथा सृष्टि की उत्पत्ति सम्बन्धी अनेक दन्तकथाएँ, कच्छपावतार की कल्पना, पत्थर को देवता बनाकर पूजना, नाग, मगर, बन्दर आदि पशुओं की पूजा, 'वर्जन' (Taboo) का विचार जिसके अनुसार कोई वस्तु ग्राह्य और कोई अग्राह्य मानी जाती है—ये सब आदि-द्राविड़ों की भारतीय-संस्कृति को देन हैं। श्री सुनीतिकुमार चैटर्जी का कथन है कि भारतीय-संस्कृति में 'गंगा'-शब्द भी आदि-द्राविड़ या आग्नेय-संस्कृति से आया है। भारत से लेकर दक्षिणी चीन तक आग्नेय-परिवार की जितनी भाषाएँ हैं, उनमें नदी के लिए 'गंगा' से मिलते-जुलते ही शब्द पाये जाते हैं। हिन्द-चीनी में नदी के लिए 'खोंग', दक्षिणी चीनी में 'काँग'—ये शब्द हैं जो 'गंगा'—इस शब्द से मिलते हैं। अपने देश में किसी भी नदी में नहाने को गंगा-स्नान कहा जाता है। चन्द्रमा के हिसाब से तिथि का परिगणन भी इसी सभ्यता की देन है। पूर्ण चन्द्र के लिए 'राका' तथा नवीन चन्द्र के लिए 'कुहू'-शब्द आग्नेय-परिवार से ही आये हैं।

(३) मैडिटरेनियम (द्राविड़) प्रजाति की भारत को देन—आदि-द्राविड़ों के बाद भारत में द्राविड़ आये। मैडिटरेनियन अर्थात् भूमध्यसागर से आने वाली प्रजाति का नाम 'आदि-द्राविड़' इसलिए रखा गया है क्योंकि ये द्राविड़ों से पहले आये, इनका द्राविड़ों से किसी तरह का सम्बन्ध नहीं है। 'द्राविड़' लोग 'आदि-द्राविड़ों' से सभ्यता में बढ़े-चढ़े थे, नगर-निर्माण में निष्णात थे। आजकल तो द्राविड़-प्रजाति के लोग मद्रास की तरफ़ ही मिलते हैं, परन्तु आदि-काल में ये उत्तर-भारत तक फैले हुए थे। भारत के पश्चिमी क्षेत्र में कलात एक प्रदेश है। इस कलात में 'ब्राहुई' भाषा बोली जाती है, जो द्राविड़ वंश की है। कहाँ दक्षिण भारत और कहाँ भारत का पश्चिमी कोना। अगर दक्षिण और पश्चिम दोनों जगह द्राविड़ भाषा पायी जाती है, तो इसका यही अर्थ हो सकता है कि किसी

समय सम्पूर्ण भारत में द्राविड़ लोग रहते थे। भूमध्यसागर से आयी इस प्रजाति को जो किसी समय सम्पूर्ण भारत में छायी हुई थी, द्राविड़ क्यों कहते थे? इसका कारण यह बताया जाता है कि भूमध्यसागर की एक प्रजाति जिसका नाम लिसियन था अपने को त्रिम्मिली कहती थी। यही भूमध्यसागरी त्रिम्मिली प्रजाति भारत में आकर तामिल कहलाई और 'तामिल' से 'द्राविड़'-शब्द बनने में देर न लगी। 'तामिल' का ही अपभ्रंश 'द्राविड़' है।

अब तक भारत में पूजा-पाठ की जो विधि चल रही थी उस पर द्राविड़ों ने नई पैबन्द लगाई। अति प्राचीन-काल की पाषाण-युग की स्मृति को मानो तरो-ताज़ा रखने के लिए पत्थर को देवता का प्रतीक मान कर उस पर नैवेद्य चढ़ाना, उसे सिन्दूर और चन्दन लगाना, उसके सम्मुख धूप-दीप जलाना, घंटा-घड़ियाल बजाना, उस के सामने मस्त होकर नाचना-गाना, मूर्ति को भोग लगाना और उस पर चढ़ा भोग प्रसाद के रूप में बाँटना—ये सब द्राविड़ों की भारतीय संस्कृति को देन हैं। ये आर्य पूजा-पाठ की विधि न होकर द्राविड़ विधियाँ हैं, परन्तु सब संस्कृतियों को आत्मसात् करने वाले इस देश में इसे अपना कर द्राविड़-सभ्यता को भी पचा लिया गया है।

कुछ विद्वानों का कथन है कि शिव जी द्राविड़ देवता थे। दक्ष के यज्ञ में शिव जी नहीं बुलाये गये, इसलिए शिव के गणों ने दक्ष के यज्ञ का विध्वंस कर दिया। यह पौराणिक कथा सिद्ध करती है कि आर्यों के भारत में आने के बाद बहुत देर तक उन्होंने शिव को देवताओं की पंक्ति में नहीं सम्मिलित किया था। श्री क्षितिमोहन सेन ने लिखा है कि आर्य भारत में आक्रान्ता बन कर आये थे। उनके साथ स्त्रियाँ कम थीं। उन्होंने यहाँ द्राविड़ स्त्रियों से विवाह शुरू कर दिया। द्राविड़ स्त्रियाँ शिव की उपासिका थीं। उन्होंने आर्य-ऋषियों को शिव की पूजा के लिए बाधित किया और इस प्रकार शिव-लिंग की पूजा जो द्राविड़ संस्कृति का अंग है, आर्यों की संस्कृति में प्रविष्ट हुई। पद्म, स्कन्द, शिव पुराण में लिखा है कि ऋषियों ने शिव-लिंग पूजा को आर्य-धर्म में न आने देने का काफ़ी प्रयत्न किया, परन्तु क्योंकि ऋषियों की द्राविड़ पत्नियाँ अपने पितृ-कुल के आचार को छोड़ना नहीं चाहती थीं, इसलिए आर्यों ने भी शिव-लिंग की पूजा को अपना लिया।

इसी प्रकार भक्तिवाद का मूल भी द्राविड़-प्रजाति में पाया जाता है। उसी से यह भारतीय संस्कृति में प्रविष्ट हुआ। पद्म-पुराण में भक्तिवाद के लिए लिखा है—"उत्पन्ना द्राविडे चाहं कर्णाटे वृद्धिमागता, स्थिता किञ्चिन्महाराष्ट्रे गुर्जरे जीर्णतां गता"—अर्थात्, द्राविड़ देश में मेरा जन्म हुआ, कर्नाटक में कुछ बड़ी हुई, महाराष्ट्र में मैं कुछ देर टिकी और गुजरात में आकर जीर्ण हो गई। इसका अभिप्राय यही प्रतीत होता है कि भक्तिवाद का प्रारंभ द्राविड़ों में हुआ और इस भक्तिवाद को भारतीय-संस्कृति ने अपना अंग बना लिया।

(४) मंगोल (किरात) प्रजाति की भारत को देन—मंगोल लोग जब भारत में आये तब यहाँ की संस्कृति का पर्याप्त विकास हो चुका था। ये लोग किसी खास

प्रकार की सभ्यता को लेकर नहीं आये, इसलिए ये भारतीय-संस्कृति में कोई वृद्धि नहीं कर सके। इनका निवासस्थान तिब्बत और बर्मा है। इस प्रजाति की भारत में तीन शाखाएँ विद्यमान हैं—तिब्बत-हिमालयी, आसामोत्तरक तथा आसाम-बर्मी। इन का विस्तार भारत की उत्तरी तथा उत्तर-पूर्वी सीमाओं पर रहा और हिमालय-प्रदेश में जो भाषाएँ बोली जाती हैं, उन भाषाओं की रचना में इस प्रजाति का थोड़ा-बहुत योगदान होता रहा। इनकी भाषाओं का प्रभाव गोरखाली, बंगला तथा आसामी भाषाओं के विकास में थोड़ा-बहुत हुआ।

(५) नॉर्डिक या इंडो-आर्यन (आर्य-लोग) प्रजाति की भारत को देन—प्रागैतिहासिक-काल में युरोप के विद्वानों के कथनानुसार इन सब प्रजातियों के बाद भारत में नॉर्डिक या इंडो-आर्यन प्रजाति का आगमन हुआ। यह आर्यों की वह शाखा थी जो अन्य शाखाओं से जुदा होकर यहाँ आ बसी थी। इसी के अन्तर्गत एलपाइन, आर्मेनियन आदि आ जाते हैं। ये आर्य-भाषा बोलते थे जिसे हम संस्कृत कहते हैं। इनका धर्म-ग्रन्थ वेद था। इनके देवता इन्द्र, वरुण, पूषा आदि थे। ये यज्ञ-हवन करते थे। इन्होंने यहाँ आकर इस देश की अन्य जातियों को यहाँ से भगा दिया। इनके यज्ञों में द्राविड़ लोग विघ्न डालते थे। ये उनसे लड़ते थे, वे इनसे लड़ते थे। द्राविड़ों को ये पकड़कर दास बना लेते थे। द्राविड़ों को ये दस्यु भी कहते थे। पाश्चात्य विचारकों का कहना है कि उस समय 'दस्यु' द्राविड़ों का नाम ही था, परन्तु क्योंकि वे जब-तब आर्यों पर आक्रमण करते रहते थे, इसलिए संस्कृत भाषा में 'दस्यु' का अर्थ ही डाकू-लुटेरा हो गया। मोहनजोदड़ो तथा हड़प्पा, नगर-सभ्यता में दीक्षा पाये हुए द्राविड़ों (मैडिटरेनियन-प्रजाति) के नगर थे, जिनकी सभ्यता का आर्यों ने विध्वंस कर दिया। आर्यों ने द्राविड़ों को उत्तर से भगा कर दक्षिण में खदेड़ दिया। आर्य जिन्होंने इस देश में आक्रान्ता के रूप में प्रवेश किया था, वे धीरे-धीरे जब यहाँ बस गये, तब उनमें और द्राविड़ों में संघर्ष दूर हो गया और दोनों ने एक-दूसरे की सभ्यता को ग्रहण करना शुरू किया। आर्यों के प्रवेश के समय जो 'अपसार' (Divergence) की प्रक्रिया प्रारम्भ हुई थी, वह दूर होकर 'अभिसार' (Convergence) की प्रक्रिया शुरू हो गई। आर्यों की वैदिक-सभ्यता ने पहले तो द्राविड़ों के शिव, उमा आदि देवी-देवताओं को नहीं अपनाया, परन्तु धीरे-धीरे भारतीय-संस्कृति का जो विकास हुआ उसमें आर्यों ने इन्हें अपना लिया। यह बात यहाँ तक बढ़ी कि भारत में जिस संस्कृति का विकास हुआ उसमें शिव, उमा, विष्णु, श्रीकृष्ण, हनुमान्, गणेश, शीतला आदि द्राविड़ देवता पूजे जाने लगे और इन्द्र, वरुण, आदि वैदिक देवता सिर्फ़ वेदों में धरे रह गये। यज्ञादि पूजा-विधि को भी वैदिक-आर्यों ने, जिस तरह वे इन्हें लाये थे, उस तरह जारी न रख कर, द्राविड़ों की पूजा-पाठ-विधि, शिव-लिंग-पूजा, मूर्ति-पूजा, घंटा-घड़ियाल बजाना, भोग लगाना, नैवेद्य चढ़ाना, तुलसी-दल का पवित्र मानना, वट-वृक्ष-पूजा आदि को ग्रहण कर लिया। ये सब विधियाँ आर्यों की विधियाँ न होकर आर्येतर जातियों की अवैदिक

विधियाँ थीं, परन्तु इन सब विधियों को आर्यों ने अपना लिया। वेदों में तो कहीं मूर्ति-पूजा, वृक्ष-पूजा आदि का विधान नहीं है। यहां जिस सभ्यता ने विकास पाया, उसमें आर्यों के वेदों को तो ईश्वरीय ज्ञान माना जाता रहा, वेदों की प्रतिष्ठा बनी रही, आर्य-प्रजाति का सम्मान भी बना रहा, परन्तु वेदों को रटने के साथ-साथ अवैदिक विधि-विधान, क्रिया-कलाप आदि सब-कुछ चलने लगा। वैदिक-आर्य मुख्य तौर पर दूध पीते थे, मक्खन खाते थे, अनाजों में जौ का प्रयोग करते थे, परन्तु यहाँ आकर उन्होंने इस देश में प्रचलित गेहूँ, दाल, घी और तेल का इस्तेमाल शुरू कर दिया। वे ऊनी वस्त्र पहनते थे, परन्तु भारत में आकर यहाँ के द्राविड़ों के सूती वस्त्रों का उन्होंने प्रयोग किया। भाषाशास्त्रियों का कथन है कि भारत की वर्त्तमान संस्कृति में २५ प्रतिशत ही वैदिक अंश रह गया है, बाकी ७५ प्रतिशत अवैदिक अंश है। भाषा-शास्त्री कहते हैं कि यहाँ आकर आर्यों ने अपनी भाषा में काफ़ी परिवर्त्तन किया। आर्यों ने यहाँ आकर जिन भाषाओं का विकास किया उनमें आर्येतर भाषाओं के शब्दों को ग्रहण किया। इस प्रकार इस देश में एक सामासिक तथा समन्वयात्मक संस्कृति का विकास हुआ जो सब की साँझी थी, जिसमें वैदिक-अवैदिक, आर्य-आर्येतर, संस्कृत-द्राविड़—सभी का समन्वय था। इस समय इन सब के समन्वय से जो संस्कृति उत्पन्न हुई, उसमें सहिष्णुता और सामंजस्य था, लेन-देन था। इस संस्कृति के वेद, पुनर्जन्म, कर्मवाद, अदृश्य-सत्ता में विश्वास, विविधता के पीछे एकत्व के दर्शन, अहिंसा, करुणा, दुःखमय संसार से मुक्त होने की भावना—ये सब प्रधान स्तम्भ बन गये जिनके सम्बन्ध में इस बात का कोई झगड़ा नहीं रहा कि ये विचार वैदिक हैं या अवैदिक, आर्य हैं या अनार्य। इनके सम्बन्ध में एक ही भावना उठ खड़ी हुई, और वह यह कि ये विचार भारत के हैं, इस देश के हैं।

हमने कहा था कि भारतीय-प्रजातियों में अपनी-अपनी सभ्यता के लिए 'अपसार' (Divergence) तथा 'अभिसार' (Convergence) की प्रक्रिया होती रही। यहाँ की प्रजातियाँ एक-दूसरे से संघर्ष करती रहीं, परन्तु संघर्ष के बाद उनमें सम्मिश्रण भी होता रहा। द्राविड़ तथा आर्यों के सम्मिश्रण की बात हम अभी लिख चुके हैं, परन्तु इसका यह अभिप्राय नहीं कि यह सम्मिश्रण लगातार और बिना व्यवधान के होता रहा। 'अपसार' के बाद 'अभिसार' और 'अभिसार' के बाद 'अपसार' की प्रक्रिया लगातार होती रहती है, और यह प्रक्रिया तबतक होती रहेगी जबतक भारत की भिन्न-भिन्न प्रजातियों का सर्वथा सम्मिश्रण होकर आज जो धर्म-जाति-प्रजातिनिरपेक्ष राज्य की हम स्थापना करना चाहते हैं, वह नहीं हो जाती। आज यद्यपि भारत में भिन्न-भिन्न प्रजातियों का सम्मिश्रण हो चुका है, तो भी समय-समय पर विभिन्नता तथा 'अपसार' (Divergence) की भावना खड़ी होती रहती है। चुनाव के दिनों में यह बात अपने पूर्ण-यौवन में उठ खड़ी होती है। उस समय हम अपने को एक न समझ कर एक-दूसरे से जुदा समझने लगते हैं, और भिन्न-भिन्न वर्ण के होने की

स्मृति हम में तरोताजा हो जाती है। इस समय भी मद्रास में द्राविड़ जातियों को भारत की अन्य जातियों से पृथक् करने की भावना को जगाया जा रहा है और पाकिस्तान की तरह 'द्राविड़िस्तान' बनाने की माँग उठ रही तथा समय-समय पर उठती रहती है। इस दल का नाम 'कज़गाम' है, जो भारतीय विधान को जलाते फिरते हैं, ब्राह्मणों के विरुद्ध प्रचार करते हैं और राष्ट्रीय-ध्वज का अपमान करते हैं।

मानव-शास्त्र की दृष्टि से भारत में भिन्न-भिन्न नृ-वंश, नस्लें, प्रजातियाँ हैं, और रही हैं। इनमें आपस में लेन-देन होकर वे एक-दूसरे में आत्म-विलय करती रही हैं, और एक-दूसरे को आत्मसात् भी करती रही हैं, इनमें 'अभिसार' तथा 'अपसार' की प्रक्रिया होती रही है, ये अपने स्वतंत्र व्यक्तित्व को भुला-भुला कर कभी-कभी याद भी करने लगती हैं। यह प्रक्रिया चलती रहेगी, तबतक चलती रहेगी जबतक हम रंग के भेद को, जन्म के भेद को भुला नहीं देंगे। संस्कृति की दृष्टि से तो हम भूल चुके हैं कि कौन-सी बात किस संस्कृति की थी, भाषा की दृष्टि से भी हम एक-दूसरे के अधिक निकट आते चले जा रहे हैं, परन्तु अभी हममें यह भावना बनी हुई है कि अमुक व्यक्ति मेरी नस्ल का है, अमुक व्यक्ति मेरी नस्ल का नहीं है। मानव-समाज की प्रगति धीरे-धीरे इस प्रकार के प्रजाति-भेद को भूलने की तरफ़ बढ़ रही है।

७: प्रजातीय-तत्त्वों का भारत की वर्ण-व्यवस्था पर प्रभाव

जैसा हम पहले कह आये हैं प्रजातीय-तत्त्वों में शारीरिक-लक्षणों में 'रंग' का, 'वर्ण' का बहुत बड़ा भाग समझा जाता है। डार्विन का कहना तो यह था कि प्रजातीयता का और कुछ आधार हो या न हो, वर्ण तो इसका ऐसा आधार है जो हर किसी को स्पष्ट दीखता है। मैक्समूलर का कहना था कि प्रजातीयता के आधार-भत 'वर्ण' के विचार ने भारत की 'वर्ण-व्यवस्था' को जन्म दिया। 'वर्ण' अर्थात् त्वचा के 'रंग' के आधार पर ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र की कल्पना का विकास हुआ। नौर्डिक या इंडो-आर्यन प्रजाति के लोग गौर-वर्ण के थे। वे बाहर से आये थे। यहाँ द्राविड़ लोग रहते थे, जो काले रंग के थे। इन द्राविड़ों को पराजित करके उन्होंने इस देश को जीता और यहाँ बस गये। द्राविड़ों को अपनी सामाजिक-व्यवस्था में खपाने के लिए उन्होंने रंग के आधार पर 'वर्ण-व्यवस्था' की रचना की जिसमें अपने को सब से ऊपर और यहाँ के निवासी द्राविड़ों को शूद्र का नाम देकर सब से नीचे रखा, उनसे रोटी-बेटी का व्यवहार भी वर्जित कर दिया।

इसमें तो सन्देह नहीं कि प्रजातीय-तत्त्वों का भारत की संस्कृति के विकास में महान् योगदान होता रहा। यहाँ की संस्कृति नीग्रो, प्रोटो-ऑस्ट्रेलॉयड, मैडि-टरेनियन, मंगोल तथा इंडो-आर्यन प्रजातीय-तत्त्वों से प्रभावित होकर एक सामासिक संस्कृति बनती गई। इसी लिए भारत को प्रजातियों का अजायबघर भी कहा जाता है, परन्तु मैक्समूलर का यह कहना कि 'वर्ण-व्यवस्था' का आधार प्रजातीय था, रंग था, वर्ण था—यह बहुत विवादास्पद बात है। इसकी विस्तृत विवेचना

हम 'जाति-व्यवस्था' पर लिखते हुए करेंगे, इसलिए यहाँ इस विवाद में हम नहं पड़ते।

८. प्रजातीय शारीरिक-लक्षणों का भारत में फैलाव (Distribution of Racial Traits in India)

भारतवर्ष में भिन्न-भिन्न प्रान्तों में प्रजातीय-तत्वों के शारीरिक-लक्षण भिन्न-भिन्न तौर से फैले हुए हैं। किसी प्रान्त में कद लम्बा, किसी में छोटा है; किसी प्रान्त में नाक लम्बी, किसी में चपटी है; किसी प्रान्त में कपाल-देशना कुछ, और किसी में कुछ है। प्रजातीय शारीरिक-लक्षणों का इस प्रकार प्रान्त-प्रान्त में अध्ययन एक अत्यन्त रोचक विषय है जिस का मानव-शास्त्री अध्ययन कर रहे हैं। हर्बर्ट रिज़ले तथा उनके बाद डा० मजूमदार ने भिन्न-भिन्न प्रान्तों के प्रजातीय शारीरिक-लक्षणों का अध्ययन किया है जिससे इन लक्षणों के भिन्न-भिन्न प्रान्तों में फैलाव पर कुछ प्रकाश पड़ता है। इस अध्ययन का सार निम्न है :—

(क) भारत में शीर्ष-देशना का फैलाव (Distribution of cranial index in India)—रिज़ले का कथन है कि पंजाब में शीर्ष-देशना ७४.०, उत्तर-प्रदेश में ७२.८, बंगाल में ७४.९, छोटा नागपुर में ७५.७, बिहार में ७६.९ और दार्जिलिंग की पहाड़ियों में ८०.७, महाराष्ट्र में ७७.५९, गुजरात तथा काठियावाड़ में ८०.२७ पायी जाती है। यह हम पहले ही लिख आये हैं कि शीर्ष-देशना अगर ७५ से कम हो तो ऐसे व्यक्ति लम्बे सिर वाले और ज्यादा हो तो ऐसे व्यक्ति चौड़े सिर वाले कहे जाते हैं। ऊपर शीर्ष-देशना का जो विवरण दिया गया है, उससे स्पष्ट है कि पंजाब से ज्यों-ज्यों हम बंगाल, महाराष्ट्र तथा गुजरात की तरफ़ बढ़ते हैं त्यों-त्यों शीर्ष-देशना बढ़ती जाती है, परन्तु इसका यह अभिप्राय नहीं कि पंजाब में चौड़े सिर वाले और बिहार, बंगाल, महाराष्ट्र, गुजरात में लम्बे सिर वाले लोग नहीं। जैसा हम पहले लिख आये हैं, एलपाइन-प्रजाति के चौड़े सिर होते हैं, नौडिक के लम्बे सिर होते हैं। यद्यपि शीर्ष-देशना के आधार पर कहा जा सकता है कि भारत में पंजाब में नौर्डिक-तत्त्व मौजूद है और ज्यों-ज्यों हम बंगाल, महाराष्ट्र तथा गुजरात की तरफ़ जाते हैं, त्यों-त्यों एलपाइन-तत्त्व बढ़ता जाता है, तो भी पंजाब में चौड़े और बंगाल, गुजरात, महाराष्ट्र में लम्बे सिर भी मिलते हैं जिसके आधार पर यह भी कहा जा सकता है कि इन दोनों प्रदेशों में एलपाइन तथा नौर्डिक—दोनों प्रजातीय-तत्त्वों का सम्मिश्रण होता रहा है।

(ख) भारत में नासिका-देशना का फैलाव (Distribution of nasal index in India)—पंजाब में नासिका-देशना ७०.२, उत्तर-प्रदेश में ७८.९, बिहार में ८०.०, छोटा नागपुर के कबीलों में ८०.४, बंगाल में ७८.७, दार्जिलिंग में ८२.७ पायी गई है। इससे भी यही प्रतीत होता है कि ज्यों-ज्यों हम पंजाब से बंगाल की तरफ़ जाते हैं, नासिका-देशना बढ़ती जाती है। कम नासिका-देशना नोकीली तथा लम्बी नाक की सूचक है, अधिक नासिका-देशना चौड़ी नाक की सूचक है। लम्बी, नोकीली नाक सुन्दर मानी जाती है, यह नौर्डिक प्रजाति

की नाक है; चौड़ी नाक भद्दी मानी जाती है, यह एलपाइन, नीग्रो आदि प्रजातियों की सूचक है। नासिका-देशना के आधार पर कहा जा सकता है कि पंजाब में नौर्डिक-तत्त्व मौजूद है, और ज्यों-ज्यों हम बंगाल की तरफ़ चलते हैं, त्यों-त्यों एलपाइन-तत्त्व बढ़ता जाता है, परन्तु यह कहना कि पंजाब में पतली नाक और बिहार, बंगाल आदि में चौड़ी नाक ही मिलती है—ग़लत है। पंजाब में चौड़ी तथा बिहार-बंगाल में पतली नाक भी मिलती है जिसके आधार पर कहा जा सकता है कि भारत के भिन्न-भिन्न प्रदेशों में सभी प्रजातीय-तत्त्वों का सम्मिश्रण होता रहा है।

(ग) भारत में कद का फैलाव (Distribution of Stature in India)—कद के सम्बन्ध में भी खोज करने से यही पता चला है कि पंजाब से चलकर गंगा की घाटी होते हुए असम तक कद बड़े से छोटा होता गया है। पंजाब में औसत लम्बाई १६८.४ सेंटीमीटर, उत्तर-प्रदेश में १६५.५, बिहार में १६४.०, बंगाल में १६३.० तथा दार्जिलिंग में १६१.०५ रह गई है। पश्चिम से पूर्व की तरफ़ चलते-चलते कद छोटा होता गया है। इसी प्रकार उत्तर से दक्षिण की तरफ़ चलते-चलते भी कद छोटा होता गया है, यहाँ तक कि गुजरात में जाकर औसत कद १६४.४ सेंटीमीटर और अण्डमान में १४५ ही रह गया है। हम पहले लिख आये हैं कि नौर्डिक-प्रजाति का कद लम्बा तथा एलपाइन-प्रजाति का कद नाटा होता है। कद के हिसाब से भारत के पश्चिम तथा उत्तर में नौर्डिक एवं पूर्व तथा दक्षिण में एलपाइन चिह्न पाये जाते हैं, फिर भी कुछ-कुछ दोनों के चिह्न दोनों प्रदेशों में भी मिलते हैं।

९. उत्तर-प्रदेश में प्रजातीय-तत्त्व

उत्तर-प्रदेश में १९४१ में डा० मजूमदार ने यहाँ के भिन्न-भिन्न प्रजातीय-तत्त्वों का मानव-शास्त्र की 'मानव-मिति' (Anthropometry) तथा 'लसी-विद्या' (Serology) की दृष्टि से अध्ययन किया। उनके परिणाम निम्न थे :—

(क) उत्तर-प्रदेश में सामाजिक-स्थिति का आधार प्रजातीय-तत्त्व है—'मानव-मिति' तथा 'लसी-विद्या' के आधार पर इनका पहला निष्कर्ष यह था कि उत्तर-प्रदेश में जो सामाजिक-ढाँचा बना हुआ है उस ढाँचे में ऊपर-नीचे का श्रेणी-विभाग प्रजातीय आधार पर है। उदाहरणार्थ, ब्राह्मणों की प्रजाति इस सामाजिक ढाँचे में सब से ऊपर है, खत्री और कायस्थ ब्राह्मणों की सामाजिक-स्थिति से नीचे के समझे जाते हैं। हस्त-कला का काम करने वाले इनके भी नीची स्थिति के माने जाते हैं। इस सामाजिक ढाँचे मे सब से नीची सामाजिक-स्थिति 'जन-जातियों' (Tribes) की है जो प्रायः अछूत समझे जाते हैं। उत्तर-प्रदेश में कुछ जन-जातियाँ अपराधी-जन-जातियाँ या अपराधी कबीले समझे जाते हैं। ये न अन्य प्रजातियों की तरह शुद्ध-रक्त की समझी जाती हैं, न अछूत ही

समझी जाती हैं। इनकी समाज के ढाँचे में स्थिति अनिश्चित-सी है। ऊँच-नीच का भेद पेशों के आधार पर इतना नहीं जितना प्रजातीय-तत्त्व के आधार पर है, और इसी लिए रसोई बनाने वाला ब्राह्मण प्रजातीय-तत्त्व के कारण ही ऊँचा समझा जाता है। डा० मजूमदार का सामाजिक-स्थिति तथा प्रजातीयता के पारस्परिक सम्बन्ध का यह निष्कर्ष उत्तर-प्रदेश में ही नहीं, भारत के हर प्रान्त पर लागू है।

(ख) उत्तर-प्रदेश में प्रजातियों के पृथक्-पृथक् समुदाय हैं—'मानव-मिति' के अनुसार दूसरा निष्कर्ष यह है कि उत्तर-प्रदेश के पूर्वी तथा पश्चिमी जिलों के ब्राह्मणों का एक पृथक् 'समुदाय' (Cluster) कहा जा सकता है, ये सब एक-से मान-दण्ड को पूरा करते हैं। ब्राह्मणों के बाद खत्री, मुसलमान, और अघड़िया आते हैं। 'मानव-मिति' के अनुसार हस्त-कलावाली जातियों का एक पृथक् समुदाय है—कायस्थ इसी समुदाय के अन्तर्गत आते हैं। मुसलमानों में भी निम्न-स्तर के समुदाय मानव-मिति के अनुसार अन्य मुसलमानों से पृथक् हैं और हिन्दुओं की निम्न-जातियों से मिलते-जुलते हैं। इसका कारण सम्भवत: यह है कि निम्न वर्ग के जो हिन्दू मुसलमान बन गये उनका धर्म तो बदल गया, परन्तु उनकी प्रजाति के शारीरिक-लक्षण तो वही-के-वही रहे जो हिन्दू होने के समय उनके थे।

(ग) उत्तर-प्रदेश में प्रजातीय समुदायों के पृथक् होने के बावजद प्रजातियों का घनिष्ठ सम्बन्ध है—'मानव-मिति' तथा 'लसी-विद्या' के आधार पर तीसरा निष्कर्ष यह है कि उत्तर-प्रदेश में प्रजातियों के पृथक्-पृथक् 'समुदाय' (Clusters) होने पर भी, और इन समुदायों की सामाजिक-ढाँचे में पृथक्-पृथक् स्थिति होने पर भी प्रजातियों में एक-दूसरे के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध है। यह सम्बन्ध इतना घनिष्ठ है कि उत्तर-प्रदेश की सब प्रजातियों को एक-दूसरे से सर्वथा पृथक् और स्वतंत्र नहीं कहा जा सकता। इसमें सन्देह नहीं कि उत्तर-प्रदेश में जो जन-जातियाँ हैं, उन्हें अन्यों से एक पृथक् और स्वतंत्र समूह कहा जा सकता है।

१०. गुजरात में प्रजातीय-तत्त्व

उत्तर-प्रदेश की तरह गुजरात में १९४६ में वहाँ के निवासियों में प्रजातीय-तत्त्व का अध्ययन किया गया। वहाँ दो प्रजातीय-तत्त्व मिले जिनमें से एक चौड़े सिर और पतली नाक वाला और दूसरा लम्बे सिर और मध्यम नाक वाला तत्त्व था। कुछ व्यक्ति ऐसे भी थे जिनके प्रजातीय-लक्षण इन दोनों के बीच के थे। इस प्रकार पतली, मध्यम तथा चौड़ी नाक वालों की वहाँ एक क्रमिक शृंखला पायी गई।

इसके अतिरिक्त वहाँ एक बात और पायी गई। कच्छ और काठियावाड़ के मुसलमानों में कहीं-कहीं मोटे होंठ और ऊनी बाल पाये गये जो नीग्रो प्रजाति के लक्षण कहे जाते हैं। इसका कारण यही हो सकता है कि किसी समय यहाँ नीग्रो

रहते थे जिन्हें मुसलमान बना लिया गया। ये नीग्रो ८वीं तथा १०वीं शताब्दी के बीच आकर यहाँ बसे थे जिन्हें मुसलमानों ने अपने समय में मुसलमान बना लिया।

११. जन-जातियों में प्रजातीय-तत्त्व

भारत की जन-जातियाँ किसी एक प्रजाति से विकसित नहीं हुई। इनमें भिन्न-भिन्न प्रजातियों के तत्त्व मौजूद हैं। मोटे तौर पर इन प्रजातियों का तीन जगह निवास है। भारत की पूर्वी तथा उत्तरी सीमा की पहाड़ियों पर; भारत के मध्य-भाग के पहाड़ों तथा पठारों पर; भारत की दक्षिण-पश्चिमी पहाड़ियों पर।

(क) पूर्वी तथा उत्तरी सीमा की पहाड़ियों पर—इस सीमा की जन-जातियों में मंगोल प्रजातीय-तत्त्व है। इनकी आँखें भारी पलकों से ढकी हुई, अधखुली पायी जाती हैं। नाक भी इनकी मंगोलों की तरह चपटी होती है, त्वचा हल्के, पीले रंग की, मध्यम कद, सीधे साफ़ बाल और लम्बे सिर के ये लोग होते हैं।

(ख) भारत के मध्य-भाग के पहाड़ों तथा पठारों पर—भारत के मध्य-भाग में जो प्रजातियाँ रहती हैं, उनकी त्वचा का रंग काला, कद मध्यम, बाल घुंघराले, सिर लम्बा, नाक चौड़ी, माथे का निचला भाग उठा हुआ, बहुत-कुछ नीग्रो-प्रजाति से ये मिलते हैं, फिर भी अन्य प्रजातीय-तत्त्व भी इनमें पाये जाते हैं।

(ग) दक्षिण-पश्चिमी पहाड़ियों पर—इस स्थान की जन-जातियों में रंग गहरा, चाकलेटी, भूरा, नाक चपटी और चौड़ी, होंठ मोटे, कद मध्यम पाया जाता है। इन जन-जातियों में मैलेनेशियन तथा नीग्रो-प्रजाति के लक्षण पाये जाते हैं।

१२. मुसलमान, ईसाई तथा पारसियों में प्रजातीय-तत्त्व

कई लोगों का विचार है कि मुसलमानों, ईसाइयों तथा पारसियों की अपनी अलग-अलग प्रजाति है और इनमें अपने अलग-अलग ही प्रजातीय-लक्षण पाये जाते हैं। यह विचार भ्रम-मूलक है। इनमें से पारसियों को छोड़ कर मुसलमान तथा ईसाई तो किसी विशिष्ट प्रजाति के सूचक नहीं हैं। ये दोनों धर्म प्रचारात्मक रहे हैं, और जिस देश में इन धर्मों का प्रचार हुआ है उस देश की प्रजाति के लोग मुसलमान तथा ईसाई हो गये हैं। इस दृष्टि से भिन्न-भिन्न प्रजातियों के लोग इस्लाम तथा ईसाइयत में पाये जाते हैं।

(क) मुसलमान—क्योंकि इस्लाम एक धर्म का नाम है, प्रजाति का नाम नहीं है, क्योंकि इस्लाम का भिन्न-भिन्न प्रजातियों में प्रचार हुआ, इसलिए भारत में भी भिन्न-भिन्न प्रान्तों के मुसलमानों में एक ही प्रकार के शारीरिक-लक्षण तथा एक ही प्रकार का रक्त-समूह नहीं पाया जाता। उत्तर-प्रदेश के मुसलमानों का सिर कुछ लम्बा, और गुजरात के मुसलमानों का सिर कुछ चौड़ा पाया जाता है; उत्तर-प्रदेश के मुसलमानों की ऊँचाई १६२.४५ सेंटीमीटर तथा गुजरात के मुसलमानों की ऊँचाई १६७.९५ सेंटीमीटर तक पायी जाती है। उत्तर-प्रदेश के

मुसलमानों के शारीरिक-लक्षण इस प्रदेश के अन्य कारीगरों के लक्षणों से मिलते हैं; गुजरात के मुसलमानों के शारीरिक-लक्षण उस प्रदेश की ऊँची जातियों के लक्षणों से मिलते हैं; बंगाल के मुसलमानों के शारीरिक-लक्षण वहाँ की दलित-जातियों के लक्षणों से मिलते हैं। ऐसा क्यों है? ऐसा इसलिए है कि उत्तर-प्रदेश में अधिकांश हिन्दू कारीगर मुसलमान बने; गुजरात में उच्च-जाति के हिन्दू मुसलमान बन गये; बंगाल में हिन्दुओं के दलित-वर्ग ने इस्लाम स्वीकार किया।

(ख) ईसाई—जो बात हमने मुसलमानों के विषय में कही वही ईसाइयों पर भी लागू होती है। ईसाइयत भी प्रचारात्मक-धर्म रहा है, और इसका भिन्न-भिन्न प्रजातियों में प्रचार होता रहा है, इसलिए भारत ही क्या संसार में कहीं भी ईसाइयों में एक ही प्रकार के शारीरिक-लक्षण या एक ही प्रकार का रक्त-समूह नहीं पाया जाता।

(ग) पारसी—मुसलमानों तथा ईसाइयों के विषय में जो-कुछ कहा जा सकता है पारसियों के विषय में वह नहीं कहा जा सकता। पारसी-धर्म प्रचारात्मक कभी नहीं रहा। पारसी लोग पर्शिया में रहते थे। वहाँ जब मुसलमानों ने आक्रमण किया, तब पारसियों के गिरोह-के-गिरोह अपनी मातृभूमि को अन्तिम नमस्कार कर भारत के पश्चिमी तट पर अपने जहाजों को लेकर आ उतरे। युरोप को भी पारसी-धर्म का परिचय तब मिला जब युरोप का भारत के पश्चिमी-भाग से व्यापारिक-सम्बन्ध हुआ। ये लोग अपने धर्म तथा अपनी प्रजाति को बड़े प्रयत्न से सुरक्षित रखते रहे, अपनी प्रजाति से बाहर विवाह-सम्बन्ध नहीं करते रहे। इस सब का परिणाम यह हुआ कि पारसियों में अपने प्रजातीय-लक्षण वैसे-के-वैसे बने रहे। रिजले ने इन्हें इंडो-अफ़गान प्रजाति का माना है। प्रजातीय-दृष्टि से अपने को एक पृथक् वर्ग में रखते रहने पर भी अब धीरे-धीरे पारसियों का भी भारत के अन्य वर्गों में वैवाहिक-सम्बन्ध होने लगा है—यद्यपि इसकी रफ़्तार बहुत धीमी है।

३

प्रजातिवाद

(RACISM)

१. प्रजातिवाद की व्याख्या

जेकब्स तथा स्टर्न[1] ने 'प्रजातिवाद' की व्याख्या करते हुए लिखा है कि प्रजातिवाद वह वाद है जिसके अनुसार मानव-समूह को इस प्रकार भिन्न-भिन्न भागों में बाँटा जाता है जिससे यह प्रतीत हो कि उनमें से प्रत्येक समूह के दूसरे समूहों से पृथक्, शारीरिक, मानसिक तथा स्वभाव-सम्बन्धी ऐसे अपने खास गुण हैं जो दूसरे समूहों में नहीं पाये जाते। इन्हें विभेदक-गुण कहा जा सकता है। ये विभेदक-गुण वंश-परम्परा से आते हैं, इन पर समाज, शिक्षा, अथवा पर्यावरण का कोई प्रभाव नहीं पड़ता। इन गुणों के अनुसार प्रजातियाँ तथा उप-प्रजातियाँ एक-दूसरे से श्रेष्ठ तथा हीन होती हैं, और वंशानुसंक्रमण द्वारा ही किसी प्रजाति तथा उप-प्रजाति की संस्कृति बनती है।

इस व्याख्या से यह स्पष्ट है कि 'प्रजातिवाद' के आधार में जो बातें हैं, उन्हें हम निम्न प्रकार प्रकट कर सकते हैं :—

(क) मनुष्य-मनुष्य में शारीरिक बनावट, मानसिक विकास तथा स्वभाव में भेद पाया जाता है,

(ख) इस भेद का आधार वंशानुसंक्रमण अर्थात् रुधिरगत भेद हैं, शिक्षा, समाज या पर्यावरण नहीं,

(ग) इस भेद के कारण कोई समाज उन्नति कर सकता है, कोई नहीं,

(घ) वंशानुसंक्रमण अर्थात् रुधिरगत भेद के कारण जो समाज उन्नति कर सकता है, वह श्रेष्ठ है; वंशानुसंक्रमण के कारण जो समाज उन्नति नहीं कर सकता, वह हीन है।

दूसरे शब्दों में, प्रजातिवाद का दावा है कि भिन्न-भिन्न नस्लों की शरीर की भिन्न-भिन्न रचना, खास करके उनकी खोपड़ी का परिमाण, मस्तिष्क का तोल,

1. "Racism holds that each population is characterized by a cluster of inherited physical, mental and temperamental features peculiar to itself, or other environmental influences; that there are innately superior and inferior races and ethnic sub-divisions, and that hereditary factors determine every phase of a people's cultural life." —*Jacobs and Stern.*

बुद्धि-परीक्षा के परीक्षणों से उनकी बुद्धि का माप तथा उनके भिन्न-भिन्न स्वभाव तथा आचार सिद्ध करते हैं कि वे नस्लें एक-दूसरे से इतनी भिन्न हैं कि उनमें किसी प्रकार की समता हो ही नहीं सकती। इन भिन्नताओं के आधार पर उनमें से कोई श्रेष्ठ तथा कोई हीन है। उदाहरणार्थ, 'प्रजातिवाद' का कथन है कि नीग्रो नस्लों से कॉकेशियन नस्लें श्रेष्ठ हैं, कॉकेशियन नस्लों में भी नौर्डिक-नस्लें सबसे श्रेष्ठ हैं। हम इस अध्याय में इन सब बातों का विवेचन करेंगे।

२. प्रजातिवाद का प्रारंभ

१८-१९वीं शताब्दी में 'प्रजातिवाद' के सिद्धान्त का प्रारम्भ हुआ। इसके प्रारम्भ होने के दो कारण थे। पहला कारण तो यह था कि जब युरोपियन विद्वानों ने संस्कृत का अध्ययन शुरू किया तब उन्हें संस्कृत की पर्शियन, ग्रीक, लैटिन आदि भाषाओं के साथ समानता देख कर बड़ा आश्चर्य हुआ। इस समानता को विद्वानों के सामने लाने में फ्रांस के केअर्दु तथा अंग्रेज विद्वान् सर विलियम जोन्स ने बड़ा भाग लिया था। इनके बाद मैक्समूलर ने इस दिशा में बहुत बड़ा काम किया। इन सब विद्वानों के अध्ययन से यह बात मानी जाने लगी कि बास्क, मगयार तथा फ़िनिश भाषा को छोड़ कर युरोप की सभी भाषाएं संस्कृत और ईरानी परिवार की हैं। इस प्रकार प्रजातीय दृष्टि-कोण से विद्वानों के सम्मुख एक विशाल प्रजाति उठ खड़ी हुई जो भारत से लेकर मध्य-एशिया में से होती हुई युरोप के दूरतम प्रदेशों में बिखरी हुई थी। क्योंकि यह प्रजाति भाषाओं की समता के आधार पर भारत से युरोप तक पायी गई, इसलिए इसका नाम इंडो-युरोपियन रखा गया। क्योंकि वेदों के अनुसार यह आर्य-प्रजाति थी, इसलिए इसका नाम आर्य-प्रजाति भी रखा गया। यह इंडो-युरोपियन या आर्य-प्रजाति जहाँ-जहाँ भी पायी गई, सभ्यता के उच्च-स्तर पर पायी गई। संसार में आगे बढ़ी तो यही आर्य-प्रजाति, आविष्कार किये तो इसी आर्य-प्रजाति ने, साहित्य का निर्माण हुआ तो इसी आर्य-प्रजाति में, आज भूमंडल पर शासन कर रही है तो यही आर्य-प्रजाति। इस सब के आधार पर प्रजातिवादियों ने यह परिणाम निकाला कि यह आर्य-प्रजाति ही संसार की सब प्रजातियों में सर्वश्रेष्ठ है। आर्य-प्रजाति के सर्वश्रेष्ठ होने के सिद्धान्त को 'आर्यवाद' (Aryanism) कहा जाने लगा।

प्रजातिवाद के प्रारम्भ होने का पहला कारण तो भाषा-विज्ञान था, इसके प्रारम्भ होने का दूसरा कारण १८-१९वीं सदी का साम्राज्यवाद भी था। हर देश दूसरे देशों को खा जाना चाहता था, अपने साम्राज्य का विस्तार करना चाहता था। एक तरफ़ अंग्रेज थे, दूसरी तरफ़ जर्मन थे, तीसरी तरफ़ फ्रेंच थे। ये सब अपने-अपने उपनिवेश बढ़ाने में जुटे थे ताकि उन उपनिवेशों से कच्चा माल ले जा सकें, अपने देशों के कल-कारखानों को समृद्ध कर सकें। इन्हें सस्ते मजदूरों की भी जरूरत थी जिससे दासों की तरह मुफ्त का काम ले सकें। 'प्रजातिवाद' ने इनके हाथ में एक ऐसा हथियार दे दिया जिसके सहारे ये अन्तरात्मा की धिक्कार

को अनसुना कर सकते थे। अगर उपनिवेशों के रहने वाले लोग, नीग्रॉयड प्रजाति के वंशज या इसी तरह की अन्य प्रजातियाँ पैदाइश से ही निम्न-स्तर की हैं, तब इनसे भाड़े के टट्टू का काम लेना बेजा क्यों हो सकता है? अगर इनको जानवरों की तरह ख़रीदा-बेचा जाय, तो भी क्या हर्ज है। ऐसा होता भी रहा। नीग्रो लोगों का बाकायदा शिकार किया जाता रहा। ऐसी कम्पनियाँ बनीं जो इनको पकड़ कर लाती थीं और बाजार में बेचती थीं। ऐसा नहीं होना चाहिए—यह हल्की-सी आवाज जो तबीयत में उठती थी, उसे 'प्रजातिवाद' ने शान्त कर दिया। एक तरह से अगर यह कहा जाय कि साम्राज्यवाद की प्रजातिवाद एक आवश्यक उपज थी तो कोई अत्युक्ति न होगी।

३. 'आर्यवाद' या 'नौर्डिसिज्म'

क्योंकि युरोप का हर मुख्य देश अपने को समृद्ध बनाने के लिए 'प्रजाति-वाद' का लाभ उठाना चाहता था, कोई युक्ति ढूँढना चाहता था जिससे दूसरों पर अत्याचार करने के कारण अन्तरात्मा की उठती आवाज को चुप कराने का बहाना मिल सके, इसलिए युरोप के हर मुख्य देश ने 'आर्यवाद' को अपने-अपने ढंग पर ढालना शुरू किया। 'आर्य-वाद' (Aryanism) को 'नौर्डिक-वाद' (Nordicism) भी कहा जाता है। आर्य लोग 'लम्बे-सिर' (Dolicho-cephalic) के थे और उत्तरी-युरोप में रहते थे, इसलिए उत्तर में रहने के कारण इन्हें 'नौर्डिक' नाम दिया गया। अंग्रेजी में उत्तर के लिए 'नौर्थ' तथा जर्मन में 'नौर्ड'-शब्द है। 'नौर्ड' से ही 'नौर्डिक' बना। इस दृष्टि से 'आर्यवाद' तथा 'नौर्डिसिज्म' का एक ही अर्थ है। यह 'नौर्डिसिज्म' युरोप के हर देश में भिन्न-भिन्न रूप धारण कर गया। इंग्लैण्ड में आर्यों की एंग्लो-सैक्सन शाखा है, इसलिए इंग्लैण्ड में 'नौर्डिसिज्म' का नाम 'एंग्लो-सैक्सनवाद' (Anglo-Saxonism) हो गया; जर्मनी में आर्यों की ट्यूटौनिक शाखा है, इसलिए जर्मनी में 'नौर्डिसिज्म' का नाम 'ट्यूटनवाद' (Teutonism) हो गया; फ्रांस में आर्यों की गैलिक शाखा है, इसलिए फ्रांस में 'नौर्डिसिज्म' का नाम 'गैलिकवाद' (Gallicism) हो गया।

४. प्रजातिवाद के आधार पर श्रेष्ठता

नस्ल के कारण जो शारीरिक-भेद दिखलाई देते हैं, इन्हें आधार बनाकर भिन्न-भिन्न प्रजातियों ने अपनी श्रेष्ठता की जो घोषणा करनी शुरू की उससे दुनिया में एक नई लहर चल पड़ी। वैसे तो यह सिद्धान्त प्रायः सभी युरोपियन देशों में थोड़ा-बहुत चला हुआ है, परन्तु पिछले दिनों जर्मनी में इसका बहुत प्रचार हुआ, ख़ास कर हिटलर के नाजीवाद का तो यह एक मुख्य सिद्धान्त हो गया। हिटलर का कहना था कि संसार की सब नस्लों में 'आर्य'-नस्ल के लोग, जिन्हें 'नौर्डिक' कहा जाता है, सर्व-श्रेष्ठ हैं। जैसा हम अभी कह आये हैं, 'नौर्डिक' अर्थात् 'आर्य' (Nordic or Aryan)-नस्ल के कई अवान्तर भेद हैं—इनमें से 'एंग्लो-सैक्सन' (Anglo-Saxon), 'ट्यूटौनिक' (Teutonic) तथा 'गैलिक' (Gallic) मुख्य हैं, जो क्रमशः इंग्लैण्ड, जर्मनी तथा फ्रांस में बसते हैं।

हिटलर का कहना था कि इन तीनों में भी केवल ट्यूटौनिक-नस्ल के लोगों में शुद्ध-नौर्डिक रुधिर है। १९३३ में हिटलर ने जर्मनी में सत्ता प्राप्त करने के बाद नौर्डिक-वाद पर बहुत बल देना शुरू कर दिया था। १९३८ में हिटलर से संधि कर लेने पर मुसोलिनी ने भी घोषणा कर दी थी कि इटली में भी शुद्ध-नौर्डिक रुधिर के लोग रहते हैं। हिटलर तथा उसके अनुयायियों ने यह कहना शुरू किया कि आजतक नौर्डिक-नस्ल ने ही संसार में सभ्यता को जन्म दिया है, इसे बढ़ाया है। ग्रीस तथा रोम के लोग नौर्डिक-नस्ल के थे। नौर्डिकवाद को जर्मनी में इतना बढ़ाया गया कि यह सिद्ध किया जाने लगा कि संसार में जो भी महापुरुष हुए हैं, वे सब 'नौर्डिक' थे। ईसा, मुहम्मद, चंगेज खाँ—इन सब में नौर्डिक रुधिर बह रहा था। जो 'नौर्डिक' नहीं हैं, वे संसार को कोई चीज नहीं दे सकते। यहूदी-लोग नौर्डिक नहीं हैं, नीची नस्ल के हैं, उनके साथ विवाह-सम्बन्ध से शुद्ध नौर्डिक रक्त अपवित्र हो जायगा, इसलिए हिटलर ने उन्हें जर्मनी से निकाल बाहर किया। 'नौर्डिकवाद' के समर्थकों का कहना है कि आर्य-जाति के वंशजों के भीतर सहस्रों महत्त्वाकांक्षाएँ छिपी पड़ी हैं। इन महत्त्वाकांक्षाओं को, इन उमंगों को क्रियात्मक जामा पहनाने के लिए इस नस्ल के लोग सदा प्रयत्नशील रहते हैं, इसलिए ये सदा संसार को कोई-न-कोई नवीन वस्तु देते रहते हैं। जिन प्रजातियों के हृदय में किसी प्रकार की आकांक्षाएँ, उमंगें ही नहीं, वे संसार को क्या देंगे और स्वयं क्या हासिल करेंगे? अबतक नौर्डिक ही शासन करते रहे हैं और संसार में आगे भी नौर्डिक ही शासन करेंगे। इसी भावना को लेकर हिटलर द्वितीय विश्व-युद्ध में कूद पड़ा था और सारे संसार में उसने रक्त की होली खेलनी शुरू कर दी थी। प्रजातिवाद का जो परिणाम हो सकता है, उसका हिटलर ने एक नंगा नाच करके दिखा दिया।

नस्ल के आधार पर अपने को श्रेष्ठ मानने का सिद्धान्त अमरीका में भी कम नहीं है। वहाँ के नीग्रो लोगों को दासता से मुक्त कर दिया गया है, परन्तु उनका सभ्य समाज से बहिष्कार है। कु-क्लक्स-क्लान (Ku-Klux-Klan) नाम की गुप्त संस्था नीग्रो लोगों का वध तक कर देती है। शुरू-शुरू में अमरीका में चीनियों को कुली के तौर पर भर्ती करके ले जाया गया था, परन्तु उस देश में उनके साथ ऐसा दुर्व्यवहार हुआ कि १८९० में उनकी जन-संख्या जो १ लाख थी, वह अब ८० हजार से भी कम रह गई है। अमरीका में गन्दी-गन्दी बस्तियों में चीनी पड़े हैं, इन बस्तियों का नाम 'चाइना-टाउन' है। चीनी और जापानियों के साथ अमरीका में जो व्यवहार होता रहा, उसी का उग्र-रूप 'पीला-खतरा' (Yellow peril)—इस नाम से प्रसिद्ध हुआ। अमरीकी लोग कहने लगे कि इन नस्लों से अमरीका को खतरा पैदा हो गया है, अतः इनके बहिष्कार के कानून बनने लगे। रंग के आधार पर बनी यह जात-पाँत भारत की जात-पाँत से कम उग्र नहीं, कुछ अंशों में अधिक कठोर है। दक्षिणी-आफ्रीका में काले-गोरों का जो भेद चल रहा है, वह भी नस्ल के आधार पर बनी अपने को श्रेष्ठ मानने की नीति का ही परिणाम है। दक्षिणी-आफ्रीका की नस्ल के आधार पर इस भेद-नीति को

'एपारथीड' (Apartheid) कहा जाता है। वहाँ यह भेद-भाव नीग्रो के अतिरिक्त भारतीयों से भी किया जाता है। वहाँ जो सरकार बनती है वह यह भी घोषणा करती है कि वह इस 'एपारथीड'-नीति को जारी रखेगी, तभी उसे वोट मिलते हैं। जहाँ अंग्रेजों के मकान हैं, वहाँ काले लोग जमीन नहीं खरीद सकते, मकान नहीं बना सकते। वहाँ तो मामला यहाँ तक बढ़ा है कि बीमारों के लिए जो रक्त-दान दिया जाता है, उसके लिए भी कानून बनाया गया है कि नीग्रो रक्त अलग रखा जाय, और जब कोई नर्स किसी बीमार को दान दिये गए उस रक्त में से रक्त दे, तो पहले बतला दे कि यह किस प्रजाति का रक्त है। जो नर्स यह नहीं बतलायेगी उसे दंड मिल सकता है।

५. प्रजातिवाद के सिद्धान्त की आलोचना

प्रजाति अर्थात् रुधिर के आधार पर अपने को श्रेष्ठ मानने का सिद्धान्त हिन्दुओं की जाति-व्यवस्था के अन्दर इतना उग्र नहीं है जितना संसार की अन्य नस्लों में पाया जाता है। परन्तु क्या इस सिद्धान्त में कोई सचाई है? हम पहले कह आये हैं कि 'प्रजातिवाद' के आधार में जो मुख्य-मुख्य बातें हैं, उनमें शारीरिक, मानसिक तथा चरित्र-सम्बन्धी भेद मनुष्य को मनुष्य से पृथक् करते हैं। इन्हीं के आधार पर प्रजातिवादी कहते हैं कि मनुष्यों की भिन्न-भिन्न प्रजातियाँ हैं। हम यहाँ इस बात की विवेचना करेंगे कि शारीरिक, मानसिक तथा चरित्र-सम्बन्धी भेद मानव-समाज में कहाँ तक प्रजातीय हैं, और अगर हैं तो उनसे क्या सिद्ध होता है?

(क) प्रजातियों का सम्मिश्रण (Racial Intermixture)—सब से पहली बात तो यह है कि संसार में रुधिर का इतना सम्मिश्रण हुआ है कि कहीं, कोई भी मनुष्य शुद्ध रुधिर का नहीं है। मानव-शास्त्र इस दिशा में बड़ा काम कर सकता है। मानव-शास्त्र का अबतक दुरुपयोग हुआ है। मानव-शास्त्र के आधार पर कहा जाता रहा है कि अमुक प्रजाति अमुक प्रजाति से भिन्न है। मानव-शास्त्र ही इस क्षेत्र की अवैज्ञानिक विचार-धारा की रोक-थाम कर सकता है। मानव-शास्त्र के जितने भी मापने के प्रकार हैं उन सब से यह सिद्ध हो चुका है कि बिलकुल शुद्ध रूप की कोई नस्ल इस समय धरती पर मौजूद नहीं है। इतना ही नहीं, प्राचीन प्रस्तरित-मानव के जो अवशेष उपलब्ध हुए हैं, उनमें भी शुद्ध रूप कहीं नहीं पाया जाता। प्रो० गौरडन चाइल्ड (Gordon Childe) का कहना है कि डेनमार्क तथा स्वीडन में पृथ्वी के नीचे दबे हुए 'पाषाण-युग' (Stone age) के जो नौर्डिक-नस्ल के प्रस्तरित-कंकाल (Fossils) मिले हैं, उनमें भी कई नस्लों का सम्मिश्रण है। डा० अम्मौन (Ammon) के मित्र रिपले (Ripley) ने लिखा है कि जब डा० अम्मौन को कहा गया कि बिलकुल शुद्ध नस्ल के किसी व्यक्ति का चित्र दिखलायें, तो वे चक्कर में पड़ गये। उन्होंने हजारों सिरों का माप लिया था, परन्तु अगर किसी का सिर एक नस्ल का था, तो नाक दूसरी नस्ल की थी, नाक एक नस्ल की थी, तो आँख किसी और नस्ल की थी। कहने का अभिप्राय यह है कि अगर किसी व्यक्ति को वे किसी एक नस्ल का समझते थे,

तो उसमें अनेक बातें ऐसी मिल जाती थीं, जो उसमें होनी ही नहीं चाहिए थीं भिन्न-भिन्न नस्लों में रुधिर का सम्मिश्रण इतना अधिक हुआ है कि हम फ्रेंच-नस्ल, जर्मन-नस्ल या अंग्रेज-नस्ल---इन शब्दों का प्रयोग तो कर ही नहीं सकते, शुद्ध कॉकेशियन, ऐंग्लो-सैक्सन या नौर्डिक नस्ल का भी प्रयोग नहीं कर सकते। फ्रेंच, जर्मन, अंग्रेज---इनको कौमें (Nations) तो कहा जा सकता है, नस्लें (Races) नहीं। एक-एक कौम में और एक-एक व्यक्ति में कई-कई नस्लें मौजूद हैं। इंग्लैण्ड-वालों को ऐंग्लो-सैक्सन कहा जाता है, परन्तु उनमें ट्यूटौनिक खून मौजूद है; जर्मनी वालों को ट्यूटौनिक कहा जाता है, परन्तु उनमें भी अन्य रुधिर मिले-जुले हैं। जर्मनी के जो भाग्य-विधाता थे, जो नस्ल के सिद्धान्त को लेकर उसे आसमान में चढ़ा रहे थे, उनके चेहरों-मोहरों को देखने से ही पता चल जाता है कि उनमें से कोई भी शुद्ध-नौर्डिक अर्थात् शुद्ध-आर्य-नस्ल का नहीं था।

असल बात यह है कि जब से मनुष्य पैदा हुआ है, वह घुमक्कड़ रहा है। उन पहाड़ों और मैदानों के पीछे क्या छिपा है---यह जिज्ञासा उसे आगे-ही-आगे धकेलती रही है। शुरू-शुरू में तो पहाड़-नदी-नाले-जंगल की 'भौगोलिक-पृथक्ता' (Geographical isolation) के कारण वह जिस नस्ल का था, उसी नस्ल का बना रहा, दूसरी नस्लों के साथ उसका मेल न हो सका, परन्तु ज्यों-ज्यों मानव-समाज संख्या में बढ़ता गया, त्यों-त्यों अन्य नस्लों के लोग भी नदी-नाले-समुद्र पार करके इधर-उधर जाने लगे, और जहाँ मनुष्य का मनुष्य से मेल हुआ वह उससे रल-मिल गया। अगर ऐसा न होता, तो भिन्न-भिन्न नस्लें बनी रहतीं। इन 'नस्लों' (Races) के मिलने से 'कौमें' (Nations) न बनतीं। कोई कहता है, पहले तीन नस्लें थीं, कोई कहता है, पाँच थीं, परन्तु जितनी भी थीं, अब अनेकों नस्लें कैसे बन गईं? एक-दूसरे के साथ रोटी-बेटी का व्यवहार करने से ही तो आज इतनी नस्लें दिखलाई देती हैं, और नस्लें ही नहीं, कोई एक व्यक्ति भी ऐसा नहीं दिखाई देता जो किसी एक शुद्ध नस्ल का हो। जब कहीं शुद्ध नस्ल मिलती ही नहीं, सब जगह प्रजातियों का सम्मिश्रण दिखलाई देता है, तब नस्ल के कारण श्रेष्ठता के सिद्धान्त को ठीक कैसे कहा जा सकता है?

(ख) शारीरिक-लक्षणों के कारण प्रजातिवाद (Racism due to Physical Characteristics)---मानव-शास्त्री शरीर के भिन्न-भिन्न अंगों को मापते हैं, इसके लिए उन्होंने नाना प्रकार के उपकरण बनाये हुए हैं। अंगों को माप कर वे कहते हैं कि कॉकेशॉयड का कद लम्बा होता है, मंगोलॉयड का छोटा और नीग्रॉयड का नाटा होता है। सिर के बाल कॉकेशॉयड के सीधे तथा घुंघराले और नीग्रॉयड के ऊनी होते हैं; कॉकेशॉयड की नाक ऊँची, मंगोलॉयड की नीची और नीग्रॉयड की समतल होती है; कॉकेशॉयड के होंठ पतले, मंगोलॉयड के मध्यम तथा नीग्रॉयड के मोटे होते हैं; कॉकेशॉयड का रंग गोरा, मंगोलॉयड का पीला तथा नीग्रॉयड का काला होता है। इसमें सन्देह नहीं कि भिन्न-भिन्न प्रजाति की शारीरिक रचना में भेद दिखाई देता है, परन्तु क्या यह सम्भव नहीं कि शारीरिक

रचना का यह भेद मूल-रूप में पर्यावरण पर आश्रित हो। उष्ण कटिबन्ध में रहते-रहते मनुष्य का रंग काला हो जाता हो, शीत कटिबन्ध में रहते-रहते उसका रंग गोरा हो जाता हो। असल में, इस सम्बन्ध में परीक्षण कर सकना कठिन है। इस प्रकार के शारीरिक परिवर्त्तन एक-दो वंशों में तो हो नहीं जाते। पर्यावरण के कारण इस प्रकार के परिवर्त्तन बीसियों-पचासों पीढ़ियों के बाद होते हैं, और तब तक उन परिवर्त्तनों को देखने वाला कोई नहीं रहता। इतना तो सभी को दीखता है कि रंग, शक्ल आदि में थोड़ा-बहुत परिवर्त्तन हमारे देखते भी होता है, इसलिए शारीरिक परिवर्त्तनों को देख कर यह कह देना कि भिन्न-भिन्न शक्लों के लोग भिन्न-भिन्न प्रजातियों के ही हैं, कठिन है।

इसके अतिरिक्त मानव-शास्त्रियों के परीक्षणों से, जैसा हम अभी कह आये हैं, यह सिद्ध हुआ है कि जिनको हम उन्नत प्रजाति का समझते हैं, उनके शारीरिक-लक्षण, उन्हें निम्न-स्तर का सिद्ध करते हैं, और जिन्हें हम निम्न प्रजाति का समझते हैं, उनके शारीरिक-लक्षण उन्हें उच्च-स्तर का सिद्ध करते हैं। उदाहरणार्थ, नीग्रो निम्न प्रजाति के और कॉकेशियन उच्च-प्रजाति के समझे जाते हैं। श्री होबेल (Hoebel) ने बन्दरों तथा मनुष्यों में ११ शारीरिक-लक्षणों की पारस्परिक तुलना की। इस तुलना के परिणामस्वरूप वे इस नतीजे पर पहुँचे कि नीग्रो और बन्दरों में ११ लक्षणों में से सिर्फ़ ५ लक्षणों में वे बन्दरों से मिलते थे; ६ लक्षणों में बन्दरों से नहीं मिलते थे, परन्तु कॉकेशियन सिर्फ़ ३ लक्षणों में बन्दरों से नहीं मिलते थे, बाकी ८ लक्षणों में बन्दरों से मिलते थे। नीग्रो सिर्फ़ ५ और कॉकेशियन ८ लक्षणों में बन्दरों के सदृश हों और फिर भी कॉकेशियन को नीग्रो से उच्च-स्तर का समझा जाय—यह तभी सम्भव है अगर शारीरिक-लक्षणों को प्रजाति-भेद में कोई महत्त्वपूर्ण स्थान न दिया जाय।

अगर यह मान भी लिया जाय कि भिन्न-भिन्न प्रजातियों में शारीरिक-लक्षणों में ऐसा मौलिक भेद है कि उन्हें भिन्न-भिन्न प्रजातियों का ही कहा जाना चाहिए, इसके साथ अगर यह भी मान लिया जाय कि ये भिन्न-भिन्न शारीरिक-लक्षण वंश-परम्परा से ही आते हैं, इन पर पर्यावरण का प्रभाव नहीं पड़ता, तो भी इससे यह तो सिद्ध नहीं हो जाता कि एक तरह के शारीरिक-लक्षणों की प्रजाति दूसरी तरह के शारीरिक-लक्षणों की प्रजाति से श्रेष्ठ है। जैसा हम बार-बार कह आये हैं, 'प्रजाति' का आधार वंश-परम्परा है, 'प्रजाति' एक प्राणि-शास्त्रीय घटना है, परन्तु 'प्रजाति' का असर सिर्फ़ शरीर की रचना तक है, इससे आगे नहीं। 'प्रजाति' शरीर का निर्माण कर सकती है, रंग गोरा, काला, पीला बना सकती है, कद लम्बा, मध्यम, नाटा बना सकती है, परन्तु मनुष्य की बुद्धि और उसके आचार-व्यवहार का निर्माण नहीं कर सकती। काला व्यक्ति बुद्धि में गोरे से बढ़ा-चढ़ा हो सकता है, गोरा व्यक्ति काले से आचार-व्यवहार में गिरा हुआ भी हो सकता है। इसलिए जो व्यक्ति नस्ल के कारण श्रेष्ठता के सिद्धान्त को मानते हैं, उनके सिद्धान्त की आलोचना के लिए यह देखना आवश्यक है कि क्या नस्ल भिन्न

होने के कारण व्यक्तियों की मानसिक-योग्यता में, उनके आचार-व्यवहार में भी कोई भेद पड़ जाता है ? इस सम्बन्ध में कई मनोरंजक परिणाम निकले हैं जिनकी तरफ़ विशेष ध्यान देने की आवश्यकता है। हम यहाँ उनकी तरफ़ भी कुछ निर्देश करेंगे।

(ग) नस्लों की खोपड़ी के घनत्व के कारण प्रजातिवाद (Racism due to the capacity of the skull)—मार्टिन (Martin) ने भिन्न-भिन्न नस्लों की खोपड़ियों का माप देख कर यह बतलाया है कि किस नस्ल की खोपड़ी कितनी छोटी और किसकी कितनी बड़ी है। जिस नस्ल की खोपड़ी बड़ी हो उसमें ज्यादा दिमाग़ आने की गुंजाइश होनी चाहिए। युरोपियन-कॉकेशॉयड नस्लों में आम तौर पर पुरुष की खोपड़ी में १,४५० और स्त्री की खोपड़ी में १,३०० घन सेंटीमीटर जगह पायी गई है। आॅस्ट्रेलॉयड-नस्लों में पुरुष की खोपड़ी में १,३४७ और स्त्री की खोपड़ी में १,१८१ घन सेंटीमीटर जगह होती है। इससे कहा जा सकता है कि युरोपियन-नस्लों में आॅस्ट्रेलॉयड नस्लों की अपेक्षा खोपड़ी में ज्यादा स्थान होता है, इसलिए ज्यादा घनत्व के कारण उनकी मानसिक-शक्ति ज्यादा होनी चाहिए। परन्तु अगर भिन्न-भिन्न नस्लों की खोपड़ियों का गहराई से अध्ययन किया जाय, तो पता चलता है कि खोपड़ी के माप का मानसिक-शक्ति के साथ कोई 'पारस्परिक सम्बन्ध' (Correlation) नहीं है, अर्थात् यह नहीं कहा जा सकता कि बड़ी खोपड़ी वाला बड़े दिमाग़ का, और छोटी खोपड़ी वाला छोटे दिमाग़ का ही होता है। चीनी लोग सभ्यता में बढ़े हुए हैं, परन्तु उनकी खोपड़ी का औसत माप १,४५६ और कलमक नाम की एक असभ्य, जंगली, फिरंदर नस्ल की खोपड़ी का माप १,४६६ घन सेंटीमीटर है; जापानी उन्नत लोग हैं, उनकी खोपड़ी १,४८५ तथा जावा के पिछड़े हुए लोगों की खोपड़ी १,५९० घन सेंटीमीटर पायी गई है। इतना ही नहीं, एक ही नस्ल के लोगों में जमीन-आसमान का भेद होता है। मार्टिन का कथन है कि एक ही नस्ल में १,१०० से १,७०० घन सेंटीमीटर तक खोपड़ी के माप में भेद पाया जाता है। अगर एक ही नस्ल में खोपड़ी के माप में इतना भेद हो सकता है, तो कैसे कहा जा सकता है कि नीची नस्ल की खोपड़ी छोटी और ऊँची नस्ल की खोपड़ी बड़ी होती है। मानव-शास्त्रियों के पास सबसे छोटी खोपड़ी का रिकार्ड दान्ते (Dante) का है, जो इटली का एक प्रतिभाशाली विद्वान् था। अक्सर देखा जाता है कि बड़े सिर वाले गँवार होते हैं, अतः बड़ी खोपड़ी से बड़ी नस्ल सिद्ध नहीं होती।

(घ) मस्तिष्क के तोल के कारण प्रजातिवाद (Racism due to weight of brain-matter)—कई कहते हैं कि भिन्न-भिन्न नस्लों में मस्तिष्क-तत्त्व का भिन्न-भिन्न तोल होता है। यह बात ऊपरली बात का ही परिणाम है। खोपड़ी में ज्यादह जगह होगी, तो उसमें ज्यादह भारी दिमाग़ समा सकेगा। परन्तु जब ऊपर की बात ग़लत है, तब यह बात स्वयं ग़लत हो जाती है। टौपीनार्ड (Topinard) ने भिन्न-भिन्न नस्लों के ११,००० दिमाग़ों को तोला।

वह कहता है कि युरोपियनों के दिमाग़ों का आनुपातिक वज़न पुरुषों में १,३६१ और स्त्रियों में १,२०० ग्राम होता है। नॉर्थ अमेरिकन नीग्रो का १,३१६, जापानियों का १,३६७, चीनियों का १,४२८ ग्राम निकला। मार्टिन का कथन है कि पेसचेरा-नस्ल पशु के निकट की-सी मनुष्य की नस्ल है, परन्तु उसके दिमाग़ का वज़न युरोपियन-नस्ल के दिमाग़ के आस-पास है। ऐसी अवस्था में दिमाग़ के तोल के आधार पर क्या परिणाम निकाला जा सकता है ?

(ङ) बुद्धि-परीक्षा के कारण प्रजातिवाद (Racism due to Intelligence-tests)—'बुद्धि-परीक्षा' के परीक्षणों के आधार पर कहा जाता है कि भिन्न-भिन्न नस्लों की बुद्धि में भेद है। 'बुद्धि-परीक्षा' का क्या अर्थ है ? एक तो किताबें पढ़ कर मनुष्य विद्या ग्रहण करता है, दूसरे उसकी अपनी कुछ स्वाभाविक बुद्धि भी होती है। यह हो सकता है कि एक व्यक्ति बहुत साधारण बुद्धि का हो, परन्तु ऊँचे ख़ानदान का होने के कारण उसे पढ़ने-लिखने की सुविधा हो, उस पर ट्यूटर लगे हुए हों, और वह पढ़-लिख जाय। यह भी हो सकता है कि दूसरा व्यक्ति उससे बहुत ज्यादह बुद्धि रखता हो, परन्तु उसे ग़रीबी के कारण पढ़ने-लिखने का अवसर न मिले। 'विद्या' (Knowledge) तथा 'बुद्धि' (Intelligence) में भेद है। 'विद्या' सीखी जाती है, 'पर्यावरण' से प्राप्त की जाती है; 'बुद्धि' सीखी नहीं जाती, 'वंश-परम्परा' से मिलती है। यह हो सकता है कि एक व्यक्ति विद्यावान् हो, बुद्धिमान् न हो; दूसरा व्यक्ति बुद्धिमान् हो, विद्यावान् न हो। इस प्रकार हमने देखा कि 'बुद्धि' जन्म से आती है, दूसरे शब्दों में यह नस्ल की चीज़ है। आजकल नस्ल से आने वाली इस मानसिक-शक्ति, अर्थात् 'बुद्धि' को मापने के जो परीक्षण होते हैं, उन्हें 'बुद्धि-परीक्षा' के परीक्षण कहा जाता है। अगर बुद्धि की यह भिन्नता नस्ल के कारण होती है, तो 'बुद्धि-परीक्षा' से नीग्रो की बुद्धि अमरीकन से नीची होनी चाहिए, बराबर तो किसी हालत में नहीं होनी चाहिए। परीक्षणों से पता चला है कि अगर गोरी-नस्लों की 'बुद्धि-लब्धि' (Intelligence Quotient) १०० मानी जाय, तो चीनियों और जापानियों की ९९, मैक्सिकनों की ७८, दक्षिणी-नीग्रो की ७५, उत्तरी-नीग्रो की ८५ और अमरीकन-इंडियनों की ७० पायी गई है। परन्तु 'बुद्धि-परीक्षा' के परीक्षणों पर मनोवैज्ञानिकों में मत-भेद है। उनका कहना है कि 'बुद्धि-परीक्षा' के जो परीक्षण किये जाते हैं, वे बुद्धि को इतना नहीं मापते जितना व्यक्ति की संस्कृति को मापते हैं। एक बच्चा ऊँचे ख़ानदान में रहता है, घर में रेडियो लगा है, रोज़ के समाचार सुनता है, उसकी परिस्थिति स्वयं उसे दूसरे बच्चे से भिन्न बना देती है। इस बच्चे की अगर किसी दूसरे बच्चे के साथ तुलना की जायगी, तो स्वभावतः इसे ऐसी बातों का पता होगा जिनका दूसरे को कुछ भी ज्ञान न होगा। मनोवैज्ञानिकों का कहना है कि 'बुद्धि-लब्धि' के परीक्षण सिर्फ़ बुद्धि को ही नहीं मापते, इसके साथ-साथ व्यक्ति के सांस्कृतिक-पर्यावरण को भी माप डालते हैं। 'बुद्धि-लब्धि' व्यक्ति के पर्यावरण के अनुसार बदल भी सकती

है। गार्थ (Garth) का कहना है कि अगर एक हब्शी को पहले नीची स्थिति के स्कूल में रखा जाय, और फिर ऊँची स्थिति के स्कूल में रख दिया जाय, तो उसकी 'बुद्धि-लब्धि' (I. Q.) बदल जाती है। ऐसी अवस्था में 'बुद्धि-परीक्षा' के आधार पर भी हम निश्चयपूर्वक नहीं कह सकते कि भिन्न-भिन्न नस्लों की बुद्धि में भेद होता है।

(च) प्राविधिक-विकास की भिन्नता के कारण प्रजातिवाद (Racism due to Technological difference)—कहा जाता है कि नौर्डिक-नस्ल के लोग विज्ञान में बहुत आगे बढ़े हुए हैं। युरोप के देशों के विज्ञान के क्षेत्र में सारी दुनिया से आगे होने को भी प्रजातिवाद को सिद्ध करने में प्रमाण रूप से पेश किया जाता है। प्रजातिवाद के समर्थकों का कहना है कि अगर श्वेतांगों में नस्ल के कारण ही कोई श्रेष्ठता नहीं होती, तो दूसरी प्रजातियों के लोग सभ्यता और विज्ञान की दौड़ में आगे क्यों न निकल जाते? परन्तु यह बात ग़लत है। कोई समय था जब ईजिप्ट के लोग जो आर्य-प्रजाति की किसी शाखा के नहीं माने जाते, पिरैमिड बना रहे थे, जब चीनी जो मंगोल कहे जाते हैं, काग़ज़ और छापने की कला का आविष्कार कर रहे थे, ऐसा समय जब युरोप के आज के सभ्य-देश जंगली थे। कोई समय था जब ट्यूटौनिक-नस्ल के जर्मनी के आर्य लोग जंगली थे, आज वे सभ्य हो गये। अगर रोमन-राज्य के समय में कोई कहता कि किसी समय यही ट्यूटौनिक-नस्ल के लोग इतनी उन्नति कर लेंगे, तो इस बात पर कौन विश्वास करता? युरोपियन-नस्लों ने जो उन्नति की है, उसे दिन ही कितने हुए हैं? एच० जी० वेल्स (H.G. Wells) ने लिखा है कि १६वीं शताब्दी में अगर कोई मंगोल और मुस्लिम-सभ्यता के उत्कर्ष को देख कर भविष्य-वाणी करता, तो कह देता कि युरोप की पिछड़ी जातियाँ कुछ देर बाद मंगोल या मुस्लिम-सभ्यता को स्वीकार कर लेंगी। परन्तु यह सब-कुछ न हुआ, और युरोप ने आश्चर्यजनक उन्नति की। यह उन्नति नस्ल के कारण नहीं हुई, पर्यावरण के कारण हुई। यह समझना कि सभ्यता, संस्कृति या विज्ञान किसी प्रजाति-विशेष की देन है, एक भ्रम है। यह भ्रम जहाँ तक प्रजातिवाद का सम्बन्ध है, वहीं तक नहीं, प्रजातिवाद के अतिरिक्त दूसरे क्षेत्र में भी यह भ्रम फैला हुआ है। युरोप तथा एशिया के अनेक देशों में आर्य-प्रजाति के ही लोग हैं, परन्तु इन आर्य-प्रजातियों के सम्बन्ध में भी यह कहा जाता है कि युरोप के आर्य अन्य आर्यों से शुद्ध रुधिर के हैं, इसलिए विज्ञान की खोजें वहीं पर होती हैं। यह भी कितना भ्रमपूर्ण विचार है। जिस समय युरोप के लोग कपड़ा पहनना भी नहीं जानते थे, उस समय ईजिप्ट, अरब और भारत के लोग सभ्यता के शिखर पर पहुँचे हुए थे। किसी समय ग्रीस तथा रोम की सभ्यता संसार पर शासन करती थी, आज उनका कोई नामलेवा भी नहीं रहा। हमने जो-कुछ लिखा उससे स्पष्ट है कि यह कहना कि क्योंकि युरोप आज विज्ञान के प्राविधिक उपकरणों का आविष्कार कर रहा है, या यह कहना कि क्योंकि आर्य-प्रजाति के लोग ही सभ्यता को विकास

की दिशा में प्रेरणा देते रहे हैं, इसलिए अन्य प्रजातियों में इस प्रकार का कोई सामर्थ्य नहीं है, युक्ति-युक्त नहीं है।

(छ) स्वभाव तथा आचार के कारण प्रजातिवाद (Racism due to temperament and character)—हम प्रायः सुनते हैं कि भारतीय लोग नस्ल से आलसी स्वभाव के होते हैं, यहूदी क्रूर और कंजूस होते हैं, मंगोल सुस्त और जुआरी होते हैं, गोरी नस्लें उद्यमी और परिश्रमी होती हैं। जर्मनों के लिए कहा जाता है कि वे धीरे-धीरे प्रतिक्रिया करते हैं, परन्तु एक बार उठ खड़े हों, तो शक्ति के भंडार हो जाते हैं; अंग्रेज हर बात में पहल करते हैं, गीदड़-भभकी देते हैं, परन्तु समझौते के लिए सदा तैयार रहते हैं, आचार के पक्के होते हैं; फ्रेंच बड़े बातून होते हैं, मिलनसार होते हैं, परन्तु अंग्रेजों के-से समर्थ नहीं होते। यह सब-कुछ ठीक है, परन्तु प्रश्न यह है कि जिस व्यक्ति को हम जर्मनों का, अंग्रेजों का या अन्य किसी नस्ल का कहते हैं, वह व्यक्ति किसी एक नस्ल का तो है ही नहीं। अंग्रेज तो 'क़ौम' (Nation) का नाम है, 'नस्ल' (Race) का नहीं, इसी तरह जर्मन भी क़ौम का नाम है। इन 'क़ौमों' (Nations) में सब तरह की 'नस्लों' (Races) का खून रला-मिला है। एक लेखक का कहना है कि युरोप की हर क़ौम में 'नौर्डिक'-'एलपाइन' तथा 'मैडिटरेनियन'-नस्लों का रुधिर है—इसलिए जिस बात को हम नस्लों का स्वभाव तथा आचार कहते हैं, वह 'नस्लों' (Races) का भेद नहीं, क़ौमों (Nations) का भेद है। एक प्रसिद्ध जर्मन लेखक का कथन है कि नस्लों का इतना सम्मिश्रण हुआ है कि नौर्डिक-शरीर तथा अ-नौर्डिक-मन एवं अ-नौर्डिक-शरीर तथा नौर्डिक-मन युरोप में यत्र-तत्र-सर्वत्र पाया जाता है। ऐसी हालत में हम किस नस्ल का क्या स्वभाव तथा क्या आचार कह सकते हैं? सिर्फ़ इतना कह सकते हैं कि नस्ल के आधार पर खड़ी की गई श्रेष्ठता का सिद्धान्त, जो संसार में जगह-जगह पाया जाता है, ग़लत है।

६. प्रजाति, राष्ट्र तथा देश में भेद

'प्रजातिवाद' के सम्बन्ध में जो तरह-तरह की कल्पनाएँ उठ खड़ी होती हैं, उनका सबसे बड़ा कारण यह है कि हम प्रजाति, राष्ट्र तथा देश में भेद नहीं करते, इन तीनों को एक-दूसरे से रला-मिला देते हैं, और जो बात 'प्रजाति' के विषय में कहनी होती है, उसे 'राष्ट्र' के या 'देश' के विषय में कह डालते हैं। इन तीनों शब्दों का प्रयोग करने से पहले हमें इन तीनों के भेद को अपने दिमाग़ में साफ़ कर लेना चाहिए। ऐसा कर लेने से हमारे विचारों में सफ़ाई आ जायगी।

(क) 'प्रजाति' तथा 'राष्ट्र' में भेद (Difference between Race and Nation)—'वंश' तथा 'पर्यावरण', इन दो कारणों से मनुष्य में परिवर्तन होता है। नस्ल के कारण श्रेष्ठता मानने वाले 'वंश' को महत्त्व देते हैं, परन्तु हमने देखा कि जो बातें नस्ल के विषय में कही जाती हैं, उनका नस्ल से कोई सम्बन्ध नहीं है। अंग्रेजों, जर्मनों, फ्रांसीसियों, हिन्दुस्तानियों को हम नस्ल समझने लगते

हैं। हम कहते हैं अंग्रेजों की नस्ल ऐसी है, जर्मनों की नस्ल वैसी है। परन्तु असल बात यह है कि जन्म से 'नस्लें' (Races) बनती हैं, और कई नस्लों के मिलने से 'क़ौमें' (Nations) बनती हैं। जब कई नस्लें आपस में मिलकर रहने लगती हैं, वे अपने भिन्न-भिन्न तरह के रीति-रिवाज भूलकर एक तरह के रीति-रिवाज, एक तरह के आचार-विचार बना लेती हैं, तब वे जन्म-जात भेदों को भूल जाती हैं, और एक 'क़ौम' का, एक 'राष्ट्र' का निर्माण करती हैं। 'नस्ल' पीछे को देखती है, 'क़ौम' आगे को देखती है; 'नस्ल' बाप-दादा की बात करती है, 'क़ौम' अगली पीढ़ी की बात करती है; 'नस्ल' भूत का गाना गाती है, 'क़ौम' भविष्यत् के स्वप्न लिया करती है; 'नस्ल' जन्म पर जोर देती है, 'क़ौम' जन्म को उन्नति में बाधक नहीं बनने देती; 'नस्ल' एक प्राणि-शास्त्रीय (Biological) शब्द है, 'क़ौम' एक राजनैतिक (Political) शब्द है; 'नस्ल' बदली नहीं जा सकती, 'क़ौम' बदली जा सकती है; एक 'नस्ल' कई राष्ट्रों में रह सकती है, एक 'राष्ट्र' में कई नस्लें रह सकती हैं। आज संसार की दिशा नस्ल के घमंड को छोड़ कर मानव-समाज के एक हो जाने की तरफ़ है। जब कई नस्लों से एक क़ौम, और कई क़ौमों से मनुष्यमात्र की एक क़ौम बन जायगी, तब समाज की अनेकता से एकता पाने की प्रक्रिया समाप्त होगी, उससे पहले नहीं। मानव-समाज के विकास की दिशा नस्लों के भेद को भूल कर क़ौमों की एकता की तरफ़ जा रही है। उपनिषदों में कहा है—'मृत्योः स मृत्युमाप्नोति य इह नानेव पश्यति'—जो संसार में नाना-भेद देखता है वह जीवन की तरफ़ नहीं, मृत्यु की तरफ़ जाता है।

(ख) 'राष्ट्र' तथा 'देश' में भेद (Difference between Nation and Country)—'राष्ट्र' (Nation) तथा 'देश' (Country) में भी भेद है। वैसे तो बोल-चाल की भाषा में दोनों शब्दों का एक ही अर्थ में प्रयोग होता है, परन्तु शास्त्रीय-दृष्टि से इन दोनों में भेद है। 'राष्ट्रीयता' की भावना उत्पन्न होने पर ही 'राष्ट्र' बनता है, 'देश' के लिए 'राष्ट्रीयता' की भावना का होना लाजमी नहीं है। आफ्रीका एक देश है, राष्ट्र नहीं है, इसलिए राष्ट्र नहीं है क्योंकि वहाँ राष्ट्रीयता की भावना पैदा नहीं हुई। अगर आफ्रीकन लोगों में राष्ट्रीयता की भावना पैदा हो जाय, और इस भावना के परिणामस्वरूप उनका उस देश पर अधिकार हो जाय, तो वह देश सिर्फ़ देश ही न रहे, एक राष्ट्र हो जाय। राष्ट्र में राष्ट्रीयता का निवास होता है, देश में राष्ट्रीयता का निवास नहीं होता; देश में जब राष्ट्रीयता आ जाती है, तब यह देश ही राष्ट्र बन जाता है। देश में भिन्न-भिन्न नस्लें रह सकती हैं, राष्ट्र में भी भिन्न-भिन्न नस्लें रह सकती हैं, परन्तु जब कोई देश राष्ट्र बन जाता है, तब ये भिन्न-भिन्न नस्लें अपना भेद-भाव भूल कर एक हो जाती हैं, जब तक इन नस्लों में एकता की भावना नहीं पैदा होती, तबतक जिस देश में ये नस्लें रहती हैं, उसे हम 'देश' (Country) तो कह सकते हैं, 'राष्ट्र' (Nation) नहीं कह सकते। भारत में भी जबतक हर प्रान्त का व्यक्ति दूसरे प्रान्त के व्यक्ति के साथ पूरी-पूरी एकात्मता नहीं अनुभव करेगा, अपने को भिन्न

प्रान्त का कहेगा, तब तक यहाँ एक 'देश' की भावना पैदा हो जाने पर भी एक-'राष्ट्र' की भावना नहीं उत्पन्न होगी। प्रगति की दिशा व्यक्ति को 'देश' तक सीमित न रखकर 'राष्ट्र' की तरफ़ ले जाने में है।

७. प्रजातिवाद तथा संस्कृति
(Racism and Culture)

'प्रजातिवाद' के इस विचार का कि नौर्डिक-नस्ल के लोग—अंग्रेज, जर्मन, फ्रेंच आदि—संसार में सबसे उत्कृष्ट हैं, हम पहले वर्णन कर आये हैं। प्रजाति-वादियों का इतना ही दावा नहीं है कि वे संसार में सब से उत्कृष्ट हैं, उनका यह भी दावा है कि संसार में और कोई प्रजाति ऐसी नहीं है जिसके पास सभ्यता अथवा संस्कृति हो। इनका कहना है कि ऊँची नस्ल ही ऊँची संस्कृति को जन्म दे सकती है, इसलिए युरोप के उन श्वेत-वर्ण की प्रजातियों के ऊपर, इनके कथनानुसार, एक विशेष बोझ है, विशेष उत्तरदायित्व है, और वह उत्तरदायित्व 'श्वेतांगों का बोझ' (Whitemen's burden) कहलाता है। श्वेतांगों के ऊपर यह बोझ है कि वे संसार की असभ्य जातियों को सभ्यता का पाठ पढ़ायें। इन लोगों का यह विचार था कि संसार में सभ्यता का उदय उन्हीं के साथ हुआ है, इससे पहले न सभ्यता थी, न संस्कृति, जो-कुछ है, सभी उन्हीं की देन के तौर पर संसार में आया है। इतना ही नहीं कि ये असभ्य तथा जंगली जातियों को सभ्यता का पाठ पढ़ाना चाहते हैं, ये और बहुत आगे बढ़े हुए हैं। ये भारत जैसे देशों की जनता को भी सभ्यता का पाठ पढ़ाना चाहते हैं। इनका कहना है कि चाहे जंगली हों, चाहे भारत, ईजिप्ट, अरब की पुरानी नस्लों के लोग हों, इन सब को गोरी जातियाँ ही सभ्यता का मार्ग दर्शा सकती हैं। बहुत-कुछ तो इस प्रकार की मनोवृत्ति का कारण गोरी जातियों की 'साम्राज्यवाद' की भावना थी, कुछ शायद ईमानदारी से भी समझते थे कि प्रकृति ने उन्हीं के लिए यह काम अभी तक अधूरा छोड़ रखा है।

मानव-शास्त्र ने प्रजातिवादियों की इस स्थापना को तोड़-फोड़ दिया है। मानव-शास्त्र ने पुरातन-मानव के अध्ययन से यह सिद्ध कर दिया है कि प्राचीन-से-प्राचीन मानव के पास भी अपनी सभ्यता थी, अपनी संस्कृति थी। जगह-जगह से जमीन के नीचे से शहर-के-शहर निकल रहे हैं। भारत में मोहनजोदड़ो तथा हड़प्पा की सभ्यताएँ हजारों साल ईसा के पूर्व तक जाती हैं। सभ्यता तथा संस्कृति आज की देन नहीं, हजारों साल पहले भी सभ्यता तथा संस्कृति मौजूद थी। सभ्यता क्या है, संस्कृति क्या है? माता-पिता अपनी सन्तान को अपने अनुभव सामाजिक-विरासत के तौर पर देते हैं। ये अनुभव वंश-परम्परा द्वारा आगे-आगे चलते चले जाते हैं। ये अनुभव भिन्न-भिन्न समुदायों में भिन्न-भिन्न प्रकार के होते हैं। इसमें सन्देह नहीं कि आज के समुदायों के अनुभव अपने ढंग के हैं, और ये आज की सन्तति को वंश-परम्परा से मिल रहे हैं। हजारों, लाखों साल पहले का जो मानव-समाज था, वह भी अपने अनुभवों को वंश-परम्परा द्वारा अपनी सन्तान को देता रहा। जैसे आज के मानव के पास अपने पूर्वजों से पायी हुई सभ्यता तथा

संस्कृति है, वैसे प्रागैतिहासिक-काल के मानव के पास भी अपने पूर्वजों से पायी हुई सभ्यता तथा संस्कृति थी। प्रागैतिहासिक-काल का मानव सभ्यता तथा संस्कृति से शून्य नहीं था, इसलिए वर्त्तमान गोरी प्रजातियों का यह दावा कि वे संस्कृति-शून्य मानव को संस्कृति की देन उपहार में दे रही हैं, भ्रमात्मक विचार है। प्राचीन-मानव के पास भी अपनी सभ्यता थी, संस्कृति थी, साहित्य था, भाषा थी, अपने विश्वास थे, अपना धर्म था, अपना संगीत, अपने ढंग की शिक्षा और अपने ढंग की सामाजिक तथा राजनैतिक रचना थी। हमें यह मानना पड़ेगा कि प्राचीन-से-प्राचीन मानव के पास भी अपनी सभ्यता तथा संस्कृति थी, भले ही उसका विकास उस तरह न हुआ हो जिस तरह आज के मानव की सभ्यता तथा संस्कृति का विकास हो रहा है। क्योंकि प्राचीन मानव की सभ्यता का विकास भौतिक-विकास नहीं था, वह कल-कारखाने नहीं बनाता था, इसलिए यह नहीं कहा जा सकता कि वह निम्न-स्तर का ही था। आज का मानव अणु-बम और हाईड्रोजन-बम बनाकर अगर अपने को प्राचीन-मानव से श्रेष्ठ समझने लगा है, तो यह उसके अहंकार के सिवाय और कुछ नहीं है। विनाशकारी आज का मानव उस मानव से श्रेष्ठ कैसे कहा जा सकता है, जिसने संसार की रक्षा करके उसे यहाँ तक पहुँचा दिया, जहाँ हम आज के मानव के सामने नष्ट होने के लिए खड़े हैं?

मानव-शास्त्र ने अब तक के अध्ययन से जो परिणाम निकाले हैं, उनसे यह स्पष्ट हो गया है कि नस्ल का संस्कृति से कोई सम्बन्ध नहीं है। पहली बात तो यह कि हर-एक नस्ल के पास कोई-न-कोई संस्कृति है, हम अपने दृष्टि-कोण से उसे नीचा कह सकते हैं, परन्तु हमारा दृष्टि-कोण ग़लत भी हो सकता है, एक-देशीय भी हो सकता है। दूसरी बात यह कि नस्ल के आधार पर संस्कृति की व्याख्या नहीं हो सकती, नस्ल के आधार पर यह नहीं कहा जा सकता कि अमुक नस्ल ऊँची सभ्यता को ही पैदा करेगी, अमुक नस्ल नीची सभ्यता को ही पैदा करेगी। आज जिन श्वेतांगों की नस्ल को ऊँची सभ्यता का सरताज कहा जाता है, वे कभी नंगी फिरती थीं, जंगलों में फल-मूल चुगा करती थीं। उस समय आज की अवनत सभ्यता की नस्लें सभ्यता के उच्च शिखर पर थीं। अगर नस्ल का सभ्यता तथा संस्कृति से गहरा सम्बन्ध होता, तो श्वेतांग नस्लों को दूसरी नस्लों के मुकाबिले में संस्कृति के नीचे पाये पर कभी होना ही नहीं चाहिए था।

४

भारत की आदिवासी जन-जातियाँ

(INDIAN TRIBES)

भारत की जनता में भिन्न-भिन्न नस्लें हैं, यह तो हम देख चुके। नस्लों के रूप में वर्गीकरण करने के अलावा भारत की जनता का एक दूसरी तरह से भी वर्गीकरण किया जाता है। एक वर्ग में तो 'उन्नत वर्ग' (Forward classes) के लोग हैं जो सामाजिक तथा आर्थिक दृष्टि से हमारे समाज में प्रतिष्ठित तथा सम्पन्न हैं, दूसरे वर्ग में 'निम्न-वर्ग' (Backward classes) के लोग हैं। उन्नत-वर्ग के लोगों की समस्याओं के विषय में हमें कुछ नहीं कहना, निम्न-वर्ग की समस्याओं का प्रश्न समाज का मुख्य प्रश्न है। निम्न-वर्ग को दो भागों में बाँटा जा सकता है। एक तो ऐसा निम्न-वर्ग है जिसे जन्म के कारण उन्नत-वर्ग का बनने में कोई प्रतिबन्ध नहीं है। वह तो काम नहीं करता, इसलिए अपने किये से निम्न-वर्ग का बना हुआ है, काम करे तो वह उन्नत-वर्ग में शामिल हो सकता है। इस वर्ग की समस्याओं के विषय में भी हमें यहाँ कुछ नहीं कहना। दूसरा निम्न-वर्ग ऐसा है जो अपने किये से नहीं, परन्तु जन्म के कारण निम्न वर्ग का है। जन्म के कारण निम्न-वर्ग का होने की वजह से समाज में भी उसे शिक्षा तथा समाज की अन्य सुविधाओं से वंचित रहना पड़ता है। भारत की इस क्षेत्र की मुख्य समस्या, जन्म के कारण जिन्हें निम्न-वर्ग का कहा जाता है, उन्हीं लोगों की है। जन्म के कारण निम्न कहे जाने वाले लोगों में भी भारत में दो श्रेणियाँ हैं—एक वह श्रेणी है जिसे 'अछूत' (Untouchables) कहा जाता है। इस श्रेणी के लोग शहरों में ही, उच्च कहे जाने वाले लोगों के साथ, उन्हीं के मोहल्लों में रहते हैं, परन्तु इनके साथ व्यवहार ठीक तरह का नहीं होता। इन्हें लोग छूने से परहेज करते हैं, इन्हें मंदिरों में नहीं जाने देते। इन्हें महात्मा गांधी ने 'हरिजन' का नाम दिया था। अछूतपन की समस्या को हल करने के लिए स्वतंत्र-भारत ने कानूनन अछूतपन को रद्द कर दिया है और 'अस्पृश्यता निरोधक अधिनियम—१९५५' (Untoucha-bility Offences Act—1955) के अनुसार इस कलंक को भारत से मिटा दिया है। परन्तु कानून बना देने मात्र से तो समस्या हल नहीं हो जाती, अस्पृश्यता की समस्याएँ अभी पर्याप्त मात्रा में बनी हुई हैं, परन्तु इनकी समस्याओं के विषय में भी हमें यहाँ कुछ नहीं कहना। इनके विषय में हम अलग अध्याय में चर्चा करेंगे। जन्म के कारण निम्न कहे जाने वालों की एक दूसरी श्रेणी है जिसे 'वन्य-

जाति' या 'जन-जाति' (Tribes) कहा जाता है। इस श्रेणी के लिए अनेक शब्दों का प्रयोग होता है। इन्हें रिज़ले, लैसी, ठक्कर बापा आदि ने 'आदि-वासी' (Aboriginals) कहा है, क्योंकि इनके अनुसार ये इस देश के शुरू-शुरू के रहने वाले हैं; इन्हें 'वन्य-जाति' या 'वन-वासी' (Forest dwellers) भी कहा जाता है, क्योंकि ये देश के अन्य व्यक्तियों के साथ उनके गली-मोहल्लों में न रह कर जंगलों, पहाड़ों या बस्तियों से बाहर रहते हैं; इन्हें 'आदिम-जाति' (Primitive tribes) भी कहा जाता है, क्योंकि सभ्यता की दृष्टि से ये प्रारम्भिक-अवस्था में हैं—नंगे, जंगलों में शिकार करते हुए, वृक्षों के नीचे या झोंपड़ियाँ बना कर रहने के कारण ये 'आदिम-जाति' कहलाते हैं। भारतीय-संविधान में इन्हें 'अनुसूचित जन-जातियाँ' (Scheduled tribes) कहा गया है क्योंकि संविधान के अनुसार इनकी सूची बना दी गई है। डा० घुर्ये इन्हें 'पिछड़े हुए हिन्दू' (Backward Hindus) कहते हैं क्योंकि वे इन्हें हिन्दुओं से पृथक् कोई जन-जाति न मानकर इन्हें हिन्दुओं के निम्न-स्तर के लोग मानते हैं। हम यहाँ 'अस्पृश्य' या अन्य किसी निम्न वर्ग के विषय में न लिख कर भारत की आदि-वासी 'जन-जातियों' अर्थात् 'वन्य-जातियों' (Tribes) के विषय में लिखेंगे, क्योंकि 'जन-जातियों' का सम्बन्ध नस्ल से है, और नस्ल की समस्या को लेकर ही हम यहाँ लिख रहे हैं। नस्ल की दृष्टि से भारत की जन-जातियों का महत्त्व इसलिए है, क्योंकि उनके रहन-सहन, रीति-रिवाज, कायदे-कानून को देख कर हम यह जान सकते हैं कि आदि-काल के भारत के निवासी किस ढंग से रहते-सहते थे, क्या उनके रीति-रिवाज और कायदे-कानून थे। जन-जातियाँ मानो वर्त्तमान प्रजातियों का ही भूत-काल का जीवित चित्र हमारे सामने लाकर रख देती हैं।

१. जन-जाति की परिभाषा

'जन-जाति', 'वन्य-जाति', 'आदि-वासी', 'वन-वासी' या 'आदिम-जाति'—इन सब शब्दों का एक ही अर्थ है। 'जन-जाति' शब्द की भिन्न-भिन्न लेखकों ने भिन्न-भिन्न व्याख्याएँ की हैं जिनमें से कुछ निम्न हैं :—

[क] जेकब्स तथा स्टर्न की व्याख्या—"एक ऐसा ग्रामीण समुदाय या ग्रामीण समुदायों का एक ऐसा समूह जिसकी समान भूमि हो, समान भाषा हो, समान सांस्कृतिक विरासत हो, और जिस समुदाय के व्यक्तियों का जीवन आर्थिक-दृष्टि से एक-दूसरे के साथ ओत-प्रोत हो—'जन-जाति' कहलाता है।"

[क] "A cluster of village communities which share a common territory, language and culture, and are economically interwoven is often also designated a tribe"—*Jacobs and Stern.*

[ख] नोट्स एण्ड क्वेरीज़ ऑन एन्थ्रोपौलोजी की व्याख्या—"एक ऐसा समुदाय जो किसी विशेष भू-स्थान का स्वामी हो, जो राजनैतिक तथा सामाजिक दृष्टि से शृंखला-बद्ध स्वायत्त-शासन चला रहा हो, उसे 'जन-जाति' कहते हैं।"

[ग] रिचार्ड की व्याख्या—"समूहों की शृंखला परिमाण में जब बढ़ती जाती है तब उसका अन्त राष्ट्र में होता है। समूह की यह क्रमिक वृद्धि प्रायः आदिम-जातियों में पायी जाती है—इन आदिम-जातियों को हम 'जन-जाति' कहते हैं। 'जन-जाति' एक ऐसे समूह का नाम है जो आर्थिक-दृष्टि से आत्म-निर्भर होता है, समान भाषा बोलता है और जब किसी बाहर के शत्रु का सामना करना होता है, तब इस समूह के सब लोग मिल कर एक हो जाते हैं।"

[घ] मजूमदार की व्याख्या—"जन-जाति परिवारों या परिवार-समूहों के समुदाय का नाम है। इन परिवारों या परिवार-समूहों का एक सामान्य नाम होता है। ये एक ही भू-भाग में निवास करते हैं, एक ही भाषा बोलते हैं तथा विवाह-उद्योग-धंधों में एक ही प्रकार की बातों को निषिद्ध मानते हैं। एक-दूसरे के साथ व्यवहार के सम्बन्ध में भी इन्होंने अपने पुराने अनुभव के आधार पर कुछ निश्चित नियम बना लिये होते हैं।"

[ङ] इम्पीरियल गज़ेटीयर की व्याख्या—"जन-जाति परिवारों के एक

[ख] "A tribe may be defined as a politically or socially coherent and autonomous group occupying or claiming a particular territory." —*Notes and Queries on Anthropology*.

[ग] "A series of groupings, gradually increasing in size, culminates in the state, which is occasionally found among the peoples we call primitive, but the most constantly used term is *tribe*. By a tribe we usually mean an economically independent group of people speaking the same language and uniting to defend themselves against outsiders."

—*Reichard in Boas' General Anthropology*.

[घ] "A tribe is a collection of families or groups of families bearing a common name, members of which occupy the same territory, speak the same language and observe certain taboos regarding marriage, profession or occupation and have developed a well-assessed system of reciprocity and mutuality of obligations." —*Majumdar*.

[ङ] "A tribe is a collection of families, which have a common name and a common dialect and which occupy, or profess to occupy, a common territory and which have been, if they are not, endogamous." —*Imperial Gazetteer*.

ऐसे समुदाय का नाम है जिसका एक समान नाम हो, समान बोली हो, जो एक समान भू-भाग में रहते हों या उस भू-भाग को अपना मानते हों, और जो अपनी जन-जाति के भीतर ही विवाह करते हों।"

'जन-जाति' की हमने जो परिभाषाएँ दी हैं, इनके अतिरिक्त डा० रिवर्स (Rivers) ने भी इसकी व्याख्या की है, जिसके अनुसार 'जन-जाति' एक ऐसा सरल-सा समूह है जिसके सदस्य एक बोली बोलते हों, और जो युद्ध आदि के समय सम्मिलित रूप से कार्य करते हों। रिवर्स का कहना है कि अन्य व्याख्याकारों ने इस समूह का एक सामान्य भू-भाग में रहना आवश्यक बतलाया है, परन्तु प्रायः अनेक जन-जातियाँ फिरंदर-जीवन व्यतीत करती हैं, इसलिए 'जन-जाति' की व्याख्या में सामान्य-भू-भाग का होना आवश्यक नहीं है। इस बात की श्री पैरी (Perry) ने आलोचना करते हुए लिखा है कि कोई भी 'जन-जाति' कितना ही फिरंदर जीवन क्यों न व्यतीत करती हो, फिर भी उसका किसी-न-किसी भू-भाग से सम्बन्ध होता ही है। फिरंदर जातियाँ संसार के एक सिरे से दूसरे सिरे तक नहीं फिरा करतीं, इसमें सन्देह नहीं कि वे फिरती हैं, परन्तु एक निश्चित भू-भाग में ही फिरती हैं। रिवर्स का कहना है कि जन-जातियाँ शत्रु के साथ युद्ध के समय एक हो जाती हैं—इसलिए रिवर्स ने इस बात को जन-जातियों का निश्चित लक्षण कहा है, परन्तु इस बात की आलोचना करते हुए रैडक्लिफ़-ब्राउन (Radcliffe-Brown) का कहना है कि दूसरों से लड़ने की बात तो दूर रही, ऑस्ट्रेलियन जन-जातियाँ आपस में ही लड़ा करती हैं—ऐसी हालत में इस लक्षण को जन-जातियों का आवश्यक लक्षण कैसे कहा जा सकता है?

जो-कुछ हो, यह तो स्पष्ट है कि 'जन-जाति' की परिभाषा के सम्बन्ध में विद्वानों में मतभेद है, परन्तु अधिकतर विद्वानों की राय यही है कि 'जन-जाति' का किसी विशेष भू-भाग से सम्बन्ध होता ही है। भारत की जन-जातियों का तो विशेष-विशेष भू-भागों से सम्बन्ध है—इसमें कोई सन्देह नहीं। सन्थाल चाहे असम में क्यों न काम करते हों, वे सदा अपने को बिहार या बंगाल के अपने निश्चित स्थान का वासी कहते रहेंगे। एक निश्चित भू-भाग का होने से 'जन-जाति' के प्रत्येक व्यक्ति में अपने समुदाय के प्रति निष्ठा तथा सामुदायिक-भावना बनी रहती है। निश्चित भू-भाग के अतिरिक्त जन-जातियों में दूसरी बात यह पायी जाती है कि वे एक-समान बोली का व्यवहार करते हैं। असम के बग़ीचों में काम करते हुए सन्थाली जन-जाति के लोग वहाँ की बोली सीख जायेंगे, परन्तु आपस में अपनी 'जन-जाति' की बोली में ही बातचीत करेंगे। तीसरी बात 'जन-जाति' में यह पायी जाती है कि वे 'अन्तर्विवाही' (Endogamous) होते हैं, जन-जाति से

बाहर विवाह-सम्बन्ध नहीं करते। ये 'जन-जाति' से बाहर विवाह नहीं करते—इसका यह अर्थ नहीं है कि 'जन-जाति' के भीतर ये जिससे चाहें विवाह कर सकते हैं। भीतर भी अपने 'गोत्र' (Clan) में ये विवाह नहीं करते। एक 'जन-जाति' (Tribe) कई 'गोत्रों' (Clans) से मिलकर बनती है। विवाह आदि के सम्बन्ध में इनके विधि-निषेध बने होते हैं, अपनी जन-जाति में विवाह करना 'विधि' का उदाहरण है, अपनी जन-जाति के गोत्र में विवाह न करना 'निषेध' का उदाहरण है। जन-जाति का क्योंकि अपना संगठन होता है, इसलिए इसकी शासन-व्यवस्था भी अपनी होती है। इस शासन-व्यवस्था में प्रत्येक जन-जाति का अपना 'जातीय-मुखिया' (Tribal chief) होता है। यह पद आनुवंशिक तौर पर चलता है। इस मुखिया को अपने कार्य में सहायता देने के लिए बड़े-बूढ़ों की एक परिषद्-सी भी होती है, जिसकी सलाह से मुखिया काम करता है।

२. जन-जातियों की संख्या

भारतीय-संविधान के अनुसार राष्ट्रपति ने एक आदेश प्रसारित किया था जिसे 'अनुसूचित जन-जाति आदेश, १९५०–५१' (Scheduled Tribes Order 1950-51) कहा जाता है। इस आदेश में १९५१ की जन-गणना के अनुसार जो जन-जातियाँ गिनाई गई थीं उन्हें 'जन-जाति' घोषित किया गया था ताकि उन पर कल्याण-योजनाएँ चालू की जा सकें। जन-जातियों के अनेक नेताओं का कथन था कि १९५१ की जन-गणना के अनुसार जिन्हें जन-जाति घोषित किया गया है, उनसे अतिरिक्त भी अनेक जन-जातियाँ हैं, जिन्हें इस सूची में गिना जाना चाहिए और उन पर कल्याण-योजनाएँ लगनी चाहिएँ। इस आन्दोलन के फलस्वरूप भारतीय-संविधान में ही लिख दिया गया था कि इस वर्ग की यथार्थ स्थिति का पता लगाने के लिए एक आयोग की रचना की जायगी। परिणामतः २९ जनवरी १९५३ को राष्ट्रपति ने एक आयोग बनाने की आज्ञा प्रसारित की जिसके अध्यक्ष श्री काका कालेलकर थे। इस आयोग की रिपोर्ट के आधार पर १९५०–५१ के राष्ट्रपति के आदेश का संशोधन किया गया और अनुसूचित जन-जातियों की संख्या में वृद्धि की गई ताकि समाज-कल्याण की योजनाओं से जन-जाति का कोई भी भाग बचा न रहे। राष्ट्रपति के इस आदेश को 'संशोधित अनुसूचित जन-जाति आदेश, १९५६' (Scheduled Tribes Order 1956) कहा जाता है। १९५०–५१ तथा १९५६ के राष्ट्रपति के आदेश के अनुसार अनुसूचित जन-जाति के व्यक्तियों की संख्या में जो वृद्धि हुई वह शिड्यूल्ड कास्ट कमिश्नर की १९५६–५७ की रिपोर्ट के एपेंडिक्स II के अनुसार निम्न प्रकार थी :—

अनुसूचित व्यक्तियों की जन-संख्या

राज्य	कुल जन-संख्या	१९५०-५१ के आदेश के अनुसार जन-संख्या	कुल जन-संख्या का प्रतिशत	१९५६ के आदेश के अनुसार जन-संख्या	कुल जन-संख्या का प्रतिशत
आन्ध्र	३,१२,६०,१३३	७,६६,६७९	२.४५	११.४९.९११	३.६८
असम	९०,४३,७०७	१७,३५,२४५	१९.१८	१७,६१,४३४	१९.४८
बिहार	३,८७,८४,१७२	३८,२७,६७२	९.८६	३८,८०,०९७	१०.००
बम्बई	४,८२,६५,२२१	३६,७१,६८६	७.६०	३७,४३,४०८	७.७६
काश्मीर	४४,१०,०००	इसमें जनजाति नहीं है	—	—	—
केरल	१,३५,४९,११८	७४,०५६	०.५४	१,३४,७५७	०.९९
मध्य-प्रदेश	२,६०,७१,६३७	३८,५९,६६७	१४.७९	४८,४४,१२८	१८.५८
मद्रास	२,९९,७४,९३६	६०,३९३	०.२०	१,३६,३७६	०.४५
मैसूर	१,९४,०१,१९३	४५,९६४	०.२३	८०,४०२	०.४१
उड़ीसा	१,४६,४५,९४६	२९,६७,३३४	२०.२५	३०,०९,५८०	२०.५५
पंजाब	१,६१,३४,८९०	२,४२९	०.०१	२,६६१	०.०२
राजस्थान	१,५९,७०,७७४	३,४८,९२४	२.१८	१७,७४,२७८	११.११
उत्तर-प्रदेश	६ ३२,१५,७४२	इसमें जनजाति नहीं है	—	—	—
बंगाल	२,६३,०१,९९२	१३,८६,९८७	५.२७	१५,६६,८६८	५.९६
संघ-क्षेत्र					
अंडमान-निकोबार	३०,९७१	—	—	—	—
दिल्ली	१७,४४,०७२	इसमें जन-जाति नहीं है	—	—	—
हिमाचल-प्रदेश	११,०९,४६६	अप्राप्त	—	२७,९२८	२.५२
लकदीव द्वीप-समूह	२१,०३५	१३,४८६	६४.११	१३,४८६	६४.११
मणिपुर	५,७७,६३५	१,९४,२३९	३३.६३	१,९४,२३९	३३.६३
त्रिपुरा	६,३९,०२९	१,९२,२९३	३०.०९	१,९२,२९३	३०.०९
सर्वयोग	३६,११,५१,६६९	१,९१,४७,०५४	५.३०	२,२५,११,८५४	६.२३

राष्ट्रपति के १९५६ के आदेश के अनुसार जन-जातियों के व्यक्तियों की संख्या १,९१,४७,०५४ से २,२५,११,८५४ तथा भारत की जन-संख्या का ५,३० प्रतिशत से ६.२३ प्रतिशत हो गई है। इस दृष्टि से जन-जाति की जन-संख्या में राष्ट्रपति के १९५६ के इस आदेश से ३३,६४,८०० व्यक्ति बढ़ गये हैं। मुख्य तौर पर यह वृद्धि राजस्थान, मध्य-प्रदेश, आन्ध्र-प्रदेश तथा पश्चिमी बंगाल में हुई है जो निम्न प्रकार है :—

प्रदेश	जन-जाति की जन-संख्या में १९५१ की अपेक्षा वृद्धि
राजस्थान	१४,२५,३५४
मध्य-प्रदेश	९,८४,४६१
आन्ध्र-प्रदेश	३,८३,२४०
पश्चिमी बंगाल	१,७९,८८१

१९५०-५१ के राष्ट्रपति के आदेश के अनुसार जन-जातियों की संख्या २१२ थी जो १९५६ के आदेश के अनुसार २९२ हो गई। इनमें से ३९ जन-जातियों की जन-संख्या १ लाख से भी अधिक है। गोंड, संथाल तथा भील जन-जातियों की जन-संख्या अन्य सब अनुसूचित जन-जातियों की संख्या का एक-तिहाई है।

३. भारत की जन-जातियों के भू-भाग

(Geographical location of Indian Tribes)

(क) भारत की जन-जातियों का भौगोलिक वर्गीकरण—भारत के विभाजन से पूर्व भारत का उत्तर-पश्चिमी सीमा-प्रांत जन-जातियों के निवास-स्थान के लिए प्रसिद्ध था। इन जन-जातियों को कबीला कहा जाता है। जिस समय की हम चर्चा कर रहे हैं, उस समय ये कबीले मौके-ब-मौके हिन्दुस्तान पर छापे मारा करते थे। इन कबीलों के सरदारों को छापे मारने से रोकने के लिए सरकार कुछ पेंशन के रूप में दिया करती थी। जब से हिन्दुस्तान के दो हिस्से हो गये, तब से सीमा-प्रांत का यह हिस्सा पाकिस्तान में चला गया। अब उसी उत्तर-पश्चिमी सीमा के कबायली लोग पख़्तूनिस्तान की माँग कर रहे हैं, और पाकिस्तान का आये-दिन नाक में दम किये रहते हैं। जन-जातियों के लोग अपने को दूसरों से अलग नस्ल का समझते हैं, इसलिए अपने लिए अलग देश की माँग करते हैं। अपने देश में भी तो नागा जन-जाति के लोग स्वतन्त्र नागा-प्रदेश की माँग कर रहे हैं। छोटा नागपुर की जन-जातियाँ अपना स्वतंत्र राज्य कायम करना चाहती हैं। अब क्योंकि पाकिस्तान अपने देश का हिस्सा नहीं रहा, इसलिए हम उत्तर-पश्चिमी सीमा-प्रांत की जन-जातियों की चर्चा यहाँ नहीं करेंगे।

भारत में जिन-जिन स्थानों में जन-जातियाँ बसी हुई हैं, उनको ध्यान में रखते हुए जन-जातियों के भू-भाग को तीन बड़े-बड़े क्षेत्रों में बांटा जा सकता है—पूर्वोत्तर-क्षेत्र, मध्य-क्षेत्र तथा दक्षिणी-क्षेत्र।

(i) पूर्वोत्तर-क्षेत्र—पूर्वोत्तर-क्षेत्र में शिमला, लेह, लुशाई पहाड़ियाँ तथा मिश्मी का इलाक़ा आ जाता है। काश्मीर का पूर्वी हिस्सा, पूर्वी पंजाब, हिमाचल

प्रदेश, उत्तर प्रदेश का उत्तरी भाग तथा असम और सिक्किम इस क्षेत्र के अन्तर्गत हैं। इस क्षेत्र में गुरङ्ग, लिम्बू, लेपचा, आका, डफला, अबर-मीरी, मिश्मी, राभा, कचारी, गारो, खासी, नागा, कूकी, चकमा आदि जन-जातियाँ आ जाती हैं।



नेफ़ा की मिश्मी जन-जाति की कन्या

(ii) मध्य-क्षेत्र—मध्य-क्षेत्र में बंगाल, बिहार, दक्षिणी उत्तर-प्रदेश, दक्षिणी राजस्थान, मध्य-भारत, उत्तरी बम्बई, मध्य-प्रदेश तथा उड़ीसा का इलाका आ जाता है। उत्तरी राजस्थान, दक्षिणी बम्बई, तथा बस्तर इस क्षेत्र के प्रांतवर्ती भाग में आते हैं। तीनों क्षेत्रों में यह क्षेत्र सबसे बड़ा है और इसकी आबादी अन्य दोनों क्षेत्रों से ज्यादा है। इस क्षेत्र में मध्य-प्रदेश के गोंड, राजस्थान

के भील, छोटा नागपुर के सन्थाल, उरांव और मुण्डा, सिंहभूम और मानभूम के 'हो', उड़ीसा के कान्ध और खरिया, गंजाम ज़िले के सावरा, गदब और बोन्दा आ जाते हैं। इनके अतिरिक्त भुंज, भूमिज, बिरहोर, भुंइयाँ, ज्वांग तथा सावरा जन-जातियाँ भी मध्य-क्षेत्र के अन्तर्गत हैं।

(iii) दक्षिणी-क्षेत्र—दक्षिणी-क्षेत्र में हैदराबाद, मैसूर, कुर्ग, ट्रावन्कोर-कोचीन, आन्ध्र-प्रदेश तथा मद्रास आ जाते हैं। मद्रास के तट का सम्बन्ध निकोबार तथा अंडमान टापू के साथ होता हुआ यह सारा क्षेत्र दक्षिणी-क्षेत्र कहा जा सकता है। इस क्षेत्र में हैदराबाद के चेंचू, नीलगिरी के टोडा, वायनाड के पनियन, ट्रावन्कोर-कोचीन के कादर, कणीकर तथा कुरोवन प्रमुख जन-जातियाँ हैं। निकोबार तथा अंडमान छोटे टापू हैं, परन्तु इनकी जन-जातियाँ अंडमानी, जारवा, निकोबारी, सेंटीनेली, ओंग तथा शोंपन संख्या में थोड़ी हैं, परन्तु मानव-शास्त्र के अध्ययन के लिए महत्त्वपूर्ण हैं। अभी तक अंडमान तथा निकोबार की इन जातियों की गणना जन-जातियों में नहीं थी, परन्तु १९५५ के 'पिछड़ी जातियों के आयोग' (Backward Classes Commission) की रिपोर्ट के अनुसार इनकी जन-जातियों में गणना की सिफ़ारिश की गई है।

(ख) भारत की जन-जातियों की संस्कृति पर भौगोलिक-प्रभाव—किसी जन-जाति की संस्कृति का आधार क्या है—इस विषय में दो विचार पाये जाते हैं। एक विचार तो यह है कि प्रत्येक जन-जाति की संस्कृति उसकी नस्ल या वंश-परम्परा के ऊपर आश्रित है। हम पहले देख आये हैं कि नस्ल पर किसी बात का आश्रित होना आज की विकसित विचार-धारा में ठीक नहीं माना जाता। दूसरा विचार यह है कि प्रत्येक जन-जाति की संस्कृति, आर्थिक-व्यवस्था, धर्म-कर्म—सभी-कुछ उसके भौगोलिक-पर्यावरण पर आश्रित हैं। वर्त्तमान-युग में इसी बात को ठीक माना जाता है। मानव-शास्त्रियों ने भारत की भिन्न-भिन्न जन-जातियों का जो सर्वेक्षण किया है उससे वे इसी परिणाम पर पहुँचे हैं कि जन-जातियों की भौगोलिक-स्थिति का, उनके प्राकृतिक-पर्यावरण का उनकी संस्थाओं, अर्थ-व्यवस्थाओं, उनके मानसिक-विकास, उनके रहन-सहन पर प्रभाव पड़ता है। जिस प्रकार के भौगोलिक-पर्यावरण में वे रहती हैं उसी के अनुरूप, उसी से मेल खाता हुआ उनके जीवन का विकास हो जाता है। इसके कुछ उदाहरण हम यहाँ दे रहे हैं:—

(i) खरिया जन-जाति—यह जन-जाति मयूरभंज, सिंहभूम तथा मानभूम की पहाड़ियों में बसी हुई है। पहाड़ी इलाका होने के कारण इनके प्रदेश में खेती नहीं हो सकती, जंगलों तथा पहाड़ों में फल-मूल-कन्द होते हैं। इस भौगोलिक-परिस्थिति का यह परिणाम है कि खरिया लोग खेती नहीं करते, जंगलों तथा पहाड़ों में फल-मूल चुगते हैं, पशु-पक्षियों का शिकार करते हैं, शहद इकट्ठा कर लाते हैं, या जंगल से ऐसी वस्तुएँ बटोर लाते हैं जिन्हें ये बाजारों में बेच सकें। जिन प्रदेशों में ये लोग रहते हैं, उनमें बाँस अधिक पाया जाता है, लोहे की कच्ची धातु भी

मिलती है। बाँस अधिक होने के कारण ये लोग बांस के उपकरण बनाते हैं, उसकी टोकरियाँ तथा बैठने-उठने का सामान बनाते हैं; कच्चा लोहा अधिक पाय जाने के कारण लोहे के बर्त्तन आदि बनाते हैं। इनकी बस्तियों का आकार भी भौगोलिक-पर्यावरण के अनुसार बदलता जाता है। पहाड़ी खरिया लोग पाँच-सात परिवारों का समूह बनाकर रहते हैं, सौ गज़ के आस-पास की भूमि में छोटा-सा समूह बना कर रहते हैं, ऊबड़-खाबड़ पहाड़ी भूमि होने के कारण अधिक विस्तृत भूमि में ये लोग रह ही नहीं सकते, परन्तु इनसे अधिक उन्नत खरिया, जिन्हें ढेलकी खरिया कहा जाता है, वे विस्तृत क्षेत्रों में गाँवों में रहते हैं, उनके समूह में अधिक परिवार होते हैं, तराई में रहने के कारण उनके पास निवास-योग्य भूमि अधिक होती है, वे अपने गाँवों में निकुंज, नृत्य-शाला तथा श्मशान-भूमि आदि सब-कुछ बनाते हैं। खरिया जन-जाति का जीवन उनके पर्यावरण का परिणाम है।

(ii) कूकी जन-जाति—असम में कर्णफूली तथा कोलादीन नदियों के बीच में कूकी जन-जाति का निवास है। जिन जंगलों में ये लोग रहते हैं उनमें जगह-जगह बाँस दिखाई देते हैं। इस भौगोलिक-पर्यावरण का यह परिणाम है कि इनके जीवन में बाँस का बहुत अधिक महत्त्व है। बाँस के जंगलों में ये लोग देवता का निवास मानते हैं, उन्हें पवित्र समझते हैं। बाँस ही इनकी संस्कृति का आधार-स्तम्भ है। ये लोग अपनी रोज़मर्रा की आवश्यकताओं को बाँस से पूरा करते हैं, यहाँ तक कि खाने में भी ये लोग चावलों के साथ बाँस की कोंपलों को उबाल कर खाते हैं। इस जन-जाति का व्यवसाय अधिकतर बाँस पर आश्रित है। ये लोग बाँस की टोकरियाँ, चटाइयाँ, जाल, खड्डी, हुक्के की नली—सब बाँस की बनाते हैं।

(iii) कोरवा जन-जाति—उत्तर-प्रदेश के मिर्ज़ापुर ज़िले के दूधी परगने में कोरवा जन-जाति का निवास है। यहाँ की जल-वायु सूखी है, भूमि पथरीली है, पानी कहीं देखने को मुश्किल से मिलता है। ऐसी भूमि तथा ऐसी जल-वायु में कृषि कैसे की जा सकती है। इस भौगोलिक-पर्यावरण का यह प्रभाव है कि इन लोगों की आर्थिक-व्यवस्था, इनकी संस्कृति, इनका रहन-सहन, इनका सब-कुछ इस सूखी परिस्थिति से प्रभावित हो गया है। ये लोग खेती न करके जंगल से फल-मूल-कन्द बटोर लाते या खोद लाते हैं। कठोर प्रकृति में रहने के कारण इनका जीवन भी कठोर तथा संघर्षमय हो गया है। पेट भरने के लिए ये लोग दिन-रात परिश्रम करते हैं। क्योंकि इनका तथा इनकी तरह अन्य जन-जातियों का निवास पहाड़ों, जंगलों तथा घाटियों में है इसलिए ये लोग सभ्यता के सम्पर्क में नहीं आते, और सभ्यता के सम्पर्क में न आने के कारण इनमें किसी प्रकार का सामाजिक-विकास नहीं होने पाता, ये वैसे-के-वैसे दकियानूसी बने हुए हैं।

४. भारत की जन-जातियाँ

'भारतीय-संविधान' के अनुच्छेद ३४२, खंड १ में लिखा है—"राष्ट्रपति सार्वजनिक सूचना द्वारा जन-जातियों, जन-जाति समुदायों, या जन-जाति समुदाय

के भीतरी समूहों की घोषणा करेंगे। इस सूचना में जो जन-जातियाँ, जन-जाति-समुदाय या जन-जातियों के भीतरी समूह परिगणित किये जायेंगे, वे सब 'अनुसूचित जन-जाति' (Scheduled Tribes) कहलायेंगे।"[1]

संविधान के उक्त अनुच्छेद के अनुसार राष्ट्रपति ने 'अनुसूचित जन-जाति आदेश १९५०–५१' (Scheduled Tribes Order 1950-51) प्रसारित किया जिसके अनुसार १४ राज्यों तथा ६ संघ-संरक्षित-राज्यों में अनुसूचित जन-जाति के लोगों की संख्या १,९१,४७,०५४ लाख थी। १९५१ की जन-गणना के अनुसार भारत की जनसंख्या ३६,११,५१,६६९ है। इस हिसाब से भारत की कुल जन-संख्या में अनुसूचित जन-जाति के लोगों का अनुपात १९५१ की जन-गणना के अनुसार ५.३० प्रतिशत था।

परन्तु क्योंकि पिछड़ी हुई जातियों तथा जन-जातियों का परिगणन इसलिए किया गया था ताकि इनकी सामाजिक, आर्थिक, शिक्षा, एवं स्वास्थ्य सम्बन्धी दशा में सुधार किया जाय, इनके ऊपर इनकी दशा सुधारने के लिए रुपया खर्च किया जाय, इसलिए अनेक पिछड़े वर्गों ने जिनका उक्त गणना में नाम नहीं था, कहना शुरू किया कि उन्हें भी इन अनुसूचित जातियों तथा जन-जातियों में गिना जाना चाहिए।

भारतीय-संविधान में इस बात की पहले ही कल्पना कर ली गई थी। संविधान के अनुच्छेद ३४० में लिखा है—"राष्ट्रपति अपनी आज्ञा से पिछड़े वर्ग के लोगों की सामाजिक तथा शिक्षा-सम्बन्धी हीन-दशाओं का पता लगाने के लिए एक आयोग की रचना कर सकेंगे, जिसकी रिपोर्ट पार्लियामेंट के सम्मुख रखी जायगी।"[2]

संविधान के उक्त अनुच्छेद के अनुसार २९ जनवरी १९५३ को राष्ट्रपति ने एक आयोग बनाये जाने की आज्ञा प्रसारित की जिसके अध्यक्ष श्री काका

1. 342 (1) "The President may, by public notification, specify the tribes or tribal communities or parts of or groups within tribes or tribal communities which shall for the purposes of this Constitution be deemed to be Scheduled Tribes."

—*Constitution of India.*

2. 340 (1) "The President may by order appoint a Commission consisting of such persons as he thinks fit to investigate the conditions of socially and educationally backward classes within the territory of India and the difficulties under which they labour and to make recommendations as to the steps that should be taken by Union or any State to remove such difficulties and to improve their condition......and the order appointing such Commission shall define the procedure to be followed by the Commission." —*Constitution of India.*

कालेलकर थे। इस कमीशन ने ३१ मार्च, १९५५ को अपनी रिपोर्ट राष्ट्रपति के सम्मुख उपस्थित की। इस रिपोर्ट के आधार पर १९५०–५१ की अनुसूचित जातियों की संख्या में संशोधन किया गया और पार्लियामेंट ने 'संशोधित अनुसूचित जन-जाति आदेश–१९५६' (Scheduled Tribes Order—Amendment



कामेंग की ग्राका जन-जाति की कन्या

Act, 1956) स्वीकार किया। इस नवीन संशोधन के अनुसार अब 'अनुसूचित जन-जातियों' के व्यक्तियों की संख्या २,२५,११,८५४ हो गई है, और भारत की सम्पूर्ण जन-संख्या के अनुपात में जन-जाति के लोगों की संख्या ५.३० प्रतिशत की जगह ६.२३ प्रतिशत हो गई है।[1]

काका कालेलकर के 'पिछड़ी जातियों के आयोग' (Backward Classes Commission) ने 'अनुसूचित जातियों' (Scheduled Castes) तथा 'अनुसूचित जन-जातियों' (Scheduled Tribes)—इन दोनों की सूची तैयार की है, परन्तु क्योंकि जैसा हम पहले लिख चुके हैं, मानव-शास्त्र में हमारा क्षेत्र जन-जातियों तक ही सीमित है, इसलिए उक्त कमीशन की रिपोर्ट में भिन्न-भिन्न प्रान्तों में जो 'अनुसूचित जन-जातियाँ' दी गई हैं, जिनमें से कुछ १९५०-५१ के आदेश में गिनाई गई हैं और कुछ की सिफ़ारिश कमीशन ने की है, उनकी सूची हम नीचे दे रहे हैं :—

(१) अजमेर—भील, भील मीणा।

(२) अंडमान तथा निकोबार—अंडमानी, जारवा, निकोबारी, सेंटीनेली, ओंग, शोंपन।

(३) आन्ध्र—बगेट, चेंचु, गांडब, जटपा, कुम्मेर, कोटिय, बेंतो, ओरिय, बार्तिक, धूल्ला या दलिय, होल्वा, पेक पुटिया, सरोना, सिधोपेंको होल्वा, कोंड दोर, कोंड कापु, कोंड रेड्डी, कोय, देसाय, कार्द्ध, दोंगिर कोंड, कुट्टिय कोढु, तिकिरिय कोड, योनिट कोड या गोंड राज या राश कोय, लिंगधारी कोय, कोट्टु कोय, कट्टु-नागकन, कोढु, दोसयि कोढु, डोंग्र कोढु, कुट्टिय कोढु, तिकिरिय कोढु, येनिट कोढु, मुनदोर, नुकदोर, मुखदोर, पोर्ज, रेड्डिदोर, सवर कापु, सवर मालिय, सवर खुट्टु, सवर, (यरुकुला, यनादि, सुगाली, लंबाड़ी, वाल्मीकि—ये आयोग की सिफ़ारिश के अनुसार)।

(४) असम—डिमासा (कचारी), गारो, हाजंग, खासी और जयन्तीया, कुकि-जनजातियाँ जिनकी अवान्तर जन-जातियाँ ३५ के लगभग हैं, लखेर, लुशाई (मेज़ो), मिकिर, नागा, सिन्टेंग, आबर, आका, आपाटनी, डफला, गालंग, खामटि, मिछमि, नागा, सिंफो, मम्बा, शरडुकपेन, बड़ी-बड़ोकचारी, देउरी, होजाई, कचारी, लालंग, मेच, मिरि, राभा, (चकमा, म्हार, मान, पावी तथा अन्य ४७ जन-जातियाँ आयोग की सिफ़ारिश के अनुसार)।

(५) भोपाल—भील, गोंड, कीर, कोरकू, मोगिया, पारधी, सहरिया या सोइया या सौर, (भिलाला, कोल—ये आयोग की सिफ़ारिश के अनुसार)।

(६) बिहार—असुर, बंगा, बठुदी, बेदिया, बिझिआ, बिरहोर, बिरजिआ, चेरो, चिक बराइक, गोंड, गोराइत, हो, करमाली, खरिआ, खरवार, खोंड, किसान,

1. Report of the Commissioner for Scheduled Castes and Tribes, 1956-57, Part II, P. 15.

कोड, कोरवा, लोहार, माहली, माल पहरिया, मुण्डा, उराँव, परहैया, सन्थाल, सोरिया पहाड़िया, सावर, भूमिज (अगडिया, बनजारा, भूइहर, धनवर, कावर, कुमारभाग पहाड़िया, पहिरा, प्रधान, तमरिया, थारू तथा इनके अलावा २२ अन्य जन-जातियाँ आयोग की सिफ़ारिश के अनुसार)।

(७) बम्बई—बर्डा, बावचा, भील (भगालिया, भीलगरासिया, धोली भील, डुंगरी भील, डुंगरी गरासिया, मेवासी भील, रावल भील, तडवी भील), चोधरा, धाणका, धोड़िया, दुबला, गामित या गामटा, गोंड, काथोड़ी या कातकरी, कोंकणा, कोली ढोर, कोली महादेव, मावची, नायकड़ा या नायक, पारधी (अड़वीचिंचर, फाँसे पारधी), पटेलिया, पोमला, पावरा, राथवा, ठाकुर, वलवाई, वारली, वसावा, (चौधरी, कोंकणा, कुकणा, कोकणी, कोकणी कुणबी, कुणबी, तड़वी, तलाविया—ये आयोग की सिफ़ारिश के अनुसार)।

(८) कुर्ग—कोरम, कुडिय, कुरूवा, मराठा, मेडा, यरवा।

(९) दिल्ली—इस प्रदेश में कोई जन-जाति नहीं।

(१०) हिमाचल प्रदेश—तिब्बतन, (गद्दी, गूज्जर, जाड, लम्बा, खम्पा, कनोरा या कन्नर, लाहौला, पंगवाल—आयोग की सिफ़ारिश के अनुसार)।

(११) हैदराबाद—अन्ध, भील, चेंचु या चेंचुवार, गोंड (नायकपोड, राज गोंड), पहाड़ी रेड्डी, कोलम (मुन्नूर वालू), कोया (राज कोया, भिने कोया), प्रधान, थोटी, (बडेर या बेडा, घिसाडी या लोहार, कोली, लम्बाडा या बंजारा या लमाण या लमाणी या माथुरा बनजारा, यनादी, यरूकला—ये आयोग की सिफ़ारिश के अनुसार)।

(१२) कच्छ—भील, कोली, पारधी, वाघरी, धोडिया।

(१३) मद्रास—अरन्दन, बगत, भोत्तदास-बोडो भोत्तद या मुरिया भोत्तद और सनो भोत्तद, भूमिआ, भूरि भूमिया और बोडो भूमिआ, चेंचु, गडब-बोड गड़ब या सेरल्लम गडब या फ्रंजी गडब या जोडिया गडब या ओलारो गडब या पंगी गडब और प्रंग गडब, गोंडी-मोद्या गोंड और राजो गोंड, गौडस-बातो, भोरिथ्या बुधोकौरिया, हातो, जतको, जोरिया, कोसल्य गौडस-बोसोथोरिया गौडस, चित्ति गौडस, डंगायथ गौडस, डोड्डु कमरिया, डोड्डु कमरो, लदिय गौडस, पुल्लोसोरिय गौडस, मगध गौडस-बरनिया गौडु, बूदो मगध, डोंगयथ गौडु, लड्य गौडु, पोन्न मगध, सन मगध, होल्वा, जबपस, जतपस, कम्मार, कत्तुनायकन, खत्तिस-खत्ती, कोमराओ, लोहार, कोडु, कोम्मार, कोंड धोरास, कोंड कपुस, कोंड रिड्डिस, कौंध्स-दसय कौंध्स, डोंगरिया कौंध्स, कुट्टिय कौंध्स, टिकिरिया कौंध्स, येनिटी कौंध्स, कोटा, कोटिया-बरतिका, बेन्थो उरिया, धूलिया दूलिया, होल्वा पंको, पुतिय, सनरोना, सिद्धो पंको, कोया या गौड (राज या राश कोया, लिंगधारी कोया, कोट्टु कोया), कुडिय, कुरुमनस, मन्न धोरा, मौने, मुख धोर-नूक धोरा, मुरिया, पैंगरपु, पलासी, पनियन, पोरजस-बोडो बोन्दा, दारुव, डिडुआ, जोरिया, मुंडिली, पेंगु, पाइदी, सलिया, रेड्डि धोरास, सवरस कपु सवरस, शोलग, टोडा, (कनियन,

मलियाली, मराटी, मलयेकुडी, येरुकुलास, बड़गा, येनादीस, काडर, आदियान, कुरीचन्स, पल्लियान, सुगली, काडु, कुरंगन—ये आयोग की सिफ़ारिश के अनुसार)।

(१४) मध्य-भारत—गोंड, कोर्कु, सहरिया, भील, (बरेला, खारवं, मनकर, निहाल, पाटलिया, तड़वी—ये आयोग की सिफ़ारिश के अनुसार)।

(१५) मध्य-प्रदेश—आंध, बैगा, भैना, भारिया-भूमिया या भूईआर-भूमिया, भतरा, भील, भूँजिया, बिंझवार, बिरहुल या बिरहोर, धनवार, गदाबा या गदबा, गोंड (माडिया, मारिया, मुडिया, मुरिया), हलवा, कमार, कवर या कंवर, खरिया, कोंध या खोंड या कांध, कोल, कोलम, कोरकू, कोरवा, मझवार, मुंडा, नगेसिया या नगासिया, निहाल, उरांव, परधान, पारधी, परजा, साओंता या सोंता, संवर या संवरा, (धुवन, दोनला, झोरिया, खैरवार, कोइतन, पनका, भिल्लाल, भील-कोटील, भील-तड़वी, नायकर, नायकड़ा-भील, पांडो, कोया, मन्नेवार, डोरला, माना, बायसन हार्नमाडिया, धाणका, बहेलिया, चिता पारधी, लंगोली पारधी, फाँस पारधी, शिकारी टाकनकर आदि आयोग की सिफ़ारिश के अनुसार)।

(१६) मणिपुर—कुकी, लुशाई, नागा, (ऐमोल, अनल, अंगामी, चीरु, चौथ, गंगते, ह्मार, काबु, कचा नागा, खोइराओ, कोइरेंग, कोम, कुकी, लमगंग, लुशाई, मराम, मरिंग, माओ, नागा, पैती, पुरुम, रलते, सेमा, सुकते, तंगखुल, थाडोउ, वैफुई—ये आयोग की सिफ़ारिश के अनुसार)।

(१७) मैसूर—हसलारु, इरुलिगा, जेनु कुरुबा, कडु कुरुबा, मालेरु, सोलीगरु। बेलारी ज़िले में वह सारी-की-सारी लिस्ट आ जाती है जो मद्रास में अरनन्दन से शुरू करके तोडा तक हम ऊपर दे आये हैं। उस सारी लिस्ट को दोबारा देना बेकार है। (गौडलु, मलैकुडी—ये दो जन-जातियाँ आयोग ने अपनी सिफ़ारिश से और बढ़ाई हैं)।

(१८) उड़ीसा—बागता, बैगा, बनजारा या बनजारी, बांथुड़ी, भुइया, या भूयाँ, बिंझल, बिंझिया या बिंझोआ, बिरहोर, बन्दोपरजा, चेंचु, दल, गादबा, घारा, गंड, गोरेत या कोरेत, हो, जटापु, जुआँग, कावार, खरिआ या खरिआँ, करवार, कोन्ध या कंध या नगुली कंध या सीथ कंध, किसान, कोल्ह कोल, लोहार, कोल्ह, कोली, कोन्द दोरा, कोरा, कोरुआ, कोया, कुलीस, माहाली, मांकिडी, माकिरडिआ, मिरधा, मुंडा (मुंडा लौहार और मुंडा माहाली), मुंडारी, ओरंग, परजा, सांताल, सौरा, थारुआ, (भूमिआ, भूमिज, भुंजिआ, देसुआ भूमिज के अतिरिक्त २१ और जन-जातियाँ आयोग की सिफ़ारिश के अनुसार उड़ीसा की जन-जातियों में परिगणित की गई हैं।)

(१९) पेप्सु—इस प्रदेश में कोई जन-जाति परिगणना में नहीं है।

(२०) पंजाब का कांगड़ा ज़िला—तिब्बतन, (गद्दी, जाड़ या कनौर—ये आयोग की सिफ़ारिश के अनुसार)।

(२१) राजस्थान—भील, (भील, भीलमीणा, डमोर या डमरिया,

गरासिया, सेहरिया या सहरिया तथा अलवर, भरतपुर, बूंदी, उदयपुर में मीणा—आयोग की सिफ़ारिश के अनुसार)।

(२२) सौराष्ट्र—आडोडिया, डफ़ेर, घंटोया, मीयाणा, सिंधी, वेड़वा वाघरी, (चारण, पढार, रबारी या भरवाड़, सिन्धी—आयोग की सिफ़ारिश के अनुसार)।

(२३) ट्रावन्कोर-कोचीन—हिल पुलयन, कादर, कणीकरन, कोचुवेलन, मलैअरेयन, मलैपंडारम, मलै वेडन्, मलयन, मलअरियर, मन्नान, मुतुवान, पल्लैयन, पल्लियर, उल्लाडन, उराली, विषवन, (कन्निकर, एरवल्लन, इरुलन, मलकुरवन—आयोग की सिफ़ारिश के अनुसार)।

(२४) त्रिपुरा—लुशाई, मग, कुकी, चकमा, गारु, चैमल, हलम, खासिया, भूटिया, मुण्डा (कौर), ओरंग, लेपचा, सन्ताल, भील, त्रिपुरा, जमातिया, नोएटिया, रायंग, (बालते, बनखल, बेलालहुत, छाल्या, फन, हजन्गो, जगतेई, खरेंग, खेपहोंग, कुंतेई, लेईफ़ंग, लेनतेई, मिज़ेल, नमते, पाइतु, रंगचान, रगखोले, थनग्लुय, उचई—ये आयोग की सिफ़ारिश के अनुसार)।

(२५) उत्तर-प्रदेश—आयोग ने भील (भोपा), भोक्सा, भूईया, भूटिया (खानपा, मार्छा, तोलछा, जाड), बोरा, चेरू, गोंड (धुरिया, नायक, ओझा), जौनसारी, खारवार, कोल, कोरवा (कोर्कु), राजी (बनमानुस) तथा थारू—इनको उत्तर-प्रदेश की जन-जातियों में गिने जाने की सिफ़ारिश की है।

(२६) विन्ध्य-प्रदेश—आगरिया, बेगा, बेदिया, भील, भूमिया, बयार, गोंड, कमार, खैरवार, माझी, मवासी, पनिका, पाव, सोंड, (भरिया, कन्दर, कोल, पलिहा, पथारी, सवर—आयोग की सिफ़ारिश के अनुसार)।

(२७) पश्चिमी बंगाल—भूटिया, लेपचा, मेच, मरू, मुंडा, उराऊँ, सन्ताल (भूमिज, चकमा, गारू, हाजंग, हो, खादिया, कोड़ा, कुकि, लोधा, खेड़िया, लुशाई मघ, माहली, मालपहाड़िया, नगिसिया, राभा, शेरपा, टोटो—ये आयोग की सिफ़ारिश के अनुसार)।[1]

जन-जातियों का जो परिगणन हमने दिया है इसमें सफ़ेद टाइप में जो जन-जातियाँ दी गई हैं, वे महत्त्वपूर्ण हैं क्योंकि उनमें से अनेकों के सम्बन्ध में अनेक लेखकों ने अपने संस्मरण लिखे हैं। इन महत्त्वपूर्ण जन-जातियों में से कुछ के ऊपर हम थोड़ा-थोड़ा प्रकाश डालेंगे ताकि इनके जीवन की थोड़ी-बहुत झाँकी मिल सके।

५. भारत की कुछ मुख्य-मुख्य जन-जातियाँ

(१) असम के नागा—नागा का अर्थ आसामी भाषा में पहाड़ है। संस्कृत में नग का अर्थ पहाड़ है—'न गच्छति इति नगः'—जो चलता-फिरता नहीं। 'नग' से 'नागा' शब्द बना है। गवर्नमेंट ऑफ़ इण्डिया एक्ट-१९३५ के अनुसार

1. Report of Backward Classes Commission 1955, Vol. II.

भारत में कुछ क्षेत्र ऐसे थे जिन्हें 'बाह्य-प्रदेश' (Excluded areas) कहा गया था। 'बाह्य-प्रदेश' इन्हें इसलिए कहा गया था क्योंकि इनका शासन विधान-सभा के आधीन न होकर सीधा राज्यपाल के आधीन रखा गया था। असम की नागा पहाड़ियों के प्रदेश इसी प्रकार के 'बाह्य-प्रदेश' थे और इन्हें 'नागा-पहाड़ी-प्रदेश' (Naga Hills District) कहा गया। इसी प्रकार असम की उत्तर-पूर्वी सीमाओं को जहाँ नागा जन-जातियों का निवास था 'नागा जन-जाति-प्रदेश' (Naga Tribal areas) कहा गया था और ये प्रदेश शासन-व्यवस्था में सीधे भारत-सरकार के आधीन थे। 'नागा-पहाड़ी-प्रदेश' तथा 'नागा-जन-जाति



नेफ़ा के डफ़ला लोग

प्रदेश'—दोनों में नागा लोगों का निवास है। इनकी अनेक उप-जातियाँ हैं, जो अंगामी, सेमा, लहोटा, कोनयक, रंगमा, आओ—इन नामों से प्रसिद्ध हैं। ये लोग 'मंगोल-नस्ल' (Mongoloid) के हैं और तिब्बतो-बर्मन भाषा बोलते हैं। नागा जन-जातियों की अवान्तर जातियों की भाषा में इतना भारी भेद है कि आपस में ये लोग अपनी भाषा में बात नहीं कर सकते। इनके लिए इन्हें असमी या हिन्दी में बोलना पड़ता है। इनकी जितनी उप-जातियाँ हैं उतनी ही इनकी बोलियाँ हैं। इनकी उप-जन-जातियों की भाषा में इतना भेद है कि भिन्न-भिन्न वर्गों के नागा एक-दूसरे की बात नहीं समझ सकते। डा० हट्टन (Hutton)

में सात नागाओं का मनोरंजक किस्सा लिखा है। एक सन्ध्या-काल ये सातों नागा अपने भिन्न-भिन्न गाँवों से आ रहे थे, सड़क के एक किनारे आकर बैठ गये। सातों भिन्न-भिन्न वर्गों के थे, कोई किसी की बात नहीं समझ सकता था। वे एक-दूसरे से पूछने लगे कि चावल के साथ खाने को दूसरे के पास क्या है? हर-एक ने नया ही नाम लिया। किसी ने कहा आतुशेह, किसी ने ग्वोमिशि मुगिशी, किसी ने अमूसा, किसी ने अखेत्रे नाम लिया। जब कोई किसी की बात न समझा, तो सब ने अपनी चीज़ को खोल कर दिखलाया। सब के पास लाल-मिर्च थी। अलग-अलग भाषा के अतिरिक्त प्रत्येक उप-जाति का अपना भू-क्षेत्र निश्चित है और उसमें वे दूसरी नागा उप-ज़ाति को नहीं आने देते। इनमें कई सिर के एक तरफ़, कई सिर के पीछे चोटी रखते हैं। इन उप-जातियों का आपस में सदा द्वन्द्व-युद्ध चला करता है, एक ही उप-जाति में भी एक गाँव का दूसरे गाँव से झगड़ा रहता है। शत्रुता की भावना पिता से पुत्र और पुत्र से पौत्र तक चलती है। इनम से कई लोग तो अपने गाँव की सीमा से बाहर भी नहीं गये। इनमें शत्रु का सिर काट लाने (Head hunting) की अद्भुत प्रथा है। जो व्यक्ति शत्रु का सिर काट लाते हैं, उन्हीं को अपने शरीर को अलंकृत करने का अधिकार होता है। इनमें से सेमा तथा कोनयक उपजातियाँ तो सिर का शिकार करने के लिए प्रसिद्ध हैं। नागाओं में अंगामी नागाओं की संख्या सब से अधिक है और ये लोग कोहीमा की पहाड़ियों के आस-पास रहते हैं। अंगामी नागा युद्ध-प्रेमी होते हैं और नागाओं की दूसरी उप-जातियाँ इनसे भयभीत रहती हैं। इन अंगामी नागाओं में शिक्षा का भी कुछ प्रचार हो चला है और इन्हीं के विद्रोह के कारण 'नागा नेशनल कौंसिल' का निर्माण किया गया है। इन शिक्षित नागाओं का नेता ज़ेफ़ो फ़िज़ो है जो नागाओं के एक स्वतंत्र प्रदेश की माँग कर रहा है। ब्रिटिश शासनकाल में जो अफ़सर नागाओं के प्रदेशों में शासन कर रहे थे वे नागाओं के सम्पर्क में आने के बाद मानव-शास्त्र में रुचि लेने लगे। उनकी धीरे-धीरे यह सम्मति बन गई कि नागा-प्रदेशों को भारत से अलग रखना चाहिए क्योंकि सभ्य संसार के सम्पर्क में आने के बाद इन लोगों की अपनी संस्कृति नष्ट-प्राय हो जाती है। ये लोग काठ के या काँच तथा कौड़ियों के बने आभूषण बड़े चाव से पहनते हैं, पेड़ के पत्तों से शरीर को ढकते हैं। एक ही ग्राम में गोत्र-सम्बन्ध द्वारा सभी नागा आपस में रिश्तेदारी में बँधे होते हैं। कृषि करने का नागाओं का ही नहीं, प्रायः सभी पहाड़ों पर रहने वाली आदिम-जातियों का ढंग ऐसा रहा है जिससे ज़मीन का नुकसान ज़्यादा होता है। पहले ये पहाड़ी के वृक्ष या बाँस काट डालते हैं, इस प्रकार साफ़ किये जंगल में आग लगा देते हैं, और बीज को राख में बखेर देते हैं। पहले साल-दो-साल अच्छी उपज होती है, बाद को ज़मीन की उपजाऊ शक्ति नष्ट हो जाती है, वृक्षों के न रहने से बरसात में ज़मीन का बहुत-सा हिस्सा बह जाता है। एक जगह खेती करने के बाद फिर वे दूसरी जगह चुन लेते हैं, और इस प्रकार साल-दो-साल में जगह बदलते रहते हैं। खेती को इस प्रकार बदल-बदल कर करने को असम तथा त्रिपुरा में 'झूम', मध्य-

प्रदेश में 'बेवार', 'दाहिया' या 'पेंडा', आन्ध्र में 'पोडु', उत्तरी उड़ीसा में 'राम', 'दहि', 'कोमन' या 'बिंग' एवं अंग्रेजी में 'कृषि-स्थान-परिवर्त्तन' या 'स्थान-परिवर्त्ती-कृषि' (Shifting cultivation) कहते हैं। खेती का यह ढंग जमीन को खराब कर देता है, इसलिए अब कोशिश की जा रही है कि ये जन-जातियाँ खेती करने के नवीन उपायों को सीखें।

(२) असम के खासी—खासी लोग 'मातृ-सत्ताक' (Matri-archal) हैं, अर्थात् इनमें पिता की प्रधानता के स्थान में परिवार में माता की प्रधानता होती है। इनके समाज के चार विभाग हैं—शाही खानदान जिसे 'की सीएम' कहते हैं, पुरोहित खानदान जिसे 'की लिंगोह' कहते हैं, मन्त्रियों का खानदान तथा सामान्य खानदान—इस प्रकार इनमें चार 'खानदान' या 'गोत्र' (Clan) माने जाते हैं। इन चारों की सामाजिक-स्थिति एक-दूसरे के बाद आती है। शाही के बाद पुरोहित, पुरोहित के बाद मंत्री और मंत्री के बाद सामान्य लोग समझे जाते हैं। इस सामाजिक-भेद के होते हुए भी विवाह-बन्धन में कोई प्रतिबन्ध नहीं है। किसी खानदान का व्यक्ति किसी भी खानदान में शादी-ब्याह कर सकता है। खासी लोग जैनतिया तथा खासी पहाड़ियों एवं शिलांग में रहते हैं। पहाड़ी ढलावों को ये लोग इस प्रकार काटते हैं कि वे समतल हो जाते हैं। एक समतल ढलाव दूसरे से नीचा होता है, और इस प्रकार पानी ऊपर से नीचे हर ढलाव को सींचता चला जाता है। इस प्रकार मील-मील तक ये ढलावों को सींच लेते हैं। हाल में खासियों के इलाके में आलू की खेती शुरू की गई है जिससे उनकी आर्थिक-व्यवस्था को बहुत लाभ पहुँचा है। इस प्रदेश में वर्षा बहुत होती है, ४०० इंच तक हो जाती है। यहाँ खेती करने का अपना ढंग है जिसे 'झूम' कहते हैं। नागाओं का वर्णन करते हुए हम खेती की इस प्रथा का उल्लेख कर आये हैं। जंगल को जला कर उसकी राख में ये लोग बीज बखेर देते हैं। पहले दो-तीन साल अच्छी खेती होती है, बाद को जमीन की उर्वरा-शक्ति कम होने पर उस जगह को छोड़ कर दूसरी जगह खेती करने लगते हैं। खाली पड़ी यह जमीन वर्षा में कट कर बहने लगती है जिससे जमीन को बहुत नुकसान पहुँचता है। इस दोष को दूर करने के लिए अनेक उपाय हमारी सरकार बरत रही है। गृह-निर्माण में लकड़ी, पत्थर, बाँस, स्लेट, पत्ते आदि काम में लाये जाते हैं। पहले मकान की दीवार चारों तरफ़ से पत्थर की बनाने तथा मकान में कीलों का उपयोग करने के प्रति इस जन-जाति के लोगों में 'वर्जित-भावना' (Taboo) मौजूद थी, परन्तु अब शनैः-शनैः यह भावना हटती जा रही है। खासियों में सब से छोटी लड़की की स्थिति बहुत महत्त्वपूर्ण है, क्योंकि परिवार की सम्पत्ति की वही रक्षक समझी जाती है, धार्मिक संस्कार भी वही करती है। इस प्रकार उत्तराधिकार में सम्पत्ति सबसे छोटी लड़की को मिलती है, और वह एक प्रकार से सारे परिवार की ट्रस्टी समझी जाती है। खासी लोग मृत-व्यक्ति का दाह-संस्कार करते हैं, परन्तु जो हैजा, चेचक आदि संक्रामक रोगों से मरते हैं, उन्हें जमीन में गाड़ दिया जाता है। खासियों की बहुत

बड़ी संख्या ने ईसाई धर्म स्वीकार कर लिया है और विजातियों के सम्पर्क के साथ-साथ उसकी कई नई-नई समस्याएँ भी उठ खड़ी हुई ह।

(३) नीलगिरि के टोडा—दक्षिण-भारत के उटकमंड पर्वत की यात्रा के लिए जो लोग गये हैं, उन्होंने वहाँ के किसी टोडा-गाँव को देखा हो, तो उन्हें विचित्र प्रकार का अनुभव हुआ होगा। टोडा लोगों का शरीर सुदृढ़ तथा गठा हुआ होता है, रोमन नाक, तेजस्वी आँखें, चमकते हुए दांत और घने बाल उनके शरीर की शोभा को बढ़ाते हैं। ये लोग बाल कटवाते या मुंड़वाते नहीं, पुरुषों की शानदार



टोडा जन-जाति की स्त्री

दाढ़ी-मूंछ लहराया करती ह, और स्त्रियां लम्बे-लम्बे बालों को बट कर जटाओं के रूप में उन्हें लटका लेती हैं। टोडाओं की वेश-भूषा भी अपने ढंग की निराली होती है। लम्बे सफ़ेद कपड़े के दोनों किनारों को बेल-बूटों से काढ़ कर वे पहनते हैं। इस

कपड़े को वे शरीर से लपेट-सा लेते हैं। स्त्रियों तथा पुरुषों के पहनावे में कोई भेद नहीं होता। स्त्रियाँ शरीर को गोदा लेती हैं, पीतल तथा चाँदी के आभूषण पहनती हैं।

नीलगिरि पर्वत के सुन्दर वनों में टोडा लोगों के गाँव होते हैं। इन गाँवों में ३–४ ही घर होते हैं। इन गाँवों को वे मुंड कहते हैं। इस मुंड में इनके छप्पर पड़े होते हैं। इनका व्यवसाय पशु-पालन है। ये खूब दूध पीते और घी खाते हैं। स्त्रियाँ बालों में भी घी मलती हैं। किसी समय नीलगिरि का सारा प्रदेश इनका था, परन्तु अब तो इन्हें भोजन के भी लाले पड़ रहे हैं।

टोडा लोगों में एक अद्भुत प्रथा है जिसके अनुसार एक स्त्री के अनेक पति होते हैं। इस प्रथा को 'बहुभर्तृता' (Polyandry) कहते हैं। यह प्रथा देहरादून के जौनसारी लोगों में भी पायी जाती है। कुछ साल पहले टोडा लोगों में आतशक तथा सुजाक ऐसा फैलने लगा कि यह आशंका हो चली थी कि ६०० के लगभग संख्या की यह टोडा जन-जाति कहीं खत्म ही न हो जाय। १९५१ में मद्रास सरकार के प्रयत्नों से ये बीमारियाँ काबू में आयीं और तब से इस जन-जाति की रक्षा की व्यवस्था सोची जाने लगी। फिर भी वर्त्तमान सभ्यता का टोडा लोगों पर प्रभाव पड़ रहा है, और जैसे अन्य जन-जातियाँ अपनी संस्कृति को छोड़ती जा रही हैं, वैसे टोडाओं का अस्तित्व भी ढलता चला जा रहा है।

(४) उत्तर-प्रदेश के भील—उत्तर-प्रदेश, मध्य-प्रदेश, भोपाल, बम्बई, हैदराबाद आदि अनेक स्थानों में भील फैले हुए हैं। इनका मुख्य व्यवसाय कृषि है, परन्तु शिकारी होने के कारण तीर-कमान साधने में भी ये कुशल-हस्त हैं। श्री रामचन्द्र जी ने भीलनी के दिये बेर खाये थे—ऐसा कथानक प्रसिद्ध है। द्रोणाचार्य से एक भील एकलव्य तीरंदाजी सीखना चाहता था, और उसने उनकी मूर्ति सामने रख कर विद्या का इतना अभ्यास कर लिया था कि उसके छोड़े हुए तीर निशाने को बींध कर वापस लौट आते थे—ऐसी बातें भी प्रसिद्ध हैं। भीलों का कद नाटा, रूखे बाल, लाल आँखें और उभरे हुए जबड़े होते हैं। इनके यहाँ विवाह की एक विचित्र प्रथा प्रचलित है। जो युवक अद्भुत साहस का परिचय देता है वह जिस लड़की से चाहे उससे विवाह कर सकता है। होली के त्योहार के समय एक बाँस गाड़ कर उसके या किसी वृक्ष के ऊपर नारियल या गुड़ टाँग दिया जाता है। इस बाँस या वृक्ष के चारों तरफ़ स्त्रियों का और स्त्रियों के चारों तरफ़ पुरुषों का घेरा लग जाता है। युवक लोग इन दोनों घेरों को चीर कर बाँस या वृक्ष पर टंगे नारियल या गुड़ को पाने का यत्न करते हैं। घेरे को पार करते समय स्त्रियाँ युवक के कपड़े फाड़ देती हैं, उसे झाड़ू से मारती हैं, उसे नोचती हैं, घेरे को तोड़ने नहीं देतीं। जो भी युवक चाहे इस बाँस या वृक्ष के चारों तरफ़ नाच-कूद सकता है। जो युवक इस घेरे को पार करके नारियल या गुड़ खाने के लिए पहुँच जाता है, वह इस घेरे वाली जिस-किसी लड़की से भी विवाह कर सकता है और उसी समय उसे पकड़ कर घर ले जा सकता है। आदिम-जातियों में इस बात का

सदा डर बना रहता है कि कोई बाहर का व्यक्ति उनके दायरे में प्रवेश न कर ले, इसलिए वे अपनी जन-जाति में ही विवाह करती हैं, और इसी लिए आदिम-जातियाँ 'अन्तर्विवाही' (Endogamous) पायी जाती हैं। भील भी अन्तर्विवाही हैं, फिर भी हिन्दुओं में प्रविष्ट होने के लिए इन्होंने अनेक स्थानों में अन्तर्विवाही प्रथा को तोड़ कर हिन्दुओं की निम्न-जातियों में शादी-ब्याह किया है। मुसलमान शासकों के विरुद्ध भीलों ने अपने राजाओं का साथ दिया था—इस दृष्टि से भी इस जन-जाति का भारत के इतिहास में काफ़ी महत्त्व है।

(५) बिहार के सन्थाल—भारत की जन-जातियों में सन्थाल लोगों की संख्या २० से ३० लाख तक है। बहुत ज्यादा जन-संख्या वाली जन-जातियों में इनकी गणना है। अधिकतर ये बिहार में पाये जाते हैं, परन्तु अब दूसरे प्रदेशों में भी फैलने लगे हैं। उत्तरी बंगाल में कृषिकार के रूप में, असम के चाय-बग़ीचों में कुलियों के रूप में, जूट तथा कपड़ों की मिलों में मजदूरों के रूप में ये काम करते हैं। इनके दो वर्ग पाये जाते हैं। एक वर्ग तो सभ्यता के सम्पर्क में आता जा रहा है, जो खेती, कुली, मजदूर के रूप में काम करने लगा है, दूसरा वर्ग सभ्यता के सम्पर्क में नहीं आया। इस वर्ग के लोग जंगलों में रहते हैं, अगर इकले में कहीं शहरों का कोई व्यक्ति उन्हें मिल जाय, तो वे भाग खड़े होते हैं, पेड़ों पर चढ़ जाते हैं, कीड़े-मकौड़े खाते हैं, नग्नप्राय रहते हैं। ऑस्ट्रिक-परिवार की एक उप-भाषा है जो एशिया में बोली जाती है। एशिया में बोली जाने के कारण इसे ऑस्ट्रो-एशियाई भाषा कहते हैं। इस भाषा-परिवार की अनेक भाषाओं में एक मुण्डा भाषा है। नागा लोग ऑस्ट्रिक-परिवार की ऑस्ट्रो-एशियाटिक इस मुण्डा भाषा को बोलतेहैं। अब धीरे-धीरे ये बहु-भाषी बनते चले जा रहे हैं। सन्थालों के समाज का संगठन 'टोटम' (Totem) के आधार पर बना हुआ है। 'टोटम' कोई ऐसा पशु, वृक्ष या अन्य कोई प्राकृतिक वस्तु होती ह, जो किसी उप-जन-जाति का प्रतीक होता है। जिनका एक 'टोटम' होता है, वे आपस में विवाह नहीं करते। सामाजिक-संगठन की दृष्टि से प्रत्येक गाँव का एक मुखिया होता है जो अपनी बिरादरी पर शासन करता है। बड़े गाँव में पंचायत की-सी व्यवस्था होती है। ये लोग अधिकतर खेती और शिकार से पेट भरते हैं। जंगलों को साफ़ करने में सन्थाल सिद्ध-हस्त होते हैं।

(६) कोचीन के कादर—'कादर'-शब्द का अर्थ ही है—'जंगल के वासी'। ये लोग शहरों के आस-पास न रहकर घने जंगलों में रहते हैं, सम्भवतः आदिम जन-जातियों में ये सबसे प्राचीन हैं। नस्ल की दृष्टि से इन्हें किसी शुद्ध नस्ल का नहीं कहा जा सकता। स्वभाव के सौम्य होते हैं, युद्ध के लिए उतावले नहीं रहते। जंगल में प्रायः फिरंदर जीवन व्यतीत करते हैं, कहीं-कहीं बाँसों की झोंपड़ियाँ बना कर भी रहते हैं, १५–२० झोंपड़ियों का एक गाँव होता है। ये लोग जंगली कन्द-मूल खोद कर अपना निर्वाह करते रहे हैं, परन्तु मांस-मछली के भी शौकीन हैं। जीवित या मृत रीछ या जंगली सांड का मांस नहीं छूते। शहद

का इन्हें बहुत शौक है और शहद इकट्ठा करने की मौसम का ये जी खोल कर आनन्द उठाते ह। विवाह युवावस्था में करते हैं। इनमें 'अन्तर्विवाह' बहुत कम होता है, 'बहिर्विवाह' की प्रथा अधिक प्रचलित है। भाई-बहिन के बच्चों में शादी हो सकती हैं। 'बहुभार्यता' (Polygyny) तथा 'बहुभर्तृता' (Polyandry) से ये लोग अपरिचित हैं। ये लोग एक-पत्नीव्रत (Monogamy) का पालन करने वाले हैं। जंगल से शहद, मोम, इलायची आदि छोटी-मोटी चीजें एकत्र कर लाते हैं। हाथी पकड़ने की कला में सिद्ध-हस्त होते हैं। सरकार की तरफ़ से इन्हें जंगली-ज़मीनों में खती करने की पूरी छूट है, उस पर कोई लगान नहीं लिया जाता, परन्तु जंगली जानवरों के भय के कारण ये जंगलों में खेती नहीं करते। उनका ख्याल है कि बड़े पैमाने पर खेती करना समय को नष्ट करना है। अपनी झोंपड़ी के आस-पास केले आदि के पेड़ लगा लेते हैं, और जो सब्ज़ियाँ रोज-मर्रा के काम आती हैं, उन्हें बो लेते हैं। अब सभ्यता के सम्पर्क में आने से उनमें आतशक आदि बीमारियाँ घर करने लगी हैं, और इनकी नस्ल का ह्रास होने लगा है।

(७) हैदराबाद के चेंचु—हैदराबाद के घने पहाड़ी प्रदेशों में जहाँ जंगली जानवरों की बहुतायत है, चेंचु जन-जाति के लोग रहते हैं। जिसे हम 'गाँव' कहते हैं, उसे ये 'पेंटा' कहते हैं। इस प्रकार के इनके ५३ पेंटा गत जन-गणना में बसे हुए थे, जिनमें से एक-एक में १२–१५ झोंपड़ियाँ थीं। कुछ वर्ग-मील के घेरे में ये बेरियाँ, कन्द-मूल और शहद एकत्रित करते हुए घूमते-फिरते हैं। इनके पास युद्ध के अस्त्र-शस्त्र नहीं होते, तीर-कमान ही इनका एकमात्र अस्त्र है। ये बड़े ईमानदार, दयालु तथा आतिथ्य करने वाले होते ह। कृषि से ये सर्वथा अनभिज्ञ हैं। अगर किसी चेंचु से कृषि के विषय में पूछा जाय, तो यही कहेगा कि वह खेती की कोई बात नहीं जानता। पशु-पालन से वे अभिज्ञ हैं। बकरियाँ और मुर्गियाँ पालते हैं, कुत्ते पालने का उन्हें शौक है। कन्द-मूल और जंगल के बेर खाकर वे पेट भर लेते हैं। महुए का आटा भी बना लेते हैं, और इसका पेय भी बना लेते हैं। पशुओं का मांस भी ये लोग खाते हैं। यह जन-जाति पाँच 'टोटमों' (Totems) में विभक्त है। एक 'टोटम' वाला दूसरे 'टोटम' वाले के साथ विवाह नहीं कर सकता, विवाह अपनी जन-जाति में तो होता ही है, परन्तु अपने 'टोटम' में नहीं होता। इसके अतिरिक्त विवाह ममेरे तथा फुफेरे भाई-बहिन में ही हो सकता है, अन्य किसी में नहीं। कुछ चेंचु अपने मुर्दों का दाह-संस्कार करते हैं, कुछ उन्हें ज़मीन में गाड़ देते हैं।

६. भारत की जरायमपेशा जन-जातियाँ

वैसे तो जन-जातियों की संख्या बहुत बड़ी है, सब पर लिखने के लिए एक अलग पुस्तक की आवश्यकता है, तो भी हमने असम के नागा तथा खासी, नीलगिरि केटोडा, उत्तर-प्रदेश के भील, बिहार के सन्थाल, कोचीन के कादर

तथा हैदराबाद के चेंचु—इनके विषय में कुछ लिखा है ताकि इन जन-जातियों के रहन-सहन, रीति-रिवाज के विषय में कुछ परिचय हो जाय।

इन जन-जातियों के अतिरिक्त भारत में कुछ ऐसी जन-जातियाँ हैं जो जरायम-पेशा (Criminal tribes) गिनी जाती हैं। हम जिन जन-जातियों का वर्णन कर आये हैं वे जरायम-पेशा नहीं हैं, परन्तु जन-जातियों के सम्बन्ध में जानकारी प्राप्त करते हुए हमें जरायम-पेशा जन-जातियों से भी परिचय प्राप्त कर लेना चाहिए।

भारत में कई जन-जातियाँ ऐसी रही हैं जिनका पेशा चोरी, डकैती, लूट-मार करना रहा है। ऐसी अपराधी जातियों को तीन भागों में बाँटा जा सकता है—(क) वे जन-जातियाँ जो शुरू-शुरू में अपराधी थीं, परन्तु जो अब कहीं बस गई हैं और ईमानदारी से आजीविका का उपार्जन करती हैं। इनमें से कुछ हिस्सा या कुछ व्यक्ति अभी तक किसी-न-किसी अपराध द्वारा ही आजीविका का निर्वाह करते हैं; (ख) एसी जन-जातियाँ जिनका निवास एक निश्चित स्थान पर है, जो जाहिरा तौर पर कोई धंधा भी करती हैं, परन्तु जिनका काम अपने निवास-स्थान से कहीं दूर जाकर चोरी-डाका डालना है; (ग) ऐसी जन-जातियाँ जो खानाबदोश हैं, कहीं टिक कर नहीं बैठतीं; और जब कभी जहाँ-कहीं मौका मिलता है, वहीं चोरी-डकैती-सेंध लगाकर अपना काम चलाती हैं।

अब से २५ साल पहले अपराधी जन-जातियों की जन-संख्या ४० लाख के लगभग थी। हर प्रान्त में इनकी काफ़ी तादाद है। भिन्न-भिन्न प्रान्तों में भिन्न-भिन्न नामों की अपराधी जन-जातियाँ हैं। उदाहरणार्थ—

(१) उत्तर-प्रदेश की अपराधी जन-जातियाँ—गूजर, बहेलिया, बधिक, पासी, दुसाध, मल्लाह, नट, डोम, बनजारा, हबूड़ा, कंजर, भांतू, बावरिया, बेड़िया, साँसिया, करवाल, औंधिया—ये उत्तर-प्रदेश की अपराधी जन-जातियाँ हैं। पासी खेती करते हैं, पर लूट-पाट से भी नहीं चूकते। बेडिया जाली सिक्के बनाते और राह चलतों को धर दबाते हैं। कंजर अक्सर शिकारी जीवन व्यतीत करते हैं, चटाई-पत्तल-दोने बनाते हैं, और मौका पड़ने पर राहजनी से नहीं चूकते। नट अपनी स्त्रियों से वेश्यावृत्ति कराते हैं। बनजारे पशु-पालन करते, पशु चराते तथा मौके-ब-मौके दूसरे के पशु उड़ा लाते हैं। इसी प्रकार अन्य जन-जातियों के लोग किसी-न-किसी अपराध द्वारा जीवन-यापन करते हैं। जिन अपराधी जन-जातियों को जीवन-यापन का कोई ईमानदारी का धंधा मिल जाता है, वे अपराध करना छोड़ कर बस जाना पसन्द करती हैं, नहीं तो अपने पेशे में रमी रहती हैं।

(२) पंजाब की अपराधी जन-जातियाँ—बहेलिया, मीना, हरनिस, गुरमंग, डुमना, चूबरा, रावल, बावरिया, धींवर तथा बंगाली—ये पंजाब की अपराधी जन-जातियाँ हैं।

(३) मध्य-प्रदेश की अपराधी जन-जातियाँ—बधिक, बेदर, बेरिया, बेदिया, भामता, गोपाल, जादुआ, कंजर, खंगर, कोल्हासी, कोली, कोरकू, कोरवा, माल, मांग गरौरी, मीना, नहल, नट, पासी, सनौरिया, सांसीया, एरुकला—ये मध्य-प्रदेश की अपराधी जन-जातियाँ हैं।

(४) मद्रास-प्रान्त की अपराधी जन-जातियाँ—आदि-द्राविड़, डोम, कल्लन, चेंचु, कोरुआर, एरुकुलर, बौरी, बोया, बार्तुजा, भाटू, तुरक, चपरबन्द, वंडसी, खोगर, कल्थरबन्धु, कौरव—ये मद्रास-प्रांत की अपराधी जन-जातियाँ हैं।

(५) बम्बई-प्रान्त की अपराधी जन-जातियाँ—कैकाड़ी, घंटी चोर, हरिण शिकारी, मगरंदिस, लमहड़ी, कंजरभाट, छप्परबंद, बोस्तर, कतबू, बेरद, हूर, धरल, वद्दर, लाभानी, रामोशी, मान, भमता, फाँसी, पर्घी, कंजर, बघरी, नट—ये बम्बई-प्रान्त की अपराधी जन-जातियाँ हैं।

(६) राजपूताना की अपराधी जन-जातियाँ—बनरिया, साँसी, मीना, कंजर, बागड़ी, भील, बदक, बहेलिया, अहेरिया, बेरिया, भाटू, नट—ये राजपूताना की अपराधी जन-जातियाँ हैं।

७. भारत की कुछ मुख्य-मुख्य जरायमपेशा जन-जातियाँ

भिन्न-भिन्न प्रान्तों में जिन अपराधी जन-जातियों का हमने परिगणन किया है, उसका यह अभिप्राय नहीं कि वे दूसरे प्रान्तों में नहीं होतीं। एक ही अपराधी जन-जाति भिन्न-भिन्न प्रान्तों में भी पायी जाती है। इनमें से कुछ अपराधी जन-जातियों पर हम यहाँ प्रकाश डालेंगे :—

(१) नट—नट जन-जाति के लोग उत्तर-प्रदेश तथा राजपूताना में पाये जाते हैं। ये नाचते, गाते, खेल-तमाशा तथा मदारी के खेल दिखाते फिरते हैं। इनकी स्त्रियाँ नैतिकता की दृष्टि से उच्च-स्तर का पालन नहीं करतीं। ये लोग अपनी स्त्रियों से धंधा कराते हैं, वेश्यावृत्ति के लिए ये प्रसिद्ध हैं। मिर्जापुर की तरफ़ इनकी संख्या अधिक पायी जाती है। वहाँ इनके कई विभाग पाये जाते हैं जिनमें से सब का अलग-अलग 'टोटम' (Totem) होता है। इनका सामाजिक संगठन अत्यन्त जटिल है। मर्दुमशुमारी में अनेक नटों ने अपने को हिन्दू लिखवाया है, यद्यपि इनमें कई मुस्लिम भी पाये जाते हैं। मध्य-प्रदेश, बम्बई तथा बंगाल तक ये पाये जाते हैं, यद्यपि अधिक संख्या इनकी उत्तर-प्रदेश तथा राजपूताना में है। असाध्य रोगों तथा नामर्दी की भी ये दवा बेचते फिरते हैं। नट कुत्तों को पालते तथा उनसे जानवरों का शिकार करते हैं। रस्सों पर नाचने तथा मदारियों के अन्य खेल करने में ये निपुण होते हैं। यह नहीं कि ये लोग सदा चोरी-डकैती से ही जीवन का निर्वाह करते हों, आजीविका के लिए य खेल-तमाशा करते हैं, परन्तु मौका पड़ने पर चोरी आदि करने से भी नहीं चूकते।

(२) कंजर—ये लोग उत्तरी-भारत में जहाँ-तहाँ फैले हुए हैं। ये लोग भाटों की तरह गा-बजाकर आजीविका का निर्वाह करते हैं, परन्तु अब इन्होंने

अन्य व्यवसायों को भी अपनाना शुरू कर दिया है। बहुत-से कंजर भीख माँग कर पेट पालते हैं, इनकी स्त्रियाँ भी हाथ में कटोरा लेकर दूसरे गाँवों को निकल जाती हैं और सन्ध्या तक जितने पैसे बटोर सकती हैं, बटोर लाती हैं। मौके-बे-मौके चोरी करने का भी ये धंधा करते हैं।

कंजरों में विवाह के लिए कन्या का मूल्य देना पड़ता है। इसका शायद यह कारण हो कि इनमें लड़कियाँ कम हैं। जहाँ-जहाँ लड़कियाँ ज्यादा होती हैं, वहाँ कन्या के लिए मूल्य देने की प्रथा में भी कमी पायी जाती है। कुछ मूल्य विवाह के पहले और बचा हुआ विवाह के पीछे देने का रिवाज है। नटों की तरह इनमें स्त्रियों की नैतिकता का स्तर नीचा नहीं है। सतीत्व पर विशेष बल दिया जाता है, और अगर यह प्रमाणित हो जाय कि कोई स्त्री व्यभिचारिणी है, तो उसे कठोर दंड दिया जाता है। पंचायत दंड-व्यवस्था करती है। कंजरों में पंचायत का बहुत ज़ोर है।

अन्य जन-जातियों की तरह इनमें भी पशुओं, वृक्षों तथा प्राकृतिक-पदार्थों के नामों के ऊपर अपने गोत्र का नाम रखने की प्रथा है।

(३) भाँतू—यह जन-जाति जगह-जगह फिरती रहती है, किसी एक जगह टिक कर नहीं बैठती। इनका संगठन बड़ा जबर्दस्त है। इनकी पंचायत अपनी सम्पूर्ण जन-जाति के संगठन को ही नहीं करती, साथ ही छोटे बच्चों को चोरी करने आदि की शिक्षा देने की व्यवस्था भी करती है। ये लोग अपने को महाराणा प्रताप के वंशज कहते हैं। इनका कहना है कि महाराणा की हार के कारण वे सदियों से जगह-जगह भटकते फिरते हैं, कहीं टिक कर नहीं रहते।

(४) बहेलिया—ये उत्तर-प्रदेश, पंजाब तथा राजपूताना में पाये जाते हैं। इनका जीवन शिकारी होता है। इनमें पंचायत-पद्धति का बड़ा ज़ोर है।

(५) बधिक, बावरिया तथा बागड़ी—उत्तर-प्रदेश के बधिक, राजपूताना के बागड़ी और बदक और मध्य-प्रदेश के बधिक एक ही हैं। इनकी बोली गुजराती का अपभ्रंश है, और सम्भव है कि किसी समय ये गुजरात से अन्य स्थानों में फैले हों। छोटी-छोटी चोरी से डाके डालने तक ये नहीं हिचकते। शाहजहाँपुर जिले में जो बधिक एक जगह आवास-स्थान (कौलोनी) बना कर बस गये हैं, वे अब अपराध नहीं करते।

(६) बनजारा—ये उत्तर-प्रदेश, राजस्थान तथा मध्य-भारत में पाये जाते हैं। ग्रीयर्सन के कथनानुसार पश्चिमी तथा दक्षिणी भारत में ये सर्वत्र दिखाई देते हैं। ये वनों में फिरने के कारण बनजारा कहलाते हैं। इनका व्यवसाय गाड़ियों में सामान ढोना रहा है, परन्तु जब से रेलगाड़ियाँ, बसें और मोटरें चली हैं, तब से ये बेकार हो गये हैं और अपराध करना इनका पेशा हो गया है।

(७) डोम—ये उत्तर-प्रदेश, पश्चिमी बंगाल, बिहार, उड़ीसा, मद्रास तथा अन्य राज्यों में पाये जाते हैं। कुक का कहना है कि ये शुरू-शुरू में द्राविड़ लोग थे जो सारे भारत में फैल गये। इन्हें जल्लाद भी कहा जाता है। इनका

कहना है कि किसी समय ये राज करते थे। गोरखपुर जिले में डोमिनगढ़ एक स्थान है, जो इनके कथनानुसार किसी समय इनकी राजधानी था। साँसी और हबूड़ों की तरह ये फिरंदर जीवन व्यतीत करते हैं और चोरी, डकैती, सेंध लगा कर निर्वाह करते हैं।

इन अपराधी जन-जातियों को बसाने तथा इनकी सामाजिक-अवस्था उन्नत करने के लिए समय-समय पर भारत-सरकार उद्योग करती रही है। इनके सम्बन्ध में अबतक जो कानून बने हैं, उनकी चर्चा हमने अपनी 'समाज-कल्याण तथा सुरक्षा'-पुस्तक में विस्तार से कर दी है।

८. भारत की जन-जातियों का प्रजातीय उद्भव (Racial Origin of Indian Tribes)

हम पिछले एक अध्याय में भारतीय प्रजातियों के सम्बन्ध में लिखते हुए श्री रिज़ले, श्री हैडुन, श्री हट्टन, श्री गुहा तथा श्री मजूमदार का मत दर्शा आये हैं। मानव-शास्त्रियों के सम्मुख यह बड़ी विकट समस्या है कि भारत की जो आदि प्रजातियाँ हैं—नीग्रिटो, प्रोटो-ऑस्ट्रेलॉयड (निषाद), मंगोलॉयड (किरात), मैडिटरेनियन (द्राविड़) तथा आर्य—इनमें से किस 'प्रजाति' (Race) के साथ किस 'जन-जाति' (Tribe) का सम्बन्ध जोड़ा जाय? इसमें तो सन्देह नहीं कि प्रजातियों के आपस के मेल-जोल से ही जन-जातियाँ बनी हैं, परन्तु कौन-सी जन-जाति किस-किस प्रजाति के सम्मिश्रण से बनी है—यह एक विकट समस्या है। इतना कहा जा सकता है कि रिज़ले, हैडुन आदि ने पाँच-सात जिन भी आदिम-प्रजातियों का वर्गीकरण किया है, उन्हें मोटे तौर पर तीन में परिणत किया जा सकता है—द्राविड़, मंगोल तथा आर्य। ये तीन प्रजातियाँ ही भारत की आदिम-प्रजातियाँ हैं, और इन तीन में से भी आर्यों को छोड़ कर जन-जातियों का निर्माण द्राविड़ों तथा मंगोलों के द्वारा ही हुआ है।

हैडुन (Haddon) का कथन है कि आदि-द्राविड़ तथा द्राविड़ भारत के ही आदि-वासी हैं। मध्य-भारत में जो आदिवासी पाये जाते हैं, वे भी इसी देश के आदि-वासी हैं। इन आदि-वासियों में से कोई बाहर से नहीं आया, बाहर से अगर कोई सबसे पहले आया तो वे आर्य ही थे। ये आर्य २,००० ईस्वी सन् से पूर्व इस देश में आये। इनके बाद यहाँ शक, पह्लव, ग्रीक, हूण तथा असम में शान लोग आये। इस प्रकार हैडुन ने भारत की आदिवासी जन-जातियों के सम्बन्ध में कोई पुष्ट कल्पना हमारे सामने नहीं रखी। उसका कहना तो यह है कि यहाँ की आदि-वासी जन-जातियाँ यहीं की रहने वाली हैं, कहीं बाहर से नहीं आयीं।

बैरन इगौन वौन ईकस्टेड (Baron Egon von Eickstedt) का कहना है कि 'हिम-युग' (Glacial period) के काल में दक्षिणी-भारत में 'प्रोटो-नीग्रॉयड' (Proto-Negroid) प्रजाति के लोग रहते थे। भारत में रहने के कारण इन्हें उसने 'इंडो-नीग्रिड' (Indo-Nigrid) का नाम दिया है।

इन 'इंडो-नीग्रिड'-नस्ल के लोगों के बाद भारत में 'वेड्डा'-नस्ल के लोग आये। आजकल सीलोन में जो 'वेड्डा'-लोग रहते हैं, वे उसी आदि-वेड्डा नस्ल के प्रतिनिधि हैं। 'इंडो-नीग्रिड' और 'वेड्डा' के सम्मिश्रण से 'वेड्डिड'-वर्ग (Veddid group) बना। यह भारत का सबसे पुराना वर्ग है, और ईकस्टेड के कथनानुसार यही वर्ग भारत का आदिवासी वर्ग है। इसके अतिरिक्त ईकस्टेड ने भारत की अवशिष्ट जनता को दो वर्गों में बांटा है, जिनका उसने नाम रखा है 'मैलेनिड'-वर्ग (Melanid group) तथा 'इंडिड'-वर्ग (Indid group)। इस प्रकार भारत में आदि-प्रजातियों के तीन वर्ग बने—'वेड्डिड'-वर्ग, 'मलेनिड'-वर्ग तथा 'इंडिड'-वर्ग। 'वेड्डिड' तथा 'मैलेनिड' वर्गों के सम्मिश्रण से भारत की जन-जातियों की उत्पत्ति हुई है—यह ईकस्टेड का कथन है। 'वेड्डिड' तो सीलोन के 'वेड्डा' लोग हैं, 'मैलेनिड' में 'मल'-शब्द का अर्थ पहाड़ है, इसलिए 'मैलेनिड' का अर्थ पहाड़ी जातियों से है। 'वेड्डा' तथा पहाड़ी जातियों के रक्त-सम्बन्ध से भारत की जन-जातियां बनीं।

क्रिस्टोफ़ वोन फ्यूरर हैमनडोर्फ़ (Christoph von Furer-Haimendorf) का कहना है कि भारत में द्राविड़ तथा आर्य दोनों प्रजातियां एक ही काल में २,००० से १,००० ई० पू० के समय प्रविष्ट हुईं। द्राविड़ लोग जल के रास्ते से भारत के पश्चिमी तट के समुद्र से प्रविष्ट हुए और दक्षिण में उन्होंने अपना अड्डा जमाया, आर्य लोगों ने उत्तर में अपना अड्डा जमाया। द्राविड़ लोग भारत के पश्चिमी भाग से इस देश में प्रविष्ट हुए इसका प्रमाण यह दिया जाता है कि भारत के पश्चिमी कोने में कलात के प्रदेश में एक द्राविड़ भाषा आज तक बोली जाती है जिसका नाम 'ब्राहुई' है। इस भाषा को बोलने वालों की संख्या १ लाख ८४ हजार है। जो द्राविड़ आज केवल दक्षिणी-भारत में पाये जाते हैं उनकी भाषा भारत के पश्चिमी-प्रदेश में क्यों है? इसका यही अर्थ हो सकता है कि ये लोग पश्चिमी समुद्र-तट से भारत में आये होंगे, और कुछ लोग यहाँ रह गये होंगे, बाकी दक्षिण-भारत की तरफ़ चले गये होंगे। इस दृष्टि से अनेक मानव-शास्त्रियों का कहना है कि आर्यों की तरह द्राविड़ भी इस देश में बाहर से आये थे, वे इस देश के आदि-वासी नहीं हैं। दक्षिण से, पश्चिम से और उत्तर से द्राविड़ों तथा आर्यों ने भारत के आदि-वासियों को जब खदेड़ा, तब वे मध्य-भारत के जंगलों तथा वहाँ की पहाड़ियों में जा छिपे। हैमनडोर्फ़ महोदय ईकस्टेड के साथ इस बात में सहमत हैं कि द्राविड़ों तथा आर्यों से खदेड़े जाकर मध्य-भारत में शरण लेने वाले ये आदि-वासी 'मैलेनिड' थे, और ये 'मैलेनिड' ही भारत की आदि-वासी जन-जातियों के पूर्वज हैं। यह हम पहले ही लिख आये हैं कि 'मल'-शब्द का अर्थ पहाड़ है, इसलिए 'मैलेनिड' का अर्थ पहाड़ी जातियों से है।

हैडुन तथा गुहा का कहना है कि भारत की प्रजातियाँ छः हैं—(१) नीग्रिटो, (२) प्रोटो-ऑस्ट्रेलॉयड, (३) मंगोलॉयड, (४) मैडिटरेनियन, (५) चौड़ी खोपड़ी वाले पश्चिमी लोग तथा (६) नौर्डिक। इनमें से जन-जातियों की

121941

उत्पत्ति नीग्रिटो, प्रोटो-ऑस्ट्रेलॉयड तथा मंगोलॉयड---इन तीन प्रजातियों के सम्मिश्रण से हुई है। भारत की सब से पुरानी जन-जातियों में नीग्रिटो रक्त है। उदाहरणार्थ, कादर जन-जाति का उद्भव नीग्रिटो से हुआ है। मध्य-भारत की जन-जातियों का उद्भव प्रोटो-ऑस्ट्रेलॉयड प्रजाति से और उत्तर-पश्चिम की जन-जातियों का उद्भव मंगोल प्रजाति से हुआ है। हमने भारत की जन-जातियों को उनके भू-भाग की दृष्टि से तीन भागों में बाँटा था—पूर्वोत्तर-क्षेत्र, मध्य-क्षेत्र तथा दक्षिणी-क्षेत्र। इनमें से भारत के पूर्वोत्तर-क्षेत्र में जो जन-जातियाँ पायी जाती हैं, उनका उद्भव मंगोलॉयड नस्ल से है। भारत के मध्य-क्षेत्र में जो नस्लें पायी जाती हैं, उनका उद्भव प्रोटो-ऑस्ट्रेलॉयड नस्ल से है और भारत के दक्षिणी-क्षेत्र में जो नस्लें पायी जाती हैं, उनका उद्भव नीग्रिटो नस्ल से है। उदाहरणार्थ, श्री गुहा का कहना है कि दक्षिणी-भारत की कादर, इरुला तथा पनियन आदि प्रजातियों के ऊनी बाल होते हैं, इनमें निश्चित तौर पर नीग्रिटो अंश है; मध्य-भारत की जन-जातियों में प्रोटो-ऑस्ट्रेलॉयड अंश है; पूर्वोत्तर की जन-जातियों के सिर लम्बे न होकर चौड़े पाये जाते हैं जिससे यह अनुमान लगाना उचित है कि इनमें मंगोल अंश है। यह हम पहले ही कह आये हैं कि मजूमदार भारत में नीग्रिटो अंश होने की बात से सहमत नहीं हैं।

असल में नस्ल के विचार को सामने रखते हुए भारत की जन-जातियों का वर्गीकरण कर सकना एक कठिन कार्य है। यह कह देना कि तीन प्रजातियों से भारत की सब जन-जातियाँ पैदा हुईं, कुछ असंगत-सा जँचता है। कई जन-जातियों का तो उक्त तीन प्रजातियों के साथ किसी प्रकार का सम्बन्ध जोड़ा ही नहीं जा सकता। उदाहरणार्थ, नीलगिरि की टोडा एक ऐसी जन-जाति है जिसका किसी प्रजाति से भी सम्बन्ध जोड़ने में मानव-शास्त्री अभी तक सफल नहीं हुए। कई जन-जातियों को जिन्हें अलग-अलग समझा जाता रहा है, अब अनेक मानव-शास्त्री एक ही शाखा का मानने लगे हैं। उदाहरणार्थ, बैगा और भूइया को पहले अलग-अलग स्वतंत्र जन-जाति माना जाता था, अब इन्हें एक ही वर्ग का माना जाने लगा है। इन जन-जातियों के सम्बन्ध में अनुसंधान चल रहा है और ज्यों-ज्यों यह अनुसंधान आगे बढ़ेगा, त्यों-त्यों यह आशा की जानी चाहिए कि इनके उद्भव के विषय में हमें अधिक जानकारी प्राप्त होने लगेगी।

९. भारत की जन-जातीय भाषाओं का प्रजातीय उद्भव (Racial Origin of Tribal Languages)

हमने देखा कि भारत की जन-जातियों में से कौन-सी 'जन-जाति' (Tribe) किस 'प्रजाति' (Race) से पैदा हुई—यह निश्चित तौर पर नहीं कहा जा सकता। भिन्न-भिन्न जन-जातियों का अटकल से किसी-न-किसी प्रजाति से बादरायण सम्बन्ध जोड़ा जा सकता है। तो फिर क्या भिन्न-भिन्न जन-जातियों की भाषाओं का भिन्न-भिन्न प्रजातियों की भाषाओं से कोई सम्बन्ध जोड़ा जा सकता

है? क्या यह कहा जा सकता है कि इन जन-जातियों की भाषाएं अमुक प्रजाति की भाषा से निकली हैं?

कौन-सी जन-जातियों की भाषाएं किस प्रजाति की भाषा से निकली हैं—यह देखने का हमारा उद्देश्य क्या है? जैसे इटैलियन, फ्रेंच, स्पेनिश, ग्रीक, जर्मन, इंग्लिश, पर्शियन तथा संस्कृत की समानता से हम इस परिणाम पर पहुँचे थे कि इन भिन्न-भिन्न भाषाओं के बोलने वाले आदि-काल में एक थे, उन्हें हमने 'आर्य'-जाति का नाम दिया था, वैसे इन भिन्न-भिन्न जन-जातियों की भिन्न-भिन्न भाषाओं की समानता के आधार पर हम यह परिणाम निकाल सकेंगे कि ये 'जन-जातियाँ' (Tribes) किसी एक ही 'प्रजाति' (Race) की शाखाएं हैं। परन्तु ऐसा परिणाम निकालते हुए हमें कुछ सावधान भी रहना होगा। भिन्न-भिन्न जन-जातियों का अध्ययन सिद्ध करता है कि भाषा की भिन्नता के होते हुए भी दो जन-जातियाँ एक हो सकती हैं और एक भाषा होते हुए भी जन-जातियाँ भिन्न हो सकती हैं। उदाहरणार्थ, नागा एक ही जन-जाति है, परन्तु उसमें भिन्न-भिन्न स्थानों में रहने के कारण भाषा की इतनी भिन्नता पायी जाती है कि एक नागा दूसरे नागा की बात नहीं समझ पाता। इसी प्रकार छोटा नागपुर की मुण्डा तथा ओरांउ दो जन-जातियाँ हैं, परन्तु वे इतना साथ-साथ रहती हैं कि दोनों की एक ही भाषा है। असल में कोई समय था जब भाषा का भेद मनुष्य मनुष्य में भेद करने के लिए काफ़ी था, परन्तु आज के आर्थिक-युग में भाषा-भेद को प्रगतिशील मनुष्य भूलता जा रहा है, और भाषा-भेद का स्थान सामाजिक तथा आर्थिक भेद लेते जा रहे हैं। इसका यह मतलब नहीं कि भाषा-भेद को आज का मानव बिलकुल आँखों से ओझल करता जा रहा है। पंजाब में हिन्दी और गुरमुखी का आन्दोलन, मद्रास में अपनी-अपनी भाषाओं का आन्दोलन इस बात का प्रमाण है कि भाषा-भेद के आधार पर हम मनुष्य-मनुष्य के भेद का पता लगा सकते हैं। तो फिर भारत की भिन्न-भिन्न जन-जातियों की भाषाओं का किस-किस प्रजाति की भाषा से सम्बन्ध है, किस-किस से उनका उद्भव है? जिस-जिस जन-जाति की भाषा का जिस-जिस प्रजाति की भाषा से सम्बन्ध होगा, वह उसी प्रजातीय-परिवार की समझी जायगी, दूसरे परिवार की नहीं समझी जायगी।

भारत की मुख्य-मुख्य भाषाओं को चार मुख्य परिवारों में बाँटा जा सकता है—(१) इंडो-युरोपियन (आर्य) परिवार की भाषाएं, (२) द्राविड़ परिवार की भाषाएं, (३) ऑस्ट्रिक (मुंड या कोल या शबर) परिवार की भाषाएं, और (४) तिब्बतो-चाइनीज़ (साइनो-तिब्बतन, मंगोल या किरात) परिवार की भाषाएं।

(१) इंडो-युरोपियन या आर्य परिवार की भाषाएं—इस समय भारत के बड़े हिस्से में आर्य-परिवार की भाषाएं बोली जाती हैं। ६७.४ प्रतिशत व्यक्ति इस देश में आर्यभाषाओं को बोलने वाले हैं। उत्तर-भारत की प्रायः सभी भाषाएं, जिनमें पश्तो, कश्मीरी, पंजाबी, हिन्दी, उड़िया, असमी, बंगाली, गुजराती,

मराठी, सिन्धी, लहन्दा आ जाती हैं, आर्य-परिवार की हैं। आर्य-परिवार की इन भाषाओं में हिन्दी का सबसे मुख्य स्थान है क्योंकि इसे बोलने वाले १५ करोड़ व्यक्ति हैं। इसी लिए संविधान में इसे राष्ट्र-भाषा का स्थान दिया गया है। बोल-चाल की हिन्दी के अनेक रूप हैं जिनमें खड़ी बोली, ब्रज-भाषा, बांगरू, राजस्थानी, पंजाबी, बुन्देली, अवधी, छत्तीसगढ़ी, बघेली, भोजपुरी, मैथिली, मगही, गोरखाली, कमाऊँनी, गढ़वाली और कन्नौजी मुख्य हैं। भारत की जन-जातियों की भाषाओं का इन आर्य-परिवार की भाषाओं से कोई सम्बन्ध नहीं है।

(२) द्राविड़ परिवार की भाषाएँ—आर्य-परिवार की भाषाओं के बाद भारत में बोली जाने वाली भाषाओं में दूसरा स्थान द्राविड़-भाषाओं का है २१.६ प्रतिशत व्यक्ति इन भाषाओं को बोलने वाले हैं। इस परिवार की मुख्य भाषाएँ चार हैं—कन्नड़, तामिल, तेलगु और मलयालम। कन्नड़ कर्नाटक में, तामिल तामिलनाड में, तेलगु आन्ध्र में और मलयालम केरल में बोली जाती है। द्राविड़ परिवार की भाषाएँ दक्षिण-भारत में पायी जाती हैं, परन्तु एक द्राविड़ भाषा उत्तरी भारत के पश्चिमी कोने कलात में पायी जाती है जिसे 'ब्राहुई' कहते हैं। इसे बोलने वालों की संख्या १ लाख ८४ हज़ार है। इस भाषा के उत्तर-भारत में पाये जाने से मानव-शास्त्रियों का यह अनुमान है कि द्राविड़ लोग भी आर्यों की तरह भारत में बाहर से आये थे।

भाषा-शास्त्रियों का कहना है कि गोंड जन-जाति जो मध्य-प्रदेश, हैदराबाद तथा आन्ध्र में फैली हुई है उसकी भाषा द्राविड़ परिवार की है। इसी प्रकार मध्य-प्रदेश तथा उड़ीसा में कोंध नाम की जन-जाति है। इसकी भाषा का सम्बन्ध भी द्राविड़ परिवार से है। कुई, कुरूखी, मल्तो बोलियां मध्य-भारत के विविध क्षेत्रों में बोली जाती हैं जिनका सम्बन्ध द्राविड़ परिवार से है। उटकमंड के पास नीलगिरि पर्वतों में रहने वाली टोडा जन-जाति की भाषा का उद्भव भी द्राविड़ भाषा-परिवार से है। डा० मजूमदार ने ओरांओ, मालेर, खोंड, सओरा, परजा, कोया, पनियन, चेंचु, इरुला, कादर, मालसर तथा मलरयन—इन सब जन-जातीय भाषाओं को द्राविड़-परिवार का लिखा है।

(३) ऑस्ट्रिक (मुंड, कोल या शबर) परिवार की भाषाएँ—इस शाखा की बोलियां विन्ध्य-मेखला तथा उसके आस-पास के प्रदेश में बोली जाती हैं। मुण्ड या कोल भाषा के बोलने वाले मुख्य तौर पर छोटा नागपुर या सन्थाल परगने के आस-पास के जंगली प्रदेशों में रहते हैं। इस परिवार की भाषा बोलने वालों की संख्या ४० लाख के लगभग है। जन-जातीय भाषाओं में मुण्डा, कोल, हो, सन्थाल, खरिया, कोरवा, गदब, भूमिज, कोर्कु, सावरा, खासी—ये सब ऑस्ट्रिक परिवार, मुण्ड-परिवार या कोल-परिवार की भाषाएँ हैं। मानव-शास्त्री मुण्ड-भाषा बोलने वाली जन-जातियों को भारत की अत्यन्त प्राचीन जन-जातियों में गिनते हैं। कहते हैं कि हिमालय-प्रदेश के किन्नर भी मुण्ड-भाषा-वर्ग के हैं।

ऑस्ट्रिक-भाषा-परिवार के भाषा-शास्त्रियों ने दो वर्ग किये हैं—'ऑस्ट्रो-एशियाटिक' (Austro-Asiatic) तथा 'ऑस्ट्रोनेशियन' (Austronesian)। इनमें 'ऑस्ट्रो-एशियाटिक' वर्ग में कोल तथा मुण्ड बोलियाँ आ जाती हैं जिनका हमने अभी ऊपर परिगणन किया—हो, सन्थाल, खरिया, कोरवा, गदब, भूमिज, कोर्कु, साथरा, खासी आदि। 'ऑस्ट्रोनेशियन' परिवार में इण्डोनेशिया की राष्ट्र-भाषा, मलाया तथा माइक्रोनेशिया, मैलेनेशिया, पौलीनेशिया की भाषाएँ आ जाती हैं। भारत की जन-जातीय-भाषाओं का सम्बन्ध ऑस्ट्रिक वर्ग की 'ऑस्ट्रो-एशियाटिक' भाषाओं से है, 'ऑस्ट्रोनेशियन' भाषाओं से नहीं।

(४) तिब्बतो-चीनी (मंगोल या किरात) परिवार की भाषाएँ—हिमालय की दक्षिणी ढालों, उत्तरी-पंजाब से लेकर भूटान, उत्तरी तथा पूर्वी बंगाल और असम में पायी जाने वाली मंगोल प्रजाति के लोग इस परिवार में गिने जाते हैं। इस परिवार की भाषाओं को दो भागों में बाँटा जाता है—(क) तिब्बती-बर्मी तथा (ख) स्यामी-चीनी। हिमालय के क्षेत्रों, नेपाल तथा दार्जिलिंग के प्रदेश में जो जन-जातियाँ हैं, उनकी भाषा तिब्बती-बर्मी कहलाती है, सुदूरवर्ती असम में जो जन-जातियाँ पायी जाती हैं, उनकी भाषा स्यामी-चीनी कहलाती है। श्री मजूमदार के कथनानुसार असम के नागाओं की और गारो, कुकी, मिकिर, डफ़ला, अभोर तथा खासी जन-जातियों की भाषा का सम्बन्ध चीनी अर्थात् मंगोल या किरात भाषा के साथ है, और इसलिए इन भाषाओं को बोलने वाली जन-जातियों का उद्भव मंगोलॉयड-नस्ल से हुआ है।

भाषा के आधार पर भारत की जन-जातियों का वर्गीकरण हमें किसी निश्चित परिणाम पर नहीं पहुँचाता। जन-जातियों की इन भाषाओं का भारत की प्रजातियों से सम्बन्ध अवश्य प्रतीत होता है, परन्तु कौन-सी 'जन-जाति' की भाषा किस 'प्रजाति' की भाषा से निकली है—इस विषय में अभी तक कोई निश्चय नहीं किया जा सका। जैसे जन-जातियों का प्रजातियों से उद्भव अटकल का विषय है, वैसे ही जन-जातियों की भाषाओं का प्रजातियों की भाषाओं से उद्भव भी अटकल का ही विषय है। फिर भी जन-जातियों के सम्बन्ध में खोज करते हुए अन्य बातों के साथ भाषा भी हमें किसी परिणाम तक पहुँचने में सहायक अवश्य हो सकती है।

१०. जन-जातियों का सांस्कृतिक-स्तर
(Cultural level of tribes)

भारतीय जन-जातियों का उनके भू-भाग, उनकी नस्ल तथा उनकी भाषा के सम्बन्ध में हमने वर्णन किया। इस समय ये जन-जातियाँ भारत की आबादी का हिस्सा तो हैं, परन्तु न यहाँ के गाँवों में और न यहाँ के शहरों में खपी हुई हैं। वे अपने को यहाँ की जनता से अलग समझती हैं। सम्भवतः, शुरू-शुरू में जब इस देश में द्राविड़, आर्य या अन्य प्रजातियों के लोग आये थे, तब से यह द्वैत-भावना चली आ रही है। जो-कुछ हो, जन-जातियों का भू-भागों में, नस्लों में, भाषाओं

में वर्गीकरण कर लेना पर्याप्त नहीं है, इससे उनके पुनर्वास की किसी समस्या का समाधान नहीं होता, जन-जातियों के पुनर्वास की समस्या का समाधान उनकी सांस्कृतिक तथा आर्थिक स्थिति को ठीक-ठीक समझने से ही हो सकता है।

जन-जातियों के पुनर्वास की समस्या क्या है? कई मानव-शास्त्री कहते हैं कि जन-जातियों को अपनी संस्कृति में ही रहने देना चाहिए, उन्हें वर्त्तमान-सभ्यता के आर्थिक लाभ पहुँचाने चाहिएँ, खेती करना, वर्त्तमान-गृहोद्योग आदि उन्हें सिखाना चाहिए, परन्तु उनकी संस्कृति को, उनके रीति-रिवाज, कायदे-कानून, प्रथाओं को बदलने का प्रयत्न नहीं करना चाहिए। इतना भर पुनर्वास उनके लिए काफ़ी है। हम क्यों समझें कि हमारी संस्कृति उनकी संस्कृति से ऊँची ही है। हम अपनी संस्कृति को बढ़ावें, वे अपनी को। परन्तु दूसरे मानव-शास्त्री कहते हैं कि जब हम जन-जातियों की आर्थिक-स्थिति सुधारेंगे, तब वे हमारे गाँवों और शहरों की जनता के सम्पर्क में आवेंगे ही। संस्कृति का प्रसार सम्पर्क से होने लगता है। हमारे सम्पर्क में आने पर उनकी संस्कृति बदलेगी—इसमें सन्देह नहीं। अगर हम उनकी संस्कृति को जैसी वह है वैसा अक्षुण्ण बनाये रखना चाहते हैं, तो हमें उन्हें जंगली हालत में ही रहने देना होगा, अगर हम उनके पुनर्वास की योजनाएँ बनायेंगे, उनके स्वास्थ्य-सुधार की योजनाएँ, उनकी आर्थिक-स्थिति को उन्नत करने की योजनाएँ—तब यह कैसे हो सकता है कि उनकी संस्कृति जैसी-की-तैसी बनी रहे। आर्थिक-पुनर्वास की हमारी योजनाओं से वे हमारे गाँवों और शहरों के लोगों के सम्पर्क में अवश्य आयेंगे, और इस सम्पर्क का परिणाम उनकी संस्कृति पर अवश्य पड़ेगा। हो सकता है, कहीं-कहीं ये जन-जातियाँ अपनी संस्कृति को हीन समझ कर उसे तिलांजलि दे दें। इस विचार-धारा के लोगों का कहना है कि हमें जन-जातियों के पुनर्वास का कार्य, उनकी आर्थिक-स्थिति सुधारने की योजना—इस सब को अवश्य क्रियान्वित करना चाहिए, भले ही इन पुनर्वास की योजनाओं से उनकी संस्कृति बच रहे, या नष्ट हो जाय।

सांस्कृतिक-स्तर की दृष्टि से श्री एलविन, श्री मजूमदार तथा अन्य लोगों ने जन-जातियों का वर्गीकरण किया है, जो निम्न प्रकार है:—

(क) एलविन का वर्गीकरण—सांस्कृतिक-स्तर की दृष्टि से अनेक मानव-शास्त्रियों ने जन-जातियों का वर्गीकरण किया है। डा० वेरियर एलविन (Verrier Elwin) भारत-सरकार को जन-जातियों के सम्बन्ध में परामर्श देने के लिए नियुक्त हैं। उन्होंने जन-जातियों का वर्गीकरण करते हुए उन्हें चार भागों में बाँटा है। प्रथम वर्ग में तो उन्होंने उन जन-जातियों को गिना है, जो बिलकुल आदिम अवस्था में हैं, जिस अवस्था में मनुष्य वैयक्तिक जीवन व्यतीत नहीं करता, वह समुदाय में रहता है, और समुदाय का जीवन ही उसका जीवन होता है, जिस अवस्था में वह हल से खेती करने के स्थान में कुल्हाड़े से काम चलाता है, खेती भी करता है, तो कुल्हाड़े से ही जमीन को खोदता है। दूसरे वर्ग में उन्होंने उन जन-जातियों को गिना है, जो संसार से इतनी ही कटी रहती हैं जितनी

प्रथम-वर्ग की जन-जातियाँ, अपने प्राचीन रीति-रिवाजों को भी उसी तरह से मानती हैं, परन्तु जिनमें सामूहिक-जीवन के स्थान में वैयक्तिक-जीवन का अंश बढ़ जाता है, जो कुल्हाड़े की इतनी दास नहीं रहतीं, जो आदिम-जातियों जैसी सरल और ईमानदार भी नहीं रहतीं। तीसरे वर्ग में उन्होंने उन जन-जातियों को गिना है, जो पहली दो की तरह निरी जंगली नहीं, जो सभ्यता के सम्पर्क में आने लगी हैं, जो गाँवों तथा शहरों में आती-जाती और उनके रीति-रिवाजों को देखती हैं, जिन पर इस सभ्यता का प्रभाव पड़ रहा है, जिनके रीति-रिवाज, कायदे-कानून इस प्रभाव के कारण डगमगा रहे हैं, जिनकी संस्कृति अगर यह कह दिया जाय कि नष्ट होने जा रही है तो भी कोई अत्युक्ति न होगी। इस प्रकार की जन-जातियों के व्यक्तियों की संख्या २ करोड़ से कम न होगी। चौथे वर्ग में उन्होंने उन जन-जातियों को गिना है जिन्होंने गाँवों तथा शहरों के साथ सांस्कृतिक-सम्पर्क भी बनाया है, और इस सम्पर्क के बावजूद उन्होंने अपनी संस्कृति को भी अक्षुण्ण बनाये रखा है। इस चौथे वर्ग में भील और नागा लोग हैं।

एलविन का कथन है कि जन-जातियों के पुनर्वास की समस्या को हल करते हुए हमें इस बात को ध्यान में रखना होगा कि हम ऐसे उपायों का अवलम्बन करें, जिनसे जन-जातियों के प्रथम तथा द्वितीय वर्ग को तृतीय-वर्ग की प्रक्रिया में से न गुजरना पड़े, वे अपनी प्रथम तथा द्वितीय वर्ग की हालत से सीधे चतुर्थ-वर्ग की हालत में पहुँचें जिससे उनको हमारी सभ्यता के आर्थिक लाभ तो पहुँच जायें, परन्तु इन आर्थिक लाभों का मुआविज़ा उन्हें अपनी संस्कृति को खोकर न चुकाना पड़े।

श्रीयुत् मजूमदार तथा मदन को श्री एलविन के इस कथन पर आपत्ति है। इन्हें पहली आपत्ति तो यह है कि श्री एलविन के कथन से यह झलकता है कि जन-जाति के लोगों के उन लोगों के सम्पर्क में आने से जो जन-जाति के नहीं हैं, उनका नैतिक-स्तर गिर जाने की सम्भावना है। इसमें सन्देह नहीं कि जन-जाति के लोगों का नैतिक-स्तर ऊँचा है, वे झूठ नहीं बोलते, एक-दूसरे के साथ ईमानदारी से बरतते हैं। यह सब-कुछ तो ठीक है, परन्तु श्री एलविन क्या समझते हैं कि जन-जाति के ये लोग जिन शहरी या देहाती लोगों के सम्पर्क में आयेंगे, वे अवश्य निम्न-स्तर के होंगे। असल बात यह है कि जन-जाति के लोगों का ज्यादातर सम्पर्क साहूकारों, ठेकेदारों आदि के साथ होता है जो एक रुपये का दस रुपया बनाना चाहते हैं और इसी लिए जन-जाति के लोगों को ठगते और उनके सीधेपन का नाजायज फ़ायदा उठाते हैं। श्री मजूमदार तथा मदन का कहना है कि शहरी तथा देहाती लोगों में ऐसे लोग भी तो हैं जो जन-जातियों को उन्नत होता हुआ देखना चाहते हैं। भले ही ऐसे लोगों की संख्या कम हो, फिर भी श्री एलविन-सरीखे लोग इन्हीं शहरी और देहाती लोगों में ही तो मिलते हैं। जन-जातियों को उनका भला चाहने वाले ऐसे लोगों के सम्पर्क से क्यों वंचित किया जाय? श्री मजूमदार और मदन को श्री एलविन के कथन पर दूसरी आपत्ति यह है कि श्री एलविन यह

चाहते हैं कि पहले तथा दूसरे वर्ग की जन-जातियाँ तीसरे वर्ग में न आकर सीधे चौथे वर्ग में लायी जायँ। इसका मतलब तो यह हुआ कि श्री एलविन इस चौथे वर्ग को आदर्श-वर्ग समझते हैं, वे यह नहीं चाहते कि यह चौथा वर्ग आगे बढ़े, वे यह चाहते हैं कि इस चौथे वर्ग को जहाँ-का-तहाँ रहने दिया जाय, यह अपनी संस्कृति के अन्दर कोई परिवर्त्तन न करे, इस चौथे वर्ग की संस्कृति संसार में एक म्यूज़ियम के तौर पर सुरक्षित रखी जाय। क्या यह उचित है कि हम किसी भी जन-जाति की संस्कृति को आगे बढ़ने से या नये संस्कारों में रंगे जाने से रोकें ? सभ्यता के क्षेत्र में जैसे पछड़े रहना लाभदायक नहीं है, वैसे संस्कृति के क्षेत्र में भी पछड़े रहने से कोई लाभ नहीं है। हम किसी जन-जाति की संस्कृति को बचा कर क्या करेंगे ? हमें तो जन-जातियों की रक्षा करनी है, उनके स्वास्थ्य को बचाना है, उनकी आर्थिक-स्थिति को उन्नत करना है, यह सब-कुछ करते हुए अगर उनकी संस्कृति की रक्षा नहीं हो पाती, तो उस संस्कृति की रक्षा के लिए हमें उस संस्कृति को उत्पन्न करने वाले मानव से नहीं हाथ धो बैठना। मनुष्य रहेगा, तो संस्कृति अपने-आप रह जायगी, मनुष्य ही न रहेगा, तो संस्कृति कहाँ रह सकेगी। आज तो हमारा मुख्य प्रश्न जन-जातियों की रक्षा करने का हो गया है, क्योंकि आज की विकट परिस्थितियों में जन-जातियों की संस्कृति की रक्षा का प्रश्न तो पीछे पैदा होता है, जन-जातियों की रक्षा का ही प्रश्न विकट रूप धारण करता जा रहा है।

अगर जन-जातियों की समस्या पर निष्पक्ष-दृष्टि से विचार किया जाय, तो श्री एलविन तथा श्री मजूमदार—दोनों के कथन में सत्यता है। यह ठीक है कि जन-जातियों का जीवन अपने एक खास ढंग का है। यह भी ठीक है कि वे अपने रहन-सहन में, रंग-ढंग में, व्यवस्था में परिवर्त्तन नहीं चाहतीं। जो लोग उनके बीच जाकर, बड़े बनकर, उन्हें यह बतलाने का प्रयत्न करते हैं कि जन-जाति के लोग हीन अवस्था में हैं—इस बात को वे लोग पसन्द नहीं करते। ऐसी हालत में जन-जातियों में काम करने का एक ही तरीका हो सकता है। हमारे कार्य-कर्त्ता अपने को बड़ा और सभ्य समझ कर उनके बीच न जायें। पाश्चात्य देशों का रवैय्या अबतक यही रहा कि वे सभ्य हैं, और जन-जातियों के लोग असभ्य हैं। इतना ही नहीं, वे जन-जातियों में अपना फ़ायदा उठाने के लिए ही जाते थे। उन्हें सस्ती मजबूरी करने वाले लोगों की जरूरत थी। जन-जातियों के लोगों को पकड़ कर वे उनसे काम लेते थे। इस सब की प्रतिक्रिया जन-जातियों में विद्रोह की भावना को उत्पन्न कर देती थी। हमें इस प्रकार इनके साथ बरतना होगा जिससे उनमें विद्रोह न उत्पन्न हो। स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद से भारत-सरकार ने उत्तर-पूर्व के पहाड़ी क्षेत्रों की जन-जातियों के क्षेत्र पर शासन करने के लिए, जिसमें २५ के लगभग वहाँ की जन-जातियाँ हैं, एक पृथक् शासन-सूत्र की रचना की है जिसका नाम 'नेफ़ा' है। 'नेफ़ा'-शब्द 'नॉर्थ-ईस्ट-फ्रंटीयर-एजेन्सी' (North-East Frontier Agency—NEFA) से बना है। यह क्षेत्र तिब्बत, भूटान,

चीन और बर्मा को छूता है। इसका संचालन राष्ट्रपति द्वारा होता है। असम का राज्यपाल राष्ट्रपति के एजेंट के तौर पर इस प्रदेश का शासन करता है। कोई व्यक्ति बिना परमिट लिए इस 'नेफ़ा' क्षेत्र में प्रवेश नहीं पा सकता। इसका मुख्य कारण यही है कि भारत सरकार नहीं चाहती, इन जन-जातियों पर कोई जबर्दस्ती अपनी संस्कृति को लादने का प्रयत्न करे। ये स्वतंत्र रूप में अपनी संस्कृति का विकास करते रहें—यह भारत-सरकार का लक्ष्य है, परन्तु इसका यह भी मतलब नहीं कि इनकी आर्थिक स्थिति को सुधारने के लिए कुछ नहीं किया जा रहा। भारत-सरकार की तरफ़ से इस क्षेत्र में सड़कें बन रही हैं, कृषि का विकास हो रहा है, पानी की व्यवस्था की जा रही है, शिक्षा का कार्य हो रहा है, यह नहीं समझा जा रहा कि वे लोग जो-कुछ हैं, उन्हें उससे आगे बढ़ने की जरूरत नहीं। जन-जातियों के सम्बन्ध में सही दृष्टि-कोण यही है कि उनकी आर्थिक-व्यवस्था को सुधारने में उनकी पूरी सहायता की जाय, और साथ ही हम अपनी संस्कृति को उनकी संस्कृति से बहुत बड़ा समझ कर ही उनके बीच में न जायें। उन्होंने हमारी संस्कृति से जो-कुछ लेना होगा उसे वे अपने-आप ले लेंगे।

(ख) श्री मजूमदार का वर्गीकरण—भारत की जन-जातियों का सांस्कृतिक दृष्टि से श्री मजूमदार ने वर्गीकरण करते हुए उन्हें दो भागों में बाँटा है—'आत्मसात्कृत' (Assimilated) तथा 'अनुकूलित' (Adaptive)। किसी जन-जाति की संस्कृति 'आत्मसात्कृत' तब कहलायेगी जब उसकी संस्कृति किसी दूसरी संस्कृति में समा गई हो, उसके साथ अभिन्न हो गई हो। अगर किसी जन-जाति की संस्कृति दूसरी जन-जाति की संस्कृति के साथ मिल कर कुछ अपना रखती है, कुछ उसका ले लेती है, अपने को उसके अनुकूल बना लेती है, तब उसे 'अनुकूलित' संस्कृति कहेंगे। 'आत्मसात्कृत' तथा 'अनुकूलित'—संस्कृति के इन दोनों प्रकारों में स्थिरता नहीं है, परिवर्त्तन है। 'अनुकूलित' संस्कृति के परिवर्त्तन के श्री मजूमदार ने फिर तीन भाग किये हैं—संस्कृतियों का एक 'अनुकूलन' तो ऐसा होता है, जिसमें जन-जाति की उन दोनों संस्कृतियों का जिनका अनुकूलन हो रहा है, आर्थिक-ढाँचा एक-समान होता है, इसे 'एकार्थक' (Commensalic) कह सकते हैं; संस्कृतियों का दूसरा 'अनुकूलन' ऐसा होता है जिसमें उनका आर्थिक-ढाँचा ही एक समान नहीं होता, परन्तु वे दोनों संस्कृतियाँ एक-दूसरे के सहारे खड़ी होती हैं, एक-दूसरे से जीवन धारण करती हैं, एक के बिना दूसरी बेकार, इस अवस्था को 'समजीवी' (Symbiotic) कह सकते हैं; संस्कृतियों का तीसरा 'अनुकूलन' ऐसा होता है जिसमें जन-जाति की एक संस्कृति अपने को दूसरी में विलीन कर देती है, उसकी पृथक् सत्ता ही नहीं रहती, इसे 'संस्कृतीकरण' (Acculturation) कहते हैं। भारत की जन-जातियों को मजूमदार के कथनानुसार संस्कृति की दृष्टि से इन तीन वर्गों में रखा जा सकता है। किसी जन-जाति की संस्कृति दूसरी संस्कृतियों के साथ 'एकार्थक' है, दोनों का आर्थिक ढाँचा एक ही है, किसी की संस्कृति

दूसरी जन-जाति की संस्कृति के साथ 'समजीवी' है, दोनों का जीवन एक-साथ है, अलग-अलग नहीं, और किसी जन-जाति की संस्कृति ने अपने को दूसरी संस्कृति में मिटा दिया है, अपनी स्वतंत्र-सत्ता ही नहीं रखी। जन-जाति की संस्कृतियों के इस वर्गीकरण में उन संस्कृतियों का कोई स्थान नहीं है, जो बिलकुल जंगल में, एकान्त में, पहाड़ों में, दुनियाँ से किसी प्रकार का सम्बन्ध बिना रखे हुए हैं, क्योंकि आजकल के युग में जब कि हर प्रकार का आना-जाना, सम्बन्ध, चारों तरफ़ बना हुआ है, ऐसी किसी जन-जातीय संस्कृति का होना जिसे दुनियाँ की कोई हवा नहीं लगी, असम्भवप्राय है।

(ग) श्री मजूमदार तथा श्री मदन का वर्गीकरण—श्री मजूमदार तथा श्री मदन ने जो ग्रन्थ लिखा है, उसमें जन-जाति की संस्कृतियों का एक और वर्गीकरण दिया है। प्रथम-वर्ग में जन-जातियों की वे संस्कृतियाँ आती हैं जो हमारी शहरी तथा देहाती संस्कृतियों से अत्यन्त-अत्यन्त दूर हैं। उनके साथ हमारा किसी तरह का सम्पर्क नहीं। द्वितीय-वर्ग में जन-जातियों की वे संस्कृतियाँ हैं जो हमारे शहरों तथा देहातों की संस्कृतियों के सम्पर्क में आ रही हैं। इस सम्पर्क से उनकी संस्कृतियों के पाँव उखड़ रहे हैं, आये-दिन उनकी इस सम्पर्क के कारण नई-नई समस्याएँ पैदा होती रहती हैं। तृतीय-वर्ग में जन-जातियों की वे संस्कृतियाँ हैं, जो हमारी शहरी तथा देहाती संस्कृतियों के सम्पर्क में आने पर भी या तो अपने स्वरूप पर दृढ़ हैं, और या उनका संस्कृतीकरण (Acculturation) हो गया है, उनकी स्वतंत्र-सत्ता नष्ट हो गई है, उन्होंने दूसरी संस्कृति को अपना लिया है।

(घ) 'सामाजिक-कार्य की भारतीय-परिषद्' (Indian Conference of Social Worl.) का वर्गीकरण—१९५२ में 'सामाजिक-कार्य की भारतीय-परिषद्' ने एक 'जन-जातीय कल्याण-समिति' (Tribal Welfare Committee) बनाई थी जिसने जन-जातियों की संस्कृति का चार भागों में वर्गीकरण किया। वे चार विभाग थे—(१) 'जन-जातीय समुदाय' (Tribal Communities), (२) 'अर्ध-जन-जातीय समुदाय' (Semi-tribal Communities), (३) 'संस्कृतीकृत जन-जातीय समुदाय' (Acculturated tribal Communities) तथा (४) "पूर्ण आत्मसात्कृत जन-जातीय समुदाय' (Totally assimilated tribes)।

'संस्कृतीकृत' तथा 'आत्मसात्कृत' में क्या भेद है? अपनी संस्कृति दूसरे को इस प्रकार देना कि दूसरा हमारे रंग में रंग जाय 'संस्कृतीकरण' (Acculturation) है, दूसरे की संस्कृति को अपने में इस प्रकार खपा लेना कि उसके रंग को हम अपने में समा डालें 'आत्मसात्करण' (Assimilation) है। 'संस्कृतीकरण' में दूसरे को बदलने का प्रश्न होता है, 'आत्मसात्करण' में अपने बदलने का इतना नहीं जितना दूसरे की संस्कृति को अपने में अपनाने का प्रश्न होता है। इन दोनों का भेद शब्दों के हेर-फेर में छिपा हुआ है।

११. जन-जातियों का सभ्यता से संपर्क तथा असंपर्क

हम ऊपर इस बात की चर्चा कर आये हैं कि कई जन-जातियाँ वर्त्तमान सभ्यता के सम्पर्क में आ रही हैं, कई नहीं आ रहीं, सम्पर्क से अछूती हैं। इस सम्पर्क तथा असम्पर्क का जन-जातियों पर क्या प्रभाव पड़ रहा है? इस प्रभाव को समझने के लिए हमें इन दोनों प्रकार की जन-जातियों के उदाहरणों को देख लेने से स्थिति स्पष्ट हो जायगी। सभ्यता के सम्पर्क में आने वाली जन-जाति का उदाहरण संथाल जन-जाति है, सभ्यता के सम्पर्क में न आने वाली जन-जाति का उदाहरण नागा जन-जाति का है। इन दोनों के जीवन किस प्रकार प्रभावित हो रहे हैं—यह निम्न विवरण से स्पष्ट हो जायगा।

(क) संथाल जन-जाति—संथाल जन-जाति बिहार तथा उत्तरी बंगाल म बसी हुई है। इसकी जन-संख्या ३० लाख के लगभग है। इस जन-जाति का कुछ भाग अभी तक जंगलों में रहता, फल-मूल-कन्द चुगता और शिकारी जीवन व्यतीत कर रहा है। कुछ भाग भारत की औद्योगिक अर्थ-व्यवस्था के सम्पर्क में आ गया है, कल-कारखानों में काम करता है और शहरियों का-सा जीवन व्यतीत करने लगा है। एक ही जन-जाति के दैनिक व्यवहार में महान् भेद उत्पन्न हो गया है। जो लोग सभ्यता के सम्पर्क में नहीं आये वे जब किसी परदेशी को आता देखते हैं, तब अगर वे अकेले हों, तो डर कर भाग जाते हैं, पेड़ों पर चढ़ जाते हैं। ये लोग कीड़े-मकौड़े-मेंडक खाते हैं, नंगे रहते हैं—हर तरह से जंगली हैं। इनके विपरीत इन्हीं के दूसरे भाई संथाल जो सभ्यता के सम्पर्क में आ गये हैं, कल-कारखानों में काम करने के कारण शहरी वातावरण से प्रभावित हो चुके हैं, वे कपड़े पहनते हैं, आभूषणों से अपनी देह को सजाते हैं, बाजारों में भोजन करते हैं, मौका आने पर अपनी तथा दूसरी मिलों के अन्य मजदूरों के साथ मिलकर हड़ताल भी करते हैं।

(ख) नागा जन-जाति—नागा जन-जाति असम की मणिपुर रियासत की घाटियों में रहती है। यह जाति सभ्यता के सम्पर्क में नहीं आयी। इसमें जंगली अवस्था की सब बातें पायी जाती हैं। मनुष्य का सिर काट लाना इनमें वीरता का निशान समझा जाता है। जो जितने ज्यादा नर-मुण्ड काट लाता है वह उतना ही वीर कहलाता है, जो नर-मुण्ड नहीं ला सकता वह विवाह के योग्य भी नहीं समझा जाता। यह जन-जाति रक्त-पिपासु जन-जाति है। ये लोग प्रायः नंगे रहते हैं, स्त्रियाँ एक कपड़े से अपना आगे का भाग ढके रहती हैं। पुरुष तथा स्त्रियाँ कौड़ियों की मालाएँ पहनते हैं। इस जन-जाति के हथियार भाला और तीर-कमान हैं जिनके चलाने में ये बहुत सिद्ध-हस्त होते हैं। इनका प्रधान व्यवसाय जंगलों में फिरना, शिकार करना और जरूरत पड़े तो लड़ पड़ना और युद्ध करना है। नागा युवकों को विवाह से पहले तीर चलाना, युद्ध करना आदि सिखाया जाता है।

१२. भारतीय जन-जातियों की समस्याएँ (Problems of Indian Tribes)

अभी तक हमने जन-जातियों का केवल वर्णन किया है। वे किस भू-भाग में रहती हैं, उनका किन 'प्रजातियों' (Races) के साथ सम्बन्ध है, उनकी भाषाओं का किन-किन आदि-भाषाओं से उद्भव है, उन्हें सांस्कृतिक तथा आर्थिक दृष्टि से किन-किन वर्गों में बाँटा जा सकता है—इन बातों पर प्रकाश डाला है। परन्तु हमें यह भी जानना चाहिए कि अगर हम उनका पुनर्वास करना चाहते हैं, तो उनकी मुख्य-मुख्य समस्याएँ क्या हैं। यहाँ हम उन्हीं कुछ समस्याओं पर प्रकाश डालेंगे :—

(क) स्वास्थ्य के ह्रास के कारण संख्या के ह्रास की समस्या—जन-जातियों की मुख्य समस्या उनकी संख्या का दिनोंदिन कम होता जाना है। जन-गणना रिपोर्ट से यह तो नहीं सिद्ध होता कि सभी जन-जातियाँ संख्या में कम होती जा रही हैं, यद्यपि अनेक जन-जातियों की संख्या कम अवश्य हो रही है। भील तथा गोंड तो भारत की अन्य जन-संख्या के अनुपात में ही बढ़ रहे हैं, परन्तु कोरवा, टोडा आदि जन-जातियाँ धीरे-धीरे नष्ट होती जा रही हैं। गिलबर्ट मरे (Gilbert Murray) का कहना है कि इन जन-जातियों के नष्ट होने का कारण मनोवैज्ञानिक है। ये जन-जातियाँ जब दूसरे लोगों को देखती हैं, उन्नति करते हुए, बढ़ते हुए, और उसके बाद अपने पर नजर डालती हैं, तब मानों उनके छक्के छूट जाते हैं। इसी का परिणाम जन-जातियों का क्रमिक ह्रास है। गिलबर्ट मरे की यह बात ठीक हो, न हो, परन्तु इतना अवश्य कहा जा सकता है कि इनके ह्रास का कारण बीमारियाँ तथा बीमारियो के कारण स्वास्थ्य का गिर जाना है। जन-जातियाँ बीमारियों के दो कारण समझती हैं—एक तरह की वे बीमारियाँ जो शारीरिक-दोष से पैदा होती हैं, दूसरी तरह की वे बीमारियाँ जो भूत-प्रेत के कारण पैदा होती हैं। शारीरिक-दोष के कारण पैदा होने वाली बीमारियों का तो वे जड़ी-बूटियों से इलाज करते हैं, परन्तु चेचक, हैजा, बुखार आदि बीमारियों का कारण वे भूत-प्रेत-चुड़ैल को मानती हैं, इसलिए इनका दवाओं से इलाज करने के स्थान में भगत, ओझा, भोपा से इलाज कराती हैं, इसी कारण बीमारियों से उनमें मृत्यु अधिक होती है, और उनकी जन-संख्या का दिनोंदिन ह्रास होता जा रहा है।

जैसा हम पहले कह आये हैं, इस समय तिब्बत, भूटान, चीन और बर्मा को छूता हुआ जो भारतीय-क्षेत्र है, वहाँ २५ के लगभग जन-जातियाँ आबाद हैं। यह क्षेत्र सीधा राष्ट्रपति के आधीन है। इस क्षेत्र को 'नार्थ-ईस्ट-फ्रंटीयर-एजेन्सी' (NEFA) कहते हैं। इस क्षेत्र में भारत-सरकार की तरफ़ से जो कार्य हो रहा है, उसमें इन जन-जातियों के स्वास्थ्य-सुधार की तरफ़ विशेष ध्यान दिया जा रहा है। इन प्रदेशों में मलेरिया का भयंकर प्रकोप होता है। १९५४–५५ में ७३,१८३ मलेरिया के रोगियों का इलाज किया गया, १९५५–५६ में इनकी संख्या

५९,०७० रह गई। जैसा हम कह आये हैं, जन-जातियों के लोग बीमारी को भूत-प्रेत का फल मानते हैं, इसलिए कभी-कभी इनका औषध से इलाज करना कठिन भी हो जाता है। नेफ़ा के एक डाक्टर ने फ़रवरी १९५७ का एक अनुभव लिखा है। वह लिखता है कि एक दिन वह कड़ी सर्दी में अपने इलाके का मुआइना करने निकला, तो एक झोंपड़ी में उसने दो औरतों को जमीन पर लेटे पाया। उनका जिस्म सूज गया था, जोड़ जकड़ गये थे। डाक्टर को देख कर ये बोलीं—यह कष्ट हम 'वुजु' ने दिया है। 'वुजू' किसी भूत का नाम है। डाक्टर क्योंकि दवा देता है, इसलिए ये लोग डाक्टर को देख कर कभी-कभी अपने बीमारों को छिपा लेते हैं। डाक्टर की दवा से रोगी चंगा हो जाय तो वे उसे ओझा समझते हैं, डाक्टर नहीं। इन्हें



नेफ़ा प्रदेश में जन-जाति के लोग रेडियो सुन रहे हैं।

अपने देश के पुरोहितों पर ज्यादा विश्वास है। वे समझते हैं कि पुरोहित देवी-देवता को मना कर रोग को दूर कर सकता है। भारत की जो डाक्टर-मंडलियाँ नेफ़ा में काम कर रही हैं उन्हें इन पुरोहितों के साथ हिल-मिल कर काम करना पड़ता है। अगर ये इन पुरोहितों को मूर्ख और जाहिल कहने लगें, तो इनका कोई इलाज ही न करे। एक पुरोहित ने एक डाक्टर के साथ सुलह की तो इस अवसर को सूअर की बलि देकर उसने मनाया। जिन लोगों के रोग के सम्बन्ध में ऐसे विचार हों, उनके स्वास्थ्य का गिरना निश्चित है।

नफ़ा के इलाकों में कुष्ठ भी बहुत फैला हुआ है। ६ अगस्त १९५० को नेफ़ा-एजेन्सी ने पासीघाट में एक कुष्ठावास (Leprosy Colony) खोला। इसके बाद १९५२ में अलोंग में एक और कुष्ठावास खोला गया और १९५३ में तावांग में एक तीसरा कुष्ठावास अर्थात् कुष्ठ रोगियों की बस्ती खोली गई। ये रोगी आराम से रखे जाते हैं, जन-जातियों में जैसी झोंपड़ियाँ बनाई जाती हैं, वैसी ही झोंपड़ियों में इन्हें रखा जाता है, अपने-आप ये खेती करते हैं, अपना खाना आप बनाते हैं। इन्हें अपना मनचाहा जीवन बिताने की पूरी सुविधा है। इन इलाकों में गला बढ़ जाने की, 'गॉयटर' की बीमारी भी बहुत अधिक है। प्रायः पहाड़ी इलाकों में यह बीमारी पायी जाती है। इसका मुख्य कारण पानी में आयोडीन की कमी होता है। नेफ़ा की तरफ़ से इन इलाकों में पानी की सुविधा बढ़ाने का प्रयत्न हो रहा है। यह भी उद्योग हो रहा है कि इन प्रदेशों के लोग जिस नमक का उपयोग करें, वह आयोडीन मिश्रित हो, ताकि गला बढ़ जाने की बीमारी यहाँ न रहे।

रोगों के अलावा जन-जातियों के रीति-रिवाजों के कारण भी इन लोगों की जन-संख्या घट रही है। उदाहरणार्थ, अनेक जन-जातियों में शिशु-हत्या की प्रथा पायी जाती है। अक्सर भोजन की कमी के कारण अनेक जन-जातियाँ बच्चों का गला घोट देती हैं, या उन्हें जंगली जानवरों के सामने डाल देती हैं। सुन्दर स्त्रियों का अपहरण किया जाना भी अनेक जन-जातियों की सामाजिक-प्रथा है। इससे बचने के लिए अनेक जन-जातियाँ सुन्दर स्त्रियों को स्वयं मार डालती हैं, ताकि उनके कारण उन पर कोई हमला न करे। इस प्रकार स्त्रियों की कमी हो जाने के कारण भी कई जन-जातियों की संख्या में कमी हो रही है। कई जन-जातियों में कन्या का विवाह करने के लिए पैसा देना पड़ता है। ये लोग कन्याओं को मार डालते हैं। इन सब प्रथाओं का जन-जातियों के स्वास्थ्य तथा संख्या पर काफ़ी प्रभाव पड़ता है।

(ख) सांसारिक-संपर्क के अभाव से पैदा होने वाली समस्याएँ—जन-जातियों के सामने दो ही रास्ते हैं। या तो वे संसार के सभ्य कहलाये जाने वाले लोगों के साथ सम्पर्क स्थापित करें, या न करें। दोनों हालतों में इनकी भिन्न-भिन्न समस्याएँ खड़ी हो जाती हैं। अगर ये दुनियाँ से अलग-अलग रहें, जैसा वे रह रही हैं, तो इनकी समस्याएँ इनके भीतर से ही उठ खड़ी होती हैं। उदाहरणार्थ, इनके खेती करने के ढंग पर हम पहले लिख आये हैं। पहले ये जंगल को काट देते हैं, बचे-खुचे झाड़-झंकाड़ को आग लगा देते हैं, उसकी राख पर बीज छिड़क देते हैं। एक-दो साल अच्छी खेती होती है, फिर भूमि की उर्वरा शक्ति नष्ट हो जाती है। ऐसी हालत में उस जगह को छोड़ कर वे खेती के लिए दूसरी जगह बनाने लगते हैं। इधर वर्षा अधिक होने के कारण पहली जमीन, क्योंकि वहाँ से वृक्ष कट चुके होते हैं, भूमि को रोक नहीं सकते, और सारी जमीन कट-कट कर बह जाती है। परिणाम यह होता है कि इन लोगों को अपने गाँव को पहली जगह से

उठा कर दूसरी जगह बसाना पड़ता है, ये लोग भूखे मरने लगते हैं। इन समस्याओं का समाधान तो यही हो सकता है कि ये जन-जातियाँ सभ्य कहलाये जाने वाले लोगों के सम्पर्क में आयें और उनसे खेती आदि करन के उचित उपायों और साधनों को सीखें, परन्तु सांसारिक सम्पर्क में आने से इनमें दूसरी तरह की समस्याएँ उठ खड़ी होती हैं।

(ग) सांसारिक-संपर्क के कारण पैदा होने वाली समस्याएँ—जब ये जन-जातियाँ सभ्य कहे जाने वाले लोगों के सम्पर्क में आती हैं तब इनमें दूसरी समस्याएँ उठ खड़ी होती हैं। इनका सम्पर्क साहूकारों, ठेकेदारों से होता है, ये मजदूरी के लिए चाय-बागान में जाते हैं। साहूकार इनका पैसा-पैसा सूंत लेते हैं, ठेकेदार इनसे सस्ते में मजदूरी कराते हैं। कई जगह तो अनेक जन-जातियों की हालत गुलामों से बेहतर नहीं है। देहरादून के इलाके में जौनसार-बावर प्रदेश में कोल्टा जन-जाति के लोग हैं जिनसे पुश्त-दर-पुश्त गुलामों का-सा बर्ताव किया जा रहा है। ये जन-जातियाँ सभ्य-समाज से अलग रहें तब भी इनकी मुसीबत, सभ्य-समाज के बीच रहें तब भी इनकी मुसीबत। बेगार की प्रथा का शिकार भी इन्हें सभ्य-समाज के बीच में रहने से होना पड़ता है। इसके अतिरिक्त सभ्य लोगों के बीच में रहने से सभ्यता के सब रंग इन पर चढ़ने लगते हैं। गर्मी, सुजाक, वेश्यागमन, शराब, जुआ—ये सब सभ्य-समाज के वरदान हैं। जब जन-जाति के लोग सभ्य-समाज के सम्पर्क में आते हैं तब इन सब को भी उससे सीख जाते हैं। मजदूर लोग शहरों से ये सब उपहार लेकर जब घरों को जाते हैं तब अपने बाल-बच्चों, स्त्रियों में इन सब उपहारों को बाँट देते हैं।

(घ) जन-जातियों की सांस्कृतिक-समस्याएँ—जन-जातियों के सांस्कृतिक-वर्गीकरण के विषय में हम पहले लिख आये हैं, परन्तु इनके पुनर्वास के प्रश्न को समझने के लिए इनकी सांस्कृतिक-समस्या को समझना भी जरूरी है। इनकी सांस्कृतिक-समस्या क्या है? इनकी सांस्कृतिक-समस्या उन लोगों ने पैदा की है जो लोग जन-जाति के नहीं हैं। जब अंग्रेज लोग थे, तब वे जन-जातियों के सम्पर्क में आये। जन-जाति के लोगों ने देखा कि ये काले और वे गोरे, वे हुकूमत करने वाले और ये जिन पर हुकूमत की जा रही है। इसके अतिरिक्त अंग्रेज लोग जन-जाति के इन लोगों को घृणा की दृष्टि से भी देखते हैं। इससे जन-जाति के अनेक लोगों में अपने प्रति हीनता की भावना उत्पन्न हो गई। इसके साथ ईसाई उनमें गये, हिन्दू गये, इन सब ने उनको हीनता की दृष्टि से देखा और उन्होंने भी इन लोगों के मुकाबिले में अपने को हीन ही समझा। परिणाम यह हुआ कि जन-जाति के कुछ लोग अपना रहन-सहन, रीति-रिवाज, धर्म-कर्म छोड़ कर ईसाई हो गये, और कई हिन्दू हो गये। कइयों को जबर्दस्ती ईसाई बना लिया गया। इच्छा से, अनिच्छा से जो लोग ईसाई या हिन्दू हो गये, उन्होंने समझा था कि वे अपनी हीनता की समस्या को हल कर रहे हैं, परन्तु इस परिवर्तन के साथ उनके सम्मुख और समस्या उठ खड़ी हुई। यह समस्या क्या थी? उनके सम्मुख सब से

बड़ी समस्या तो यह उठ खड़ी हुई कि वे न इधर के रहे, न उधर के रहे। जन-जाति के लोग उनको इसलिए दुतकारने लगे क्योंकि उन्होंने बाप-दादाओं के रास्ते को छोड़ दिया, हिन्दुओं और ईसाइयों में उन्हें खपाने को कोई तैयार न हुआ।

इसके अतिरिक्त इन लोगों के सम्मुख और भी कई तरह की सांस्कृतिक-समस्याएँ खड़ी हो गईं। जन-जाति के जिन लोगों ने अपनी जन-जाति के सम्बन्धों को तोड़ डाला, उन्होंने अपनी भाषा को भी तिलांजलि दे दी। आस-पास की दूसरी सभ्य-जातियों की भाषाओं को उन्होंने ग्रहण कर लिया। भाषा क्या है, भाषा तो भाव का प्रतीक है। संस्कृति के जो मूल्यांकन होते हैं, वे भाषा द्वारा ही अभिव्यक्त किये जाते हैं। जिस संस्कृति के जो मूल्य हैं, उन मूल्यों के लिए उस-उस भाषा में अपने-अपने शब्द होते हैं। संस्कृत में 'चातुर्वर्ण्य' शब्द है, यह इस संस्कृति के मूल्य को अभिव्यक्त करता है। संस्कृति का मूल्य पहले होता है, भाषा उस मूल्य को अभिव्यक्त करने का एक साधनमात्र है। जन-जाति के जिन लोगों ने अपनी भाषा को भुला कर दूसरी भाषाओं को अपना लिया, उनके जीवन में यह समस्या उठ खड़ी हुई कि नवीन भाषाओं के शब्द संस्कृति के जिन मूल्यों को अभिव्यक्त करते थे, उनसे तो जन-जाति के लोग परिचित थे नहीं, इसलिए ये नवीन भाषाएँ उनके लिए मूल्यांकनहीन हो गईं। जन-जातियों के इन लोगों के अपनी संस्कृति के जो मूल्य थे उन्हें तो ये छोड़ नहीं सके, अपनी भाषा को इन्होंने छोड़ दिया, जिस नवीन भाषा को इन्होंने अपनाया उस भाषा में पड़े हुए संस्कृति के मूल्य इनकी संस्कृति के नहीं थे—इस प्रकार इनके जीवन में सांस्कृतिक-दृष्टि से एक खाई उठ खड़ी हुई, इनके जीवन में एक शून्य पैदा हो गया। अपनी संस्कृति को ये लोग न छोड़ते तो इन्हें सदा हीनता की भावना सताती रहती, अपनी संस्कृति को छोड़ दिया तो इनका जीवन संस्कृति के मूल्यों से शून्य हो गया—यह सांस्कृतिक-समस्या, इच्छा से, अनिच्छा से अपनी संस्कृति को छोड़ने वाले जन-जाति के व्यक्ति के जीवन में हर समय बनी रहती है।

मनुष्य का स्वभाव है कि जिस संस्कृति में वह पैदा होता है, जिसमें वह पलता है, उसी में उसे सुख मिलता है। इसमें सन्देह नहीं कि जन-जातियों के लोग नंगे रहते हैं, हम उन्हें नंगा रहने के लिए धिक्कारते हैं, वे हम से कपड़ा पहनना भी सीख जाते हैं, परन्तु कपड़ा पहनना सीख कर क्या वे सुखी हो गये हैं? इतना पैसा तो उनके पास है नहीं कि वे कई कपड़े खरीद सकें। एक कपड़ा जब तक वह चीथड़ा नहीं हो जाता, वे पहने रहते हैं। उसमें जूएँ हो जाती हैं, बदबू आने लगती है, लाभ के स्थान में इससे उन्हें नुकसान हो जाता है। इससे तो बिना कपड़े के रहना अच्छा है। धर्म के संबंध में भी ईसाइयत या हिन्दू-धर्म की जो बातें हम उन्हें सिखा देते हैं, उनसे उनकी आत्मा को उतना सन्तोष नहीं होता जितना अपनी जन-जाति में प्रचलित धार्मिक भावनाओं और अपनी धार्मिक-प्रथाओं से उन्हें सन्तोष होता है। इसमें सन्देह नहीं कि जन-जाति के लोगों के सम्मुख सांस्कृतिक-दृष्टि से एक बड़ी समस्या है। क्या वे अपने बाप-दादाओं के समय से चली आ रही संस्कृति में अक्षुण्ण-भाव से बने रहें, नंगे रहते हैं तो नंगे रहें, जादू-टोने को

मानते हैं तो उसी में विश्वास करते रहें, या वे अपने को बदलें। अगर वे अपने को नहीं बदलते तो सभ्य जातियों की तुलना में वे अपने को हीन समझने लगते हैं, अगर बदलते हैं तो जिन विश्वासों के आधार पर और जिन सांस्कृतिक-मूल्यों के कारण वे जीवन में निश्चिन्त थे, सुखी थे, उन्हें छोड़ना पड़ता है। इस सांस्कृतिक-दुविधा के कारण संसार की सब जन-जातियाँ आज एक संकट में से गुज़र रही हैं।

१३. भारत की जन-जातियों का प्रशासन
(Tribal Administration in India)

जन-जातियों के प्रशासन को दो कालों में बाँटा जा सकता है। एक काल तो ब्रिटिश समय का है, दूसरा स्वराज्य-प्राप्ति के बाद का है। इन दोनों कालों में जन-जातियों के प्रशासन की नीति में कुछ भेद रहा है। नीति के इस भेद को ध्यान में रखते हुए हम इन दोनों कालों के प्रशासन पर यहाँ कुछ प्रकाश डालेंगे :—

(क) ब्रिटिश-काल की जन-जातियों के प्रशासन की नीति—अंग्रेज़ों का मुख्य उद्देश्य अपने साम्राज्य का विस्तार करना था। इसी उद्देश्य को पूरा करने के लिए उन्होंने जन-जातियों पर भी हाथ डाला। बंगाल में राजमहल पहाड़ी इलाकों की कुछ जन-जातियों ने वहाँ के हिन्दू ज़मींदारों के खिलाफ़ विद्रोह खड़ा कर दिया था, उसे दबाने के लिए अंग्रेज़ों ने अपनी शस्त्र-शक्ति का सहारा लिया, परन्तु कुछ देर बाद अंग्रेज़ों ने जन-जातियों के सम्बन्ध में अपनी नीति को बदला। ज़बर्दस्ती करने के स्थान में शान्ति के मार्ग का अवलम्बन उन्हें अधिक सुविधाजनक प्रतीत हुआ। जन-जातियों के सरदारों को शान्त रहने के लिए पेंशनें दी जाने लगीं। १७८२ में इस प्रदेश के शासक श्री ऑगस्टस क्लीवलैंड की सिफ़ारिश पर राजमहल के पहाड़ी इलाके को साधारण-शासन से अलग कर दिया गया। इस इलाके की व्यवस्था का भार यहीं के स्थानीय-नेताओं की बनी अदालतों के सुपुर्द कर दिया गया। इन जन-जातियों का इनके ज़मींदारों से सम्बन्ध तोड़ दिया गया और इन्हें ज़मींदारों की मार्फ़त ज़मीनें मिलने के स्थान में सीधे सरकार से ज़मीनें दी जाने लगीं। आधारभूत नीति यह थी कि इन जन-जातियों के काम-काज में 'न्यूनतम हस्तक्षेप' (Laissez-faire) की नीति का आश्रय लिया जाय जिससे वे समय-समय पर भड़कते न रहें। यह सब-कुछ करने के बाद भी अंग्रेज़ों ने जन-जातियों के साथ किये जाने वाले व्यवहार में दूरदर्शिता का परिचय नहीं दिया, क्योंकि जन-जातियों के कुछ वर्गों को इन्होंने अपराधी घोषित करके उन पर 'अपराधी-जन-जाति-कानून' (Criminal Tribes Act) लगा दिया जिसके अनुसार साधारण अपराधी की अपेक्षा इस जन-जाति के व्यक्ति को साधारण से अधिक सज़ा देने की व्यवस्था थी। इस प्रकार अंग्रेज़ों की नीति जन-जातियों के सम्बन्ध में कोई निश्चित नीति नहीं रही।

क्लीवलैंड तथा उसके बाद आने वाले शासकों के प्रयत्न से १७९६ में बंगाल की राजमहल पहाड़ियों की रहने वाली जन-जातियों के शासन के लिए, जिन्हें साधारण-शासन से अलग कर दिया गया था, एक 'पर्वतीय-परिषद्' (Hill

Assembly) की स्थापना की गई, जिसका काम इस प्रदेश का शासन तथा शासन के नियमों का बनाना था। इस परिषद् ने इन जन-जातियों के लिए जो नियम बनाये, उन्हें 'रेगूलेशन—I' के नाम से जन-जातियों में जारी किया गया। इन नियमों का जन-जातियों पर कोई अच्छा प्रभाव नहीं पड़ा। शासन में भ्रष्टाचार बढ़ने लगा, अयोग्य व्यक्ति भरे जाने लगे। परिणाम यह हुआ कि ३०—३१ साल बाद १८२७ में '१७९६ का रेगूलेशन—I' रद्द करना पड़ा और इसके स्थान में '१८२७ का रेगूलेशन—I' जारी कर दिया गया। इस नये रेगूलेशन के अनुसार राजमहल की पहाड़ियों की जन-जातियों को फिर से कुछ अंश तक साधारण-शासन के आधीन कर दिया गया। १८५५ तक यही हालत रही। १८५५ में सन्थाल लोगों ने विद्रोह कर दिया। इस विद्रोह को दबाने के लिए जहाँ-जहाँ विद्रोह था वहाँ-वहाँ के शासकों को विशेष अधिकार दे दिये गये जिनसे वे इस प्रकार के विद्रोहों को दबा सकें। १९१९ में 'गवर्नमेंट ऑफ़ इंडिया एक्ट' पास हुआ। इस एक्ट की ५२—ए (२) धारा के अनुसार गवर्नर-जनरल को अधिकार दे दिया गया कि जिन इलाकों को वह खास तौर पर पिछड़ा हुआ समझता है, उन्हें साधारण शासन में से पृथक् कर के, उनमें, वहाँ की परिस्थिति के अनुसार एक भिन्न प्रकार की शासन-व्यवस्था को जारी कर सके। इस प्रकार साधारण-शासन से अलग किये गये प्रदेश दो तरह के थे—'आंशिक बाह्य-प्रदेश' (Partially excluded areas) तथा 'सर्वथा बाह्य-प्रदेश' (Wholly excluded areas)। इन पृथक् किये हुए बाह्य-प्रदेशों में से कुछ प्रदेशों को उस समय की विधान-सभाओं में अपने प्रतिनिधि भेजने का अधिकार बिलकुल नहीं दिया गया, कुछ के प्रतिनिधि नामजद करने का अधिकार सरकार ने अपने हाथ में रखा और कुछ को अपने प्रतिनिधि निर्वाचित करने का अधिकार दे दिया गया। १९३५ में 'गवर्नमेंट ऑफ़ इंडिया एक्ट' में फिर संशोधन हुआ। इस एक्ट के अनुसार कई विभाग मिनिस्टरों के सुपुर्द किये गये। इनमें भी 'सर्वथा बाह्य-प्रदेशों' (Wholly excluded areas) के विषय में तो मिनिस्टरों को कोई अधिकार नहीं दिये गये, परन्तु 'आंशिक-बाह्य-प्रदेशों' (Partially excluded areas) के विषय में मिनिस्टरों को अधिकार दिये गये। वे इन प्रदेशों के विषय में छान-बीन कर सकते थे, इनके सम्बन्ध में कानून बना सकते थे। अब तक अंग्रेजों की नीति नकारात्मक नीति थी। वे इन जन-जातियों का सुधार नहीं करना चाहते थे, इनको दबाये रखना चाहते थे, मौका पड़े तो इनका शोषण करना चाहते थे। देशी मिनिस्टरों के हाथ में जब से सत्ता आयी, तब से शासन का दृष्टिकोण बदलने लगा और इन जन-जातियों के सुधार की, इनकी सामाजिक तथा आर्थिक उन्नति की भावना ने जन्म लिया। नतीजा यह हुआ कि १९३५ के बाद भिन्न-भिन्न प्रान्तों में जो भारतीय मंत्रि-मंडल बने उन्होंने जन-जातियों की अवस्था पर विचार करने के लिए कमेटियाँ बनानी शुरू कर दीं। इस प्रकार की कमेटियाँ बिहार, उड़ीसा, मद्रास, बम्बई आदि में बनीं। ये कमेटियाँ अपना काम न कर पायी थीं कि द्वितीय विश्व-युद्ध छिड़ गया और कांग्रेस मंत्रि-मंडल ने इस्तीफ़ा

दे दिया। इसके बाद जन-जातियों के इतिहास में स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद से दूसरा युग शुरू हुआ।

(ख) स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद १९४७ से जन-जातियों के प्रशासन की नीति—स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद भारत का जो 'संविधान' बना उसमें पिछड़ी जातियों तथा जन-जातियों के लिए खास व्यवस्थाएँ की गई थीं। 'संविधान' की भूमिका में कहा गया था कि भारत के प्रत्येक नागरिक के साथ सामाजिक, आर्थिक तथा राजनैतिक न्याय किया जायगा, प्रत्येक को अपने स्वतंत्र विचार रखने, उन्हें प्रकट करने, अपने विश्वास रखने तथा धर्म-कर्म की स्वतंत्रता होगी, सब की स्थिति समान होगी, सब को समान अवसर मिलेगा। 'संविधान' में आधारभूत अधिकारों का परिगणन करते हुए भारत के प्रत्येक नागरिक को यह विश्वास दिलाया गया था कि धर्म, प्रजाति, लिंग तथा जन्म के कारण किसी के साथ कोई भेद-भाव नहीं बर्ता जायगा। क्योंकि अंग्रेजों के समय में जन-जातियों के साथ अन्य लोगों से भेद का बर्तावा, धर्म, नस्ल, प्रजाति तथा जन्म के आधार पर किया जाता था, इसलिए जन-जातियों की दृष्टि से 'संविधान' की यह बात बड़े महत्त्व की थी।

संविधान के अनुच्छेद (Article) २३ के अनुसार किसी व्यक्ति से जबर्दस्ती काम लेना ग़ैर-कानूनी घोषित कर दिया गया। अब तक जन-जातियों से जबर्दस्ती मजदूरी का काम लिया जाता था।

संविधान के अनुच्छेद २९ के अनुसार अल्प-संख्यक जनता की संस्कृति की राज्य द्वारा रक्षा का आश्वासन दिया गया। जन-जातियों की अपनी संस्कृति है, इसलिए इस अनुच्छेद के अनुसार उन्हें अपनी संस्कृति की रक्षा प्राप्त करने का अधिकार प्राप्त हो गया।

संविधान के अनुच्छेद ४६ में कहा गया कि राज्य जनता के दुर्बलतर विभागों की, विशेषतया अनुसूचित जातियों तथा अनुसूचित जन-जातियों की शिक्षा तथा आर्थिक हितों की विशेष सावधानी से उन्नति करेगा। सामाजिक अन्याय तथा सब प्रकार के शोषण से उनकी रक्षा करेगा। इससे भी जन-जातियों को शिक्षा, आर्थिक उन्नति तथा शोषण से बचाने का आश्वासन दिया गया।

संविधान के अनुच्छेद १६४ के अनुसार बिहार, मध्य-प्रदेश और उड़ीसा में जन-जातियों के कल्याण के लिए एक अलग मंत्रालय की स्थापना की व्यवस्था की गई।

संविधान के अनुच्छेद २४४ के अनुसार संविधान में दो शिड्यूल संलग्न किये गये। इनमें से एक पाँचवाँ शिड्यूल है, दूसरा छठा शिड्यूल है। पाँचवें शिड्यूल में यह कहा गया है कि असम को छोड़ कर अन्य राज्यों के 'अनुसूचित क्षेत्रों तथा अनुसूचित जन-जातियों' (Scheduled areas and tribes) का प्रशासन किस प्रकार होगा; छठे शिड्यूल में असम की जन-जातियों के प्रशासन की व्यवस्था बतलाई गई है।

अनुच्छेद २४४ के पाँचवें शिड्यूल में कहा गया है कि जिन-जिन राज्यों में जन-जातियाँ हैं, उनके राज्यपाल, जब उनसे कहा जायगा, तब राष्ट्रपति को अपने प्रदेशों की जन-जातियों के प्रशासन की रिपोर्ट दिया करेंगे, और इस रिपोर्ट पर राष्ट्रपति जो आदेश देंगे, उसका राज्यपाल पालन करेंगे। इस शिड्यल में यह भी कहा गया है कि जन-जातियों वाले राज्यों में एक 'जन-जाति सलाहकार समिति' (Tribes Advisory Council) होगी, जिसमें २० सदस्य होंगे। इन बीस में से तीन-चौथाई सदस्य वे होंगे जो अनुसूचित जन-जातियों के प्रतिनिधि के तौर पर अपने राज्य की विधान-सभा में चुने जाकर आये होंगे। इस शिड्यूल में यह भी कहा गया है कि राज्यपाल जन-जातियों के सम्बन्ध में सामान्य कानूनों को लागू होने से रोक सकता है। राज्यपाल इन जन-जातियों के सम्बन्ध में जो कानून बनायेगा वह 'जन-जाति सलाहकार समिति' के परामर्श से बनायेगा, परन्तु ये परामर्श राज्यपाल पर बाधित रूप से लागू नहीं होंगे।

अनुच्छेद २४४ के छठे शिड्यूल में कहा गया है कि असम के जन-जातीय-प्रदेशों को दो भागों में बाँटा जायगा। एक तो 'स्वायत्त-ज़िले' (Autonomous Districts) होंगे, दूसरे 'स्वायत्त-क्षेत्र' (Autonomous areas) होंगे। 'स्वायत्त-ज़िलों' में 'ज़िला-समितियाँ' (District Councils) होंगी, 'स्वायत्त-क्षेत्रों' में 'क्षेत्रीय-समितियाँ' (Regional Councils) होंगी। ये समितियाँ भूमि, जंगल, सिचाई, खेती, ग्राम तथा शहर कमेटियों के नियम, मुखियाओं की नियुक्ति, जायदाद, विरासत, विवाह तथा अन्य सामाजिक प्रथाओं के सम्बन्ध में कानून बनायेंगी। ये समितियाँ न्याय-व्यवस्था का भी प्रबन्ध करेंगी। इन समितियों को प्राथमिक-शिक्षणालय खोलने, धन एकत्रित करने, आय-कर लगाने का भी अधिकार होगा। पार्लियामेंट या राज्यों के कानूनों को अपने क्षेत्रों में लागू होने से भी ये समितियाँ रोक सकती हैं। राज्यपाल को अधिकार होगा कि इन समितियों के हिसाब की जाँच कराये। अगर राज्यपाल यह अनुभव करे कि इन समितियों से भारत को किसी प्रकार का खतरा होने लगा है, तो वह इन्हें भंग भी कर सकता है।

संविधान के अनुच्छेद २७५ के अनुसार जन-जातियों के कल्याण तथा सुशासन के लिए केन्द्रीय-सरकार द्वारा राज्य सरकारों को अनुदान देने की व्यवस्था भी की गई।

संविधान के अनुच्छेद ३२५ के अनुसार यह व्यवस्था की गई कि कोई भी व्यक्ति धर्म, नस्ल, जाति अथवा लिंग के आधार पर मत-दान के अधिकार से वंचित न रहेगा।

संविधान के अनुच्छेद ३३० और ३३२ के अनुसार अनुसूचित पिछड़ी जातियों तथा जन-जातियों के लिए लोक-सभा तथा राज्यों की विधान-सभाओं में कुछ सीटों को संविधान के लागू होने के दस साल बाद तक के लिए सुरक्षित रखा गया है।

संविधान के अनुच्छेद ३३५ के अनुसार पिछड़ी जातियों तथा जन-जातियों को नौकरी के स्थानों के लिए विशेष ध्यान रखन का आश्वासन दिया गया है।

संविधान के अनुच्छेद ३३८ के अनुसार अनुसूचित पिछड़ी जातियों तथा जन-जातियों के लिए राष्ट्रपति द्वारा एक विशेष पदाधिकारी की नियुक्ति की व्यवस्था की गई है। इस पद पर पिछले कई वर्षों से श्रीयुत् श्रीकांत काम कर रहे हैं जो अनुसूचित पिछड़ी जातियों तथा जन-जातियों के कमिश्नर कहलाते हैं। ये प्रतिवर्ष अपने काम की रिपोर्ट प्रकाशित करते हैं जो पार्लियामेंट में पेश होती है, उस पर बहस भी होती है।

संविधान के अनुच्छेद ३३९ के अनुसार राष्ट्रपति से कहा गया है कि संविधान लागू होने के दस साल तक के अनुसूचितों के शासन के सम्बन्ध में एक रिपोर्ट तैयार करने का आदेश दें जिससे पता चल सके कि इन दस सालों के भीतर अनुसूचित वर्गों ने क्या-क्या उन्नति की।

संविधान के अनुच्छेद ३४० के अनुसार राष्ट्रपति को अधिकार दिया गया है कि वे पिछड़े वर्गों की वास्तविक स्थिति की जाँच के लिए एक आयोग नियुक्त कर सकें, जो इन वर्गों की उन्नति कैसे हो सकती है—इस सम्बन्ध में सुझाव दे। १९५२—५३ में श्री काका कालेलकर की अध्यक्षता में ऐसा एक आयोग बनाया गया जिसने ३१ मार्च १९५५ में अपनी रिपोर्ट राष्ट्रपति को दे दी।

संविधान के अनुच्छेद ३४२ के अनुसार राष्ट्रपति को अधिकार दिया गया है कि वे राज्यपालों तथा राजप्रमुखों से सलाह-मशविरा करके जन-जातियों में से कौन-सी अनुसूचित श्रेणी में सम्मिलित की गई हैं—इसकी घोषणा कर दें।

१४. भारत की जन-जातियों का भविष्य

भारत की जन-जातियों का भविष्य क्या है ? क्या उन्हें भारतीय-समाज से अलग रखा जाना ठीक है, या उन्हें भारतीय-समाज में मिला लिया जाना ठीक है ? उनकी स्थिति अब जो है सो तो है ही, परन्तु क्या इस स्थिति में कुछ परिवर्त्तन आना चाहिए, अगर परिवर्त्तन आना चाहिए तो क्या—ये सब प्रश्न मानव-शास्त्रियों के विचार के विषय बन रहे हैं।

(क) डा० हट्टन के विचार—१९३१ की भारतीय जन-गणना के सर्वोपरि अधिकारी डा० हट्टन (Hutton) थे। उन्होंने जन-जातियों का बड़ा गहराई से अध्ययन किया था। उनका कहना है कि जन-जातियों का सभ्य-समाज से बिलकुल 'एकान्तीकरण' (Isolation) भी ठीक नहीं, उनका सभ्य-समाज में बिलकुल 'आत्मसात्करण' (Assimilation) भी ठीक नहीं। अपनी विशेषताओं के लिए उनका अलग रहना भी ठीक है, अपनी भौतिक आवश्यकताओं की पूर्त्ति के लिए उनका सभ्य-समाज से सम्पर्क बनाये रखना भी ठीक है।

(ख) डा० एलविन के विचार—डा० एलविन का कहना है कि हमें जन-जातियों के अतिरिक्त जो लोग हैं, उन्हें जन-जातियों के क्षेत्र से बिलकुल अलग

कर देना चाहिए, जन-जातियों के जीवन में किसी प्रकार का हस्त-क्षेप नहीं करना चाहिए। एक तरह से जन-जातियों के क्षेत्र 'राष्ट्रीय-पार्क' (National parks) का रूप धारण कर जाने चाहिएँ। जैसे बड़े-बड़े पार्कों में भिन्न-भिन्न प्रकार के वृक्ष-वनस्पति होते हैं, वैसे ये जन-जातियों के क्षेत्र भी एक प्रकार के मनुष्यों की विभिन्नताओं के पार्क हो जाने चाहिएँ।

(ग) श्री घुर्ये के विचार—बम्बई के उच्च-कोटि के समाजशास्त्री श्री घुर्ये का कहना है कि जन-जातियों को आदिम-जातियाँ या आदिवासी कहना ग़लत है। मूलरूप में ये सब हिन्दुओं के अंग हैं, पिछड़े हुए हिन्दू हैं और इनका कल्याण इसी में है कि इन्हें हिन्दू-समाज का फिर से अंग बना लिया जाय।

(घ) श्री मजूमदार तथा मदन के विचार—श्री मजूमदार तथा श्री मदन का कहना है कि जन-जातियों तथा हिन्दुओं में भेद अवश्य है, घुर्ये का इन्हें एक ही कहना अत्युक्ति है। जन-जातियों की अपनी पृथक् संस्कृति है और इसका हिन्दुओं, ईसाइयों या किसी अन्य संस्कृति में 'आत्मसात्करण' लाभप्रद नहीं होगा। जन-जातियों की संस्कृति में अनेक अच्छी बातें हैं और इनका सुरक्षित रखा जाना ही उचित है। सब से अच्छी नीति यह होगी कि जन-जातियों की संस्कृति का सभ्य-समाज की संस्कृति के साथ 'नियन्त्रित आत्मसात्करण' (Controlled assimilation) किया जाय, अर्थात् उनकी अच्छी प्रथाओं, रीति-रिवाजों की रक्षा की जाय, और बुरी बातों का निराकरण किया जाय। जन-जातियों की कुछ अच्छी बातें ऐसी हैं, जो हिन्दू-लोग भी ले सकते हैं। उदाहरणार्थ, बड़ी आयु में शादी करने की प्रथा प्रायः सभी जन-जातियों में पायी जाती है जो हिन्दुओं के लिए अनुकरणीय है।

जन-जातियों तथा भारत के हित में सब से अच्छी नीति यह है कि धीरे-धीरे इन्हें भारत की ग्रामीण जनता का अंग बना दिया जाय। इस समय हमारी जनता तीन भागों में बँटी हुई है—शहर, गाँव तथा जन-जातियाँ। शहरों से कुछ दूर गाँव होते हैं, और गाँवों से भी दूर जंगलों और पहाड़ों में जन-जातियाँ रहती हैं। शहर तथा गाँव तो एक-दूसरे को जीवन प्रदान करते रहते हैं, परन्तु जंगलों तथा पहाड़ों में पड़ी जन-जातियाँ सभ्यता के किसी प्रकार के सम्पर्क में नहीं आतीं, प्रकृति की दिन-रात की कठिन समस्याओं के साथ ही उन्हें जूझना पड़ता है। अगर हम उनकी संस्कृति की भी रक्षा करना चाहते हैं, उनके भौतिक कष्टों को भी दूर करना चाहते हैं, तो धीरे-धीरे अपने देश में इस प्रकार की प्रक्रिया चलनी चाहिए जिससे इस देश के तीन के स्थान में दो प्रदेश रह जाँय—शहर तथा गाँव, और जन-जातियाँ या तो आस-पास के गाँवों में समा जाँय, या स्वयं उनके अपने पृथक् गाँव बन जाँय। गाँवों तथा शहरों की पृथक्-पृथक् संस्कृतियाँ तो सदा से रही हैं, और जबतक ये दो पृथक्-पृथक् क्षेत्र बने रहेंगे, तबतक इनकी पृथक्-पृथक् संस्कृतियाँ भी बनी रहेंगी।

५

भारत की जन-जातियाँ तथा उनका सांस्कृतिक-स्तर या अर्थ-व्यवस्था

(INDIAN TRIBES AND THEIR CULTURAL STAGES OR ECONOMIC ORGANISATION)

भारत की जन-जातियों की 'सांस्कृतिक-दशाओं' (Cultural stages) के वर्णन का अभिप्राय मुख्य तौर पर 'आर्थिक-अवस्थाओं' (Economic stages) के वर्णन से ही है। किसी भी देश या जाति की संस्कृति का निर्माण जहाँ अन्य बातों से होता है, वहाँ मुख्य तौर पर आर्थिक-संगठन संस्कृति का आधार बनता है। विशेषतः, आदि-वासियों का जीवन क्योंकि जीवन की आधारभूत खाना-पहनना-रहना आदि समस्याओं के साथ ही उलझा हुआ था इसलिए उनकी संस्कृति भी आर्थिक-स्तर पर ही थी। अर्नेस्ट ग्रोस ने लिखा है कि संस्कृति आर्थिक-कारकों से बनती है। इस से स्पष्ट है कि जन-जातियों की सांस्कृतिक-दशाओं का वर्णन करते हुए हमें मुख्य तौर पर उनकी आर्थिक-अवस्थाओं का ही वर्णन करना होगा। आर्थिक-व्यवस्था की क्या परिभाषा है ?

१. अर्थ-व्यवस्था की परिभाषा

'अर्थ-व्यवस्था' का क्या अर्थ है ? 'अर्थ-व्यवस्था' की निम्न परिभाषाएँ की जाती हैं :

[क] रूथ बुनज़ेल की व्याख्या—"अर्थ-व्यवस्था का अर्थ है—घर-बार का प्रबन्ध। यह हमारे सम्पूर्ण व्यवहार का वह संगठित रूप है जिसका काम हमारे भौतिक-शरीर को नष्ट होने से बचाना है।"

[ख] जेकब्स तथा स्टर्न की व्याख्या—"अर्थ-व्यवस्था सम्बन्धी वर्गीकरण का केन्द्रीय-विचार यह है कि इसमें 'अल्प-बचत' की अर्थ-व्यवस्था की 'दीर्घ-बचत' की अर्थ-व्यवस्थाओं के साथ तुलना की जाती है।"

[क] "Economics, literally 'household management', is the total organisation of behaviour with reference to the problems of physical survival." —*Ruth Bunzel.*

[ख] "Central feature of economic classification is that it contrasts economic systems which produce small surpluses with those that achieve large surpluses." —*Jacobs and Stern.*

[ग] मजूमदार तथा मदन की व्याख्या—"मानवीय-सम्बन्धों तथा मानवीय-उद्योग को इस प्रकार संगठित तथा नियमित करना जिससे जीवन की दिन-प्रति-दिन की आवश्यकताओं को कम-से-कम परिश्रम से पूरा किया जाय, 'अर्थ-व्यवस्था' कहलाता है। दूसरे शब्दों में, 'अर्थ-व्यवस्था' हमारा वह संगठित प्रयत्न है जिसके द्वारा हम अपने परिमित-साधनों की सहायता से ज्यादा-से-ज्यादा इच्छाओं की पूर्त्ति की चेष्टा करते हैं।"

अर्थ-व्यवस्था की ऊपर जो व्याख्याएँ दी गई हैं, उनके आधार में क्या बातें हैं? एक बात तो यह है कि जो भी 'अर्थ-व्यवस्था' हो उसे संगठित रूप में होना चाहिए, भले ही वह कितना ही प्रारम्भिक-संगठन हो। दूसरी बात यह है कि उस 'अर्थ-व्यवस्था' से हमारी आवश्यकताएँ पूरी होनी चाहिएँ—खासकर भौतिक-शरीर-सम्बन्धी आवश्यकताएँ, भोजन-सम्बन्धी, जीवन की आधार-भूत आवश्यकताएँ जिनसे शरीर को नष्ट होने से बचाया जा सके।

इस प्रकार के आर्थिक-संगठन अविकसित भी हो सकते हैं, विकसित भी। अविकसित आर्थिक-संगठनों में 'कमाना-खाना' (Production-Consumption)—ये दो बातें ही होती हैं, इनमें 'बचत' नहीं होती इसलिए इनमें 'सम्पत्ति' का विचार भी नहीं होता। विकसित आर्थिक-संगठनों में 'कमाना-खाना'—इन दो बातों के अलावा 'बचत' भी होने लगती है, 'बचत' होने से 'सम्पत्ति' का विचार भी इनमें पैदा हो जाता है। 'बचत' और 'सम्पत्ति' कैसे पैदा हो जाती हैं? जब जरूरत से अधिक पैदा होता है, तब वह अपने काम नहीं आता, वह बच रहता है, इस बचे हुए को ही 'सम्पत्ति' कहते हैं, इसे अपने पास न रख कर इससे दूसरी वस्तुओं का अदला-बदला, लेन-देन होने लगता है। यह लेन-देन ही 'वितरण' (Distribution or exchange) कहलाता है। इसलिए अविकसित आर्थिक-संगठन तो सिर्फ़ 'उत्पादन तथा उपभोग' (Production and Consumption) तक सीमित होते हैं, विकसित आर्थिक-संगठन 'उत्पादन, उपभोग तथा वितरण' (Production-consumption-distribution)—इन तीनों तक बढ़ जाते हैं। हम क्योंकि भारत की जन-जातियों की अर्थ-व्यवस्था पर लिख रहे हैं, वह अर्थ-व्यवस्था अविकसित है, इसलिए भारतीय जन-जातियों की उस अविकसित अर्थ-व्यवस्था को 'उत्पादन तथा उपभोग' (Production-consumption) के स्तर की अर्थ-व्यवस्था कहा जा सकता

[ग] "Economic organisation consists of the ordering and organisation of human relations and human effort in order to procure as many of the necessities of day-to-day life as possible with the expenditure of minimum effort. It is the attempt to secure the maximum satisfaction possible through adapting limited means to unlimited ends (needs) in an organised manner."

—*Majumdar and Madan.*

है। इस अर्थ-व्यवस्था में लेन-देन, वितरण नहीं होता, इसलिए इसमें 'सम्पत्ति' का विचार भी नहीं दिखलाई देता।

२. अर्थ-व्यवस्था का आधार

किसी जन-जाति या समाज की अर्थ-व्यवस्था का आधार क्या होता है—इस विषय में दो मत हैं। एक विचार तो यह है कि कई जन-जातियाँ या समाज अपनी नस्ल या वंशानुगत गुणों के कारण किसी आर्थिक-व्यवस्था के लिए उपयुक्त होती हैं, दूसरा विचार यह है कि किसी जन-जाति या समाज की अर्थ-व्यवस्था उसके भौगोलिक-पर्यावरण का परिणाम होती है। इन दोनों मतों पर कुछ विचार कर लेना ठीक है।

(क) नस्ल या प्रजाति पर आश्रित अर्थ-व्यवस्था का विचार—प्रजातिवादियों का कथन है कि किसी भी समाज की अर्थ-व्यवस्था उसकी प्रजाति अर्थात् नस्ल पर आश्रित होती है। प्रत्येक नस्ल का मानसिक-स्तर भिन्न-भिन्न होता है और उसी मानसिक-स्तर के अनुकूल वह प्रजाति अपनी आर्थिक-व्यवस्था का निर्माण करती है। प्रजातिवादियों की यह बात युक्ति-संगत नहीं है। हम 'प्रजातिवाद' के अध्याय में देख आये हैं कि मनुष्य की मानसिक-शक्तियों का आधार प्रजाति को नहीं कहा जा सकता।

(ख) भौगोलिक-पर्यावरण पर आश्रित अर्थ-व्यवस्था का विचार—अर्थ-व्यवस्था के सम्बन्ध में दूसरा विचार यह है कि मनुष्य जिस प्रकार के भौगोलिक-पर्यावरण में रहता है उसके अनुकूल अर्थ-व्यवस्था को उत्पन्न कर देता है। जन-जातियों का भौगोलिक-पर्यावरण क्या है? वे लोग जंगलों में रहते हैं, चारों तरफ़ जंगली पेड़ों तथा जंगली फलों से घिरे रहते हैं। उनकी अर्थ-व्यवस्था उसी के अनुसार बन जाती है। वे जंगल से लकड़ी काट लाते हैं, फलों को इकट्ठा कर लाते हैं, जंगल के जानवरों का शिकार करते हैं। उनके अस्त्र-शस्त्र भी पहाड़ों तथा घाटियों में रहने के कारण पत्थरों के बने होते हैं। कहने का अभिप्राय यह है कि जैसे पर्यावरण में वे रहते हैं, वैसी ही अर्थ-व्यवस्था का वे निर्माण कर लेते हैं। पर्यावरणवादियों की यह बात युक्ति-संगत प्रतीत होती है। तभी जैसे अविकसित अर्थ-व्यवस्था में मनुष्य जंगल में रहने के कारण जंगली वस्तुओं से अपनी अर्थ-व्यवस्था का निर्माण करता है, वैसे विकसित अर्थ-व्यवस्था में शहरों में रहने के कारण वह शहरी वस्तुओं से अपनी अर्थ-व्यवस्था का निर्माण करता है। हर हालत में उसकी अर्थ-व्यवस्था का निर्माण उसके भौगोलिक-पर्यावरण से होता है।

३. जन-जातियों की अर्थ-व्यवस्था के भिन्न-भिन्न प्रकार (Types of Economic Organisation of Tribal People)

जिन विद्वानों ने मानव के प्रागितिहासिक-काल का अध्ययन किया है उनका कहना है कि मनुष्य की आर्थिक-व्यवस्था का केन्द्र सदा भोजन की तलाश रहा होगा। भोजन की तलाश करते हुए जैसे भौतिक-पर्यावरण में मानव रहा होगा

वैसी आर्थिक-व्यवस्था उत्पन्न हो गई होगी। उदाहरणार्थ, प्रागैतिहासिक-काल में जब मानव पाषाण-युग में था, पत्थरों के उपकरणों का ही इस्तेमाल करना जानता था, तब कृषि तो नहीं कर सकता होगा, तब जंगल से फल-मूल चुग लाता होगा। जैसे-जैसे पर्यावरण में वह अपने को पाता गया भोजन को पाने के लिए उसके अनुकूल अर्थ-व्यवस्था का वह आविष्कार करता गया। प्रागैतिहासिक-काल के विद्वानों के इस निष्कर्ष के आधार पर भिन्न-भिन्न विद्वानों ने आदिवासियों की अर्थ-व्यवस्थाओं का प्रतिपादन किया है जिनमें से कुछ निम्न हैं:

(क) एडम स्मिथ द्वारा आदिवासियों की अर्थ-व्यवस्था का वर्गीकरण --एडम स्मिथ का कहना था कि आदिवासियों की अर्थ-व्यवस्था का —'आखेटक' (Hunters), 'पशु-पालक' (Pastoral) तथा 'कृषक' (Agriculturist)—इस प्रकार तीन में वर्गीकरण किया जा सकता है।

(ख) लिस्ट का वर्गीकरण—लिस्ट ने एडम स्मिथ के आदिवासियों की अर्थ-व्यवस्था के वर्गीकरण को और अधिक पूर्ण करने के लिए 'हस्त-कला' (Handi-crafts) तथा 'औद्योगिक-कार्य' (Industrial pursuits)—इन दो को पहले तीन के साथ जोड़ कर उन की अर्थ-व्यवस्था का वर्गीकरण पाँच में विभक्त कर दिया।

(ग) हिल्डब्रैण्ड का वर्गीकरण—हिल्डब्रैण्ड ने अर्थ-व्यवस्था का वर्गीकरण एक और आधार पर किया। उसका कथन है कि पहले-पहल अर्थ-व्यवस्था में वस्तुओं का लेन-देन होता है, उस समय मुद्रा का चलन नहीं होता। यह अवस्था 'वस्तु-विनिमय' (Barter) की अर्थ-व्यवस्था होती है। उसके बाद 'मुद्रा' (Money) का प्रयोग होने लगता है, और वस्तुओं के विनिमय के स्थान में मुद्रा द्वारा वस्तुओं का लेना-देना होता है। मुद्रा के बाद अर्थ-व्यवस्था के विकास में एक ऐसा समय आ जाता है जब बिना मुद्रा के भी लेन-देन होने लगता है—इसे 'उधार' (Credit) की अर्थ-व्यवस्था कहते हैं। इस प्रकार 'वस्तु-विनिमय', 'मुद्रा' तथा 'उधार' (Barter, money, credit)—इन क्रमों में से अर्थ-व्यवस्था का विकास होता है।

(घ) ग्रोस का वर्गीकरण—ग्रोस ने अर्थ-व्यवस्था का वर्गीकरण करते हुए कहा है कि संसार की अर्थ-व्यवस्थाएँ विकास के एक क्रम में से गुजरती हैं। पहले-पहल आदिवासियों की अर्थ-व्यवस्था 'फल-मूल एकत्र करने की अर्थ-व्यवस्था' (Collectional economy) होती है, उसके बाद मनुष्य जानवर पालने लगता तथा उन्हें जगह-जगह चराता फिरता है जिसे 'फिरन्दर अर्थ-व्यवस्था' (Nomadic economy) कहते हैं, उसके बाद वह किसी स्थान में रह कर कृषि आदि करने लगता है जिसे 'ग्राम्य अर्थ-व्यवस्था' (Village economy) कहते हैं। ग्राम के बाद नगर, नगर के बाद महानगर या राजधानियाँ बनती हैं जिन्हें 'नगर-अर्थ-व्यवस्था' (Town economy) तथा 'राजधानी-अर्थ-व्यवस्था' (Metro-politan economy) कहते हैं। इनमें से हर-एक 'अर्थ-व्यवस्था' का अपना

रूप दूसरी अर्थ-व्यवस्था से अपने पर्यावरण के कारण भिन्न होता है और पहली के बाद दूसरी विकसित होती है।

४. अर्थ-व्यवस्थाओं में विकास होता है या नहीं ?

ऊपर हमने जिन भिन्न-भिन्न प्रकार की अर्थ-व्यवस्थाओं का वर्णन किया उनमें विकास होता है, एक के बाद दूसरी आती है, आदिवासी पहले एक अर्थ-व्यवस्था को अपनाते हैं बाद को विकसित होते-होते वे दूसरी अर्थ-व्यवस्था का निर्माण करते हैं, या ये सब अर्थ-व्यवस्थाएँ आदिवासियों में एक-साथ पायी जाती हैं—इस बात पर विद्वानों में मत-भेद है। ऊपर हमने जिन विद्वानों का वर्णन किया है, वे तो प्रायः अर्थ-व्यवस्था में क्रम के पक्षपाती हैं, परन्तु इस सम्बन्ध में एक दूसरा पक्ष भी है। वह पक्ष क्या है ?

डेरिल फ्रोर्ड का कथन है कि संसार के आदि-वासियों की जितनी भी अर्थ-व्यवस्थाएँ पायी जाती हैं, उन्हें किसी एक ही प्रकार का नहीं कहा जा सकता। जो लोग फल-मूल एकत्रित करते हैं वे शिकार भी करते हैं, पशु भी पालते हैं, खेती भी करते हैं। आदिवासियों की अर्थ-व्यवस्थाओं को मिली-जुली अर्थ-व्यवस्था कहा जा सकता है, किसी एक प्रकार की अर्थ-व्यवस्था नहीं कहा जा सकता। गौर्डन चाइल्ड का भी यही मत है। हर्स्कोविट्स का भी यही कहना है कि आदिवासियों में फल-मूल चुगना, शिकार करना, मछली पकड़ना, खेती करना, पशु पालना—ये सब एक-साथ पाये जाते हैं, इनमें से किसी का दूसरे के बाद विकास हुआ—यह नहीं कहा जा सकता।

५. आदिवासियों की अर्थ-व्यवस्था का स्वरूप
(Nature of Primitive Economies)

वैसे तो आदिवासियों की अर्थ-व्यवस्था के भिन्न-भिन्न प्रकार हैं, और इन भिन्न-भिन्न प्रकारों का हम ऊपर वर्णन कर आये हैं, फिर भी इन सब भिन्न-भिन्न प्रकारों में कुछ एकरूपता भी पायी जाती है। इस एकरूपता से ही उनकी अर्थ-व्यवस्था का स्वरूप बनता है। आदिवासियों की अर्थ-व्यवस्था में—चाहे वह फल-मूल एकत्रित करने की हो, चाहे शिकारीपन, पशु-पालन या कृषि-सम्बन्धी हो—निम्न बातें एक-समान पायी जाती हैं:

(क) भौतिक-पर्यावरण से शारीरिक तथा मानसिक आवश्यकताओं को पूर्ण करना—इन सब अर्थ-व्यवस्थाओं का उद्देश्य भौतिक-पर्यावरण के सीमित स्रोतों से मनुष्य की असीमित शारीरिक तथा मानसिक इच्छाओं को पूर्ण करना होता है। शरीर की इच्छाएँ खाना-पीना पहनना-रहना आदि हैं। अर्थ-व्यवस्था का काम इन इच्छाओं को पूर्ण करना है। मन की इच्छाएँ आनन्द-मौज-बहार हैं। अर्थ-व्यवस्था का काम इन इच्छाओं को भी पूर्ण करना है। ये इच्छाएँ दिनोंदिन बढ़ती जाती हैं, इनकी कोई सीमा नहीं, यद्यपि इन इच्छाओं को जिन साधनों से पूरा किया जा सकता है, वे सीमित हैं।

(ख) प्रतिदिन की आवश्यकता को प्रतिदिन पूर्ण करना—आदिवासियों की अर्थ-व्यवस्था में प्रौद्योगिक-साधन नहीं होते, कला-मशीन का तब तक आविष्कार नहीं हुआ होता, इसलिए प्रकृति से जो साधन प्राप्त किये जा सकते हैं, वे अत्यन्त अपर्याप्त तथा अपूर्ण होते हैं, कहीं-कहीं तो इस अर्थ-व्यवस्था में साधनों का अपव्यय भी होता है। बड़ी कठिनाई से जीवन को कायम रखने के साधन एकत्र किये जा सकते हैं, इन साधनों से 'बचत' का तो कहीं सवाल ही नहीं पैदा होता। आजीविका का प्रश्न रोज खड़ा होता है, और रोज ही अपने परिश्रम से उसे हल करना होता है। रोज फल-फूल चुगना, रोज शिकार करना—यह आदिवासियों के लिए आवश्यक है। वे घर-बैठे चैन से अपनी 'बचत' पर जीवन-यापन नहीं कर सकते।

(ग) 'मुद्रा' का प्रयोग न होना—आदिवासियों की 'अर्थ-व्यवस्था' में 'मुद्रा' (Money) का प्रयोग नहीं होता। 'मुद्रा' का आविष्कार तो विकसित समाज की देन है। आदिवासियों में आपस में लेन-देन 'मुद्रा' (Money) द्वारा न होकर 'वस्तु-विनिमय' (Barter) द्वारा होता है।

(घ) 'लाभ' की भावना का न होना—आदिवासियों की अर्थ-व्यवस्था में अपने 'लाभ' (Profit) का उद्देश्य नहीं होता। उनमें अधिकतर एक-दूसरे की सहायता करना, एक-दूसरे को लाभ पहुँचाना, मिल कर और बाँट कर किसी वस्तु के उपभोग की भावना पायी जाती है।

(ङ) समाजवादी अर्थ-व्यवस्था—आदिवासियों की अर्थ-व्यवस्था को समाजवादी अर्थ-व्यवस्था कहा जा सकता है। वे किसी वस्तु का उत्पादन एक-दूसरे के सहयोग से करते हैं इसलिए उनमें उस वस्तु का स्वामित्व तथा उपभोग भी वैयक्तिक रूप से न होकर सामूहिक रूप से होता है।

(च) स्थिरता का होना—आदिवासियों की अर्थ-व्यवस्था में, आजकल की तरह के दिन-प्रतिदिन नवीन-नवीन आविष्कार न हो सकने के कारण, परिवर्तन बहुत कम होता है। आजकल तो नवीन उपकरणों तथा नवीन आविष्कारों से उत्पादन के साधन नये-नये आते जाते हैं, आदिवासियों की अर्थ-व्यवस्था में यह सब नहीं हो सकता। वह एक प्रकार की स्थिर अर्थ-व्यवस्था है।

(छ) प्रतिस्पर्धा तथा प्रतियोगिता का न होना—आदिवासियों की अर्थ-व्यवस्था में आजकल की-सी अर्थ-व्यवस्था के दिनभर के बाजार नहीं पाये जाते। उनमें सप्ताह में एक बार बाजार भरता है या कहीं-कहीं उत्सवों-त्यौहारों के समय बाजार लगते हैं और उसी समय सब लोग अपनी आवश्यकता के अनुसार वस्तुएँ खरीद ले जाते हैं। उस अर्थ-व्यवस्था में किसी व्यक्ति का किसी वस्तु पर एकाधिकार नहीं होता, न ही उस अर्थ-व्यवस्था में आजकल की-सी प्रतिस्पर्धा या प्रतियोगिता होती है।

(ज) उपयोगिता-परक अर्थ-व्यवस्था—आदिवासियों की अर्थ-व्यवस्था में जीवन के लिए अत्यन्त उपयोगी वस्तुओं का ही उत्पादन होता है। उदाहरणार्थ,

खाना-कपड़ा-सुरक्षा के पदार्थ ही इस अर्थ-व्यवस्था में उत्पन्न किये जाते हैं। भोग-विलास के पदार्थों का इस अर्थ-व्यवस्था में स्थान नहीं के बराबर समझना चाहिए। इस दृष्टि से इसे 'उपभोग-परक अर्थ-व्यवस्था' (Consumption economy) कहा जा सकता है, 'उत्पादन-परक अर्थ-व्यवस्था' (Production economy) नहीं।

(झ) विशेषीकरण का आधार सिर्फ़ स्त्री-पुरुष की भिन्नता का होना—आदिवासियों की अर्थ-व्यवस्था में प्राविधिक-ज्ञान उन्नत अवस्था में नहीं होता, इसलिए उनमें विशषीकरण की अवस्था भी नहीं आती। कोई बढ़ई का काम कर रहा है, कोई लोहार का—यह अवस्था विशेषीकरण की अवस्था है, और इसका विकास समाज की उन्नत अवस्था में पाया जाता है। आदिवासी-समाज में स्त्री-पुरुष का कार्य-विभाजन तो होता है, कोई काम स्त्रियाँ करती हैं, कोई पुरुष, परन्तु वैसे सब काम सभी लोग कर लेते हैं। स्त्री-पुरुष का कार्य-विभाजन इसलिए शुरू-शुरू के समाज में भी पाया जाता है क्योंकि दोनों की शारीरिक-प्रकृति भिन्न-भिन्न है। स्त्री को मासिक-धर्म होता है, वह गर्भवती होती है, बच्चा पैदा करती है, जीवन के बहुत-से भाग में पुरुष के समान कार्य करने में अपनी प्रकृति के कारण असमर्थ होती हैं, इसलिए स्त्री-पुरुष के रूप में तो कार्य-विभाजन या श्रम-विभाजन आदिवासियों में पाया जाता है, अन्य प्रकार का श्रम-विभाग इस अर्थ-व्यवस्था में नहीं पाया जाता।

६. भारत के आदिवासियों की अर्थ-व्यवस्था का स्वरूप अथवा सांस्कृतिक-दशाएँ (Economies of Indian Tribes or Cultural stages)

आर्थिक-अवस्थाओं से ही संस्कृति का निर्माण होता है, इसलिए आर्थिक-अवस्थाओं का निरूपण और सांस्कृतिक-दशाओं का निरूपण एक ही बात है। जैसा हम ऊपर कह आये हैं आदिवासियों की अर्थ-व्यवस्था के सम्बन्ध में निश्चित तौर पर यह नहीं कहा जा सकता कि कौन-सी पहली है, कौन-सी बाद की है। इनकी अर्थ-व्यवस्था को 'मिश्रित-अर्थव्यवस्था' (Mixed economy) कहा जा सकता है। जो लोग शिकार करके आजीविका का निर्वाह करते हैं, वे खेती भी साथ-साथ करते हैं, पशु भी पालते हैं। भारत के आदिवासियों की अर्थ-व्यवस्था को भी 'मिश्रित-अर्थ-व्यवस्था' कहा जा सकता है। फिर भी अगर इन अर्थ-व्यवस्थाओं पर अलग-अलग तौर पर विचार किया जाय, तो जिस प्रकार ये भारत की भिन्न-भिन्न जन-जातियों में पायी जाती हैं, उसका विवरण निम्न है :

(क) फल-मूल एकत्रित करने तथा शिकार करने की अर्थ-व्यवस्था या दशा (Food gathering and hunting economy or stage)—बहुत-सी जन-जातियाँ तो जंगल में रहती हैं, इसलिए स्वाभाविक तौर पर वे जंगल में घूमती-फिरती, फल-मूल चुगती हुई या शिकार करती हुई अपना निर्वाह

करती हैं। इस श्रेणी में जो जन-जातियाँ आ जाती हैं वे हैं--ट्रावनकोर-कोचीन के कादर तथा मलैपंडारम, उड़ीसा के बिरहोर, मद्रास के चेंचू आदि। कादर जन-जाति के विषय में कहा जाता है कि आज-दिन तक इस जन-जाति के लोग जंगलों में रहते और फल-मूल चुन कर अपना निर्वाह करते हैं। अन्य जन-जातियों में खेती की आर्थिक-व्यवस्था पायी जाती है। उनकी खेती एक खास प्रकार की होती है। उसे नागा लोग झूम, भूइया लोग इसे 'दहि' तथा 'कोमन' कहते हैं, मरिया लोग इसे 'पेंडा' कहते हैं, खोंद लोग इसे 'पोडु' कहते हैं, बैगा लोग इसे 'बेवार' कहते हैं। इसका विवरण हम आगे देंगे, परन्तु इस प्रकार की कृषि-सम्बन्धी अर्थ-व्यवस्था भी ट्रावनकोर-कोचीन की कादर जन-जाति में नहीं पायी जाती, वे सिर्फ़ जंगलों में फल-मूल एकत्रित करके ही आजीविका का निर्वाह करते हैं।

क्योंकि इन लोगों का निर्वाह जंगल के फल-मूल-कन्द से ही चलता है, इस-लिए जंगल-सम्बन्धी कानूनों का इन लोगों की आजीविका पर बहुत बड़ा असर पड़ता है। जंगल के कानून बनाते समय इन जन-जातियों की आजीविका के प्रश्न को ध्यान में रखना जरूरी है।

(ख) फल-मूल तथा आदिम-कृषि करने वाली मध्य-मार्गीय अर्थ-व्यवस्था या दशा (Midway economy or stage)—कुछ जन-जातियाँ ऐसी हैं, जो कृषि की नवीन-पद्धतियों को नहीं जानतीं, आदिम-जातियों में जैसी-तैसी खेती होती थी, उसी के अनुसार खेती करती ह, उतने से निर्वाह नहा हो पाता, इसलिए वे इस आदिम प्रकार की खेती के साथ-साथ जंगलों में से फल-मूल भी बटोर लाती हैं। ये जन-जातियाँ सिर्फ़ कन्द-मूल तथा सिर्फ़ कृषि पर निर्वाह करने वाली जन-जातियों के बीच की हैं। विन्ध्य-प्रदेश की कमार, बैगा आदि जन-जातियाँ इसी श्रेणी की हैं। जंगलात के कानूनों का प्रभाव इस श्रेणी की जन-जातियों की अर्थ-व्यवस्था पर भी पड़ता है।

(ग) कृषि से निर्वाह करने की अर्थ-व्यवस्था या दशा (Agricultural economy or stage)—कुछ जन-जातियाँ ऐसी हैं जिनकी आजीविका का मुख्य साधन तो कृषि है, परन्तु गौण रूप से वे जंगल के फल-मूल भी बटोर लाती हैं। १९५१ की जन-गणना के अनुसार भारत के १ करोड़ ९० लाख आदि-वासियों में से १ करोड़ ७० लाख व्यक्तियों की आजीविका का साधन कृषि है। कृषि करने वाली इन जन-जातियों में मुख्य-मुख्य हैं—ओराओं, मुण्डा, भील, सन्थाल, मझवार, खारवार, बैगा, कोरवा, गोंड, हो तथा असम की जन-जातियाँ। पूर्वोत्तर-प्रदेशों तथा मध्य-भारत की जन-जातियाँ इसी श्रेणी की हैं। इन लोगों की कृषि करने की पद्धति अपने ढंग की है। वह क्या है?

आदिवासियों की कृषि-पद्धति को 'कृषि-स्थान परिवर्तन' या 'स्थान-परिवर्त्ती-कृषि' (Shifting cultivation) कहते हैं। आज तो नयी-नयी खादों के निकल आने से भूमि की उपजाऊ शक्ति को बढ़ाया जा सकता है। आदि-वासियों के लिए यह-सब सम्भव नहीं है। वे पहले एक स्थान को खेती के लिए

चुनते हैं, वहाँ के जंगल-झाड़-झंकाड़ को आग लगा देते हैं, जब सब राख हो जाता है, उस पर वर्षा पड़ लेती है, तब उसमें बीज बो देते हैं। यह राख खाद का काम देती है। जब दो-एक बार एक ही जगह पर खेती हो चुकती है और भूमि की उपजाऊ शक्ति नष्ट हो जाती है, तब वे कृषि का स्थान बदल देते हैं। इस पद्धति को, जैसा हम ऊपर लिख आये हैं, 'झूम', 'दहि' या 'दाहिया', 'पेंडा', 'पोडु', 'बेवार' आदि नामों से पुकारते हैं।

कृषि की इस व्यवस्था से भूमि का बहुत नाश होता है। आदिवासियों को यह समझाने की जरूरत है कि कृषि-सम्बन्धी नवीन खादों के प्रयोग से उसी भूमि को वे उर्वरा बनाये रख सकते हैं। जिस समय भूमि का अधिक उपयोग नहीं था, जन-संख्या कम थी, भूमि अधिक थी, उस समय यह पद्धति चल सकती थी, परन्तु वर्तमान युग में आदिवासियों को इसे छोड़ने के लिए प्रेरित करना होगा।

(घ) दस्तकारी अथवा उद्योगों की अर्थ-व्यवस्था या दशा (Handicraft or industrial economy or stage)—कृषि के अलावा जन-जातियों में, दस्तकारी की कई चीजें बनायी जाती हैं। वे सूत कातते, कपड़ा बुनते, टोकरियाँ, बर्तन, रस्सी, चटाई आदि बनाते हैं जिनसे अपनी जन-जाति की स्थानीय आवश्यकताएँ पूर्ण हो जाती हैं। उदाहरणार्थ, गोंड लोग धातु की चीजें बनाते हैं, कपड़ा बुनते हैं, बेंत के सामान और मट्टी के बर्तन बनाते हैं। कोरवा और अगरिया भी धातु को गला कर अनेक प्रकार के उपकरण बनाते हैं। ये उपकरण बहुत परिष्कृत तो नहीं होते, परन्तु इनसे आदिवासियों का काम चल जाता है। घासी लोग मरे जानवरों की आँतों से ताँत बनाते हैं; थारू लोग खेती करते हैं परन्तु साथ ही घर के काम आने वाले बर्तन, टोकरियाँ, वाद्य-यंत्र, रस्सी, चटाई आदि बनाते हैं। मद्रास में इरुला जन-जाति के लोग बाँस से चटाई, टोकरी आदि तैयार करते हैं।

इन जन-जातियों का कृषि के साथ-साथ कोई सहायक उद्योग करना उनकी आय को बढ़ाता है और जब कृषि का समय नहीं होता उस समय इन्हें काम में लगाये रखता है। कृषक के लिए यह बड़ी समस्या रहती है कि जब खेती करने का समय नहीं होता, तब वह अपने समय का कैसे उपयोग करे और अपनी आमदनी को कैसे बढ़ाये। ऐसा प्रतीत होता है कि इन जन-जातियों ने कृषि के साथ-साथ सहायक-उद्योग जारी करके इस समस्या को हल कर लिया है। आज जो हमारी पंच-वर्षीय-योजनाएँ बन रही हैं उनमें भी यह प्रयत्न किया जा रहा है कि किसानों को कुछ ऐसे उद्योग-धंधे सिखाये जायें जिनसे वे कृषि के साथ-साथ इन उद्योगों के द्वारा अपनी आय को बढ़ा सकें।

(ङ) पशु-पालन की अर्थ-व्यवस्था या दशा (Pastoralism or cattle-breeding stage)—पशुओं का शिकार करने की अपेक्षा पशुओं का पालन अधिक लाभदायक है। शिकार करने से तो पशु एक बार ही काम आता है, उसे पाल लेने से वह दीर्घ-काल तक दूध, दही, मक्खन, घी, ऊन आदि देता है, इसलिए जन-जातियों में पशु-पालन की अर्थ-व्यवस्था तथा उसके आधार पर बनी

हुई संस्कृति प्रचुर मात्रा में पायी जाती है। पशु पालने के लिए चारागाहों की जरूरत रहती है। पशु चरागाहों की घास शीघ्र ही चर कर समाप्त कर देते हैं, इसलिए पशु-पालक जन-जातियाँ चरागाहों का स्थान बदलती रहती हैं। ये अक्सर खानाबदोश या फिरन्दर होती हैं।

हिमाचल प्रदेश के गूजर सर्दियों में अपने जानवरों को लेकर मैदानों में उतर आते हैं, जंगलों में दिन-रात बाल-बच्चों सहित पड़े रहते हैं, वहीं जानवरों को चराते और दूध बेचते हैं। गर्मियों में वे लोग अपना सब सामान लेकर चम्बा की पहाड़ियों पर चढ़ जाते हैं। उत्तर-प्रदेश के भोटिया पशु-पालन तथा कृषि—दोनों व्यवसाय करते हैं। नीलगिरि के टोडा भैंसों को पालते हैं, दूध-दही के साथ अन्य वस्तुओं का विनिमय कर अपना निर्वाह करते हैं। टोडा जन-जाति की संस्कृति का आधार भैंस है। ठीक ऐसे जैसे हिन्दुओं की संस्कृति का आधार गौ है। उनके सामाजिक तथा धार्मिक विधि-विधान भी भैंस के इर्द-गिर्द ही घूमते हैं।

(च) औद्योगिक-क्षेत्रों में मजदूरी की अर्थ-व्यवस्था या दशा (Industrial labour economy or stage)—जब से देश में उद्योग प्रारम्भ हुए हैं, मशीनें लगी हैं, तब से जन-जातियों की अर्थ-व्यवस्था में एक अन्य तत्त्व ने प्रवेश किया है। या तो उद्योग उन इलाकों में प्रारम्भ हुए हैं जहाँ जन-जातियाँ पहले से निवास करती थीं, या औद्योगिक-क्षेत्रों में जन-जातियों के लोग आजीविका के लिए चले जाते हैं। इस प्रकार मजदूरी कर के वे अर्थोपार्जन करने लगे हैं। बिहार, उड़ीसा तथा मध्य-प्रदेश से आदिवासी लोग असम की पहाड़ियों में चाय-बाग़ान में काम करने जाते हैं। जैसा हमने अभी कहा, अनेक उद्योग भी आदिवासियों के इलाकों में लगे हैं। बंगाल, बिहार तथा मध्य-प्रदेश के अनेक स्थान जहाँ आदिवासी रहते हैं अनेक उद्योगों के लिए अत्यन्त उपयुक्त पाये गये हैं। परिणाम यह हुआ है कि वहाँ कल-कारख़ाने खड़े कर दिये गये हैं और आदिवासियों को अपने घर के पास ही काम करने का मौका मिल गया है। इस प्रकार इस नवीन अर्थ-व्यवस्था ने उनके जीवन में प्रवेश किया है। इससे वे वर्त्तमान सभ्य-समाज के सम्पर्क में आ रहे हैं और इस सम्पर्क से उनकी सामाजिक तथा सांस्कृतिक धारणाएँ भी पहले की अपेक्षा बदलती जा रही तथा दूसरों की संस्कृतियों से प्रभावित हो रही हैं।

७. कुछ जन-जातियों की अर्थ-व्यवस्था का विवरण

आदिवासियों, अर्थात् जन-जातियों की अर्थ-व्यवस्था को ठीक-ठीक समझने के लिए कुछ जन-जातियों की अर्थ-व्यवस्था का विवरण देना असंगत न होगा। इससे उनकी अर्थ-व्यवस्था तथा संस्कृति का कुछ-कुछ चित्र सामने आ जायगा, इसलिए हम कुछ जन-जातियों के सम्बन्ध में यहाँ उनका विवरण दे रहे हैं:

(क) कमार—इस जन-जाति के लोग मध्य-प्रदेश के रायपुर जिले के आस-पास रहते हैं। इन लोगों का निवास जंगलों, पहाड़ों, झरनों तथा सोतों के

बीच में है। इनके प्रदेश में साल, टीक, बाँस तथा अन्य उपयोगी लकड़ियाँ पायी जाती हैं जिनका ये उपयोग करते हैं। जंगलों में अनेक प्रकार के फल, कन्द आदि पाये जाते ह जिन्हें एकत्रित करके ये लोग पेट भरते हैं। जंगलों में चीता, भालू, नील गाय, हिरन आदि पाये जाते हैं जिनका ये लोग शिकार करते हैं।

लकड़ियों में बाँस का कमार लोगों में बहुत अधिक उपयोग होता है। ये लोग बांस से टोकरियाँ बनाते हैं। टोकरियों के अलावा बाँस का ही मछलियाँ पकड़ने का एक जाल-सा बनाते हैं जिसमें मछलियाँ आकर अटक जाती हैं। बाँस के साथ-साथ जंगल की लकड़ी काट कर उसे ये पानी में बेड़ा बनाकर बहा देते हैं और बेड़े के साथ-साथ स्वयं भी तैरते चले आते हैं। भिन्न-भिन्न नगरों में वे नदी के बहाव के साथ लकड़ी लाकर उसे बेच देते हैं।

फल-मूल में कमार लोग कन्द, महुआ, आम, जामन तथा अनेक प्रकार की जड़ें निकाल कर पेट भरते हैं। शिकार के लिए ज्यादातर इनमें मछली का शिकार किया जाता है। मछली का शिकार इनके यहाँ अपने ढंग का निराला शिकार है। जिस जगह मछलियाँ अधिक होती हैं वहाँ पानी के बहाव के सामने लकड़ी-मट्टी आदि से ये लोग एक प्रकार का बाँध लगा देते हैं जिससे मछलियाँ उसी हिस्से में बनी रहती हैं। इस बंधे पानी पर वे 'माँज' बखेर देते हैं। 'माँज' एक प्रकार का मछलियों को नशे में लाने का पदार्थ है। जब मछलियाँ 'माँज' के प्रयोग से नशे में आ जाती हैं तो वे पानी की सतह पर तैरने लगती हैं। इस समय सब लोग तीरों से मछलियों को बींध देते हैं और उन्हें टोकरियों में इकट्ठा करते जाते हैं। कमारों का यह जीवन है।

(ख) कोरवा—इस जन-जाति के लोग उत्तर-प्रदेश के मिर्जापुर जिले के दुद्धी परगने में रहते हैं। इस प्रदेश में पानी की कमी है, जमीन पथरीली है, हल ठीक तरह चल नहीं सकता, उससे सिर्फ़ जमीन खुरची जाती है, जोती नहीं जाती। इन सब कारणों से कोरवा लोग जंगल के फल-मूल पर आश्रित रहते हैं, खेती करते हैं तो वह वैसी खेती जिसे हम ऊपर 'कृषि-स्थान परिवर्त्तन' या 'स्थान-परिवर्त्ती कृषि' (Shifting cultivation) का नाम दे आये हैं। वे जंगल में आग लगा देते हैं, झाड़ी-झंकाड़ राख हो जाता है, इस राख के बुझ जाने पर वे इसमें बीज बो देते हैं। जब एक-दो फ़सल हो चुकने के बाद वे समझ लेते हैं कि इस जमीन की उपजाऊ-शक्ति नष्ट हो गई, तो वे किसी दूसरी जगह खेती करने लगते हैं। इस प्रकार खेती का स्थान बदलते रहने के कारण इनकी कृषि संबंधी-व्यवस्था को 'कृषि-स्थान परिवर्त्तन' या 'स्थान-परिवर्त्ती-कृषि' (Shifting cultivation) का नाम दिया गया है। इससे भूमि का अत्यन्त अपव्यय होता है, परन्तु क्योंकि कोरवा लोग आजकल की कृषि-सम्बन्धी खाद आदि का उपयोग नहीं जानते, इसलिए उन्हें इसी प्रकार की खेती करनी पड़ती है। कोरवा लोगों को जीवन के लिए अत्यन्त संघर्ष करना पड़ता है इसलिए ये परिश्रमी होते हैं, जीवन की समस्या का डट कर मुकाबिला करते हैं।

(ग) हो—हो जन-जाति बिहार के सिंघभूम तथा उसके आस-पास के जिलों में रहती है। इस जाति का केन्द्रीय स्थान कोल्हन स्थान है। इस जन-जाति की रचना में परिवार तथा जन-जाति—ये दोनों आपस में दृढ़ सूत्र से बंधे हुए हैं। भोजन की सामग्री उत्पन्न करना केवल वैयक्तिक-परिवार का काम नहीं है, यह सारी-की-सारी हो जन-जाति का काम है। जब भोजन-सामग्री का उत्पादन कर लिया जाता है, तब उसका वैयक्तिक-परिवारों में विभाजन कर दिया जाता है, और तब यह परिवार की जिम्मेदारी हो जाती है कि वह समूह द्वारा उत्पन्न की हुई भोजन-सामग्री का अपव्यय न होने दे। इस जन-जाति की अर्थ-व्यवस्था का आधार कृषि है, परन्तु कृषि के साथ-साथ दिल-बहलाव के लिए मछली पकड़ना या जंगल में शिकार खेलना भी इनमें पाया जाता है। यद्यपि आजकल के संघर्षमय जीवन की छाप इनके भीतर भी पड़ने लगी है, तो भी अब भी हो जन-जाति का जीवन वैयक्तिक न होकर सामूहिक-जीवन है, भोजन का उत्पादन सामूहिक तौर पर ही किया जाता है। इसका यह अभिप्राय नहीं कि इनकी अर्थ-व्यवस्था का आधार साम्यवाद है, इसका इतना ही अर्थ है कि इन लोगों ने यह अनुभव किया है कि उत्पादन का कार्य वैयक्तिक रूप से करने की अपेक्षा सामूहिक रूप से करने पर अधिक अच्छा हो सकता है। आज जिस सहकारी-कृषि की बहुत जोरों से चर्चा है वह हो जन-जाति में पहले से पायी जाती है।

इन लोगों में 'विशेषीकरण' के महत्त्व को भी समझा जाता है। भिन्न-भिन्न व्यक्ति अपने-अपने व्यवसायों में विशेष योग्यता सम्पन्न करते हैं। विशेषज्ञों को 'मुद्रा' के रूप में पैसा न देकर 'वस्तु-विनिमय' के रूप में जो वे चाहते हैं वह दे दिया जाता है। स्त्रियां मकान सजाने तथा डिज़ाइन बनाने में प्रवीण होती हैं, पुरुष हाथ की कारीगरी में स्त्रियों से आगे बढ़े होते हैं। टोकरी बनाना, रस्से बांटना आदि का कार्य स्त्री-पुरुष तथा अन्य सभी लोग कर लेते हैं।

जैसा हमने अभी कहा, इस जन-जाति में 'मुद्रा' के स्थान में 'वस्तु-विनिमय' द्वारा आदान-प्रदान होता है। ये लोग एक-दूसरे को सहायता देने के लिए कार्य करते हैं। अगर किसी को किसी सहायता की जरूरत है, तो दूसरे उसका हाथ बंटाते हैं, और समय पड़ने पर इस सहायता का प्रतिफल सहायता के रूप में देते हैं। जब से 'मुद्रा' ने इन लोगों में प्रवेश किया है तब से इनकी अर्थ-व्यवस्था का ह्रास होने लगा है। अब सहायता के लिए सहायता करने की भावना के स्थान में 'मुद्रा' के प्रवेश के कारण पैसे के लिए सहायता की भावना धीरे-धीरे आती जा रही है। अभी तक खेती करना, मछली पकड़ना, शिकार खेलना आदि सब-कुछ सामूहिक तथा सहकारी तरीके से ये लोग करते रहे हैं, परन्तु 'मुद्रा' के प्रवेश के कारण यह अवस्था कबतक चलती रहेगी—यह नहीं कहा जा सकता।

अपनी जन-जाति के समुदाय को ये लोग 'किल्ली' कहते हैं। बच्चे यद्यपि परिवार के समझे जाते हैं, तो भी बच्चों की शिक्षा-दीक्षा का निश्चय करना

'किल्ली' की ज़िम्मेदारी है। अगर कोई व्यक्ति समाज की प्रथा का उल्लंघन करता है, तो 'किल्ली के पंच' उसे दंड देते हैं, और परिवार की ज़िम्मेदारी है कि उस दंड को व्यक्ति पर लागू करे। परिवार में बीमारी तो होती ही रहती है, परन्तु बीमारी होने पर 'किल्ली' को अधिकार है कि वह इस प्रकार की बीमारी के फैलने को रोकने के साधन जुटाये। 'किल्ली' की तरफ़ से सामूहिक-पूजा का उपक्रम किया जाता है जिसमें प्रत्येक परिवार को अपना-अपना हिस्सा देना होता है। परिवार में विवाह, मृत्यु, उत्सव होते हैं, परन्तु ये सब वैयक्तिक-स्तर पर न होकर जातीय-स्तर पर किये जाते हैं, और इन सब के करने में सारी-की-सारी 'किल्ली' भाग लेती है। यह बात यहाँ तक बढ़ी हुई है कि वधू के लिए जो दहेज दिया जाता है उसमें सारी-की-सारी 'किल्ली' अपना हिस्सा देती है, यह बोझ सिर्फ़ परिवार के ऊपर नहीं पड़ता।

हो जन-जाति का परिवार हिन्दुओं के संयुक्त-परिवार की तरह का होता है जिसमें भाई-चाचा-ताया सभी सम्मिलित रहते हैं। क्योंकि इस जन-जाति म कन्या के विवाह के लिए बहुत अधिक पैसा देना पड़ता है, इसलिए कभी-कभी इस संयुक्त-परिवार में अविवाहिता कन्याएँ भी शामिल रहती हैं जिनका पैसे की कमी के कारण विवाह नहीं हो सका होता।

८. आदिवासियों में सम्पत्ति तथा उत्तराधिकार

(क) आदिवासियों में सम्पत्ति का विचार—'सम्पत्ति' का क्या अर्थ है ? 'सम्पत्ति' का अर्थ है—'बचत'। जब हम अपनी आवश्यकताओं से अधिक पैदा कर लेते हैं, उसका उपयोग नहीं कर सकते, तब वह बच रहता है, यह 'बचत' ही 'सम्पत्ति' कहलाती है। आदिवासियों में आवश्यकताओं से अधिक पैदा करने की गुंजाइश ही नहीं होती। अगर वे फल-मूल एकत्र करने की आर्थिक-व्यवस्था में हैं, तो उतने ही फल लाते हैं जितनों की ज़रूरत होती है, अधिक लायें तो सड़ जायें; अगर वे शिकार करने की अर्थ-व्यवस्था में हैं तो एक-दो जानवरों का शिकार कर लाते हैं, ढेरों-के-ढेर तो ले नहीं आते; अगर वे पशु-पालन की अर्थ-व्यवस्था में हैं तो उतने जानवर रखते हैं जितनों की उन्हें ज़रूरत होती है। इन सब अर्थ-व्यवस्थाओं में 'मुद्रा' का प्रयोग नहीं हो रहा होता, 'वस्तु-विनिमय' द्वारा काम चलता रहता है, अगर कुछ बचत होती भी है तो वह अपने लिए ज़रूरी वस्तुएँ प्राप्त करने के लिए अदला-बदली में समाप्त हो जाती है। विकसित अर्थ-व्यवस्था में, ऐसी अर्थ-व्यवस्था में जिसमें व्यक्ति आवश्यकता से अधिक जोड़ने लगता है, जिसमें जोड़ने के कारण वैयक्तिक-स्वामित्व का भाव उत्पन्न हो जाता है—ऐसी 'अर्थ-व्यवस्था' में 'सम्पत्ति' का भाव उत्पन्न हो जाता है और 'मुद्रा' का चलन होने लगता है, 'वस्तु-विनिमय' का प्रयोग नहीं रहता।

वर्तमान अर्थों में आदिवासियों में 'सम्पत्ति' की भावना का अभाव पाया जाता है। वे लोग जोड़कर रखना नहीं जानते। अगर यह कहा जाय कि आदिवासियों की अर्थ-व्यवस्था समाजवादी अर्थ-व्यवस्था है, तो कोई अत्युक्ति न होगी।

आजकल जिन अर्थों में 'साम्यवाद'-शब्द का प्रयोग होता है, उस अर्थ से तो आदिवासी परिचित नहीं हैं; परन्तु यह कहा जा सकता है कि विकास की प्रक्रिया में मनुष्य ने 'वैयक्तिक'-स्वामित्व को अपनी सुरक्षा का साधन इतना नहीं समझा जितना 'सामूहिक'-स्वामित्व को समझा। उनमें जंगल समूह की सम्पत्ति माने जाते हैं, नदी-तालाब जिनमें मछलियाँ पकड़ी जाती हैं समूह की सम्पत्ति समझे जाते हैं, चरागाह समूह की सम्पत्ति समझे जाते हैं। ऊपर हम बिहार की 'हो' जन-जाति की चर्चा कर आये हैं। उसमें कृषि भी व्यक्ति न करके समूह-का-समूह करता है। सब खेतों में व्यक्तियों के नहीं, समुदाय के हल चलते हैं, सामूहिक-कृषि-व्यवस्था उनमें मौजूद है।

इसका यह अर्थ नहीं कि आदिवासियों में 'सम्पत्ति' या 'वैयक्तिक'-स्वामित्व का अत्यन्त अभाव है। फल-मूल एकत्र करने वाले सरल-संस्कृति के आदिवासियों के समुदायों में भी भाला, तीर-कमान तो अपना होता ही है, हाँ, उत्पादन के जो स्रोत हैं, जहाँ से उन्हें आजीविका के पदार्थ मिलते हैं—पेड़, जंगल, नदी, तालाब—ये सब वस्तुएँ जो आज व्यक्ति की सम्पत्ति बने हुए हैं, ये आदिवासियों में समूह की सम्पत्ति माने जाते हैं। ज्यों-ज्यों मनुष्य विकसित होता गया, त्यों-त्यों 'सामूहिक-सम्पत्ति' से 'वैयक्तिक-सम्पत्ति' के विचार ने जन्म लिया। जो स्थान उत्पादन के केन्द्र थे, उन पर समुदाय की जगह समर्थ व्यक्तियों ने कब्जा कर लिया।

हमने कहा कि आदिवासियों में सम्पत्ति के विचार का प्रायः अभाव-सा पाया जाता है, फिर भी उनमें किसी-न-किसी तरह का सम्पत्ति या वैयक्तिक-स्वामित्व का विचार है ही। आदिवासियों के अन्दर थोड़ा-बहुत जो सम्पत्ति का विचार पाया जाता है उसके सम्बन्ध में एक बात ध्यान रखने की है। हमारे समाज में तो धन-सम्पत्ति का अर्थ है व्यक्ति रूप से उसका उपभोग, आदिवासियों में धन-सम्पत्ति का अर्थ निजी उपभोग न होकर सब को खिलाना-पिलाना, समुदाय को मौज कराना समझा जाता है। जो जितना सम्पत्तिशाली होता है वह उतने ही बड़े-बड़े भोज करता है, उतना ही बिरादरी वालों को खिलाता-पिलाता है। कभी-कभी सम्पत्ति को अपने हाथ से नष्ट कर देना सम्पत्तिशाली होने का प्रमाण समझा जाता है।

(ख) आदिवासियों में उत्तराधिकार का विचार—उत्तराधिकार के नियम पितृ-सत्ताक परिवारों के अलग होते हैं, मातृ-सत्ताक परिवारों के अलग। पितृ-सत्ताक परिवारों में उत्तराधिकार लड़के को मिलता है, मातृ-सत्ताक परिवारों में लड़की को। हर हालत में उत्तराधिकार का सम्बन्ध 'सम्पत्ति' से है। आदिवासियों में क्योंकि 'सम्पत्ति' का विचार ही नहीं है इसलिए इनमें उत्तराधिकार के नियम भी बहुत थोड़े हैं। समाज में 'सम्पत्ति' का विचार जितना जटिल होगा, उत्तराधिकार के नियम भी उतने ही जटिल होते जायेंगे। आदिवासियों में सम्पत्ति का स्वामित्व समूह में निहित रहता है। व्यक्ति तो जीता-मरता है, समूह तो सदा बना रहता है, इसलिए समूह का समूह की सम्पत्ति पर स्वामित्व भी

सदा बना रहता है। इस सब के बावजूद कुछ-कुछ वैयक्तिक-स्वामित्व तो आदिवासियों में भी पाया जाता है। उस हालत में क्या होता है? प्रायः देखा जाता है कि स्त्रियों की अपनी वस्तुएँ—उनके कपड़े, गहने आदि—उत्तराधिकार में उनकी लड़कियों को, लड़कियाँ न हों तो कुटुम्ब की अन्य स्त्रियों को मिल जाती हैं, पुरुषों की अपनी वस्तुएँ—उनके कपड़े, अस्त्र-शस्त्र—उत्तराधिकार में उनके लड़कों को, लड़के न हों तो कुटुम्ब के अन्य पुरुषों को मिल जाती हैं। किसी-किसी जन-जाति में सब से बड़े लड़के को उत्तराधिकार के अधिकार मिलते हैं, किसी-किसी में लड़के के स्थान में भाइयों को अधिकार मिलते हैं, किसी-किसी में सब लड़कों को धन-सम्पत्ति बराबर-बराबर बाँट दी जाती है।

बागडा जन-जाति में बड़ा लड़का विवाह हो जाने के बाद माता-पिता से अलग हो जाता है, छोटा लड़का उनके साथ रहता है, और माता-पिता की मृत्यु के बाद यह छोटा लड़का ही उनका उत्तराधिकारी समझा जाता है। टोडा जन-जाति में पिता के मरने पर उसकी सब भैंसें लड़कों की साँझी सम्पत्ति समझी जाती हैं, परन्तु अगर उनमें बँटवारा होता है, तो सब से छोटे लड़के को अन्यों की अपेक्षा एक भैंस अधिक दी जाती है। नागा जन-जाति में भी बड़े की जगह सबसे छोटे लड़के को उत्तराधिकार के तौर पर पिता का मकान तथा उसकी चल सम्पत्ति मिलती है। खासी जन-जाति में छोटी लड़की को सबसे अधिक भाग दिया जाता है। जन-जातियों में उत्तराधिकार के नियम एक-से नहीं हैं, परन्तु हमारे सभ्य-समाज के नियमों की अपेक्षा उनके नियमों में विशेषता अवश्य है। हमारे नियमों में तो बड़े को ही सम्पत्ति के अधिकार मिलते हैं, परन्तु उनके नियमों में अनेक स्थानों में सबसे छोटे को या लड़कों के स्थान में लड़कियों को उत्तराधिकारी माना गया है। सम्भवतः इस दृष्टि-कोण में इस बात को ध्यान में रखा गया है कि सुरक्षा की सबसे ज्यादा किसे जरूरत है।

६

भारत की जन-जातियाँ तथा परिवार

(INDIAN TRIBES AND FAMILY)

१. परिवार का मानव-जीवन में प्राणिशास्त्रीय महत्त्व

'परिवार' की संस्था पर विचार करने से पहले 'परिवार' की कुछ आधारभूत बातों पर विचार करना आवश्यक है। 'परिवार' का मानव-जीवन में क्या स्थान है, क्या महत्त्व है, क्यों 'परिवार' के बिना मनुष्य नहीं रहता ? 'परिवार' की इन आधारभूत बातों को, 'परिवार' के महत्त्व को समझने के लिए हमें 'परिवार' सम्बन्धी निम्न तीन बातों की तरफ़ ध्यान देना होगा :

(क) अति-जीवन की आधारभूत शर्तें (Conditions of Survival)—मनुष्य अन्य प्राणियों की तरह ही एक प्राणि-शास्त्रीय-जीव है। प्राण-धारण करने के लिए अन्य जीवों में जो आवश्यक शर्तें हैं, वे मनुष्य पर भी लागू होती हैं। प्राण-धारण के लिए आवश्यक शर्तें कौन-सी हैं ? साँस लेना, खाना-पीना, मल-त्याग, काम-भाव—ये सब बातें पशु तथा मनुष्य के प्राण-धारण के लिए, उसके जीवित रहने के लिए आवश्यक हैं। इन्हीं को मनोवैज्ञानिक 'सहज-स्वभाव', 'निसर्ग', 'प्राकृतिक-शक्ति' (Instincts) कह देते हैं। 'सहज-स्वभाव' का काम भी तो प्राणी को मरने से बचाना है, उसे जीवित रखना है। साँस-लेना, खाना-पीना, मल-त्याग, काम-भाव—ये सब प्राणी के जीवन धारण के लिए, उसके 'अति-जीवन' (Survival) के लिए आवश्यक हैं, इसलिए प्राणी साँस लेता है, खाता-पीता है, मल त्याग करता है, काम-चेष्टा करता है। इन कामों को वह न करे, तो वह सृष्टि में जीता न बच रहे।

(ख) अति-जीवन में सन्तानोत्पत्ति तथा परिवार का स्थान (Reproduction and family as conditions of survival)—'अति-जीवन' के लिए आवश्यक शर्तें दो तरह की हैं। एक तो साँस लेना, खाना-पीना, मल-त्याग आदि—इन्हें मनुष्य इकला करता है, वैयक्तिक-रूप से करता है; दूसरी तरह की शर्तें हैं—'काम-भाव' जैसी, जिन्हें मनुष्य इकला नहीं कर सकता, दूसरे के सहयोग से करता है। 'काम-भाव' को तृप्त करने के लिए पुरुष को स्त्री की और स्त्री को पुरुष की जरूरत है, परन्तु 'काम-भाव' का परिणाम 'सन्तानोत्पत्ति' हो जाता है। जब तक 'काम-भाव' से सन्तान न हो, तब तक तो कोई बात नहीं, परन्तु जब 'काम-भाव' का परिणाम सन्तानोत्पत्ति हो जाता है तब स्त्री का पुरुष

से यह पूछना स्वाभाविक है कि अब क्या हो, इस सन्तान का पालन कौन करे ? आज का मानव प्रेम करने का तो बड़ा शौकीन है, परन्तु अपनी प्रेमिका को गर्भवती देख कर भाग खड़े होने के दाँव-पेंच खेलने लगता है, आदि-काल का मानव ऐसा नहीं था। उसके सामने जब यह प्रश्न उपस्थित हुआ, तब उसने इस समस्या का हल करने के लिए 'परिवार' की संस्था को जन्म दिया। 'अति-जीवन' (Survival) के लिए जैसे साँस लेना जरूरी है, खाना-पीना जरूरी है, वैसे काम-भाव भी जरूरी है। 'काम-भाव' का आवश्यक परिणाम अगर 'सन्तानोत्पत्ति' है, तो क्यों न उस जिम्मेदारी को निभाया जाय ? इस जिम्मेदारी को निभाने के लिए मानव ने 'परिवार' की संस्था को जन्म दिया। पुरुष ने कहा—'मैं जंगल से फल-कन्द बटोर कर लाऊँगा, शिकार पकड़ूँगा, मछली मारूँगा, तू घर बैठ कर खाना बनाना, बच्चे को दूध पिलाना, मुझे भी खिलाना'। स्त्री जब गर्भवती हो जाती थी तब उससे उतना काम नहीं हो सकता था, बच्चा होने पर महीनों बच्चा ही उसे कोई काम-काज नहीं करने देता था—इस सब से स्त्री-पुरुष का समझौता हो गया और पुरुष तथा स्त्री के काम का आपस में बँटवारा हो गया। आज भी यह बँटवारा लगभग वैसे-का-वैसा चलता चला आ रहा है, स्त्री घर का काम-काज देखती है, पुरुष बाहर का। जब स्त्री परिवार-नियोजन के पचड़े में पड़ कर सन्तान उत्पन्न करना बंद कर देगी, काम-वासना पूरी करेगी परन्तु बच्चे को उत्पन्न नहीं होने देगी, तब तो स्त्री-पुरुष का आदि-काल से चला आ रहा कार्य-क्षेत्र का विभाजन अपने-आप समाप्त हो जायगा, क्योंकि तब स्त्री को घर से बाँध रखने का कोई कारण नहीं रह जायगा, परन्तु जिस आदि-मानव के समाज की हम चर्चा कर रहे हैं, उसमें तो 'सन्तानोत्पत्ति' जीवन में बाधक होने के स्थान में साधक का काम करती थी। जितने हाथ होते सब कमाई के साधन थे, इसलिए उस समाज में स्त्री-पुरुष का अपने-आप अपने-अपने कार्य-क्षेत्र का बँटवारा हो गया था।

स्त्री-पुरुष के जीवन की आधार-भूत काम-वासना को तृप्त करने के लिए एक-दूसरे के साथ मिल कर रहने और इससे उत्पन्न होने वाली सन्तान की देख-रेख करने के लिए, एक-दूसरे के भोजन, खाने-पीने की चिन्ता से 'परिवार' का जन्म हुआ। इस दृष्टि से 'परिवार' मनुष्य की आधारभूत 'प्राणिशास्त्रीय-एषणा' (Biological urge) का क्रियात्मक रूप है। यह रूप आदि-काल के मानव से आज के युग के आदिवासी मानव तथा सभ्य-मानव तक लगातार वैसे-का-वैसा इस एषणा की पूर्ति के लिए चलता चला आ रहा है। 'प्राणि-शास्त्र' की सब बातों का मूल 'अति-जीवन' (Survival) है, 'परिवार' का भी मूल 'अति-जीवन' ही है क्योंकि इसके बिना प्राणी इकला रह जाता है, और इकला रहने से सन्तान उत्पन्न न कर सकने के कारण वह तथा उसका वंश नष्ट हो जाता है।

(ग) व्यक्ति के 'अति-जीवन' के लिए परिवार का महत्त्व (Place of family in man's survival)—व्यक्ति जो-कुछ करता है, अपने स्वार्थ के लिए करता है, अपने जीने के लिए करता है, अपने को नष्ट होने से बचाने के

लिए करता है। आधारभूत 'सहज-स्वभाव' (Instincts) भी उसे नष्ट होने से बचाने के लिए ही हैं। 'अति-जीवन' (Survival) की इस खोज में काम-भाव को तृप्त करते-करते उसने 'परिवार' की संस्था को जन्म दे दिया। परन्तु मनुष्य अपने स्वार्थ के लिए अगर इकला काम करे, दूसरों के सहयोग से काम न करे, तो इसका अपना स्वार्थ भी पूरा नहीं होता। अपने स्वार्थ को पूरा करने के लिए भी उसे दूसरों के साथ मिल कर काम करना होता है, दूसरों के स्वार्थ को भी सिद्ध करना होता है। 'परिवार' क्या है? 'परिवार' में मनुष्य अपने स्त्री-बच्चों का हित साधने में जुट जाता है, इसलिए स्त्री और बच्चे उसका भी हित साधते हैं। सिर्फ़ अपनी रक्षा से अपनी रक्षा नहीं होती, जब हम दूसरों की रक्षा भी करते हैं, तब दूसरे भी मिल कर हमारी रक्षा करते हैं। व्यक्ति तो चाहता ही है कि उसकी रक्षा हो, आत्म-रक्षा के लिए ही वह साँस लेता, खाता-पीता—सब-कुछ करता है, परन्तु आत्म-रक्षा में ही लगे रहने से आत्म-रक्षा इतनी नहीं हो पाती जितनी दूसरों की रक्षा करने से आत्म-रक्षा को बल मिलता है। 'परिवार' का इसी दृष्टि से महत्त्व है। 'परिवार' मनुष्य की आधारभूत 'अति-जीवन' की आकांक्षा को पूर्ण करता है। हम समाज में भी दूसरों का साथ इसलिए देते हैं ताकि दूसरे भी मौके पर हमारा साथ दें। परिवार तथा समाज की आधारभूत यह भावना सर्वत्र, सब तरह के मानव-समाज में पायी जाती है। उदाहरणार्थ, कोचीन की कादर जन-जाति का कोई व्यक्ति जब दूसरों के साथ मिल कर जंगल में फल-कन्द चुगने के लिए जाता है, तब वह समूह की भोजन की आकांक्षा को पूर्ण करने में सहायता देता है, परन्तु दूसरों को सहायता देने के साथ वह अपनी सहायता भी कर रहा होता है। हो जन-जाति के विषय में भी हम देख आये हैं कि इस जन-जाति के सब लोग मिल कर आर्थिक तथा सामाजिक कार्य करते हैं। इस प्रकार एक-दूसरे की सहायता करना परिवार का ही एक दूसरा रूप है।

हमारे कहने का अभिप्राय यह है कि हमारे 'सहज-स्वभाव' (Instincts) दो तरह के हैं—वैयक्तिक तथा सामाजिक। वैयक्तिक सहज-स्वभाव हैं—खाना-पीना, मल-मूत्र-त्याग आदि; सामाजिक सहज-स्वभाव हैं—काम-भाव आदि। वैयक्तिक सहज-स्वभाव का उद्देश्य 'अति-जीवन' (Survival) है, मनुष्य को नष्ट होने से बचाना है; सामाजिक सहज-स्वभाव का भी उद्देश्य 'अति-जीवन' है, उसे नष्ट होने से बचाना है। वैयक्तिक सहज-स्वभाव मनुष्य इकला कर सकता है, सामाजिक सहज-स्वभाव इकला नहीं कर सकता, इसके लिए उसे दूसरों का सहारा लेना पड़ता है, पुरुष को स्त्री का, स्त्री को पुरुष का, समाज में एक व्यक्ति को दूसरे व्यक्ति का। पुरुष स्त्री का सहारा लेकर जब 'परिवार' का निर्माण करता है, या हम किन्हीं व्यक्तियों को मिलाकर जब एक सभा या समाज की रचना करते हैं, तब दूसरे के लिए काम करते हुए हम अपना भी काम कर रहे होते हैं, दूसरों की सहायता करते हुए अपनी सहायता का बीज बो रहे होते हैं, दूसरों की रक्षा में अपनी रक्षा का सूत्रपात कर रहे होते हैं। इसी कारण आदि-काल

से 'परिवार' की प्रथा चली आ रही ह, क्योंकि यद्यपि इसमें मनुष्य दूसरे के लिए काम करता है, परन्तु दूसरे के लिए करते हुए अपने लिए भी कर जाता है।

२. परिवार की परिभाषा

ऊपर हमने जो बातें लिखीं वे 'परिवार' की आधारभूत बातें हैं। कुछ-कुछ उसी आशय को लेकर 'परिवार' की परिभाषाएं की जाती हैं। 'परिवार' की दो-एक परिभाषाएँ हम नीचे दे रहे हैं :—

[क] मैक आइवर की व्याख्या—"परिवार उस समूह का नाम है जिसम स्त्री-पुरुष का यौन-सम्बन्ध पर्याप्त निश्चित हो, और इनका साथ इतनी देर तक रहे जिससे सन्तान उत्पन्न हो जाय और उसका पालन-पोषण भी किया जाय।"

[ख] बरजेज़ तथा लॉक की व्याख्या—"परिवार व्यक्तियों के उस समूह का नाम है जिसमें वे विवाह, रुधिर या दत्तक-सम्बन्ध से बंधे होकर, भिन्न-भिन्न नहीं, अपितु एक गृहस्थी का निर्माण करते हैं। इस गृहस्थी में वे एक-दूसरे पर पति-पत्नी, माता-पिता, पुत्र-पुत्री, भाई-बहन के रूप में प्रभाव डालते ह और एक-दूसरे के साथ सम्बन्ध स्थापित करते हैं। वे सब इस गृहस्थी में एक सामान्य संस्कृति को जन्म देते हैं और उस संस्कृति को बनाये रखते हैं।"

३. परिवार की उत्पत्ति
(Origins of Family)

परिवार की उत्पत्ति के सम्बन्ध में मानव-शास्त्रियों ने बहुत दिमाग़ लड़ाया है। १९वीं शताब्दी में विचार के हर क्षेत्र में 'विकासवाद' की दृष्टि से विचार किया गया। 'परिवार' पर भी 'विकासवाद' की दृष्टि से विचार किया गया—विकासवाद की दृष्टि से विचार को 'ऐतिहासिक-दृष्टि' भी कहा जाता है। 'ऐतिहासिक' इसलिए क्योंकि किन-किन ऐतिहासिक-प्रक्रियाओं में से गुजरते-गुजरते 'परिवार' वर्त्तमान रूप में पहुँचा—इस क्रम पर इस दृष्टि में विचार किया जाता है।

'विकासवादी'—अर्थात् 'ऐतिहासिक' एवं अन्य दृष्टियों से परिवार की उत्पत्ति के सम्बन्ध में जो-जो मुख्य-मुख्य विचार हैं, वे निम्न हैं :—

[क] "The family is a group defined by a sex-relationship precise and enduring to provide for the procreation and upbringing of children." —*MacIver.*

[ख] "The family is a group of persons united by the ties of marriage, blood or adoption, constituting a single household, interacting and inter-communicating with each other in their respective social role of husband and wife, father and mother, son and daughter, brother and sister and creating and maintaining a common culture." —*Burgess and Locke.*

(क) पितृसत्ताक परिवार का विचार (Patriarchal theory)
(ख) एकविवाही परिवार का विचार (Monogamous theory)
(ग) मिश्रित परिवार का विचार (Mixed family theory)
(घ) मातृसत्ताक परिवार का विचार (Matriarchal theory)
(ङ) विकासात्मक परिवार का विचार (Evolutionary theory)
(च) आर्थिक परिवार का विचार (Economic theory)

(क) पितृसत्ताक परिवार—प्लेटो तथा अरस्तु के विचार (PATRIARCHAL FAMILY)

इस विचार के मानने वाले कहते हैं कि शुरू-शुरू में परिवार में पिता की प्रधानता थी। इस सिद्धान्त के पृष्ठ-पोषकों में हैनरी मेन (Henry Maine) मुख्य हैं। इन लोगों का कहना है कि प्राणि-जगत् में नर और मादा साथ-साथ ही नहीं रहते, नर मादा को अपने एकाधिकार में भी रखता है। मादा दूसरे के पास जाये, तो नर को 'ईर्ष्या' होती है। नर क्योंकि मादा से बलवान् होता है, अतः 'एकाधिकार' तथा 'ईर्ष्या'—इन दो भावनाओं के कारण वह मादा पर अपना स्वत्व जमा लेता है। नर के मादा पर स्वत्व जमाने को ही 'पितृ-सत्ताक-परिवार' कहा जाता है। इस प्रकार के परिवार में घर की अन्तिम ज़िम्मेवारी स्त्री की नहीं, पुरुष की होती है। सम्पत्ति पर अधिकार स्त्री का नहीं, पुरुष का होता है। वंश-परम्परा स्त्री के नाम से नहीं, पुरुष के नाम से चलती है। इस प्रकार के परिवार में स्त्रियों की स्थिति पुरुष से हीन होती है। इस सिद्धान्त को मानने वालों का कहना है कि आदि-मानव के समाज में पहले-पहल इसी प्रकार के परिवारों की उत्पत्ति हुई। इस सिद्धान्त का प्रतिपादन पहले-पहल प्लेटो तथा अरस्तु ने किया परन्तु इन लोगों को किसी देश के भी आदिवासियों के परिवार का ज्ञान नहीं था, इसलिए वे परिवार की उत्पत्ति में इसी बात पर बल देते रहे।

'पितृ-सत्ताक-परिवार' में स्त्री अपने ही रुधिर के लोगों में न रह कर अपने से भिन्न रुधिर के लोगों में जाकर रहने लगती है। स्त्री अपने माता-पिता का घर छोड़ कर, उस घर को छोड़ कर जिसमें उसी के रुधिर के लोग रहते हैं, पति के घर, अपने से भिन्न रुधिर वाले लोगों के घर जाकर रहती है। इस प्रकार के परिवार को 'सहयोगी-परिवार' (Conjugal family) भी कहा जाता है। इस प्रकार के परिवार में पिता का निवास-स्थान परिवार का केन्द्र हो जाता है, इसलिए स्थान की दृष्टि से यह परिवार 'पितृ-स्थानी' (Patrilocal) कहलाता है। इसमें वंश-परम्परा पिता के नाम से चलती है, इसलिए इसे 'पितृ-वंशी' (Patrilineal) भी कहते हैं। क्योंकि इसमें पिता की प्रधानता होती है, इसलिए इसे 'पितृ-सत्ताक' (Patriarchal या Patripotestal) कहते हैं। हिन्दू-समाज में 'पितृ-सत्ताक-परिवार' ही पाये जाते हैं। संसार के अधिकांश भागों में भी इसी प्रकार के परिवार हैं। बृहदारण्यक-उपनिषद् (अध्याय ५, ब्राह्मण ५) में एक वंश-परम्परा दी गई है जिसमें सब वंश पिता के नाम से चले हैं। गोपवन

का पुत्र, कौशिक का पुत्र, कौण्डिन्य का पुत्र, शाण्डिल्य का पुत्र—इस प्रकार ५०–६० पिता के नाम से चले परिवारों का वहाँ वर्णन है। संसार की जिन सभ्यताओं में वंश-परम्परा किसी पुरुष से गिनी जाती है, वे 'पितृ-सत्ताक' हैं।

(ख) एक-विवाही या वैयक्तिक परिवार—वेस्टरमार्क का विचार (MONOGAMOUS OR INDIVIDUAL FAMILY)

अभी हमने 'पितृ-सत्ताक-परिवार' का जिक्र किया। इसी 'पितृ-सत्ताक-परिवार' के विचार को लेकर ही 'एक-विवाही-परिवार' के सिद्धान्त को मानने वालों का कहना है कि शुरू-शुरू के परिवार 'पितृ-सत्ताक' ही नहीं थे, 'एक-विवाही' भी थे। अर्थात् जिन कारणों से आदि-मानव के समाज में परिवार में पिता की प्रधानता हुई, उन्हीं कारणों से एक पुरुष का एक स्त्री रखना भी लाजमी हुआ। इस सिद्धान्त के पृष्ठ-पोषकों में विकासवादी डार्विन के अनुयायी वेस्टरमार्क (Westermarck) का नाम मुख्य है। उनका कहना है कि ताकतवर होने के कारण पुरुष स्त्री पर स्वत्व ही नहीं जमा लेता, परन्तु 'एकाधिकार' तथा 'ईर्ष्या' की भावना के कारण कोई पुरुष अपनी स्त्री को दूसरे के पास जाने भी नहीं देता। इस भावना का परिणाम स्वतः 'एक-विवाह' हो जाता है। वेस्टरमार्क का कहना है कि निम्न-स्तर के बन्दरों में भी 'एक-विवाह' की प्रथा ही है, इसलिए विकास की दृष्टि से वेस्टरमार्क के कथनानुसार 'एक-विवाही-परिवार' समाज के विकसित होने की अवस्था में नहीं, आदिवासी अवस्था में शुरू हुआ। 'एक-विवाही-परिवार' को 'वैयक्तिक-परिवार' भी कहा जाता है, क्योंकि इसमें एक स्त्री तथा एक पुरुष तथा उनके बच्चों का ही परिवार होता है। वर्त्तमान युग के परिवार 'पितृ-सत्ताक' तथा 'एक-विवाही' हैं। प्रश्न यही है कि क्या आदि-काल से ही ये ऐसे चले आ रहे हैं, या ये विकास का परिणाम हैं, शुरू में ऐसे नहीं थे। वेस्टरमार्क तो इन्हें शुरू से ही ऐसा मानते हैं।

इस विचार को मानने वालों का कहना है कि आदि-काल का समाज फल-कन्द एकत्रित करने वाली सरल अर्थ-व्यवस्था का समाज था। उसमें एक पुरुष तथा एक स्त्री का नियम ही सम्भव हो सकता था। एक स्त्री के लिए अनेक पुरुष या एक पुरुष के लिए अनेक स्त्रियों की प्रथा आदिकालीन-व्यवस्था नहीं हो सकती, यह अवस्था तो समाज में तब उत्पन्न होती है, जब किसी कारण से पुरुषों की अपेक्षा स्त्रियाँ कम हो जाँय, या स्त्रियों की अपेक्षा पुरुष कम हो जाँय। क्योंकि कोई ऐसी युक्ति प्रतीत नहीं होती जिससे हम यह समझें कि आदि-कालीन समाज में पुरुष तथा स्त्रियाँ समान नहीं थीं, इसलिए यही मानना पड़ता है कि इनकी संख्या बराबर-बराबर थी, और इसलिए एक पुरुष के लिए एक स्त्री की ही सम्भावना थी, अनेक स्त्रियों की नहीं।

इसका यह मतलब नहीं है कि इस नियम में अपवाद नहीं होता था। अपवाद तो होता ही था, परन्तु अपवाद होना ही इस बात का प्रमाण था कि आदिकालीन समाज का वह युग 'एक-विवाही-युग' था।

(ग) मिश्रित परिवार—मॉर्गन का विचार
(MIXED FAMILY)

कई लोगों का विचार है कि शुरू-शुरू में स्त्री-पुरुष के सम्बन्ध में साम्यवाद था, जो जिससे चाहता सम्बन्ध कर सकता था। इस प्रकार का स्त्री-पुरुष का सम्बन्ध दो तरह का हो सकता है—एक तो 'सामयिक-सम्बन्ध' तथा दूसरा 'यूथ-विवाह'। ये दोनों सम्बन्ध क्या थे ?

(१) अनिश्चित-सम्बन्ध या नियोग से सन्तान (Temporary union)—अनिश्चित-सम्बन्ध वहाँ होता था जहाँ विवाह की प्रथा नहीं थी, कोई पुरुष किसी भी स्त्री से सामयिक-सम्बन्ध स्थापित कर लेता था। महाभारत में श्वेतकेतु के सम्बन्ध में लिखा है कि एक दिन वह ऋषि अपनी माता के निकट बैठे थे, उनके पिता भी वहीं पर थे कि एक ब्राह्मण आकर श्वेतकेतु की माता का हाथ पकड़ कर कहने लगा—'युवति, तुम मेरे साथ चलो।' श्वेतकेतु को इससे बड़ा क्रोध आया, परन्तु उसके पिता उद्दालक ने कहा—'बेटा, क्रोध मत करो, अत्यन्त प्राचीन-काल से यही सिलसिला चला आ रहा है, संसार में सभी वर्णों की स्त्रियाँ इस विषय में स्वाधीन हैं, सब मनुष्य अपने वर्ण की स्त्रियों के साथ गाय-बैल का-सा आचरण करते हैं, जो जिससे चाहे विहार कर सकता है।'[1]

इस प्रकार के अनिश्चित-सम्बन्ध की तरह पुत्रोत्पत्ति के लिए सामयिक-सम्बन्ध की कल्पना भी आदि-काल में थी जिसे नियोग कहा जाता था। ऋषि वेदव्यास से नियोग द्वारा धृतराष्ट्र तथा पांडु उत्पन्न हुए थे।

परन्तु इन बातों के आधार पर यह कहना युक्ति-संगत नहीं है कि आदि-काल के मानव का परिवार अनिश्चित-सम्बन्ध का परिवार ही था। यह ठीक है कि आगे चलकर अनिश्चित-सम्बन्ध तथा नियोग का विचार उत्पन्न हुआ, परन्तु इससे यह नहीं कहा जा सकता कि आदि-काल का परिवार भी ऐसा ही था। उस समय का परिवार तो दो आदमियों के निश्चित सम्बन्ध के बिना चल ही नहीं सकता था। जब पुरुष जंगल में फल-कन्द चुगने या शिकार पकड़ने चला गया, तब घर में उसके साज-सामान तथा बच्चे की देख-भाल करने वाला तो कोई चाहिये ही था। उस समय की आर्थिक-व्यवस्था 'एक-विवाही' परिवार' के बिना चल ही नहीं सकती थी।

(२) यूथ-विवाही परिवार (Group marriage)—मिश्रित-परिवार का दूसरा रूप 'यूथ-विवाही-परिवार' कहलाता है। इस प्रकार के परिवार में समूह की सब स्त्रियाँ समूह के सब पुरुषों से विवाहित समझी जाती हैं। इसका एक रूप यह भी है जिसमें एक परिवार के सब भाइयों का दूसरे परिवार की सब बहनों से

१. मा तात कोपं कार्षीस्त्वं एष धर्मः सनातनः।
अनावृताः हि सर्वेषां वर्णानामंगनाः भुवि।
यथा गावः स्थितास्तावत्स्वे स्वे वर्णे स्थिताः प्रजाः।
—महाभारत, आदिपर्व, १२३ अध्याय, १३-१४ श्लोक

विवाह समझा जाता है, उनमें कौन किस की स्त्री और कौन किसका पति है—यह भेद नहीं होता। परिवार का यह रूप 'बहु-भर्तृता' (Polyandry) तथा 'बहु-भार्यता' (Polygyny) का सम्मिश्रण है। 'बहु-भर्तृता' में एक स्त्री के अनक पति होते हैं, 'बहु-भार्यता' में एक पुरुष की अनेक स्त्रियाँ होती हैं, 'यूथ-विवाह' में अनेक पुरुषों की अनेक स्त्रियाँ होती हैं। इस प्रकार के विवाहों की सत्ता थी—ऐसा श्री मॉर्गन (Morgan) का मत है, परन्तु आदिवासी जन-जातियों में इस प्रकार के विवाह पाये नहीं जाते। तो फिर, इसका क्या प्रमाण है कि ऐसे विवाह कभी होते थे? विकासवादी मानव-शास्त्रियों का कहना है कि ऐसी जातियाँ पायी जाती हैं जिनमें माता के अतिरिक्त सब मासियों को माता ही कहा जाता है, पिता के अतिरिक्त सब चाचों-तायों को पिता कहा जाता है। ऐसा क्यों होता है? ऐसा इसलिए होता है क्योंकि किसी समय इनमें यूथ-विवाह की प्रथा थी, उस समय कौन किसका पिता और कौन किसकी माता है—यह तमीज नहीं हो सकती थी, तब से यह प्रथा चली आ रही है। परन्तु ऐसा क्यों माना जाय कि यह प्रथा तब से चली आ रही है? आज जो जीवित फल-मूल एकत्र करके आजीविका निर्वाह करने वाली जन-जातियाँ हैं, उनमें कहीं यूथ-विवाह की प्रथा नहीं पायी जाती, और न आदि-मानव के समय की आर्थिक-व्यवस्था के यह अनुरूप बैठती है, ऐसी हालत में 'यूथ-विवाह' का विचार एक कल्पनामात्र प्रतीत होता है।

(घ) मातृ-सत्ताक परिवार—ब्रिफ़ाल्ट तथा टायलर का विचार
(MATRIARCHAL FAMILY)

'मिश्रित-परिवार' के विचार की उपज 'मातृ-सत्ताक-परिवार' का विचार है। इस विचार के मानने वालों का कहना है कि जब शुरू-शुरू में विवाह नहीं था, अनेक स्त्रियाँ अनेक पुरुषों के साथ रहती थीं, सब का बिना भेद-भाव के आपस में सम्बन्ध हो सकता था, तो ऐसी अवस्था में यह तो कहा जा सकता था कि किस स्त्री का कौन-सा बच्चा है, परन्तु यह नहीं कहा जा सकता था कि किस पुरुष का कौन-सा बच्चा है। बच्चे के साथ पिता का सम्बन्ध न जोड़ सकने के कारण पिता की परिवार में कोई स्थिति नहीं कही जा सकती थी। 'यूथ-विवाह' में पिता का पता ही नहीं था, इसलिए पिता की कोई स्थिति ही नहीं थी, सिर्फ़ माता की स्थिति थी, उसी की मुख्यता थी, इसलिए इस विचार के मानने वालों के अनुसार आदि-समाज 'मातृ-सत्ताक' था। इस विचार के समर्थकों में ब्रिफ़ाल्ट (Briffault) तथा टाइलर (Tylor) का नाम मुख्य है।

'मातृ-सत्ताक-परिवार' में माता की प्रधानता किस प्रकार रहती है? मानव-शास्त्रियों के अध्ययन में जीवित जन-जातियों के कई ऐसे परिवार सामने आये हैं जिनमें स्त्री, विवाह के बाद भी अपने माता-पिता, भाई-बहन के पास ही रहती है, उन लोगों के पास रहती है जिनके साथ उसका रुधिर का सम्बन्ध है, अपना घर छोड़ कर पति के घर नहीं जाती, उन लोगों में नहीं जाती जिन लोगों के साथ उसका रुधिर का सम्बन्ध नहीं होता। पति, पत्नी के घर आ जाता है,

पत्नी के साथ रहता है, परन्तु बच्चों पर माता का ही अधिकार होता है, उन लोगों का अधिकार होता है जिनका बच्चों की माँ से रुधिर का नाता होता है। लड़की अपने माँ-बाप के घर रहती है, उसके बच्चों की देख-भाल लड़की का भाई, लड़की के माता-पिता करते हैं। 'पितृसत्ताक-परिवार' में स्त्री अपने से भिन्न रुधिर के लोगों में चली जाती है, उस प्रकार के परिवार को हमने 'सहयोगी-परिवार' (Conjugal family) कहा था; परन्तु 'मातृसत्ताक-परिवार' में स्त्री अपने ही रुधिर के लोगों के बीच रहती है, इस प्रकार के परिवार को 'समान-रुधिर-परिवार' (Consanguineous family) कहा जाता है। इस प्रकार के परिवार में माता का निवास-स्थान परिवार का केन्द्र हो जाता है, इसलिए स्थान की दृष्टि से यह परिवार 'मातृ-स्थानी' (Matrilocal) कहलाता है। इसमें वंश-परम्परा माता के नाम से चलती है, इसलिए इसे 'मातृ-वंशी' (Matrilineal) भी कहते हैं। क्योंकि इसमें माता की प्रधानता होती है, इसलिए इसे 'मातृ-सत्ताक' (Matriarchal या Matripotestal) कहते हैं।

'मातृ-सत्ताक' परिवार क्योंकि आदिवासी जन-जातियों में मिलते हैं, और ये आजकल के प्रचलित परिवारों से बिलकुल उल्टे हैं, इसलिए इनका मानव-शास्त्र में बहुत महत्त्व है। जैसे हम 'पितृ-सत्ताक-परिवारों' का वर्णन करते हुए उपनिषद् का एक उद्धरण दे आये हैं, जिसमें पिता के नाम पर चले वंशों का परिगणन है, वैसे बृहदारण्यक उपनिषद् (अध्याय ६, ब्राह्मण ६) में 'मातृ-सत्ताक-वंशों' की भी सूची दी हुई है, जो अपने देश में प्राचीन-काल में 'मातृ-सत्ताक-परिवारों' की सत्ता को सिद्ध करती है। इस सूची में पौतिमाषीपुत्र, कात्यायनीपुत्र, गौतमीपुत्र, भारद्वाजीपुत्र, पाराशरीपुत्र—इस प्रकार ५०-६० माता के नाम से चले परिवारों का नाम पाया जाता है। भारत में आज भी आदिवासियों में मातृ-सत्ताक-परिवार पाये जाते हैं। असम में खासी जन-जाति बसती है। इसमें विवाह के बाद लड़का लड़की के माता-पिता के घर रहने के लिए चला जाता है। वहाँ रहता हुआ वह जो-कुछ कमाता है अपनी सास के हाथ में रख देता है। लड़की की माँ घर का सारा खर्च चलाती है। एक-दो बच्चे हो जाने के बाद अगर उनके आपसी सम्बन्ध सन्तोषजनक होते हैं, तो वे अपना स्वतंत्र घर बना कर वहाँ रहने लगते हैं। खासी लोगों में सम्पत्ति भी पिता से पुत्र को मिलने के बजाय माता से पुत्री को मिलती है, और उसमें भी सम्पत्ति का सबसे बड़ा भाग सब से छोटी लड़की को मिलता है। अगर किसी व्यक्ति का परिचय कराना हो, तो असम की खासी जाति में यह नहीं कहा जाता कि यह अमुक पुरुष का पुत्र या पौत्र है, यह कहा जाता है कि यह अमुक स्त्री का अनुवंशज है। पति को सिर्फ़ 'यू शोंग खा' कहा जाता है, जिसका अर्थ है—'बच्चे पैदा करने वाला'! इस जन-जाति में पति को पत्नी के परिवार का पूरी तरह से सदस्य भी नहीं माना जाता। परिवार के धार्मिक-कृत्यों में पति का कोई स्थान नहीं होता। क्योंकि माता से उत्तराधिकार के रूप में सब से छोटी लड़की को सम्पत्ति मिलती है इसलिए वही घर के सब धार्मिक-कृत्यों

तथा विधि-विधानों की अधिकारिणी होती है। दूसरी लड़कियों को भी माता की सम्पत्ति का कुछ हिस्सा मिलता है, परन्तु गहन, मकान आदि बहुमूल्य वस्तुए सब से छोटी लड़की को ही मिलती हैं। अन्य बहनों की सलाह के बिना वह उन वस्तुओं को बेच नहीं सकती। घर की मरम्मत आदि के लिए दूसरी बहनों को भी अपना-अपना हिस्सा देना पड़ता है। अगर सब से छोटी लड़की मर जाय या धर्म-परिवर्तन कर ले, तो उससे बड़ी लड़की उत्तराधिकार की अधिकारिणी हो जाती है। विवाह से पहले पुरुष अपनी सारी कमाई अपनी माता के हाथ में रख देता है, और विवाह के बाद अपनी स्त्री के हाथ में। अगर विवाह के बाद पुरुष मर जाय, तो उसकी सब जायदाद सब से छोटी लड़की को मिल जाती है। खासी की तरह असम में ब्रह्मपुत्रा नदी के दक्षिणी भाग में एक दूसरी आदिवासी जन-जाति निवास करती है जिसका नाम गारो है। इसमें भी उत्तराधिकार पुत्र को न मिलकर पुत्री को मिलता है, परन्तु इस जन-जाति में यह नियम है कि लड़की अपनी इच्छा से जहाँ चाहे वहाँ विवाह नहीं कर सकती, उसे अपनी बुआ के लड़के से विवाह करना होता है। इस प्रकार इन दो परिवारों के मिलने से एक परिवार में तो सम्पत्ति माता से लड़की को मिलती है, परन्तु दूसरे परिवार में सम्पत्ति पर नियन्त्रण बुआ के लड़के के हाथ में आ जाता है। इस व्यवस्था में लड़के ने मामा की लड़की से शादी की होती है और मामी की सम्पत्ति उसके पास आयी होती है, इसलिए अगर मामा मर जाय तो लड़की के अतिरिक्त अपनी मामी अर्थात् सास से भी उसे शादी करनी पड़ती है। इन 'मातृ-सत्ताक-परिवारों' में पुरुष का सामाजिक तथा वधानिक कर्त्तव्य अपनी बहन के बच्चों की देख-रेख करना, उनकी परवरिश करना है। अपने बाल-बच्चों का मोह बहन के बच्चों की भलाई के मार्ग में इन लोगों के जीवन में रुकावट नहीं बनता। असम के अतिरिक्त मलाबार में भी कई जन-जातियों में 'मातृ-सत्ताक-परिवार' पाये जाते हैं। मलाबार की नायर जन-जाति इसका उदाहरण है। नायरों में पति को सामाजिक-व्यवस्था में कोई स्थान नहीं, इस दृष्टि से इस जन-जाति में परिवार में पिता का भी कुछ महत्त्व नहीं। दक्षिण की कादर, इरुला, पुलयन, होलेया, मदिगा, वेल्लेला जन-जातियों में भी माता की प्रधानता है।

'मातृ-सत्ताक-परिवार' तभी तक बना रह सकता है जब तक कोई समाज कृषि-सभ्यता तक नहीं पहुँचता। जब तक मनुष्य शिकार से या पशु-पालन से जीवन-निर्वाह करता है, तब तक तो यह सम्भव हो सकता है कि पति अपने घर को छोड़ कर पत्नी के घर आता-जाता रहे, परन्तु जब मनुष्य ने कृषि का आविष्कार किया तब पति के लिए पत्नी के घर आना-जाना कठिन हो गया। उस अवस्था में वह अपने कारोबार में, खेती-बाड़ी में इतना व्यस्त रहता था कि अपने धंधों से ही उसे फ़ुर्सत नहीं मिलती थी। जमीन को साफ़ करना, मट्टी खोदना, बीज बोना, जानवरों से खेती की रक्षा करना, पकने पर काटना—ये सब इतने जंजाल के काम थे, जिनके बिना उसका जीवन-निर्वाह नहीं हो सकता था, परन्तु

जिनमें लग जाने पर उसके पास फ़ुर्सत भी नहीं रहती थी। इसलिए 'कृषि-सभ्यता' से पहले अगर 'मातृ-सत्ताक' तथा 'पितृ-सत्ताक' दोनों प्रकार के परिवार रहे भी होंगे, तो भी कृषि के आविष्कार के बाद तो 'मातृ-सत्ताक-परिवार' भी 'पितृ-सत्ताक' ही बन गया होगा। उस हालत में पत्नी को अपने रुधिर के परिवार को छोड़ना पड़ा होगा, इसलिए छोड़ना पड़ा होगा, क्योंकि पति को पत्नी के परिवार में जाने की फ़ुर्सत ही बहुत कम रही होगी। इस प्रकार जहाँ-जहाँ 'मातृ-सत्ताक-परिवार' रहा होगा, वह आर्थिक-कारणों से 'पितृ-सत्ताक' में बदल गया होगा।

(ङ) विकासात्मक परिवार—मॉर्गन का विकासवादी विचार
(EVOLUTIONARY FAMILY)

मॉर्गन (Morgan) महोदय ने उक्त सब सिद्धान्तों से भिन्न सिद्धान्त का प्रतिपादन किया है। उनका कहना है कि विकास की प्रक्रिया में से गुज़रती हुई 'परिवार' की संस्था पाँच क्रमों में से गुज़री है। ये पाँच क्रम निम्न हैं :—

(१) समान-रुधिर परिवार (Consanguineous family)—यह शुरू-शुरू की अवस्था है जिसमें अपने समुदाय के भीतर ही विवाह-सम्बन्ध होता था, एक रुधिर वालों में, बाहर का रुधिर समुदाय में प्रवेश नहीं पा सकता था। इसमें एक ही गोत्र के लोग विवाह करते थे, भाई-बहन, भतीजे-भतीजी का सम्बन्ध होता था, इनमें आपस में भेद नहीं था। इस प्रकार के परिवार में जिन लोगों का आपस में रुधिर का सम्बन्ध होता है उनकी पारिवारिक-संगठन में प्रधानता होती है, उनका पारिवारिक-संगठन में मुख्य स्थान होता है, जिनका रुधिर का सम्बन्ध नहीं होता, उनका इस प्रकार के परिवार में गौण स्थान होता है, यहाँ तक कि पति का भी पारिवारिक-संगठन में कोई स्थान नहीं होता। असम की खासी जन-जाति का उदाहरण हम अभी दे आये हैं जिसमें पति को परिवार में कोई नहीं पूछता। इससे उल्टी व्यवस्था 'सहयोगी-परिवार' (Conjugal family) में होती है, ऐसे परिवार जैसे आजकल हम लोगों के हैं। 'सहयोगी-परिवार' में पति, पत्नी तथा पुत्र—इन तीन का स्थान मुख्य माना जाता है, इन से रुधिर का सम्बन्ध रखने वाले अन्य सगे-सम्बन्धियों का स्थान गौण माना जाता है। संसार में अधिकतर समान-रुधिर वालों का विवाह-सम्बन्ध निषिद्ध माना जाता है।

(२) यूथ-परिवार, मिश्रित परिवार या समूह-परिवार (Punaluant family)—मॉर्गन के अनुसार परिवार के विकास की यह दूसरी अवस्था है जिसमें समान-रुधिर वालों में तो विवाह बन्द हो गया, परन्तु एक परिवार के सब भाइयों का दूसरे परिवार की सब बहनों के साथ विवाह होना शुरू हो गया। ये भाई सब सगे भाई हों यह ज़रूरी नहीं—ये सगे भाई या रिश्ते के भाई हो सकते हैं, बहनें भी सगी ही हों यह ज़रूरी नहीं—ये सगी या रिश्ते की बहनें हो सकती हैं। इस विवाह में एक परिवार के सब भाइयों का दूसरे परिवार की सब बहनों के साथ विवाह हो जाने के बाद किसी विशेष भाई की कोई स्त्री नहीं होती थी, सब भाइयों के लिए सब बहनें और सब बहनों के लिए सब भाई पत्नी तथा पति समझे जाते

थे। इस प्रकार का कोई परिवार था भी या नहीं था, इसमें सन्देह है, परन्तु कई जन-जातियों में चाचा-ताया, चाची-तायी शब्दों का न होना, इनके स्थान में चाचा-ताया तथा चाची-तायी के लिए भी पिता या माता—इन शब्दों का ही होना श्री मॉर्गन की दृष्टि में सिद्ध करता है कि इस प्रकार की प्रथा कई जन-जातियों में थी। इसके उत्तर में कहा जाता है कि भाषा के आधार पर यह परिणाम निकालना संगत नहीं, भाषा की यह कमी किसी और कारण से भी हो सकती है, परन्तु जब जीवित जन-जातियों में कहीं इस प्रकार के 'यूथ-विवाह' नहीं मिलते, तो आदि-काल के इस प्रकार के पारिवारिक-समूहों का होना बहुत सन्देहास्पद है।

(३) सिन्डेस्मियन-परिवार (Syndasmian family)—मॉर्गन के अनुसार परिवार के विकास की यह तीसरी अवस्था है। इसमें 'यूथ-विवाह' होना, अर्थात् अनेक भाइयों का अनेक बहनों से एक-साथ विवाह होना तो बन्द हो गया, एक पुरुष एक स्त्री से विवाह करने लगा, परन्तु परिवार में जितनी भी स्त्रियाँ थीं, उनमें से किसी से भी उसका सम्बन्ध हो सकता था, यह जरूरी नहीं था कि जिस स्त्री से उसका विवाह हुआ है, उसी से वह यौन-सम्बन्ध करे, अन्य किसी से न करे।

(४) पितृ-सत्ताक-परिवार (Patriarchal family)—परिवार के विकास में चौथी अवस्था वह है जिसमें पुरुष का सम्बन्ध तो विवाहिता पत्नी से ही होता था, परन्तु विवाह वह अनेक स्त्रियों से कर सकता था। इस परिवार में हर एक स्त्री दूसरे से पृथक् रहती थी और परिवार में पुरुष की ही प्रधानता रहती थी। इस पारिवारिक-रचना में भी स्त्री की स्थिति पहली अवस्थाओं की तरह निम्न-स्तर की ही रहती है।

(५) एकविवाही-परिवार (Monogamous family)—परिवार के विकास की पाँचवीं अवस्था वह है जिसमें पुरुष अनेक विवाह करने के स्थान में सिर्फ़ एक स्त्री से विवाह कर सकता है, स्त्री भी सिर्फ़ एक पुरुष से विवाह कर सकती है। इस प्रकार की पारिवारिक-रचना में स्त्री की स्थिति ऊँची होने लगती है। वर्तमान-युग के परिवार इसी अवस्था में से गुज़र रहे हैं।

मॉर्गन का उक्त सिद्धान्त विकासवाद पर आश्रित है, इसलिए इसे 'ऐतिहासिक-वाद' (Historical theory) भी कहा जाता है। इस सिद्धान्त के मानने वालों का कथन है कि ऐतिहासिक दृष्टि से 'परिवार' की संस्था इन पाँच क्रमों में से गुज़रती हुई विकसित हुई है। मॉर्गन का कथन बहुत-कुछ कल्पना पर आश्रित है। इस कल्पना का विकासवाद की ही दृष्टि से वेस्टरमार्क (Wester-marck) ने खंडन किया है। उनका कथन है कि प्रकृति में पशु-पक्षी तक में 'एक-विवाही-परिवार' पाये जाते हैं, इसलिए शुरू-शुरू में 'एक-विवाही' के अतिरिक्त परिवार का दूसरा कोई रूप हो ही नहीं सकता! ब्रिफ़ाल्ट (Briffault) भी विकासवाद का ही सहारा लेता है, परन्तु वह वेस्टरमार्क का खंडन करता हुआ कहता है कि आदि-समाज में माता की प्रधानता थी, इसलिए 'मातृ-सत्ताक-परिवार'

से आदि-मानव चला। मॉर्गन, वेस्टरमार्क तथा ब्रिफ़ाल्ट—तीनों विकासवादी हैं, परन्तु तीनों के परिणाम भिन्न-भिन्न हैं।

आजकल के मानव-शास्त्री 'परिवार' की उत्पत्ति तथा विकास के प्रश्न को अधिक महत्त्व नहीं देते। वे इतने मात्र से सन्तुष्ट हो जाते हैं कि किसी भी आदिवासी समाज में ऐसा रूप नहीं दिखाई देता जिसमें परिवार की किसी-न-किसी रूप में सत्ता न विद्यमान हो। ऑस्ट्रेलिया की आदिवासी जन-जातियाँ अत्यन्त प्राचीन काल की मानी जाती हैं। अब अंडमान टापू की जन-जातियों को इनसे भी पुराना माना जाने लगा है। इन तक में परिवार की किसी-न-किसी रूप में सत्ता मौजूद है। भारत में कादर, पनियन, मालपन्तरम, चेंचू, बिरहोर बहुत पुरानी जन-जातियाँ हैं—इनमें भी 'परिवार' की सत्ता पायी जाती है। 'परिवार' का आधार मनुष्य की 'मौलिक-एषणाएँ' (Drives, urges) हैं, 'स्वाभाविक-प्रवृत्तियाँ' तथा 'सहज-स्वभाव' (Instincts) हैं, 'अति-जीवन' (Survival) की आकांक्षा है, इसलिए जब से मनुष्य का मनुष्य से सम्पर्क हुआ, जब से मनुष्य ने संस्कृति को जन्म दिया, तब से 'परिवार' की यह संस्था चली आ रही है। परिवार की संस्था भिन्न-भिन्न आर्थिक-व्यवस्थाओं में से गुज़री, कभी मनुष्य आखेटक जीवन व्यतीत करता था, कभी कृषि करने लगा, कभी पशु पालने लगा, आजकल कारखाने चलाने लगा है—इन सब के कारण 'परिवार' के संगठन, इसकी रचना में भेद आता रहा है और आज भी आ रहा है, परन्तु 'परिवार' सदा था और सदा भिन्न-भिन्न रूपों में बना रहेगा।

(च) आर्थिक-परिवार—लिंटन का विचार
(ECONOMIC FAMILY)

परिवार की उत्पत्ति के विषय में लिंटन (Linton) का विचार यह है कि परिवार पुरुष तथा स्त्री की आर्थिक आवश्यकताओं की पूर्ति का एक क्रियात्मक साधन है। यह समझना कि विकास की एक सीधी रेखा में परिवार की संस्था का विकास हुआ, ग़लत है। डार्विन, मॉर्गन तथा अन्य विकासवादी तो यही कहते हैं कि अनिश्चित अवस्था से विकास निश्चित अवस्था की तरफ़ जा रहा है, विविधता से एकता की तरफ़ जा रहा है—इसी कारण स्त्री-पुरुष के अनिश्चित वैवाहिक सम्बन्ध के विकसित होते-होते निश्चित सम्बन्ध पैदा हुए। लिंटन इस बात को नहीं मानता। मानव जातियों के इतिहास में सब जगह सामाजिक-संगठनों का एक-सा विकास नहीं हुआ, न परिवार का सब जगह एक-सा विकास हुआ है। सामाजिक-संस्थाएँ मनुष्य की अन्तर्निहित इच्छाओं, आकांक्षाओं, एषणाओं को पूरा करने के प्रति किये गये प्रयत्नों का परिणाम हैं। परिवार भी मनुष्य की किसी इच्छा को पूरा करने का मानव-समाज के प्रयत्न का परिणाम है। वह कौन-सी मनुष्य की इच्छा है जिसे परिवार की संस्था पूरा करती है? वह इच्छा है—'आर्थिक'। बच्चा असहाय होता है, स्त्री बच्चे की देख-रेख में सहायता चाहती है, रक्षा चाहती है। इन दोनों असहाय प्राणियों के जीवन का प्रश्न, इनकी आर्थिक-

समस्या कैसे हल हो? आर्थिक-समस्या का यही अर्थ नहीं है कि जब पैसा दीखने लगे तभी उसे आर्थिक परिभाषा का रूप दिया जा सके। आदि-काल का मानव जब फल-मूल एकत्रित करने के लिए जंगल में जाता था, तब भी वह आर्थिक-समस्या को लेकर ही घर से निकलता था। अपनी, अपनी स्त्री, अपने बच्चे की आर्थिक समस्या को हल करने के लिए परिवार की संस्था को जन्म मिला। इस संस्था में कहीं माता को प्रधान माना गया, कहीं पिता को प्रधान माना गया, कहीं एक ढंग से यह संस्था बनी, कहीं दूसरे ढंग से, सब जगह इस संस्था का विकास स्वतंत्र रूप से हुआ, एक-साथ भी हुआ हो तो कोई आश्चर्य नहीं, परन्तु विकासवादियों के कहने के अनुसार किसी एक निश्चित रेखा में—'एक-दिशा-विकास' (Unilinear evolution) नहीं हुआ।

४. परिवार के प्रकार
(Forms of the Family)

'परिवार' के अनेक प्रकार हैं जिनमें से बहुतों का वर्णन तो हम ऊपर कर आये हैं, परन्तु इन तथा इनके अतिरिक्त 'परिवार' के अन्य रूपों को एक जगह दे देने से विषय अधिक स्पष्ट हो जायगा, इसलिए हम यहाँ 'परिवार' के प्रकारों की संक्षिप्त सूची दे रहे हैं:—

(क) मातृ-सत्ताक तथा पितृ-सत्ताक परिवार (Matriarchal and Patriarchal family)—यह भेद 'परिवार' में माता या पिता की प्रधानता की दृष्टि से किया जाता है। मातृ-प्रधान परिवार 'मातृ-सत्ताक' तथा पितृ-प्रधान परिवार 'पितृ-सत्ताक' कहलाते हैं। इन दोनों के दृष्टान्त हम ऊपर दे आये हैं।

(ख) मातृ-वंशी तथा पितृ-वंशी परिवार (Matrilineal and Patrilineal family)—यह भेद परिवार में माता से या पिता से वंश-परम्परा चलने की दृष्टि से किया जाता है। मातृ-प्रधान परिवार में माता के तथा पितृ-प्रधान परिवार में पिता के नाम से वंश-परम्परा चलती है।

(ग) मातृ-स्थानी तथा पितृ-स्थानी परिवार (Matrilocal and Patrilocal family)—यह भेद माता के घर या पिता के घर रहने की दृष्टि से किया गया है। मातृ-प्रधान परिवार में माता के तथा पितृ-प्रधान परिवार में पिता के घर बच्चे रहते हैं।

(घ) मातृ-नामी तथा पितृ-नामी परिवार (Matronymic and Patronymic family)—जो परिवार मातृ-प्रधान हैं, वे मातृ-नामी और जो पितृ-प्रधान हैं, वे पितृ-नामी कहलाते हैं क्योंकि उन्हीं से परिवार का नाम चलता है।

मातृ-सत्ताक, मातृ-वंशी, मातृ-स्थानी तथा मातृ-नामी एवं पितृ-सत्ताक, पितृ-वंशी, पितृ-स्थानी तथा पितृ-नामी एक ही तरह के दो वर्गीकरणों के नाम हैं

(ङ) समान-रुधिर तथा सहयोगी परिवार (Consanguineous and Conjugal family)—जिस परिवार में एक ही रुधिर के व्यक्ति शादी कर सकते हैं, वे 'समान-रुधिर', तथा जिसमें एक ही रुधिर के नहीं, अपितु भिन्न रुधिर के व्यक्ति पति-पत्नी बनते हैं, वे 'सहयोगी' परिवार कहलाते हैं। 'समान-रुधिर-परिवार' में रुधिर की समानता पर बल दिया जाता है, विवाह-बन्धन पर नहीं; 'सहयोगी-परिवार' में विवाह-बन्धन पर बल दिया जाता है, रुधिर की समानता पर नहीं। यही कारण है कि 'समान-रुधिर-परिवार' सुप्रजनन-शास्त्र की दृष्टि से उचित न होने पर भी परिवार की स्थिरता को बनाये रखते हैं, 'सहयोगी-परिवार' सुप्रजनन-शास्त्र की दृष्टि से उचित होने पर भी परिवार की स्थिरता को नहीं रख पाते। एक खून का व्यक्ति परिवार छोड़ कर कहाँ जायगा, भिन्न रुधिर का व्यक्ति तो परिवार छोड़ कर कहीं भी शादी कर सकता है।

(च) संयुक्त तथा मूल परिवार (Joint and Immediate or Nuclear family)—जिस परिवार में एक ही वंश के सब भाई मिल कर रहते हैं, सब की आमदनी बड़े को दे दी जाती है, वही सब का कर्ता-धर्ता होता है, वह 'संयुक्त' तथा जिसमें पति-पत्नी तथा सन्तान—बस इतने ही जन होते हैं, वह 'मूल-परिवार' कहलाता है।

(छ) संयुक्त तथा विस्तृत परिवार (Joint and Extended family)—'संयुक्त-परिवार' में एक ही वंश के सब भाई बड़े के नीचे एक-साथ रहते हैं, परन्तु आज की आर्थिक-व्यवस्था में ऐसा सम्भव नहीं रहा। ऐसी हालत में एक ही वंश के भाई-भतीजे अपना-अपना काम-धंधा अलग-अलग करते हैं, एक-साथ भी नहीं रहते, परन्तु एक पूर्वज की सन्तान होने के कारण वे एक-दूसरे के साथ सामाजिक-सम्बन्ध में बंधे रहते हैं। इसे 'विस्तृत-परिवार' कहा जाता है। इस 'विस्तृत-परिवार' में चाचा-ताया, चाची-तायी, उनके लड़के-लड़कियाँ—ये सब आ जाते हैं। एक तरह से जब 'संयुक्त-परिवार' बहुत फैल जाता है, तब उसे 'विस्तृत-परिवार' कह दिया जाता है।

(ज) बहु-भर्तृता का परिवार (Polyandrous family)—जिस परिवार में एक पत्नी के अनेक पति होते हैं, वह 'बहु-भर्तृता' का परिवार कहा जाता है। देहरादून के जौनसार इलाके में खासा जन-जाति के इस प्रकार के परिवार हैं। इस प्रकार के परिवारों का वर्णन हम 'विवाह'-प्रकरण में करेंगे।

(झ) बहु-भार्यता का परिवार (Polygynous family)—जिस परिवार में एक पति की अनेक पत्नियाँ हों, वह 'बहु-भार्यता' का परिवार कहा जाता है। इस प्रकार का परिवार मुसलमानों में अधिक पाया जाता है। हिन्दुओं में भी ऐसे परिवार हैं, परन्तु अब नये कानून बनने के कारण यह प्रथा अवैधानिक हो गई है। इसकी भी चर्चा हम 'विवाह'-प्रकरण में करेंगे।

(ञ) एक-विवाही परिवार (Monogamous family)—एक पुरुष तथा एक स्त्री—इस प्रकार का परिवार एक-विवाही कहलाता है। आज का

मानव-समाज इसी की तरफ़ बढ़ रहा है, यद्यपि वेस्टरमार्क आदि अनेक मानव-शास्त्रियों का कहना है कि आदि-काल से यही परिवार चला आ रहा है। इस प्रकार के विवाह की चर्चा भी विवाह के प्रकरण में की जायगी।

५. परिवार की विशेषताएँ
(Characteristics of the family)

हमने देखा कि 'परिवार' की उत्पत्ति कैसे हुई, उसके मुख्य-मुख्य प्रकार क्या हैं? अब अगला प्रश्न यह है कि 'परिवार' की क्या-क्या विशेषताएँ हैं, उसके क्या-क्या गुण हैं, जिनके कारण 'परिवार' एक संगठन, एक संस्था के रूप में समाज में आदि-काल से बना हुआ है। 'परिवार' की निम्न विशेषताएँ हैं :—

(क) सार्वभौमिकता (Universality)—रैडक्लिफ़ ब्राउन (Radcliffe Brown) का कथन है कि 'परिवार' एक सार्व-भौम संस्था है। हर देश-काल में यह किसी-न-किसी रूप में पाया जाता है, यहां तक कि पशुओं तक में प्राथमिक रूप में 'परिवार' मिलता है। अन्य जितने भी सामाजिक-संगठन हैं, उनमें इस प्रकार की सार्वभौमिकता नहीं मिलती। 'विवाह' की सार्वभौमिकता के विषय में मॉर्गन (Morgan) ने सन्देह प्रकट किया है। मॉर्गन के कथनानुसार 'परिवार' का विकास उस काल से हुआ है जब 'परिवार' का अस्तित्व नहीं था, जिस समय विवाह का भी कोई बन्धन ही नहीं था, 'संकरता' (Promiscuity) थी। 'संकरता' का विचार विकासवादी विचार है, और क्योंकि विकास में अनेकता से एकता, अनिश्चितता से निश्चितता की तरफ़ गति मानी जाती है, इसलिए परिवार के क्षेत्र में भी विकास की दृष्टि से अनिश्चित अर्थात् 'संकर' अवस्था से निश्चित अवस्था का विकास हुआ—यह माना जाता है। मॉर्गन के इस कथन का जेकब्स तथा स्टर्न (Jacobs and Stern) एवं अन्य लेखकों ने खंडन किया है। इन लोगों का कहना है कि जहाँ-जहाँ मॉर्गन परिवार में अनिश्चितता या संकरता को दर्शाता है, वहाँ-वहाँ अनिश्चितता नहीं है। असल में, आदि-काल में उत्सवों के समय, आनन्दोल्लास के समय उच्छृंखलता का व्यवहार किया जाता था, स्त्रियों को अदल-बदल लिया जाता था, अतिथियों को अपनी स्त्रियाँ भेंट भी कर दी जाती थीं, परन्तु यह सब-कुछ तो आज भी सभ्य-समाज के कई लोग कर डालते हैं। आदिवासी जन-जातियों में इस प्रकार के व्यवहार को देख कर यह नहीं कहा जा सकता कि किसी समय उनमें 'परिवार' की संस्था नहीं थी, इतना ही कहा जा सकता है कि 'परिवार' की संस्था होते हुए भी जीवन का रस लेने की उनकी कामना किसी से कम नहीं है। असल में, जैसा हम पहले कह आये हैं, मानव के 'अति-जीवन' (Survival) के लिए 'परिवार' का होना आवश्यक था। 'परिवार' न होता तो बच्चा कैसे बचता, स्त्री को कौन संभालता, पुरुष को भी अपने संघर्ष में कौन सहारा देता। क्योंकि मनुष्य के जीवन के लिए 'परिवार' आवश्यक था, इसलिए मनुष्य की सामाजिकता की भावना का प्रथम आविष्कार 'परिवार'

हुआ, और इसीलिए जहाँ-जहाँ मनुष्य हैं, वहाँ-वहाँ 'परिवार' पाया जाता है, 'परिवार' सार्वभौमिक संस्था है।

(ख) भावात्मक आधार (Emotional basis)—परिवार का संगठन जहाँ सार्वभौम है, वहाँ इसका आधार मनुष्य के उद्वेगों पर है। प्रेम, स्नेह, वात्सल्य—ये मानसिक उद्वेग हैं जो आदि-काल के मानव के हृदय में भी वैसे ही थे जैसे आज के मानव में हैं, जिनसे परिवार बँधा हुआ है। ये मनुष्य-मनुष्य को एक-दूसरे के साथ जोड़ने वाले मानसिक तत्त्व हैं, ये ही परिवार में पति-पत्नी-सन्तान को भी बाँधे रहते हैं। परिवार को छोड़ कर अन्य संगठन 'विचार' (Thinking) पर आश्रित होते हैं, यह संगठन 'भाव' (Feeling) पर आश्रित है। जब कोई कम्पनी बनती है, तब उसके सदस्यों को बाँधने वाला लेन-देन का आर्थिक विचार होता है, वे सदस्य एक-दूसरे पर प्राण नहीं न्योछावर कर देते; पति-पत्नी तो एक-दूसरे पर प्राण तक वार देते हैं, सन्तान के लिए माता-पिता दोनों अपने को स्वाहा कर देते हैं। 'परिवार' में ही ऐसी भावना पायी जाती है, अन्य किसी संगठन में नहीं। यह भावना इतनी प्रबल है कि पशु तथा मनुष्य दोनों सन्तान के लिए अपने को मिटा देते हैं, चाहे वह आदि-काल का मानव हो, चाहे आज का।

(ग) निर्माणात्मक तथा शिक्षणात्मक प्रभाव (Formative and educative influence)—परिवार का व्यक्ति के चरित्र-निर्माण तथा उसकी शिक्षा में बड़ा हाथ है। पुरुष, स्त्री, तथा बच्चा—इन तीनों के व्यक्तित्व के निर्माण में परिवार का बड़ा हाथ है। सिर्फ़ बच्चे के चरित्र का ही निर्माण परिवार में नहीं होता, माता-पिता के चरित्र पर भी परिवार का प्रभाव पड़ता है। माँ-बाप बच्चे को बनाते हैं, बच्चा माँ-बाप को बनाता है। सब का एक-दूसरे के निर्माण पर प्रभाव पड़ता है। समाज ने अब तक जिस संस्कृति का विकास किया होता है, वह वंश-परम्परा से चली आ रही संस्कृति बच्चे को कौन देता है? स्कूल-कालेज तो आज खुले हैं, जब शिक्षण-संस्थाएँ नहीं थीं, जब मनुष्य जंगलों में जीवन व्यतीत करता था, तब कौन बच्चे को समाज की संस्कृति की दीक्षा देता था? 'परिवार' के अतिरिक्त और कोई संस्था उस समय यह काम नहीं करती थी।

(घ) सीमित आकार (Limited size)—अन्य सामाजिक-संगठनों के आकार बहुत बड़े होते हैं, 'परिवार' का आकार अन्य सभी सामाजिक-संगठनों से छोटा है। छोटे संगठन में जो-कुछ सीखा जा सकता है, वह बड़े संगठन में नहीं सीखा जा सकता। माता, पिता और सन्तान—इन तीन का छोटा-सा संगठन 'परिवार' की बड़ी भारी विशेषता है। अन्य संगठन बढ़ने की तरफ़ जा रहे हैं, परिवार का संगठन आज तो पारिवारिक-नियोजन के कारण पहले से घटने की तरफ़ जा रहा है। अगर यह संगठन बढ़ना भी चाहे तो सीमा का कभी उल्लंघन नहीं कर सकता।

(ङ) सामाजिक ढाँचे में केन्द्रीय-स्थिति (Nuclear position in social strucutre)—हमारे सम्पूर्ण सामाजिक-संगठन में परिवार का स्थान

केन्द्रीय-स्थान है। शुरू-शुरू में तो हर बात का केन्द्र परिवार ही होता था क्योंकि व्यक्ति से जब समाज की तरफ़ विकास होने लगा, तब पहले-पहल परिवार ही तो बना। परिवार छोटा समाज है, समाज बड़ा परिवार है, परिवार में जो बातें छोटे पैमाने पर हैं, समाज में वही बातें बड़े पैमाने पर हैं, इसलिए समाज के वृत्त का केन्द्र-बिन्दु परिवार ही है। परिवार के केन्द्र से समाज विकसित होना शुरू होता है, और विकसित होता-होता यह बिन्दु जिन वृत्तों को बनाता है, वही वृत्त समाज तथा राष्ट्र कहलाते हैं।

(च) सदस्यों का उत्तरदायित्व (Responsibility of members)—अन्य सामाजिक-संगठनों में संगठन के प्रति सदस्यों का उत्तरदायित्व सीमित होता है, 'परिवार' में परिवार के हर सदस्य का उत्तरदायित्व असीमित होता है। कोई क्रिकेट क्लब का सदस्य है, तो क्रिकेट के मामलों में ही तो उसका उस संगठन के प्रति उत्तरदायित्व है, अन्य मामलों में तो नहीं, परन्तु अगर कोई 'परिवार' का सदस्य है, तो उसका उत्तरदायित्व असीमित है। उसे जंगल से शिकार लाना है, फल-कन्द चुगना है, या आजकल के जमाने में क्रिकेट भी खेलना है, तो यह सब भी परिवार को ध्यान में रख कर, यह नहीं कि परिवार में बच्चा बीमार पड़ा हो और वह शिकार लाने, फल चुगने या अन्य इसी प्रकार का काम करने चल पड़े, या आजकल का युवक क्रिकेट खेलने निकल पड़े। परिवार के सदस्य को अपना हर काम परिवार को दृष्टि में रख कर करना होता है, उसकी जिम्मेवारी असीमित होती है, साथ ही यह जिम्मेवारी जन्मभर पीछा नहीं छोड़ती।

(छ) सामाजिक-नियंत्रण (Social control)—परिवार मनुष्य पर सामाजिक-नियन्त्रण का सबसे बड़ा साधन है। परिवार का नियन्त्रण बड़ा चौमुखा होता है। मनुष्य परिवार के नियन्त्रण से निकलना चाहे, तो उसे बड़ी कठिनाई होती है। अन्य सामाजिक-संगठनों में ऐसी बात नहीं है। जब चाहो संगठन का सदस्य बन जाओ, जब चाहो अलग हो जाओ, परन्तु परिवार एक ऐसा सामाजिक-संगठन है जिसमें आकर मनुष्य मानो जकड़ जाता है। किस चीज से जकड़ जाता है? सामाजिक-प्रथाओं से, रीति-रिवाजों से, कानूनों से, विधि-विधानों से। जिस प्रकार मनुष्य विशाल समाज में सामाजिक-बन्धनों से जकड़ा हुआ है, उनसे इधर-उधर नहीं हो सकता, उसी प्रकार वह परिवार-रूपी छोटे समाज में भी समाज के विधि-विधान से बंधा हुआ है, उसमें नियन्त्रित है। समाज अपने नियन्त्रण का पाठ परिवार की पाठशाला में पढ़ाना शुरू कर देता है। परिवार का यह नियन्त्रण आदिवासियों के या आज-कल के सभ्य समाज—दोनों पर एक-सा लागू है।

(ज) परिवार की अस्थायी तथा स्थायी प्रकृति (Temporary and permanent nature of family)—परिवार के सम्बन्ध में हमने ऊपर जो विशेषताएं लिखी हैं उनसे यह प्रतीत होता है कि परिवार एक स्थायी सामाजिक-संगठन है, परन्तु ऐसी बात नहीं है। परिवार पति-पत्नी के मिलने से बनता है।

अगर इनमें से कोई एक मर जाय या इन दोनों का सम्बन्ध-विच्छेद हो जाय, तो परिवार अपने-आप टूट जाता है। इस दृष्टि से परिवार अस्थायी सामाजिक-संगठन है। परन्तु इस दृष्टि से अस्थायी होता हुआ भी परिवार एक स्थायी-संगठन है। स्थायी किस तरह से? स्थायी इस तरह से क्योंकि एक सामाजिक-संगठन के रूप में परिवार एक स्थायी वस्तु है। 'परिवार' टूटेगा भी तो कोई एक विशेष परिवार टूटेगा, सब परिवार तो नहीं टूट जायेंगे—संस्था के रूप में, सामाजिक-संगठन के रूप में परिवार स्थायी है और बना रहेगा, उसके प्रकार, उसके रूप भले ही बदलते रहें। परिवार आदि-काल के पाषाण-युगीन मानव के समय भी था, आज भी है।

(ज) परिवार एक प्रक्रिया है (Family is a process)—हमने अभी कहा कि परिवार अस्थिर भी है, स्थिर भी है। जो चीज़ स्थिर भी हो, अस्थिर भी हो, उसका रूप 'प्रक्रिया' (Process) का हो जाता है। परिवार की प्रक्रिया में गुज़रता हुआ मनुष्य बचपन से बुढ़ापे तक कई मंज़िलों में से निकलता है। उदाहरणार्थ, भारत के परिवार में बालक के विकास के तीन-चार क्रम पाये जाते हैं। पहली अवस्था तो वह है जिसमें बालक को तैयार किया जाता है, इस बात के लिए तैयार किया जाता है कि बड़ा होकर अपने बाप-दादाओं के अनुकूल परिवार की आधारशिला रखे। यह 'निर्माणावस्था' (Formative stage) है। अपने देश में प्रत्येक द्विज का 'उपनयन'-संस्कार किया जाता है। 'उपनयन' क्या है? यह उसकी समाज की संचित विद्या सीखने की तैयारी है। इसके बाद जब वह पढ़ना-लिखना ख़त्म कर लेता है, तब उसके विवाह की तैयारी का समय आता है। यह 'विवाहावस्था' (Nuptial stage) है। अपने गाँवों में तो यह 'विवाहावस्था' बहुत जल्दी मना ली जाती है, छोटे-छोटे बच्चों के विवाह रचे जाते हैं। आदिवासी जन-जातियों में 'विवाहावस्था' को जल्दी मनाने की परिपाटी नहीं है। वे लोग पाश्चात्य-देशों की 'कोर्टशिप' की तरह 'विवाहावस्था' से पहले 'आदि-विवाहावस्था' (Pre-nuptial stage) मनाते हैं। भारत की अनेक आदिवासी जन-जातियों में 'आदि-विवाहावस्था' में युवक को विवाहित जीवन के लिए तैयार किया जाता है, उसे बाकायदा शिक्षा दी जाती है। आदिवासियों ने लड़कों के या लड़के-लड़कियों के मिलने-जुलने के ऐसे स्थान बना रखे होते हैं जहाँ विवाह-शादी से पहले उन्हें मिलने-जुलने, आपस में एक-दूसरे को जानने-पहचानने की पूरी आज़ादी होती है। इस आज़ादी में यौन-ज्ञान भी उन्हें हो जाता है, इसे बुरा नहीं समझा जाता। नागाओं में इस प्रकार की प्रथा है। मध्य-प्रदेश की मुरिया गोंड जन-जाति में भी इस प्रथा को प्रोत्साहित किया जाता है। इस काल में लड़के-लड़कियों के स्वतंत्र रूप से मिलने-जुलने का परिणाम उनमें प्रेम उत्पन्न हो जाना स्वाभाविक है। जिनमें इस प्रकार का प्रेम हो जाता है, उनकी शादी कर दी जाती है। इस प्रथा का हम आगे विवाह के प्रकरण में उल्लेख करेंगे। जिन लोगों में माता-पिता वर-वधू की तलाश करते हैं, उनमें 'आदि-

विवाहावस्था' की प्रक्रिया नहीं हो पाती। इसके बाद 'विवाहोपरान्त-अवस्था' (Post-nuptial stage) आती है, जब विवाहित स्त्री-पुरुष के बाल-बच्चे होने लगते हैं। ये बच्चे जब बड़े होते हैं, तो वे भी इसी प्रक्रिया में से गुजरते हैं। अपने यहाँ इसे 'आश्रम'-व्यवस्था कहा जाता था—ब्रह्मचर्याश्रम, गृहस्थाश्रम, वानप्रस्थाश्रम तथा संन्यासाश्रम। इस प्रकार यद्यपि परिवार न स्थिर संस्था है, न अस्थिर संस्था है, तथापि यह एक प्रक्रिया है जिसमें से व्यक्ति को जन्म से लेकर मरण तक गुजरना पड़ता है :—

६. परिवार के कार्य
(Functions of the family)

परिवार की विशेषताएं हम देख चुके। अब हमें यह देखना है कि समाज की रचना में परिवार का कार्य क्या है, किस उद्देश्य की यह आदि-काल से पूर्ति करता आ रहा है। परिवार के निम्न कार्य कहे जा सकते हैं।

(क) प्राणि-शास्त्रीय कार्य (Biological functions)—परिवार की रचना में सब से मुख्य कार्य प्राणि-शास्त्रीय कार्य हैं। प्राणि-शास्त्रीय कार्य क्या हैं? प्राणि-शास्त्रीय कार्य हैं—(i) स्त्री-पुरुष का यौन-सम्बन्ध, (ii) सन्तान की उत्पत्ति, (iii) असहाय तथा पीड़ित अवस्था में एक-दूसरे की सहायता—बुड्ढा होने पर उसकी सेवा और रोगी होने पर दवा-दारू का प्रबन्ध, (iv) भोजन की व्यवस्था, और (v) किसी जगह पर घर बना कर रहने का प्रबन्ध ताकि प्राकृतिक उत्पातों से बचा जा सके और सुख-शान्ति से जीवन बिताया जा सके। आज के और आदि-काल के मानव के जीवन में परिवार के ये मुख्य प्राणि-शास्त्रीय कार्य हैं और रहे हैं।

(ख) मनोवैज्ञानिक कार्य (Psychological functions)—परिवार में केवल शरीर की देख-रेख नहीं होती, परिवार का काम मनुष्य का मानसिक विकास करना भी है। संसार में हम 'विश्व-प्रेम' की दृष्टि से चलेंगे या 'विश्व-संहार' की दृष्टि से—इसका सूत्रपात घर के वातावरण में ही हो जाता है। परिवार का यह काम है कि व्यक्ति के मानसिक विकास को वह दिशा दे जिससे समाज में वह शुद्ध सामाजिक दृष्टिकोण को लेकर चल सके। जिस परिवार में कलह होगा उसमें पला व्यक्ति संसार में भी कलह फैलायेगा, जिस परिवार में सुख और शान्ति होगी उसमें पला व्यक्ति विश्व भर में शान्ति का स्रोत बहायेगा। समाज की धारणाओं को व्यक्ति के मन में कूट-कूट कर डाल देना परिवार का काम है। जो परिवार अपने बच्चों में सामाजिक धारणाओं को नहीं डाल सकते, उनके बच्चे सदा समाज-विरोधी कार्य करते रहते हैं। ऐसी स्थिति न आज ठीक है, न आदि-काल में ठीक थी।

(ग) आर्थिक-कार्य (Economic functions)—जिस समय मनुष्य ने इस धरती-तल पर जीवन-यात्रा प्रारम्भ की और परिवार की संस्था का निर्माण किया, उस समय यह संस्था मनुष्य के आर्थिक-कार्यों का भी केन्द्र थी। पुरुष तथा

स्त्री अपनी-अपनी सुविधानुसार गृहस्थी की गाड़ी को एक-दूसरे की आर्थिक-सहायता करते हुए धकेलते थे। कृषि-युग तथा पशु-पालन के युग में भी कुछ काम पुरुष और कुछ स्त्री करती थी। जब से औद्योगिक-युग के कारण कल-कारखाने खुले, नवीन-सभ्यता का उदय हुआ, तब से परिवार आर्थिक-केन्द्र नहीं रहा, इसलिए नहीं रहा क्योंकि उद्योग-धंधे घर से बाहर जाने लगे। फिर भी, इस युग में भी पुरुष बाहर से कमा कर लाता है, स्त्री घर का काम-काज करती है, और आर्थिक-समस्या को दोनों मिल कर हल करते हैं।

(घ) सामाजिक-कार्य (Social functions)—परिवार अनेक सामाजिक-कार्यों को करता है। उदाहरणार्थ, (i) व्यक्ति अपने घराने की मान-मर्यादा, प्रतिष्ठा के विरुद्ध आचरण न करे, जैसी घराने की 'स्थिति' हो वैसा, उसके अनुरूप ही व्यक्ति 'कार्य' करे—यह बात व्यक्ति परिवार से ही सीखता है। परिवार व्यक्ति को एक ऐसी 'स्थिति' प्रदान करता है, जिससे व्यक्ति को उस 'स्थिति' के अनुकूल ही 'कार्य' करना पड़ता है। अगर कोई व्यक्ति ऐसा नहीं करता, तो उसे संकट का सामना करना पड़ता है, परिवार के दूसरे सदस्य उसे अपने परिवार से निकाल कर बाहर कर देते हैं, बिरादरी से च्युत कर देते हैं। आज का मानव तो पारिवारिक तथा सामाजिक बन्धनों की पर्वाह नहीं करता, क्योंकि आज की आर्थिक-व्यवस्था में उसका परिवार के बिना निर्वाह हो जाता है, परन्तु आदि-कालीन आर्थिक-व्यवस्था में व्यक्ति के लिए परिवार का सामाजिक पहलू ही नहीं था, आर्थिक-पहलू भी था, परिवार ही उसकी आजीविका का साधन था, इसलिए उस समय मानव-परिवार जो चाहता व्यक्ति वही करता था। (ii) परिवार का दूसरा काम 'समाजीकरण' है। बच्चे को परिवार की परिपाटी में दीक्षित करना ही नहीं, अपितु समाज के योग्य बनाना भी परिवार का ही काम है। जो बच्चे समाज में नहीं पले, जिन्हें जंगली जानवर उठा ले गये, वे 'समाजीकरण' की प्रक्रिया से वंचित रहे, उन्हें आदमियों का-सा खाना-पीना, पहनना, बोलना-चालना भी न आया। (iii) परिवार का काम बच्चे को समाज के वर्त्तमान चालू व्यवहार में दीक्षित करना ही नहीं, अपितु तीसरा काम यह है कि भूतकालीन पीढ़ी-दर-पीढ़ी तथा परम्परा से चली आ रही मानव-सभ्यता में बच्चे को दीक्षित करके उसे आगे धारावाहिक रूप में प्रवाहित करने का उपक्रम कर देना भी उसका काम है। अगर प्रत्येक मानव को मानव-सभ्यता की प्रत्येक प्रक्रिया अपने जीवन में दोहरानी पड़े, और परिवार के माध्यम से मनुष्य का लाखों-करोड़ों सालों का संचित ज्ञान आगे-आगे न बहता चले, तो मनुष्य आज भी पत्थर पर पत्थर मार कर आग निकाला करे। परिवार क्या करता है? परिवार आज तक के करोड़ों सालों के मानव-समाज के अनुभव को कुछ ही सालों में बच्चे को सिखा देता है।

(ङ) सांस्कृतिक-कार्य (Cultural functions)—समाज का जीवन समाज की अपनी संस्कृति पर टिका रहता है। समाज के रीति-रिवाज, उसकी परम्पराएँ, सामाजिक-विरासत, कैसे एक-दूसरे के साथ बर्ते, जीवन के प्रति क्या

दृष्टिकोण हो—यह सब-कुछ सांस्कृतिक धरोहर है जो प्रत्येक परिवार में बच्चों को दे दी जाती है। देश के त्यौहार, देश के वीर, देश के कथानक—ग़र्ज़ यह कि देश का जो-कुछ भी अपनापन है, यह परिवार द्वारा देश के बच्चों को मानो जन्म-घुट्टी में पिला दिया जाता है। परिवार यह काम आदि-काल से करता आया है। परिवार यह काम न करे, तो मानव-शास्त्री आदिवासी जन-जातियों में जाकर उनकी संस्कृति के विषय में कुछ भी पता न लगा सकें। इसी लिए जो मानव-शास्त्री आदिवासी जन-जातियों की संस्कृति के विषय में कुछ भी जानना चाहते हैं, उन्हें उनके परिवारों में जाकर रहना पड़ता है, ताकि उनकी संस्कृति को, जो परिवारों में सुरक्षित रहती है, वे जान सकें।

७. भारतीय परिवार

जैसा हम जगह-जगह लिख आये हैं, परिवार की संस्था आदि-काल से चली आ रही है। कोई पुराने-से-पुराना समाज ऐसा नहीं मिलता जिसमें किसी-न-किसी रूप में परिवार न हो, परन्तु आज के युग में, पाश्चात्य-सभ्यता की टक्कर के सामने परिवार की भित्ति टूटती जा रही है। परिवार के जितने कार्य थे, वे परिवार से बाहर चलते चले जा रहे हैं। आर्थिक-कार्य के लिए अब परिवार में बैठे रहना ज़रूरी नहीं है, कल-कारख़ाने परिवार से बाहर बनते हैं, पढ़ने-लिखने, संस्कृति सीखने के लिए परिवार की कोई ज़रूरत नहीं, स्कूल-कालेज परिवार के बाहर खुले हुए हैं, बच्चे पालने के लिए नर्सरी, कपड़े धोने के लिए धोबी, रोटी पकाने के लिए ढाबे और होटल—ग़र्ज़ यह कि अब तक जो काम परिवार करता था, वह सब आज परिवार से बाहर चलता चला जा रहा है, और इसके साथ परिवार टूटता नज़र आ रहा है। देशों में दो तरह के देश हैं—जन-तांत्रिक तथा एकाधिकारवादी। जन-तांत्रिक देशों में व्यक्तिवाद इतने शिखर पर पहुँचा हुआ है कि व्यक्ति अपना सुख ढूंढता है, परिवार का नहीं; एकाधिकारी देशों में समाजवाद इतने शिखर पर पहुँचा हुआ है कि राज्य जैसा परिवार चाहता है वैसा बनाने के लिए व्यक्ति को बाधित कर रहा है। इस सब का परिणाम यह हो रहा है कि पाश्चात्य-देशों में परिवार का भवन धराशायी होता जा रहा है।

भारत में अभी परिवार की यह हालत नहीं है। यहाँ जन-जातियों में कहीं पितृ-सत्ताक परिवार चल रहे हैं, कहीं मातृ-सत्ताक, कहीं एक-विवाही, कहीं बहु-विवाही, कहीं बहु-भार्यक, कहीं बहु-भर्तृक। इन सब में हिन्दू-समाज के परिवार का रूप सदियों पुराना है। हिन्दू-समाज के परिवार का रूप क्या है? हिन्दुओं में परिवार एक धार्मिक संस्था है। इस परिवार का आदर्श पुरातन कथानकों में पाया जाता है। रामचन्द्र जी की पत्नी सीता पति के वनवास पर पति के रोकने पर भी १४ साल उनके साथ जंगल में बिताती और उनकी सेवा करती है। ने इस ~~ी का भाई लक्ष्मण उनके संग अपना जीवन उनके लिए लगा देता है। किया, उ~ी का सेवक हनुमान् अपने स्वामी के लिए हर तरह का कष्ट सहने के

लिए तैयार है। इन सब को—राम, सीता, लक्ष्मण, हनुमान् को—जगह-जगह पूजा होती है। परिवार के इस आदर्श को हिन्दू-समाज का बच्चा-बच्चा अपना आदर्श समझता है। रामायण इसी आदर्श का गीत गाने के लिए लिखी गई थी, जिसे शहर तथा गाँव सब जगह बड़े चाव से पढ़ा जाता है। हिन्दू-परिवार एक संयुक्त-परिवार है जिसमें परिवार का सबसे बड़ा उसका कर्त्ता माना जाता है। यह परिवार पितृ-स्थानी, पितृ-वंशी तथा पितृ-नामी है, सम्पत्ति पिता से पुत्र को मिलती है। स्त्रियों की पूजा के इस परिवार-प्रथा में बहुत गीत गाये जाते हैं—'यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते रमन्ते तत्र देवता:'—परन्तु क्रियात्मक रूप में देखा जाए, तो स्त्री की समाज में स्थिति बहुत नीची है। गाँवों में तो अब तक स्त्री का बुरा हाल है, यद्यपि आने-जाने की उसे पूरी स्वतंत्रता है; शहरों में स्त्रियों के आन्दोलन से स्थिति सुधरती जा रही है, परन्तु शहरों की स्त्रियाँ पाश्चात्य आदर्शों के पीछे चल कर परिवार की संस्था को धक्का पहुँचा रही हैं। हिन्दुओं में अपनी जाति में विवाह किया जाता है, अपने गोत्र में नहीं, यद्यपि अब गोत्र पर लगे प्रतिबन्ध नये कानूनों से कुछ शिथिल हो गये हैं।

भारत में मुसलमान परिवारों का भी अपना रूप है। यहाँ रहते हुए मुसलमान भी हिन्दुओं की पारिवारिक प्रथाओं से कुछ प्रभावित हुए हैं। मुसलमानों में शिया लोगों के परिवारों पर तो हिन्दुओं की जात-बिरादरी की भी कुछ छाप पड़ गई है। मुस्लिम परिवार भी हिन्दू परिवार की तरह पितृ-नामी, पितृ-स्थानी तथा पितृ-वंशी है। घर का बड़ेरा घर चलाता है और स्त्रियाँ परदे में रहती हुई घर का काम-काज करती हैं। सम्पत्ति पर हिन्दुओं की तरह परिवार का संयुक्त अधिकार नहीं होता, इसका बारीक कानूनों से विभाजन होता है।

भारत की जन-जातियों तथा परिवार के सम्बन्ध में हमने इस अध्याय में चर्चा की। 'परिवार' का सम्बन्ध 'विवाह' से है, इसलिए अगले अध्याय में हम भारत की आदिवासी जन-जातियों में विवाह के सम्बन्ध में चर्चा करेंगे।

७

भारत की जन-जातियाँ तथा विवाह

(INDIAN TRIBES AND MARRIAGE)

१. विवाह की परिभाषा

हम पिछले अध्याय में 'परिवार' पर लिख आये हैं, परन्तु 'परिवार' का आधार 'विवाह' है। 'विवाह' की व्याख्या निम्न प्रकार की गई है :—

[क] नोट्स एण्ड क्वेरीज़ ऑन एन्थ्रोपौलोजी की व्याख्या—"पुरुष तथा स्त्री का ऐसा सम्बन्ध जिससे इन दोनों सहयोगियों की इस सम्बन्ध द्वारा उत्पन्न सन्तान वैध मानी जाय विवाह कहलाता है।"

[ख] जेकब्स तथा स्टर्न की व्याख्या—'विवाह एक अथवा अनेक पति तथा पत्नी के सामाजिक सम्बन्ध का नाम है; विवाह उस संस्कार का भी नाम है जिसके द्वारा पति-पत्नी आपस में सामाजिक-सम्बन्ध में बँध जाते हैं।"

२. विवाह का प्राणि-शास्त्रीय दृष्टिकोण

स्त्री तथा पुरुष दोनों में 'काम-भाव' है, इससे इन्कार नहीं किया जा सकता। 'काम-भाव' से प्रेरित होकर वे यौन-सम्बन्ध भी करते हैं। पशु-पक्षी भी ऐसा करते हैं, आदि-काल का मानव भी ऐसा करता था। यौन-सम्बन्ध के दो परिणाम हो सकते हैं। एक परिणाम तो यह है कि 'यौन-सम्बन्ध' तो हो, परन्तु इस सम्बन्ध के होने पर भी सन्तान न हो। दूसरा परिणाम यह है कि 'यौन-सम्बन्ध' हो, और सन्तान भी हो जाय। इसका अर्थ यह हुआ कि 'यौन-सम्बन्ध' एक चीज़ है, 'सन्तानोत्पत्ति' दूसरी चीज़ है। 'यौन-सम्बन्ध' का परिणाम 'सन्तानोत्पत्ति' हो भी सकता है, नहीं भी हो सकता। हाँ, इसमें सन्देह नहीं कि 'सन्तानोत्पत्ति' बिना 'यौन-सम्बन्ध' के नहीं हो सकती। आदि-मानव ने जब पहले-पहल 'यौन-सम्बन्ध' किया, तो शुरू-शुरू में तो कोई समस्या नहीं पैदा हुई, परन्तु उसने देखा कि 'यौन-सम्बन्ध' के ८–९ महीने बाद स्त्री के बच्चा पैदा हो जाता है। अगर

[क] "Marriage is defined as a union between a man and a woman, such, that children borne by the woman are recognised as the legitimate offspring of both partners."

—*Notes and Queries on Anthropology.*

[ख] "Marriage is a term for social relationship of husband and wife or of plural mates; also used for the ceremony of uniting marital partners." —*Jacobs and Stern.*

'यौन-सम्बन्ध' हो जाता, और 'सन्तानोत्पत्ति न होती, तब तो आदि-मानव के सम्मुख कोई समस्या न उठती, परन्तु जब उसने देखा कि 'यौन-सम्बन्ध' का परिणाम 'सन्तानोत्पत्ति' है, तब उसके सम्मुख एक समस्या उठ खड़ी हुई। वह समस्या क्या थी? जिस पुरुष ने किसी स्त्री से 'यौन-सम्बन्ध' किया है उसके पेट में बच्चा आ गया है। ९-१० महीने तक स्त्री को यह जिम्मेदारी निभानी है। बच्चा होने के बाद उसे दूध पिलाना, उसकी परवरिश करना है। मनुष्य का बच्चा तो इतना असमर्थ होता है कि उसे सालों रक्षा की आवश्यकता होती है। क्या यह सब जिम्मेदारी माता की है? माता की है तो क्या माता बच्चा पैदा होने पर उसे छोड़ कर अपना रास्ता नापे, अपनी रोटी-पानी की चिन्ता करे, या बच्चे की देख-रेख करे। आदि-मानव के समाज के लिए यह बड़ी भारी चिन्ता का विषय था। 'काम-भाव' के वेग से 'सन्तानोत्पत्ति' तो हो गई, परन्तु 'सन्तानोत्पत्ति' के बाद आगे काम कैसे चले? यह समस्या आदि-मानव के सामने ही खड़ी हुई---यह बात नहीं। आज भी जो अविवाहित युवक-युवति काम-वेग में यौन-सम्बन्ध कर बैठते हैं, जब तक इस सम्बन्ध से सन्तानोत्पत्ति नहीं होती, तब तक तो वे इसे छिपाये रखते हैं, परन्तु प्रकृति तो उनके साथ साँठ-गाँठ मिला कर नहीं बैठती। समय आता है जब युवति के पेट में बच्चा आ जाता है। बच्चा आते ही समस्या उठ खड़ी होती है---अब क्या किया जाय? वही समस्या जो आदि-मानव के मन में उठी थी। भेद इतना ही है कि आदि-मानव के काल में समस्या का हल ढूँढा जा रहा था, विवाह की संस्था अभी नहीं बनी थी, आज के अविवाहित युवक काम-वेग में इस हल का आश्रय लिये बिना गोता खा जाते हैं। आदि-मानव के सम्मुख जब यह समस्या उपस्थित हुई, तब उसने 'विवाह' की संस्था को जन्म दिया, आज के मानव के सम्मुख जब यह समस्या उपस्थित होती है, तब उसे झख मार कर विवाह करना पड़ता है। 'यौन-सम्बन्ध' से जब 'सन्तानोत्पत्ति' हो जाय, तब समाज के पास इस सन्तान के भरण-पोषण की समस्या का क्या हल है?

३. विवाह का कानूनी दृष्टिकोण

'यौन-सम्बन्ध' से एक प्राणि-शास्त्रीय समस्या उत्पन्न हो गई। इस को हल करने के लिए आदि-मानव-समाज ने 'विवाह' की 'कानूनी' संस्था को जन्म दिया। अगर पुरुष ने स्त्री के साथ यौन-सम्बन्ध करना है, तो समाज में---चाहे वह आदि-समाज हो, चाहे आदिवासी-समाज हो, चाहे वर्त्तमान-समाज हो---वह सम्बन्ध तभी बर्दाश्त किया जा सकता है, अगर वह हर तरह से स्त्री को, और बच्चे की परवरिश करने के लिए, उनकी रक्षा के लिए कानूनी तौर पर अपने ऊपर जिम्मेदारी ले। इसी कानूनी जिम्मेदारी का नाम 'विवाह' है। कानूनी जिम्मेदारी का यह अर्थ हुआ कि अगर वह स्त्री तथा बच्चे का पालन-पोषण नहीं करेगा, तो दंड का भागी होगा। इसका यह अर्थ भी हुआ कि विवाह के बिना 'यौन-सम्बन्ध', जहाँ सन्तानोत्पत्ति की सम्भावना हो, नाजायज समझा गया। अविवाहिता कन्या के साथ 'यौन-सम्बन्ध' होने से सन्तानोत्पत्ति की सम्भावना है। अगर सन्तान हो

जाय, तो उसके पोषण की जिम्मेवारी किस पर होगी? पुरुष तो इसे लेने को तैयार नहीं होता। इसलिए अविवाहिता कन्या के साथ 'यौन-सम्बन्ध' नाजायज समझा गया। विवाह के सम्बन्ध में आदि-समाज तथा वर्तमान-समाज में जो कानून बने उनका मुख्य उद्देश्य यह था कि बच्चे की हर हालत में रक्षा होनी चाहिए, नस्ल को उसी ने तो चलाना है, इसलिए पति-पत्नी का ऐसा सम्बन्ध होना चाहिए जिससे बच्चे की स्थिति समाज में सुरक्षित रहे। विवाह-सम्बन्ध के बाहर जो बच्चा हो, वह नाजायज करार दिया गया, जिसका परिणाम यह हुआ कि 'यौन-सम्बन्ध' के लिए किसी-न-किसी तरह का विवाह करना आवश्यक हो गया।

इस दृष्टि से 'विवाह' क्या है? विवाह स्त्री-पुरुष का एक 'सामाजिक-ठेका' (Social contract) है जिसमें स्त्री अपने ऊपर बालक की परवरिश की, और पुरुष अपने ऊपर इन दोनों की भूख-प्यास-संरक्षा आदि की जिम्मेवारी लेता है। काम-भाव, भूख, प्यास, संरक्षा—ये सब मनुष्य की 'आधारभूत प्रवृत्तियाँ' (Instincts) हैं। इनके बिना मनुष्य का 'अति-जीवन' (Survival) सम्भव नहीं है। पुरुष तथा स्त्री एक-दूसरे की जीवन की इन आधारभूत आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए विवाह द्वारा मानो एक प्रकार का सौदा, एक प्रकार का ठेका करते हैं। ठेके के साथ ठेके के टूटने का भाव भी बना रहता है। अगर वे एक-दूसरे की आवश्यकताओं को पूरा नहीं कर सकते, तो वे जुदा हो सकते हैं। तभी जिस समाज के कानून में विवाह को ठेके-जैसा समझा जाता है, उसमें विवाह-विच्छेद का, तलाक का भी स्थान रहता है। कई समाज बालक की सुरक्षा में जरा-सा भी खतरा नहीं लेना चाहते। विवाह अगर ठेका है, तो ठेका टूट सकता है, और बालक का भविष्य खतरे में पड़ सकता है। जहाँ-जहाँ तलाक होता है, वहाँ-वहाँ बच्चे की समस्या सदा उठ खड़ी होती है। बच्चा किसको दिया जाय, उसकी परवरिश कौन करेगा—ये सब समस्याएँ तलाक के सम्बन्ध में पैदा हुआ ही करती हैं। तलाक की संस्था विवाह को ठेका समझने का अवश्यंभावी परिणाम है। ठेका टूट जाने पर अगर माता पर ही बालक की परवरिश का सारा बोझ आ पड़े, या पिता पर चला जाय, तो इन दोनों में से अलग-अलग कोई भी इस जिम्मेवारी को पूरी तरह निभा नहीं सकता। इसलिए जो समाज बालक की दृष्टि से इस प्रकार का खतरा नहीं उठाना चाहते, वे विवाह को ठेका न मान कर एक 'संस्कार'—एक 'स्थिर-धार्मिक-सम्बन्ध' (Sacrament) मानते हैं, ऐसा सम्बन्ध जो इस जन्म में तो टूट नहीं सकता। ऐसे समाज इस सम्बन्ध में तलाक को कोई स्थान नहीं देते। एक बार विवाह हो गया, सो हो गया, वह अटूट धार्मिक सम्बन्ध है।

४. 'विवाह' पर ऐतिहासिक या विकासवादी विवेचन

जैसा हमने कहा, परिवार के साथ-साथ विवाह की संस्था ने जन्म लिया। एक ही प्रकार के संगठन का 'विवाह' तो प्राणि-शास्त्रीय तथा कानूनी रूप है, 'परिवार' उसी का समाज-शास्त्रीय रूप है। इन दोनों पर अलग-अलग विचार

किया जाता है, परन्तु एक ही-सी संस्था होने के कारण इन दोनों पर विचार करने में समान बातों का आ जाना स्वाभाविक है। विवाह की संस्था का विकास कैसे हुआ—इस पर विकासवादियों का दृष्टि-कोण सब से प्रबल है। इस दृष्टि-कोण पर हम परिवार का वर्णन करते हुए भी लिख आये हैं, परन्तु यहाँ उसे विवाह के दृष्टि-कोण से लिखना आवश्यक जान पड़ता है।

(क) संकरता से एक-विवाह (From Promiscuity to Monogamy)—हम पहले लिख आये हैं कि विकासवादी कहते हैं कि शुरू-शुरू में विवाह की प्रथा नहीं थी, संकरता थी, जो जिससे चाहता यौन-सम्बन्ध कर लेता था। विकासवादियों के दृष्टि-कोण में अनिश्चितता से निश्चितता, अव्यवस्था से व्यवस्था, भिन्नता से अभिन्नता, विविधता से एकता—विकास की यही 'एक-दैशिक' (Unilinear) प्रक्रिया है। इस दृष्टि से विकासवादियों का कथन है कि आदि-काल में विवाह के स्थान में संकरता की अवस्था थी, उससे विकसित होते-होते आज जो 'एक-विवाही-प्रथा' (Monogamous marriage) है, वह विकसित हुई। इस प्रक्रिया में 'संकरता' सबसे नीचे के स्तर पर है, 'एक-विवाह' सबसे ऊँचे स्तर पर है। इस पक्ष के सब से बड़े समर्थक श्री मॉर्गन (Morgan) हैं। अपने पक्ष को पुष्ट करने के लिए ये लोग कुछ प्रमाण देते हैं। इनका कहना है कि अनेक जन-जातियों में चाचा-ताया, चाची-तायी आदि के लिए अलग-अलग नाम नहीं हैं, इन सब को पिता या माता कहा जाता है। इसका यही कारण हो सकता है कि इनमें सभी पिता हों, सभी माता हों, सभी माता-पिता तभी हो सकते हैं जब विवाह की संस्था ही न हो। इसके अतिरिक्त इनका कहना है कि अनेक जन-जातियों में यौन-सम्बन्ध में बहुत शिथिलता पायी जाती है। मध्य-भारत की अनेक आदिवासी जन-जातियों में उत्सव आदि के समय एक आदमी की स्त्री दूसरे से सम्बन्ध कर सकती है, और इसे बुरा नहीं माना जाता। कई आदिवासी जन-जातियों में विवाह से पहले तथा विवाह के बाद भी स्त्री-पुरुष के यौन-सम्बन्ध को स्वीकृत किया जाता है। एस्किमो परिवार में जब कोई अतिथि आता है, तो स्त्री की इच्छा से अतिथि तथा स्त्री सम्भोग कर सकती हैं। अतिथि को अपनी स्त्री भेंट करने की प्रथा कई जातियों में पायी जाती है। इन सब बातों के आधार पर मॉर्गन का कहना है कि आदिकालीन समाज 'संकरता' का समाज था, उस समय की बातें ही आज इन रूपों में भिन्न-भिन्न समाजों में अवशेष के रूप मे पायी जाती हैं। 'यूथ-विवाह' (Group marriage) भी आदि-कालीन संकरता का सूचक है। मॉर्गन के अनुसार शुरू-शुरू में यौन-सम्बन्ध में भाई-बहन का भेद भी नहीं किया जाता था, इस प्रकार का भाई-बहन का 'अनाचारी' (Incest) वैवाहिक सम्बन्ध होता था, समान-रुधिर वालों में यौन-सम्बन्ध (Consanguineous marriage) होता था, आजकल के विवाह-जैसा कोई बन्धन नहीं था।

(ख) संकरता के सिद्धांत की आलोचना—मॉर्गन के इस सिद्धान्त को दूसरे विकासवादी नहीं मानते। इन लोगों की युक्तियाँ भी विकासवाद पर आश्रित

हैं। इन युक्तियों के दो रूप हैं। इन युक्तियों का एक रूप तो यह है कि प्रकृति में संकरता नहीं पायी जाती। पशुओं में भी 'एकाधिकार' तथा 'ईर्ष्या' के लक्षण पाये जाते हैं और उन तक में एक-विवाह ही पाया जाता है। इस पक्ष को श्री हैनरी मेन (Henry Maine) तथा वेस्टरमार्क (Westermarck) ने बलपूर्वक रखा है। जब पशु-पक्षियों तक में संकरता नहीं पायी जाती, तो मानव-समाज में संकरता कहाँ से आयेगी? जेकब्स तथा स्टर्न (Jacobs and Stern) ने इस युक्ति के दूसरे रूप का आश्रय लिया है। उनका कहना है कि जैसे 'परिवार' की संस्था का मनुष्य के 'अति-जीवन' (Survival) के लिए आश्रय लिया गया, वैसे 'विवाह' की संस्था का भी मनुष्य के 'अति-जीवन' के लिए ही आश्रय लिया गया। अगर हम यह मानें कि मनुष्य की हर संस्था का विकास उसके 'जीवन' तथा 'अति-जीवन' के लिए हुआ है, तो संकरता से तो मानव का जीवन सम्भव ही नहीं है। 'संकरता' में शिशु की रक्षा कौन करेगा, स्त्री के गर्भवती होने पर उसकी देख-रेख कौन करेगा? मनुष्य का और उसकी सन्तान का अब तक बना रहना तभी सम्भव हो सकता था अगर आदि-समाज को एक-विवाही माना जाय, संकर का न माना जाय।

तो फिर मॉर्गन की इस युक्ति का क्या उत्तर है कि अनेक समाजों में माता-पिता के अतिरिक्त दूसरे शब्द ही नहीं पाये जाते, अनेक समाजों में स्त्री-पुरुष के यौन-सम्बन्ध पर कोई नियन्त्रण नहीं, अनेक समाजों में अतिथि को पत्नी तक यौन-सम्बन्ध के लिए दे दी जाती है। इसका उत्तर यही दिया जाता है कि शब्द के अभाव के कारण इतना बड़ा क्रांतिकारी परिणाम नहीं निकाला जा सकता, शब्दों के होने-न-होने के अन्य कारण भी हो सकते हैं। और, यौन-सम्बन्धों में शिथिलता का होना अलग बात है, एक-विवाह का होना अलग बात है, एक-विवाह की प्रथा के होते हुए भी यौन-सम्बन्धों में शिथिलता हो सकती है, यह शिथिलता केवल उत्सव आदि में होती है, इससे भी यही सिद्ध होता है कि विवाह का मूल रूप एक-विवाही है, जिसमें कभी-कभी उत्सव आदि पर अपवाद कर दिया जाता है।

संकरता के विरुद्ध सबसे बड़ी युक्ति यह है कि जीवित आदिवासी जन-जातियों में, जो आदि-समाज की मूर्त रूप हैं, कहीं संकरता की अवस्था नहीं पायी जाती। हर आदिवासी जन-जाति में किसी-न-किसी प्रकार की विवाह की प्रथा मौजूद है। भारत में अंडमान, कादर, पलियान, पलपन्तरम, चेंचु, बिरहोर आदि आदिवासी जन-जातियाँ हैं—इनमें किसी में भी तो संकरता की प्रथा नहीं है, संकरता के स्थान पर इनमें एक-विवाही प्रथा तथा पति-पत्नी की एक-दूसरे के प्रति बफ़ादारी पायी जाती है, इनके विधि-विधान में भी एक समय में एक साथी रखने का ही नियम है। मध्य-प्रदेश की कमार जन-जाति में भी एक-विवाही विधान है। भारत के बाहर की जन-जातियों का अध्ययन करने के बाद लोई (Lowie) इस परिणाम पर पहुँचे कि 'संकरता' अथवा 'यूथ-विवाह' किसी में नहीं पाया जाता, अगर इसकी कुछ सम्भावना है, तो उसी काल में इसकी सम्भावना

कल्पित की जा सकती है जब 'यौन-सम्बन्ध' के विषय में मनुष्य यह निर्णय नहीं कर पाया था कि इसका क्या परिणाम हो सकता है। जब मनुष्य को यह निश्चय हो गया कि 'यौन-सम्बन्ध' का परिणाम 'सन्तानोत्पत्ति' होता है, उसी समय मनुष्य ने सन्तान के उद्देश्य से 'यौन-सम्बन्ध' को सीमा में बाँधने के लिए 'विवाह' की संस्था का निर्माण कर दिया। 'संकरता' का एक दूसरा अर्थ हो सकता है। कई जन-जातियों में एक स्त्री के अनेक पति पाये जाते हैं। इस प्रथा को 'बहु-भर्तृता' (Polyandry) कहा जाता है। कई में एक पुरुष की कई पत्नियाँ होती हैं। इस प्रथा को 'बहु-भार्यता' (Polygyny) कहा जाता है। दोनों के लिए एक शब्द है—'बहु-विवाह' (Polygamy)। इस प्रथा को 'संकरता' का नाम दिया जा सकता है, परन्तु यह 'संकरता' नहीं, 'बहु-विवाह' होने के कारण 'विवाह' ही है।

(ग) 'परिवार' तथा 'विवाह' एक-साथ की संस्थाएँ हैं (Marriage is co-eval with Family)—ऊपर जो-कुछ कहा गया है उससे हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि जब से 'परिवार' है तब से 'विवाह' की संस्था भी है, एक ही सामाजिक-सम्बन्ध के 'परिवार' तथा 'विवाह' दो पहलू हैं, जैसे 'परिवार' के विषय में विकास की बात ठीक नहीं जँचती, वैसे 'विवाह' के विषय में भी विकास की बात ठीक नहीं जँचती। 'परिवार' मनुष्य की सामाजिक तथा आर्थिक आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए पैदा हुआ था, और जब परिवार पैदा हुआ था, उसी समय इन्हीं आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए 'विवाह' की संस्था भी बनाई गई थी। ऐतिहासिक या विकासवादी दृष्टि से हम सिर्फ़ इतना जान सकते हैं कि अमुक जन-जाति में 'परिवार' अथवा 'विवाह' की संस्था ने क्या रूप धारण किया, क्या एक-विवाही रूप धारण किया, क्या बहु-विवाही रूप धारण किया, एक स्त्री ने कई पतियों से विवाह किया, अनेक स्त्रियों ने एक पति से विवाह किया—या क्या किया। यह सब-कुछ जान लेने पर हमें इतना तो पता चलता है कि आदि-समय के किसी समाज में विवाह का कोई रूप है, किसी में कोई रूप, परन्तु इन सब रूपों को देख कर यह नहीं कहा जा सकता कि इतना विकास किसी एक रूप से हुआ है, 'एक-देशिक विकास' (Unilinear evolution) की कल्पना भिन्न-भिन्न जन-जातियों की 'विवाह' की संस्था से पुष्ट नहीं होती। 'एक-देशिक-विकास' का अर्थ है कि विकास एक ही दिशा में चलता चला गया, अनिश्चित-दिशा से निश्चित दिशा की तरफ़, बहु-विवाही से एक-विवाही दिशा की तरफ़।

५. 'विवाह' की आवश्यकता

यों तो 'विवाह' के प्राणि-शास्त्रीय तथा कानूनी दृष्टि-कोण पर विचार करते हुए हम विवाह की आवश्यकता का भी साथ-साथ ज़िक्र कर आये हैं, फिर भी विवाह की आवश्यकता के और इस संस्था के निर्माण के इनके अतिरिक्त अन्य भी कारण हैं। विवाह का विकास किस प्रकार हुआ—यह प्रश्न इतना महत्त्व का नहीं है, जितना इस बात का महत्त्व है कि विवाह मनुष्य की किस आवश्यकता को

पूरा करता है, यह उसकी किस चाह का, किस भावना का, किस एषणा का परिणाम है, विवाह का कारण क्या है ? हम यहाँ संक्षेप में विवाह के इन कारणों पर विचार करेंगे।

(क) काम-तृप्ति (Biological satisfaction)–मनुष्य काम-भाव को तृप्त करना चाहता है। बिना किसी नियन्त्रण में बंधे काम-भाव को तृप्त करने से समाज में अव्यवस्था फैल सकती है, इसलिए यौन-सम्बन्ध को नियन्त्रित करने के लिए 'विवाह' जैसी संस्था का होना मनुष्य ने आदि-काल से आवश्यक समझा है। मनुष्य इस संस्था में समाज द्वारा अनुमोदित तरीके से यौन-सम्बन्ध स्थापित कर सकता है। काम-भाव की तृप्ति मनुष्य किस प्रकार करेगा—इसका निश्चय भिन्न-भिन्न समाज की अपनी संस्कृति पर आश्रित है। प्रत्येक समाज की संस्कृति निश्चय करती है कि काम-भाव को मनुष्य कैसे तृप्त करे। कहीं एक स्त्री का विधान है, कहीं अनेक स्त्रियों का विधान है, कहीं एक पुरुष का विधान है, कहीं अनेक पुरुषों का विधान है। विवाह मनुष्य की काम-सम्बन्धी प्राणि-शास्त्रीय एषणा का एक हल है।

(ख) मन-तृप्ति (Psychological satisfaction)—विवाह का उद्देश्य सिर्फ़ काम-भाव को तृप्त करना ही नहीं है, मानसिक-तृप्ति भी इसका उद्देश्य है। प्रत्येक स्त्री-पुरुष में एक-दूसरे की चाह होती है, बच्चे की चाह होती है। यह हो सकता है कि किन्हीं दम्पती में काम-भाव न रहे, परन्तु सन्तान की कामना बनी रहे। विवाह का उद्देश्य सन्तान के लिए मनुष्य की इच्छा को पूर्ण करना है।

(ग) अर्थ-तृप्ति (Economic satisfaction)—उक्त दो बातों के अतिरिक्त कई समाजों का आर्थिक-संगठन स्त्री तथा पुरुष के सहयोग पर इतना अवलम्बित होता है कि विवाह जैसी संस्था के बिना स्त्री तथा पुरुष के जीवन की गाड़ी चल ही नहीं सकती। फल-मूल एकत्रित करके अपना जीवन-निर्वाह करने वाली आदिवासी जन-जातियों में स्त्री तथा पुरुष को एक-दूसरे के रात-दिन के सहयोग की इतनी आवश्यकता है कि उनका साथ-साथ रहना अनिवार्य है। पुरुष फल-मूल लेने जाय, तो स्त्री घर का काम-काज देखे—तभी इन दोनों का जीवन चल सकता है। कादर, अंडमान द्वीप के वासी, गोंड आदि भारत की सभी आदिवासी जन-जातियों में स्त्री तथा पुरुष की आर्थिक सहकारिता पायी जाती है, इसलिए विवाह काम-तृप्ति तथा मन-तृप्ति का साधन ही नहीं है, यह अर्थ-तृप्ति का भी बड़ा भारी साधन है।

(घ) अन्य-तृप्ति (Other satisfactions)—विवाह कुछ अन्य उद्देश्यों से भी किया जाता है। सेमा नागा जाति के लोग अपनी माँ के अतिरिक्त पिता की जो अन्य स्त्रियाँ होती हैं उनके विधवा होने पर उनसे शादी कर लेते हैं। इस प्रकार की शादी से काम-तृप्ति तथा मन-तृप्ति तो होती ही नहीं, अर्थ-तृप्ति भी उस प्रकार की नहीं होती जैसी पति-पत्नी में एक-दूसरे का घर के काम-काज में हाथ बँटा कर होती है। ये लोग अपनी सौतेली माँ से शादी इसलिए करते हैं

क्योंकि नागा जाति के विधान के अनुसार पति के मर जाने पर उसकी सम्पत्ति की अधिकारिणी विधवा स्त्रियाँ होती हैं। इन विधवाओं की सम्पत्ति पर अधिकार करने के लिए ये लोग अपनी सौतेली माँ से ही शादी कर लेते हैं। अपने देश में जाटों में 'चद्दर डालने' की प्रथा है। इस प्रथा के अनुसार भाई के मर जाने पर दूसरा भाई उसकी विधवा को अपनी विवाहिता के तौर पर रख लेता है, और इस प्रकार उसकी सम्पत्ति पर इसका अधिकार बन जाता है। ये विवाह काम-भाव के कारण न होकर सम्पत्ति पर अधिकार करने के उद्देश्य से होते हैं।

६. विवाह के प्रकार

विवाह के मुख्य तौर पर दो प्रकार हैं---'एक-विवाह' (Monogamy) तथा 'बहु-विवाह' (Polygamy)। 'एक-विवाह' का अर्थ है एक पुरुष एक स्त्री से शादी करे, और एक स्त्री एक पुरुष से शादी करे। 'बहु-विवाह' के तीन भेद हैं---अनेक पुरुषों की एक स्त्री से शादी को 'बहु-भर्तृता' (Polyandry) कहते हैं; एक पुरुष की अनेक स्त्रियों से शादी को 'बहु-भार्यता' (Polygyny) कहते हैं; अनेक पुरुषों के अनेक स्त्रियों से विवाह को 'यूथ-विवाह' (Group-marriage) कहते हैं। किसी प्रकार के विवाह के बिना स्त्री-पुरुष के यौन-सम्बन्ध को 'संकरता' (Promiscuity) कहते हैं। आदिवासी जन-जातियों को समझने के लिए इन सबका जानना आवश्यक है, इसलिए हम इन सब की यहाँ थोड़ी-थोड़ी चर्चा करेंगे।

(क) एक-विवाह (Monogamy)---आदिकालीन समाज की आर्थिक-व्यवस्था फल-मूल एकत्रित करने वाली सरल आर्थिक-व्यवस्था थी। इस आर्थिक-व्यवस्था वाली जो आदिवासी जन-जातियाँ इस समय जीवित पायी जाती हैं, उनमें एक-विवाह की प्रथा पायी जाती है, उनके परिवार के सदस्यों में एक पुरुष तथा एक स्त्री---यही नियम है। ऐसा प्रतीत होता है कि आदि-समाज को यही पद्धति बच्चे की परवरिश के लिए सर्वोत्तम प्रतीत हुई होगी और इसी लिए उस समाज ने इसी पद्धति को अपनाया होगा। आदिकाल की अवस्थाओं में एक स्त्री तथा एक पुरुष के विवाह से ही मनुष्य जीवित रह सका, दूसरे किसी प्रकार का विवाह होता---'बहु-भार्यक' या 'बहु-भर्तृक'--तो मनुष्य की सन्तान माता तथा पिता के ध्यान बँट जाने से जीवित न रह सकती। इसके अतिरिक्त अगर हम जीवित जन-जातियों का अध्ययन करें, तो उनमें से भी अधिकांश 'एक-विवाही' ही पायी जाती हैं। ठीक भी है, इन निम्न-स्तर की आदिवासी जन-जातियों में पुरुषों का युवावस्था प्राप्त करते ही विवाह कर लेना लाजमी प्रतीत होता है क्योंकि युवा बन जाने के बाद इनको खिलाने-पिलाने की जिम्मेवारी दूसरा कोई नहीं ले सकता। युवा होने के बाद अगर ये शादी करके अपना अलग खाने-कमाने का सिलसिला न बना लें, तो हर समय घर में वैमनस्य बना रहे। आदिकालीन समाज में क्योंकि स्त्री-पुरुषों की संख्या में विषमता होने का कोई कारण नहीं प्रतीत होता, और उन्हें घर में वैमनस्य न पैदा हो जाय इस कारण घर से अलग होना जरूरी था, इसलिए स्त्री-पुरुषों की एक-समान संख्या के कारण भी आदिकालीन समाज बहु-विवाही न

होकर एक-विवाही ही था। यह बात सब लोग नहीं मानते—यह हम कई जगह लिख आये हैं, परन्तु मानव-शास्त्रियों में इस पक्ष का समर्थन करने वाले अधिक संख्या में हैं।

(ख) बहु-भर्तृता (Polyandry)—बहु-विवाह की प्रथा संसार के बहुत भागों में प्रचलित है। बहु-विवाह का एक रूप एक स्त्री के अनेक पति होना है, इसी को 'बहु-भर्तृता' (Polyandry) कहते हैं। 'बहु-भर्तृता' के दो रूप हैं—(१) 'भ्रातृक बहु-भर्तृता' (Adelphic या Fraternal polyandry) वह है जिसमें कई भाई मिल कर एक स्त्री से शादी कर लेते हैं, (२) 'अभ्रातृक-बहु-भर्तृता' (Non-fraternal polyandry) वह है जिसमें एक स्त्री से जो लोग शादी करते हैं, वे भाई-भाई नहीं होते। पहले प्रकार की 'बहु-भर्तृता' में स्त्री तथा सब पति इकट्ठे, एक ही स्थान पर रहते हैं, यह संयुक्त परिवार में पायी जाती है, दूसरे प्रकार की 'बहु-भर्तृता' में स्त्री भिन्न-भिन्न समयों में भिन्न-भिन्न पतियों के घरों में जाकर रहती है, या पति भिन्न-भिन्न स्थानों में रहते हुए भिन्न-भिन्न समयों में पत्नी के यहाँ आकर रहते हैं। जब तक स्त्री किसी एक पति के साथ रह रही होती है, तब तक अन्य पतियों का उस पर अधिकार नहीं होता। यह प्रथा कम देखने में आती है। नायर लोगों में यह प्रथा है। पहले प्रकार की 'बहु-भर्तृता' का उदाहरण प्राचीन-काल के इतिहास में पाण्डवों का द्रौपदी से विवाह है। आजकल भी नीलगिरि के टोडा और देहरादून ज़िले के जौनसार-बावर के इलाकों में यह प्रथा प्रचलित है। काश्मीर से लेकर असम तक जो इंडो-आर्यन या मंगोल लोग रहते हैं, उन सब में यही प्रथा है। तीयन, टोडा, कोटा, खासा तथा लद्दाखी भोटा में इसी प्रकार के विवाह पाये जाते हैं। भारत के अतिरिक्त अन्य स्थानों में भी इसका रिवाज है। एस्किमो, पिग्मी तथा अमरीका के शोशोन जाति में भी यह पायी जाती है। फल-मूल एकत्र करने वाली अर्थ-व्यवस्था की जन-जातियों में इस प्रथा के चिह्न मिलते हैं।

जो लोग आदि-काल के समाज में 'एक-विवाही-प्रथा' को ही मानते हैं, अन्य किसी प्रथा को नहीं, उनका कहना है कि जिन स्थानों में यह प्रथा पायी जाती है, उनका अध्ययन करने से पता चलता है कि संसार में १ प्रतिशत से भी कम लोग 'बहु-भर्तृक' हैं, अधिक संख्या 'एक-विवाही' लोगों की ही है। जिन लोगों में 'बहु-भर्तृता' का रिवाज है, उनमें भी 'एक-विवाही' लोग ज़्यादा हैं। शोशोन जन-जाति का जो हमने अभी उदाहरण दिया है, उसमें प्रथा यह है कि स्त्री-पुरुष की सामाजिक स्थिति को एक-समान माना जाता है, और जब पति देर तक के लिए कहीं बाहर चला जाता है, तब स्त्री सामयिक तौर पर किसी पुरुष का सहारा ले लेती है। इस प्रथा को शुद्ध रूप में 'बहु-भर्तृता' नहीं कहा जा सकता, यह कुछ अवस्थाओं में सहारा ढूंढने की बात है। शोशोन जन-जाति का जो उदाहरण हमने अभी दिया है, इसमें स्त्री अपना पहला एक-विवाही परिवार बनाये रखते हुए दूसरे पुरुष से अपने पति की देर तक की अनुपस्थिति में सिर्फ़ यौन-सम्बन्ध करती है।

यह एक तरह का 'नियोग' का उदाहरण है। एस्किमो जाति में 'बहु-भर्तृता' का रूप भी शुद्ध 'बहु-भर्तृता' नहीं कहा जा सकता। इन लोगों में 'अतिथि-सत्कार करते हुए जहाँ उसे खाना आदि दिया जाता है, वहाँ स्त्री-पुरुष का यौन-सम्बन्ध भी निषिद्ध नहीं है। इसमें भी अतिथि से यौन-सम्बन्ध की इजाजत तो है, परन्तु उससे विवाह नहीं किया जाता। नीलगिरि के टोडा तथा देहरादून के जौनसार बावर आदि में भी 'बहु-भर्तृता' एक प्रकार की आर्थिक-व्यवस्था का परिणाम है। वहाँ अगर प्रत्येक भाई अलग-अलग शादी करे, तो उनकी थोड़ी-सी जमीन इतने टुकड़ों में विभक्त हो जाय कि जमीन का परिवार को सहारा ही न रहे। इस आर्थिक-समस्या को हल करने के लिए सब भाई एक-साथ रहते होंगे, बड़ा भाई विवाह करता होगा, दूसरे विवाह ही नहीं करते होंगे, परन्तु साथ-साथ रहते-रहते उनका आपस का यौन-सम्बन्ध हो जाता होगा, इससे आगे चलकर 'बहु-भर्तृता' की प्रथा चल पड़ी होगी, इसे आदिकालीन व्यवस्था नहीं कहा जा सकता। जेकब्स तथा स्टर्न (Jacobs and Stern) का कथन है कि ये सब दृष्टान्त यौन-सम्बन्ध के नाना प्रकारों के दृष्टान्त तो कहे जा सकते हैं, 'बहु-भर्तृक-विवाह' के नहीं, आदिकालीन समाज तो 'एक-विवाही' ही था। तिब्बत में भी ग़रीब लोगों में 'बहु-भर्तृता' है, मध्य-श्रेणी के लोगों में 'एक-विवाह' है, धनी-सम्पन्न वर्ग में 'बहु-भार्यता' है। इससे भी स्पष्ट है कि अनेक पुरुषों के एक स्त्री के साथ विवाह करने का मुख्य कारण आर्थिक है, इस प्रथा को सामाजिक नहीं कहा जा सकता।

कई लोगों का कहना है कि जहाँ स्त्रियों की संख्या कम होती है, वहाँ 'बहु-भर्तृता' की प्रथा शुरू हो जाती है। वेस्टरमार्क (Westermarck) इसी मत के समर्थक हैं। परन्तु ऐसी बात नहीं दीखती। लद्दाख में स्त्रियों की संख्या पुरुषों से ज्यादा है, परन्तु फिर भी वहाँ एक स्त्री के अनेक पति पाये जाते हैं। असल बात, जैसा हम अभी कह आये हैं, यह प्रतीत होती है कि सम्पत्ति के विभाग तथा आर्थिक-व्यवस्था के परिणामस्वरूप अनेक पतियों की एक स्त्री की प्रथा का प्रचलन हुआ और यही सिद्धान्त ठीक प्रतीत होता है।

प्रायः देखा गया है कि जहाँ-जहाँ 'बहु-भर्तृता' की प्रथा होती है, वहाँ स्त्रियों की सन्तान उत्पन्न करने की शक्ति कम पायी जाती है।

(ग) बहु-भार्यता (Polygyny)—एक पुरुष की अनेक स्त्रियाँ होना अनेक समाजों में पाया जाता है। आदिकालीन फल-मूल एकत्रित करने वाली आर्थिक-व्यवस्था में स्त्री तथा पुरुष की स्थिति एक-समान थी, उनमें कोई मौलिक भेद नहीं था, इसलिए कोई स्त्री अपनी साझीदार दूसरी स्त्री को अपने घर में कैसे बर्दाश्त कर सकती थी? इसके अलावा शुरू-शुरू में स्त्री-पुरुष की संख्या में भी कोई आधारभूत विषमता नहीं थी, इसलिए आदिकालीन विवाह-सम्बन्धी व्यवस्था तो एक-विवाह की ही थी। यह सम्भव है कि किसी-किसी परिवार में जहाँ काम अधिक था, पत्नी की इच्छा से दूसरी स्त्री भी ले ली जाती थी। जब आर्थिक-व्यवस्था फल-मूल एकत्रित करने से आगे बढ़ कर विकसित अवस्था का रूप

धारण कर गई, तब इस समाज का जो मुखिया होता था, वह अपनी शान के लिए चार-पाँच स्त्रियाँ रख लेता था, उसके साथ के लोग भी एक की जगह दो स्त्रियाँ रख लेते थे। कृषि-सम्बन्धी आर्थिक-व्यवस्था के लोग फल-मूल एकत्रित करने वाली आर्थिक-व्यवस्था के स्तर पर ही थे, भेद इतना था कि एक व्यवस्था में आजीविका का साधन फल-मूल-वनस्पति को बोना था, दूसरी में इन्हें जंगल से इकट्ठा कर लाना था, इसलिए इन दोनों की विवाह-सम्बन्धी प्रणाली एक-सी थी। इनमें आजीविका के साधनों में कुछ 'बचत' (Surplus) तो होती नहीं थी, इसलिए अनेक स्त्री रखने का शौक भी ये पूरा नहीं कर सकते थे। हाँ, विकसित आर्थिक-व्यवस्था में अनेक स्त्रियों को रखने की प्रथा का प्रारम्भ हुआ होगा। एक तरह से विकसित आर्थिक-व्यवस्था में जब मनुष्य को अपनी उपज में 'बचत' होने लगी, तब 'बहु-भार्यक' प्रथा का प्रारम्भ हुआ। अनेक स्त्रियाँ रखना वैयक्तिक-सम्पत्ति के बढ़ने का परिणाम है, और इसलिए आज जब समाज में चारों तरफ़ वैयक्तिक-सम्पत्ति पर साम्यवाद, कम्यूनिज्म आदि द्वारा चोट हो रही है, वहाँ अनेक स्त्रियों से विवाह करने की प्रथा पर भी चोट हो रही है।

'बहु-भार्यता' अपने देश में अनेक स्थानों में पायी जाती है। नागा, गोंड, बैगा आदि 'बहु-भार्यक' हैं। कई जातियाँ ऐसी भी हैं जो हैं तो 'बहु-भार्यक' परन्तु क्योंकि पत्नी पाने के लिए उन्हें पैसा देना पड़ता है, इसलिए 'पत्नी-मूल्य' (Bride price) न दे सकने के कारण वे 'एक-विवाही' होती जा रही हैं। उदाहरणार्थ, खासी, संथाल, कादर आदि आर्थिक-असमर्थता के कारण 'बहु-भार्यकता' से 'एक-विवाह' की तरफ़ बढ़ रही हैं।

जैसे 'बहु-भर्तृता' के दो कारण हो सकते है—(i) पुरुषों की अपेक्षा स्त्रियों की संख्या का कम होना तथा (ii) ज़मीन को टुकड़े-टुकड़े होने से बचाना ताकि ऐसा न हो कि ज़मीन आर्थिक-दृष्टि से किसी काम की न रहे, वैसे 'बहु-भार्यता' के भी अनेक कारण हैं जिनमें से मुख्य निम्न हैं:—

(i) समाज में पुरुषों से स्त्रियों की संख्या अधिक होना—उदाहरणार्थ, युद्ध में पुरुष मारे जाते हैं, स्त्रियाँ बच रहती हैं। ऐसी अवस्था में समाज के लिए स्त्री-पुरुषों की विषमता को हल करने का एक ही साधन रह जाता है कि एक पुरुष को अनेक स्त्रियों से विवाह करने की आज्ञा दे।

(ii) पुरुष की काम-वासना—पुरुष अपनी काम-वासना की तृप्ति के लिए भी अनेक स्त्रियों से विवाह करता है। युद्धों में स्त्रियों का जीत लाना भी इसी उद्देश्य से होता है।

(iii) आर्थिक-दृष्टि—ग़रीब लोगों में स्त्रियाँ पुरुषों का काम में हाथ बँटाती हैं, खेतों में सहयोग देती हैं, इसलिए ग़रीब लोग जैसे बैलों को ख़रीदते हैं, वैसे स्त्रियों को भी ख़रीदते हैं, अनेक विवाह करते हैं। जिन लोगों में स्त्रियाँ काम नहीं करतीं, उन्हें बैठा कर सिर्फ़ खिलाना पड़ता है, उनमें 'बहु-भार्यक' विवाह की आज्ञा होने पर भी वे बहु-विवाह नहीं करते। उदाहरणार्थ, मुसलमानों

में चार स्त्रियों तक विवाह करने की आज्ञा है, परन्तु बहुत कम घरानों में चार स्त्रियाँ पायी जाती हैं। ग़रीबी के कारण लोग अनेक स्त्रियों से विवाह करते भी हैं, ग़रीबी ही के कारण नहीं भी करते।

(iv) प्रतिष्ठा का बढ़ना—कई समाजों में 'बहु-भार्यता' का कारण यह है कि जिसके पास अनेक स्त्रियाँ हैं, वह प्रतिष्ठित समझा जाता है।

(v) पुत्र-कामना—कभी-कभी पहली स्त्री से पुत्र न होने के कारण भी अनेक स्त्रियों से शादी की जाती है। राजा दशरथ ने तीन शादियाँ पुत्रोत्पत्ति के कारण की थीं।

बहु-भार्यता के कारण तो ये सब हैं, परन्तु इसका स्त्री की स्थिति पर क्या प्रभाव पड़ता है? यह तो स्पष्ट है कि अनेक स्त्रियों का रखना स्त्री की स्थिति को गिराता है। जैसे लोग घोड़ा, गाय, बैल ख़रीदते हैं, वैसे इन आदिवासी जन-जातियों में 'पत्नी-मूल्य' (Bride price) देकर स्त्री को ख़रीदा जाता है। यह सब-कुछ होते हुए भी 'बहु-भार्यता' पर विचार करते हुए एक बात पर ध्यान रखने की ज़रूरत है। अनेक धनी तथा सम्पन्न आदिवासी जन-जातियों में, जिन घरानों में अनेक स्त्रियाँ हैं, उनकी स्थिति एक-विवाही परिवारों की स्त्रियों की अपेक्षा कहीं बेहतर पायी जाती है। एक-विवाही परिवार की स्त्रियों को काम से दम मारने की फ़ुर्सत नहीं, परन्तु 'बहु-भार्यक' परिवारों में स्त्रियाँ आराम से रहती हैं, एक पर काम का सारा बोझ नहीं पड़ता, वे एक-दूसरे की मदद करती हैं। अगर इन दोनों दृष्टियों को सामने रख कर विचार किया जाय—एक तरफ़ वह काम के बोझ से लदी हुई है, दूसरी तरफ़ वह आराम की ज़िन्दगी बसर कर रही है—तब इन दोनों में से वह कौन-सा जीवन पसन्द करेगी, यह विचारणीय विषय है। फिर भी यह ठीक है कि आज का मानव-समाज बहु-पत्नी-प्रथा को उचित नहीं समझ रहा और भारत में भी १९५५ से हिन्दुओं में तो इस प्रथा को वर्जित घोषित कर दिया गया है।

(घ) यूथ-विवाह (Group-marriage)—मॉर्गन आदि विकास-वादियों का कथन है कि पहले कभी यूथ-विवाह की प्रथा प्रचलित थी। एक परिवार के सब भाइयों का दूसरे परिवार की सब बहनों के साथ विवाह हो जाता था। वेस्टरमार्क आदि इस बात को नहीं मानते। आदि-काल की जन-जातियों में कई जन-जातियाँ ऐसी पायी जाती हैं जिनमें चाचा-ताया, चाची-तायी आदि के लिए पिता-माता—ये शब्द ही पाये जाते हैं। इनके आधार पर यह कल्पना की जाती है कि इन जन-जातियों में कभी यूथ-विवाह की प्रथा प्रचलित थी, परन्तु अगर ऐसा होता, तो आदिकालीन किसी जन-जाति में तो यह प्रथा पायी जाती। इसका न पाया जाना सिद्ध करता है कि विकासवादियों की यूथ-विवाह की कल्पना का आधार यथार्थ नहीं है। आदिकालीन समाज की आर्थिक-स्थिति ऐसी थी ही नहीं, जिसमें यूथ-विवाह की सम्भावना की जा सके। उनकी आर्थिक-समस्याएँ एक-विवाही समाज द्वारा ही पूरी हो सकती थीं, यूथ-विवाही समाज द्वारा नहीं। फल-मूल

एकत्रित करने वाले समाज में एक-दूसरे की आवश्यकताओं को एक पुरुष तथा एक स्त्री ही पूरा कर सकते थे, अनेक नहीं।

(ङ) संकर-विवाह (Promiscuity)—मॉर्गन आदि का कथन है कि आदि-काल में परिवार का विचार नहीं था, विवाह का विचार भी नहीं था, संकरता थी। यह बात भी विकासवाद की कल्पना के आधार पर ही कही जाती है। असल में, विकासवाद की यह कल्पना संसार की आदिवासी जन-जातियों के अध्ययन से पुष्ट नहीं होती। ऐसी कोई आदिवासी जन-जाति दिखाई नहीं पड़ती जिसमें विवाह की संस्था न हो। सच पूछा जाय, तो फल-मूल एकत्र करने वाली आदिवासी जन-जातियों की आर्थिक-व्यवस्था ही ऐसी थी जिसमें मनुष्य की सब समस्याओं को सुलझाने के लिए एक पुरुष तथा एक स्त्री के परिवार का ही होना आवश्यक था, अन्य किसी प्रकार के विवाह से उस काल के स्त्री-पुरुष का काम ही नहीं चल सकता था।

७. विवाह में विधि तथा निषेध अथवा अन्तर्विवाह तथा बहिर्विवाह (Preference and Prohibition or Endogamy and Exogamy)

विवाह के सम्बन्ध में सब जगह दो प्रकार के नियम बने हुए हैं। एक नियम तो वे हैं, जो यह बतलाते हैं कि कहाँ शादी की जाय, दूसरे नियम वे हैं, जो यह बतलाते हैं कि कहाँ शादी न की जाय। कहाँ शादी की जाय, यह बतलाने वाले 'विधि-नियम' (Preference) कहलाते हैं, कहाँ न की जाय, यह बतलाने वाले नियम 'निषेध-नियम' (Prohibition) कहलाते हैं। पहले हम 'निषेध' की चर्चा करेंगे, फिर 'विधि' की।

(क) निषेध, बहिर्विवाह (Prohibition, Exogamy)—कहाँ-कहाँ विवाह न किया जाय, इस प्रकार के निषेधक नियमों को 'बहिर्विवाह' (Exogamy) के नियम कहा जाता है। संसार के सब समाजों में—आदि-समाज और उन्नत-समाज में—पिता-पुत्री का, माता-पुत्र का, और निकट के रुधिर के सम्बन्धियों का विवाह-सम्बन्ध वर्जित है। कुछ-एक समाज ऐसे हैं जो निकट के सम्बन्धियों के विवाह की आज्ञा देते हैं। उदाहरणार्थ, ईजिप्ट, पेरू तथा माया जाति में राजघरानों में भाई-बहन की शादी इस दृष्टि से होती थी कि वे अपने को दैवीय समझते थे, दूसरे रुधिर के आने से वंश को अपवित्र होने से बचाना चाहते थे, परन्तु अधिकांश समाजों में यह सम्बन्ध वर्जित ही नहीं, दण्डनीय भी है। भाई-बहिन का विवाह उचित नहीं, इसे 'अनाचार' (Incest) कहा जाता है। समान-रुधिर वालों का विवाह (Consanguineous marriage) भी संसार के अधिक भागों में अनुचित समझा जाता है। समान-रुधिर के जो बहुत नजदीकी रिश्तेदार होते हैं, उनका विवाह-सम्बन्ध ही वर्जित नहीं है, अपितु एक गोत्र के लोग भी विवाह नहीं कर सकते क्योंकि यह समझा जाता है कि एक गोत्र वालों का रुधिर का सम्बन्ध होता है। यह बात हिन्दुओं में ही नहीं, भारत की जन-

जातियों में भी पायी जाती है। गोंड, बैगा, हो, कोरवा, ओराओं, खासी, नागा—ये सब जन-जातियाँ अपने रुधिर वालों में, अपने गोत्र वालों में विवाह सम्बन्ध नहीं करतीं।

अपने रुधिर वालों में विवाह-सम्बन्ध क्यों नहीं होता—इस विषय में विद्वानों ने भिन्न-भिन्न कल्पनाएँ की हैं। एक कल्पना तो यह है कि एक ही रुधिर में विवाह-सम्बन्ध करने से नस्ल में बिगाड़ पैदा हो जाता है, नस्ल के गुण उन्नत नहीं होते, सुप्रजनन के सिद्धान्तों के यह बात प्रतिकूल है। आदिवासी इस ऊँचे सिद्धान्त पर पहुँचे थे—यह बात कई लेखक मानने को तैयार नहीं होते।

दूसरी कल्पना यह है कि आदि-समाज के लोग अपना सामाजिक-सम्बन्ध विस्तृत करना चाहते थे, दूसरों के सम्पर्क में आना चाहते थे, इसलिए प्राणि-शास्त्रीय-दृष्टि से तो नहीं, परन्तु सांस्कृतिक-दृष्टि से उन्होंने अपने रुधिर वालों में विवाह करने पर प्रतिबन्ध लगाया था। सांस्कृतिक-दृष्टिकोण के साथ मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण को मिला कर रिज़ले (Risley) ने लिखा है कि मनुष्य में परिवर्त्तन के लिए स्वाभाविक आकांक्षा है, वह कुछ नया चाहता है, जो चीज उसके पास है उससे उसका जी भरा रहता है—इस कारण अपने रुधिर से बाहर विवाह का नियम बनाया गया होगा। अपने रुधिर वालों के प्रति मनुष्य का आकर्षण नहीं होता, अपने रुधिर से बाहर वह सम्बन्ध करना चाहता है—इस मनोवैज्ञानिक तथ्य को फ्रॉयड के अनुयायी नहीं मानते। उनके कथन के अनुसार तो शुरू-शुरू में लिंग-सम्बन्धी सहवास का प्रारम्भ भाई-बहिन और नजदीकी रुधिर के सम्बन्धियों में ही होता है। फ्रॉयड (Freud) के अनुयायियों ने तो इस बात को लेकर एक बड़ा भारी शास्त्र खड़ा कर दिया है। मैलीनोवस्की (Malinowski) ने भी इस बात की पुष्टि की है कि भाई-बहन में शैशव-काल में यौन-आकर्षण होता है। तो फिर रिज़ले की यह युक्ति तो कट जाती है कि रुधिर के बाहर विवाह करने का नियम इसलिए बनाया गया, क्योंकि रुधिर के भीतर यौन-सम्बन्ध करने की मनुष्य की रुचि नहीं होती। ऐसी हालत में रुधिर से बाहर विवाह करने के 'बहिर्विवाही' नियम क्यों बनाये गये?

इस सम्बन्ध में तीसरी कल्पना श्रीमती ऑड्रे रिचर्ड्स (Audrey Richards) की है। इनका कहना है कि मानव-शास्त्री तथा मनोवैज्ञानिक नाहक काम-भावना पर इतना अधिक जोर देते हैं। काम-वासना की तृप्ति के लिए विवाह या परिवार नहीं बना, विवाह की संस्था तो मनुष्य की भूख को मिटाने के लिए बनी थी। मनुष्य की आधारभूत नैसर्गिक-प्रकृति 'काम-वासना' की नहीं, 'भूख' मिटाने की है। आदिम-जातियों में पेट की समस्या को लेकर ही वे लोग जंगल-जंगल फल-मूल चुगते फिरा करते थे। क्योंकि उन लोगों के लिए पेट पालना कठिन था इसलिए वे बच्चों का बोझ कैसे उठाते? तो फिर बच्चों का क्या करते? वे बच्चों को पैदा होते ही मार देते थे, और खास कर लड़कियों को, क्योंकि लड़कियाँ उन्हें शिकार आदि साहसिक कार्यों में किसी प्रकार की सहायता न देकर उन पर बोझ

होती थीं। लड़कियाँ मार देने का परिणाम यह होता था कि विवाह के लिए उन्हें लड़कियाँ नहीं मिलती थीं। फिर वे विवाह कैसे करें? विवाह की समस्या को हल करने के लिए वे अपने रुधिर की लड़कियों को तो नहीं, परन्तु दूसरे रुधिर की लड़कियों को लूट लाते थे। इस प्रकार दूसरे रुधिर की लड़कियों को लूट कर उनसे विवाह करने का रूप ही 'बहिर्विवाही-प्रथा' (Exogamy) हुआ। कहने का अभिप्राय यह कि श्रीमती रिचर्ड्स के कथनानुसार भूख की आधारभूत समस्या ने 'बहिर्विवाह' (Exogamy) को जन्म दिया।

(ख) विधि, अन्तर्विवाह (Preference, Endogamy)—हमने देखा कि कहाँ विवाह नहीं कर सकते। भाई-बहिन में, अपने रुधिर वालों में शादी-ब्याह नहीं कर सकते, परन्तु अपनी जात-बिरादरी के बाहर भी नहीं जा सकते। आधारभूत सिद्धान्त यह माना जाता है कि जहाँ 'रुधिर' की समानता हो, वहाँ विवाह उचित नहीं, जहाँ 'जाति' की समानता हो, वहाँ विवाह उचित है। हिन्दुओं में यह समझा जाता है कि गोत्र, प्रवर तथा सपिंड में रुधिर की समानता होती है, अतः विवाह का निषेध है, अपनी जाति में रुधिर की समानता नहीं होती, अतः वहाँ विवाह का विधान है। अभी तक हिन्दू अपने गोत्र में शादी नहीं कर सकते थे, परन्तु अपनी जाति से बाहर भी शादी नहीं कर सकते थे। ऐसा क्यों? ऐसा इसलिए है क्योंकि अपनी जाति से बाहर जाने में मनुष्य एक ऐसे समुदाय में जा पड़ता है जिससे अपने समुदाय के टूटने का भय है, इसलिए अपनी जाति के बाहर जाने का भी हिन्दुओं में ही नहीं, सब प्राचीन जन-जातियों में निषेध है। अपनी जाति के भीतर विवाह करने को ही 'अन्तर्विवाह' (Endogamy) कहते हैं।

आदिवासी जन-जातियों में प्रायः सर्वत्र 'अन्तर्विवाह' की प्रथा प्रचलित है, अर्थात् वे सब अपनी जन-जाति में ही ब्याह-शादी करते हैं। टोडा जाति में दो भेद हैं—'तरथरोल' तथा 'तेइवलिओल'। ये दोनों 'अन्तर्विवाही' हैं, अर्थात् इनमें से हर-एक अपनी-अपनी जाति में ही शादी करते हैं, दूसरी में नहीं। 'तरथरोल' तथा 'तेइवलिओल'—ये हिन्दुओं के गोत्रों की तरह अवान्तर भेद हैं, जो आपस में विवाह नहीं कर सकते। भीलों में उजाले भील हैं, मैले भील हैं—उजाले भील उजालों में और मले भील मैलों में शादी करेंगे। उजालों के अवान्तर-भेद आपस में शादी नहीं करेंगे, इसी तरह मैलों के अवान्तर भेद आपस में शादी नहीं करेंगे। गोत्र के अन्दर शादी नहीं करना, जाति के अन्दर शादी करना और जाति के बाहर शादी नहीं करना—इन तीन बातों को आदिवासी जन-जातियाँ शादी करते हुए ध्यान में रखती हैं। जाति के बाहर शादी करते हुए जैसा हमने पहले कहा, इन्हें एक प्रकार का जाति के नष्ट हो जाने का भय-सा लगता है। कोरवा जन-जाति अपनी जाति में ही शादी-ब्याह करती है, बाहर नहीं, क्योंकि उन्हें दूसरी जातियों से उनके जादू-टोने का भय लगा रहता है। अपने से भिन्न जातियों में विवाह न करने, अर्थात् 'अन्तर्विवाह' का कारण दूसरों से भय के अतिरिक्त एक यह भी है कि अपनी भाषा, अपने विचार, अपना वेश, अपना रहन-सहन सब को प्यारा

होता है, अपने को छोड़ कर दूसरे की बातों को लेने में हर-एक को हिचकिचाहट होती है। फिर भी कई जन-जातियों ने अपनी जाति से बाहर जाने की तरफ़ भी कदम बढ़ाया है। गोंड, भील तथा सन्थाल जन-जातियाँ हिन्दुओं की निम्न जातियों में विवाह करने लगी हैं। इसका कारण यह है कि भले ही वे निम्न जातियाँ हों, फिर भी गणना तो उनकी हिन्दुओं में है, इसलिए ये जन-जातियाँ जब निम्न-जाति के हिन्दुओं में शादी करती हैं, तो समझती हैं कि उनकी स्थिति ऊँची हो गई।

कई जन-जातियों में यह नियम होता है कि अमुक रिश्ते में विवाह अवश्य करना होगा। जिस जन-जाति में ऐसा नियम होगा उसे 'अन्तर्विवाही-नियम' कहा जायगा। उदाहरणार्थ, गोंड जाति में चचेरे-तयेरे, फुफेरे, ममेरे, मौसेरे भाई-बहिन (Cross cousins) की शादी का विधान है। इनमें शादी में पहला हक इन्हीं रिश्तों में माना जाता है, अगर कोई इस हक को न अदा करना चाहे, तो उसे दूसरे पक्ष को ख़मियाज़ा देना पड़ता है। देखा जाय तो यह समान रुधिर के लोगों का विवाह है, जो अन्य जातियों में निषिद्ध है, परन्तु इनमें इस प्रकार के सम्बन्ध को वर्जित करने के स्थान में इसी का विधान है। मुसलमानों में भी इसी प्रकार की शादियाँ होती हैं। खरिया तथा ओराओं जाति में भी इसी प्रकार की शादियों की प्रथा है। खासी जाति में चाची-तायी की लड़की से चाचा अथवा ताया की मृत्यु के बाद शादी की जा सकती है, पहले नहीं। कादर लोगों में भी चचेरे-तयेरे भाई-बहन की शादी होती है। इन सब शादियों की गणना 'अन्तर्विवाह' में की जाती है। इन विवाहों में यद्यपि ख़ून का रिश्ता है, फिर भी इन जातियों के नियम के अनुसार इन रिश्तों में विवाह का विधान है। हो सकता है कि इस प्रकार का विधान जिसे 'प्रजनन-शास्त्र' (Eugenics) की दृष्टि से उचित नहीं कहा जा सकता, जिसे अन्य जातियाँ वर्जित तथा निषिद्ध समझती हैं, 'बहिर्विवाह' (Exogamy) के अन्तर्गत गिनती हैं, उसे गोंड, खैरिया, ओराओं तथा खासी जातियाँ सम्पत्ति की दृष्टि से अनुचित न समझ कर उचित समझती हों, इसलिए उचित समझती हों ताकि ज़मीन आदि खानदान के अन्दर ही रहे, बाहर न चली जाय।

'अन्तर्विवाह' का उद्देश्य कभी-कभी किन्हीं खास-खास वंशों के सम्बन्ध दृढ़ करना भी होता है। इस सम्बन्ध में दो और 'अन्तर्विवाहों' का वर्णन करना आवश्यक है। इनमें से एक का नाम है 'देवर-सम्बन्ध' (Levirate[1]) तथा दूसरे का नाम है 'साली-सम्बन्ध' (Sororate[2])। 'देवर-सम्बन्ध' का अभिप्राय यह है कि अगर किसी स्त्री का पति मर जाय, तो उसे अपने देवर से शादी करनी होगी। यहूदियों में यह नियम है कि पति के मरने पर स्त्री को अपने देवर से विवाह करना होगा। 'देवर' शब्द का अर्थ भी इसी बात का द्योतक है। 'देवर'-शब्द का अर्थ है

---

1. Levirate=Latin word: *Levir*=a husband's brother, akin Greek : daer, Sanskrit : देवर।
2. Sororate=Latin word: *Sororis*=sister, akin Sanskrit: स्वसृ।

—'देवरः कस्मात् द्वितीयः वरो भवतीति'—देवर उसे कहते हैं जो दूसरा वर होता है। आर्य-जातियों की भाषाओं में 'देवर' शब्द पाये जाने से ज्ञात होता है कि इंडो-आर्यन लोगों में 'लेवराइट'-प्रथा प्रचलित थी। 'साली-सम्बन्ध' (Sororate) का यह अर्थ है कि अगर पत्नी की मृत्यु हो जाय, और उसकी बहिन विवाह योग्य हो, तो विधुर की उसी से शादी होगी। ये प्रथाएँ अनेक स्थानों में प्रचलित हैं।

८. विवाह में अनुलोम तथा प्रतिलोम (Hypergamy and Hypogamy)

विवाह में 'विधि' तथा 'निषेध' पर विचार करते हुए हिन्दुओं के 'अनुलोम' (Hypergamy) तथा 'प्रतिलोम' (Hypogamy) विवाह पर विचार करना जरूरी जान पड़ता है, क्योंकि 'अनुलोम'-विवाह करने की हिन्दुओं में छूट है, 'प्रतिलोम'-विवाह करने की छूट नहीं है। 'अनुलोम' तथा 'प्रतिलोम' क्या है? हिन्दुओं की जाति-व्यवस्था या वर्ण-व्यवस्था के अनुसार लड़की की विवाह से पहले जाति पिता की जाति होती है, विवाह के बाद जाति पति की जाति हो जाती है। एक तरह से स्त्री की तो कोई जाति ही नहीं होती, पुरुष की जाति होती है, स्त्री जिस जाति के पुरुष के साथ विवाह करे, स्त्री की वही जाति मानी जाती है। विवाह-सम्बन्ध में ब्राह्मण का ब्राह्मण-क्षत्रिय-वैश्य-शूद्र की कन्या से विवाह हो सकता है, इनमें ब्राह्मण तथा ब्राह्मण-कन्या का विवाह सवर्ण-विवाह एवं ब्राह्मण तथा क्षत्रिय-वैश्य-शूद्र कन्या का विवाह अनुलोम-विवाह कहलाता है, क्षत्रिय तथा ब्राह्मण-कन्या का विवाह प्रतिलोम विवाह कहलाता है। अगर पुरुष अपने से नीचे वर्ण की कन्या से विवाह करता है, तो यह अनुलोम-विवाह है, इसकी मनु-शास्त्र आज्ञा देता है, अगर पुरुष अपने से ऊँचे वर्ण की कन्या से विवाह करता है, तो यह प्रतिलोम-विवाह है, इसकी शास्त्र आज्ञा नहीं देता। इस प्रथा का सामाजिक प्रभाव क्या हुआ? ब्राह्मण-कन्या के ब्राह्मण से विवाह की तो आज्ञा दी गई है, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र से ब्राह्मण-कन्या का विवाह 'प्रतिलोम-विवाह' है जिसकी शास्त्र में आज्ञा नहीं है, लेकिन ब्राह्मण अपनी जाति तथा नीचे की सब जातियों में विवाह कर सकता है। इसका सामाजिक-परिणाम यह हुआ कि ब्राह्मण-लड़के का विवाह का क्षेत्र ब्राह्मण-लड़की के विवाह के क्षेत्र से बहुत विस्तृत हो गया और ब्राह्मण-लड़की का विवाह का क्षेत्र बहुत सीमित हो गया; ब्राह्मण लड़का जहाँ चाहता शादी कर सकता था, ब्राह्मण-लड़की सिर्फ़ अपने वर्ण में शादी कर सकती थी। इसी कारण ब्राह्मण-लड़कियों के लिए विवाह एक समस्या हो गया। या तो ब्राह्मण लड़का ढूंढने के लिए वे दहेज दें, या जन्म भर कुंवारी बैठी रहें। 'प्रतिलोम-विवाह' को नाजायज करने का परिणाम ब्राह्मणों में 'दहेज' (Bridegroom price) प्रथा का चलन हो गया, एक-एक लड़का कई लड़कियों से विवाह करने लगा, उनमें 'बहु-भार्यता' (Polygyny) चल पड़ी, लड़की का होना ब्राह्मणों में एक मुसीबत का सामना करना हो गया। इसके प्रतिकूल जहाँ ब्राह्मण-लड़का 'अनुलोम-प्रथा' के अनुसार

हर जाति में शादी कर सकता था और ब्राह्मण-लड़की 'प्रतिलोम-प्रथा' के अनुसार सिर्फ़ अपनी जाति में शादी कर सकती थी, वहाँ शूद्र-लड़का तो सिर्फ़ अपनी जाति में शादी कर सकता था, परन्तु शूद्र-लड़की हर जाति में शादी कर सकती थी। इसका परिणाम यह हुआ कि शूद्र-लड़के का विवाह का क्षेत्र बहुत संकुचित हो गया, शूद्र-लड़की का क्षेत्र बहुत बढ़ गया। नतीजा यह हुआ कि शूद्र-लड़के को लड़की मिलना ही कठिन हो गया। ब्राह्मणों में दहेज या 'पति-मूल्य' (Bridegroom price) तथा शूद्रों में 'पत्नी-मूल्य' (Bride price) की प्रथा चल पड़ी। नीची जातियों में लड़कियाँ ही नहीं मिलतीं, लड़कियों के लिए पैसा देना पड़ता है, वे बिकती हैं। अनुलोम तथा प्रतिलोम प्रथा का आज हिन्दू-जाति पर यह प्रभाव पड़ रहा है कि बड़ी जातियों में लड़के बिकते हैं, छोटी जातियों में लड़कियाँ बिकती हैं, बड़ी जातियों में एक पुरुष अनेक स्त्रियाँ रखता है, छोटी जातियों में अनेक पुरुष एक स्त्री रखते हैं, बड़ी जातियों में पुरुष अविवाहित नहीं रहता, छोटी जातियों में कई बार पुरुष को अविवाहित रह जाना पड़ता है, बड़ी जातियों में लड़की आसानी से मिल जाती है, छोटी जातियों में लड़की को लूट कर, भगा कर लाना पड़ता है। हिन्दू-समाज में भिन्न-भिन्न जातियों में लड़की की स्थिति की विषमता का कारण अनुलोम तथा प्रतिलोम विवाह की प्रथा है।

अब 'हिन्दू-विवाह तथा तलाक-अधिनियम-१९५५' (Hindu Marriage and Divorce Act—1955) के अनुसार 'प्रतिलोम' विवाहों को वैधानिक मान लिया गया है। इस सम्बन्ध में जो अधिक जानकारी प्राप्त करना चाहें, वे हमारी पुस्तक 'समाज-कल्याण तथा सुरक्षा' का 'सामाजिक-विधान'-शीर्षक अध्याय देखें या श्रीमती चन्द्रावती लखनपाल की पुस्तक 'स्त्रियों की स्थिति' को पढ़ें।

९. आदि-वासियों की विवाह की पद्धतियाँ

आदिवासियों में विवाह उनकी आर्थिक-समस्या को हल करने की उपज था, बिना दो के उनकी आर्थिक-समस्या ही नहीं हल हो सकती थी, इसलिए इनमें विवाह एक तरह का 'ठेका' (Contract) पाया जाता है, 'धार्मिक-विधान' (Sacrament) नहीं, इसलिए इन जातियों में विवाह के अवसर पर धार्मिक विधि-विधान नहीं पाये जाते। फिर भी जो आदिवासी जन-जातियाँ हिन्दुओं के सम्पर्क में आयी हैं, उन्होंने हिन्दुओं के विधि-विधानों को अपना लिया है, शायद वे समझती हैं कि इससे उनकी मान-प्रतिष्ठा बढ़ती है। आदिवासियों में आठ प्रकार की विवाह की पद्धतियाँ पायी जाती हैं, जो निम्न हैं :—

(क) परोक्ष्य-विवाह (Probationary marriage)
(ख) परीक्षा-विवाह (Marriage by trial)
(ग) अपहरण-विवाह (Marriage by capture)
(घ) क्रय-विवाह (Marriage by purchase)
(ङ) सेवा-विवाह (Marriage by service)
(च) विनिमय-विवाह (Marriage by exchange)

(छ) पलायन-विवाह (Marriage by elopement)

(ज) प्रक्षिप्त-विवाह (Marriage by intrusion)

(क) परीक्ष्य-विवाह (Probationary marriage)—कई जातियों में लड़का कुछ दिन लड़की के पिता के घर आकर रहता है। लड़की-लड़के को आपस में मिलने-जुलने की छूट रहती है। अगर कई दिन रहने के बाद लड़का अनुभव करे कि दोनों की प्रकृति मिलती है, तब वे शादी कर लेते हैं, नहीं तो लड़का लड़की के पिता को कुछ मुआविज़ा देकर चला जाता है। कुकी जाति में यह प्रथा पायी जाती है। इस प्रकार के विवाह को 'परीक्ष्य' कहा जाता है।

(ख) परीक्षा-विवाह (Marriage by trial)—कई जातियों में लड़के के बाहु-बल, चातुरी आदि की परीक्षा लेकर उसके साथ लड़की का विवाह किया जाता है। अपने यहाँ इस प्रकार की परीक्षा के लिए स्वयंवर रचे जाते थे। रामचन्द्र जी ने धनुष तोड़ा था, अर्जुन ने चलती मछली की आँख को बींधा था। भीलों में होली के दिनों में एक वृक्ष पर नारियल तथा गुड़ टाँग दिया जाता है। वृक्ष के चारों तरफ़ गाँव की लड़कियाँ घेरा बना कर नाचने लगती हैं, उनके गिर्द पुरुषों का एक दूसरा घेरा लग जाता है। जो लड़का चाहे लड़कियों के घेरे को चीर कर वृक्ष पर चढ़ सकता है। लड़कियों के घेरे को जो कोई भी चीरने का साहस करता है, उसे लड़कियाँ मारती हैं, पीटती हैं, नोचती हैं, काटती हैं, परन्तु जो इन सब को पार कर ऊपर चढ़ जाता है, उसे इन लड़कियों में से किसी को भी चुनने का अधिकार होता है। ब्रिटिश गायना की आरावाक जाति में एक चलती नौका में खड़े होकर निशाना लगाने की लड़के की परीक्षा ली जाती है। आदिवासी जन-जातियों में शारीरिक बल तथा चातुरी का आजीविका के लिए बहुत अधिक महत्त्व था, इसलिए इस प्रकार की परीक्षाओं का होना स्वाभाविक भी है।

(ग) अपहरण-विवाह (Marriage by capture)—मानवशास्त्रियों के कथनानुसार 'अपहरण-विवाह' विवाह के क्षेत्र में मनुष्य की सबसे पहली ईजाद थी। आदिकाल का मानव युद्ध-प्रिय था। जब किसी जाति के लोग दूसरी जाति पर हमला बोलते थे, तो उसकी स्त्रियों को हर लाते थे। इन्हें या तो वे मार डालते थे, या उनसे विवाह कर लेते थे। जिन लोगों में स्त्रियों की कमी होती है वे जैसे अन्य वस्तुओं के लिए लूट-मार करते हैं, वैसे स्त्रियों का हरण करने के लिए भी लूट-मार करते हैं। भारत में दंड-विधान की धाराओं के कारण स्त्रियों का अपहरण अवैधानिक हो गया है, परन्तु कोई समय था जब कई आदिवासी जन-जातियों में स्त्री प्राप्त करने का यही एक साधन था। नागा जाति के लोग तो सुन्दर स्त्रियों के कारण उन पर हमले न हों इसलिए लड़कियों को ही मार दिया करते थे। भील, गोंड तथा हो लोगों में अब भी स्त्रियों का अपहरण किया जाता है, गोंड लोगों में तो माता-पिता की अनुमति से कन्या का अपहरण होता है। देर तक अविवाहित रहना इनमें ठीक नहीं समझा जाता, इसलिए जब इनकी अनुमति से ही कन्या का अपहरण होता है, तब दिखावे के तौर पर ये इस अपहरण का विरोध करते हैं, लड़की दिखावे

के लिए रोने लगती है, परन्तु क्योंकि यह सब-कुछ एक-दूसरे की स्वीकृति से होता है इसलिए लड़का आसानी से कन्या का अपहरण कर ले जाता है। हो जाति में लड़की के लिए 'पत्नी-मूल्य' देना पड़ता है, इसलिए इनमें से भी पहले से साँठ-गाँठ कर के कन्या का अपहरण कर लिया जाता है। खरिया और बिरहोर जातियों में कन्या-अपहरण का एक और तरीका है। जब लड़का लड़की को आसानी से नहीं पा सकता, तब वह किसी उत्सव-त्यौहार में छिप कर लड़की के मेले में आने की बाट जोहता रहता है। जहाँ लड़की उसके सामने पड़ी, वह झट-से उसके माथे पर कुंकुम लगा देता है। इस प्रकार भी लड़की लड़के की हो जाती है। असम में हमले बोल कर दूसरी जातियों की लड़कियों का अपहरण किया जाता है। मध्य-भारत की जन-जातियों में उत्सवों, मेलों पर कन्याओं का अपहरण कर लिया जाता है। जो अपहरण करने में सफल होता है, उसे सारी बिरादरी को एक बड़ा भोज देना होता है, इस भोज से अपहरण को सामाजिक-अनुमति मिल जाती है। पूर्वी ऑस्ट्रेलिया के मेरीबोरो नामक इलाके में यह प्रथा थी कि जो लोग किसी मेजबान के यहाँ उत्सव में सम्मिलित होने के लिए जाते थे, वे उत्सव समाप्त होने पर वहाँ से आते हुए मेजबान के घर की औरतों का भी अपहरण कर लाते थे। अमेरिकन इण्डियनों में भी यह प्रथा पायी जाती है। उत्तरी अथाबास्कन्स जाति में दो विरोधी दल आपस में लड़ते थे, जो जीतता था वह दूसरे दल की स्त्रियों को पकड़ ले जाता था। एस्किमो जन-जातियों में भी अपहरण पाया जाता है।

(घ) क्रय-विवाह (Marriage of Purchase)—जैसा हम पहले कह आये हैं, भिन्न-भिन्न सामाजिक-विधानों के फल-स्वरूप कहीं वर और कहीं वधू के लिए मूल्य देना पड़ता है। आदि-जातियों में बहुधा 'पत्नी-मूल्य' (Bridge price) की ही प्रथा प्रचलित है, कन्या पाने के लिए कन्या का मूल्य चुकाना पड़ता है। कन्या का मूल्य चुकाने के दो कारण हो सकते हैं। एक कारण तो यह कि जिस जाति में कन्या कम होंगी, उसे कन्या का मूल्य चुकाना पड़ेगा, दूसरा कारण यह कि कन्या अपने माता-पिता के घर उनका काम-काज करती थी, विवाह के बाद उनका काम-काज कौन देखेगा। इसका मुआविजा कन्या के पिता को चुका कर कन्या मिलती है। लोई (Lowie) का कथन है कि इन सब बातों को देख कर 'क्रय-विवाह' का आधार आर्थिक प्रतीत होता है। परन्तु आर्थिक-दृष्टि से कन्या का मूल्य चुकाया जाय—यह बात कुछ अनैतिक-सी प्रतीत होती है, इसलिए रेंगमा नागा लोग कन्या का मूल्य तो चुका देते हैं, परन्तु मूल्य देते हुए जितना दाम पहले लगा रखा होता है, उससे १० रुपए कम देते हैं ताकि यह न समझा जाय कि उन्होंने पैसा देकर लड़की को खरीदा है। हो जाति में कन्या का मूल्य इतना बढ़ा-चढ़ा है कि बहुत-से लोग इतना दाम नहीं चुका सकते, वे या तो आजन्म कुंवारे रहते हैं, या कन्या का अपहरण कर लाते हैं, लड़कियाँ आजन्म कुंवारी रहती हैं, या लुके-छिपे सब-कुछ करती हैं। आओ तथा अंगामी नागा जातियों में 'पत्नी-मूल्य' की प्रथा नहीं है, इसलिए वहाँ स्त्री की स्थिति अत्यन्त हीन है।

जो वस्तु आसानी से, सस्ते में मिल जाय, उसकी कौन परवाह करता है। इसीलिए इन जन-जातियों में वेश्यावृत्ति का भी आम चलन है। 'पत्नी-मूल्य' का यह परिणाम होता है कि पत्नी की कदर बहुत बढ़ जाती है, मुश्किल से जो मिली। इस लिहाज से किसी-किसी जाति में 'पत्नी-मूल्य' की प्रथा ने स्त्री की स्थिति को बढ़ाने में भी योगदान दिया है। परन्तु इसका उल्टा भी परिणाम हुआ है। जब कोई लड़की का ज्यादा दाम नहीं दे सकता, तब लड़की घर भी बैठी रह आ सकती है। कई जातियों में लड़की का कम दाम लेना शान के खिलाफ़ समझा जाता है, इससे अपनी स्थिति गिरती है, लड़की का ज्यादा-से-ज्यादा दाम लेने में ही ऊँची स्थिति समझी आती है। हो जाति इस मनोवृत्ति का उदाहरण है।

(ङ) सेवा-विवाह (Marriage by service)—जो लोग 'पत्नी-धन' नहीं दे सकते उन्होंने विवाह की एक और पद्धति निकाली, और वह थी लड़के वाले के यहाँ नौकरी करके एक तरह से 'पत्नी-धन' को चुका देना। गोंड तथा बैगा जन-जातियों में वर कन्या के घर नौकर बन कर रहने लगता है और कुछ वर्ष नौकरी करने के बाद लड़की से शादी कर अपना स्वतंत्र घर बना लेता है। बिरहोर जन-जाति में कन्या का पिता ही लड़के को रुपया उधार दे देता है जिसे वह धीरे-धीरे किश्तों में चुकाता है, जब तक वह पूरी रकम चुका नहीं देता, तब तक अपने ससुर के घर में रह कर उसकी नौकरी करता है। नेपाल का गुरखा मजदूर किसी जौनसार खासा के यहाँ आकर इस शर्त पर खेती-बाड़ी का काम करता है कि निश्चित अवधि तक काम करने के बाद खासा माता-पिता अपनी लड़की का उस नेपाली के साथ विवाह कर देंगे। बाइबल में भी जेकब की कथा आती है जिसके अनुसार वह अपने मामा के यहाँ इसलिए सात साल तक नौकरी करता रहा ताकि उसके बाद जेकब का अपने मामा की लड़की से ब्याह हो सके।

(च) विनिमय-विवाह (Marriage by exchange)—'पत्नी-धन' देने से बचने का सेवा-विवाह के अतिरिक्त दूसरा तरीका विनिमय के विवाह का है। 'पत्नी-धन' देकर विवाह करने के स्थान में अपनी लड़की देना और उसी परिवार की लड़की विवाह में ले लेने को 'विनिमय-विवाह' कहा जाता है। एक तरह से 'सेवा-विवाह' और 'विनिमय-विवाह'—ये दोनों 'क्रय-विवाह' के ही अलग-अलग रूप हैं। ऑस्ट्रेलिया तथा टोरेस स्ट्रेट द्वीप-समूह में यह प्रथा पायी जाती है। कई जातियाँ इस प्रथा का निषेध करती हैं। उदाहरणार्थ, खासी जन-जाति में इस प्रथा का निषेध है।

(छ) पलायन-विवाह (Marriage by elopement)—आदिवासियों में बाल-विवाह की प्रथा नहीं पायी जाती, वे युवावस्था में ही विवाह करते हैं, जबसे वे हिन्दुओं के सम्पर्क में आये हैं तब से कहीं-कहीं बाल-विवाह शुरू हो गया है। युवावस्था में विवाह माता-पिता की सहमति से ही होता है, परन्तु कभी-कभी ऐसी स्थिति भी पैदा हो जाती है जब माता-पिता की सहमति के बिना भी प्रेम-वश युवा-युवति विवाह करना चाहते हैं। ऐसी स्थिति उत्पन्न होने पर वे एक-दूसरे के

साथ घर से भाग जाते हैं। पुराने ज़माने में जब इस प्रकार कोई जोड़ा भागता था, तो ग्राम की हद्द तक उसका पीछा किया जाता था। अगर वे पकड़ में नहीं आते थे, तो लोग भी पीछा करना छोड़ देते थे, और जब-कभी पीछे अर्से के बाद वे गाँव आते थे, तो उन्हें पति-पत्नी मान लिया जाता था। अपहरण और पलायन विवाह में यह भेद है कि अपहरण में तो कन्या की अनुमति के बिना लड़का लड़की को उड़ा ले जाता है, पलायन में दोनों की सहमति से पलायन होता है।

(ज) प्रक्षिप्त-विवाह (Marriage by intrusion)—ज़बर्दस्ती के विवाह दो तरह के होते हैं। एक विवाह में तो लड़का ज़बर्दस्ती करता है, कन्या न भी चाहे, तो मेले, उत्सव आदि में छिप कर खड़ा हो जाता है और लड़की के सामने पड़ते ही उसके माथे पर कुंकुम का टीका लगा देता है। टीका लग जाने पर लड़की के माता-पिता को यह विवाह मानना पड़ता है। ज़बर्दस्ती के दूसरे प्रकार में लड़की पहल करती है। लड़का नहीं चाहता, लड़के के घर वाले नहीं चाहते, परन्तु लड़की लड़के वालों के सिर रहती है, उसे दुत्कारा जाता है तब भी नहीं मानती और हार कर लड़के को लड़की से विवाह करना पड़ता है। इस प्रकार के विवाह को हमने प्रक्षिप्त इसलिए कहा क्योंकि यह एक प्रकार का 'क्षिप्त' अर्थात् ज़बर्दस्ती लड़के के सिर मढ़ा गया विवाह है। भारत की 'बिरहोर' तथा 'हो' जन-जातियों में यह प्रथा है।

आदिवासियों की विवाह की जिन पद्धतियों का हमने वर्णन किया उनके विकास का क्या क्रम था? मानव-समाज की आदिकालीन अवस्था में, जब वे या तो फल-मूल एकत्रित करने वाली आर्थिक-व्यवस्था में से गुज़र रहे थे, या कृषि-सम्बन्धी आर्थिक-व्यवस्था में से गुज़र रहे थे, उस समय विवाह की प्रथा में कोई जटिलता नहीं थी। उस समय के समुदायों का एक रूप था, उस रूप को बनाये रखते हुए जो भी लड़का-लड़की विवाह करना चाहता था, कर सकता था। उस समय का विवाह लड़के-लड़की के आपस के प्रेम पर आश्रित था। ज्यों-ज्यों आर्थिक-व्यवस्था जटिल होने लगी, त्यों-त्यों विवाह-सम्बन्ध में भी जटिलता आने लगी। प्रारम्भिक प्रथा में लड़के-लड़की को स्वतंत्रता थी, परन्तु इस विकसित आर्थिक-व्यवस्था में जब ऊँची-नीची सामाजिक-स्थिति का प्रश्न खड़ा हो गया, तो लड़के-लड़की की स्वतंत्रता के स्थान में विवाह के समय पारिवारिक स्थिति को सामने रखा जाने लगा, वंश को प्रधानता मिलने लगी, जिन दो व्यक्तियों का विवाह होना था, उनकी इच्छा को गौण स्थान दिया जाने लगा। इस समय 'पत्नी-मूल्य' का प्रश्न मुख्य रूप धारण कर गया। ऊँचे ख़ानदान में बेटी का ब्याह करना हो, तो उसका कुछ मूल्य देना चाहिए—इस विचार से विकसित आर्थिक-व्यवस्था वाले समाज में 'पत्नी-मूल्य' के विचार ने जन्म लिया। जो व्यक्ति 'पत्नी-मूल्य' नहीं चुका सकता था वह सेवा कर के पत्नी का मूल्य चुकाने लगा, और 'पत्नी-मूल्य' के न चुका सकने पर, 'सेवा' द्वारा विवाह का चलन शुरू हुआ। 'अपहरण' द्वारा पत्नी प्राप्त करना फल-मूल तथा कृषि-सम्बन्धी अर्थ-

व्यवस्था में नहीं था, उस समय का मनुष्य शान्तिमय जीवन व्यतीत करता था, लड़ता-झगड़ता नहीं था। ज्यों-ज्यों विषम अर्थ-व्यवस्था ने सरल अर्थ-व्यवस्था का स्थान लेना शुरू किया, त्यों-त्यों एक जाति ने दूसरी जाति पर हमला बोला, उनकी लड़कियों का अपहरण कर के उनसे ब्याह-शादी शुरू करदी। 'अपहरण' द्वारा पत्नी प्राप्त करने की पद्धति को विकास की दृष्टि से पीछे के युग का कहना अधिक उपयुक्त है।

१०. प्राचीन भारत की विवाह की पद्धतियाँ

जन-जातियों में विवाह की पद्धतियों का हमने अध्ययन किया। प्राचीन भारत में भी इनसे मिलती-जुलती कुछ पद्धतियाँ थीं। मनु, नारद तथा याज्ञवल्क्य-स्मृति में विवाह के आठ प्रकार कहे गये हैं :—

ब्राह्मो दैवस्तथैवार्षः प्राजापत्यस्तथासुरः।
गान्धर्वो राक्षसश्चैव पैशाचश्चाष्टमोऽधमः। मनु०, ३, ९।

अर्थात्, विवाह के आठ प्रकार हैं—ब्राह्म, दैव, आर्ष, प्राजापत्य, आसुर, गान्धर्व, राक्षस तथा पैशाच। इन आठों का क्या अर्थ है?

(क) ब्राह्म—योग्य, सुशील, विद्वान् युवक को घर पर निमन्त्रित करके कन्या को केवल एक वस्त्र से अलंकृत कर के कन्या को उस युवक के सुपुर्द कर देना 'ब्राह्म' विवाह है। यह विवाह सादगी का नमूना है।

(ख) दैव—योग्य, सुशील, विद्वान् ब्राह्मण युवक को और बड़े-बड़े विद्वानों को विस्तृत यज्ञ में निमन्त्रित करके और कन्या को वस्त्रों तथा आभूषणों से अलंकृत करके युवक के सुपुर्द कर देना 'दैव' विवाह है। यह विवाह तड़क-भड़क का नमूना है। कई लोगों का कहना है कि पुरोहित को कन्या-दान करना 'दैव' कहलाता है, परन्तु अधिक संगत बात यही प्रतीत होती है कि धूम-धाम से विवाह करने को 'दैव' कहा जाता है।

(ग) आर्ष—इस विवाह में कुछ लेने-देने का मामला होता है। वर से एक-एक गाय और बैल या इनका जोड़ा लेकर कन्या को वर के सुपुर्द कर देने को 'आर्ष' विवाह कहते हैं। यह जन-जातियों के क्रय-विवाह से मिलता-जुलता है।

(घ) प्राजापत्य—इस विवाह में कोई उत्सव नहीं रचाया जाता था, किसी को निमन्त्रित नहीं किया जाता था। वर तथा कन्या को यज्ञ-शाला में बैठा-कर और सत्कारपूर्वक यह उपदेश देकर कि तुम दोनों साथ-साथ धर्म का जीवन व्यतीत करो, एक-साथ कर दिया जाता था। इस विवाह में प्रधानता प्रजा अर्थात् सन्तान उत्पन्न करने को दी जाती थी, और वर-वधू को यह शिक्षा दी जाती थी कि सन्तानोत्पत्ति के लिए विवाह किया जाता है।

(ङ) आसुर—ऊपर के चार विवाह तो उत्तम माने गये हैं, आसुर-गान्धर्व-राक्षस-पैशाच—ये चार अधम माने गये हैं। जब वर अपने पितृ-पक्ष के बन्धु-बान्धवों तथा कन्या-पक्ष के बन्धु-बान्धवों—दोनों को धन देकर विवाह करता है, तब इसे 'आसुर' कहा जाता है।

(च) गान्धर्व—जब वर तथा कन्या बिना विवाह-संस्कार के एक-दूसरे की इच्छा-पूर्वक काम-भाव से संयोग करने लगते तथा एक-दूसरे के साथ रहने लगते हैं, तब इसे 'गान्धर्व' कहा जाता है।

(छ) राक्षस—मार-काट कर, छीन-झपट कर, रोती-विलपती कन्या का हरण कर लाना 'राक्षस' विवाह कहलाता है। यह जन-जातियों के अपहरण-विवाह से मिलता-जुलता है। आदि-जातियों में इस प्रकार के विवाह अधिक होते थे।

(ज) पैशाच—सोती, पागल, नशे में उन्मत्त कन्या को एकान्त में पाकर उसे दूषित कर देना सब विवाहों से नीच 'पैशाच' विवाह कहलाता था, परन्तु इस प्रकार के विवाह को विवाह मानने का यह अर्थ है कि जिस स्त्री के साथ बलात्कार किया गया हो उसे भी समाज में से निर्वासित नहीं कर दिया जाता था, सिर्फ़ उस विवाह का दर्जा नीचा माना जाता था, परन्तु इस प्रकार की स्त्री को भी हिन्दू-समाज में स्थान था।

११. विवाह से पूर्व तथा विवाह के अतिरिक्त यौन-संबंध (Pre-marital and Extra-marital Sex-relations)

वैसे तो यौन-सम्बन्ध की छूट सिर्फ़ विवाहित पति-पत्नी में पायी जाती है, परन्तु जन-जातियों में इस सम्बन्ध में भिन्न-भिन्न रीति-रिवाज हैं। ये रिवाज कैसे हैं, यह नीचे दिये हुए कुछ उदाहरणों से स्पष्ट हो जायगा :—

(क) कोनयक नागा जाति का रिवाज़—इस जाति में विवाह के बाद भी लड़की अपने प्रेमियों से सम्बन्ध बनाये रखती है। पति से तो उसका सम्बन्ध होता ही है, परन्तु उसके दोस्त-मित्र भी उसके पास आते-जाते हैं और उनका यौन-सम्बन्ध भी जारी रहता है। वह अपने पति के घर तभी जाती है, जब उसके सन्तान हो जाती है। पति को यह मालूम होने पर भी कि सन्तान उसकी नहीं है, कुछ आश्चर्य नहीं होता, उसे कुछ अजनबीपन नहीं लगता, और स्त्री-पुरुष दोनों प्रेम-भाव से रहने लगते हैं।

(ख) मध्य-भारत की जातियों के रिवाज़—मध्य-भारत की जन-जातियों में विवाह से पहले लड़की-लड़के के यौन-सम्बन्ध की तरफ़ विशेष ध्यान नहीं दिया जाता। अगर लड़की इस समय गर्भवती हो जाय, तब ज़रूर इसे बुरा समझा जाता है, अगर लड़की को पाने के लिए सेवा कर रहे युवक से भी लड़की गर्भवती हो जाय, तब इसे भी उचित नहीं समझा जाता। गर्भवती होने पर लड़की से पूछा जाता है कि गर्भ किससे ठहरा है। जिससे गर्भ ठहरा होता है, उसे लड़की से शादी करने के लिए बाधित किया जाता है।

(ग) मुरिया जाति का रिवाज़—मुरिया जाति में लड़के-लड़की को विवाह से पूर्व यौन-सम्बन्ध की शिक्षा-दीक्षा दी जाती है, क्योंकि वे समझते हैं कि विवाह से पहले युवकों को इस बात का ज्ञान होना चाहिए कि किस प्रकार के जीवन में वे प्रवेश करने लगे हैं। इन जातियों में इस प्रकार के 'शिक्षा-गृह' होते हैं जहाँ प्रौढ़ा युवतियाँ लड़के-लड़कियों को यौन-शिक्षा तथा प्रेम की कला में दीक्षित करती

हैं। विवाह के बाद अपनी विवाहिता पत्नी के अतिरिक्त किसी से यौन-सम्बन्ध करना मुरिया जाति में असह्य अपराध है। ऐसी घटनाओं के परिणाम कत्ल तथा आत्मघात तक हो जाते हैं।

(घ) थारु जाति का रिवाज़—थारु जाति की स्त्रियाँ रूपवती होती हैं। इनके पति इनके इतने वश में होते हैं कि अगर थारु-स्त्री पर-पुरुष से यौन-सम्बन्ध कर ले, तो उसका पति उसे कुछ नहीं कहता, इस बात को दम मार कर सहन कर लेता है।

(ङ) खासा जाति का रिवाज़—जौनसार बावर की खासा जाति में पुत्री के रूप में भी उसे अपने मित्र-दोस्तों से यौन-सम्बन्ध रखने की पूरी छूट है, वह जितने प्रेमी रखना चाहे, रख सकती है, परन्तु पत्नी रूप में उसे पतिव्रत धर्म का अक्षरशः पालन करना होता है। क्योंकि उसका पुत्री-रूप केवल माता-पिता के घर में ही होता है, इसलिए खासा जाति की लड़की अपने प्रेमियों से मिलने माता-पिता के घर अक्सर चक्कर लगाया करती है। पिता के घर आने पर वह केवल पति के साथ यौन-सम्बन्ध रखती है, अपने दोस्त-मित्रों के साथ नहीं।

(च) टोडा जाति का रिवाज़—नील-गिरि की पहाड़ियों में टोडा जन-जाति के लोग रहते हैं। इस जाति के दो भाग हैं—'तरथरोल' तथा 'तेइवलियोल'। अगर एक भाग का टोडा व्यक्ति दूसरे भाग की किसी विवाहिता टोडा स्त्री से यौन-सम्बन्ध स्थापित करना चाहता हो, तो उस स्त्री के पति या पतियों की स्वीकृति लेकर वह ऐसा कर सकता है। वह उस स्त्री के पति को कुछ रुपया देता है, स्त्री के माता-पिता को उसके पति ने जितना पैसा दिया था उससे ज्यादा पैसा देता है, और विवाह का-सा संस्कार उस स्त्री से करता है। इसके बाद वह उस स्त्री के साथ उसे पत्नी बना कर रख सकता है, या जब चाहे उसके साथ यौन-सम्बन्ध के लिए उसके पास जा सकता है। क्योंकि यह व्यक्ति जाति की दृष्टि से टोडा के उसी भाग का नहीं होता जिस भाग की स्त्री होती है, इसलिए इस पति से उत्पन्न सन्तान इसकी नहीं समझी जाती, इस स्त्री के अपनी जाति वाले भाग के पतियों की ही समझी जाती है। इस सब प्रकार के यौन-सम्बन्ध को टोडा जाति में अनैतिक नहीं समझा जाता।

(छ) एस्किमो जाति का रिवाज़—एस्किमो जन-जाति में आतिथ्य-सत्कार का इतना महत्त्व है कि अगर कोई अपरिचित व्यक्ति घर में आ जाय, तो अपनी स्त्री को उसके लिए पेश करना इस जाति का नैतिक कर्त्तव्य समझा जाता है। अगर कोई व्यक्ति अतिथि को अपनी स्त्री पेश नहीं करता तो उसे बुरा माना जाता है। भूत-प्रेतों को भगाने के लिए इस जन-जाति में एक दिन-रात के लिए अविवाहित यौन-सम्बन्ध करना पड़ता है।

(ज) ऑस्ट्रेलिया की जन-जातियों के रिवाज़—ऑस्ट्रेलिया की जन-जातियों में विवाह-सम्बन्ध पर ज़ोर दिया जाता है, परन्तु उत्सव-त्यौहार में सब प्रकार के वैवाहिक-बन्धनों को ताक में रख दिया जाता है। अगर कोई स्त्री-पुरुष

भाई-बहन, पिता-पुत्री, पुत्र-माता नहीं हैं, तो हर किसी को हर किसी के साथ यौन-सम्बन्ध की छूट हो जाती है। आदिवासियों में भाई-बहिन या खून के अत्यन्त निकट के रिश्ते में यौन-सम्बन्ध महापाप गिना जाता है, बाकी किसी से विवाह के बाहर का यौन-सम्बन्ध भी इतना बुरा नहीं माना जाता। ऑस्ट्रेलिया की इन जन-जातियों में उक्त प्रकार के उत्सव-त्यौहारों पर अगर किसी युवक को अपनी सास के साथ यौन-सम्बन्ध के लिए कहा जाय, तो वह भी उसे करना पड़ता है।

उक्त विवरण से यह स्पष्ट है कि कन्या के अक्षतयोनि होने के सम्बन्ध में सभ्य-समाज के जो विचार हैं, उनसे आदिवासी जन-जातियों के विचार बहुत भिन्न हैं। इससे यह भी सिद्ध होता है कि एक समाज जिसे बुरा मानता है, दूसरा समाज उसे अच्छा मान सकता है, इन सब बातों की अच्छाई-बुराई आत्यन्तिक नहीं, सामाजिक है।

१२. शयनागार या युवा-संगठन—'गोतुल' आदि (Dormitories or Youth organisation)

भिन्न-भिन्न आदिवासी जन-जातियों में विवाह से पहले यौन-सम्बन्ध की चर्चा हमने अभी की। इस सम्बन्ध में आदिवासियों की एक संस्था —'शयनागार'—का वर्णन कर देना असंगत न होगा।

समाज के नव-युवकों को अपने समाज की संस्कृति तथा अन्य बातों में दीक्षित करने के लिए 'शयनागारों' की संस्थाएँ प्रायः संसार की सभी जन-जातियों में पायी जाती हैं। मैलिनोवस्की (Malinowski) ने ट्रोब्रियेंड द्वीपवासियों में इस प्रकार के शयनागारों का वर्णन किया है। भारत की अनेक जन-जातियों में भी इस प्रकार के 'शयनागार' पाये जाते हैं। इन्हें 'शयनागार' इसलिए कहा जाता है क्योंकि सन्ध्या के समय गाँव के युवक-युवति अपने दिन के काम-काज से निबट कर इन शयनागारों में चले जाते हैं और वहाँ रात बिताते हैं, वहीं शयन करते हैं। इन 'शयनागारों' में किस प्रकार की शिक्षा-दीक्षा दी जाती है—यह एक दिलचस्प किस्सा है। ये 'शयनागार' क्या हैं और किस प्रकार की शिक्षा-दीक्षा दी जाती है इन 'शयनागारों' में? ये आगार अक्सर गाँव के बाहर, जंगल में बने होते हैं, खेतों के नजदीक भी होते हैं, कहीं-कहीं ठीक गाँव के बीच भी होते हैं। नागा जन-जाति के आगार खेतों के पास होते हैं, ओराओं जन-जाति के आगार ठीक गाँव के बीच होते हैं। आगार के आस-पास खेल-कूद, आनन्द-मौज का वातावरण रहता है। सन्ध्या के समय युवक-युवतियाँ इन आगारों में पहुँच जाती हैं। सर्दियों में तापने के लिए बीच में आग जला दी जाती है। जो यहाँ आते हैं वे नाचते-कूदते, गाते हैं और देर तक कथा-कहानी सुनते-सुनाते हैं। रात को ये लोग यहीं सो जाते हैं। इन लोगों को दो भागों में बाँटा जा सकता है—युवा तथा वृद्ध। चार-पाँच बरस के बालक भी यहाँ आते हैं, परन्तु युवा तथा वृद्धों की संख्या अधिक रहती है। वृद्ध लोग युवकों को अपनी संस्कृति की शिक्षा-दीक्षा देते हैं, अपनी सांस्कृतिक परम्परा की बातें सुनाते हैं, और युवक लोग बड़ों-बूढ़ों से जो

सुनते हैं, वह मानो उनको सांस्कृतिक-सम्पत्ति बनता जाता है। 'शयनागारों' का प्रबन्ध ये बड़े-बूढ़े ही करते हैं, वे ही इस संस्था की देख-रेख करते हैं, इस संस्था में नियन्त्रण रखते हैं। जो आयु में छोटे होते हैं, वे 'शयनागार' का आवश्यक काम-काज करते हैं। आग जलाने के लिए लकड़ियाँ बटोर लाना, किसी को बुलाना हो तो सन्देश ले जाना, जो लड़कियाँ यहाँ आती हैं उन्हें सुरक्षित घर पर पहुँचाना—ये सब काम ये लड़के लोग करते हैं। समाज-सेवा के अनेक काम भी इन 'शयनागारों' में शिक्षा-दीक्षा पाये हुए लड़के-लड़कियाँ करते हैं। उदाहरणार्थ, अगर गाँव में किसी के यहाँ शादी-ब्याह हो, कोई मकान बन रहा हो, किसी की खेती काटनी हो, तो ये लड़के-लड़कियाँ इन कामों में सब का हाथ बँटाते हैं, सब के साथ सहयोग देते हैं।

इन शयनागारों में एक और बात सिखाई जाती है जो सभ्य-समाज में अन्यत्र कहीं नहीं सिखाई जाती। यहाँ लड़के-लड़कियाँ यौन-शिक्षा भी प्राप्त करते हैं। आखिर, गृहस्थ में तो हर-एक को प्रवेश करना है। उस समय किस प्रकार का जीवन बिताना होगा—यह पहले से ही पता होना चाहिए, इसलिए अनेक जातियों में इन शयनागारों में यौन-शिक्षा दी जाती है। गाँव की बड़ी, अनुभवी लड़कियाँ लड़कों को यौन-शिक्षा देती हैं। शयनागारों के भीतर संभोग करने की मनाही है, परन्तु कई जन-जातियों में इसकी भी छूट है। मुरिया जन-जाति में शयनागार को 'गोतुल' कहा जाता है। इस 'गोतुल' में बड़ी लड़कियाँ लड़कों को यौन-शिक्षा देती हैं। कई कहते हैं कि 'गोतुल' में संभोग नहीं किया जा सकता, कई कहते हैं किया जा सकता है, परन्तु इसकी शिक्षा देते हुए किसी से पूछने की जरूरत नहीं समझी जाती। यह आश्चर्य की बात है कि 'गोतुल' में मुरिया लड़कियाँ लड़कों को जो यौन-शिक्षा देती हैं, उससे वे गर्भवती नहीं होतीं। हो सकता है, उन्हें इस बात का ज्ञान हो कि किस काल में संभोग करने से गर्भ धारण नहीं होता, परन्तु मुरिया लोग इसका समाधान यह देते हैं कि उनकी जन-जाति का रक्षक देवता 'लिंगो' है, जो 'गोतुल' में किये गये संभोग से गर्भ नहीं होने देता, क्योंकि अगर वहाँ के किसी कर्म से गर्भ ठहर जाय, तो 'लिंगो' के लिए शर्म की बात हो जाय। अगर किसी के गर्भ रह भी जाय, तो इसे मुरिया लोग बुरा नहीं मानते, जिस व्यक्ति से वह लड़की शादी करती है वह उसकी सन्तान को अपनी सन्तान की तरह मानता है और वैसे ही उसकी परवरिश करता है जैसे वह उसकी अपनी ही सन्तान हो।

इन शयनागारों का भिन्न-भिन्न जन-जातियों में भिन्न-भिन्न नाम है। असम के कोनयक नागा लोग लड़कों के शयनागारों को 'मोरुंग' तथा लड़कियों के शयनागारों को 'यो' कहते हैं; मेमी जन-जाति के लोग पुरुषों के शयनागारों को 'इखुइची' तथा स्त्रियों के शयनागारों को 'इलोइची' कहते हैं; अंगामी-नागा इन्हें 'किचुकी' कहते हैं; हिमालय के भोटिया इन्हें '[illegible]' कहते हैं; मुन्डा तथा हो जन-जातियाँ इन्हें 'गितिओरा' कहती हैं; मुरिया तथा [illegible] इन्हें 'गोतुल' कहते हैं।

(क) शयनागारों की उत्पत्ति (Origin of dormitories)—शयनागारों का एक रूप आजकल के चौपाल हैं जहाँ काम-धंधे से निबट कर सब लोग आ बैठते हैं, और दुनियाँ भर की गप्पें हाँका करते हैं। शयनागारों की उत्पत्ति के सम्बन्ध में भिन्न-भिन्न कल्पनाएँ की जाती हैं, जो निम्न हैं :—

(i) हौडसन की कल्पना—हौडसन (Hodson) का कहना है कि कोई समय था जब समुदाय के सब लोग मिलकर एक ही घर में रहा करते थे, एक ही जगह खाते-पीते, सोते-उठते-बैठते थे। 'शयनागार' की प्रथा उसी काल का अवशेष है जो आदिजातियों में अबतक चला आ रहा है।

(ii) शेक्सपीयर की कल्पना—मानवशास्त्री शेक्सपीयर (Shakespeare) का कहना है कि आदिवासियों में स्त्री-पुरुष सम्भोग के लिए एकान्त चाहते थे, इस काम के लिए अपने युवा-बच्चों को कहीं टाल देना चाहते थे, इस उद्देश्य से 'शयनागारों' का निर्माण किया गया था।

(iii) ग्रिगसन की कल्पना—ग्रिगसन (Grigson) का कहना है कि आदिवासियों में घर में संभोग करना वर्जित था, इसलिए घर के अतिरिक्त वे इस काम के लिए किसी अन्य स्थान को चुनते थे। पहाड़ी मुरिया जन-जाति में इसी उद्देश्य से शयनागारों की कल्पना की जाती थी।

(iv) रॉय की कल्पना—मानवशास्त्री रॉय (Roy) की कल्पना यह है कि ओराओं जन-जाति के 'शयनागार' बनने के तीन कारण हैं। पहला कारण तो यह है कि जब सब लोग एक जगह इकट्ठे होते हैं, तब उन सब का एक जगह इकट्ठा होना आर्थिक-दृष्टि से उन सब के लिए लाभप्रद सिद्ध होता है। दूसरा कारण यह है कि युवकों के एक जगह इकट्ठे होने से उन्हें जन-जाति की संस्कृति में दीक्षित किया जा सकता है। तीसरा कारण यह है कि इकट्ठे होकर ये अपने आदिकालीन धार्मिक कृत्यों को विधि-पूर्वक सम्पन्न कर सकते हैं क्योंकि धार्मिक विधि-विधान के लिए सब का सामूहिक रूप में इकट्ठा होना जरूरी होता है।

(v) अन्य कल्पनाएँ—उक्त कल्पनाओं के अतिरिक्त अन्य भी कई कल्पनाएँ की जा सकती हैं। एक कल्पना यह है कि जब मनुष्य शिकार करके जीवन निर्वाह करता था, तब स्वयं तो जंगल में चला जाता था, उसके पीछे बाल-बच्चे-स्त्रियाँ-वृद्ध रह जाते थे। इन पर जंगली जानवर हमला कर सकते थे, दूसरी शत्रु जन-जातियाँ भी हमला कर सकती थीं। इनकी रक्षा के लिए आवश्यक था कि ये लोग दिन-रात एक ही जगह पर रहें। जब कुछ लोग शिकार के लिए जाते थे तब कुछ हृष्ट-पुष्ट व्यक्ति पीछे भी छोड़ दिये जाते थे ताकि वे आक्रान्ताओं से अपनों की रक्षा कर सकें। आखेटक-जीवन की अवस्था में तो इस बात की बहुत अधिक आवश्यकता थी कि सब लोग एक-साथ एक जगह पर रहें। आजकल भी जब कभी खतरा खड़ा हो जाता है, तब लोग अपना-अपना बिस्तर ले जाकर एक ही जगह सोते हैं। आदिकालीन इसी प्रथा का अवशिष्ट रूप आजकल के आदिवासियों के 'शयनागार' हैं।

कई जातियों में पुरुषों के शयनागार अलग हैं, स्त्रियों के अलग हैं, किसी-किसी में दोनों का शयनागार एक ही जगह होता है। एक जगह होने का कारण तो यही है कि सब की रक्षा एक-साथ रहने से हो सकती थी, इसलिए शयनागार भी एक ही जगह बनाना ठीक था। पुरुषों तथा स्त्रियों के अलग-अलग शयनागारों की उत्पत्ति का क्या कारण है ? इसका कारण यह है कि कृषि-सम्बन्धी आर्थिक-व्यवस्था में बीज बोने, खेती उभरने तथा काटने के समय तक पुरुषों को खेतों में जाकर सोना पड़ता था ताकि जानवरों से पैदावार की रक्षा कर सकें। ऐसी हालत में स्त्रियों को पुरुषों से अलग रहना पड़ता था। अलग-अलग अपने घरों में रहना सुविधाजनक नहीं था, इसलिए ऐसे शयनागार बने जिनमें सब स्त्रियाँ एक-साथ रहती थीं। कई जातियों में जब तक स्त्री जच्चा-बच्चा होती है, तब तक पुरुष को घर में नहीं सोने दिया जाता। ऐसी हालत में ऐसे शयनागार भी उत्पन्न हो गये जो सिर्फ़ पुरुषों के थे और जहाँ पुरुष एक-साथ जाकर सोते थे।

१३. तलाक

हम पहले लिख आये हैं कि आदिवासियों में विवाह एक 'सामाजिक-ठेका' (Social contract) है, 'धार्मिक-विधान' (Sacrament) नहीं। ठेका तो कुछ शर्तों पर टिका होता है, जब ये शर्तें पूरी न हों तो ठेका टूट जाता है, इसलिए आदिवासियों में विवाह की स्थिरता नहीं होती, ख़ास-ख़ास अवस्थाओं में विवाह-विच्छेद हो जाता है, और इसे बुरा मानने के स्थान में स्वाभाविक माना जाता है।

फल-मूल एकत्रित करने तथा कृषि-सम्बन्धी आर्थिक-व्यवस्था में क्योंकि युवक-युवति एक-दूसरे को चुनते हैं, अपनी इच्छा से शादी करते हैं, माता-पिता की इच्छा पर आश्रित नहीं होते, इसलिए इस प्रकार की आर्थिक-व्यवस्था के लोगों में विवाह-विच्छेद भी अधिक पाया जाता है। इन लोगों में विवाह टूटना हो, तो सन्तान उत्पन्न होने से पहले-पहल टूट जाता है, उसके बाद सन्तान होने पर पति-पत्नी दोनों का ध्यान सन्तान में केन्द्रित हो जाने और देर तक साथ रहने के कारण विवाह-विच्छेद की सम्भावना कम हो जाती है। जिन जन-जातियों में 'क्रय-विवाह' (Marriage by purchase) की प्रथा है, उनमें विवाह-विच्छेद कम होता है। इसका एक क़ारण यह है कि जिसने पैसा देकर लड़की को ख़रीदा है जैसे वह अपनी दूसरी जायदाद के हाथ से निकल जाने पर घबराता है, वैसे ख़रीदी हुई स्त्री को भी किसी भाव पर भी हाथ से नहीं जाने देना चाहता। इसका दूसरा कारण यह है कि लड़की के माता-पिता भी लड़की को विवाह-विच्छेद के लिए प्रोत्साहित नहीं करते, क्योंकि अगर लड़की लड़के को छोड़ कर चली आये, तो लड़की वालों को 'पत्नी-धन' वापस देना पड़ता है। व्यभिचार, बाँझपन, दुर्व्यवहार आदि के कारण विवाह-विच्छेद हो सकता है। आर्थिक-व्यवस्थाओं पर आश्रित समाजों में बाँझपन को एक बड़ा दोष माना जाता है और इसके प्रतिकार में लड़की वालों को या तो विवाह-विच्छेद स्वीकार करना पड़ता है, या उन्हें पहली

लड़की की बहिन या चचेरी-ममेरी बहिन देनी पड़ती है। दुर्व्यवहार भी प्रारम्भिक आर्थिक-व्यवस्था वाले समाजों में तो विवाह-विच्छेद के लिए अच्छा-ख़ासा कारण समझा जाता है, विकसित आर्थिक-व्यवस्था वाले समाजों में दुर्व्यवहार को विवाह-विच्छेद का प्रबल कारण नहीं माना जाता, क्योंकि इस प्रकार के समाज में स्त्री की स्थिति पहले प्रकार के समाज से गिरी हुई समझी जाती है। भारत की कुछ जन-जातियों में विवाह-विच्छेद सम्बन्धी विचार किस तरह के हैं, यह नीचे के विवरण से स्पष्ट हो जायगा :--

(क) खासी जाति में विवाह-विच्छेद--असम की ख़ासी जन-जाति में व्यभिचार, बाँझपन, तथा बेमेल स्वभाव के कारण तलाक लिया जा सकता है, परन्तु इसमें दोनों की रज़ामन्दी होना ज़रूरी है। जो तलाक चाहता है, उसे दूसरे पक्ष को ख़मियाज़ा देना पड़ता है। जो एक बार एक-दूसरे को तलाक दे दें, वे फिर दोबारा आपस में शादी नहीं कर सकते। तलाक की रस्म सब के सामने अदा करनी पड़ती है। बच्चे माँ के सुपुर्द किये जाते हैं।

(ख) लूशेई जाति में विवाह-विच्छेद--अगर पति पत्नी को निकाल दे तो बचा हुआ 'पत्नी-धन' फ़ौरन देना पड़ता है। अगर पत्नी व्यभिचार में पकड़ी जाय या स्वयं पति को छोड़ दे, तो उसके पिता को जो 'पत्नी-धन' दिया गया था, वह वापस करना होता है। जो एक बार एक-दूसरे को तलाक दे दें, वे फिर दो-बारा शादी कर सकते हैं।

(ग) गोंड जाति में विवाह-विच्छेद--विवाह में विश्वासघात, घर के काम में असावधानता, बाँझपन, लड़ाकू स्वभाव के कारण दोनों में से कोई भी तलाक कर सकता है। तलाक के बाद पत्नी अगर किसी दूसरे व्यक्ति से विवाह करना चाहे तो उसे पहले पति को उसका दिया 'पत्नी-धन' वापस करना पड़ता है। मुरिया-गोंड जाति में अक्सर स्त्रियां अपने पतियों को तलाक दे देती हैं, और पंचायत यह निश्चय करती है कि इस विवाह-विच्छेद के लिए पत्नी अपने पति को कितना मुआविज़ा दे।

(घ) खरिया जाति में विवाह-विच्छेद--इस जाति में विवाह में विश्वास-घात, बाँझपन, आलस्य, पति के साथ रहने से इन्कारी, चोरी अथवा पंचायत द्वारा किसी स्त्री को डायन घोषित करने पर तलाक लिया जा सकता है। ये अपराध स्त्री पर तो लगाये जाते हैं, पुरुष पर नहीं।

८

'गोत्र अथवा गण' तथा 'गोत्र-चिह्न अथवा गण-चिह्न'

('CLAN OR SIB' AND 'TOTEM')

गोत्र अथवा गण

(Clan or Sib)

'परिवार' के सम्बन्ध में हम पहले लिख चुके हैं। यद्यपि परिवार का ही एक रूप गोत्र है, परिवार में कुछ निश्चित, सीमित व्यक्ति होते हैं, गोत्र में अनिश्चित, असीमित व्यक्ति होते हैं, फिर भी 'परिवार' तथा 'गोत्र' में मौलिक भेद भी है। इन दोनों का भेद तथा इनका आपसी-सम्बन्ध समझने से पहले 'गोत्र' का अर्थ समझ लेना ज़रूरी है। कई लेखकों ने अंग्रेज़ी के 'क्लैन' शब्द के लिए 'गोत्र' के स्थान में 'गण'-शब्द का प्रयोग किया है। हमारी दृष्टि में 'क्लैन' के लिए 'गण' तथा 'गोत्र' दोनों शब्द उपयुक्त हैं, फिर भी हम यहाँ सिर्फ़ 'गोत्र'-शब्द का प्रयोग करेंगे।

१. गोत्र की परिभाषा

'गोत्र' की परिभाषाएँ भिन्न-भिन्न लेखकों ने भिन्न-भिन्न की हैं जिनमें से कुछ हम यहाँ दे रहे हैं:—

(क) नोट्स एंड क्वेरीज़ ऑन एन्थ्रोपोलोजी की व्याख्या—'गोत्र' (Clan) स्त्री-पुरुषों के ऐसे समूह का नाम है जिसकी सदस्यता का आधार 'एक-देशिक वंश-परम्परा (Unilineal descent) होती है। यह वंश-परम्परा वास्तविक भी हो सकती है, काल्पनिक भी। इस वंश-परम्परा के भीतर इसके सदस्यों की एक-दूसरे के प्रति जिस प्रकार की कर्त्तव्य-बुद्धि होती है, वैसी दूसरों के प्रति नहीं होती।"

(ख) ग्लैंडीज़ रिचर्ड की व्याख्या—"एक-पक्षीय परिवार में पुरुष अथवा स्त्री में से किसी एक की वंश-परम्परा गिनी जाती है, इसी एक-पक्षीय वंश-परम्परा

[क] "A clan may be defined as a group of persons of both sexes, membership of which is determined by unilineal descent, actual or putative, with ipso facto obligations of an exclusive kind." —*Notes and Queries on Anthropology.*

[ख] "One-sided inheritance of position as a member of either the male or female line is what constitutes the unilateral family. Such family groups are designated as clans or gentes." —*Glandys S. Reichard.*

में ही व्यक्ति का कहीं-न-कहीं उत्तराधिकार के रूप में स्थान होता है। व्यक्ति का परिवार में उत्तराधिकार की दृष्टि से स्थान निर्धारण करने वाले इस एक-पक्षीय वंश-समुदाय का नाम 'गोत्र' है।"

(ग) जेकब्स तथा स्टर्न की व्याख्या—"समुदाय के भीतर के एक ऐसे तथाकथित रक्त-सम्बन्ध का नाम 'गोत्र' है, जो 'एक-पक्षीय' (Unilateral) होता है। गोत्र-सम्बन्धी एक-दूसरे से विवाह नहीं करते, अगर एक ही पीढ़ी के हों, तो आपस में समान-गोत्री को 'भाई-बहन' (Sibling) मानते हैं, ऊपर की पीढ़ी के समान-गोत्रियों को 'माता-पिता' मानते हैं, नीचे की पीढ़ी के समान-गोत्रियों को 'लड़का-लड़की' मानते हैं।

२. 'गोत्र' तथा 'परिवार' में भेद

(क) परिवार उभय-पक्षीय तथा गोत्र एक-पक्षीय संबन्ध है—तो फिर 'गोत्र' (Clan or sib) क्या है? जब पहले-पहल कोई भी 'परिवार' बनता है, तो उसमें पति तथा पत्नी—दो व्यक्ति होते हैं। ये दोनों रक्त-सम्बन्धी भी हो सकते हैं, बिल्कुल भिन्न-भिन्न रक्तों के भी हो सकते हैं, आजकल के परिवारों में तो भिन्न-भिन्न रक्तों के ही होते हैं। 'परिवार' में पति तथा पत्नी दोनों की अपनी-अपनी वंशावली होती है, इन दोनों वंशावलियों का मेल 'परिवार' में होता है। क्योंकि 'परिवार' में पति तथा पत्नी, अर्थात् पिता तथा माता दोनों की वंशावली गिनी जाती है, इसलिए परिवार को 'उभय-पक्षीय' (Bilateral) संस्था कहा जाता है। विवाह करना हो तो पिता की वंशावली को भी देखा जाता है, माता की वंशावली को भी देखा जाता है, और क्योंकि समान-रुधिर में विवाह करना वर्जित है, इसलिए इन दोनों वंशावलियों को देख कर उनमें विवाह नहीं किया जाता। 'गोत्र' में क्या होता है? 'गोत्र' देखते हुए माता-पिता दोनों की वंशावलियों को नहीं देखा जाता। 'गोत्र' में सिर्फ़ पिता की या सिर्फ़ माता की वंशावली को देखा जाता है। जो 'पितृ-प्रधान' जातियां हैं, उनमें गोत्र देखना हो तो पिता के पिता, पितामह के पिता—इस तरह पिता का ही वंश देखा जायगा, माता का नहीं; जो 'मातृ-प्रधान' जातियां हैं, उनमें गोत्र देखना हो तो माता की माता, नानी की माता—इस तरह माता का ही वंश देखा जायगा, पिता का नहीं। पितृ-प्रधान जातियों में स्त्री का विवाह के बाद पति का ही गोत्र हो जाता है इसलिए उनमें माता-पिता दोनों के गोत्र देखने के बजाय सिर्फ़ पिता का गोत्र देखा जाता है; मातृ-प्रधान जातियों में पति का विवाह के बाद स्त्री का ही गोत्र हो जाता है, इसलिए उनमें भी माता-पिता दोनों का गोत्र देखने के बजाय सिर्फ़ माता

[ग] "A unilateral pseudo-kinship relationship pattern or group within a community. Clan members are such for life, practice clan exogamy, call fellow members siblings if of the same generation, parents if of an older generation, and son or daughter if of a younger generation. —*Jacobs and Stern.*

का गोत्र देखा जाता है। इस दृष्टि से अगर 'परिवार' को हम माता-पिता दोनों का वंश देखने के कारण 'उभय-पक्षीय' (Bilateral) कह सकते हैं, तो 'गोत्र' को सिर्फ़ पिता या सिर्फ़ माता, अर्थात् एक ही का वंश देखने के कारण 'एक-पक्षीय' (Unilateral या Unilineal) कह सकते हैं। इसी लिए हमने 'गोत्र' की ऊपर जितनी परिभाषाएँ दी हैं, उनमें 'गोत्र' को 'एक-पक्षीय' (Unilateral) कहा गया है। 'परिवार' उभय-पक्षीय समूह है, 'गोत्र' एक-पक्षीय-समूह है। 'परिवार' में माता तथा पिता दोनों पक्षों की वंशावली का मेल होता है, गोत्र में इन दोनों वंशावलियों के भेद को तो माना जाता है, परन्तु इन दोनों में से 'पितृ-सत्ताक-परिवार' वाले पिता की वंशावली को चुन लेते हैं, माता की वंशावली को छोड़ देते हैं, 'मातृ-सत्ताक-परिवार' वाले माता की वंशावली को चुन लेते हैं, पिता की वंशावली को छोड़ देते हैं। दो वंशावलियों में से किसी एक को चुन कर उस वंशावली वालों को अपना पूर्वज कहना ही 'गोत्र' कहलाता है।

(ख) 'परिवार' नष्ट हो जाता है, 'गोत्र' नष्ट नहीं होता—जहाँ परिवार 'उभय-पक्षीय-समूह' का नाम है, गोत्र 'एक-पक्षीय-समूह' का नाम है, वहाँ इन दोनों में दूसरा भेद यह है कि पति या पत्नी में से किसीएक के मर जाने पर 'परिवार' समाप्त हो जाता है, परन्तु कई परिवारों के समाप्त हो जाने पर भी 'गोत्र' नष्ट नहीं होता। परिवार अस्थिर है, गोत्र स्थिर है; परिवार अदृढ़ है, गोत्र दृढ़ है; तलाक आदि से परिवार झट-से टूट सकता है, गोत्र तलाक देने पर भी नहीं टूट सकता।

(ग) परिवार सर्वत्र पाया जाता है, गोत्र नहीं—परिवार हर देश-काल में पाया जाता है। परिवार तथा विवाह दोनों संस्थाएँ एक ही समय से एक-साथ चली आ रही हैं। इन दोनों संस्थाओं का संस्कृति के साथ ही जन्म हुआ, अगर कोई समय ऐसा था जब संसार में संस्कृति नहीं थी, तब यह भी कहा जा सकता है कि उस समय परिवार और विवाह की संस्था भी नहीं थी। परन्तु यह नहीं कहा जा सकता कि जिस समय परिवार या विवाह की संस्था थी, उस समय गोत्र की संस्था भी थी। परिवार पहले था, गोत्र बाद को हुआ, इसलिए ऐसी जन-जातियाँ पायी जाती हैं, जिनमें परिवार की संस्था है, गोत्र की संस्था नहीं है। उदाहरणार्थ, कादर तथा अंडमान द्वीप-वासियों में गोत्र की संस्था नहीं है, परिवार की है, उनसे अधिक विकसित जन-जातियाँ कमार और बैगा हैं जिनमें 'परिवार' के साथ-साथ 'गोत्र' की संस्था भी पायी जाती है।

(घ) परिवार में सम्बन्ध निकट का होता है, गोत्र में दूर का—परिवार में सब सदस्य बिलकुल निकट के सम्बन्धी होते हैं, गोत्र में सब सदस्य निकट के सम्बन्धी नहीं होते। कहीं-कहीं तो गोत्र में इतना दूर का सम्बन्ध होता है कि उसे सम्बन्ध कहना भी खींचातानी है, किन्तु जिनका गोत्र मिल जाय, उनका परिवार की तरह का कोई प्रत्यक्ष सम्बन्ध न भी हो, तो भी एक गोत्र वाले आपस में एक-दूसरे को परिवार का-सा सम्बन्धी ही मानते हैं।

३. 'गोत्र' तथा 'वंश' में भेद

जैसे 'परिवार' तथा 'गोत्र' में भेद है, वैसे 'वंश' (Lineage) तथा 'गोत्र' (Clan) में भी भेद है। यह भेद क्या है?

(क) वंश लड़ी का नाम है, गोत्र लड़ी के सिरे का नाम है—वैसे तो 'वंश' (Lineage) तथा 'गोत्र' (Clan) एक-सी चीजें हैं, परन्तु इन दोनों में जरा-सा भेद भी है। 'वंश' कहने से सारी की-सारी वंशावली, वंशावली की सारी लड़ी आ जाती है, पिता से लेकर वंश के आदि-प्रवर्त्तक तक; परन्तु 'गोत्र' कहने से सारी-की-सारी वंशावली से नहीं, इस सारी लड़ी के सिर्फ़ आदि-प्रवर्त्तक से ही अभिप्राय होता है। 'मातृ-वंश' (Matrilineage)—इस शब्द का उच्चारण करने से इस वंश की आदि-प्रवर्त्तक स्त्री से लेकर आज तक उसके वंश के जितने स्त्री-पुरुष हुए हैं, उन सब की लड़ी आ जाती है। इस प्रकार का वंश 'मातृ-सत्ताक परिवार' में चलता है। 'पितृ-वंश' (Patrilineal or agnatic lineage)–इस शब्द का उच्चारण करने से इस वंश के आदि-प्रवर्त्तक पुरुष से लेकर आजतक उसके वंश के जितने स्त्री-पुरुष हुए हैं, उन सब की लड़ी आ जाती है। वंशधरों की सारी लड़ी की चर्चा 'वंश' में होती है, इस लड़ी के सूत्रधार की चर्चा 'गोत्र' में होती है।

(ख) वंश में अनेक वंशावलियाँ तथा एक गोत्र हो सकता है—'वंश' छोटा भी हो सकता है, बड़ा भी। कई 'वंशों' में तीन पीढ़ियों तक का 'वंश' गिना जाता है, कई में आठ, नौ, दस या इससे ज्यादा पीढ़ियाँ आ जाती हैं। तीन, या आठ-नौ आदि का यह अभिप्राय नहीं होता कि उन जातियों में इतनी ही पीढ़ियाँ हो गुजरी हैं। लम्बी-चौड़ी शृंखला में वे कोई असाधारण नाम लेकर छोटे में बड़े को भरने का प्रयत्न करते हैं। जितना पीछे की तरफ़ अधिक समय बीता होता है, उतना ही वंशों की लम्बी कड़ी को तोड़ कर छोटी-छोटी कड़ियों में रूपान्तरित करने का प्रयत्न किया जाता है। परन्तु इन सबका गोत्र एक ही रहता है। इस प्रकार वंश में अनेक वंशावलियाँ होती हैं, किन्तु इन अनेक वंशावलियों में एक गोत्र हो सकता है।

४. 'गोत्र' तथा 'जाति' में भेद

'गोत्र' में विवाह नहीं हो सकता, 'जाति' में विवाह होना आवश्यक है; 'गोत्र' बहिर्विवाही संस्था है, 'जाति' अन्तर्विवाही संस्था है; 'गोत्र' में रुधिर का सम्बन्ध माना जाता है, 'जाति' में रुधिर का सम्बन्ध नहीं माना जाता; एक ही जाति में भिन्न-भिन्न 'गोत्र' हो सकते हैं, भिन्न-भिन्न जातियों का एक ही 'गोत्र' हो सकता है।

५. 'गोत्र' तथा 'समुदाय' में भेद

'समुदाय' (Community) का क्षेत्र बड़ा है, 'गोत्र' (Clan or Sib) का क्षेत्र छोटा है। एक समुदाय में अनेक गोत्र हो सकते हैं। गोत्र परिवार से बड़ा किन्तु समुदाय से छोटा है। समुदाय के अन्दर विवाह होता है, गोत्र के बाहर विवाह होता है।

६. गोत्र की विशेषताएँ
(Characteristics of Clan)

'गोत्र' की विशेषताओं को अगर ध्यान में रख लिया जाय, तो गोत्र-सम्बन्ध तथा अन्य सम्बन्धों में भेद स्पष्ट हो जाता है। गोत्र की विशेषताएँ निम्न हैं :—

(क) बहिर्विवाह (Exogamy)—'गोत्र' की सबसे बड़ी विशेषता इसका 'बहिर्विवाही' होना है। एक गोत्र के लोग आपस में विवाह नहीं कर सकते। एक गोत्र के होने से लड़का-लड़की भाई-बहन तो नहीं बन जाते, परन्तु अपने को 'भाई-बहन' (Siblings) मानने लगते हैं। भाई-बहन का आदिवासियों में सदा से विवाह वर्जित रहा है। इसे वे पाप तथा व्यभिचार मानते हैं। ऑस्ट्रेलिया में एक 'गोत्र' (Clan) में विवाह करने वालों को प्राण-दंड तक दिये जाने की व्यवस्था है। उत्तरी-अमरीका की क्रो जन-जाति में अपने ही गोत्र में विवाह करने वाले को कुत्ते के तुल्य नीच समझा जाता है। विवाह अपनी जन-जाति में, अपने समुदाय में तो किया जाता है, परन्तु अपने गोत्र में नहीं किया जाता। इस दृष्टि से जन-जाति तथा समुदाय तो 'अन्तर्विवाही' (Endogamous) संस्थाएँ हैं, परन्तु गोत्र 'बहिर्विवाही' (Exogamous) संस्था है। वैसे तो 'बहिर्विवाह' (Exogamy) गोत्र का प्रधान लक्षण है, परन्तु दो-एक जन-जातियाँ ऐसी भी पायी गई हैं जिनमें 'समान' गोत्र में विवाह हो जाता है। उदाहरणार्थ, अरब जन-जाति तथा पोलीनेशिया की हपू जन-जाति में समान-गोत्र में भी विवाह की छूट है। परन्तु ऐसे उदाहरण अपवाद रूप हैं, मुख्य तौर पर समान-गोत्र में विवाह निषिद्ध है।

हिन्दुओं के लिए समान-गोत्र में विवाह के निषेध का परिणाम यह है कि श्री करन्दीकर के अनुसार एक हिन्दू के लिए २१२१ लड़कियाँ विवाह के लिए निषिद्ध हो जाती हैं। गोत्र इतनी दूर तक वंश-सम्बन्ध को ले जाता है कि जिनका हमारे साथ कोई सम्बन्ध नहीं है, वे भी हमारे रुधिर के भाई-बहन सिद्ध हो जाते हैं, और इसलिए एक हिन्दू का विवाह का क्षेत्र अत्यन्त सीमित हो जाता है। हिन्दुओं की विवाह-प्रथा में यह भारी कमी थी जिसे १९५५ के 'हिन्दू विवाह तथा तलाक अधिनियम' द्वारा दूर कर दिया गया है। सगोत्र विवाह के निषेध के आधार में मुख्य विचार यह काम कर रहा था कि समान-रुधिर वालों का विवाह-सम्बन्ध 'अनाचार' (Incest) है, इसलिए इसे नहीं होने देना चाहिए, परन्तु इस सम्बन्ध को इतना दूर तक पहुँचा दिया गया जिससे इसका आशय ही समाप्त हो गया।

(ख) समान निवास-स्थान (Common residence)—कई लोग एक ही जगह पर रहने को गोत्र का एक आवश्यक अंग मानते हैं। रिवर्स (Rivers) ने गोत्र की परिभाषा करते हुए लिखा है कि यह ऐसा बहिर्विवाही समूह है जिसका एक ही स्थान पर निवास होता है, जिसके एक ही पूर्वज होते हैं—यह पूर्वज कोई वृक्ष, पशु या कुछ भी हो सकता है। वृक्ष, पशु आदि को पूर्वज मानना 'गोत्र-चिह्न' (Totem) कहलाता है। लोई (Lowie) ने गोत्र की परिभाषा करते

हुए 'समान निवास-स्थान' (Common residence) तथा 'गोत्र-चिह्न' (Totem) दोनों को अपनी परिभाषा में से निकाल कर सिर्फ़ 'बहिर्विवाह' (Exogamy) को गोत्र का लक्षण माना है। 'समान-निवास-स्थान' को तो वह गोत्र का लक्षण इसलिए नहीं मानता क्योंकि अनेक जातियाँ दुनियाँ में इतनी फैल गई हैं कि उनका अब 'समान-निवास-स्थान' रहा ही नहीं। उदाहरणार्थ, आस्ट्रेलिया के 'समान-गोत्री' (Sib) भिन्न-भिन्न स्थानों में जा बसे हैं, हिन्दुओं में एक ही गोत्र के लोग देश भर में बिखरे पड़े हैं। 'गोत्र-चिह्न' (Totem) का होना भी वह गोत्र का लक्षण इसलिए नहीं मानता क्योंकि अनेक जन-जातियों में गोत्र का विचार तो है, परन्तु उनमें 'गोत्र-चिह्न' (Totem) नहीं है। उदाहरणार्थ, अमरीकन, आफ्रीकन तथा एशिया की अनेक जन-जातियों में 'गोत्र-चिह्न' नहीं पाया जाता। मुरडौक (Murdock) भी समान रक्त वालों के विवाह के निषेध तथा एक स्थान के निवास को गोत्र का विशेष लक्षण मानता है, परन्तु जैसा हमने देखा, पहले कभी एक गोत्र के लोग किसी एक स्थान में रहते होंगे, अब तो देर से एक गोत्र के लोग भिन्न-भिन्न स्थानों में रह रहे हैं और धीरे-धीरे एक गोत्र में भी विवाह होने लगे हैं।

(ग) समान-पूर्वज (Common ancestor)—जिन लोगों का पूर्वज एक ही होता है, वे अपने को एक गोत्र का मानते हैं। यह पूर्वज कौन था, कब हुआ—इस सब का ज्ञान हो, न हो, परन्तु अगर यह धारणा बनी हुई है कि पूर्वज एक ही था, तो ऐसे समान-गोत्री आपस में एक-दूसरे को भाई-बहन समझ कर अन्तर्विवाह नहीं करते और समान-पूर्वज होने के कारण अपने को समान गोत्र का मानते हैं।

(घ) गोत्र-चिह्न (Totem)—वंश का प्रवर्त्तक कौन था—इसे ढूँढते-ढूँढते कई जन-जातियाँ यहाँ तक पहुँच जाती हैं कि आदि-प्रवर्त्तक को एक कल्पित वस्तु मानने लगती हैं। कई जातियों में आदि-प्रवर्त्तक किसी वृक्ष को, कई में किसी पशु को कल्पित कर लिया जाता है और उस वृक्ष का फल खाना या उस पशु को मारना वर्जित समझा जाता है। पशु को आदि-प्रवर्त्तक मानने की बात कुछ डार्विन के विकासवाद की-सी जँचती है। कहने वाले कह सकते हैं कि जैसे आज के युग में विकासवादी बन्दर को मनुष्य का आदि-प्रवर्त्तक सिद्ध करने का प्रयत्न करते हैं, वैसे कई जन-जातियाँ भिन्न-भिन्न पशुओं को अपना आदि-प्रवर्त्तक मानती हैं। मानव-समाज में 'टोटम' की प्रथा शायद पशु से मनुष्य बनने की एक धुन्धली याद बनी हुई है। 'गोत्र-चिह्न' (Totem) पर हम इसी अध्याय में आगे कुछ विस्तार से लिखेंगे।

७. सगोत्रता तथा सपिंडता
(Father-sib and Mother-sib)

कई जातियों में अपने गोत्र (Clan) में विवाह नहीं किया जाता क्योंकि अपने रुधिर में विवाह करना वर्जित है, परन्तु हिन्दुओं में विवाह-सम्बन्ध देखते हुए पिता की तथा माता की—दोनों पीढ़ियों को देखा जाता है क्योंकि जैसे पिता की

पीढ़ियाँ अपने खून की हैं, वैसे माता की पीढ़ियाँ भी तो अपने खून की होती हैं। पिता की पीढ़ी के लोग 'सगोत्र' (Father sib) कहे जाते हैं, माता की पीढ़ी के लोग 'सपिंड' (Mother-sib) कहे जाते हैं। मनु का कथन है—'असपिंडा च या मातुः असगोत्रा च या पितुः, सा प्रशस्ता द्विजातीनां दारकर्मणि मैथुने'—जो कन्या माता की पीढ़ी तथा पिता के गोत्र की न हो, उसी से विवाह करना उचित है। अब इस विधान में शिथिलता कर दी गई है जिसका वर्णन हम पहले कर आये हैं।

मॉर्गन (Morgan) विकासवादी हैं, और विकासवाद के दृष्टि-कोण से 'मातृ-सत्ताक-परिवार' पहले था, 'पितृ-सत्ताक' पीछे विकसित हुआ। इसलिए मॉर्गन का कहना है कि आदिकालीन जन-जातियों में 'सपिंडता' (Mother-sib) का विचार जन्मा और जिस समय 'सपिंडता' के विचार ने जन्म लिया, उस समय 'सगोत्रता' (Father-sib) का विचार नहीं था। धीरे-धीरे ज्यों-ज्यों 'मातृ-सत्ताक-परिवार' से 'पितृ-सत्ताक-परिवार' विकसित हुआ, त्यों-त्यों 'सगोत्रता' का विचार भी उत्पन्न हो गया। मॉर्गन का कथन है कि 'मातृ-सत्ताक' से 'पितृ-सत्ताक-परिवार' में विकसित होने का कारण कृषि थी, कृषि से उत्पन्न होने वाली संपत्ति थी। पुरुष ने जब अपने घर कृषि करनी शुरू कर दी, खेत लहलहाने लगे, मौसम में उसे काटने, इकट्ठा करने की जरूरत हुई, तब उसके पास अपनी ससुराल जाने का समय ही न रहा, और वह अपनी ससुराल में रहने के स्थान में अपने घर रहने लगा। जब अपने घर रहने लगा, तब स्त्री भी उसके पास जाकर रहने लगी, 'मातृ-सत्ताक' से 'पितृ-सत्ताक-परिवार' बन गया। इस परिवार में कृषि के कारण 'बचत' (Surplus) होने लगी; बचत से 'सम्पत्ति' बनने लगी। इस सम्पत्ति के कारण उत्तराधिकार तथा सगोत्रता के विचार ने जन्म लिया क्योंकि सम्पत्ति अपने गोत्र में ही उत्तराधिकार में जा सकती है। परन्तु मॉर्गन का कथन इसलिए युक्ति-संगत नहीं प्रतीत होता, क्योंकि सम्पत्ति का निर्माण तो 'मातृ-सत्ताक-परिवारों' में भी पाया जाता है। उत्तरी अरीज़ोना तथा नवाहो जन-जाति में सम्पत्ति की प्रधानता है, परन्तु फिर भी वहाँ 'मातृ-सत्ताक-परिवार' हैं, 'पितृ-सत्ताक' नहीं। सम्पत्ति होने पर भी वहाँ 'गोत्र' (Father-sib) के विचार ने जन्म नहीं लिया—इसलिए मॉर्गन का यह कहना कि सम्पत्ति के संचय होने पर 'पितृ-सत्ताक-परिवार' बन जाता है, फिर पिता के गोत्र के विचार का जन्म हो जाता है क्योंकि पिता के गोत्र में ही सम्पत्ति उत्तराधिकार में दी जाती है—यह सब-कुछ संगत नहीं प्रतीत होता।

८. गोत्र तथा बिरादरी
(Clan and Phratry)

एक जन-जाति में कई गोत्र हो सकते हैं। उदाहरणार्थ, किसी जन-जाति में १२ गोत्र हैं, किसी में १६ गोत्र हैं। ये जन-जातियाँ अपनी जाति में तो विवाह करेंगी, परन्तु अपने गोत्र में विवाह नहीं करेंगी। इन १२ या १६ गोत्रों में कुछ

गोत्र मिल कर ४–५ समुदाय बना लेते हैं, जिन्हें 'बिरादरी' (Phratry) कहा जा सकता है। अगर १२ गोत्रों वाली जन-जाति में कहीं ३ और कहीं ४ गोत्रों के समुदाय बन गये, तो १२ 'गोत्र' (Clans) होने पर भी उस जन-जाति में ३ या ४ 'बिरादरियाँ' (Phratries) बन सकती हैं, १६ गोत्रों वाली जन-जाति में ५–६ बिरादरियाँ बन सकती हैं।

९. गोत्र तथा गोत्रार्ध
(Clan and Moiety)

कई जन-जातियों में गोत्रों को दो भागों में बाँट दिया जाता है। कुछ गोत्र एक समूह में तथा कुछ दूसरे समूह में गिने जाते हैं। इस प्रकार की व्यवस्था को 'द्वित्व-प्रणाली' (Dual organisation) कहा जाता है, और इन दोनों में से एक-एक भाग को 'गोत्रार्ध' (Moiety) कहा जाता है। फ्रेंच भाषा में 'मोयटे' (Moitie) का अर्थ है—'आधा', इसीसे 'मोयटी'-शब्द बना है। ये 'गोत्रार्ध' भी 'बहि-विवाही' होते हैं, आपस में तो शादी-ब्याह नहीं कर सकते, परन्तु एक 'गोत्रार्ध' दूसरे 'गोत्रार्ध' से विवाह कर सकता है। टोडा जन-जाति में दो 'गोत्रार्ध' हैं—तरथरोल तथा तेइवलियोल। ये दोनों तो आपस में शादियाँ कर सकते हैं परन्तु इन 'गोत्रार्धों' (Moities) के अवान्तर 'गोत्र' (Clans) आपस में शादियाँ नहीं कर सकते। ओन्टल तथा फिल्लो जन-जातियों में भी दो ही 'गोत्रार्ध' पाये जाते हैं।

इस प्रकार हमने देखा कि 'जन-जाति' (Tribe) अनेक 'गोत्रों' (Clans) में बँटी होती है। ये गोत्र जब सिर्फ़ दो भागों में विभक्त हो जाते हैं, तब इन्हें 'गोत्रार्ध' (Moieties) कहा जाता है, और जब दो की जगह कुछ अधिक भागों में विभक्त हो जाते हैं, तब इन्हें 'बिरादरी' (Phratries) कहते हैं। जब ये न 'गोत्रार्धों' में बँटते हैं, न 'बिरादरी' में बँटते हैं, तब ये निरे 'गोत्र' बने रहते हैं।

१०. गोत्र की उत्पत्ति

संसार की विविध जातियों में 'गोत्र' की उत्पत्ति कैसे हुई —यह एक अत्यन्त विवादास्पद विषय है, परन्तु इतना कहा जा सकता है कि 'गोत्र' की भावना एक प्रकार के विशाल-संगठन की भावना थी? इस संगठन से पहले छोटे-छोटे संगठन शुरू हो चुके थे। उदाहरणार्थ, परिवार भी तो एक संगठन है, स्त्री-पुरुष का आपस में काम बाँट लेना भी एक संगठन है। ये छोटे-छोटे संगठन 'गोत्र' के संगठन से पहले बन चुके थे, क्योंकि कई ऐसी जन-जातियाँ पायी जाती हैं जिनमें परिवार आदि तो पाया जाता है, परन्तु गोत्र नहीं पाया जाता, वे गोत्र-विहीन जातियाँ हैं। अपने 'गोत्र' में क्योंकि विवाह करना निषिद्ध है, इसलिए यह तो स्पष्ट प्रतीत होता है कि 'गोत्र' का संगठन 'परिवार' के संगठन से ही विकसित

हुआ होगा, इसलिए परिवार में पायी जाने वाली भाई-बहन की भावना गोत्र में आजतक पायी जाती है, जो एक गोत्र का होता है, वह चाहे कहीं रहता हो, किसी जाति का हो, अपना नजदीकी समझा जाता है।

अन्य जगह 'गोत्र' का विकास कैसे हुआ—यह तो कहना कठिन है, परन्तु अपने देश में 'गोत्र' के विकास पर कुछ प्रकाश मिलता है। 'गोत्र'-शब्द 'गो' तथा 'त्र'—इन दो के मेल से बना है। 'गो' का अर्थ है —'गाय' तथा 'पृथिवी'। 'त्र' का अर्थ है—'त्राण करना, रक्षा करना'। इस प्रकार 'गोत्र' का अर्थ बनता है—'गाय तथा पृथिवी की रक्षा करने वाला संगठन, इनकी रक्षा करने वाला दल'।

भारत में इस प्रकार के शुरू-शुरू में आठ संगठन, दल या समूह थे जिन्होंने अपने को संगठित किया था। इनको आठ 'गोत्र' कहा जाता था। इन आठ संगठनों, दलों, गोत्रों के प्रवर्त्तकों के नाम थे—विश्वामित्र, जमदग्नि, भरद्वाज, गौतम, अत्रि, वसिष्ठ तथा कश्यप[1]। इनके अतिरिक्त कई अगस्त्य को आठवाँ गोत्र-प्रवर्तक मानते हैं।

ये आठ दल (गोत्र) समय के साथ बढ़ कर चौबीस हो गये, और चौबीस दल (गोत्र) भी ज्यों-ज्यों समय बीतता गया, जन-संख्या बढ़ती चली गई, त्यों-त्यों और अधिक बढ़ने लगे और इनकी संख्या पहले उनचास और फिर सैंकड़ों-हजारों हो गई।[2] इस प्रकार आदि-समाज के संगठन को करने वालों ने कृषि-कर्म तथा पशु-पालन की आर्थिक-व्यवस्था को संगठित करने के लिए जो सामाजिक-रचना बनाई थी, वह 'गोत्र' के नाम से कही जाती थी। यह हो सकता है कि विश्वामित्र, जमदग्नि आदि सात-आठ ऋषि आदि-समाज के बड़े-बड़े परिवार थे और उन परिवारों ने अपने-अपने परिवार के भीतर कृषि तथा पशु-पालन के व्यवसाय को प्रारम्भ किया, अपने दल या गोत्र का नाम अपने नाम पर रखा, और ज्यों-ज्यों परिवार बहुत अधिक बढ़ता गया, त्यों-त्यों बहुत समय के बाद आगे चल कर गोत्रों की संख्या भी बढ़ती चली गई। इससे यह तो प्रतीत होता है कि शुरू-शुरू में गोत्र में दो बातें थीं—परिवार तथा परिवार का कृषि और पशु-पालन के आधार पर आर्थिक-संगठन। इस दल का मुख्य उद्देश्य दल की आर्थिक-समस्या को हल करना था। आदि-काल के परिवारों का अनुशीलन करने से प्रतीत होता है कि परिवार का काम हर प्रकार के आर्थिक कार्य को करना था। अनेक परिवारों ने जब मिलकर अपना आर्थिक-संगठन बनाया तब उसका नाम 'गोत्र' रखा,

१. विश्वामित्रो जमदग्निर्भरद्वाजोऽथ गौतमः।
अत्रिः वसिष्ठः कश्यप इत्येते गोत्रकारकाः॥

२. चतुर्विंशति गोत्राणि। ऊनपंचाशद् गोत्रभेदाः। गोत्राणि तु शतानि अनन्तानि।

और उस आर्थिक-संगठन के निर्माता, अपने परिवार के मुखिया के नाम से वह 'गोत्र' प्रसिद्ध हो गया।

यह जो 'गोत्र' या 'दल' बना, वह इकला तो काम नहीं कर सकता था। इस 'गोत्र' ने, इस 'दल' ने कहीं, किसी भू-भाग में अपना डेरा डाला, अपना उपनिवेश बसाया। यह उपनिवेश, यह डेरा आत्म-निर्भर होकर ही जीवन-निर्वाह कर सकता था, इसलिए उस समय की आवश्यकताओं के अनुसार दूसरे लोगों को भी इस डेरे में शामिल किया गया। उनमें से कुछ पढ़ाने-लिखाने का काम करने लगे, उन्हें इन्होंने 'ब्राह्मण' का नाम दिया, कुछ योद्धा का काम करने लगे, उपनिवेश को शत्रुओं से बचाने का काम, उन्हें इन्होंने 'क्षत्रिय' का नाम दिया, कुछ खाने-पीने का प्रबन्ध देखने लगे, उन्हें इन्होंने 'वैश्य' का नाम दिया, कुछ लोहार-बढ़ई-जुलाहे आदि का काम करने लगे, उन्हें इन्होंने 'शूद्र' का नाम दिया। इस प्रकार ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र—ये सब श्रम-विभाग किये गये, और इस आर्थिक-ढाँचे का नाम 'गोत्र' रखा गया क्योंकि इस आर्थिक-व्यवस्था में भूमि तथा पशु ही आजीविका के साधन थे, और इस सारे दल का जो प्रवर्तक था उसके नाम से हर व्यक्ति अपने को उस दल का कहने लगा। उदाहरणार्थ, जो कश्यप के दल का था वह अपने को काश्यप-गोत्री, जो भरद्वाज के दल का था वह अपने को भारद्वाज-गोत्री, जो जमदग्नि के गोत्र का था वह अपने को जामदग्न्य कहने लगा। यही कारण है कि आज भी ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र—सभी के एक गोत्र पाये जाते हैं। भारद्वाज गोत्र खत्री, कुम्हार तथा चमार तीनों में पाया जाता है। ऊपर जिन आठ गोत्रों की चर्चा की गई है, उनके अलावा भी सैकड़ों-हज़ारों गोत्र हो गये—यह हम कह आये हैं। इन गोत्रों की पड़ताल की जाय, तो ये गोत्र हर जाति में मिलेंगे। इसी प्रकार का एक गोत्र 'लखनपाल' है। यह गोत्र ब्राह्मणों तथा कुम्हारों—दोनों में पाया जाता है। 'महता'-गोत्र ब्राह्मण, खत्री, अरोड़ा—इन तीनों में पाया जाता है। परिणाम यह हुआ कि गोत्र का सम्बन्ध जो शुरू-शुरू में रक्त-सम्बन्ध तथा आर्थिक-व्यवस्था—इन दोनों से था, धीरे-धीरे रक्त से सम्बद्ध न रह कर सिर्फ़ आर्थिक-व्यवस्था से सम्बद्ध रह गया।

'गोत्र' में जो पहले कभी रक्त का सम्बन्ध था, वह आगे चलकर रक्त से सम्बद्ध नहीं रहा, इसलिए नहीं रहा क्योंकि जैसे आजकल की आर्थिक-व्यवस्था में सब जात-बिरादरी के लोग शामिल होते जाते हैं, वैसे आदि-कालीन आर्थिक-व्यवस्था, जो पहले कभी परिवार से शुरू हुई थी, आगे चलकर परिवार तक सीमित न रह सकी और उसमें भी आजकल की तरह बाहर के रक्त के लोग शामिल होने लगे। 'गोत्र' का यह रूप जिसमें एक रुधिरवालों को ही एक 'गोत्र' का नहीं कहा जाता था, भिन्न-भिन्न रुधिर वालों को भी एक गोत्र का कहा जाता था—उस समय की शिक्षा-व्यवस्था में भी स्पष्ट दीखता है। उस समय ऋषि लोग वनों में आश्रम बना कर लड़के-लड़कियों को शिक्षा दिया करते थे। इन आश्रमों में जो लड़के एक-साथ शिक्षा ग्रहण करते थे, वे सब एक गोत्र के माने जाते थे। यही

कारण है कि एक रुधिर के भाई-भाई का भी भिन्न-भिन्न गुरुओं से शिक्षा ग्रहण करने के कारण एक गोत्र न होकर भिन्न-भिन्न गोत्र होता था। उदाहरणार्थ, बलराम तथा श्रीकृष्ण भाई-भाई थे, परन्तु बलराम का गोत्र गार्ग्य तथा श्रीकृष्ण का गोत्र गौतम था। यह इसलिए था क्योंकि उन्होंने भिन्न-भिन्न गुरुओं से शिक्षा प्राप्त की थी। ऋषियों के आश्रमों में एक-साथ शिक्षा ग्रहण करने वालों को चाहे वे किसी भी जाति के होते थे, एक गोत्र का माना जाता था। इसका यह भी कारण था क्योंकि उस समय लड़के-लड़की सब को समान शिक्षा दी जाती थी, एक ही गुरु से वे विद्याभ्यास करते थे, साथ-साथ रहते थे। गोत्र का भले ही रक्त से सम्बन्ध हो, परन्तु यह भावना तो तब भी थी और आज भी है कि एक गोत्र वालों को विवाह-सम्बन्ध नहीं करना चाहिए। हो सकता है कि ऋषियों ने अपने आश्रमों में पढ़ने वाले बालक-बालिकाओं को एक गोत्र का इसलिए माना था ताकि वे आपस में एक-दूसरे को भाई-बहन समझते रहें और उनमें अनाचारी सम्बन्ध उत्पन्न न हों।

ऊपर हमने जो-कुछ लिखा, उससे यह तो स्पष्ट हो गया कि गोत्र का प्रारम्भ एक ही रुधिर के परिवार से हुआ था, इसका उद्देश्य आर्थिक-व्यवस्था को निश्चित करना था, परन्तु कालान्तर में इसमें बाहर के रुधिर के लोग भी शामिल होते रहे किन्तु उनके शामिल होने पर भी समान-गोत्रियों में एक रुधिर का भाव बना रहा, वह आज भी बना है। पहले कभी इस भाव का लाभ था, आज इस भावना से समाज को हानि पहुँच रही है, क्योंकि इस भावना के कारण विवाह का क्षेत्र बहुत सीमित, संकुचित हो गया है। हिन्दू अपनी जाति से बाहर शादी नहीं कर सकता, जाति के भीतर ही शादी कर सकता है, जाति के भीतर भी अपने गोत्र में शादी नहीं कर सकता। जाति के बाहर तो इसलिए शादी नहीं कर सकता ताकि उसका रुधिर अपवित्र न हो जाय, गोत्र के भीतर इसलिए शादी नहीं कर सकता क्योंकि यह भाई-बहन का-सा अनाचार का सम्बन्ध है। तो फिर वह कहाँ शादी कर सकता है? इसी का परिणाम है कि आज की सामाजिक व्यवस्था में जाति तथा गोत्र इन दोनों के बन्धनों को कानून से तोड़ दिया गया है।

११. गोत्र-चिह्न अथवा गण-चिह्न (टोटम) (Totem)

आदि-काल का मानव जब अपने वंश की लड़ी को लेकर बैठता था, तो पीछे की तरफ़ ढूंढते-ढूंढते वह कहाँ तक जा सकता था। वंश की लड़ी को ढूंढते-ढूंढते कई जन-जातियाँ सूर्य-चन्द्र तक पहुँच जाती थीं। कोई अपना उद्भव सूर्य से, कोई चन्द्र से मानने लगती थीं, ये अपने-आपको सूर्य-वंशी या चन्द्र-वंशी कह देती थी। कई और किसी को नहीं, तो किसी वृक्ष को, किसी पशु-पक्षी को वंश का आदि-प्रवर्तक कल्पित कर लेती थीं। हो सकता है कि किसी परिवार के किसी व्यक्ति ने कबूतर को कभी मारा हो, और वह अगर कभी अन्धा हो गया, तो अन्धेपन को कबूतर को मारने से जोड़ दिया गया हो। इसके बाद वह व्यक्ति कबूतर का उपासक बन गया हो, और कबूतर इस परिवार तथा गोत्र का 'गोत्र-चिह्न'

बन गया हो। इसके बाद कबूतर का मारना, खाना इस गोत्र में निषिद्ध माना जाने लगा हो। इस प्रकार गोत्र का किसी पार्थिव-अपार्थिव, कल्पित-अकल्पित, पत्थर, वृक्ष, पशु, पक्षी, देव, देवी, ग्रह-नक्षत्र के साथ सम्बन्ध जोड़ देना 'गोत्र-चिह्नवाद' (Totemism) कहलाता है।

१२. 'गोत्र-चिह्न' (टोटम) की परिभाषा

[क] नोट्स एण्ड क्वेरीज़ ऑन एन्थ्रापौलोजी की व्याख्या—"गोत्र-चिह्नवाद ऐसे सामाजिक संगठन तथा जादू एवं धर्म गर्भित प्रणाली का नाम है जिसके द्वारा कोई जन-जाति अपने गोत्र अथवा वंश का सम्बन्ध किसी जीवित अथवा अजीवित वस्तु से जोड़ लेती है।"

[ख] जेकब्स तथा स्टर्न की व्याख्या—"गोत्र-चिह्न अथवा गोत्र-चिह्नवाद उन क्षेत्रों तक सीमित होता है जहाँ समान गोत्र के लोग रहते हैं, और ये समान-गोत्री किसी पशु अथवा पक्षी को अपना पूर्वज मानते हैं, इस पशु के मांस या इस पक्षी के पंख का प्रयोग नहीं करते और जादू-टोने तथा विधि-विधान में इन पशु-पक्षियों का ही कोई-न-कोई सम्बन्ध जोड़ लेते हैं।"

[ग] हरस्कोविट्स की व्याख्या—"गण-चिह्नवाद उस विश्वास या धारणा को कहते हैं जिसके अनुसार किसी मानव-समुदाय का किन्हीं वनस्पतियों, पशुओं या कभी-कभी किसी अद्भुत प्राकृतिक पदार्थ के साथ दैवीय-सम्बन्ध माना जाता है।"

१३. 'गोत्र-चिह्न' (टोटम) की उत्पत्ति
(Origim of Totem)

'गोत्र-चिह्न' की उत्पत्ति कैसे हुई—इस सम्बन्ध में विद्वानों के भिन्न-भिन्न मत हैं। इनमें से कुछ महत्त्वपूर्ण मत हम नीचे दे रहे हैं :—

(क) फ्रेजर का मत (आर्थिक-विभाजन)—फ्रेजर (Frazer) का कहना है कि कौन-से पशु तथा कौन-से फल कौन-सा गोत्र खाये और उनका उपभोग

[क] "The term totemism is used for a form of social organisation and magico-religious practice, of which the central feature is the association of certain groups (clans or lineages) within a tribe with certain classes of animate or inanimate things." —*Notes and Queries on Anthropology.*

[ख] "A serviceable though narrow definition would confine totems or totemism to certain phenomena of those special areas where there are clans each of which has an animal or bird name, and where the clan members believe themselves descended from their own clan animal or bird ancestor, refuse to eat its flesh or wear its fur, and also conduct magical rites of one or another kind that relate to such a creature." —*Jacobs and Stern.*

[ग] "Totemism is the belief that a mystical relationship exists between a group of human beings who make up a kinship unit and a species of plant or animal or, less commonly, some natural phenomenon." —*Herskovits.*

करे—इसका जन-जातियों के गोत्रों ने आपस में विभाजन कर लिया था जिससे एक गोत्र के क्षेत्र को दूसरा गोत्र नष्ट न करे। इस प्रकार के आर्थिक-विभाजन का परिणाम ही भिन्न-भिन्न गोत्रों में भिन्न-भिन्न पशु-पक्षियों या वृक्षों की प्रधानता थी। जिस गोत्र को जो पशु, पक्षी या वृक्ष दे दिया गया था वह उसी को अपना चिह्न मानने लगा था। फ्रेज़र ने 'गोत्र-चिह्न' का एक और समाधान भी दिया है। उसका कहना है कि आदिकालीन मनुष्य को यह नहीं मालूम था कि स्त्री के गर्भ क्यों ठहर जाता है। गर्भ ठहरने का पता उन्हें बहुत देर बाद चलता था, तब चलता था जब प्रत्यक्ष रूप से गर्भावस्था के चिह्न दीखने लगते थे। उस समय वे यह समझते थे कि उनके पास जो पशु, पक्षी या वृक्ष हैं वे गर्भ के कारण हैं। इसीलिए उसी की वे पूजा करने लगते थे और उसी को अपने गोत्र का आदि-प्रवर्त्तक मानने लगते थे।

(ख) टायलर का मत (पूर्वज-पूजा)—टायलर (Tylor) का कहना है कि आदि-कालीन लोग यह समझते थे कि मृत्यु के बाद मनुष्य का आत्मा किसी पशु, पक्षी या वृक्ष में चला जाता है, और इनमें वास करता हुआ परिवार की रक्षा करता है। इसी कारण जन-जातियाँ अपने-अपने पूर्वजों की इन पशु-पक्षी, वृक्षों के रूप में पूजा करती हैं। एक तरह से 'गोत्र-चिह्नवाद' पूर्वजों की पूजा का ही एक पूर्व-रूप है।

(ग) गोल्डनवीज़र का मत (आर्थिक तथा सामाजिक)—गोल्डनवीज़र (Goldenweiser) ने १९१० में इस विषय पर जो-कुछ लिखा उससे 'गोत्र-चिह्नवाद' पर बहुत काफ़ी प्रकाश पड़ा। उसका कहना है कि 'गोत्र-चिह्न' पर ऐसी कल्पना कर सकना कठिन है जो सब जन-जातियों पर एक-सी घट सके। 'गोत्र-चिह्न' के विचार की उत्पत्ति का कारण हर जन-जाति में अलग-अलग होता है। इसके गोल्डनवीज़र के कथनानुसार मुख्य कारण दो हैं—धार्मिक तथा सामाजिक। धार्मिक कारण तो वह है जिसमें पशु-पक्षी-वृक्ष आदि में कोई आध्यात्मिक-शक्ति, अलौकिक-शक्ति मानी जाती है, इस अलौकिक शक्ति की ये लोग उस पशु-पक्षी, वृक्ष आदि के नाम से पूजा करते हैं। सामाजिक कारण का अभिप्राय किसी सामाजिक आकस्मिक घटना से है। उदाहरणार्थ, किसी गोत्र का पूर्वज सो रहा था, इतने में एक साँप आया, उसने उस पर फण फैलाया, परन्तु उसे काटा नहीं। इस आकस्मिक घटना को लेकर उस गोत्र में साँप की पूजा चल पड़ी, साँप को गोत्र का रक्षक माना जाने लगा, साँप उस गोत्र का चिह्न बन गया। जिस पूर्वज के जीवन में यह आकस्मिक घटना घटी, उसके अनुवंशज भी साँप को मानने लगे, उसे अपने गोत्र का रक्षक कहने लगे। भारत में ज्यादातर 'गोत्र-चिह्न' की उत्पत्ति का कारण धार्मिक न होकर सामाजिक है।

(घ) रॉय का मत (एक-रूपता, विभेदकता तथा सामान्यीकरण)—श्रीयुत् रॉय (Roy) ने भारत के 'गोत्र-चिह्नों' का अध्ययन कर यह निष्कर्ष निकाला है कि यहाँ के गोत्र-चिह्नों के तीन कारण हैं। पहले तो कई परिवारों का एक-दूसरे के साथ सम्मिलन होता है, उनकी एक-रूपता होती है। ये एक-रूप

होकर किसी एक नाम को धारण कर लेते हैं। उदाहरणार्थ, कई परिवारों के मिलने से जो गोत्र बना उसने अपना एक नाम धारण किया—'सिंह'। यह 'सिंह' उन परिवारों की 'एक-रूपता' (Fusion) से उन परिवारों के गोत्र का नाम चुना गया। परिवारों की उस 'एक-रूपता' के कारण जब गोत्र किसी 'गोत्र-चिह्न' को अपना लेता है, तब समय बीतने पर गोत्र बहुत बड़ा हो जाता है और उस हालत में 'एक-रूपता' से उलटी प्रक्रिया शुरू हो जाती है जिसे 'विभेदकता' (Fission) कह सकते हैं। अगर सिंह-'गोत्र-चिह्न' था तो अब एक बड़े गोत्र से जो छोटे-छोटे गोत्र बन जाते हैं, उनके चिह्न भी सिंह के छोटे-छोटे अंग-प्रत्यंग ही बनते हैं। जहाँ पहले सिंह गोत्र का चिह्न था, वहाँ एक गोत्र से बने इन अनेक गोत्रों में से किसी का चिह्न सिंह का दाँत, किसी का उसकी पूँछ, और किसी का सिंह का कोई अन्य अंग-प्रत्यंग चिह्न बन जाता है। 'एक-रूपता' तथा 'विभेदकता' के अतिरिक्त 'गोत्र-चिह्न' की उत्पत्ति का एक तीसरा कारण भी है। किसी गोत्र का चिह्न सिंह चुना गया, तो क्यों चुना गया? इसका कारण वही आकस्मिक घटना हो सकती है जिसका हमने ऊपर उल्लेख किया। सिंह ने किसी की रक्षा की, तो सिंह उस सारे गोत्र का रक्षक हो गया, सिंह ने किसी को समाप्त कर दिया, तो वह उस गोत्र के लिए भयावह चिह्न बन गया। रक्षा तो एक व्यक्ति की की, नुकसान पहुँचाया तो भी एक व्यक्ति को पहुँचाया, परन्तु इस बात को सामान्य रूप देकर 'गण-चिह्न' का रक्षण अथवा भक्षण के लिए 'सामान्यीकरण' (Generalization) कर दिया गया। श्रीयुत् रॉय ने 'एक-रूपता', 'विभेदकता' तथा 'सामान्यीकरण'—इन तीन कारणों को अनेक गोत्रों के चिह्नों पर घटा कर यह दर्शाने का प्रयत्न किया है कि 'गोत्र-चिह्नों' का आधार इन तीन बातों में से कोई एक बात हो सकती है?

१४. 'गोत्र-चिह्न' (टोटम) की विशेषताएँ
(Characteristics of Totem)

जैसे 'गोत्र' की अपनी विशेषताएँ हैं, वैसे 'गोत्र-चिह्न' (टोटम) की भी अपनी विशेषताएँ हैं। वे विशेषताएँ क्या हैं।

(क) टोटम का मांस नहीं खाया जाता—जन-जातियों में अनेकों का गोत्र कोई पशु होता है। कमार जन-जाति में सात गोत्र पाये जाते हैं जिनमें नेतम-गोत्र की कमार जन-जाति का टोटम कछुआ है। ये लोग कछुए की पूजा करते हैं और इसे न मारते हैं, न इसका मांस खाते हैं। इस जन-जाति में यह समझा जाता है कि कछुआ उनका रक्षक है। जिस जन-जाति का टोटम कोई पशु या पक्षी होता है वह उस पशु या पक्षी का मांस नहीं खाती, उसे पवित्र समझती है, उसकी रक्षा करती है। कहीं-कहीं इसका अपवाद भी देखा जाता है, परन्तु अपवाद वहीं होता है जहाँ उस पशु या पक्षी के मांस खाने के बिना गुजर ही नहीं हो सकती।

(ख) टोटम को खा जाना—जैसा हमने अभी कहा, टोटम का मांस नहीं खाया जाता, परन्तु कभी-कभी संकट-काल में उसे खाना भी पड़ता है। ऐसे

समय में गोत्र के सदस्य मिल कर प्रार्थनाएँ करते हैं, धार्मिक-संस्कार करते हैं, तब जाकर जन्तु का बलिदान किया जाता है। हिन्दुओं में यज्ञों में सम्भवतः इसी आधार पर बलि दी जाती थी, यह आर्यों की प्रथा न होकर जन-जातियों की प्रथा थी जिसे कुछ भूले-भटके लोगों ने आर्यों के ग्रन्थों में भी डाल दिया अन्यथा यज्ञ जैसे पवित्र कार्य में पशु-बलि जैसे घृणित-कार्य को करना समझ नहीं पड़ता। जन-जाति के लोग जब टोटम को धार्मिक-कृत्य में संकटावस्था में मारते हैं, तब उसे विशेष प्रकार की विधि द्वारा मारते हैं। टोटम को इस प्रकार बलि करने के सम्बन्ध में फ्रॉयड ने यह कल्पना की है कि जन-जातियाँ उस समय यह समझती हैं कि टोटम ने हमारी रक्षा के लिए अपने जीवन का भी बलिदान कर दिया। टोटम के साथ बलिदान की भावना को जोड़कर जन-जातियों ने टोटम के भक्षण को धर्म का रूप दे दिया है।

(ग) टोटम की मृत्यु—जब कोई टोटम पशु या पक्षी होता है, तब उसकी मृत्यु पर जन-जाति के लोग उसके लिए रोते-धोते हैं, आँसू बहाते हैं, और उसके शव को वैसे ही आदर से जमीन में गाड़ते हैं जैसे वह उनका कोई सगा-सम्बन्धी हो।

(घ) हिंस्र टोटम—कभी-कभी किसी जन-जाति का टोटम कोई हिंस्र जीव-जन्तु होता है। उदाहरणार्थ, शेर, चीता, साँप—ये भी टोटम हैं। जिन जन-जातियों के ये टोटम हैं उनका विश्वास है कि ये हिंस्र जीव-जन्तु उनकी रक्षा करते हैं, उनका संहार नहीं करते।

(ङ) रक्षक टोटम—टोटम को गोत्र का रक्षक माना जाता है और समझा जाता है कि वह समय-समय पर गोत्र के प्रधान व्यक्ति को स्वप्न में सब-कुछ बता देता है और समय-समय पर चेतावनी देता तथा भविष्यवाणी करता है।

(च) टोटम को गुदवाना—जन-जाति के लोग अपने गोत्र के टोटम के चित्र दीवारों पर खींचते हैं, उन्हें सजाते हैं, हथियारों पर टोटम के चित्र बनाते हैं और पुरुष तथा स्त्री टोटम की तस्वीर को अपनी भुजाओं पर गुदवा लेते हैं। यह सब-कुछ करने का यही अभिप्राय है कि एकदम इन तस्वीरों को देख कर यह पता लग जाय कि उस व्यक्ति का क्या टोटम है। टोटम को प्रसन्न करने के लिए भी यह सब किया जाता है।

(छ) टोटम का पूर्वज होना—जन-जातियों में यह विश्वास चला आता है कि उनका टोटम उनका कोई पूर्वज है या किसी पूर्वज का निकट का सम्बन्धी है। इस दृष्टि से टोटम को अपना पुरखा मान कर वे उसकी पूजा करते हैं।

(ज) पूर्वज के अतिरिक्त टोटम का पशु-पक्षी-वृक्ष होना—टोटम के विषय में जहाँ यह विचार है कि टोटम जन-जाति का कोई पूर्वज है, वहाँ यह विचार भी पाया जाता है कि वह पूर्वज न होकर कोई पशु, पक्षी या वृक्ष है। अपने देश में पशुओं में गौ को, वृक्षों में तुलसी, वट तथा पीपल को टोटम मान कर पूजा जाता है। जन-जातियों में पशुओं को टोटम मानने के अनेक उदाहरण हैं। कमार जन-जाति में नेतम गोत्र का टोटम कछुआ है, बाघ-सोरी जन-जाति का टोटम चीता

तथा नाग-सोरी का टोटम सांप है। पशु-पक्षी-वृक्ष को टोटम मानने का कारण यह है कि इनके कथानक के अनुसार इनके किन्हीं पूर्वज की रक्षा किसी पशु ने, किसी पक्षी ने या किसी वृक्ष ने की थी।

१५. 'गोत्र' तथा 'गोत्र-चिह्न' के उदाहरण
(Examples of Clan and Totem)

'गोत्र' (Clan) तथा 'बहिर्विवाह'—ये दोनों बातें तो एक-दूसरे से जुड़ी हुई हैं, परन्तु 'गोत्र-चिह्न' (Totem) तथा 'बहिर्विवाह'—ये दोनों भी जरूर ही एक-दूसरे से जुड़ी हुई हों, ऐसी बात नहीं है। 'गोत्र-चिह्न' जहाँ होगा वहाँ 'गोत्र' तो होगा ही, परन्तु जहाँ 'गोत्र' होगा, वहाँ 'गोत्र-चिह्न' भी अवश्य होगा, यह बात भी नहीं है।

'गोत्र-चिह्न' के विचार को और अधिक स्पष्ट करने के लिए हम यहाँ छत्तीसगढ़ की कमार जन-जाति का उदाहरण दे रहे हैं, जिससे मालूम पड़ेगा कि 'गोत्र-चिह्न' का वास्तविक स्वरूप क्या है।

कमार जन-जाति में निम्न सात गोत्र पाये जाते हैं—(१) जगत, (२) नेतम, (३) मरकम, (४) सोरी—बाघ-सोरी तथा नाग-सोरी, (५) कुंजम, (६) मरं, (७) छेदंहा। कमार जन-जाति में इन गोत्रों की उत्पत्ति के विषय में निम्न कथानक पाये जाते हैं :—

संसार के उत्पन्न होने से पूर्व एक महान् जल-विप्लव आया जिसमें सारी सृष्टि डूब गई। इस जल-विप्लव के बाद जब सृष्टि उत्पन्न हुई तब कुछ देर सृष्टि के चलने के बाद एक दूसरा जल-विप्लव आया। पानी उछालें मारता हुआ कमार लोगों के घरों में भरने लगा और वे अपनी जान बचाने के लिए इधर-उधर भागने लगे। पानी का वेग कमारों की दौड़ से तेज़ था और देखते-देखते उनके घरों के चारों तरफ़ पानी-ही-पानी हो गया। अब उनके सामने जान बचाने के लिए तैरने के सिवाय और कोई उपाय नहीं रह गया था, परन्तु इतने भारी समुद्र को पार करने के लिए वे कैसे तैरते?

इनमें से कमारों का एक समूह तो कछुए की पीठ पर चढ़ कर जल को पार कर गया। इन्हें 'नेतम' कहा जाता है। आज दिन भी वे कछुए के प्रति कृतज्ञता प्रकट करने के लिए इसे अपना गोत्र-चिह्न मानते हैं और कछुए को नहीं मारते, इसे नहीं खाते। दूसरा समूह मगरमच्छ की पीठ पर चढ़कर जल को पार कर रहा था। धार के बीच में मगरमच्छ का दिल बिगड़ गया। उसने पीठ पर चढ़ों से कहा कि मुझे भूख लगी है, मैं तुम सब को हड़प जाऊँगा। उसकी पीठ पर जितने कमार चढ़े थे, डर के मारे सब ने जल में छलांग मार दी। कुछ को वह खा गया, बाकी जो बच रहे वे तैरते-तैरते कछुए की पीठ पर चढ़ों के निकट पहुँच गए। उन्होंने कछुए से गिड़गिड़ा कर कहा—हमें भी अपनी पीठ पर ले लो। कछुए ने कहा कि मेरी पीठ पर काफ़ी बोझ लदा है, मैं और अधिक नहीं ले सकता। इन लोगों ने प्रार्थना करते हुए कहा—मामा, हमारी जान बचा लो। कछुए ने

कहा—अरे, तुम मेरे भानजे हो, आओ, पीठ पर चढ़ जाओ, और उसने इन सब की भी जान बचा दी। इस वर्ग को 'मरकम' कहा जाता है और आज भी ये जहाँ मगरमच्छ को देखते हैं उसे जान से मार डालते हैं और कछुए की पूजा करते हैं। 'कछुए' तथा 'मगरमच्छ' के इन गोत्रों के चिह्न होने की यह कहानी है।

सोरी लोग जंगल की एक झाड़ी को पकड़ कर पार हो गये। पार होने के बाद उन्होंने एक जंगल में डेरा डाला। वहाँ उनके भिन्न-भिन्न परिवारों ने कुछ दिन विश्राम करने के लिए अपनी झोंपड़ियाँ भी बना लीं। इनमें से एक सोरी स्त्री गर्भवती थी। उसके यहाँ दो सन्तान उत्पन्न हुई—एक सिंह थी, दूसरी साँप थी। सिंह कमार से जो वंश चला उसका नाम 'बाघ-सोरी' तथा साँप कमार से जो वंश चला उसका नाम 'नाग-सोरी' पड़ा। 'बाघ-सोरी' शेर को और 'नाग-सोरी' साँप को नहीं मारते। अगर उन्हें पता चल जाय कि आस-पास किसी ने शेर या साँप मारा है, तो वे स्नान करते हैं, प्रायश्चित्त करते हैं, ठीक ऐसे जैसे कोई निकट का सम्बन्धी मरा हो।

एक बूढ़ा कमार अपने पुत्र के लिए एक पुत्र-वधू लाया। इस बीच यह जल-विप्लव आ गया। लड़के-लड़की का अभी सम्बन्ध नहीं हुआ था। पानी उतरने के बाद जब वह घर का आँगन बुहारने लगी, तब उसके सब कपड़े भीजे हुए थे, उन कपड़ों के बीच से उसके सुन्दर अंग-प्रत्यंग झलक रहे थे। इतने में बुद्धदेव का बकरा वहाँ आ निकला। बकरे ने सुन्दरी पर मोहित होकर उसका आलिंगन करना चाहा। सुन्दरी ने कहा—अगर तुम्हारे संसर्ग से मुझे सन्तान हो गई, तो क्या होगा। उसने कहा, वह 'कुजम'-गोत्र की कहलायेगी। वह सुन्दरी बकरे के साथ जंगल में जाकर तीन दिन रही। चौथे दिन कमार लोगों ने ढूँढते-ढूँढते जंगल में जाकर उसे बकरे के साथ सोते पकड़ा, परन्तु इस बीच वह गर्भवती हो चुकी थी। इस स्त्री के जो सन्तान हुई वह आज भी 'कुजम' गोत्र की कहलाई और बकरा उसका 'गोत्र-चिह्न' हुआ। इस गोत्र के लोग बकरे का मांस नहीं खाते और अगर बकरा इनकी झोंपड़ी में आ घुसे तो रसोई के बर्तन फेंक देते हैं और पानी छिड़क कर झोंपड़ी को पवित्र करते हैं।

इस जन-जाति का एक वर्ग दुनियाँ भर में घूमता-फिरता रहा। लगातार गतिशील होने के कारण इसे 'जगत' कहते हैं। एक वर्ग इतना भूखा था कि उसने मुर्दे को खा लिया। इसे 'मरं' कहते हैं और इनके यहाँ जो प्राणी अपने-आप मर जाय उसे खाना मना है, ये पशु को मार कर खाते हैं, स्वयं मरे को नहीं खाते। जो कमार अपना निर्वाह किसी प्रकार नहीं कर सके उन्हें 'छेदेहा' कहा जाता है।

'गोत्र-चिह्न' की उत्पत्ति से जन-जातियों में इसका महत्त्व स्वयं स्पष्ट हो जाता है। कई जातियों में 'गोत्र-चिह्न' का जो पशु-पक्षी-वृक्ष हो उसका मारना तथा खाना मना होता है। कई-कई जातियों में उत्सवों-त्यौहारों पर उसे मार कर भी खाया जाता है। प्रायः जन-जातियाँ अपना 'गोत्र-चिह्न' शरीर के किसी भाग पर गुदवा लेती हैं।

९

भारत की जन-जातियों में धर्म तथा जादू

(RELIGION AND MAGIC IN INDIAN TRIBES)

मनुष्य संसार की घटनाओं पर तीन दृष्टियों से विचार कर सकता है। एक दृष्टि यह है कि इस जगत् में दृश्य-संसार से परे कोई 'पारलौकिक-शक्ति' (Supernatural power) है, जो हम से महान् है, शक्तिशाली है, जिसके सामने हम सिर्फ़ सिर झुका कर उसकी आराधना कर सकते हैं और इसी आराधना से उसका आशीष प्राप्त कर सकते हैं। इस दृष्टि को धार्मिक-दृष्टि कहा जा सकता है। दूसरी दृष्टि यह है कि दृश्य-संसार से परे 'पारलौकिक-शक्ति' तो है, परन्तु इसके बजाय कि वह हम पर शासन करे, हम मंत्र-तंत्र से उसे अपने अधीन कर सकते हैं, और उसके सामने सिर झुकाने के बजाय हम उसे काबू कर सकते हैं, सिर्फ़ उस पर आधिपत्य जमाने का रास्ता पता लगना चाहिए। इस दृष्टि को जादू-टोने की या तांत्रिक-दृष्टि कहा जा सकता है। तीसरी दृष्टि यह है कि संसार जैसा दीखता है, यह कार्य-कारण के नियम से चल रहा है, इसके पीछे कोई 'पारलौकिक-शक्ति' नहीं काम कर रही, यह संसार, लौकिक-पारलौकिक जो-कुछ दीखता है, वही-कुछ है, और इस पर नियन्त्रण पाने के लिए विश्व के संचालक नियमों का जान लेना काफ़ी है, फिर इन नियमों के आधार पर हम संसार पर आधिपत्य जमा सकते हैं। इस दृष्टि को वैज्ञानिक-दृष्टि कहा जा सकता है। धर्म, जादू तथा विज्ञान—इन तीन दृष्टियों से मानव-समाज विश्व की समस्याओं को हल करता आया है, जिनमें से वर्त्तमान-युग में विज्ञान से तथा आदिकालीन-समाज में धर्म तथा जादू-टोने से मनुष्य विश्व की समस्याओं को हल करता रहा है। हम इस अध्याय में पहले धर्म तथा फिर जादू-टोने पर विचार करेंगे क्योंकि आदिकालीन मानव का विश्व की समस्या को हल करने का तरीका इन्हीं दोनों में से एक था, विज्ञान का तरीका नहीं था।

१. धर्म की परिभाषा

धर्म क्या है? यह जो प्राकृतिक-संसार हमें अपनी इन्द्रियों से अनुभव होता है, हम किसी चीज को देखते है, किसी को छूते हैं, किसी को चखते और किसी को सूंघते हैं—इस प्राकृतिक तथा इन्द्रिय-ग्राह्य संसार के अतिरिक्त कोई शक्ति है जो इसे चलाती है, इस शक्ति की सत्ता का अनुभव करके उसके साथ मनुष्य का किसी भी प्रकार से अपना सम्बन्ध स्थापित करना ही तो धर्म है। इस

सम्बन्ध-स्थापन के लिए 'विधि-विधान' (Ritual) का आविष्कार किया जाता है। संसार के परे इस शक्ति की सत्ता को मानना 'पारलौकिक-शक्ति' का मानना है। इस 'पारलौकिक-शक्ति' की सत्ता को मानना तथा इस शक्ति के साथ 'विधि-विधान' द्वारा सम्बन्ध स्थापित करना 'धर्म' के आधारभत तत्त्व कहे जा सकते हैं। इस दृष्टि से भिन्न-भिन्न लेखकों ने धर्म की भिन्न-भिन्न व्याख्याएँ की हैं, जिनमें से कुछ हम नीचे दे रहे हैं :—

[क] मैरेट की व्याख्या—"आदिकालीन-मानव की दार्शनिक कल्पनाओं का परिणाम धर्म है।"

[ख] टायलर की व्याख्या—"धर्म आध्यात्मिक सत्ताओं में विश्वास का नाम है। ये दैवीय तथा राक्षसीय—दोनों प्रकार की हो सकती हैं।"

[ग] मैलिनोवस्की की व्याख्या—"धर्म के अन्तर्गत मनुष्य का वह सारा व्यवहार आ जाता है जिससे वह अपने दैनिक-जीवन की अनिश्चितता को दूर कर देना चाहता है और अनपेक्षित तथा अज्ञात से मनुष्य को जो भय बना रहता है उसे पार कर लेता है। धर्म जब पहले-पहल उत्पन्न हुआ तब यह मनुष्य की आशाओं तथा आकांक्षाओं का परिणाम न होकर उसे जो सदा भय लगा रहता था, उसका परिणाम था।"

२. धर्म की उत्पत्ति
(Origin of Religion)

उक्त परिभाषाओं के अनुसार 'धर्म' के लिए संसार से परे की 'आध्यात्मिक-शक्ति' में विश्वास होना आवश्यक है। इस 'पारलौकिक-शक्ति' को मानने का विचार सहज में उत्पन्न नहीं हो जाता। मनुष्य को भूख-प्यास लगती है, यह स्वाभाविक है, और इस स्वाभाविक-आकांक्षा को तृप्त करने के लिए वह भिन्न-भिन्न मार्ग ग्रहण करता है। ये मार्ग ही 'आर्थिक-व्यवस्था' को उत्पन्न कर देते हैं। मनुष्य को सुरक्षा की जरूरत है, वह इकला अपनी रक्षा नहीं कर सकता, एक-दूसरे का सहयोग प्राप्त करता है। सुरक्षा की स्वाभाविक-आकांक्षा को पूरा करने के लिए वह भिन्न-भिन्न सामाजिक-संगठन बनाता है। ये संगठन ही 'राजनैतिक-व्यवस्था' को उत्पन्न करते हैं। मनुष्य यौन-सुख चाहता है, पुरुष को स्त्री की

[क] "Religion is the result of intellectual speculation of the primitive man." —*Marret.*

[ख] "Religion is the belief in spiritual beings and fiends." —*Tylor.*

[ग] "Religion includes all those patterns of behaviour whereby men strive to reduce the uncertainties of daily living and to compensate the crises which result from the unexpected and unpredictable. Religion first was not related to the hopes and aspirations of man, it was related to fear." —*Malinowski.*

और स्त्री को पुरुष की चाह होती है, और इस स्वाभाविक-आकांक्षा को क्रिया में परिणत करने के लिए 'परिवार' की संस्था को जन्म दिया जाता है। ये सब संगठन स्वाभाविक हैं, मनुष्य की आकांक्षा के परिणाम हैं, परन्तु मनुष्य के भीतर ऐसी कोई आकांक्षा नहीं दीखती जिससे वह 'पारलौकिक-शक्ति' की सत्ता में विश्वास कर अन्य संगठनों की तरह 'धर्म' को उत्पन्न कर दे। इसी लिए 'धर्म' की उत्पत्ति के सम्बन्ध में विद्वानों के भिन्न-भिन्न मत हैं। कुछ मत हम यहाँ दे रहे हैं:—

(क) हर्बर्ट स्पेंसर का पूर्वजों की पूजा का सिद्धान्त (Theory of ancestor-worship of Herbert Spencer)—हर्बर्ट स्पेंसर का कहना है कि धर्म की उत्पत्ति का आधारभूत तत्त्व पूर्वजों की पूजा का भाव है। प्रत्येक परिवार के लोग अपने आदि-पुरखाओं को सम्मान की दृष्टि से देखते हैं। इन पुरखाओं को वे पूजने लगते हैं। इनकी पूजा करते-करते कालान्तर में ये पुरखा ही परमेश्वर बन कर पूजे जाने लगते हैं, और इन्हीं की पूजा में विधि-विधान उत्पन्न हो जाते हैं।

(ख) टायलर का जीववादी सिद्धान्त (Tylor's theory of animism or belief in spirits)—टायलर का कहना है कि स्वप्न के समय मनुष्य को अनुभव होता है कि वह शरीर से बाहर चला गया। स्वप्न आदि अनुभवों के आधार पर आदि-मानव ने यह कल्पना की होगी कि शरीर अलग है, और आत्मा अलग है। जैसे मेरा शरीर और मेरा आत्मा अलग-अलग हैं, इसी प्रकार दूसरों के शरीर और दूसरों के आत्मा भी अलग-अलग होने चाहिएँ[1]। जो लोग मर जाते हैं, उनका आत्मा जड़-जगत् की वस्तुओं में जाकर निवास करता है। जब आत्मा की शरीर से अलग सत्ता का विचार आदि-मानव ने पकड़ लिया, तो धर्म का विचार तो अपने-आप पैदा हो गया। धर्म की उत्पत्ति आत्मा के शरीर से अलग मानने से होती है। यह आत्मा जब जड़ वस्तुओं में जा बैठता है, तब इन जड़ वस्तुओं की पूजा करना भी स्वाभाविक है। असल में, जड़ वस्तु की पूजा नहीं की जाती, जड़ में बैठे आत्मा की पूजा की जाती है। जड़ में जाकर बैठने वाला यह आत्मा हमारा कोई पूर्वज ही होता है। एक तरह से जीववाद पूर्वज-पूजा का ही दूसरा रूप है। इन आत्माओं की पूजा से धर्म की उत्पत्ति होती है। ये आत्मा अनेक हैं—इससे 'बहु-देवतावाद' चलता है, और जब इनमें से किसी एक की पूजा चल पड़ती है, तब 'बहु-देवता-वाद' से 'एक-देवता-वाद' विकसित हो जाता है।

(ग) मैरेट का 'जीवित-सत्ता-वाद' या कोडरिंगटन द्वारा प्रतिपादित मलेनेशियनों का 'मैना' का सिद्धान्त या 'पारलौकिकवाद' (Theory of animat-

1. "Animism is a belief in individual spiritual beings, found among all peoples in primitive economies."

—*Jacobs and Stern.*

ism[1] of Marret or Mana of Melanesians described by Codrington or Supernaturalism)—टायलर का कहना तो यह है कि धर्म की उत्पत्ति आत्मा की उत्पत्ति के बाद हुई, परन्तु मैरेट का कहना है कि आदिवासियों में जड़ तथा चेतन पदार्थों को जीवित-सत्ता-युक्त माना जाता है। एक ऐसी सत्ता है जो भौतिक नहीं है, 'अभौतिक' (Non-material) है, व्यक्तिरूप भी नहीं है, 'अवैयक्तिक' (Impersonal) है। ईश्वर का विचार तो एक व्यक्ति-रूप विचार है, परन्तु आदिवासियों के विचार में इस पारलौकिक-सत्ता का रूप 'अपौरुषेय' (Non-individualized) है। इस 'अभौतिक-सत्ता' को वे 'पारलौकिक' अर्थात् 'दैवीय' (Spiritual) मानते हैं, 'सर्व-व्यापक' (All-pervading) मानते हैं। टायलर का 'जीववाद' (Animism) तो प्रत्येक व्यक्ति में अलग-अलग आत्मा मानता है, मैरेट का 'जीवित-सत्ता-वाद' (Animatism) एक ही अध्यात्म-सत्ता को सर्व-व्यापक मानता है। मैरेट का कहना है कि आदिवासियों में सर्वत्र यह 'जीवित-सत्तावाद' पाया जाता है। सर्वत्र 'जीवित-सत्ता' को मानना ही धर्म की उत्पत्ति का स्रोत है।

कौडरिंगटन ने पहले-पहल पता लगाया कि दक्षिण-तटवर्ती भिन्न-भिन्न जातियों में दैवीय-शक्ति का विचार धार्मिक-विचार के रूप में एक विशेष स्थान रखता है। इस शक्ति को वे जन-जातियाँ 'अवैयक्तिक-सत्ता' (Impersonal) मानती हैं। मैलेनेशिया की जन-जातियों में इस पारलौकिक-सत्ता को 'मैना' (Mana) कहा जाता है। 'मैना' का विचार सिर्फ़ मैलिनेशियावासी जन-जातियों में ही नहीं पाया जाता। अमरीकन-इंडियनों में भी इसी आशय के तीन शब्द पाये जाते हैं—'मनीटाउ' (Manitou), 'ओरेंडा' (Orenda) तथा, 'वाकन' (Wakan)। इन तीनों का अर्थ भी अवैयक्तिक, पारलौकिक सत्ता से है। इनका अर्थ 'अलौकिक-व्यक्ति' (Supernatural person) या 'परमात्मा' (God)—यह नहीं है। इनका अर्थ अपौरुषेय, अलौकिक, आध्यात्मिक सत्ता से है। मैरेट का 'जीवित-सत्ता-वाद' तथा कौडरिंगटन का 'मैना'—इन दोनों का एक ही अर्थ है। इन दोनों का अर्थ 'अलौकिक-शक्तियों' में विश्वास है, अतः इन दोनों को 'पारलौकिकवाद' (Supernaturalism) भी कहा जा सकता है। मैरेट तथा कौडरिंगटन का कथन है कि आदिवासियों का यही विचार धर्म का मूल-स्रोत है।

(घ) दुरखीम का 'समाजशास्त्रीय' सिद्धान्त (Durkheim's theory of Sociological origin of religion)—फ्रेंच समाजशास्त्री दुरखीम का कहना है कि आदि-मानव दो प्रकार का जीवन व्यतीत करता था। एक तो

---

1. "Animatism is a belief in the existence of non-material super-natural essence, force or power which resides in matter; also termed *mana*. *Jacobs and Stern.*

अपना वैयक्तिक, एकान्त का जीवन, दूसरा सामूहिक-जीवन। वैयक्तिक-जीवन में उसे कोई रस नहीं मिलता था, वह एक-रस, बिना उतराव-चढ़ाव का जीवन था। परन्तु जब वह सामूहिक-जीवन के किसी कृत्य में सम्मिलित होता था, तो उसे रस आता था, उसमें उत्साह भर जाता था। समूह में एक का उत्साह दूसरे में भर ही जाता है, समूह में सब का सम्मिलित उत्साह होता है। समूह में सम्मिलित होने के उसे अनेक अवसर मिलते थे। 'सामूहिक विधि-विधान' (Group rituals) तो धर्म की उत्पत्ति से पहले भी होते थे। अपने 'गोत्र-चिह्न' (Totem) के लोगों के एकत्रित होने के अनेक अवसर आते थे जिनमें सामूहिक आमोद-प्रमोद, मिलना-जुलना, विधि-विधान होता था। सामूहिक अवसरों पर आदि-मानव अपने में जो उत्तेजना पाता था, वह वैयक्तिक-जीवन की नीरसता को छिन्न-भिन्न कर देती थी। यही कारण था कि आदि-मानव सामूहिक विधि-विधान को जीवन में अधिक स्थान देने लगा, और इसी सामूहिक-जीवन से प्राप्त होने वाली उत्तेजना ने धर्म को जन्म दिया। आदिवासियों का धर्म भी तो सामूहिक-जीवन से प्राप्त होने वाली उत्तेजना के सिवाय कुछ नहीं, उनके जीवन में धर्म का रूप वैयक्तिक न होकर सामूहिक है। धर्म की उत्पत्ति के सम्बन्ध में दुरखीम का यह 'समाज-शास्त्रीय'-सिद्धान्त है।

(ङ) हाउर का रहस्यवाद (Mysticism of Hauer)—हाउर का कहना है कि किसी भी मानव-समुदाय में एक ऐसा वर्ग अवश्य होता है, जिसे रहस्यमय, अलौकिक अनुभव हुआ करते हैं, ऐसे अनुभव जिनका साधारण तौर पर कोई समाधान नहीं दिया जा सकता। किसी को कान में आवाजें सुनाई देती हैं, किसी को दिन में कई शक्लें दिखाई देती हैं। इन रहस्यमय अनुभवों को दूसरे भी प्राप्त करने का प्रयत्न करते हैं और इसी से धर्म तथा विधि-विधान उत्पन्न हो जाते हैं।

(च) भय से धर्म की उत्पत्ति का सिद्धान्त (Fear as origin of religion)—कई लोगों का कहना है कि आदि-मानव के हृदय में हर समय जो भय बना रहता था, कहीं इधर से आफ़त न आ जाये, उधर कहीं से न आ जाये, इसके निवारण के साधन के तौर पर धर्म की उत्पत्ति हुई। हम जिसकी पूजा करते हैं, वह हमारी भयानक संकटों से रक्षा करता है—यह भाव धर्म की भावना को जन्म दे देता है, इसी से पूजा-पाठ, विधि-विधान चल पड़ते हैं।

(छ) वैराग्य से धर्म की उत्पत्ति का सिद्धान्त (Dissatisfaction as origin of religion)—कुछ लोगों का कहना है कि मनुष्य जब संसार से दुःखी हो जाता है, तब इस पर भरोसा छोड़ कर और किसी चीज का भरोसा ढूँढने लगता है। इस ढूँढ में एक नहीं, कई लोग लगे होते हैं। उन सब को जिस बात में शान्ति मिलती है, वही उनका शान्ति का स्रोत बन जाता है। संसार के दुःख से बचने तथा वैराग्य की प्रक्रिया से धर्म की उत्पत्ति हुई है।

३. धर्म-संबन्धी मुख्य-मुख्य वाद
(Principal theories of Religion)

धर्म की उत्पत्ति के सम्बन्ध में हमने अनेक सिद्धान्तों की चर्चा की। ये सब एक-दूसरे के पूरक कहे जा सकते हैं, परन्तु हमारा इस समय लक्ष्य धर्म की उत्पत्ति कैसे हुई—इस बात को ढूँढना इतना नहीं है जितना आदि-काल से धर्म में मुख्य-मुख्य विचार क्या-क्या रहे हैं—यह पता लगाना है। आदिकालीन समाज में धर्म की उत्पत्ति के सम्बन्ध के उक्त सभी विचार कुछ-कुछ अंशों में ठीक हो सकते हैं, परन्तु हमें तो यह देखना है कि आदिकालीन-मानव के धर्म-सम्बन्धी विचार क्या थे। इस प्रकरण में हम आदि-काल के धर्म-सम्बन्धी मुख्य-मुख्य विचारों की चर्चा करेंगे :—

(क) 'जीववाद' का विकासवादी सिद्धान्त (Evolutionary theory of Animism)—हमने अभी धर्म की उत्पत्ति के सम्बन्ध में 'जीववाद' का वर्णन किया था। अब हम धर्म की उत्पत्ति के सिलसिले में इसका वर्णन न कर, आदि-कालीन-मानव के धर्म-सम्बन्धी विचारों में से एक विचार के तौर पर इसका वर्णन कर रहे हैं। पहले कई लोगों का विचार था कि आदिकालीन जन-जातियों में धर्म का विचार नहीं पाया जाता, परन्तु लगभग ८० वर्ष पहले विकासवादी टायलर (Tylor) ने इस मत का खण्डन किया। उसका कहना है कि आदि-वासियों में धर्म की उत्पत्ति का आधार 'आत्मा' अर्थात् 'जीव' (Animae) है, और इसी कारण टायलर के सिद्धान्त को 'जीववाद' (Animism) कहा जाता है। आदिकालीन-मानव को 'आत्मा'—'जीव'—का विचार कैसे सूझा? टायलर का कहना है कि मनुष्य सोते हुए भी अनेक काम करता है। जब वह सो रहा होता है, तब उसका शरीर तो एक जगह पड़ा होता है, परन्तु वह वहाँ पड़ा होने पर भी शिकार को जाता है, जानवर को मारता है, जागते हुए जो-कुछ करता था सभी-कुछ करता है। इससे आदिकालीन-मानव क्या परिणाम निकालता? वह इन स्वप्नों से इसके सिवाय क्या परिणाम निकाल सकता था कि शरीर से भिन्न शरीर में कोई और भी सत्ता विद्यमान है, जो स्वप्न में शरीर से बाहर चली जाती है। इस बात की उसे पुष्टि एक और बात से मिली होगी। स्वप्न में वह मरे हुए अपने पूर्वजों से, माता-पिता, जान-पहचान वालों से मिलता था, उनसे बात करता था। अगर वे शरीर के साथ खत्म हो गये, तो स्वप्न में उनसे भेंट कैसे हो जाती है? अवश्य वे किसी-न-किसी प्रकार बिना इस शरीर के मौजूद होंगे। कभी-कभी जागृत अवस्था में भी उसे अपने से बिछुड़े सगे-सम्बन्धियों का भान होता था। मेरे शरीर से अलग मैं कुछ हूँ—इस बात का भान उसे पद-पद पर होता था। तालाब के पानी में वह अपना प्रतिबिम्ब देखता था, जंगलों में जब ज़ोर से चिल्लाता था तब उसकी आवाज़ की प्रतिध्वनि उसे सुनाई देती थी, अपनी छाया को वह अपने से जुदा नहीं कर सकता था, वह सदा उसके साथ चिपटी रहती थी। आदि-काल के मानव के ये सब अनभव उसे सोच-

विचार में डाल देते थे। वह सोचने लगता था कि मेरे शरीर के अलावा भी मेरे साथ कोई अलग सत्ता है। इन सब अनुभवों के साथ उसने यह भी देखा कि मनुष्य मर भी जाता है। मरने पर क्या होता है? यह वही मनुष्य था जो पहले बोलता-चालता था, अब भी इसकी शक्ल-सूरत वैसी-की-वैसी है, परन्तु अब वह हिलता-जुलता क्यों नहीं, बोलता-चालता क्यों नहीं? अवश्य इसमें कोई अदृश्य वस्तु रही होगी जिसके कारण यह हिलता-जुलता, बोलता-चालता था, वह वस्तु निकल गई होगी, तभी तो यह वैसे-का-वैसा होता हुआ भी कुछ नहीं करता। इस सब विचार-विमर्श से आदिकालीन-मानव इसी परिणाम पर पहुँचा होगा कि शरीर से अतिरिक्त कोई अदृश्य सत्ता मौजूद रहती है, जिसके निकल जाने पर शरीर मृत हो जाता है। यह अदृश्य सत्ता ही आत्मा है।

जीववाद की आलोचना—परन्तु टायलर का कहना था कि आदिकालीन-मानव की विचार-परम्परा यहीं तक समाप्त नहीं हो गई होगी। उसने यह भी सोचना शुरू किया होगा कि निद्रा के समय भिन्न-भिन्न स्वप्न आने का कारण क्या है? वह इस नतीजे पर पहुँचा होगा कि सोते समय आत्मा के शरीर में से निकल कर भिन्न-भिन्न अनभव प्राप्त करना ही स्वप्नों का कारण हो सकता है। ये स्वप्न क्या हैं, आत्मा के शरीर में से निकल कर इधर-उधर विचरण करने के ये अनुभव हैं। जब हम सोते हैं, तब आत्मा शरीर में से बाहर चला जाता है और स्वतंत्र घूमा करता है। इसी कारण कई लोग सोते को एकदम जगाना ठीक नहीं समझते। एकदम जगाने से यह सम्भव हो सकता है कि घूमता-फिरता आत्मा शरीर में फौरन वापस न पहुँच सके। परन्तु फिर यह शंका होती है कि अगर सोते समय आत्मा शरीर में से निकल कर बाहर घूमने-फिरने चला जाता है, तो शरीर जिन्दा कैसे रहता है? टायलर का कहना है कि इस शंका का समाधान करने के लिए आदिवासियों में दो आत्मा माने जाते हैं—एक 'स्वतंत्र-आत्मा' (Free-soul) जो शरीर छोड़ कर जहाँ-कहीं आ-जा सकता है, दूसरा 'शारीर-आत्मा' (Body-soul) जो शरीर को छोड़ कर नहीं जा सकता, जिसके कारण शरीर जीवित कहलाता है, अगर वह शरीर को छोड़ कर चला जाय, तो शरीर मृत हो जाता है। क्या शरीर में से 'स्वतंत्र-आत्मा' (Free-soul) गया है, या 'शारीर-आत्मा' (Body-soul) भी निकल गया है—यह आदिवासियों के लिए एक समस्या रही होगी क्योंकि निश्चेष्ट तो मनुष्य निद्रा के समय भी हो जाता है। मृत-व्यक्ति कहीं निद्रा की अवस्था में ही न हो—इस सम्भावना को दूर करने के लिए कई आदिवासियों में दो मृतक-संस्कार पाये जाते हैं। एक मृतक-संस्कार हरा तथा दूसरा सूखा कहलाता है। हरा मृतक-संस्कार मरते साथ ही किया जाता है, परन्तु जब शरीर सूख जाता है, उसमें आत्मा के लौट आने की कोई सम्भावना नहीं रहती, तब सूखा मृतक-संस्कार किया जाता है। भारत की टोडा तथा हो जन-जातियों में इसी प्रकार के दो मृतक संस्कार किये जाते हैं। हो जन-जाति के लोग इस दूसरे शुष्क-संस्कार को 'जंगतोपा' कहते हैं। उनके यहाँ संसार की अवैयक्तिक-

सत्ता को 'बोंग' का नाम दिया जाता है। मृत्यु के बाद 'आत्मा' का इस 'बोंग' से सम्मिलन हो जाता है। शुष्क-मृतक-संस्कार करते हुए ढोल बजाया जाता है, उसमें से टोपम-जंगटोपम की आवाज निकाली जाती है। भारत की कोटा जन-जाति में हरे-संस्कार को 'पसदाउ' कहते हैं। इसे हरा इसलिए कहा गया है कि अभी शरीर हरा होता है, सूखा नहीं होता। कोटा लोग शुष्क-मृतक-संस्कार को 'वरलदाउ' कहते हैं। शुष्क-संस्कार होने के बाद आत्मा तथा शरीर का सम्बन्ध सदा के लिए टूट गया मान लिया जाता है। 'आत्मा' को ये लोग अमर मानते हैं। आत्मा को अमर मानने का कारण यह है कि अनेक बार अत्यन्त प्राचीन आत्माओं से स्वप्न में भेंट होती है। अगर वे नष्ट हो जाती हैं, तो यह भेंट कैसे हो सकती है ?

टायलर का कहना है कि आदिकालीन-धर्म का आधार इन 'आत्म-सत्ताओं' (Spiritual beings) के प्रति आतंक तथा श्रद्धा-भक्ति थी। ये आत्माएँ शरीर छोड़ने के बाद हमारे अधीन तो होती नहीं, स्वतंत्र विचरण करती हैं, हमें लाभ भी पहुँचा सकती हैं, हानि भी पहुँचा सकती हैं। इनकी तृप्ति, इनको आराधना, इनका सन्तोष करना इसलिए आवश्यक है ताकि ये हमें किसी प्रकार की हानि न पहुँचायें। क्योंकि ये आत्माएँ हमारे पूर्वजों की होती थीं, इसलिए इन्हीं की पूजा पहले-पहल चली होगी, और आदिकालीन-धर्म का रूप 'पूर्वज-पूजा' (Ancestor-worship) का रूप रहा होगा और आदिकालीन-मन्दिर का रूप इन पूर्वजों की कब्र की पूजा करने के कारण 'कब्र-पूजा' (Tomb-worship) का रूप रहा होगा। टायलर का कहना है कि धीरे-धीरे आत्म-पूजा से इन आत्माओं के सम्बन्ध में यह विचार उत्पन्न हो गया होगा कि ये ही संसार का शासन करती हैं। ये क्योंकि अनेक थीं, इसलिए अनेक जीवों को संसार का शासक मानने के कारण पहले 'जीववाद' (Animism) और फिर 'जीववाद' से 'बहु-देव-वाद' (Polytheism) उत्पन्न हुआ होगा, और 'बहु-देव-वाद' से आगे चलकर 'एक-देव-वाद' (Monotheism) का विकास हुआ होगा। टायलर की विचार-धारा विकासवादी विचार-धारा है और उसका दृष्टि-कोण विकासवादी दृष्टिकोण है।

इन आत्माओं के साथ आदिकालीन-मानव ठीक ऐसे बर्ताव करता था जैसे किसी व्यक्ति के साथ किया जाता है। कई लोगों का कहना है कि वह इनके प्रति भयभीत रहता था, इनका आतंक मानता था और भय तथा आतंक की भावना में मनुष्य जैसा व्यवहार कर सकता है वैसा व्यवहार करता था। परन्तु यह बात नहीं है। वह इनसे भयभीत तो रहता ही था, परन्तु समय-समय पर इन आत्माओं की मिन्नत-समाजत, इनकी खुशामद, और मौका हुआ तो इन पर अपना क्रोध भी प्रदर्शित करता था। आखिर, ये आत्माएँ वही तो थीं जो किसी समय इन मानव-देह में हमारे भीतर मौजूद थीं। बिस्मार्क द्वीप-समूहों में मानुस नाम की जन-जाति रहती है। ये लोग अपने किसी पूर्वज की खोपड़ी बहुत सम्भाल कर अपने घर में रखते हैं और आशा करते हैं कि यह पूर्वज उनकी समृद्धि में

उनकी सहायता करेगा। अगर वे अपने कार्यों में समृद्धि होते नहीं देखते तो किसी पुरोहित-पण्डित से पूछ कर उस पूर्वज की तृप्ति करने का प्रयत्न करते हैं, और अगर फिर भी उनका अभीष्ट सिद्ध नहीं होता तो इस पूर्वज को क्रोध में फटकारते हैं और कहते हैं कि अगर सीधे रास्ते पर न आयेगा तो याद रखना गली में फेंक दूँगा, वहाँ धूप-वर्षा में तड़पोगे, फिर अक्ल दुरुस्त हो जायगी। लेंगलंगा जन-जाति के लोग सामूहिक-नृत्य करते हुए अपने पूर्वजों की खोपड़ियों को सजा कर सामने रख लेते हैं और आशा करते हैं कि वे उनके नृत्य का आनन्द उठायेंगी। अपने यहाँ हिन्दुओं में पितरों की श्राद्ध द्वारा तृप्ति करने का प्रयत्न किया जाता है।

विकासवादी लोग यह मानते हैं कि विकास की जो प्रक्रिया किसी एक जगह चली, वही सब जगह चलती है, इसलिए धर्म के उत्पन्न होने तथा उसके विकास की वही दिशा है जो टायलर ने प्रतिपादित की है। परन्तु मानव-शास्त्री इस बात को नहीं मानते। घर में कुर्सी पर बैठे-बैठे सिद्धान्त बना डालना एक बात है, उस सिद्धान्त को समाज में परखना दूसरी बात है। जैसे विज्ञान के सिद्धान्त प्रयोगशाला में परखे जाते हैं, वहाँ ठीक उतरें तभी उन्हें सत्य कहा जाता है, वैसे मनुष्य के सम्बन्ध में जो सिद्धान्त बनाये जाते हैं, उनकी प्रयोगशाला वर्त्तमान जीवित जन-जातियाँ हैं। प्रश्न यह है कि क्या टायलर का धर्म-सम्बन्धी सिद्धान्त जन-जातियों की प्रयोगशाला में ठीक उतरता है? क्या उनमें धर्म के विचार का वैसा ही विकास हुआ है जैसा विकासवादी विचार-धारा के अनुसार बतलाया जाता है? इस कसौटी पर परखने से यह बात ठीक नहीं जँचती। कई जातियों में 'बहु-देव-वाद' पाया जाता है, तो कई में 'एक-देव-वाद' पाया जाता है, कई में 'जीववाद' पाया जाता है तो कई में 'चेतन-सत्ता-वाद' पाया जाता है। जन-जातियों में धर्म का विकास किसी एक विचार को लेकर हुआ नहीं दीखता। एक जगह का विचार दूसरी जगह चला गया, एक जगह एक विचार पैदा हुआ तो दूसरी जगह कोई और विचार उत्पन्न हो गया। मनुष्य की सोचने की शक्ति भिन्न-भिन्न है, इसलिए मनुष्य के विचार सदा विकासवादी दिशा में चलते रहे हों—यह नहीं जान पड़ता। इसके अतिरिक्त टायलर ने जो लम्बी-चौड़ी विचार-परम्परा बतलाई है, ठीक वैसे ही आदिकालीन-मानव ने सोचा—यह भी एक क्लिष्ट-कल्पना है। आदि-काल का मानव इतना लम्बा-चौड़ा नहीं सोचता था जितना टायलर ने सोचा। वह खाने-पीने की चिंता तथा व्यवस्था में इतना लगा रहता था कि उसे टायलर जैसा गम्भीर विचार करने का समय ही कहाँ मिलता होगा। इसका यह अभिप्राय नहीं कि टायलर के विकासवादी सिद्धान्त को विद्वान् नहीं मानते। मानते हैं, परन्तु इसे धर्म के सम्बन्ध में एकमात्र विचारधारा नहीं मानते।

(ख) 'जीवित-सत्ता-वाद' या मैनावाद' (Animatism or Manaism)—'जीवित-सत्ता-वाद' का जिक्र भी हम इसी अध्याय में धर्म की उत्पत्ति पर लिखते हुए कर आये हैं। 'जीवित-सत्ता-वाद' के तीन मुख्य समर्थक हैं—

मैरेट (Marret), कौडरिंगटन (Codrington) तथा मैक्समूलर (Max Muller)। इन तीनों की बात एक ही है, परन्तु कहने का ढंग अलग-अलग है। हम इन तीनों के विचारों को संक्षेप में लिखेंगे।

(i) मैरेट का 'जीवित-सत्ता-वाद' (Marret's animatism)—'जीववाद' (Animism) के अनुसार तो हर प्राणी में पृथक्-पृथक् आत्मा है, परन्तु मैरेट का कहना है कि आदिवासियों में इस विचार से भी पहले का विचार 'जीवित-सत्ता' का विचार है। मैरेट के कथनानुसार आदिकालीन लोग जड़-चेतन सब पदार्थों में एक अनिर्वचनीय, अवैयक्तिक, अप्राकृतिक, अलौकिक तथा दैवीय जीवित सत्ता में विश्वास करते हैं। संसार में जो-कुछ भी है, उसमें यह अलौकिक सत्ता वास करती है। यह सत्ता इन्द्रिय-ग्राह्य नहीं है, परन्तु अपने-आप को भौतिक-शक्ति के रूप में प्रकट करती है। संसार की हर वस्तु में यह सत्ता विद्यमान है, किसी में कम और किसी में ज्यादा हो सकती है। इसी सत्ता को मैलेनेशिया के आदिवासी लोग 'मैना' कहते हैं।

(ii) कौडरिंगटन का 'मैनावाद' तथा डा० मजूमदार का 'बोंगवाद' (Codrington's Manaism and Majumdar's Bongaism)—'जीवित-सत्ता-वाद' (Animatism) तथा 'मैनावाद' (Manaism) का एक ही अर्थ है। 'मैना' के सिद्धान्त की तरफ़ कौडरिंगटन ने अपनी पुस्तक 'मैलेनेशियन्स' द्वारा विद्वानों का ध्यान विशेष रूप से आकर्षित किया। 'मना' मैलेनेशियन जन-जातीय भाषा का शब्द है जिसका अर्थ उसी अनिर्वचनीय, अवयक्तिक, अप्राकृतिक, अलौकिक दैवीय-सत्ता से है, जिसका हम अभी 'जीवित-सत्ता-वाद' के नाम से वर्णन कर आये हैं। जैसे मैलेनेशिया के लोग इस सत्ता के लिए 'मैना'-शब्द का प्रयोग करते हैं, वैसे अमरीकन-इण्डियन इसके लिए 'मनीतऊ' (Manitou), 'ओरेंडा' (Orenda) तथा 'वाकन' (Wakan) शब्दों का प्रयोग करते हैं। ये सब शब्द 'अलौकिक-शक्ति' (Supernatural power) के लिए प्रयुक्त किये जाते हैं। इनका अर्थ 'अलौकिक-व्यक्ति' न होकर 'अलौकिक-शक्ति' है। इस दृष्टि से अपने यहाँ जो लोग ईश्वर को व्यक्ति-विशेष न मान कर शक्ति-रूप मानते हैं उनके विचार से आदिवासियों का 'मैना' का विचार बहुत-कुछ मिलता-जुलता है। उक्त शब्दों का प्रयोग जड़ तथा चेतन दोनों के लिए किया जाता है—'आश्चर्यजनक', 'विचित्र' आदि अर्थों में भी इनका प्रयोग होता है। हरस्कोविट्स (Herskovits) का कहना है कि आजकल 'लक'—'भाग्य'—'दैव' आदि शब्दों का हम लोग इन्हीं अर्थों में प्रयोग करते हैं। 'लक' या 'भाग्य' क्या है ? 'भाग्य' ही तो सब का शासन करता है, 'भाग्य' के ही सब आधीन हैं, इसी प्रकार 'मैना' ही शासन करता है, 'मैना' के ही सब आधीन हैं। जैसे पत्थर में कठोरता है, घास में हरियावल है, वैसे संसार की हर वस्तु में 'मैना' है। आदिवासियों में तथा वर्तमान अपढ़ लोगों में भी तावीज़ काम में लाये जाते हैं। किसी तावीज़ की पशु की-सी आकृति होती है। इस तावीज को अगर कमर में बांध

कर ले जाँय, तो शिकार में सफलता मिलती है। अगर तावीज की आकृति किसी फल की-सी है, तो उसे वृक्ष की जड़ में दबा देने से वृक्ष अपनी मौसम में फलों से लद जाता है। तावीज की यह शक्ति 'मैना' की ही शक्ति है। पुरोहित में आदि-वासी किस बात की शक्ति मानते हैं? उसकी तीव्र स्मृति-शक्ति, उसका विशाल ज्ञान, उसकी बुद्धि की प्रखरता, उसकी 'मैना-शक्ति' के कारण ही हैं। विधि-विधान के विषय में पुरोहित की जितनी निपुणता होती थी, उतनी ही उसकी 'मैना-शक्ति' भी उच्च-कोटि की समझी जाती थी। मैनावादियों का कहना है कि प्रकृति में चेतन-सत्ता अर्थात् मैना की अनुभूति ने ही आदिवासियों में धर्म की भावना को जन्म दिया है।

डा० मजूमदार भारत की आदिवासी जातियों का अध्ययन करते हुए इस परिणाम पर पहुँचे हैं कि जिस शक्ति को मैलेनेशियन लोग 'मैना' कहते हैं, उसे छोटा नागपुर की मुँडा तथा हो जन-जातियों में 'बोंग' कहा जाता है। 'बोंग' का इन जन-जातियों में वही अर्थ है, जो अर्थ 'मैना' का है। इस दृष्टि से डा० मजूमदार ने 'मैनावाद' (Manaism) की तरह 'बोंगवाद' (Bongaism) शब्द की रचना की है। 'बोंग' अलौकिक-शक्ति का सूचक शब्द है। मुँडा तथा हो जन-जातियों में अद्भुत शक्ति की हर-कोई चीज 'बोंग' कही जाती है। वे साइकिल और इंजिन को भी 'बोंग' कहते हैं, अब तो हवाई जहाज के रूप में बहुत बड़ा 'बोंग' निकल आया है। मनुष्य मनुष्य में भेद इसी 'बोंग' के कारण है। कोई बड़ा है, कोई छोटा--यह सब 'बोंग' की महिमा है।

(iii) मैक्समूलर का प्रकृतिवाद (Max Muller's Naturalism)--मैक्समूलर का प्रकृतिवाद भी 'जीवित-सत्ता-वाद' का ही एक रूप है। प्रकृति को देख कर आदि-काल के मानव के मन में भय, आतंक, आश्चर्य होना स्वाभाविक था। इन मानसिक-भावनाओं के कारण वह प्रकृति से ऐसे डरने लगा जैसे किसी जानवार से डरता था, उनकी इस प्रकार भक्ति करने लगा जैसे अपनी जाति के किसी महान् व्यक्ति की करता था। सूर्य, पृथिवी, चाँद, वायु आदि प्राणवान् हैं, प्रकृति की सब शक्तियों में वैसी ही प्राणवान् सत्ता है जैसी मनुष्य में है--यह विचार धर्म की भावना का मूल-प्रवर्त्तक है। मैक्समूलर का कहना है कि आदि-मानव प्राकृतिक-तत्त्वों को प्राणवान् समझता था, यह बात भाषा की रचना से भी पुष्ट होती है। वह कहता था---सूर्य उदय होता है, अस्त होता है, फूल खिलता है, वायु चलती है। हम भी उसी अपने पूर्वजों की आदिकालीन परम्परा के पीछे चलते हुए इसी प्रकार की भाषा का प्रयोग करते हैं। इन सब प्रयोगों की आधारभूत भावना प्राकृतिक-जगत् को जीवित, प्राणवान् तथा चेतन समझना है।

जीवित-सत्तावाद की आलोचना---मैरेट तथा मैक्समूलर का यह कहना कि आदिकालीन मानव ने ऊहापोह करके 'जीवित' या 'चेतन-सत्ता' के विचार को जन्म दिया, उस मानव को एक दार्शनिक तथा तार्किक बना देना है। अगर वह आदिकालीन मानव ही था, तो वह इतना तर्क कैसे करने लगा? इसके अतिरिक्त

मैक्समूलर का यह कहना कि भाषा इस बात को पुष्ट करती है कि आदिकालीन-मानव प्रकृति को प्राणवान् समझता था, युक्तियुक्त नहीं है। आलंकारिक तौर पर भी इस तरह की भाषा का प्रयोग किया जा सकता है, और सूर्य को प्राणवान् न समझते हुए भी सूर्य उदय होता है--इस प्रकार की भाषा का प्रयोग हो सकता है।

(ग) जीववाद तथा जीवित-सत्ता-वाद में भद (Distinction between animism and animatism)--'जीववाद' (Animism) का अर्थ है आत्माओं में विश्वास। जीवित तथा मृत देह के भेद को देख कर 'आत्मा' के विचार का उदय हुआ। ये आत्मा अनेक हैं, अप्राकृतिक हैं, अदृश्य हैं, इन्हें हाथ से स्पर्श नहीं किया जा सकता। आत्मा पूर्वज, भत, प्रेत, जिन, राक्षस, पिशाच किसी भी रूप में हो सकता है; वृक्ष, पशु, पक्षी, चट्टान किसी में भी रह सकता है। टायलर का कहना है कि आत्माओं के सम्बन्ध में इस विचार से ही धर्म का विचार उत्पन्न हुआ, परन्तु धर्म का, ईश्वर का, अनेक ईश्वर या एक ईश्वर का विचार उत्पन्न होने से पहले अच्छे आत्माओं और बुरे आत्माओं में भेद का विचार उत्पन्न हो गया था। जैसे मनुष्य अच्छे तथा बुरे होते हैं, वैसे उनके आत्मा भी अच्छे तथा बुरे हो सकते हैं। इन अच्छे तथा बुरे आत्माओं के विचार से ही भगवान् तथा शैतान का विचार उत्पन्न हुआ। विकासवादियों के कथनानुसार धर्म इसी 'जीववाद' से उत्पन्न हुआ।

'जीवित-सत्ता-वाद' (Animatism) का अर्थ आत्माओं में नहीं, परन्तु सृष्टि में चेतन-सत्ता में विश्वास है। आत्मा वैयक्तिक होती हैं, जो आदिवासी सृष्टि में चेतन-सत्ता मानते हैं, वे इसे अवैयक्तिक मानते हैं। आत्मा अनेक हैं, जीवित, अर्थात् चेतन-सत्ता अनेक नहीं है, अनेक वस्तुओं में यह एक है। आत्मा तथा चेतन-सत्ता दोनों अप्राकृतिक तथा अदृश्य हैं--इस बात में दोनों में समानता भी है। आत्मा सर्व-व्यापक नहीं है, हर-एक वस्तु में अलग-अलग है; चेतन-सत्ता सर्व-व्यापक है, हर-एक वस्तु में अलग-अलग न होकर एक ही जीवित अर्थात् चेतन-सत्ता है। मैरेट तथा कौडरिंगटन के कथनानुसार आदिवासियों का 'मैना' का विचार 'जीवित-सत्ता-वाद' का ही विचार है। इन लोगों का कहना है कि 'जीवित-सत्ता-वाद' का विचार पहले था, उसके बाद हर वस्तु में अलग-अलग आत्मा के विचार, अर्थात् 'जीववाद' का जन्म हुआ। 'मैना' अर्थात् 'जीवित-सत्ता' के विषय में सब से बड़ी बात इसका अवैयक्तिक होना है। 'मैना'-शब्द विशेषण के तौर पर भी प्रयुक्त होता है--विचित्र, आश्चर्यजनक आदि के अर्थ में इस शब्द का प्रयोग होता है। जैसे पत्थर में कठोरता, घास में हरियावल पाई जाती है, वैसे सृष्टि में मैना पायी जाती है, शक्ति पायी जाती है। एस्किमो जन-जाति के लोग दीर्घ-जीवन प्राप्त करने के लिए अपने कपड़ों में आग में से पत्थर का टुकड़ा सी लेते हैं। उनका विचार है कि इस पत्थर में इसके 'मैना' के कारण ही आग का असर नहीं होता, और इसे अपने साथ रखने से हमें भी पत्थर का-सा दीर्घ-जीवन प्राप्त होगा।

शुरू-शुरू में जब 'जीववाद' (Animism) तथा 'जीवित-सत्ता-वाद' (Animatism) उत्पन्न होते हैं, तब ये धर्म का अंग नहीं होते। आगे चलकर इनसे धर्म की भावना उत्पन्न हो जाती है। 'जीववाद' तथा 'जीवित-सत्ता-वाद' एक ही काल में भी साथ-साथ रह सकते हैं, अलग-अलग भी रह सकते हैं। यह हो सकता है कि एक जन-जाति 'जीववाद' को मानती हो, 'जीवित-सत्ता-वाद' को न मानती हो; यह भी हो सकता है कि कोई जन-जाति 'जीवित-सत्ता-वाद' को मानती हो, 'जीववाद' को न मानती हो; यह भी हो सकता है कि कोई जन-जाति 'जीवित सत्ता-वाद' तथा 'जीववाद' दोनों को मानती हो। इससे इन दोनों का भेद स्पष्ट है।

(घ) दुरखीम, मैलिनोवस्की तथा रेडक्लिफ़-ब्राउन का समाज-शास्त्रीय-सिद्धान्त (Sociological or Functional theory of Durkheim and others)—टायलर तथा मैरेट ने धर्म पर इसकी उत्पत्ति के दृष्टिकोण से विचार किया है। दुरखीम तथा उसी की तरह के अन्य समाजशास्त्रियों का कहना है कि धर्म उत्पन्न किसी भी तरह क्यों न हुआ हो, हमें इसकी उत्पत्ति के तरीके की बहस में न पड़ कर यह देखना है कि धर्म का समाज में क्या 'कार्य' (Function) है, यह क्या-कुछ करता है? धर्म पर इसके कार्य की दृष्टि से तीन समाजशास्त्रियों ने विचार किया है—दुरखीम, मैलिनोवस्की तथा रैडक्लिफ़-ब्राउन। इनके विचार क्या हैं?

(i) दुरखीम का सामूहिक-चेतना की सर्व-शक्तिमत्ता का विचार (Durkheim's omnipotence of the group-mind)—दुरखीम का कहना है कि आदिकालीन-मानव उत्सवों, त्यौहारों तथा सामाजिक मेल-जोल के अवसरों पर जब इकट्ठे होते थे, तब वे समूह की अद्वितीय, अलौकिक शक्ति का अनुभव करते थे। समूह मिल कर अनेक ऐसे काम कर सकता था जो अलग-अलग व्यक्ति करने में असमर्थ थे। इस दृष्टि से धर्म क्या है? धर्म है समूह तथा समाज के भौतिक तथा नैतिक दृष्टि से व्यक्ति की अपेक्षा अधिक शक्तिशाली होने की स्वीकृति।

दुरखीम ने अपने समाजशास्त्रीय विवेचन में धर्म को दो भागों में बाँटा है—'विश्वास' (Beliefs) तथा 'विधि-विधान' (Rituals)। 'विश्वास' दो तरह के हो सकते हैं—'पवित्र-विश्वास' (Sacred beliefs) तथा 'दूषित-विश्वास' (Profanc beliefs)। इनमें से 'पवित्र-विश्वास' से धर्म तथा 'दूषित-विश्वास' से जादू-टोने का विचार उत्पन्न होता है। ये विश्वास चाहे पवित्र हों, चाहे दूषित, ये दोनों धर्म के विचारात्मक पहलू हैं। इन विचारात्मक पहलुओं के साथ-साथ धर्म का क्रियात्मक पहलू भी होता है जिसे 'विधि-विधान' (Rituals) कहते हैं। इस प्रकार धर्म में विचार तथा क्रिया दोनों मिल जाती हैं। ये विचार तथा क्रिया मिलकर धर्म के रूप में समाज में अपूर्व-शक्ति का संचार कर देते हैं, ऐसी शक्ति का जो व्यक्ति में अलग-अलग तौर पर नहीं पायी जाती। इसी शक्ति से प्रभावित होकर धार्मिक लोग ऐसे महान् कार्य कर जाते हैं

जिन्हें देख कर हमें आश्चर्य होने लगता है। धर्म के आवेश में लोग आग में जल गये हैं, तलवार के घाट उतर गये हैं, ईंटों की दीवारों में जीवित चिने गये हैं।

(ii) मैलिनोवस्की का परिष्कृतिवाद (Malinowski's cathartic theory of religion)—मैलिनोवस्की का कहना है कि आदिकालीन-मानव जब शिकार खेलने को निकलता था, या मछली पकड़न के लिए नौका समुद्र में डाल कर चलता था, तो उसे सदा इस बात का भय बना रहता था कि वह लौट कर आयेगा या नहीं। वह हर समय ख़तरे से घिरा रहता था। अगर मनुष्य को हर समय किसी-न-किसी प्रकार का ख़तरा बना रहे या वह किसी भी मानसिक उद्वेग के कारण तनाव की हालत में रहे, तो वह कोई काम नहीं कर सकता। धर्म का काम उस काल के मनुष्य के इस मानसिक-तनाव, इस उद्वेगात्मक-स्थिति को दूर करना, इसे परिष्कृत कर देना था, उसके मन में से निकाल कर मन को हल्का कर देना था। मनुष्य जब भगवान् के भरोसे सब-कुछ छोड़ कर चलता है, तब वह समझ लेता है कि अब उसके रास्ते के सब काँटे दूर हो गये। संक्षेप में, हम कह सकते हैं कि मनुष्य का मन जब भय आदि मानसिक उद्वेगों से डाँवाडोल होता है, उस समय धर्म मनुष्य तथा पारलौकिक-शक्ति में एक ऐसा सम्बन्ध स्थापित कर देता है जिससे उसके मन की अशान्ति दूर हो जाती है।

(iii) रैडक्लिफ़-ब्राउन का सामाजिक अति-जीवन का विचार (Radcliffe-Brown's theory of social survival)—रैडक्लिफ़-ब्राउन का कहना है कि धर्म का कार्य मनुष्य के मन में से भय आदि को निकालना नहीं, परन्तु उसके मन में अपने को समाज के ऊपर निर्भर कर देने की भावना को भर देना है। संसार की जद्दोजहद में मनुष्य अगर जीवित रहना चाहता है, तो सिर्फ़ अपने बूते पर तो बच नहीं सकता, उसे समूह का सहारा लेना पड़ता है। परन्तु समूह उसकी रक्षा करे इसके लिए व्यक्ति को भी तो समूह के लिए त्याग करना होगा। मुश्किल यह है कि समूह के लिए त्याग किये बिना व्यक्ति की रक्षा नहीं हो सकती, परन्तु फिर भी व्यक्ति समूह के लिए त्याग करने को तैयार नहीं होता, घबराता है। अगर हर व्यक्ति ऐसा ही करे, समूह के लिए कोई व्यक्ति त्याग न करे, तो न तो समूह बना रहे, न व्यक्ति की ही रक्षा हो सके। ऐसी हालत में, व्यक्ति तथा समूह दोनों के बने रहने के लिए, दोनों के 'अति-जीवन' (Survival) के लिए ऐसी विचार-धारा का होना जरूरी है जिसके कारण अगर समाज के लिए हितकर कार्यों के लिए व्यक्ति को अपने स्वार्थों का त्याग करना पड़े, तो वह इच्छा-पूर्वक करता रहे। यही विचार-धारा धर्म कहलाती है। इस विचार-धारा में यह माना जाता है कि अगर व्यक्ति सामाजिक विधि-विधानों को, समाज के रीति-रिवाजों को न मानेगा, उन्हें न करेगा, तो वह दैवीय-शक्ति के कोप का भाजन बनेगा। दैवीय-कोप से बचने के लिए वह समाज के रीति-रिवाजों को, सामाजिक-प्रथाओं को जिनमें व्यक्ति को त्याग भी करना पड़ता है, इच्छा-पूर्वक करने लगता है। इस दृष्टि से रैडक्लिफ़-ब्राउन का कहना है कि धर्म का काम व्यक्ति

को अपने को समाज में जीवित रखने के लिए, अपने 'अति-जीवन' के लिए प्रेरित करना है।

समाजशास्त्रीय विचार की आलोचना—समाजशास्त्रियों के उक्त तीनों विचारों के विषय में यही कहा जा सकता है कि इनमें से अलग-अलग कोई सर्वथा सत्य नहीं है। धर्म का काम उक्त तीनों प्रकार का कहा जा सकता है। धर्म व्यक्ति के जीवन में असीम शक्ति का संचार भी करता है, उसकी मानसिक द्विविधा को भी दूर करता है और उसे अपने अति-जीवन के लिए सामूहिक-हित के कार्यों में स्वार्थ-त्याग के लिए भी प्रेरित करता है।

(ङ) बहु-देवता-वाद (Polytheism)—पारलौकिक या अलौकिक-सत्ता में विश्वास के जिन प्रकारों का हम उल्लेख कर आये हैं, उनके अतिरिक्त अलौकिक-सत्ता में विश्वास का एक अन्य रूप भी है जिसे 'बहु-देवता-वाद' कहा जाता है। ईजिप्ट, मैसेपोटामिया, ग्रीस, रोम, भारत आदि सभी देशों में इस प्रकार का अनेक दैवीय-सत्ताओं में विश्वास पाया जाता है। टायलर तथा अन्य विकासवादियों का कहना तो यह है कि अनेक दैवीय-सत्ताओं में विश्वास का विचार 'जीववाद' (Animism) का ही विकसित रूप है। पहले अनेक आत्माओं, भूत-प्रेतों में विश्वास का विचार पैदा हुआ, उसी से अनेक देवताओं के विश्वास का जन्म हुआ।

बहु-देवतावाद की आलोचना—मानव-शास्त्री लोग विकासवादियों की इस विचार-धारा से सहमत नहीं हैं। अगर यह सिद्ध किया जा सके कि आदिकालीन अर्थ-व्यवस्था के लोगों में, फल-मूल एकत्रित करने वाले लोगों में अनेक आत्माओं का विश्वास प्रचलित था, और कृषि तथा पशु-पालन की अर्थ-व्यवस्था के लोगों में अनेक देवताओं का विश्वास पैदा हो गया, तब तो विकासवादियों के सिद्धान्त की पुष्टि हो जाती है, परन्तु ऐसी कोई बात सिद्ध नहीं होती। आदिवासियों में अनेक आत्माओं की सत्ता में विश्वास के बिना भी 'बहु-देवता-वाद' में विश्वास पाया जाता है।

(च) एक-देवता-वाद (Monotheism)—विकासवादियों का विचार है कि एक-देवता-वाद आदिकालीन-मानव की उपज न होकर वर्त्तमान-कालीन उपज है।

एक-देवतावाद की आलोचना—मानव-शास्त्री इस बात को नहीं मानते। मानव-शास्त्रियों का कहना है कि जीवित-जातियों में 'जीववाद', 'जीवित-सत्ता-वाद', 'बहु-देवता-वाद' तथा 'एक-देवता-वाद'—सभी एक-साथ पाये जाते हैं। अलौकिक-शक्ति के सम्बन्ध में इन चारों वादों का एक-साथ एक ही समय में पाया जाना इस बात को सिद्ध करता है कि इनका एक-दूसरे से क्रमिक विकास नहीं हुआ, परन्तु या तो ये एक-साथ रह सकते हैं, या इनका भिन्न-भिन्न स्थानों से 'प्रसार' होता है, और ये सभी विचार एक जगह आकर इकट्ठे हो जाते हैं। विकासवादियों का यह कहना भी युक्ति-संगत नहीं प्रतीत होता कि एक-देवता-वाद बहु-देवता-वाद

का ही परिणाम है क्योंकि यह भी सम्भव हो सकता है कि अनेक स्थानों के एक-देवता-वाद जब कहीं एक स्थान पर पहुँचे हों, तो वहाँ अनेक एकों के मिलने से उन सब की पूजा चल पड़ने के कारण 'बहु-देवता-वाद' उत्पन्न हो गया हो।

(छ) अनेकैक–देवतावाद (Henotheism)—मैक्समूलर का कहना है कि कभी-कभी अनेक देवताओं तथा एक देवता का विश्वास इकट्ठा भी रहता है। लोग अनेक देवताओं में विश्वास करते हैं, परन्तु उनमें से किसी एक को सब से प्रधान मानते हैं, इसे 'अनेकैक' अर्थात् 'अनेकों में एक'—(Henotheism) कहा जाता है। इस प्रकार की अनेकों में एक की पूजा वेद में सर्वत्र पायी जाती है। वेद में अनेक देवताओं का उल्लेख है, परन्तु उनमें इन्द्र को सबसे प्रमुख स्थान दिया जाता है। वेदों में अनेक देवताओं का वर्णन देख कर कई विद्वानों ने उनमें 'अनेक-देवता-वाद' का होना सिद्ध किया है, परन्तु वेदों का 'अनेक देवता-वाद' विद्वानों के लिए एक समस्या है। वेद में जब सूर्य का वर्णन किया जाता है, तब उसे ही सब देवताओं का उत्पादक, सब देवताओं का मुख्य कहा जाता है, जब इन्द्र का वर्णन किया जाता है, तब इन्द्र को सभी-कुछ कह दिया जाता है। अगर वेदों में 'अनेक-देवता-वाद' होता, तो सब देवताओं का पृथक्-पृथक् नाम होने के साथ उनके गुणों का भी तो पृथक् ही वर्णन होता। ऐसी बात नहीं है। जो गुण एक देवता के हैं, वही सब गुण अन्य देवताओं के हैं। इस उलझन का समाधान करने के लिए मैक्समूलर ने वेदों के ईश्वरवाद को 'अनेकैकवाद' (Henotheism)[1] का नाम दिया है। उसका कहना है कि वे मानते तो अनेक देवताओं को थे, परन्तु जब किसी एक का वर्णन करने लगते थे तब उसी को सब-कुछ बना देते थे, और अन्य देवताओं को उससे हीन कहने लगते थे। यह बात किसी एक देवता के साथ न थी, सब देवताओं के साथ थी।

अनेकैक-देवतावाद की आलोचना—मैक्समूलर का यह सिद्धान्त वेदों के अनुशीलन करने से ठीक नहीं प्रतीत होता। इसका कारण यह है कि वेदों में अनेक देवता न होकर एक ही देवता के अनेक नाम हैं। 'एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्ति अग्निं यमं मातरिश्वानमाहुः'—देवता तो एक ही है, परन्तु उसका भिन्न-भिन्न नामों से स्मरण किया जाता है। जैसे एक ही व्यक्ति को किसी सम्बन्ध से पिता, किसी सम्बन्ध से पुत्र, किसी सम्बन्ध से चाचा और किसी सम्बन्ध से ताया पुकारा जाता है, इसी प्रकार वेदों में एक ही सत्ता को भिन्न-भिन्न गुणों के कारण भिन्न-भिन्न नाम दिये गये हैं। इस बात को न समझने के कारण पाश्चात्य-विद्वान् वेदों के एकेश्वरवाद को कभी 'बहु-देवता-वाद' और कभी 'अनेकैकवाद' कह देते हैं।

---

1. Henotheism=Greek word : *Henos*, one; *theos*, God. (संस्कृत—द्यौ, दिव्य, देव)

४. आदिकालीन धर्मों के समान-तत्त्व (Common elements in religions)

संसार के आदिकालीन-धर्मों में अनेक समानताएं हैं। आदिकालीन-धर्मों का अध्ययन करते हुए इन समानताओं की तरफ़ ध्यान देना आवश्यक है, क्योंकि ये तत्त्व बहुधा वर्त्तमान-कालीन धर्मों में भी पाये जाते हैं। आदिकालीन धर्मों में समान-तत्त्व निम्न हैं :—

(क) विधि-विधान तथा संस्कार (Ceremonials and Rituals)—सब धर्मों में संस्कार, विधि-विधान पाये जाते हैं, परन्तु यह समझना ग़लत है कि संस्कारों तथा विधि-विधानों का सम्बन्ध सिर्फ़ धर्म से है। विधि-विधान तथा संस्कार का सम्बन्ध धर्म से उतना नहीं जितना बाह्य दिखावट तथा आडम्बर से है। आडम्बर से, बाहर की टीप-टाप से मनुष्य पर प्रभाव पड़ता है। मनुष्य स्वयं जो-कुछ है वह तो है ही, परन्तु मनुष्य-मनुष्य तो सब बराबर हैं, जब तक आडम्बर न किये जाँय, बाहर की शान-शौकत न दिखाई जाय, अपना वैभव न प्रदर्शित किया जाय, तब तक कोई रौब आसानी से नहीं मानता। इसी लिए धार्मिक तथा लौकिक कृत्यों में विधि-विधान, आडम्बर, टीप-टाप की जाती है। धर्म के विधि-विधान तथा संस्कार तो प्रसिद्ध ही हैं, परन्तु लौकिक-कृत्यों में कम आडम्बर नहीं किये जाते। हर देश का राष्ट्रपति पार्लियामेंट का उद्घाटन करता है, सजे-बजे घोड़ों की सवारियों पर रंग-बिरंगे बाँको पगड़ी के सवार आगे-आगे अजब-सी शक्लें बनाये निकलते हैं—यह सब बाह्य उपचारों द्वारा रौब डालने का तरीका है, जो संसार में सब जगह पाया जाता है।

इस विधि-विधान में रौब को बढ़ाने के लिए हर बात पर आवश्यकता से ज्यादा बल दिया जाता है। किसी समारोह का उद्घाटन करना हो, तो सभापति अमुक जगह पर बैठेगा, उसके पास अमुक बैठ सकेगा, गद्दा होगा या कुर्सी होगी—सब बातों की छान-बीन करके सारा प्रोग्राम बनाया जाता है। धार्मिक-कृत्यों में इधर जल छिड़कना, अग्नि के उत्तर में या दक्षिण में आहुति देना—ये सब करना पड़ता है। किस प्रकार किसी लौकिक या धार्मिक कृत्य को करना—इसके नियमों के अलावा इन दोनों प्रकार के कृत्यों में कई लाक्षणिक-कार्य भी करने आवश्यक होते हैं, जिनका अर्थ तो हमें पता नहीं होता, परन्तु उन्हें करना जरूरी होता है। विवाह के समय हिन्दुओं में नव-ग्रह पूजा है, और इसी प्रकार के अन्य विधि-विधानों के समय के अनेक कार्य हैं, जिनके करने से ही संस्कार पूर्ण कहा जा सकता है। इन सब से संस्कार में अलौकिकता का समावेश हो जाता है।

संस्कारों, विधि-विधानों के इस अलौकिक प्रभाव को देख कर ही दुरखीम (Durkheim) का कहना है कि इनके अलौकिक प्रभाव से ही धर्म का विचार उत्पन्न हो जाता है। पहले तो ये विधि-विधान लौकिक-उत्सवों, समारोहों में होते हैं, परन्तु इनसे जो सामूहिक-उत्तेजना उत्पन्न होती है, और उस उत्तेजना का मनुष्य पर जो चमत्कारी प्रभाव पड़ता है, वह अनहोनी कर गुजरता है, उससे

धर्म का विचार जन्म ले लेता है। आदिवासियों में धर्म का स्वरूप विधि-विधान तथा संस्कारों के सिवाय क्या है? इन्हीं से तो उनका धर्म बनता है। लोई (Lowie) का कहना है कि विधि-विधान तथा संस्कारों में जो टीप-टाप तथा आडम्बर दिखाई देता है उसका धर्म से कोई सम्बन्ध नहीं। टीप-टाप से मनुष्य स्वभावतः प्रभावित होता है—सिर्फ़ इसीलिए टीप-टाप को शुरू करता है। असल में, दुरखीम तथा लोई दोनों का दृष्टिकोण ठीक है। जब लोग विधि-विधानों में मिल कर काम करते हैं, तब उससे धर्म का विचार उत्पन्न हो जाता है—दुरखीम का यह विचार भी ठीक है, और धार्मिक विधि-विधानों की धार्मिकता से लोग इतने आकर्षित नहीं होते, जितने उसकी बाहर की टीप-टाप से, जिसका धर्म से कोई सम्बन्ध नहीं, आकर्षित होते हैं—लोई का यह विचार भी ठीक है।

कई लोगों का कहना है कि विधि-विधानों, संस्कारों का उद्भव किन्हीं विशेष उद्देश्यों से होता है। उद्देश्य मुख्य है, उस उद्देश्य को अपने में लिये बैठने वाला विधि-विधान गौण है। यह बात हो सकती है, परन्तु मानव-शास्त्रियों का कहना है कि संसार की आधुनिक तथा प्राचीन मानव-जातियों के विधि-विधानों को देखने से तो यह प्रतीत होता है कि इन विधि-विधानों, संस्कारों का उद्देश्य सब जगह गौण है, विधि-विधान, संस्कार, तथा उनका बाह्य रूप ही मुख्य है। उदाहरणार्थ, डकोटा, क्रो आदि जन-जातियों में 'सूर्य-नृत्य' एक विधि है, संस्कार है। अगर किसी मतलब से, किसी उद्देश्य से, किसी प्रयोजन से यह प्रारम्भ हुआ था, तो इन सब जन-जातियों का प्रयोजन एक ही होना चाहिए था, परन्तु ऐसी बात नहीं है। डकोटा जन-जाति में इसका उद्देश्य शिक्षा की दीक्षा को सफलतापूर्वक प्राप्त करना है, क्रो जन-जाति में इसका उद्देश्य चचा का अपने भतीजे के वध का बदला लेना है। विधि-विधानों के बाह्य रूप के एक होते हुए भी उनके उद्देश्य—उनके आन्तरिक रूप में भेद होना सिद्ध करता है कि जो महत्त्व बाह्य विधि-विधान का है, वह उसके आन्तरिक उद्देश्य का, प्रयोजन का नहीं है।

(ख) समाधि तथा हर्षातिरेक (Vision and Ecstasy)—संसार के प्रायः सभी आदिकालीन धर्मों में ऐसे मनुष्य पाये जाते हैं जिन्हें इन्द्रियातीत अनुभव होते हैं। हमें जो-कुछ अनुभव होता है, अपनी ज्ञानेन्द्रियों से अनुभव होता है, उन्हें इन बाह्य इन्द्रियों को बन्द कर देने से अनेक प्रकार के अनुभव होते हैं जो हम लोगों को नहीं होते। अपने यहाँ इस अवस्था को समाधि की अवस्था कहा जाता है। इस अवस्था में मनुष्य को अपार हर्ष तथा आनन्द का अनुभव होता है। प्रत्येक मनुष्य को यह अवस्था प्राप्त नहीं होती। अपने यहाँ योगी लोग समाधि की अवस्था में चले जाते हैं, जहाँ उन्हें इस संसार का अनुभव नहीं रहता, उस अलौकिक संसार का अनुभव होता है। यह अनुभव रहस्यमय होता है। हम पहले धर्म की उत्पत्ति के सम्बन्ध में हाउर (Hauer) के रहस्यवाद का वर्णन कर आये हैं। उसका कहना है कि धर्म की उत्पत्ति इसी प्रकार के रहस्यमय अनुभवों का परिणाम है। जिन लोगों के ऐसे अनुभव होते हैं उन्हें लोग बड़ी श्रद्धा-भक्ति से देखते हैं।

जन-जातियों में इस प्रकार के अनुभवों के अनेक रूप हैं। साइबेरिया की जन-जातियों में कोई-कोई व्यक्ति आध्यात्मिक-शक्तियों के 'माध्यम' (Medium) बन जाते हैं। आजकल पश्चिम में जो 'प्रेतात्मवाद' (Spiritualism) चला हुआ है, प्रेतात्मा किसी माध्यम में आती है, उसके द्वारा बोलती है, निर्देश देती है, लगभग इसी प्रकार की बात साइबेरिया में पायी जाती है। भेद इतना है कि पश्चिम के 'प्रेतात्मवादी' मृत व्यक्ति की आत्मा का किसी 'माध्यम' में आना मानते हैं, साइबेरिया के लोग मृतात्मा का नहीं, अपितु संसार का नियन्त्रण करने वाली शक्तियों में से किसी शक्ति का माध्यम को वशीभूत करके उसके द्वारा अपने को प्रकट करना बताते हैं। जब यह शक्ति 'माध्यम' को अपने वश में कर लेती है, तब वह अपनी बात नहीं कहता, उस शक्ति की बात कहता-करता है। अमरीकन-इंडियनों में यह नहीं माना जाता कि माध्यम पर कोई बाह्य-शक्ति अधिकार प्राप्त कर लेती है, वे मानते हैं कि जिसमें आध्यात्मिक-शक्ति होती है, उसे 'जागते में स्वप्न'—जागृत-स्वप्न—(Dreams and hallucinations) दिखाई देते हैं, और इन स्वप्नों का भिन्न-भिन्न अर्थ होता है। कई जातियों में एक अन्य प्रकार के आध्यात्मिक अनुभव पाये जाते हैं। उनमें कोई ख़ास-ख़ास देवी-देवता किसी व्यक्ति के शरीर को चुन लेता है। जैसे किसी को मृगी आ जाये और वह मृगी में फड़फड़ाता है, सारा शरीर तन जाता है, वायु में पत्ते की तरह शरीर काँपता है, इसी प्रकार इस देवी-देवता के शरीर में प्रवेश कर लेने से शरीर काँपने लगता है, और उसके बाद से वह शरीर उस देवता के ही अर्पण हो जाता है। ऐसा व्यक्ति पुरुष भी हो सकता है, स्त्री भी हो सकती है। आदिवासियों में ऐसे व्यक्ति को शमन (Shaman) कहते हैं। जब से उसके शरीर में यह शक्ति प्रवेश कर जाती है तब से वह अनुभव करता है कि उसकी देह में बर्फ़ के टुकड़े-जैसा कुछ अद्भुत पदार्थ है। कैलिफ़ोर्निया की अनेक जन-जातियों में धार्मिक-जीवन में प्रविष्ट होने का यही मार्ग माना जाता है। जिनके शरीर में इस प्रकार देवी-देवता रहते हैं, वे उस संसार तथा इस संसार के बीच एक प्रकार का आदान-प्रदान करते रहते हैं, उस संसार के संदेशों को इस संसार तक पहुँचाते रहते हैं। लोग उनके पास अपने मृतक सम्बन्धियों की इच्छाओं को जानने के लिए जाते रहते हैं। जिन लोगों को इस प्रकार के आध्यात्मिक अनुभव होते हैं, उन्हें एक विशेष शक्ति प्राप्त होने के कारण उच्च-स्तर का माना जाता है। अधिकतर जन-जातियों में इस शक्ति को प्राप्त करना अच्छा माना जाता है, कई में बुरा भी माना जाता है। वे कहते हैं कि यह शक्ति स्वयं प्राप्त हो जाय तो ठीक, नहीं तो इसके प्राप्त करने का प्रयत्न नहीं करना चाहिए। कई लोग कृत्रिम उपायों से इस शक्ति को प्राप्त करने का प्रयत्न करते हैं। वे इसके लिए मादक-द्रव्यों का सेवन करते हैं—कोई भाँग, कोई धतूरा, कोई तम्बाकू पीता है।

(ग) धार्मिक विश्वास, आख्यान, सृष्टि-रचना तथा धर्म-विज्ञान (Beliefs, Mythology, Cosmology and Theology)—फल-मूल एकत्रित करने

वाली आर्थिक-व्यवस्था से लेकर कृषि तथा पशु-पालन की विकसित अर्थ-व्यवस्था तक सब प्रकार की आदिवासी जन-जातियों में अपने-अपने धर्म के सम्बन्ध में कुछ निश्चित विश्वास पाये जाते हैं, अपने-अपने ढंग की सृष्टि की रचना सम्बन्धी कुछ कल्पनाएँ पायी जाती हैं। सरल सामाजिक व्यवस्था में ये 'विश्वास' (Beliefs) तथा 'सृष्टि-रचना' (Cosmology)-सम्बन्धी ये कल्पनाएँ कुछ लोगों तक सीमित न होकर हर किसी की जबान पर होती हैं, सब कोई जैसे अपने पूर्वजों से इन्हें सुनता आया है, वैसे आगे सुनाता जाता है। क्योंकि सरल आर्थिक-व्यवस्थाओं में वर्ग तथा श्रेणी भेद नहीं उत्पन्न हुआ था, श्रम-विभाग भी नहीं उत्पन्न हुआ था, इसलिए इस अर्थ-व्यवस्था में विशेषज्ञ भी अभी नहीं उत्पन्न हुए थे। विकसित अर्थ-व्यवस्था में तो पुरोहितों की एक श्रेणी उत्पन्न हो जाती है जिसका काम धार्मिक-विश्वासों तथा सृष्ट्युत्पत्ति-सम्बन्धी कल्पनाओं का ही अध्ययन करना होता है, परन्तु सरल आर्थिक-व्यवस्थाओं के समाज में इस प्रकार का वर्ग उत्पन्न नहीं हुआ होता। यही कारण है कि यद्यपि आदिकालीन समाज में हर-कोई धर्म की बातों को जानता होता है, तो भी उनकी बातों में निश्चितता नहीं होती, सब की बातें एक-दूसरे से अनेक अंशों में भिन्न होती हैं क्योंकि हर-एक व्यक्ति जो-कुछ परम्परा से सुनता आया है, उसमें कुछ थोड़ा-बहुत अपना पुट भी जोड़ देता है। ज्यों-ज्यों समाज सरल से विकसित आर्थिक व्यवस्था की तरफ़ बढ़ता है, त्यों-त्यों जैसे अन्य क्षेत्रों में श्रम-विभाग का नियम काम करने लगता है, वैसे इस क्षेत्र में भी उन्हीं कामों को करने वाले पैदा हो जाते हैं, ऐसे लोग जिनका काम ही दिन-रात धार्मिक विधि-विधानों के साथ मगजपच्ची करना होता है। इन्हीं को 'पुरोहित' (Priests) कहते हैं। ये पशु-पालन तथा कृषि-सम्बन्धी आर्थिक-व्यवस्था की उपज हैं। ये लोग अब तक चले आ रहे विधि-विधानों, धार्मिक-विश्वासों, सृष्ट्युत्पत्ति-सम्बन्धी कल्पनाओं की अनिश्चितता को दूर कर इन्हें निश्चित रूप देने लगते हैं, इन्हें एक शृंखला में बाँधने लगते हैं। पुरोहित-वर्ग के इसी प्रयत्न का परिणाम 'धर्म-विज्ञान' (Theology) है। पुरोहित-वर्ग का काम आदि-काल से चले आ रहे धार्मिक-विश्वासों को एक निश्चित सूत्र में बाँध देना है। इस काम के लिए वे 'आख्यानों' (Mythology) तथा 'दन्त-कथाओं' (Folktales) का सहारा लेते हैं। यह 'विश्वास' क्यों ठीक है ? क्योंकि इसके सम्बन्ध में यह 'आख्यान' या यह 'दन्त-कथा' है ! 'सृष्टि-रचना' इस प्रकार क्यों हुई ? क्योंकि इसके सम्बन्ध में अमुक 'आख्यान' या अमुक 'दन्त-कथा' है ! एक तरह से समाज में प्रचलित विश्वासों तथा सृष्ट्युत्पत्ति-सम्बन्धी कल्पनाओं को पुष्ट करने के लिए पुरोहित-वर्ग आख्यानों तथा दन्त-कथाओं की रचना करता है।

मानवशास्त्री का काम प्रत्येक जन-जाति के विश्वासों, उसकी सृष्ट्युत्पत्ति सम्बन्धी कल्पनाओं का अध्ययन कर यह पता लगाना है कि इन विश्वासों तथा सृष्टि-कल्पनाओं को पुष्ट करने के लिए उनमें क्या-क्या आख्यान तथा दन्त-कथाएँ पायी जाती हैं क्योंकि सब जन-जातियों की ये सब बातें अलग-अलग हैं। इनका

पता लगाने से उस जन-जाति के 'धर्म-विज्ञान' (Theology) का पता लग जाता है। आख्यानों, दन्त-कथाओं तथा धर्म-विज्ञान का काम सिर्फ़ जन-जाति के विश्वासों तथा सृष्टि-रचना-सम्बन्धी कल्पनाओं को ही पुष्ट करना नहीं होता, इनका काम दुःख तथा संकट-काल में जन-जाति को ढाढस बँधाना भी होता है। अगर कोई जन-जाति किसी समय संकट में पड़ जाती है, तो धर्म की कहानियाँ ही उसका एकमात्र सहारा होती हैं। इन धार्मिक-आख्यानों का काम लोगों का दिल-बहलाव करना ही नहीं, उनमें देवी-देवताओं तथा अपने पूर्वजों के संकट-काल के दृश्य खींच कर, या किस प्रकार संकट के समय पूर्वजों का उद्धार हुआ था—यह सब-कुछ बतला कर व्यक्तियों तथा जातियों में बल-संचार करना भी होता है।

(घ) पाधा तथा पुरोहित (Shaman and Priest)—आदि-वासियों में प्रायः धार्मिक-कृत्यों के विशेषज्ञों का दो प्रकार का वर्ग पाया जाता है—एक निम्न-स्तर का जिसे 'पाधा' (Shaman) कहा जाता है, दूसरा उच्च-स्तर का जिसे 'पुरोहित' (Priest) कहा जाता है। फल-मूल एकत्रित करने वाली अर्थ-व्यवस्था में धर्म-कार्य करने वालों के पेशों का श्रम-विभाग नहीं हुआ था। हर जन-जाति में दो-चार व्यक्ति ऐसे होते थे जो अपना अन्य काम-धंधा भी करते थे, और मौका पड़ने पर धार्मिक-कृत्यों को भी कर देते थे। इन्हें दूसरे लोग अतिरिक्त कार्य के लिए कुछ दे छोड़ते थे। परन्तु ज्यों-ज्यों आर्थिक-व्यवस्था सरल से विषम होने लगी, त्यों-त्यों इन कार्यों के विशेषज्ञ भी उत्पन्न होने लगे, ऐसे लोग जिनका काम ही धार्मिक विधि-विधान में लगे रहना था। यह श्रेणी "पुरोहित-वर्ग' (Priests) की थी। पाधा तथा पुरोहित दोनों का काम मनुष्य तथा पारलौकिक-शक्ति में माध्यम के रूप में काम करना होता था। कई जन-जातियों में ये दोनों श्रेणियाँ अलग-अलग पायी जाती हैं, कई में सिर्फ़ पाधा और कई में सिर्फ़ पुरोहित पाये जाते हैं।

(ङ) धर्म तथा आचार-शास्त्र (Religion and Ethics)—मानव-शास्त्रियों का कहना है कि आदिकालीन सरल अर्थ-व्यवस्था के समाजों में धर्म तथा आचार का वह अटूट सम्बन्ध नहीं दिखाई देता, जो विकसित अर्थ-व्यवस्था के समाज में दिखाई देता है। विकसित समाज में तो धर्म का काम सदाचार तथा दुराचार, अच्छाई तथा बुराई का संघर्ष दिखाते हुए मनुष्य को सदाचार तथा अच्छाई के लिए प्रेरित करना है। इन विकसित अर्थ-व्यवस्थाओं में देवी-देवताओं तथा पारलौकिक-शक्तियों का काम मनुष्य को सदाचार के लिए प्रेरित करना, और जो सदाचार का जीवन न बिताये, उसे अपने दुष्कार्यों के लिए दंडित करना है। एक तरह से पारलौकिक-शक्तियों का काम मानव-समाज के नित-नित के काम में शमनों तथा पुरोहितों को माध्यम बना कर हर समय दखल देना है। आदिकालीन सरल अर्थ-व्यवस्था में ये पारलौकिक-शक्तियाँ मनुष्य के कामों में दखल नहीं देतीं। सम्भवतः इसका कारण यह है कि इन समाजों में अभी पुरोहित-वर्ग उत्पन्न नहीं हुआ होता, और इन शक्तियों का मनुष्य के हर काम में दखल देने का

विचार इस पुरोहित-वर्ग का ही उत्पन्न किया हुआ होता है। यद्यपि आदिकालीन समाज में धर्म तथा आचार-शास्त्र अलग-अलग हैं, परन्तु इसका यह मतलब नहीं कि आदिकालीन-समाज में आचार-शास्त्र के पीछे धर्म का बल नहीं होता, या कोई भी बल नहीं होता। आदिकालीन-समाज में समाज की विचार-धारा ही आचार-शास्त्र के पीछे खड़ा बल होता है। जिसे समाज में बुरा समझा जाता है, उसे देवी-देवताओं के दण्ड के भय से बुरा समझने के स्थान में वे समाज द्वारा बुरा समझे जाने के कारण उसे बुरा समझते हैं; जिसे समाज अच्छा समझता है, उसे देवी-देवताओं द्वारा पुरस्कृत होने के कारण अच्छा समझने के स्थान में समाज द्वारा अच्छा समझे जाने के कारण ये उसे अच्छा समझते हैं। इसका मुख्य कारण यह है कि अभी आख्यान, दन्त-कथाएँ, धर्म-शास्त्र आदि उत्पन्न नहीं हुए होते, इसलिए आचार-शास्त्र को सहारा देने वाला इस प्रकार का धर्म भी नहीं उत्पन्न हुआ होता। फिर भी इसमें सन्देह नहीं कि आदिकालीन सभी समाजों में सदाचार पर बल दिया जाता है।

५. जादू की परिभाषा

[क] फ्रेज़र की व्याख्या—"जादू मनुष्य के विश्वासों तथा व्यवहारों के उस संग्रह को कहते हैं जिन पर किसी प्रकार की आलोचना, दुबारा परख या लेना-छोड़ना नहीं हो सकता।"

[ख] मैलिनोवस्की की व्याख्या—"जिस परिणाम की मनुष्य आशा लगाये बैठा है उसके लिए आशापूर्ण इच्छा करते हुए बैठना जादू कहलाता है। जब इच्छित परिणाम को प्राप्त करने के लिए और कोई चारा नहीं रह जाता, तब जादू के साधन से उस परिणाम को प्राप्त करने का प्रयत्न किया जाता है। जादू के ज़ोर से देवी-देवताओं तथा पारलौकिक-शक्तियों को अपने बस में किया जाता है, धर्म के द्वारा उन्हें प्रार्थना तथा उपहारों से प्रसन्न किया जाता है।"

६. जादू, धर्म तथा विज्ञान

हम इस अध्याय के शुरू में लिख आये हैं कि संसार की घटनाओं पर जब इस दृष्टि से विचार किया जाता है कि भौतिक-संसार के पीछे की अलौकिक-शक्ति के सामने हमें झुक कर चलना है, तब 'धर्म' पैदा हो जाता है; जब इस दृष्टि से विचार किया जाता है कि इस अलौकिक-शक्ति या शक्तियों को हम अपने

[क] "Magic is an inventory of beliefs and forms of behaviour which are not subject to criticism, recheck and elimination."

—*Frazer*.

[ख] "Magic is the wishful thinking over hopeful behaviour. Magical processes are utilized when people cannot proceed with other material techniques. Through magic, deities and supernatural powers are *controlled*, while through religion, they are *pleased* by presenting sacrifice to them, as well as by offering prayer."

—*Malinowski*.

आधीन कर सकते हैं, जैसा चाहें इनसे करा सकते हैं, तब 'जादू' पैदा हो जाता है। 'धर्म' तथा 'जादू'—दोनों का अलौकिक-शक्तियों से सम्बन्ध है, परन्तु धर्म में इस अलौकिक-शक्ति के सामने अपने को समर्पित कर देना होता है, जादू में तंत्र-मंत्र-यंत्र से इस शक्ति को अपने काबू में करना होता है। इस दृष्टि से 'धर्म', 'जादू' तथा 'विज्ञान' की तुलना एक मनोरंजक विषय है। जैसे 'धर्म' तथा 'जादू' का सम्बन्ध है, वैसे 'जादू' तथा 'विज्ञान' का भी सम्बन्ध है। 'जादू' से संसार की घटनाओं को अपने वश में किया जाता है, 'विज्ञान' मे भी संसार के घटना-चक्र पर आधिपत्य जमाया जाता है, परन्तु इस समानता के होते हुए भी इन दोनों में भेद है। 'धर्म', 'जादू' तथा 'विज्ञान' में समानता तथा भिन्नता के कारण इनके आपसी भेद को समझना जरूरी है।

(क) 'धर्म' तथा 'जादू' में समानता और भिन्नता (Distinction between Religion and Magic)—दुरखीम (Durkheim) का कथन है कि धर्म का अनुष्ठान सामाजिक-हित की दृष्टि से किया जाता है, जादू सामाजिक-अहित किन्तु व्यक्ति के हित की दृष्टि से किया जाता है। जब व्यक्ति को अपना भला तथा दूसरे का बुरा करना होता है, तब वह जादू की शरण लेता है। कभी-कभी सिर्फ़ अपने भले के लिए भी जादू का आश्रय लिया जाता है। अगर कहा जाय कि धर्म सामाजिक है, और जादू वैयक्तिक है, तो कोई अत्युक्ति न होगी। आदिकालीन-मानव को जब जादू की शक्ति में सन्देह होने लगा तब जादू का स्थान धर्म ने लेना शुरू किया। इस दृष्टि से जादू की सत्ता धर्म से पहले मानी जाती है।

जादू तथा धर्म दोनों का सम्बन्ध अलौकिक-सत्ताओं से है। दोनों का उद्देश्य मनुष्य को संकट से बचाना तथा आत्मिक शान्ति देना है, परन्तु दोनों में इस समानता के बावजूद भेद है। इस भेद को स्पष्ट समझने के लिए इन दोनों का निम्न प्रकार भेद स्पष्ट किया जा सकता है:—

धर्म	जादू
१. यह एक सामाजिक-कृत्य है।	१. यह एक वैयक्तिक-कृत्य है।
२. यह संसार का कल्याण सोचता है।	२. यह व्यक्ति का कल्याण सोचता है।
३. इसमें प्रार्थना सफल-असफल दोनों हो सकती है।	३. इसमें मनुष्य की इच्छा सफल ही होनी चाहिए, असफल नहीं।
४. इसमें मनुष्य आत्म-समर्पण करता है।	४. इसमें अदृश्य-सत्ता पर विजय पाना चाहता है।
५. यह समाज में जादू के बाद आता है।	५. समाज में धर्म से पहले जादू आता है।
६. इसमें मंत्रों का प्रयोग होता है परन्तु देवता भाव समझ जाते हैं।	६. इसमें मंत्र के अशुद्ध प्रयोग से मंत्र की शक्ति मारी जाती है।

(ख) 'जादू' तथा 'विज्ञान' में समानता और भिन्नता (Distinction between Magic and Science)—जैसे धर्म तथा जादू में समानता तथा

भिन्नता है, वैसे जादू तथा विज्ञान में भी समानता तथा भिन्नता है। इन दोनों की समानता तथा भिन्नता निम्न है:

(i) समानता—जादू तथा विज्ञान दोनों में कार्य-कारण का सम्बन्ध माना जाता है। एक घटना होती है, उसके बाद दूसरी आती है, और घटना के बाद उसके परिणाम की आशा की जाती है। दोनों में नियम तथा कार्य-क्रम माने जाते हैं। इन नियमों का इन नियमों के अनुरूप फल होना ही चाहिए, यह नहीं हो सकता कि नियम हों और उनका अनुरूप फल न हो। दोनों में अज्ञेय संसार में अपने-अपने तरीके से प्रवेश पाने का प्रयत्न किया जाता है। दोनों में अपने-अपने नियमों के आधार पर अज्ञेय संसार में प्रवेश पाकर उस पर विजय पाने का भी प्रयत्न होता है।

(ii) भिन्नता—जादू तथा विज्ञान की इस समानता के होते हुए भी इन दोनों में भेद है। इस भेद को निम्न प्रकार प्रकट किया जा सकता है:—

विज्ञान	जादू
१. विज्ञान में सचाई होती है।	१. जादू में झूठ और बनावट होती है।
२. विज्ञान में एक बार की असफलता होने पर भी दुबारा-तिबारा सफलता के लिए प्रयत्न किया जाता है।	२. जादू में एक बार की असफलता पूरी असफलता समझी जाती है। उस जादू को निकम्मा माना जाता है।
३. विज्ञान भौतिक घटनाओं पर आश्रित है।	३. जादू एक मानसिक घटना है।
४. विज्ञान का सम्बन्ध संसार के नियमों से है।	४. जादू का सम्बन्ध भूत-प्रेत तथा आत्माओं से है।
५. विज्ञान में हम प्रयोगशाला में परीक्षण कर रहे होते हैं और परिणाम के विषय में पूरी तौर से निश्चिन्त नहीं होते।	५. जादू में हम परीक्षण नहीं कर रहे होते। जादू की शक्ति में हमें पूरा भरोसा होता है, परिणाम के विषय में हम निश्चिन्त होते हैं।

७. जादू का वर्गीकरण
(Classification of Magic)

फ्रेज़र (Frazer) ने आदिवासियों के जादू के सिद्धान्तों का अध्ययन करके उन के आधार में काम कर रहे दो सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया है। उनमें से पहला सिद्धान्त तो यह है कि समान वस्तु समान वस्तु को पैदा करती है। इसे उसने 'समानता का नियम' (Law of similarity) कहा है। इस 'समानता के नियम' के आधार पर जो जादू बनता है, उसे फ्रेज़र ने 'सम-वेदनात्मक-जादू' (Homoeopathic magic) या 'अनुकरणात्मक-जादू' (Imitative magic) कहा है। इस जादू के उदाहरण जन-जातियों में अनेक प्रकार के पाये जाते हैं। उदाहरणार्थ, छोटा नागपुर में जन-जातियाँ समझती हैं कि

विद्युत् के साथ जो गड़गड़ाहट होती है, वह गड़गड़ाहट ही वर्षा का सीधा कारण है। इसलिए वर्षा लाने के लिए वे पहाड़ पर चढ़ कर बड़ी-बड़ी चट्टानों को नीचे धकेलते हैं। इन चट्टानों के नीचे लुढ़कने से जो गड़गड़ाहट पैदा होती है, उससे वर्षा लाने का वे प्रयत्न करते हैं। पत्थरों की गड़ागड़ाहट और बिजली की गड़-गड़ाहट में अनुकरणात्मक समानता है, इसलि फ्रेजर ने इसे 'अनुकरणात्मक-जादू' कहा है। इसी प्रकार हो जन-जाति में वर्षा लाने के लिए कूड़े के बड़े-बड़े ढेर जलाये जाते हैं। इन ढेरों के जलने से धुँआ उठता है, वह बादल के समान होता है, और इससे वे वर्षा लाने का प्रयत्न करते हैं। खोंड जन-जाति के लोग वर्षा लाने के लिए मनुष्य की बलि चढ़ाते हैं और समझते हैं कि जैसे बलि के मनुष्य के आँसू निकलते हैं, खून बहता है, वैसे बलिदान के साथ-साथ वर्षा पड़ने लगेगी। टिहरी-गढ़वाल की रोलटा जन-जाति के लोग वर्षा लाने के लिए किसी व्यक्ति को इतना कष्ट देते थे जिससे उसके आँसू बहने लगते थे, कभी-कभी वह गला घुटने से मर तक जाता था। अब इस प्रथा को कानूनन रोक दिया गया है।

जादू में फ्रेजर के कथनानुसार दूसरा सिद्धान्त 'संसर्ग' (Contact) का सिद्धान्त है। इस सिद्धान्त के आधार पर जो जादू बनता है उसे फ्रेजर ने 'संसर्गज-जादू' (Contagious magic) कहा है। उदाहरणार्थ, किसी को नुकसान पहुँचाने के लिए उसके बाल, नाखून, टट्टी-पेशाब, कपड़े का टुकड़ा आदि लिये जाते हैं। इनको जला दिया जाय तो जिसके ये हैं, उसे अवश्य नुकसान पहुँचेगा—यह समझा जाता है। इसका कारण यह है कि इनका उस व्यक्ति से संसर्ग होता है, सम्बन्ध होता है। समझा यह जाता है कि जिसका नाखून है, जिसका बाल है, जिसका कपड़ा है, उसका इनसे कट जाने पर भी सम्बन्ध बना रहता है। इतना ही नहीं, अगर उसकी-सी शक्ल की मूरत बना कर उसे कूएँ में फेंक दिया जाय, तब भी यही समझा जाता है कि शक्ल की समानता या उसके संसर्ग के कारण उस व्यक्ति को भी नुकसान पहुँचता है। 'संसर्ग' के जादू के प्रभाव का एक अच्छा उदाहरण प्रसिद्ध गायक तानसेन था। कहा जाता है कि तानसेन ने ग्वालियर के पास एक गाँव में ब्राह्मण के घर जन्म लिया था। उसका जन्म-नाम तन्ना था। संगीत से उसे प्रेम था, उसने उस्ताद गौस से शिक्षा पायी थी और क्योंकि उस्ताद को इनसे अत्यन्त प्रेम था, इसलिए उन्होंने जीभ से जीभ लगा कर इन्हें दीक्षा दी थी। इसी से तानसेन ब्राह्मण से मुसलमान हो गये। उस्ताद ने जीभ से जीभ लगा कर इन्हें शिक्षा इसलिए दी ताकि 'संसर्ग' के जादू से उनका प्रभाव तानसेन में आ जाय।

उक्त दोनों प्रकार के वर्गीकरण में, चाहे वह 'समानता के नियम' (Law of similarity) पर आश्रित हो, चाहे 'संसर्ग के नियम' (Law of contact) पर आश्रित हो, कार्य-कारण का नियम काम करता माना जाता है और क्योंकि यह समझा जाता है कि कारण का कार्य तथा कार्य का कारण के प्रति खिंचाव है, इसलिए इन दोनों प्रकार के जादुओं को फ्रेजर ने 'सह-संचारी-जादू' (Sympathetic magic) का नाम दिया है।

८. आदिकालीन धर्मों तथा जादुओं के समान-तत्त्व
(Common elements in Primitive Religions and Magics)

आदिकालीन धर्मों तथा जादुओं का अध्ययन करने से कुछ बातें ऐसी दीख पड़ती हैं जो धर्मों तथा जादुओं में समान हैं। इसका यह भी कारण है क्योंकि आदिकालीन-समाज में धर्म तथा जादू रल-मिल गये हैं। आदिकालीन-समाज में ही नहीं, वर्त्तमान जन-जातियों तथा हमारे धर्म में भी इन दोनों का इतना सम्मिश्रण हो गया है कि धर्म की बातों में जादू की और जादू की बातों में धर्म की बातें घुस गई हैं। हम ऐसी कुछ बातों का यहाँ वर्णन करेंगे :—

(क) प्रार्थना तथा मन्त्र (Prayer and magic formula)—आदिवासियों में पारमार्थिक-शक्ति के साथ दो तरह से सम्बन्ध स्थापित किया जा सकता है—प्रार्थना द्वारा तथा जादू के मंत्रों द्वारा। प्रार्थना में व्यक्ति देवता को सम्बोधित करके उसके सम्मुख अपनी विनती रखता है, उसे प्रसन्न करने का प्रयत्न करता है। विन्नेबेगो जन-जाति के लोग तड़ित्-पक्षी की प्रार्थना करते हुए कहते हैं—'हे तड़ित्-पक्षी, मैं तुम्हारे सम्मुख हाथ में तम्बाकू लेकर खड़ा हूँ। मेरी यह तुच्छ भेंट स्वीकार करो। जैसे तुमने मेरे दादा-परदादा को आशीर्वाद दिया था, उन्हें समृद्ध किया था, वैसे मुझे भी समृद्ध करो।'' किसी-किसी जन-जाति में कुछ निश्चित मंत्र बोले जाते हैं, इन मंत्रों के शब्द जैसे-के-तैसे बोलने से ही अभीष्ट की सिद्धि होती है, मंत्रों में हेर-फेर करने से अभीष्ट सिद्ध नहीं होता। मैलेनेशिया में समझा जाता है कि उत्पादन-शक्ति के मंत्र के प्रयोग के बिना खेत में खेती ही नहीं हो सकती। इन्हीं लोगों के सामने ईसाई-पादरियों के खेत बिना मंत्रों के लहलहा रहे होते हैं, परन्तु ये लोग बिना मंत्र-प्रयोग के खेती नहीं करते। जीवन के प्रत्येक कार्य के लिए कई जन-जातियों में किसी-न-किसी प्रकार के मंत्र के प्रयोग करने की पद्धति है। ये मंत्र जादू का प्रभाव रखते हैं। इन मंत्रों में उलट-फेर से काम बिगड़ जाता है।

(ख) भविष्य-कथन (Divination)—आदिवासियों में जिन व्यक्तियों पर भूत-प्रेत या कोई आत्मा आती है, वे भविष्यवाणी किया करते हैं। यह समझा जाता है कि स्वयं भगवान् उनके द्वारा बोलते हैं। डेल्फ़ी का ग्रीक देवता भी इसी प्रकार का भविष्यवाणी करता था। आफ्रीका, पोलिनेशिया, साइबेरिया आदि में इस प्रकार की देवता द्वारा भविष्यवाणियां करने की प्रथा पायी जाती है। धर्म की इस प्रकार की भविष्यवाणियों की तरह जादू के जगत् में भी भविष्यवाणियां होती हैं। साइबेरिया तथा मंगोल जन-जातियों में यह माना जाता था कि बारहसिंघे की कन्धे की हड्डी को आग पर सेंकने से वह फट कर आवाज़ करती है। इस आवाज़ से पुरोहित शुभ तथा अशुभ को बतला सकता है। कई जन-जातियों के लोग जानवरों के पेट को चीर कर उनकी आंतों की स्थिति को देख कर भविष्यवाणी करते हैं। एस्किमो जन-जाति के लोग रोगी के सिर पर रस्सी बांध देते हैं और फिर बतलाते हैं कि यह बचेगा या मरेगा। पश्चिमी आफ्रीका

की ईव जन-जाति अंडे पर थूक कर उसे छत पर फेंकती थी। अगर वह टूट जाता तो इसे अशुभ, अगर नहीं टूटता तो इसे शुभ लक्षण माना जाता था। हमारे यहाँ बिल्ली का रास्ता काटना, उल्लू दीखना आदि अशुभ लक्षण माने जाते हैं। इस प्रकार धर्म तथा जादू के क्षेत्र में भविष्यवाणी का स्थान समान है।

(ग) निषेधाज्ञाएं (Taboos)—जैसे 'टोटम' अंग्रेज़ी भाषा का शब्द न होकर अमरीकन-इण्डियन जन-जातियों का शब्द है, वैसे 'टैबू' भी अंग्रेज़ी भाषा का शब्द न होकर पौलीनेशियन भाषा का शब्द है। 'टैबू' का पौलीनेशियन भाषा में अर्थ है—'निषिद्ध'। प्रत्येक धर्म में कुछ बातों के लिए निषेधाज्ञाएँ होती हैं और आदिवासी लोग इन निषेधाज्ञाओं का कानून की तरह पालन करते हैं। भेद यह है कि कानून को लोग तोड़ने का प्रयत्न करते हैं, परन्तु जिस बात को धर्म में निषिद्ध कहा गया है उसके पास नहीं फटकते। 'टैबू' एक तरह का आदिवासियों का बिना लिखा कानून है। इसका जो उल्लंघन करता है, उसे दण्ड देने की व्यवस्था समाज नहीं करता, उसका आत्मा स्वयं उसे भीतर से करोचता है। निषिद्ध बात को करने वाले को अलौकिक शक्तियों से दण्ड मिलने का सदा भय बना रहता है।

जादू-सम्बन्धी आज्ञाओं को दो भागों में बाँटा जा सकता है—विधि तथा निषेध, ऐसा करो, ऐसा न करो। निषेधाज्ञाओं को, ऐसा न करो—इसे 'टैबू' कहा जाता है। 'टैबू' के तीन उद्देश्य हो सकते हैं—और इसलिए तीन प्रकार के 'टैबू' हो सकते हैं—'उत्पादनात्मक' (Productive), 'संरक्षणात्मक' (Protective) तथा 'प्रतिबन्धात्मक' (Preventive)। खेती के सम्बन्ध में जो निषेधाज्ञाएँ हैं उनका उद्देश्य खेती की बाधाओं को दूर करना होता है, इसलिए उन्हें 'उत्पादनात्मक' कहा जा सकता है; पुरुषों, स्त्रियों तथा बच्चों को अमुक-अमुक स्थान पर जाने की निषेधाज्ञाओं का उद्देश्य इनकी खतरे से रक्षा होता है, इसलिए इन्हें 'संरक्षणात्मक' कहा जा सकता है; किन्हीं-किन्हीं व्यक्तियों के सम्पर्क में आने से मना किया जाता है, इन निषेधाज्ञाओं का उद्देश्य इन व्यक्तियों को दूसरों को कष्ट पहुँचाने से रोकना होता है, इसलिए इन्हें 'प्रतिबन्धात्मक' कहा जा सकता है।

निषेधाज्ञाएँ समाज में क्यों पैदा होती हैं—इस सम्बन्ध में कई विचार हैं। इनमें वुन्ड्ट, फ्रॉयड तथा रैडक्लिफ़-ब्राउन के विचार उल्लेखनीय हैं। वे विचार क्या हैं?

(i) वुन्ड्ट का विचार—जो लोग जादू में विश्वास करते हैं, उन्हें जादू की शक्ति से डर लगा रहता है। हम पहले लिख आये हैं कि आदिवासी हर वस्तु में 'मैना' की सत्ता मानते हैं, 'मैना' अर्थात् उस वस्तु की शक्ति। जिस वस्तु को निषिद्ध, वर्जित, टैबू माना जाता है, उसके 'मैना' में यह शक्ति होती है कि अगर वह निषिद्ध वस्तु खाने की है तो उसे खाने से वह वस्तु खाने वाले को दण्ड देती है, अगर निषिद्ध वस्तु देखने-सुनने की है तो उसे देखने-सुनने से

मनुष्य दण्ड का भागी हो जाता है। इसी कारण वुन्ट (Wundt) का कहना है कि आदिवासियों की दृष्टि में 'टैबू' में कुछ आन्तरिक-शक्ति होती है, जादू की-सी शक्ति, जिसके कारण उससे वे लोग भयभीत रहते हैं। इसमें तो सन्देह नहीं कि अलौकिक-शक्ति को सभी एक महान् शक्ति मानते हैं। शक्ति होने के कारण वह खतरनाक भी हो सकती है। जहाँ शक्ति होगी वहीं खतरे की सम्भावना है, इसलिए वहीं 'टैबू' की, उस शक्ति के क्रोध से बचे रहने की भावना पैदा हो जाती है।

(ii) फ्रायड का विचार—फ्रॉयड (Freud) ने एक पुस्तक लिखी है 'टोटम एण्ड टैबू'। इस पुस्तक में उसने यह दर्शाने का प्रयत्न किया है कि 'गण-चिह्न' (Totem) तथा 'निषेधाज्ञा' (Taboo) का आपस में सम्बन्ध होता है। फ्रॉयड का कहना है कि प्रायः सब 'निषेधाज्ञाओं' (Taboos) को दो भागों में बाँटा जा सकता है—खाने के, और यौन-सम्बन्ध के। इस पशु को नहीं खाना, इस फल को नहीं खाना। कोई सूअर का मांस नहीं खाता, कोई शलजम नहीं खाता। इसी प्रकार इस जगह शादी-ब्याह नहीं करना, यौन-सम्बन्ध नहीं करना—यह भी एक 'टैबू' है, भाई-बहन में शादी नहीं होती, समान गोत्र वालों में शादी नहीं होती। फ्रॉयड का कहना है कि इन दोनों प्रकार की निषेधाज्ञाओं का मनोविश्लेषणवादी कारण है और इन 'निषेधाज्ञाओं' (Taboos) का 'गोत्र-चिह्नों' (Totems) के साथ सम्बन्ध है। वह कैसे ?

खाने तथा यौन-सम्बन्ध के निषेध के सम्बन्ध में फ्रॉयड का कहना है कि इन दोनों का उद्भव 'पितृ-विरोधी भावना-ग्रन्थि' (Oedipus Complex) है। यह 'भावना-ग्रन्थि' क्या है ? मनोविश्लेषणवादियों का कहना है कि बालक माता से प्रेम करता है, पिता से घृणा करता है, बालिका माता से घृणा करती तथा पिता से प्रेम करती है। 'इडीपस' एक ग्रीक बालक था जो बचपन में मरने के लिए छोड़ दिया गया था, परन्तु किसी तरह बच गया। अन्त में उसने अपने पिता को मारा और माता से यह न जानते हुए कि वह उसकी माता है, उसने शादी कर ली। इसी से इस भावना-ग्रन्थि का नाम 'पितृ-विरोधी-ग्रन्थि' (Oedipus Complex) रखा गया है। फ्रॉयड का कहना है कि आदि-काल में परिवार या गोत्र का जो मुखिया होता था वह अपने पाशविक-बल से सब पर कठोर शासन करता था। समूह में जितनी स्त्रियाँ होती थीं, वे सब उसी की मानी जाती थीं, वह सब का उपभोग करता था। उसके पुत्र जब बड़े हो जाते थे, तो अपने पिता के उस कठोर शासन के प्रति विद्रोह कर देते थे और सब मिल कर उसे मार डालते थे। वे उसे मार ही नहीं देते थे, परन्तु उसकी शक्ति को अपने में लाने के लिए उसे काट-काट कर उसकी बोटियों को खा भी डालते थे। इसके बाद उसकी स्त्रियों को वे अपना बना लेते थे। यह सब-कुछ कर लेने के बाद उन्हें अपने कृत्य से घृणा होती थी, पश्चात्ताप होता था। इस घृणा तथा पश्चात्ताप को कैसे दूर किया जाय ? उन्होंने अपने पिता की हत्या की थी। अब वे किसी पशु को अथवा किसी वनस्पति को अपने पिता के स्थान में मानने लगते थे और उस पशु का मारना तथा उस वनस्पति

या फल का खाना निषिद्ध कर देते थे। इस प्रकार खाने की निषेधाज्ञाओं का प्रारम्भ हो जाता है। यह पशु अथवा वनस्पति उनके पिता की सूचक है, उस पिता की जिसे उन्होंने ईर्ष्यावश मार दिया था, उसकी बोटियाँ खा डाली थीं। पिता क्योंकि उन्हीं के गोत्र का था इसलिए उसके चिह्न—'गोत्र-चिह्न' (Totem) को—पशु या वनस्पति को न खाने की 'निषेधाज्ञा' (Taboo) प्रचलित हो जाती थी। फ्रॉयड का कहना है कि पुत्र पिता को मारे—यह भावना आदि-काल के मानव के लिए स्वाभाविक थी। इसे रोकने के लिए पिता-समान पशुओं तथा वृक्षों के फलों के खाने की निषेधाज्ञाओं का प्रारम्भ हुआ। इसी प्रकार पुत्र ने पिता को जो मारा तो ईर्ष्यावश मारा। वह आदिकालीन क्रूर पिता सब स्त्रियों का स्वामी था। अब पुत्र उसका स्थान लेना चाहता था। आदिकालीन-मानव के लिए अपने पिता की स्त्रियों को अपना लेना स्वाभाविक था। इसे रोकने के लिए यौन-सम्बन्धी 'निषेधाज्ञाओं' (Taboos) का प्रचलन हुआ जिनके अनुसार भाई-बहन, लड़का-माँ आदि शादी-ब्याह नहीं कर सकते, इसे 'अनाचार' (Incest) कहते हैं।

खाने-पीने तथा यौन-सम्बन्धी उक्त प्रकार की निषेधाज्ञाएँ सर्वत्र प्रचलित हैं, इसमें तो कोई सन्देह नहीं, परन्तु फ्रॉयड ने उनका जो कारण बतलाया है वह कहाँ तक ठीक है, यह नहीं कहा जा सकता। कई मानवशास्त्री इस कारण से सहमत नहीं हैं। मैलिनोवस्की (Malinowski) का कहना है कि आदिवासियों में पिता के विरोध में भावना हो और इसलिए 'पितृ-विरोधी-भावना-ग्रन्थि' (Oedipus complex) अवश्य पैदा हो जाती हो, यह बात जन-जातियों का अध्ययन करने से पुष्ट नहीं होती। उदाहरणार्थ, अनेक जन-जातियाँ 'मातृ-प्रधान' (Matriarchal) होती हैं। उनमें, पिता के प्रति पुत्र की जो द्वेष-भावना पैदा हुआ करती है, वह पिता के स्थान में मामा के प्रति होती है। ऐसी हालत में यह कैसे कहा जा सकता है कि पुत्र में पिता के प्रति ईर्ष्या की भावना होती है, क्योंकि 'मातृ-प्रधान' जन-जातियों में तो बालक पिता को कुछ गिनता ही नहीं है। जो भी पिता की तरह आचरण करेगा, हुकूमत करेगा, उसकी माता से ज्यादह सम्पर्क बनायेगा, उसके प्रति पुत्र में ईर्ष्या पैदा हो जाना स्वाभाविक है, और इन निषेधाज्ञाओं का उत्पन्न होना उसी के कठोर व्यवहार से होता है।

(iii) रैडक्लिफ़-ब्राउन का विचार—रैडक्लिफ़-ब्राउन (Radcliffe-Brown) हर बात का समाजशास्त्रीय समाधान देते हैं, 'टैबू' का भी उन्होंने समाजशास्त्रीय समाधान ही दिया है। इनका कहना है कि समाज को सुव्यवस्थित रखने के लिए कुछ बातों का करना-न-करना आवश्यक होता है, इसी दृष्टि से निषेधाज्ञाएँ भी प्रचलित की जाती हैं। एक ही रक्त के लोगों में विवाह सम्बन्ध से समाज में व्यवस्था नहीं रह सकती, इसलिए इस प्रकार के विवाहों को वर्जित किया गया है। यौन-सम्बन्धों के विषय में जो बात कही जा सकती है, वह अन्य भी वर्जित तथा निषिद्ध बातों के विषय में कही जा सकती है, केवल उस पर गवेषणा करने की जरूरत है कि ऐसी निषेधाज्ञा क्यों चलाई गई।

(घ) बलिदान (Sacrifice)—धर्म तथा जादू की दृष्टि से देखा जाय तो बलिदान को भी इन दोनों दृष्टियों से देखा जा सकता है। धर्म की दृष्टि से जब बलिदान दिया जाता है, तब देवता को प्रसन्न करने के लिए, उसकी कृपा का पात्र बनने के लिए दिया जाता है, परन्तु जादू की दृष्टि से बलिदान का अर्थ होता है देवता के साथ एक तरह का सौदा करना। हम तुम पर बलि चढ़ाते हैं, इसके बदले तुम्हें हमारी इच्छा पूर्ण करनी होगी—जादू में यह दृष्टि प्रधान होती है। कोई-कोई अपनी जीभ काट कर चढ़ा देते हैं, कोई अपना हाथ काट देता है, कोई-कोई बलि चढ़ाने वाले, बच्चों को पकड़ कर उन्हें बलि चढ़ा देते हैं।

(ङ) जन्तर (तावीज़) तथा जड़-देवता (Amulets and Fetish)—आदिवासियों में जन्तर का बड़ा महत्त्व है। यह समझा जाता है कि इन जन्तरों, तावीज़ों में अलौकिक शक्ति होती है। जन्तर की शक्ति ऐसे ही मानी जाती है जैसे जलाना आग की शक्ति है। जन्तर अपनी शक्ति से अपने-आप काम करते हैं। जो जन्तर या तावीज़ धारण करता है, जन्तर उसकी अपने-आप रक्षा करता है। जन्तर को शक्तिशाली बनाने के लिए उसमें मंतर फूंकना पड़ता है। इस प्रकार के प्रयोग आज भी हमारे समाज में बहुत चल रहे हैं। 'जड़-देवता' (Fetish)-शब्द का प्रयोग सबसे पहले एक पुर्तगाली अन्वेषक ने पश्चिमी-आफ्रीका की नीग्रो जाति की लकड़ी की मूर्तियों के लिए किया था। वे लोग लकड़ी की मूर्तियां बना कर उनकी श्रद्धा-भक्ति से पूजा करते थे। इस दृष्टि से किसी भी जड़ अथवा चेतन वस्तु की इस भाव से पूजा करना कि वह किसी महान् शक्ति की आधार है 'फ़ेटिश-पूजा' कहलाता है। प्रायः 'फ़ेटिश' जड़ ही होता है। कई जन-जातियों में शिकार पर निकलने से पहले व्यक्ति अपने भाले को लिये उससे बातें करता बैठा रहता है। वह भाले को सम्बोधित करके उसे कहता है कि मुझे तुझ से कितना प्यार है, मैं तेरे लिए क्या-क्या करने को तैयार हूं! 'फ़ेटिश' की पूजा करते-करते जब काफ़ी समय गुज़र जाता है, तब उसे आराम कराया जाता है, यह समझा जाता है कि वह थक गया है, इसे सोने दिया जाय। अपने यहां देवी-देवताओं को निल्हाया, भोग लगाया जाता है, और मनुष्य के-से सब काम उनसे कराये जाते हैं। ये सब आदिवासियों के-से 'फ़ेटिश' के अवशेष हैं। अपने देश में मूर्त्ति में प्राण-प्रतिष्ठा करना भी अन्य जन-जातियों के समान जड़-देवता की पूजा का ही एक रूप है।

(च) रक्षक-देवता या वली (Tutelary or guardian spirit)—जैसे मनुष्य का अपने गुरु से निकट का सम्बन्ध होता है, वैसे आदिवासियों का विश्वास है कि प्रत्येक व्यक्ति उपवास, तपस्या, कठोर व्रत आदि से संरक्षक देवता को संतुष्ट कर उससे तादात्म्य स्थापित कर सकता है। उसके सामने यह संरक्षक देवता प्रकट होता है। मुसलमानों में इसे वली कहते हैं। जब यह संरक्षक-देवता एक बार सिद्ध हो जाता है तब समय-समय पर आवश्यकता पड़ने पर यह भगत के कष्टों को दूर करने के लिए प्रकट होता रहता है और उसे कष्टों से बचाता रहता है।

धर्म की दृष्टि से संरक्षक देवता का यही विचार जब जादू का रूप धारण करता है तब रक्षा का काम कोई जिन, दैत्य या राक्षस करता है। कोई महात्मा एक बाल दे जाता है जिसके जलाने से दैत्य प्रकट होता है, उसे जो-कुछ कहा जाय वह सब-कुछ दैत्य को ग़ुलाम की तरह करना पड़ता है। कभी-कभी बाल की जगह अंगूठी से यह काम लिया जाता है। अगर बाल, अंगूठी या ऐसी ही कोई चीज़ जिसके आधीन वह जिन, दैत्य या राक्षस होता है, खो जाये, तो जादूगर की सब शक्ति भी नष्ट हो जाती है। रक्षक-देवता का यह विचार प्रायः सर्वत्र पाया जाता है। जन-जातियों में तो यह विचार है ही, आजकल के लोग भी इन विचारों के शिकार पाये जाते हैं।

९. आदिकालीन धर्मों के कुछ उदाहरण

आदिकालीन धर्मों में धर्म तथा जादू दोनों का अंश पाया जाता है। धर्म तथा जादू के विषय में हमने इनके भिन्न-भिन्न पहलुओं पर प्रकाश डाला। अब हम भारत से भिन्न तथा भारत की जन-जातियों के धर्मों के कुछ उदाहरण देकर इस अध्याय को समाप्त करेंगे।

(क) साइबेरिया के धर्म का नमूना—साइबेरिया में धर्म मुख्य तौर पर 'भविष्य-कथन' (Divination) के रूप में पाया जाता है। धार्मिक समारोहों पर 'आत्माओं' (Spirits) से सम्पर्क स्थापित किया जाता है और पता लगाया जाता है कि किस बात से वे प्रसन्न हैं, किस बात से अप्रसन्न हैं। आत्माओं से सम्पर्क स्थापित करने का साधन 'माध्यम' (Medium) होते हैं, 'माध्यम' वे लोग कहलाते हैं, जिनके शरीर पर 'आत्मा' आती है और सिर्फ़ आती ही नहीं, अपितु आकर वह अपनी बात भी कहती है। जिस तरह पश्चात्य देशों में आजकल 'प्रेतात्मवाद' (Spiritualism) चला हुआ है, प्रेतात्मा किसी माध्यम में आती है, उसके द्वारा बोलती है, निर्देश देती है, लगभग इसी प्रकार की बात साइबेरिया में पायी जाती है। जब 'माध्यम' बोलता है, तब अजीब-सी आवाज़ निकलती है, ऐसा प्रतीत होता है कि पेट से आवाज़ आ रही है या कहीं दूर से आवाज़ आ रही है, वस्तुएँ इधर-उधर हिलने लगती हैं। 'माध्यम' में जो आत्मा प्रवेश करती है वह प्रेत अर्थात् किसी मृत व्यक्ति की आत्मा न होकर संसार का नियन्त्रण करने वाली आत्माओं में से कोई होती है।

'माध्यम' बन सकने वाले व्यक्ति ही 'शमन' (पाधा) कहे जाते हैं। वे बीमार-से, स्नायु-रोगी होते हैं। युवावस्था में ही प्रकट होने लगता है कि कौन व्यक्ति इस प्रकार का धार्मिक-जीवन व्यतीत करेगा। स्नायु-रोग के लक्षण जब किसी को शुरू हो जाते हैं, तब समझा जाता है कि इसे तो अब 'शमन' बनना ही पड़ेगा। यह जीवन कोई अच्छा नहीं समझा जाता, परन्तु उक्त लक्षणों के होने पर लाचारी से ऐसा जीवन व्यतीत करने को बाधित होना पड़ता है। जिन माध्यमों में आत्मा का प्रवेश पूरा-पूरा हो जाता है वे पुरुष के स्थान में स्त्री का-सा बरतने लगते हैं। स्त्री तथा सन्तान के रहते हुए भी कई स्त्री का वेश धारण

कर लेते हैं। आत्मा का कभी-कभी उन पर अधिकार इतना ज़बर्दस्त हो जाता है कि वे स्त्री के-से काम-काज करने लगते ह और यह समझा जाता है कि अब इन्होंने किसी 'पुरुष-आत्मा' से विवाह कर लिया है और इन्हें पुरुष के शरीर म रहते हुए उस आत्मा की स्त्री बन कर रहना है।

यह सब एक तरह का 'शमनवाद' (पाधावाद—Shamanism) है। ये लोग मंत्रों का प्रयोग करते हैं। हर छोटे-बड़े अवसर पर मंत्रों का प्रयोग किया जाता है। मंत्रों के साथ जन्तर, ताबीज़ का भी इस्तेमाल होता है। 'माध्यम' का प्रयोग करना इस धर्म की मुख्य विशेषता है। ये 'माध्यम' आत्माओं की क्या इच्छा है—यह बतलाया करते हैं। खोई हुई चीज़ों का पता तथा लोगों के प्रश्नों के उत्तर भी ये देते हैं।

(ख) न्यू मैक्सिको तथा एरीज़ोना के प्यूब्लो इंडियनों के धर्म का नमूना—इस धर्म में 'माध्यम' का प्रयोग नहीं किया जाता, 'भविष्य-कथन' को कोई महत्त्व नहीं दिया जाता, धार्मिक-कृत्यों में स्नायु-रोगियों तथा 'शमनों' को भी कोई स्थान नहीं है। प्यूब्लो इंडियनों में अनेक जन-जातियाँ हैं, जिनमें एक जन-जाति ज़ूनो कहलाती है। ज़ूनी जन-जाति का सामाजिक-संगठन लौकिक-आधार पर खड़ा न होकर धार्मिक-आधार पर खड़ा है। जैसे ईसाइयों के कैथोलिक सम्प्रदाय में पोप ही उनका शासक है, वैसे ज़ूनी-संगठन में पुरोहित-वर्ग सारे संगठन को चलाता है। पुरोहित-वर्ग ने साल का पंचांग बनाया होता है और साल भर किसी-न-किसी प्रकार का विधि-विधान चला करता है। हिन्दुओं में जैसे आज द्वादशी है, फिर पूर्णिमा है, कभी नव-रात्र है, और हिन्दुओं के पंचांगों से जकड़े हुए जीवन का संचालन पुरोहित लोग करते हैं, ऐसे ही ज़ूनी जन-जाति के जीवन का हाल है। इनके विधि-विधान का मुख्य लक्ष्य 'उत्पादन-शक्ति' की आराधना करना है ताकि इनके रेतीले मैदानों में भारी वर्षा हो, खेत हरे-भरे हों, पुत्र-पौत्रों से घर सदा भरा रहे। बीमारी से बचने, ख़तरे को पार करने तथा शिकार में सफलता के लिए प्रार्थनाएँ की जाती हैं, परन्तु वर्षा का वर्णन इन प्रार्थनाओं में भी पाया जाता है क्योंकि 'उत्पादन-शक्ति' की आराधना इनके धर्म का मुख्य अंग है।

ज़ूनी जन-जाति में धर्म एक सामूहिक-कृत्य है, वैयक्तिक-कृत्य नहीं। कोई आदमी वैयक्तिक तौर पर किसी प्रकार का धार्मिक-कृत्य नहीं करता। जब भी किसी को किसी प्रकार का धार्मिक-कृत्य करना होता है, तो उसे उस कृत्य को सामूहिक तौर पर ही करना पड़ता है। अगर कोई ख़ास अपने लिए किसी कृत्य को करता है, तो उस पर जादूगरी का आरोप लगाया जाता है। पारलौकिक-शक्ति के साथ सम्पर्क स्थापित करने का साधन वैयक्तिक तौर पर कुछ करने के स्थान में सामूहिक तौर पर धार्मिक-कृत्य को करना है। सब लोग मिले-जुले हों और सब के भले के लिए धार्मिक-कृत्य किया जाय—इनमें यही धर्म का सही तरीका है। तो क्या मनुष्य को वैयक्तिक तौर पर आध्यात्मिक-शक्ति प्राप्त ही नहीं होती? ज़ूनी जन-जाति में यह समझा जाता है कि मनुष्य को वैयक्तिक

तौर पर भी आध्यात्मिक-शक्ति तभी प्राप्त होती है, जब वह पुरोहितों के किसी वर्ग का सदस्य होता है, समूह का अंग होता है। जो समूह का अंग नहीं होता, उसे आध्यात्मिक-शक्ति भी प्राप्त नहीं होती। इस दृष्टि से इन लोगों में साइबेरियनों की तरह 'शमन' नहीं होते क्योंकि 'शमन' तो उस व्यक्ति को कहते हैं जिसे व्यक्ति-रूप में आत्मा अपना माध्यम चुनता है। साइबेरियन तथा जूनी धर्म के भेद के विषय में यह कहा जा सकता है कि जहाँ साइबेरियन-धर्म वैयक्तिक है, वहाँ जूनी-धर्म सामुदायिक है।

(ग) भारत की जन-जातियों के धर्म—किसी समय यह समझा जाता था कि भारत की जन-जातियों में धर्म का विचार नहीं है, परन्तु उसके बाद यह कहा जाने लगा कि उनमें 'जीववाद' (Animism) पाया जाता है। उदाहरणार्थ, कोरवा जन-जाति के लोग खेती का एक अलग, वर्षा का एक अलग, पशुओं की देख-रेख करने वाला एक अलग देवता मानते हैं। पड़ौसियों के साथ उनके व्यवहार को नियन्त्रित करने वाला उनका देवता अलग ही है। देवता शुभ तथा अशुभ दोनों प्रकार के होते हैं। शुभ की उपासना का कोई फ़ायदा नहीं, क्योंकि वह कोई नुकसान नहीं पहुँचाता, अशुभ ही तो नुकसान पहुँचाता है, उसी को सन्तुष्ट करना होता है, इसलिए कहा जाता था कि भारत के आदिवासियों के 'जीववाद' में अधिकतर अशुभ देवताओं की पूजा का ही विधान मिलता है। कहीं नाग की पूजा, तो कहीं खून पीने वाली किसी देवी की पूजा। भारत की जन-जातियों के धर्म के विषय में हट्टन (Hutton) का कहना है कि इन्हें 'जीववाद' (Animism) कहने के स्थान में 'जन-जातीय-धर्म' (Tribal religions) कहना अधिक उपयुक्त है क्योंकि इनका हिन्दू-धर्म से इतना गहन सम्बन्ध है कि अगर हिन्दू-धर्म को 'जीववाद' न कहकर हिन्दुओं का धर्म कहा जाता है, तो इन्हें भी 'जीववाद' न कह कर जन-जातियों का धर्म कहना चाहिए। हट्टन का यह कहना तो नहीं है कि हिन्दूधर्म और जन-जातियों के धर्म में भेद नहीं है, परन्तु वह इस बात पर अवश्य जोर देता है कि ये दोनों एक-दूसरे में इतने रल-मिल गये हैं, कि कहीं-कहीं इनको एक-दूसरे से अलग-अलग करना कठिन हो जाता है। उसका कहना है कि हिन्दू-धर्म ने जन-जातियों के धर्म को बहुत अधिक अंश में आत्मसात् कर लिया है, उनकी अनेक बातों को अपना लिया है, और जन-जातियों के धर्मों में अब भी बहुत-कुछ ऐसा मसाला बचा हुआ है कि जिसे अभी तक हिन्दू-धर्म ने आत्मसात् नहीं किया। एलविन (Elwin) भी हट्टन से सहमत है। उसका भी कहना है कि हिन्दू-धर्म तथा जन-जातियों के धर्मों में भेद करना कठिन है। घूर्ये का (Ghurye) तो यहाँ तक कहना है कि हिन्दू-धर्म तथा जन-जातियों के धर्म में कोई भेद ही नहीं है, जन-जातियाँ सिर्फ़ हिन्दू-धर्म के निम्न-स्तर के लोगों का नाम है, इन जन-जातियों की हिन्दुओं से अलग सत्ता ही नहीं है, इन्हें 'जीववादी' या 'आदिवासी' कहने के स्थान में 'पिछड़े हुए हिन्दू' कहना अधिक उपयुक्त है। घूर्ये का कथन अत्युक्तिपूर्ण प्रतीत होता है क्योंकि आदिवासियों तथा हिन्दुओं एवं

उनके धर्मों में कुछ आधारभूत भेद भी दिखाई देते हैं। यह हो सकता है कि मिशनरी स्पिरिट में कुछ हिन्दुओं के उद्योगों का परिणाम यह हो रहा हो कि आदिवासी अपने धर्म को छोड़ कर हिन्दू धर्म को अपनाते जा रहे हों, और उनके धर्म तथा हिन्दू धर्म में भेद कम होता दीखता हो, परन्तु जैसा एलविन ने कहा है, आदिवासी तो जिन देवी-देवताओं को पूजते चले आ रहे हैं, उन से दो-चार अधिक या नये देवी-देवताओं को पूजने में भी उन्हें कोई एतराज नहीं दीखता, इसलिए वे अपने देवताओं के साथ हिन्दुओं के देवी-देवताओं को भी पूजने लगे हैं, परन्तु फिर भी इन दोनों में भेद बना ही हुआ है। हट्टन ने तो इस भेद को दर्शाने के लिए आदि-वासियों के धर्म की कुछ विशेष-विशेष बातों का उदाहरण भी दिया है। उदाहरणार्थ, आदिवासियों के कई धर्मों में दूसरे का सिर काट लाना (Head-hunting) महत्त्व की वस्तु है। नागा लोगों में जो युवा दूसरों का सिर काट लाता है वह विवाह का अधिकारी समझा जाता है। इसी प्रकार 'नर-बलि' (Human sacrifice) भी कहीं-कहीं महत्त्वपूर्ण धार्मिक-संस्कार है। फिर भी इसमें सन्देह नहीं कि ज्यों-ज्यों ये जन-जातियां हिन्दुओं के सम्पर्क में आती जाती हैं, त्यों-त्यों इनके धार्मिक विचारों, विधि-विधानों में पहले से भेद आता जाता है। इसका दो तरह का परिणाम है। एक तो इसका अच्छा परिणाम है। अगर वे इस सम्पर्क के परिणामस्वरूप घृणित धार्मिक-कृत्यों को छोड़ दें, दूसरों का सिर काटना, नर-बलि चढ़ाना आदि का त्याग कर दें, तो अच्छा है, परन्तु इस सम्पर्क का एक बुरा परिणाम भी हो सकता है। इस सम्पर्क के परिणामस्वरूप आदि वासियों का धर्म ही नष्ट हो सकता है। प्रयत्न यह होना चाहिए कि इनके धर्म की आधारभूत बातें बची रहें क्योंकि उनमें कई अच्छी बातें भी पायी जाती हैं।

(घ) आदिवासी तथा ईसाइयत—आदिवासियों का सम्पर्क हिन्दू-धर्म तथा ईसाई-धर्म—अधिकतर इन दो से हुआ है। इनके सम्पर्क में आने से आदिवासियों के धर्म में परिवर्त्तन हुआ है। भारत के मध्य-भाग की गोंड, भील, मुड़िया जन-जातियों का सम्पर्क हिन्दुओं से हुआ है और इससे वे हिन्दुओं के देवी-देवताओं को पूजने लगे हैं, परन्तु हिन्दुओं में आर्यसमाजियों को छोड़ कर अपने धर्म के प्रचार का उत्साह नहीं है। अपने धर्म के प्रचार का कार्य ईसाई मिशनरियों की तरफ से होता रहा है और आर्यसमाजी इनसे टक्कर लेते रहे हैं। आर्यसमाजियों का ईसाई मिशनरियों के साथ टक्कर लेने का उद्देश्य सदा यह रहा है कि वे ईसाई आदिवासियों की भलाई भले ही करें, परन्तु उन्हें अपने धर्म से विचलित न करें। इसमें सन्देह नहीं कि ईसाई लोग बड़े त्याग, बड़ी तपस्या, बड़ी लगन के साथ बीहड़ जंगलों में जाकर आदिवासियों की सेवा करते हैं, उन के लिए पाठशालाएँ, अस्पताल, अनाथालय आदि खोलते हैं, परन्तु इस सब का उद्देश्य आदिवासियों की सेवा करना न होकर उन्हें ईसाई बनाना होता है। ईसाइयों के आदिवासियों में मुख्य कार्य निम्न हैं:

(i) पाठशालाएँ चलाना—ईसाई पादरियों ने आदिवासियों के बालकों को शिक्षा देने के लिए बीहड़ जंगलों और पहाड़ों में जाकर अनेक पाठशालाएँ खोली हैं, वे उन्हें मुफ्त शिक्षा देते हैं। जन-जातियों में घुल-मिल कर ईसाई पादरी अपना सारा जीवन उनमें व्यतीत कर देते हैं, उनकी भाषा सीखते हैं, उनकी भाषाओं के व्याकरण और शब्द-कोष बनाते हैं, उनके रीति-रिवाजों का अध्ययन कर उन्होंने मानव-शास्त्र को बहुत-कुछ दिया है, परन्तु इन पादरियों का मुख्य उद्देश्य आदिवासियों को, उनके बच्चों को शिक्षा देकर ईसाई बनाना होता है, उनकी सेवा करना नहीं। पोप पायस XI ने २९ दिसम्बर १९२९ में अपना एक आदेश जारी किया था जिसमें ईसाई-शिक्षा का सार दे दिया था। यह आदेश ईसाई-धर्म की शिक्षा का आधारभूत सिद्धान्त माना जाता है। इस आदेश में कहा गया था कि मनुष्य में पैदाइश से ही पाप का बीज है, इस पापी मनुष्य का ईसा-मसीह ने उद्धार किया है। मनुष्य के उद्धार की यह भावना शिक्षा में ओत-प्रोत होनी चाहिए। इस आदेश का लक्ष्य भी कोई बुरा नहीं है, परन्तु इसका परिणाम यह है कि ईसाई पादरी बच्चों को और आदिवासियों को यह समझते हुए कि वे उनकी आत्मा का उद्धार कर रहे हैं सदा ईसाई बनाने का प्रयत्न करते हैं। अगर वे उन्हें ईसाई नहीं बना सकते, तो वे अपना शिक्षा का सब कार्य व्यर्थ समझते हैं।

(ii) अस्पताल चलाना—ईसाई पादरियों ने आदिवासियों के लाभ के लिए अनेक अस्पताल भी खोले हैं, रोगियों की बहुत सेवा की है। अस्पताल खोलना और रोगियों की सेवा करना अपने आप में एक बहुत बड़ा प्रशंसनीय कार्य है, परन्तु इस सब का उद्देश्य भी आदिवासियों को ईसाई बनाना होता है। सेवा का यह कार्य सेवा-भाव से नहीं किया जाता, आदिवासियों को ईसाई बनाने के लिए किया जाता है, यह समझा जाता है कि शरीर का इलाज आत्मा के इलाज के लिए है। ईसाई पादरी अस्पताल खोलकर आदिवासियों को धर्म-परिवर्त्तन के लिए प्रेरित करते हैं।

(iii) अनाथालय खोलना—ईसाई पादरी अनाथ बच्चों के लिए अनाथालय खोलते हैं, ग़रीबों को अन्न-वस्त्र की सहायता भी देते हैं। यह सब काम भी सेवा-भाव से न करके इन लोगों को अपने धर्म को छोड़ने के लिए प्रेरित करने के लिए किया जाता है। कभी-कभी तो आदिवासियों को इस शर्त्त पर उधार दिया जाता है कि वे अपनी चोटी काट डालें। जो नहीं काटते उन्हें सूद सहित रुपया चुकाने के लिए बाधित किया जाता है।

आदिवासियों में ईसाई मिशनरियों के प्रचार का परिणाम यह है कि असम की पहाड़ी जन-जातियों में खासिया जन-जाति ३० प्रतिशत, मिकिर जन-जाति २० प्रतिशत तथा नागा जन-जाति ७५ प्रतिशत ईसाई बन चुकी है। मध्य-भारत में अकेले रायगढ़ ज़िले की जसपुर तहसील में करोड़ों रुपया खर्च करके २ लाख ६६ हजार जन-जातीय व्यक्तियों में से डेढ़ लाख को ईसाई बना लिया है। ट्रावन-

कोर-कोचीन में २० लाख ईसाई बन चुके हैं। राजस्थान के बांसवाड़ा जिले में भीलों को ईसाई बनाया जा रहा है।

नियोगी-कमेटी—१४ अप्रैल १९५४ में मध्य-प्रदेश सरकार ने एक कमेटी बनायी जिसके अध्यक्ष श्री भवानीशंकर नियोगी थे। इसके सदस्य श्री घनश्याम सिंह गुप्त, सेठ गोविन्द दास, श्री कीर्त्तिमन्त राव, श्री एस० के० जार्ज तथा श्री पाठक थे। इस कमेटी के बनाने के उद्देश्यों में कहा गया था कि क्योंकि राज्य-सरकार के पास शिकायतें पहुँची हैं कि ईसाई पादरी धोखे से और प्रलोभन देकर आदिवासियों को धर्म-परिवर्त्तन के लिए प्रेरित करते हैं तथा धर्म की आड़ में राजनैतिक उद्देश्यों से काम कर रहे हैं, साथ ही ईसाई पादरी इन आरोपों का खण्डन करते हैं, इसलिए इन विषयों पर सचाई का पता लगाना इस कमेटी का काम होगा।

नियोगी कमेटी ने १९५६ में अपनी रिपोर्ट तैयार की। इस रिपोर्ट में कहा गया कि जनवरी सन् १९५० से जून सन् १९५४ तक साढ़े तीन वर्षों में ईसाई मिशनरियों के पास विदेशों से २९.२७ करोड़ रुपया प्राप्त हुआ जिसमें से २०.६८ करोड़ रुपया सिर्फ़ अमरीका से आया। रिपार्ट के अनुसार इस समय स्थिति यह है कि अमरीका भारत में 'कम्यूनिज्म' न आने देने के लिए प्रयत्नशील है और इस उद्देश्य से ईसाइयों को रुपए की मदद कर रहा है। भारत के स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद ईसाइयों का लक्ष्य भारत को कम्यूनिज्म से बचाना हो गया है और अब ये लोग बड़े जोर-शोर से इसी लक्ष्य को लेकर आदिवासियों में काम कर रहे हैं। इनका उद्देश्य सेवा-भाव या धार्मिक न रह कर राजनैतिक हो गया है। नियोगी-कमेटी ने जो सुझाव दिये हैं, वे निम्न हैं :

(i) धर्म-परिवर्त्तन के लिए चिकित्सा या अन्य व्यावसायिक सेवाओं का उपयोग कानूनन बन्द किया जाय,

(ii) संविधान की इस व्यवस्था को कार्यान्वित किया जाय कि स्कूलों में विद्यार्थियों के माता-पिता की अनुमति लिये बिना उन्हें मजहबी शिक्षा न दी जाय,

(iii) धार्मिक-संस्थाओं को चाय के उद्योगों के लिए मजदूरों की भर्त्ती जैसे काम नहीं करने दिये जायँ,

(iv) अनाथालय चलाने का मुख्य कार्य सरकार का है क्योंकि जिनका कोई अभिभावक नहीं है, उनकी अभिभावक सरकार है,

(v) राज्य, प्रदेश तथा जिला स्तरों पर ग़ैर-सरकारी व्यक्तियों के बोर्ड बनाये जायँ जिनमें बहुमत आदिवासियों तथा हरिजनों का हो,

(vi) अस्पतालों में काम करने वाले डाक्टरों, नर्सों तथा अन्य व्यक्तियों के रखने में यह शर्त्त लगा दी जाय कि वे अपने सेवा-काल में धर्म-प्रचार का कार्य नहीं करेंगे,

(vii) राज्य-सरकार से अनुमति लिये बिना धर्म-प्रचार-सम्बन्धी साहित्य के वितरण पर प्रतिबन्ध लगा दिया जाय,

(viii) सरकारी अनुदान प्राप्त करने वाली संस्थाओं का तिमाही निरीक्षण हो,

(ix) अनुसूचित जातियों तथा आदिवासियों में शिक्षा, चिकित्सा तथा सामाजिक-सेवा का काम सिर्फ़ राज्य करे। ग़ैर-सरकारी संस्थाएँ अपने धर्म के लोगों में ये सेवाएँ कर सकें, अन्यत्र नहीं,

(x) किसी भी ग़ैर-सरकारी एजेंसी को विदेश से सहायता सिर्फ़ सरकार के माध्यम से मिल सके,

(xi) किसी भी विदेशी को किसी भी अनुसूचित-क्षेत्र में स्वतन्त्र रूप से या किसी धार्मिक संगठन के सदस्य होने के नाते काम करने की इजाजत तब तक न दी जाय जब तक वह लिखित वचन न दे कि वह राजनीतिक-दृष्टि से काम नहीं करेगा।

(xii) सामाजिक और आर्थिक उत्थान के लिए तैयार किये गये ग़ैर-सरकारी या धार्मिक-संस्थाओं के कार्य-क्रम सरकार द्वारा पूर्व-स्वीकृत होने चाहिएँ।

इसमें सन्देह नहीं कि आदिवासियों में ईसाइयत के प्रचार से उनमें शिक्षा, स्वास्थ्य आदि का प्रचार हुआ है। ये बातें तो उनके लाभ की हुई हैं, परन्तु उन्हें इससे कुछ नुकसान भी पहुँचा है। वह क्या है? उन्हें नुकसान यह पहुँचा है कि उनका सामाजिक-जीवन विगठित होता जा रहा है। आदिवासियों में दो प्रकार के व्यक्ति पैदा हो गये हैं--एक तो वे जो अपनी परम्परागत रूढ़ियों को मानते हैं, दूसरे वे जिनकी ईसाई हो जाने के कारण अपनी नई बिरादरी बन गई है, जिनको अपनी परम्परागत रूढ़ियों, प्रथाओं पर आस्था नहीं रही, जो ईसाइयों के प्रभाव में आ गये हैं। आदिवासी इतने उन्नत तो हुए नहीं कि सारा-का-सारा समाज उन्नति के मार्ग पर चल पड़ा हो, समाज का अधिकांश भाग तो अभी सदियों पीछे है, कुछ हिस्सा ईसाई हो जाने के कारण उन्नत तो नहीं कहा जा सकता, परन्तु अपनी जात-बिरादरी से अलग अवश्य होता जा रहा है। इससे आदिवासियों का जीवन सुखी नहीं हो सकता। परन्तु यह बात सिर्फ़ ईसाइयों के विषय में नहीं कही जा सकती। अगर आदिवासी ईसाइयों के सम्पर्क में नहीं आयेंगे, तो अन्य किसी विकसित विचार-धारा के सम्पर्क में तो आयेंगे ही, और नहीं तो हिन्दुओं के सम्पर्क में आयेंगे, जिस किसी के भी सम्पर्क में आयेंगे वह उन्नत तथा विकसित विचारों के होंगे। परिणाम यह होगा और हो रहा है कि आदिवासियों के अबतक के विचारों में परिवर्त्तन आयेगा। वे जादू-टोने की पुरानी रूढ़ियों को छोड़ेंगे, वैज्ञानिक बातों को धीरे-धीरे सीखेंगे। इस समय तो उनमें ईसाई ही काम कर रहे हैं, और ईसाइयों के सम्पर्क में आने का यह परिणाम हो रहा है कि मानव-शास्त्री आदिवासियों के धर्मों को 'तटवर्ती-धर्म' (Marginal religions) का नाम देने लगे हैं, 'तटवर्ती' इसलिए क्योंकि अब ये न तो पुरानी रूढ़ियों के ही दास रह गये हैं, न नवीन वैज्ञानिक दृष्टिकोण को ही अपना सके ह।

१०

भारत की जन-जातियाँ तथा समाज-कल्याण

(INDIAN TRIBES AND SOCIAL WELFARE)

१. प्रशासकीय-व्यवस्था

(क) वर्तमान-व्यवस्था—भारत के आदिवासियों की कल्याण-योजनाओं की देख-रेख करने के लिए इस समय जो व्यवस्था है वह यह है कि दिल्ली में गृह-मंत्रालय के आधीन केन्द्रीय कार्य के लिए एक 'आयुक्त' (कमिश्नर) नियत है। इसकी नियुक्ति विधान की ३३८ धारा के अनुसार राष्ट्रपति स्वयं करता है। प्रारम्भ से ही इस पद पर श्रीयुत् एल० एम० श्रीकान्त काम कर रहे हैं। प्रान्तों में कार्य के लिए संविधान की धारा १६४ (I) के अनसार बिहार, मध्य-प्रदेश तथा उड़ीसा में 'कल्याण-विभाग' (Welfare Departments) खोल दिये गये थे। अब आन्ध्र-प्रदेश, असम, बम्बई, केरल, मद्रास, मैसूर, पंजाब, राजस्थान, उत्तर-प्रदेश, पश्चिमी बंगाल, हिमाचल-प्रदेश, मणिपुर तथा त्रिपुरा में भी आदिवासियों के लिए 'कल्याण-विभाग' खोल दिये गये हैं। इस आयुक्त के नीचे १९५६–५७ से इनमें १६ 'प्रादेशिक-सहायक-आयुक्तों' (रीजनल असिस्टेंट कमिश्नर्स) के पद खोले गये जिन्हें अब 'प्रादेशिक-सहायक-आयुक्त' न कहकर 'सहायक-आयुक्त' (असिस्टेंट कमिश्नर) कहा जाता है। इनमें से अभी कुछ पद रिक्त हैं जिनकी अर्थाभाव के कारण पूर्ति नहीं हो सकी ? 'आयुक्त' तथा 'सहायक-आयुक्तों' का काम जहाँ देश की अनुसूचित-जातियों तथा अन्य पिछड़ी जातियों की समस्याओं को हल करना और उनकी देख-रेख करना है वहाँ आयुक्त का काम आदिवासियों की स्थिति तथा उनकी समस्याओं का यथार्थ रूप राष्ट्रपति के सम्मुख रखना भी है। इस दृष्टि से प्रतिवर्ष 'आयुक्त' की तरफ़ से एक रिपोर्ट राष्ट्रपति के सम्मुख पेश की जाती है जिस पर पार्लियामेन्ट में विचार होता है। 'आयुक्त' (कमिश्नर) का काम देश में जगह-जगह घूम-फिर कर इन सब की समस्याओं का पता लगाना है, परन्तु वह स्वयं कर कुछ नहीं सकता, राष्ट्रपति को सलाह भर देता है।

उक्त 'आयुक्त' के अतिरिक्त आदिवासियों की कल्याण-समस्याओं पर विचार करने के लिए एक 'केन्द्रीय परामर्शदातृ-आदिवासी-कल्याण-पटल' (Central Advisory Board for Tribal Welfare) भी बनाया गया जिसमें पार्लियामेंट के प्रतिनिधि तथा जनता के प्रतिनिधि रखे गये। इस

'पटल' का कार्य सरकार को आदिवासियों की कल्याण-योजनाओं के सम्बन्ध में समय-समय पर सलाह देते रहना है। प्रान्तों में 'परामर्शदात्री कल्याण-कौंसिल' (Tribes Advisory Welfare Councils) बनी हुई हैं और ज़िलों में 'परामर्शदात्री समितियाँ' (Tribes Welfare Advisory Committees) बनी हुई हैं। इनका काम भी सलाह देना मात्र है, स्वयं कर तो ये भी कुछ नहीं सकतीं।

(ख) प्रस्तावित-व्यवस्था—श्री काका कालेलकर की अध्यक्षता में १९५३ में जो 'पिछड़ी जातियों का आयोग' (Backward Classes Commission) बना था उसने अपनी ३१ मार्च १९५५ की रिपोर्ट में आदिवासियों की समाज-कल्याण-सम्बन्धी प्रशासकीय-व्यवस्था के लिये जो परामर्श दिये थे उनके अनुसार आयोग का कहना था कि जैसे देश के विभाजन के बाद विस्थापितों के पुनर्वास के लिए एक 'पुनर्वास-मंत्रालय' (Rehabilitation Ministry) की स्थापना हुई थी, वैसे ही आदिवासियों की समस्या को एक तीव्र समस्या समझ कर केन्द्र में तथा प्रान्तों में 'उद्धार मंत्रालय' (Ministry for the Advancement of Backward Classes) की स्थापना होनी चाहिये। केन्द्र के तथा प्रान्तों के इन मंत्रालयों का कार्य आदिवासियों की समस्याओं को हल करना होना चाहिए। इस समय तो 'आयुक्त' राष्ट्रपति के तथा 'केन्द्रीय परामर्शदातृ-पटल' गृह-मंत्रालय के आधीन काम करते हैं, और सिर्फ़ सलाह देने का काम करते हैं, परन्तु अब प्रस्ताव यह है कि प्रस्तावित मंत्रालय गृह-मंत्रालय के आधीन न होकर एक स्वतंत्र मंत्रालय होना चाहिए, और सिर्फ़ सलाह देने का काम करने के स्थान में अन्य मंत्रालयों की तरह यह मंत्रालय सब काम स्वयं कर सके, सलाहें ही न देता रहे। इस समय अनेक नेता लोग जन-जातियों के असन्तोष को लेकर उन्हें भड़काते रहते हैं। यह सब असन्तोष तभी दूर हो सकता है अगर एक स्वतंत्र मंत्रालय इनकी समस्याओं की तरफ़ ही ध्यान देता रहे। इस मंत्रालय के आधीन केन्द्र में तथा प्रान्तों में 'परामर्श-दातृ-समितियाँ' (Central and Provincial Advisory Boards) बनाई जायें जिनका काम आदिवासियों की समस्याओं पर समय-समय पर विचार करते रहना हो। आदिवासियों की कल्याण-सम्बन्धी सब योजनाएँ इन 'परामर्श-दातृ-समितियों' के सम्मुख रखी जायें और उन पर इन समितियों में पूरा-पूरा विचार-विनिमय हो।

२. आदिवासियों की 'समाज-कल्याण-संबंधी'-योजनाओं पर व्यय

आदिवासियों की समाज-कल्याण सम्बन्धी समस्याओं को हल करने के लिए जिन योजनाओं पर धन का व्यय किया जाता है वे हैं—शिक्षा, कृषि, गृहोद्योग, स्वास्थ्य, गृह-निर्माण, यातायात, सहकारिता, पुनर्वास, जंगल, पशु-विभाग, प्रचार-विभाग, कम्युनिटी सेंटर, ग़ैर-सरकारी संस्थाओं को सहायता, प्रबन्ध, डिवेलपमेंट ब्लॉक तथा अन्य-व्यय। प्रथम तथा द्वितीय पंच-वर्षीय योजनाओं

में इन विभागों पर जो व्यय हुआ उससे यह स्पष्ट हो जायगा कि कल्याण-योजनाएँ कहाँ तक अपना कार्य कर सकती हैं। इस व्यय का व्यौरा निम्न है [1]।

आदिवासियों की समाज-कल्याण योजनाओं पर व्यय का व्यौरा

योजना	प्रथम पंचवर्षीय योजना पर व्यय	द्वितीय पंचवर्षीय योजना पर प्रस्तावित व्यय
शिक्षा	५,१०,३३,५१८	८,८२,४४,८४५
कृषि	२,६५,९८,८५२	२,२२,९३,६७१
गृहोद्योग	४७,४३,१८३	२,३८,५०,५८०
स्वास्थ्य	१,५३,५२,६०१	५,००,३२,५७८
गृह-निर्माण	४८,९१,०२४	२,२६,४३,९५०
यातायात	४,०७,९९,५५१	८,७८,९५,८५०
सहकारिता	४९,७५,५६४	१,३९,७१,०२५
पुनर्वास	४,५७,०२१	३,३६,४३,२७५
जंगल	५७,८९,४३२	१,०५,५९,४१५
पशु-विभाग	११,५३,४५१	४८,२४,२५२
प्रचार-विभाग	६,६२,१५७	६,६१,०९५
कम्युनिटी सेंटर	७,१७,७४८	१,१४,०००
ग़ैर-सरकारी संस्थाएँ	१८,६२,११८	४४,७६,३५०
प्रबन्ध	५४,५७,६७६	२,०२,८६,१०९
डिवेलपमेंट ब्लॉक	——	६,४२,००,०००
अन्य-व्यय	९१,७०,६८८	१,५६,६१,९१०
योग	१७,३६,६४,५८४	४८,३३,५८,९०५

उक्त विवरण से स्पष्ट है कि प्रथम पंच-वर्षीय योजना में आदिवासियों [illegible]

द्वितीय पंच-वर्षीय योजना में इनकी कल्याण-योजनाओं पर ४८ करोड़ ३३ लाख के लगभग व्यय किया जा रहा है। हरिजनों तथा अन्य पिछड़ी जातियों पर जो व्यय किया जा रहा है वह इस व्यय से अलग है।

अब हम आदिवासियों के लिए चलाई गई भिन्न-भिन्न सामाजिक-कल्याण की योजनाओं पर कुछ प्रकाश डालेंगे।

३: आदिवासियों के लिये 'शिक्षा-संबंधी' कल्याण-योजनाएँ

आदिवासियों की शिक्षा के सम्बन्ध में अनेक योजनाएँ चलाई गई हैं जिनमें से कुछ निम्न हैं :—

1. India—1956, page 169 तथा Report of the Commissioner for Scheduled Castes and Tribes for 1956-1957, Part II, Appendices, 48.

(क) केन्द्रीय सरकार की अन्तर्देशीय छात्रवृत्तियाँ (Inland scholarships of Government of India)— १९४४-४५ में अनुसूचित जातियों के बालकों को छात्रवृत्ति देने का उपक्रम शुरू किया गया था। १९४८-४९ में ये छात्रवृत्तियाँ अनुसूचित जन-जातियों अर्थात् आदिवासियों को भी दी जाने लगीं। १९५७-५८ में अनुसूचित जन-जातियों के छात्रों के ४,३०० प्रार्थना-पत्र इन छात्रवृत्तियों के लिए प्राप्त हुए जिनमें से सभी को छात्रवृत्ति दी गई। १९५८-५९ से तो यह व्यवस्था भी कर दी गई है कि विश्व-विद्यालय में शिक्षा प्राप्त करने वाले प्रत्येक आदिवासी को उसके परीक्षा के विभाग देखे बिना छात्रवृत्ति दी जायगी। अनुसूचित जन-जातियों पर छात्रवृत्ति के तौर पर क्या व्यय हो रहा है यह निम्न तालिका से स्पष्ट हो जायगा।[1]

वर्ष	छात्र वृत्तियों की संख्या	अनुसूचित आदिवासियों पर छात्रवृत्ति का व्यय
१९४८-४९	८४	४५,९८६
१९४९-५०	१८६	९४,९६५
१९५०-५१	३४८	१,८५,३०१
१९५१-५२	५७५	२,८१,७८०
१९५२-५३	१,०९३	५,२२,४५२
१९५३-५४	१,५८७	८,१८,५३८
१९५४-५५	२,३५६	१२,३७,७३३
१९५५-५६	२,८८३	१३,०५,२३८
१९५६-५७ (लगभग)	३,५०५	१५,६८,०००
योग	१२,६१७	६०,५९,९९३

उक्त तालिका से स्पष्ट है कि अनुसूचित जन-जातियों के बालकों को दी जाने [illegible] जा रही है और इस योजना का वे लोग पूरा लाभ उठा रहे हैं।

(ख) प्रान्तीय सरकारों की अन्तर्देशीय छात्रवृत्तियाँ (Inland scholarships of State Governments)—अनेक प्रान्तीय-सरकारें जन-जातीय छात्रों का परीक्षा-शुल्क जो उन्हें विश्वविद्यालय को देना पड़ता है, स्वयं देती हैं। केरल-सरकार उन जन-जातीय छात्रों को जो न्यायालय की 'सनद'-परीक्षा में बैठते हैं, ५५२ रुपया प्रति छात्र सहायता के रूप में देती है। केरल में जो छात्र किसी वकील के आधीन प्रशिक्षण ग्रहण करते हैं या किसी अस्पताल में हाउस-सर्जन का काम सीखते हैं, उनमें से कुछ-एक को भी साल भर के लिए ५० रुपया

1. Report of the Commissioner for Scheduled Castes and Tribes for 1956-57, Part II, Appendices. Page 64.

प्रतिमास छात्रवृत्ति दी जाती है। केरल की तरह अन्य राज्य-सरकारों को भी इस दिशा में कदम बढ़ाना चाहिये।

(ग) छात्रावास (Hostels)—कई राज्यों में अनुसूचित-जातियों तथा जन-जातियों के लिए छात्रावास चलाये जा रहे हैं। इन छात्रावासों में हरिजन तथा आदिवासी सब इकट्ठे रखे जाते हैं। उद्देश्य यह है कि हम एक-दूसरे से अलग-अलग हैं—यह भावना इन छात्रावासों के द्वारा हटा दी जाय। राजस्थान में 'समाज-कल्याण विभाग' की तरफ़ से कई छात्रावास मीना तथा भील जन-जातियों के लिए चलाये जा रहे हैं, परन्तु उनमें मीना तथा भील जन-जातियों के अलावा अन्य जन-जातियां तथा हरिजन प्रवेश नहीं लेते। पृथक्ता की इस भावना को दूर करने की आवश्यकता है। रांची में 'आदिम-जाति-सेवा-मंडल' की तरफ़ से एक छात्रावास चल रहा है जिसमें अनेक छात्रों को मट्टी के तेल तथा सब्ज़ी आदि के लिए डेढ़ रुपया प्रतिमास सहायता दी जाती है। यह बहुत थोड़ी है। 'अनसूचित जन-जाति आयुक्त' का कथन है कि जन-जाति के छात्रावास के प्रत्येक विद्यार्थी को कम-से-कम दस रुपया प्रतिमास सहायता मिलनी चाहिए।

(घ) प्रौद्योगिक-प्रशिक्षण (Technical training)—प्रौद्योगिक-प्रशिक्षण के लिए द्वितीय पंच-वर्षीय-योजना में असम, बिहार, मध्य-प्रदेश, उड़ीसा तथा मणिपुर—इन पांच प्रान्तों में प्रौद्योगिक-प्रशिक्षण-केन्द्र खोलने की व्यवस्था की गई है। इनमें से बिहार, उड़ीसा, तथा मणिपुर में तो ये केन्द्र खुल भी गये हैं। मध्य-प्रदेश में १९५८–५९ में खुल रहा है। इनमें से कुछ केन्द्रों में मेकैनिकल तथा इलेक्ट्रिकल एंजीनीयरिंग की तथा कुछ में हस्त-कला की शिक्षा दी जायगी। इनमें बिहार (रांची) में २८८, मध्य-प्रदेश (बिलासपुर) में २१६, उड़ीसा (तखतपुर) में ९६ और मणिपुर (इम्फ़ाल) में ४० विद्यार्थियों की शिक्षा का प्रबन्ध किया गया है। असम में अभी व्यवस्था करनी है।

(ङ) विदेशों में अध्ययनार्थ छात्रवृत्तियां (Scholarships for overseas studies)—आदिवासियों को विदेशों में शिक्षा प्राप्त करने के लिए भी छात्रवृत्तियां दी जाती हैं। इन छात्रवृत्तियों के लिए प्राप्त प्रार्थना-पत्रों तथा जिन्हें छात्रवृत्ति दी गई उनका ब्यौरा निम्न है। इन प्रार्थना-पत्रों के लिए उपयुक्त योग्यता आवश्यक है :—

वर्ष	प्राप्त प्रार्थना-पत्र	कितनों को छात्रवृत्ति दी गई	व्यय
१९५४–५५	६	२	९,३२८
१९५५–५६	१५	४	२१,५२४
१९५६–५७	१७	४	४४,६१६
१९५७–५८	१२	३	ब्यौरा अप्राप्त

(च) पब्लिक-स्कूलों में छात्रवृत्तियां (Scholarships in public schools)—१९५३ में भारत की केन्द्रीय-सरकार ने पब्लिक-स्कूलों में योग्य

बालकों को छात्र-वृत्ति देने की योजना को प्रारम्भ किया। अबतक यह छात्रवृत्ति किसी आदिवासी बालक को नहीं दी गई। केन्द्र की सरकार ने राज्य-सरकारों को लिखा है कि वे अपने यहाँ आदिवासी योग्य बालकों को पब्लिक-स्कूलों में भर्त्ती होने के लिए छात्रवृत्ति देने की योजनाएँ बनायें। उड़ीसा-सरकार इस बात के लिए तैयार हो गई है। केरल सरकार इस निर्देश पर विचार कर रही है। शिक्षा-मंत्रालय ने पब्लिक-स्कूलों के अधिकारियों से आग्रह किया है कि अगर योग्यता-सम्बन्धी सब बातें समान हों तो आदिवासी बालकों को चुनने में वे अपने यहाँ अन्य बालकों की अपेक्षा प्राथमिकता दें। इन अधिकारियों ने इस बात को स्वीकार कर लिया है।

(छ) तकनीकी तथा शिक्षा-संस्थाओं में स्थान सुरक्षित रखना, दाखिले के लिये माप-दंड तथा आयु की सीमा में ढिलाई (Reservation of seats in Technical and Educational Institutions)—केन्द्र की तरफ़ से संचालित संस्थाओं में आदिवासियों के लिए कुछ स्थान सुरक्षित रखे जाते हैं। उदाहरणार्थ, खाद्य तथा कृषि मंत्रालय ने 'नेशनल डेयरी रिसर्च इन्स्टीट्यूट—करनाल' में पिछड़ी जाति तथा आदिवासियों —इन दोनों को मिला कर इनके लिए २० प्रतिशत स्थान सुरक्षित रखे हैं। श्रम-मंत्रालय ने अपने आधीन के तीन तकनीकी विद्यालयों में इन दोनों के लिए १७½ प्रतिशत स्थान सुरक्षित रखे हैं। स्वास्थ्य-मंत्रालय ने दिल्ली के 'ऑल इण्डिया इन्स्टीट्यूट ऑफ़ मैडिकल सायन्सेस', 'लेडी हार्डिंज मैडिकल कालेज' तथा लुधियाना के 'क्रिश्चियन मैडिकल कालेज' को छोड़ कर अपने आधीन के सब कालेजों में पिछड़ी जाति तथा आदिवासियों के लिए २० प्रतिशत स्थान सुरक्षित रखे हैं। रेलवे-मंत्रालय ने भी कहीं २०, कहीं १६ प्रतिशत स्थान इनके लिए रखे हैं। केन्द्र की तरह प्रान्तीय सरकारों ने भी अपने-अपने प्रान्त में इनके स्थान सुरक्षित रखने की तरफ़ ध्यान दिया है। बम्बई सरकार ने यह आदेश निकाला है कि कृषि-कालेजों में किसी आदिवासी के प्रवेश पर किसी प्रकार की रोक-टोक न लगाई जाय। केरल सरकार ने तकनीकी-संस्थाओं में प्रवेश के लिए अनुसूचित-जातियों तथा जन-जातियों के लिए ५ प्रतिशत स्थान सुरक्षित रखे हैं। बिहार सरकार ने २० प्रतिशत से कुछ कम स्थान इन लोगों के लिए तकनीकी-संस्थाओं में सुरक्षित रखने की आज्ञा प्रसारित की है।

इन सब सुविधाओं के अतिरिक्त अनेक विश्व-विद्यालयों ने उत्तीर्णाङ्क प्राप्त करने तथा आयु के सम्बन्ध में भी आदिवासियों के साथ रियायत के नियम बनाये हैं। दिल्ली विश्व-विद्यालय में प्रवेश के लिए इन जातियों तथा जन-जातियों के विद्यार्थी ५ प्रतिशत अंक कम होने पर भी एम० ए०, एम० एस-सी में प्रवेश पा सकते हैं। इन के लिए दाखिले में आयु की सीमा में भी ढिलाई बर्त्ती जाती है। इन सब रियायतों का यही उद्देश्य है कि आदिवासियों में शिक्षा का अधिकाधिक प्रचार हो।

(ज) आश्रम-स्कूल (Ashram Schools)—आदिवासियों की शिक्षा-सम्बन्धी समस्या को हल करने के लिए इनके प्रदेशों में आश्रम-विद्यालय खोलने की योजना बनाई गई है। इस योजना के अनुसार विद्यार्थी आश्रम में ही रहते हैं और उन्हें बेसिक शिक्षा-प्रणाली के अनुसार शिक्षा दी जाती है। इन्हें विशेष तौर पर कृषि तथा अन्य उद्योगों में दीक्षित किया जाता है। इनकी शिक्षा का काम ऐसे अध्यापकों के सुपुर्द किया जाता है जो सेवा-भाव से ओत-प्रोत हों। इन आश्रम-स्कूलों में पढ़ कर विद्यार्थी आगे के स्कूल में भर्त्ती हो सके—इस प्रकार की शिक्षा-विभागों द्वारा व्यवस्था कर ली गई है। इन स्कूलों में शिक्षा का मुख्य काम व्यवसायात्मक शिक्षा देना है, इसके साथ विद्यार्थी को आश्रम में ही रहना होता है। कृषि के साथ दर्जीगीरी, बागवानी, बुनाई आदि भी इन आश्रमों में सिखलाई जाती है। बम्बई, बिहार, उड़ीसा में इस प्रकार के आश्रम-स्कूल आदिवासी बालकों के लिए चल रहे हैं।

४. आदिवासियों के लिए 'कृषि-विकास-संबंधी' कल्याण-योजनाएँ

(क) भूमिहीन आदिवासी किसानों को भू-स्वामित्व (Land tenure for landless labourers of Adivasis)—आदिवासियों की आजीविका के तरीकों का अध्ययन करने से पिता चलता है क उनमें से ८८.६ प्रतिशत कृषि पर निर्भर हैं।[1] इनमें से भी १४.७ प्रतिशत ऐसे आदिवासी हैं जो सिर्फ़ मेहनत-मजदूरी करते हैं, उनका भूमि पर कोई स्वामित्व नहीं है। अगर इसी बात को जन-संख्या में प्रकट किया जाय तो कहना होगा कि आदिवासियों की कुल जन-संख्या १९१ लाख है (अब नवीन संशोधन के अनुसार २२५ लाख है), इसमें से १७३ लाख खेती में लगी हुई है, और इस १७३ लाख में २० लाख भूमि-हीन (Landless) हैं। आदिवासियों में आजीविका के लिए जो लोग गृहोद्योगों पर निर्भर रहते थे, वे भी शहरी उद्योगों के विकसित होने के कारण अपने उद्योगों को छोड़ कर खेती पर ही निर्भर रहने लगे हैं। इसलिए यह आवश्यक हो जाता है कि आदिवासियों के लिए भू-स्वामित्व की व्यवस्था की जाय। इस दृष्टि-कोण को सम्मुख रख कर आदिवासियों के 'आयुक्त' (कमिश्नर) ने अपनी १९५५–५६ की राष्ट्रपति को पेश की जाने वाली रिपोर्ट में निम्न सुझाव दिये थे :

(i) राज्य सरकारों को ऐसे कानून बनाने चाहियें जिनसे आदिवासियों की जमीन किसी हालत में उनके हाथ में न जाने पाये जो आदिवासी नहीं हैं।

(ii) इन कानूनों में इस बात का भी प्रबन्ध होना चाहिए ताकि कानून बनने में जो समय लगेगा उस बीच जमींदार लोग इनकी जमीनों को अगर हथिया चुके हों तो वे आदिवासियों को वापस मिल जायें।

(iii) गाँव की जमीन का कुछ प्रतिशत आदिवासियों के लिए सुरक्षित कर दिया जाय और इस उद्देश्य से बंजर जमीन को उपजाऊ बनाकर उसे आदिवासियों को दे दिया जाय।

1. 1951 Census of India—Paper No. 4, 1953.

यद्यपि अभी इस दिशा में कोई नये कानून नहीं बने हैं, तो भी भूमिहीन आदिवासियों को कुछ प्रान्तों में जमीनें दी गई हैं। आदिवासियों के आयुक्त की १९५५-५६ की रिपोर्ट के परिशिष्ट-भाग २ (Appendices, Part II) के अनुसार भूमिहीन आदिवासियों को निम्न प्रकार भूमियाँ दी गई हैं :—

प्रान्त	आदिवासियों को दी गई भूमि (एकड़ों में)	बंजर भूमि को उपजाऊ बनाकर दिया गया (एकड़ों में)	भू-दान में आयी भूमि दी गई	कुल दी गई
आन्ध्र	३५७.२१	४१२.७४	——	७६९.९५
बिहार	१५,७१८.१४	६१३.९४	१,८८६.७२	१८,२९८.८०
बम्बई	१,७५,२९८.००	१०.००	३७३.००	१,७५,६८१.००
उड़ीसा	१,४४,५९२.८०	अप्राप्त	अप्राप्त	१,४४,५९२.८०
उत्तर-प्रदेश	आदिवासी नहीं हैं[1]	आदिवासी नहीं हैं[1]	आदिवासी नहीं हैं[1]	——
हैदराबाद	१६,८३७.००	३०,९४३.२०	६९,८९३.००	१,१७,६७३.२०
भूपाल	१३,२९०.६५	२,२०३.९८	—	१५,४९४.६३
कुर्ग	११०.८९	—	१०.००	१२०.८९
विन्ध्य-प्रदेश	२२,७६५.००	—	—	२२,७६५.००

(ख) कृषि-स्थान-परिवर्तन या स्थान-परिवर्त्ती कृषि (Shifting cultivation)—आदिवासियों की कृषि का तरीका अपने ढंग का अनूठा है। इसे 'अस्थायी-कृषि' कह सकते हैं। क्योंकि इसमें कृषि का स्थान लगातार बदलता रहता है, इसलिए इसे 'स्थान-परिवर्त्ती-कृषि' या 'कृषि-स्थान परिवर्त्तन' भी कह सकते हैं। इसे असम तथा त्रिपुरा में 'झूम', मध्य-प्रदेश में 'पेंडा', आन्ध्र तथा दक्षिणी उड़ीसा में 'पोड़ु', 'गुडिया' या 'डोंगर बस', उत्तरी उड़ीसा में

१. उत्तर-प्रदेश में आदिवासी नहीं हैं का यह अभिप्राय नहीं कि इस प्रान्त में आदिवासी हैं ही नहीं। आदिवासी इस प्रान्त में हैं, परन्तु उत्तर-प्रदेश सरकार इन्हें आदिवासी नहीं गिनती इसलिये नहीं गिनती कि इससे उनकी समस्याएँ बढ़ जायेंगी। श्री काका कालेलकर के कमिशन ने उत्तर-प्रदेश-सरकार की इस नीति से असहमति प्रकट की है और कहा है कि उत्तर-प्रदेश सरकार को अपनी नीति बदलनी चाहिये, इसलिये बदलनी चाहिये क्योंकि उत्तर-प्रदेश की सीमा में रहने वाले आदिवासियों की समझ में यह नहीं आ सकता कि वे तो आदिवासी नहीं हैं, परन्तु उन्हीं के भाई-बन्द, उनके साथ वाले जंगलों और पहाड़ों में रहने वाले, दूसरे प्रान्त की सीमा में आ जाने के कारण आदिवासी हैं—यह विरोधी बात क्यों कर ठीक हो सकती है।

'राम', 'दहि', 'कोमन' या 'झिंग' कहते हैं। इस कृषि में आदिवासी लोग पहले पहाड़ी का जंगल काट डालते हैं, पेड़-बांस सब सफ़ा कर देते हैं, इसे आग लगा देते हैं, और जब राख ठंडी हो जाती है, तब उसके नीचे बीज छिड़क देते हैं। पहले एक-दो साल फ़सल अच्छी होती है, परन्तु भूमि की उपजाऊ शक्ति शीघ्र ही नष्ट हो जाती है और क्योंकि पेड़ भी वहाँ कोई नहीं रहता इसलिए वर्षा से सारी ज़मीन बह जाती है, और इन लोगों को वह स्थान छोड़ कर दूसरा स्थान ढूँढना पड़ता है। इस प्रकार भूमि का अत्यन्त दुरुपयोग होता है। यह प्रथा आन्ध्र, बिहार, असम, मध्य-प्रदेश, उड़ीसा, मणिपुर, त्रिपुरा तथा विन्ध्य-प्रदेश के आदिवासियों में प्रचलित है। इससे जंगल भी नष्ट हो जाते हैं, भूमि बेकार जाती है। आदिवासियों से इस प्रथा को छुड़ाने के लिए सरकार ने निम्न उपाय बर्त्ते हैं :—

(i) प्रदर्शन-केन्द्र (Demonstration centres)—सरकार ने कुछ ऐसे 'प्रदर्शन-केन्द्र' खोले हैं जिनमें आदिवासियों को भूमि का सन्तुलित उपयोग करके दिखाया जाता है। काफ़ी-रबर आदि कई ऐसी उपज बोयी जाती हैं जिनका एकदम नकद पैसा मिल सकता है। असम में ऐसे कई 'प्रदर्शन-केन्द्र' खोले गये हैं।

(ii) बस्तियों की स्थापना (Colonization)—आदिवासियों को ऐसी बस्तियों में बसाया जाता है जो पहाड़ों पर न होकर मैदानों में हों और वहाँ उन्हें अस्थिर-कृषि छोड़कर स्थिर-कृषि सिखाई जाती है। उड़ीसा के आदिवासी स्थान-परिवर्त्ती-कृषि को 'पोडु' कहते हैं। उड़ीसा के कई पोडु-परिवारों को इस प्रकार मैदानों में बसाकर उन्हें स्थिर-कृषि की शिक्षा दी गई है।

(iii) विकसित-कृषि की शिक्षा (Training of improved methods of cultivation)—आदिवासियों को स्थान-परिवर्त्ती-कृषि छोड़ने के लिए उन्हीं की भूमि पर उन्हें आजकल की विकसित-कृषि की शिक्षा दी जाती है। उन्हें नवीन उपकरण, नये-नये बीज दिये जाते हैं, आर्थिक-सहायता भी दी जाती है जिससे वे कृषि की अपनी पुरानी पद्धति को छोड़ कर नवीन पद्धति से कृषि करना सीखें तथा बन्ध आदि बना कर उन ज़मीनों को कटने से रोकें जो वर्षा आदि से बह जाती हैं।

'प्रदर्शन-केन्द्र', 'बस्तियों की स्थापना' तथा 'विकसित कृषि की शिक्षा' के सम्बन्ध में कुछ अधिक लिखने की आवश्यकता है, इसलिए हम यहाँ इन तीनों के विषय में कुछ चर्चा करेंगे :

(i) प्रदर्शन-केन्द्र—१९५४–५५ में असम की गारो पहाड़ियों पर ३ 'पाइलट-केन्द्र' खोले गये थे जिनका उद्देश्य प्रदर्शन-केन्द्रों के लिये रास्ता तैयार करना था। प्रथम पंच-वर्षीय-योजना के अन्त में इस प्रदेश में ९ प्रदर्शन-केन्द्र खोले जा चुके थे। १९५७–५८ तक असम में इन प्रदर्शन-केन्द्रों की संख्या २५ तक पहुँच गई जिन पर ७,९६,००० रुपया व्यय हुआ। द्वितीय पंच-वर्षीय-योजना

के अन्त तक इस प्रकार के ६० केन्द्र खोलने का विचार है। पिछड़ी जातियों के 'आयुक्त' (कमिश्नर) का कथन है कि ये केन्द्र सफल नहीं हो रहे। इनके सफल न होने के अनेक कारण हैं। पहला कारण तो यह है कि इन केन्द्रों में जो-कुछ पैदा किया जाता है उसकी बिक्री का प्रबन्ध नहीं हो पा रहा, इसलिए आदिवासी इन केन्द्रों में जो पैदा करते हैं उसके बिक न सकने के कारण उस पैदावार का वे कुछ लाभ नहीं समझते। दूसरा कारण यह है कि इन केन्द्रों में नकद पैसा वसूल करने वाली—काफ़ी, रबर, आदि—उपज बोयी जाती हैं, इनमें खाद्य-पदार्थ नहीं बोये जाते। आदिवासियों की असली समस्या खाद्य-पदार्थों की है, इसलिए वे इन केन्द्रों को निरर्थक समझते हैं। उड़ीसा में भी इस प्रकार के प्रदर्शन-केन्द्र खोले जा रहे हैं, परन्तु 'सरकारी-आयुक्त' (कमिश्नर) का कहना है कि इन प्रदर्शन-केन्द्रों से कोई लाभ नहीं।

(ii) बस्तियों की स्थापना—आदिवासियों की बस्तियों को पहाड़ों की जगह मैदानों में बसाने से स्वयं 'स्थान-परिवर्त्ती-कृषि' बन्द हो जायगी—यह सोच कर अनेक राज्य-सरकारों ने इनकी बस्तियाँ बसानी शुरू की हैं। आन्ध्र-प्रान्त में प्रथम पंच-वर्षीय-योजना काल में २८७ परिवारों को बसाने के लिए पूर्व तथा पश्चिम गोदावरी ज़िले में ४ बस्तियाँ बसाईं जिन पर ४,२२,८६० रुपया व्यय हुआ। द्वितीय योजना-काल में राज्य-सरकार १२.२७ लाख व्यय करके ४ और बस्तियाँ बसा रही है। उड़ीसा में द्वितीय योजना-काल में ४०,८७,००० रुपया व्यय करके ९० बस्तियाँ बसाई जा रही हैं जिनमें ३,५०० परिवार जो 'पोडु' (स्थान-परिवर्त्ती-कृषि) करते हैं, बसाये जा रहे हैं। मध्य-प्रदेश में ३२६ तथा विन्ध्य-प्रदेश में ४० परिवार प्रथम योजना-काल में बसाने की योजना पूरी की गई। इनमें से प्रत्येक परिवार को कृषि के लिए जमीन, बैलों की जोड़ी, हल, बीज, खाद मुफ़्त देने के अलावा प्रत्यक परिवार को ५०४-८-० रु० सहायता के तौर पर दिया गया। द्वितीय-योजना-काल में भी अनेक परिवारों को सहायता देकर बसाया गया। इसी प्रकार की बस्तियों की योजनाएँ बिहार, पश्चिमी बंगाल तथा राजस्थान में भी बनीं।

(iii) विकसित-कृषि की शिक्षा—कई राज्य-सरकारें आदिवासियों को कृषि के विकसित साधन प्रयोग करने के लिए प्रोत्साहित करती हैं, उन्हें कृषि-सम्बन्धी उपकरण, बीज, खाद, बैल आदि देकर, बाँध बनाने, नहर लाने की शिक्षा देकर 'स्थान-परिवर्त्ती-कृषि' को छोड़ने के लिए प्रेरित करती हैं। मणिपुर तथा त्रिपुरा में 'झूम' से खेती करने वाले परिवारों को स्थिर-कृषि की शिक्षा दी जाती है। स्थिर-कृषि के साथ-साथ सूअर आदि पालना भी उन्हें सिखाया जाता है। द्वितीय-योजना-काल में त्रिपुरा के आधे 'झूमिया'-परिवार तो स्थिर-कृषि करने लगे हैं, और बाकी इस योजना के अन्त तक करने लगेंगे—यह आशा है। मैसूर, बम्बई आदि में भी आदिवासियों को उक्त साधनों के द्वारा स्थिर-कृषि करने के लिए प्रेरित किया जा रहा है।

'स्थान-परिवर्त्ती-कृषि' में भिन्न-भिन्न प्रान्तों में जो लोग लगे हुए हैं, और उन्हें उससे छुड़ाने के लिए द्वितीय पंच-वर्षीय-योजना में सरकार जो धन व्यय कर रही है, उसका कुछ आभास निम्न तालिका से हो जायगा :

प्रान्त	'स्थान-परिवर्त्ती-कृषि' में लगे हुए व्यक्तियों की संख्या	इस प्रथा को छुड़ाने के लिए किया जा रहा व्यय
असम	९,७९,०००	८६,२५,०००
उड़ीसा	९,३५,७००	७७,८०,०००
आन्ध्र	२,००,०००	४२,६२,४००
मणिपुर	१,८३,०००	२४,००,०००
बिहार	१,१५,०००	२३,८६,५००
त्रिपुरा	९५,५०१	७४,५६,०००
मध्य-प्रदेश	३०,०००	२०,८६,०००
बम्बई	२५,०००	२,००,०००
मैसूर	१४,०००	२,००,०००
केरल	१०,०००	११,१२,०००
मद्रास	२,२००	१,००,०००
योग	२५,८९,४०१	३,६६,०७,९००

५. आदिवासियों के लिए 'गृहोद्योगों' की कल्याण-योजनाएँ

गृहोद्योगों को बढ़ाने की योजना को क्रियान्वित करने से बेरोजगारी तथा जोतने-बोने के दिन बीत जाने पर किसानों के खाली बैठे रहने की बकारी दूर होती है। प्रथम पंच-वर्षीय-योजना का मुख्य ध्येय कृषि-परक था, इसलिए उस योजना-काल में गृहोद्योगों की तरफ़ विशेष ध्यान नहीं दिया जा सका और आदिवासियों की बेकारी की समस्या उस हद तक नहीं दूर की जा सकी जिस हद तक गृहोद्योगों को जारी करने से दूर की जा सकती थी। प्रथम योजना-काल में विशेष तौर पर आदिवासियों पर तो नहीं, परन्तु फिर भी पिछड़े-वर्गों को गृहोद्योग जारी करने के लिए ७४ लाख रुपया व्यय किया गया। द्वितीय पंच-वर्षीय-योजना में आदिवासियों के गृहोद्योगों के लिए २,३८,५०,५८० रुपया बजट में रखा गया जिसमें से १९५६–५७ में १३,२८,१४५ तथा १९५७–५८ में २८,११,७७० रुपया व्यय हुआ। इस रुपये से आदिवासियों के नवयुवक तथा नव-युवतियों को बढ़ई, लोहार, दर्जी का काम सिखाने तथा टोकरी, रस्से, चटाइयाँ बनाने एवं कपड़ा बुनने आदि की व्यवस्था की गई है। इन गृहोद्योग-केन्द्रों में माल पैदा किया जायगा और बेचा भी जायगा। जो व्यक्ति इन उद्योग-केन्द्रों में शिक्षा पाते हैं, उन्हें १५ से ३० रुपया मासिक वृत्ति दी जाती है और जब वे अपना काम शुरू करते हैं, तब

उन्हें बिना व्याज के ५०० रुपये तक की सहायता भी दी जाती है। इस रुपये को वे किश्तों में अदा करते ह।

६. आदिवासियों के लिए 'आर्थिक-सुधार-संबन्धी' अन्य कल्याण-योजनाएँ

हमने शिक्षा, कृषि, गृहोद्योगों के सम्बन्ध में लिखा। कृषि तथा गृहोद्योगों के अतिरिक्त आदिवासियों की आर्थिक दशा सुधारने के लिए अन्य कई योजनाएँ चालू की गई हैं जिनमें से कुछ-एक नीचे दी जा रही हैं :

(क) अन्न-भंडार (Grain Golas)—शुरू-शुरू में बिहार तथा बम्बई प्रान्तों में केवल आदिवासियों के लिए अन्न-भंडारों का प्रयोग किया गया था। इन अन्न-भंडारों से उन्हें आपत्काल में ऋण के तौर पर अन्न दिया जाता था और आवश्यकता पड़ने पर खेती के लिए बीज दिया जाता था। बिहार तथा बम्बई में इस योजना की सफलता को देख कर अन्य प्रान्तों मे भी इस योजना को चलाया गया। अब तो यह योजना सभी पिछड़े-वर्गों के लिए जारी कर दी गई है। निम्न तालिका से स्पष्ट हो जायगा कि प्रथम तथा द्वितीय योजनाओं में इन अन्न-भंडारों की क्या स्थिति रही हैं :

राज्य[1]	प्रथम योजना में जारी किये गये अन्न भंडार	द्वितीय योजना में प्रस्तावित	१९५६-५७ में	१९५७-५८ में
बिहार	३८८	३९५	१	९९
उड़ीसा	१४	३७५	९०	९०
पश्चिमी बंगाल	९	८३	१२	१७

बिहार में एक अन्न-भंडार पर २०,००० व्यय किया जाता है और आदिवासियों के २० गाँवों के लिए एक अन्न-भंडार खोला जाता है। उड़ीसा में १९५५–५६ में अन्न-भंडारों की योजना प्रारम्भ की गई और एक भंडार को इमारत के लिए ४,००० तथा चालू खर्च के लिए २,००० दिया जाता है। पश्चिमी बंगाल में ९,००० रुपया जमीन खरीदने और भंडार की इमारत बनाने के लिए खर्च किया जाता है और १,००० धान आदि पर व्यय किया जाता है। बम्बई प्रान्त में थाना, नासिक, बड़ौदा, पंचमहाल, सूरत तथा पश्चिमी खानदेश के जिलों में आदिवासियों को अन्न देने के लिए अन्न-भंडारों की योजना चल रही है। मध्य-प्रदेश में बस्तर तथा बालाघाट जिलों में पाँच अन्न-भंडार खुले हुए हैं।

1. Report of the Commissioner for Scheduled Castes and Tribes for 1957-58.

(ख) ऋण-मोचन तथा साहूकारों पर प्रतिबन्ध (Debt redemption and check on money-lenders)—वैसे तो भारत के ग्रामों में कर्ज का बोझ हर-एक के सिर लदा होता है, परन्तु पिछड़ी जातियों तथा आदिवासियों के लिए तो यह महाभिशाप बना हुआ है। ऋण-ग्रस्तता के कारण है—ग़रीबी, फ़िज़ूलख़र्ची तथा पुश्तैनी कर्ज। कर्ज लेने की शक्ति उसी की होती है जो उसे अदा कर सके। ऐसे लोगों को कर्ज साहूकारों के सिवाय कौन दे सकता है जो चमड़ी तक उधेड़ लेने में सिद्धहस्त होते हैं। आदिवासियों में अनेक लोग कर्ज लेकर पैदा होते हैं, कर्ज में उनका जीवन कटता है, कर्ज सिर पर लिये वे इस असार संसार से चल देते हैं, पुश्त-दर-पुश्त इनका कर्ज चलता चला जाता है। इस स्थिति का यह परिणाम है कि ज़मीन आदिवासी किसानों के हाथ से निकल कर साहूकारों के हाथ चली जाती है। इसके अतिरिक्त कर्जदार अपनी पैदावार को साहूकार के हाथ अत्यन्त सस्ते दामों में बेच देता है। इन सब दुष्परिणामों से आदिवासी को बचाने के लिए और साहूकार के शिकंजे में से निकालने के लिए यह आवश्यक है कि सूद की दर कम की जाय, पुराने कर्जों को ख़त्म किया जाय और ऐसे कानून बनाये जायें जिनसे उनकी ज़मीन कोई हथिया न सके।

ऊपर जो बातें कही गई हैं उन्हें ध्यान में रख कर मद्रास में साहूकारा कानून १९५७ (Money Lenders Act, 1957) पास किया गया जिससे सूद पर रुपया देने वालों पर नियन्त्रण कर दिया गया। इस कानून का लाभ जहाँ अन्य लोगों को हुआ, वहाँ आदिवासियों को भी हुआ। राजस्थान में भी कर्जदारों के हक में कानून पास हो गया है। 'केन्द्रीय' आदिवासी-कल्याण सलाहकार बोर्ड' (Central Advisory Board for Tribal Welfare) ने सलाह दी है कि जिनका कर्जा तीन साल पुराना हो वह रद्द कर दिया जाय और इससे कम समय के कर्जों के लिए ६ प्रतिशत वार्षिक सूद से ज्यादा न दिया जाय।

(ग) विशेष बहूद्देश्यीय आदिवासी ब्लॉक (Special Multipurpose Tribal Blocks)—वैसे तो सारे देश में 'सामुदायिक विकास-खंड' (Community Development Blocks) तथा 'राष्ट्रीय विस्तार-सेवा-खंड' (National Extension Service Block) खोले जा रहे हैं, परन्तु आदिवासियों के क्षेत्रों की आवश्यकताओं को सम्मुख रख कर गृह-मन्त्रालय तथा विकास-मंत्रालय के सहयोग से आदिवासी क्षेत्रों में ४३ 'बहूद्देश्यीय आदिवासी ब्लॉक' खोलने की योजना बनाई गई। इस योजना का उद्देश्य यह था कि ४३ क्षेत्रों में गहराई से काम किया जाय ताकि आदिवासियों का सारा-का-सारा जीवन आर्थिक-दृष्टि से सुधर जाय। योजना में यह प्रयत्न किया गया था कि एक-एक 'ब्लॉक' में २०० वर्गमील भूमि, जिसमें ४० गाँव और २५,००० व्यक्ति हों, आ जायें। १९५६–५७ तथा १९५७–५८ तक निम्न प्रकार ब्लॉक बन चुके थे :

राज्य	ब्लॉक जो बने	कितने वर्ग-मील में बने	कितने गांव आये	कितनी जन-संख्या आयी
आन्ध्र	४	१,५८३	१,०५२	१,४४,५०३
असम	७	४,१४१.४७	१,३२१	१,७२,०२३
बिहार	८	२,३७६	१,५००	३,६८,८९२
बम्बई	७	२,०८६.१५	६८९	१,९३,६०८
मध्य-प्रदेश	१०	६,०५२	१,६५४	४,४५,६९०
उड़ीसा	४	२,००६.०१	१,४९५	२,६७,९८१
राजस्थान	१	२५८	२१०	२८,००४
मणिपुर	१	अप्राप्त	अप्राप्त	अप्राप्त
त्रिपुरा	१	५२७	३७५	२८,२८०
योग	४३	२०,०२९.६३	८,२९६	१६,४८,५३१

[illegible]

वर्गमील भूमि के स्थान में आनुपातिक तौर पर ४७७ वर्गमील भूमि, ४० गाँवों के स्थान में १९४ गाँव तथा २,५०० व्यक्तियों के स्थान में ३९,२५० व्यक्ति आ रहे हैं, और इसलिए जिस गहराई से काम करने की जरूरत थी उस गहराई से काम नहीं हो पा रहा। किसी-किसी ब्लॉक में तो २५,००० व्यक्तियों की जगह ८२,००० व्यक्तियों के ब्लॉक बन गये हैं। परिणाम यह है कि शुरू में जो योजना बनाई गई थी उसके अनुसार प्रति व्यक्ति १०४ रुपया व्यय किया जाना था, परन्तु अब १०४ की जगह कुल ६९ रुपया व्यय हो रहा है। इस दिशा में योजना में सुधार होने की आवश्यकता है।

गृह-मंत्रालय ने १९५६–५७ के लिए इन ब्लॉकों पर व्यय करने के लिए ५८.८७ लाख रुपये की स्वीकृति दी थी, १९५७–५८ के लिए १२९.०० लाख रुपए की स्वीकृति दी थी परन्तु राज्यों में १९५६–५७ में सिर्फ़ १६.७५ लाख तथा १९५७–५८ में सिर्फ़ ५८.४२ लाख रुपया व्यय किया जा सका।

७. आदिवासियों में 'स्वास्थ्य-संबंधी' कल्याण-योजनाएँ

स्वास्थ्य के सम्बन्ध में दो बातों पर ध्यान देना आवश्यक होता है—स्वास्थ्य-रक्षा तथा रोग-निरोध। स्वास्थ्य-रक्षा का अर्थ तो यह है कि मनुष्य भोजन, जल, वायु, रहन-सहन ठीक रख कर अपने स्वास्थ्य को बनाये रखे; रोग-निरोध का अर्थ है कि अगर मलेरिया, कुष्ठ, चर्म-रोग आदि का शिकार हो जाय, तो दवा-दारू के प्रयोग से स्वास्थ्य-लाभ करने का प्रयत्न करे। जैसे औरों के लिए ये दोनों जरूरी हैं, वैसे आदिवासियों के लिए भी इन दोनों का प्रयोग लाभकारी है।

स्वास्थ्य-रक्षा में यह जरूरी है कि व्यक्ति पौष्टिक भोजन का सेवन करे। पौष्टिक-भोजन का सम्बन्ध मनुष्य की आर्थिक-स्थिति से है। आदिवासियों की आर्थिक-स्थिति सुधारने के प्रयत्न हो रहे हैं और ज्यों-ज्यों इनकी आर्थिक-स्थिति ठीक होती जायगी, त्यों-त्यों इनके भोजन का स्तर भी ऊँचा होता जायगा। आन्ध्र-

प्रदेश में आदिवासी परिवारों को मातृ-सदनों तथा बाल-कल्याण केन्द्रों के द्वारा विटैमिन बाँटे जा रहे हैं और किन्हीं-किन्हीं राज्यों की तरफ़ से बच्चों को दोपहर का खाना भी दिया जाने लगा है।

भोजन की तरह जल भी स्वास्थ्य-रक्षा के लिए अत्यावश्यक है। जल की आदिवासी क्षेत्रों में बड़ी कठिनाई है। जो लोग पहाड़ों में रहते हैं उन्हें जल लाने के लिए दूर-दूर के झरनों में जाना पड़ता है, कहीं-कहीं पानी जमा रखना पड़ता है। अनेक स्थानों में कुएँ न होने से पशु तथा मनुष्य तालाबों से गन्दा-सड़ा पानी पीते हैं। ये लोग इन्हीं में स्नान करते, इन्हीं में कपड़े धोते, इन्हीं में मल-मूत्र त्याग करते, इन्हीं में बर्तन धोते और इन्हीं के पानी को पीते हैं। इस प्रकार का जल स्वास्थ्य को बिगाड़ेगा नहीं, तो क्या करेगा। केन्द्र तथा राज्य सरकारें पिछड़ी जातियों तथा आदिवासियों को कुआ खोदने के लिए सहायता देने लगी हैं। कूए पर कहीं १०००, कहीं १,५०० और कहीं ४,००० रुपया व्यय आता है। कुआ खोदने के व्यय का अधिक भाग सरकार देती है, और जिनके लाभ के लिए कुआ खोदा जाता है उनसे आशा करती है कि मेहनत-मज़दूरी का कुछ हिस्सा वे भी लगायेंगे ताकि इस कार्य में उनका भी कुछ सहयोग हो जाय।

स्वास्थ्य-रक्षा के अतिरिक्त स्वास्थ्य के लिए दूसरी बात रोग-निरोध है। रोग-निरोध के लिए देशभर में चिकित्सा-सम्बन्धी अनेक योजनाएँ चल रही हैं। उनके अलावा आदिवासी क्षेत्रों के लिए कुछ विशेष योजनाएँ भी चालू की गई हैं। प्रथम पंच-वर्षीय-योजना काल में पिछड़े वर्गों की रोग-निरोधक सेवाओं पर सरकार ने २.४३ करोड़ व्यय किया था, द्वितीय पंच-वर्षीय-योजना काल के लिए इस मद में ८.०५ करोड़ रखा गया है। १९५६–५७ में पिछड़े क्षेत्रों में २२२ चिकित्सालय, २८ मातृसदन, ४,७५१ कुए बनाये गये जिन पर ७६,८६,११५ रुपया व्यय आया। १९५७–५८ के लिए १,०६,९२,९४३ रुपया व्यय रखा गया जिससे ३४० चिकित्सालय, ७८ मातृ-सदन तथा ४,१२७ कुए खोदने की योजना बनाई गई।

आदिवासी-क्षेत्रों में, खास कर असम तथा उड़ीसा के किओनझार एवं गंजाम ज़िलों में, पश्चिमी बंगाल के पूर्वी इलाकों में तथा बिहार के अनुसूचित क्षेत्रों में मलेरिया का प्रकोप भयंकर रूप धारण कर लेता है। बिहार के सन्थाल परगना, मानभूम तथा सिंहभूम ज़िलों में, मध्य-प्रदेश के बस्तर ज़िले में, उड़ीसा के मयूर-भंज ज़िले में और असम के मैदानी इलाकों में कुष्ठ-रोग भयंकर रूप से फैला हुआ है। उड़ीसा के कोरापुट, मयूरभंज तथा गंजाम ज़िलों में, आन्ध्र-प्रदेश के आदिला-बाद तथा वारंगल ज़िलों तथा उत्तर-प्रदेश के मिर्ज़ापुर ज़िले की दूधी तहसील में यौन-रोग बहुत फैला हुआ है। यौन-रोग एक संक्रामक चर्म-रोग है। उत्तर-पूर्वी सीमा एजेन्सी (NEFA) तथा हिमालय के निचले प्रदेशों में गल-गण्ड फैला हुआ है। इन सब रोगों की रोक-थाम करना रोग-निरोधक उपायों का उद्देश्य है।

आदिवासी-क्षेत्रों में झोंपड़ियाँ पहाड़ियों में इधर-उधर बिखरी होती हैं, सड़कें ठीक होती नहीं, वर्षा तथा बर्फ़ के कारण यातायात बन्द पड़ा रहता है, इसलिए चिकित्सालय तक सब का पहुँच सकना कठिन हो जाता है, उन्हें समय पर औषध नहीं मिल सकती। इसके अतिरिक्त विदेशी दवाओं पर आदिवासियों का विश्वास भी कम है, वे देशी दवाएँ लेना ही पसन्द करते हैं। इन क्षेत्रों में रोगों को दूर करने के लिए देसी दवाओं के साथ-साथ होम्योपैथी का भी सहारा लेना चाहिए, कुछ-कुछ वर्त्तमान औषधों का प्रयोग करना चाहिए। मध्य-प्रदेश में बनवासी-सेवा-मंडल यह काम बड़ी सफलता से कर रहा है। अनेक आदिवासी क्षेत्रों में सामुदायिक-विकास-केन्द्रों तथा पंचायतों के द्वारा कुनैन, पैल्यूड्रीन तथा सल्फ़ा-गुएनीडीन बाँटी जा रही है। आदिवासी स्वयं चिकित्सालयों में आना पसन्द नहीं करते इसलिए चलते-फिरते चिकित्सालय खोलना इन क्षेत्रों में अधिक सफल हो रहा है। इन क्षेत्रों में ग़ैर-सरकारी संस्थाएँ भी बहुत सराहनीय कार्य कर रही हैं जिनमें 'आदिम जाति सेवामंडल' तथा 'संथाल-पहाड़िया-सेवा-मंडल' बिहार में मलेरिया तथा यौन-रोगों के उन्मूलन का कार्य सफलतापूर्वक कर रहे हैं।

८. आदिवासियों के लिए 'गृह-निर्माण' की कल्याण-योजनाएँ

आदिवासियों के घरों की अवस्था अत्यन्त शोचनीय है। आदिवासियों में अनेक जंगलों में पत्तों की झोंपड़ियाँ बनाकर रहते हैं। उनकी दीवार सरकंडों की होती है, उस पर गोबर लीप लेते हैं, घास-फूस की छत बनाते हैं। पिछड़ी जातियों तथा आदिवासियों के गृह-निर्माण के लिए प्रथम-योजना में २१६ लाख तथा द्वितीय-योजना में ८२३ लाख रखा गया था। आशा यह की गई है कि इस रुपए से पिछड़े वर्गों के लिए ३,२६,४२५ घर, २० बस्तियाँ, १० सम्मिलित-गृह, ५ सामुदायिक-गृह बनाये जायेंगे और १६२ लाख रु० गृह-निर्माण सोसाइटियों को सहायता के रूप में दिया जायगा। यह रकम क्योंकि पिछड़े वर्गों पर व्यय होगी इसलिए आदिवासियों को भी इसमें अपना हिस्सा मिलेगा।

गृह-निर्माण की योजना को दो स्तरों पर क्रियान्वित किया जा रहा है। कुछ योजनाएँ केन्द्रीय-सरकार चला रही है, कुछ प्रान्तीय-सरकारें चला रही हैं। केन्द्रीय योजनाओं में सरकार ७५० रुपया सहायता देती है और २५० रुपया उस व्यक्ति को श्रम आदि के रूप में व्यय करने को कहा जाता है जो मकान का मालिक होता है। इस प्रकार आशा की जाती है कि १,००० रुपए में एक मकान तैयार हो जायेगा। बहूद्देशीय ब्लॉक में बम्बई में आदिवासियों को मकान बनाने के लिए ४ प्रतिशत सूद पर ५०० रुपए दे दिये जाते हैं जो उन्हें १० वर्ष में किश्तों के रूप में लौटाने होते हैं। बहूद्देशीय ब्लॉक के अलावा अन्यत्र किसी क्षेत्र में अगर वे रुपया को-ऑपरेटिव हाउसिंग सोसाइटी से लें तो २२० रुपया उन्हें स्वयं लगाना पड़ता है और ३४० रुपया सोसाइटी देती है जिस पर कोई सूद नहीं लिया जाता। यह रुपया इन आदिवासियों को २५ साल में लौटाना होता है।

सरकार की यह नीति है कि आदिवासियों की बस्तियाँ बसाई जायें। बस्तियां बसाने का लाभ यह है कि उनकी जल-प्रबन्ध, सफ़ाई, मल-मूत्र, यातायात, सड़क आदि की व्यवस्था सब की एक-साथ हो जाती है। अलग-अलग व्यक्तियों को सहायता देने से उन्हें इन सब कमियों से कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है।

९. आदिवासियों के लिए 'यातायात' की कल्याण-योजनाएँ

आदिवासी जंगलों तथा पहाड़ों में रहते हैं। एक मकान से दूसरे मकान का रास्ता ही कठिन होता है, गाँव से गाँव के रास्ते की तो बात ही क्या है। यातायात की सुविधा न होने के कारण या तो उन्हें माल सिर पर लाद कर ले जाना पड़ता है, या टट्टुओं के ज़रिये वे अपने माल को दूसरी जगह पहुँचाते हैं। इन सब कठिनाइयों के कारण जंगल में अनेक प्रकार का माल होने पर भी उसे बाज़ारों में नहीं पहुँचा सकते और इस माल का कोई आर्थिक लाभ नहीं उठा सकते। इस कठिनाई को दूर करने के लिए द्वितीय पंच-वर्षीय-योजना में सड़कें बनाने, जीप आने-जाने के रास्ते बनाने, पुलिया-बाँध आदि बनाने के लिए ९.१८ करोड़ रुपया रखा गया है और आशा की जाती है कि द्वितीय-योजना के अन्त तक आदिवासियों के क्षेत्र में १५,००० मील सड़क तथा ४५५ पुल-पुलियाँ बन जायेंगी। द्वितीय-योजना के अन्त तक जो-कुछ बनाने का विचार है वह निम्न तालिका से स्पष्ट है :

जीप चलाने योग्य और गांवों को मिलाने वाली सड़कें	१०,९१६ मील
पगडंडियां	४,२८४ मील
अन्य सड़कें	२४ सड़कें
पुल-पुलियां	४५५
विश्राम-कम्प	५०
घाट	७०
सड़क तथा रोक बांध	५
साधारण रपट	२५

उक्त व्यय के अतिरिक्त आदिवासियों के क्षेत्र में जिन 'विशेष बहूद्देशीय ब्लॉकों' का वर्णन किया जा चुका है उन ब्लॉकों में सड़कें बनाने के लिए प्रत्येक ब्लॉक में ४ लाख तथा कुल १.७२ करोड़ का व्यय स्वीकृत किया गया है। यह ध्यान रखने की बात है कि द्वितीय योजना में जहां ९.१८ करोड़ रुपया खर्च किया जा रहा है, वहाँ प्रथम-योजना में इस मद में ४.१२ करोड़ व्यय किया गया था और कुल १,५०० मील की सड़कें तथा पगडंडियां बनी थीं।

१०. आदिवासियों के लिए 'सहकारिता' की कल्याण-योजनाएँ

'सहकारिता' का अर्थ है कई व्यक्तियों का मिलकर काम करना। पूंजी-पति तो इकला भी काम कर सकता है, परन्तु जिसके पास थोड़ी-सी पूंजी है, वह इकला क्या-कुछ कर सकता है। अगर वह कुछ पैदा करता है, तो उसे बेचे कैसे,

बेचे तो दलाल लोग सब हड़प जाते हैं। ऐसी हालत में ग़रीब लोगों के लिए आर्थिक-दृष्टि से 'सहकारिता' ही ऐसा उपाय है जिससे वे माल पैदा करने, इकट्ठा करने, बेचने आदि के झंझट से बच सकते हैं। 'सहकारिता' से कार्य करने वालों को सरकार भी मदद देती है। 'सहकारिता' के लिए सरकारी मदद का असली उद्देश्य तो यह है कि ग़रीबों को मदद मिले, लेकिन हमारा समाज इतना स्वार्थी है कि यह मदद भी अमीर लोग ही उड़ा ले जाते हैं। वे सहकारी-समितियाँ बना कर ऐसे जाल रचते हैं कि ग़रीब फिर वैसे-के-वैसे रह जाते हैं और ये लोग 'सहकारिता' का भी फ़ायदा उठा लेते हैं। सरकार ने 'सहकारिता' से काम करने वालों को प्रथम तथा द्वितीय योजना में सहायता देने के लिए योजनाएँ बनाई हैं जिनका उद्देश्य थोड़ी पूंजी वालों को, पिछड़ी जातियों तथा आदिवासियों को मदद देना है। द्वितीय-योजना काल में आदिवासियों को केन्द्र तथा राज्य-सरकारों की तरफ़ से जो सहायता दी जा रही है, और १९५६–५७ तथा १९५७–५८ में जो सहायता दी गई है उसका ब्यौरा निम्न है:

केन्द्र तथा राज्य	द्वितीय योजना के लिए व्यय	१९५६–५७ का व्यय	१९५७–५८ का व्यय
केन्द्र	५३,१२,०००	११,११,८७०	८,११,८२०
राज्य-सरकारें	८६,५९,०२५	१,९५,९०५	१०,५३,३६०

आदिवासियों को हर प्रकार की सहायता की आवश्यकता रहती है, इसलिए सहकारिता के लिए जो रुपया सरकार देती है उसका उपयोग आदिवासियों को अपना काम-धंधा चलाने के लिए पूँजी के रूप में उधार देने के तौर पर एवं मकान, गोदाम आदि बनाने के लिए भी किया जाता है। बम्बई में कई ज़िलों में 'पूंजी-सहकारी-समितियाँ' (Credit Co-operative societies) तथा 'बिक्री-सहकारी-समितियाँ' (Marketing Co-operative societies) बनाई गई हैं जिनका काम आदिवासियों को अपने काम के लिए पूंजी की सहायता देना तथा उनके माल को बाज़ार में बेचने में सहायता देना है। मध्य-प्रदेश में भूपाल के निकट सौन्थर इलाके में 'आदिवासी कृषि-सहकारी-समिति' (Adivasi Farming Co-operative society) का निर्माण हुआ है जो अपने सदस्यों को बैलों की जोड़ी, बैल गाड़ी तथा हल आदि उपकरण देती है। उत्तर-प्रदेश में 'चर्मकार-सहकारी-समिति' (Leather workers' Co-operative society) बनी है जिसके सदस्यों की आमदनी इस समिति का सदस्य बन जाने के कारण २०–३० रुपया प्रतिमास बढ़ गई है क्योंकि इनके कार्य की देख-रेख अनुभवी व्यक्तियों के द्वारा होने लगी है।

इस प्रकरण में 'वन-मजदूर-सहकारी-समितियों' (Forest Labourers' Co-operative societies) का वर्णन अप्रासंगिक न होगा। इन समितियों का उद्देश्य उन आदिवासियों को जो जंगलों के ठेकेदारों की मजदूरी करते हैं, शोषण से बचाना तथा उन्हें जंगल की उपज का लाभ पहुँचाना है। प्रायः देखा जाता है

कि ठेकेदार लोग ग़रीबों से मेहनत के ऐसे काम लेते हैं जिनमें उनकी जान का भी ख़तरा होता है। देहरादून में पत्थर के ठेकेदार मज़दूरों से उन्हें पहाड़ों की चोटियों पर चढ़ा कर पत्थर तुड़वाते हैं, भारी मुनाफ़ा कमाते हैं, परन्तु इन बेचारों को खाने को भी मुश्किल से नसीब होता है। इस सब का एकमात्र उपाय यही है कि इन मज़दूरों की सहकारी-समितियाँ बनाई जायें और इन्हें सरकार से मान्यता ही प्राप्त न हो, अपितु हर मिल को यह आदेश हो कि वह इन सहकारी-समितियों का ही माल ख़रीदे। बम्बई-सरकार ने १९४६–४७ में 'वन-मज़दूरों की सहकारी-समिति' का श्रीगणेश किया था। प्रथम-योजना के अन्त में बम्बई-प्रदेश में इस प्रकार की १७९ 'वन-मजदूर सहकारी-समितियाँ' खुल चुकी थीं। १९५६–५७ में इन समितियों की संख्या २१६ हो गई, सदस्यों की संख्या ४२,५३८ थी जिनमें से ३८,२४० व्यक्ति आदिवासी थे। इन समितियों को १९५६–५७ में ३६,५९,०३९ रुपये का फ़ायदा हुआ। द्वितीय-योजना-काल में ११७ नई समितियों के खोलने की योजना है।

११: आदिवासियों के 'पुनर्वास'-संबंधी कल्याण-योजनाएँ

देश में जगह-जगह नहरें खुद रही हैं, बाँध बन रहे हैं, बिजली-पानी की व्यवस्था हो रही है, नये-नये कारख़ाने खुल रहे हैं। प्रायः ये सब काम जिन स्थानों में किये जा रहे हैं वहाँ आदिवासियों का निवास है। जंगलों और पहाड़ों में से ही तो नदियाँ गुज़रती हैं, वहीं तो बाँध बनते हैं। परिणाम यह होता है कि आदिवासियों को वह जगह छोड़नी पड़ती है, उनके घर नष्ट हो जाते हैं और वे असमंजस में पड़ जाते हैं।

बिहार में तिलय्या-योजना में ३५४.१७ एकड़ भूमि से वहाँ के निवासियों को हट जाना पड़ा। इसी प्रान्त में धनबाद तथा सन्थाल परगने में माइथान बाँध के कारण २१,५२२ एकड़ भूमि में बसने वाले, ४,६०२ परिवारों को जगह ख़ाली करनी पड़ी जिनमें २७३ परिवार आदिवासियों के थे जो ८,२२७ एकड़ भूमि में रह रहे थे। बिहार में कोनार बाँध बनने के कारण आदिवासियों के ५२ परिवारों को १५ एकड़ भूमि छोड़नी पड़ी।

इसमें सन्देह नहीं कि जब सरकार भूमि लेती है तब उसका मुआविज़ा देती है, परन्तु उचित यह प्रतीत होता है कि इन लोगों को नकद रुपया देने के स्थान में भूमि तथा मकान बना कर दिये जायें, सम्भव हो तो इनकी बस्तियाँ बसा दी जायें। राज्य-सरकारों से जो रिपोर्टें आ रही हैं उनसे यह ज्ञात होता है कि आदिवासी मकान बनवाने या बस्ती में बसने की जगह नकद रुपया लेना ज्यादा पसन्द करते हैं, परन्तु क्योंकि नकद रुपया हाथ में आते ही वे उसे उड़ा देते हैं, इसलिए उन्हें नकद पैसा देने के स्थान में उनके लिए भूमि तथा मकानों की व्यवस्था करना अधिक उचित है। इसके साथ यह भी ध्यान रखने की आवश्यकता है कि ज्यों-ही कोई योजना प्रारम्भ हो, उसके साथ ही इन लोगों के मकान आदि की व्यवस्था

कर देनी चाहिए, यह नहीं कि योजना चल रही है और फ़ुर्सत से इन्हें मुआविज़ा दिया जा रहा है।

१२. आदिवासियों के लिए केन्द्र तथा राज्य में सुरक्षित स्थान तथा सुविधाएँ

आदिवासियों की उन्नति करने के लिए उनके लिए सभी क्षेत्रों में स्थान सुरक्षित किये गये हैं ताकि वे हर क्षेत्र में आगे बढ़ सकें। उदाहरणार्थ,

(क) लोक-सभा तथा राज्य-विधान-सभाओं में १० साल के लिये सुरक्षित स्थान—१९५६ के अध्यादेश के अनुसार आदिवासियों के लिए लोक-सभा में ३१ तथा देश की विधान-सभाओं में २२१ स्थान सुरक्षित हैं। संविधान की धारा ३३४ के अनुसार आदिवासियों के लिए लोक-सभा तथा विधान-सभाओं में दस वर्ष के लिए ये स्थान सुरक्षित रहेंगे। अब यह अवधि और दस साल के लिए बढ़ा दी गई है और अब १९७० तक इनके लिए स्थान सुरक्षित कर दिये गये हैं।

(ख) प्रादेशिक-परिषदों, स्थानीय निकायों तथा पंचायतों में सुरक्षित स्थान —इसी प्रकार प्रादेशिक परिषदों (Territorial councils), स्थानीय-निकायों (Local Boards) तथा पंचायतों में भी इनके लिए स्थान सुरक्षित हैं।

(ग) चतुर्थ-श्रेणी के पदों के लिये सुरि त स्थान—केन्द्रीय सरकार के दफ़्तरों में चतुर्थ-श्रेणी के स्थायी पदों के लिए २.६ प्रतिशत तथा अस्थायी पदों के लिए २.०३ प्रतिशत स्थान अनुसूचित जन-जातियों के लिए सुरक्षित हैं। अभी चतुर्थ-श्रेणी से ऊँची श्रेणी में —केन्द्रीय सचिवालय, प्रथम, द्वितीय तथा तृतीय श्रेणी की कोटि में या आई० ई० एस० आदि में—इनकी भर्त्ती नगण्य है क्योंकि इन पदों पर से योग्यता की शर्त्त को हटा देने से प्रशासन में त्रुटि आ जाने की सम्भावना है।

(घ) आयु तथा योग्यता की शर्त में ढील—विश्व-विद्यालयों की परीक्षाओं तथा जिन विभागों में आदिवासियों के लिए स्थान सुरक्षित हैं, उनमें आदिवासी बालकों तथा उम्मीदवारों की आयु एवं योग्यता आदि का प्रतिबन्ध उतना कड़ा नहीं है, जितना अन्य वर्गों के लिए है।

१३. आदिवासियों की कल्याण-योजनाओं के सम्बन्ध में दृष्टि-कोण

इसमें सन्देह नहीं कि आज के युग में कोई व्यक्ति या समाज दूसरों से अलग रह कर उन्नति नहीं कर सकता। इस दृष्टि से अपने देश की आदिवासी जन-जातियाँ जो संसार से कटी रह कर जंगलों तथा पहाड़ों में अपना जीवन व्यतीत करती रही हैं, सभ्यता के निम्न-स्तर पर रही हों तो कोई आश्चर्य नहीं। परन्तु आज का युग एकान्त में रहने का नहीं रहा। संसार से दूरी मिटती जा रही है। जब देश-विदेश एक जगह आ बैठे हैं तब एक ही देश में जंगल और पहाड़ की दूरी कैसे रह सकती है। आज सब लोग एक-दूसरे के सम्पर्क में आ रहे हैं, और इसी लिए आदिवासियों के लिए कल्याण-योजनाएँ भी बन रही हैं। अगर उन्होंने

इस देश में रहना है, तो यह तो नहीं हो सकता कि इस देश में रहते हुए जंगली और अमानुषी जीवन व्यतीत करें।

परन्तु यहां एक प्रश्न उठ खड़ा होता है जो प्रत्येक समाजशास्त्री के हृदय में उठा करता है। कहीं हम अपनी योजनाओं से आदिवासियों की संस्कृति को, उनकी प्रथाओं-परम्पराओं को तो नहीं मिटा देंगे ? हम आदिवासियों को मानव-समाज के म्यूज़ियम के तौर पर तो नहीं रखना चाहते, परन्तु यह भी उचित नहीं प्रतीत होता कि उन्हें अपनी आदिकालीन जड़ों से हिला दिया जाय, उन्हें अपनी संस्कृति, कथा-कथानक, नृत्य-गीत-संगीत-कला-परम्परा-प्रथा से जुदा कर दिया जाय। कोई भी पौदा अपनी भूमि से उखड़ जाने के बाद कितनी भी अच्छी भूमि में क्यों न रोपा जाय उस तरह नहीं बढ़ पाता जितना वह अपनी भूमि में बढ़ता है। हमारी कल्याण-योजनाओं से आदिवासियों को आर्थिक-विकास करने में लाभ पहुँचना चाहिए, परन्तु इससे उनकी संस्कृति ही नष्ट हो जाय--ऐसा नहीं होना चाहिए।

इसी भावना को भारत के प्रधान-मंत्री श्री जवाहरलाल नेहरू ने व्यक्त करते हुए कहा था कि हमारी कल्याण-योजनाओं का लक्ष्य अपनी संस्कृति को आदिवासियों के ऊपर लाद देना नहीं है, हमारा लक्ष्य उन्हें अपनी प्रतिभा तथा परम्परा के अनुसार आगे बढ़ने में सहायता देना है। इसी दृष्टि-कोण को सम्मुख रख कर आदिवासियों की संस्कृति के सम्बन्ध में भी कार्य हो रहा है। आदिवासियों की संस्कृति का अध्ययन करने के लिए पाँच 'सांस्कृतिक शोध-संस्थान' (Tribal Cultural Research Institutes) खोले गए हैं जो निम्न प्रकार कार्य कर रहे हैं :—

(क) बिहार का आदिवासी शोध-संस्थान (Tribal Research Institute of Bihar)—इस संस्था का निर्माण १९५७ में हुआ। इस संस्थान के कार्यकर्त्ताओं ने सन्थाल परगनों के सौर्या पहाड़ियों की संस्कृति का उनके बीच में जाकर अध्ययन किया। इसके अतिरिक्त इस संस्था ने सरकार को आदिवासियों की अनेक समस्याओं पर अपनी रिपोर्ट दी। उदाहरणार्थ, असुर जन-जाति में लाख का उद्योग कैसा है, स्थान-परिवर्त्ती-कृषि की क्या समस्याएँ हैं, आदिवासियों में परिवार-नियोजन की क्या स्थिति है, चाय-रबर आदि बाग़ान में इनकी क्या समस्याएँ हैं—इन सब पर इस संस्था ने काफ़ी सामग्री एकत्रित की। इस संस्थान ने मुन्दरी तथा हो जन-जाति के बालकों के लिए उनकी भाषाओं में पाठावलियाँ भी तैयार कीं।

(ख) मध्य-प्रदेश का आदिवासी शोध-संस्थान (Tribal Research Institute of Madhya Pradesh)—इस संस्थान ने दो ज़िलों में गोंड जन-जाति की आर्थिक-समस्याओं का अध्ययन किया है और छिन्दवाड़ा ज़िले की भारिया जन-जाति की समस्याओं की तरफ़ भी ध्यान दिया है। इस संस्थान ने ऐसे सुझाव दिये हैं जिनके आधार पर इन जन-जातियों को उन साधनों के द्वारा जो

इन्हें अपने निवास-क्षेत्रों में प्राप्त हैं, आर्थिक-दृष्टि से आत्म-निर्भर बनाया जा सकता है। संस्थान ने मध्य-प्रदेश की जन-जातियों के सम्बन्ध में एक सूचना-पुस्तक भी तैयार की है। इस क्षेत्र के जो आदिवासी कोयले की खानों में काम करते हैं, उन पर उद्योगीकरण का क्या प्रभाव पड़ रहा है, रायगढ़ के कोरवा तथा पोडो जन-जातियों की स्थान-परिवर्त्ती-कृषि-सम्बन्धी क्या-क्या समस्याएँ हैं, बस्तर की ध्रुव जन-जातियों की सामाजिक तथा आर्थिक कठिनाइयाँ, मंडला और बिलासपुर की जन-जातियों की शिक्षा की समस्याएँ—इन सब पर इस संस्थान ने पर्याप्त प्रकाश डाला है।

(ग) उड़ीसा का आदिवासी शोध-संस्थान (Tribal Research Institute of Orissa)—यह शोध-संस्थान उड़ीसा में आश्रम-स्कूलों के कार्य का मूल्यांकन कर रहा है, आदिवासियों की बस्तियों के समाज-कल्याण-सम्बन्धी कार्यों की पड़ताल कर रहा है। इसने आदिवासियों के लिए उनकी भाषाओं में कुछ पाठावलियाँ भी तैयार की हैं।

(घ) राजस्थान का आदिवासी शोध-संस्थान (Tribal Research Institute of Rajsthan)—यह संस्थान आदिवासियों में 'अनौपचारिक-शिक्षा' के सम्बन्ध में उनकी प्रवृत्तियों का अध्ययन कर रहा है। इस संस्थान का अध्ययन मुख्य तौर पर आदिवासियों के मनोवैज्ञानिक पहलू पर केन्द्रित है। आदिवासियों में शराब पीने आदि की प्रवृत्तियों का भी यह संस्थान अध्ययन कर रहा है।

(ङ) पश्चिमी बंगाल का आदिवासी शोध-संस्थान (Tribal Research Institute of West Bengal)—१९५७-५८ में इस संस्थान ने आदिवासियों की भाषा के भिन्न-भिन्न पहलुओं का अध्ययन किया, आदिवासियों में उत्तराधिकार के क्या नियम हैं—इसका अध्ययन किया और उनके सामाजिक नियमों का अध्ययन किया।

इसके अतिरिक्त अन्य संस्थानों ने भी आदिवासियों की संस्कृति, उनके रीति-रिवाज-परम्पराएँ, उन पर अन्य संस्कृतियों का प्रभाव आदि भिन्न-भिन्न बातों का अध्ययन किया है। लखनऊ विश्वविद्यालय ने देहरादून के जौनसार बावर इलाके में 'सामुदायिक-विकास-योजनाओं' का वहाँ के आदिवासियों के जीवन पर क्या प्रभाव पड़ा—इसका अध्ययन किया है। उत्तर-प्रदेश के मिर्जापुर जिले की दूधी तहसील के आदिवासियों के जीवन में आजकल के सामाजिक पर्यावरण से क्या परिवर्तन आया—इस बात का 'प्रोग्राम इवैल्युएशन ऑर्गनाइजेशन' ने अध्ययन किया है। लखनऊ की तरह अलीगढ़, आगरा तथा दिल्ली विश्वविद्यालयों ने भी आदिवासियों की संस्कृति का अध्ययन करने की अनेक योजनाएँ बनाई हैं और सरकार से इन सब को अपने-अपने कार्य के लिए पर्याप्त सहायता मिलती है।

भारत की संस्थाएँ

(INSTITUTIONS OF INDIA)

११

भारतीय सामाजिक-रचना

(INDIAN SOCIAL ORGANISATION)

१: भारत की जन-संख्या

भारत की सामाजिक-रचना पर विचार करते हुए हमें सबसे पहले यहाँ की जन-संख्या तथा सामाजिक दृष्टि से उसकी रचना का अध्ययन करना होगा। यहाँ की जन-संख्या कितनी है, उसमें हिन्दू-मुसलमान-ईसाई आदि कितने हैं, जन-जातियों की क्या संख्या है, अस्पृश्य कहे जाने वालों की क्या संख्या है, पुरुषों तथा स्त्रियों की क्या संख्या है—क्योंकि बहुत-कुछ इन्हीं की समस्याओं का हमें इस ग्रन्थ में अध्ययन करना है। इनकी संख्या को देखते हुए जिन समस्याओं का हमें अध्ययन करना है उनका महत्त्व अधिक स्पष्ट हो जाता है।

(क) जन-संख्या—१९५१ की जन-गणना के अनुसार इस देश की जन-संख्या ३५,६८,७९,३९४ थी। इसमें जम्मू तथा काश्मीर की १९५१ की ४४.१ लाख जन-संख्या सम्मिलित नहीं है।

(ख) जन-संख्या की आनुमानिक वृद्धि—प्रति वर्ष साल के मध्य-भाग में देश की आनुमानिक जन-संख्या भी ली जाती है जिससे पता चल जाता है कि जन-संख्या की वृद्धि किस अनुपात में हो रही है। यह कुछ क्षेत्रों का सर्वेक्षण करके अनुमान मात्र होता है। १९५१ के बाद जन-संख्या की वृद्धि का आनुमानिक रूप निम्न है:—

वर्ष	जन-संख्या (करोड़ में)	वर्ष	जन-संख्या (करोड़ में)
१९५२	३६.७५	१९५६	३८.७४
१९५३	३७.२३	१९५७	३९.२४
१९५४	३७.७१	१९५८	३९.७५
१९५५	३८.२४		

उक्त तालिका से स्पष्ट है कि अपने देश की जन-संख्या प्रति वर्ष ५० लाख के लगभग बढ़ रही है।

(ग) धर्मों के अनुसार जन-संख्या—क्योंकि हमें हिन्दू-मुसलमान-ईसाई आदि की इस ग्रन्थ में चर्चा करनी है अतः यह जानना भी आवश्यक है कि धर्मों के अनुसार देश की जन-संख्या की क्या रचना है। १९५१ के अनुसार यह रचना निम्न प्रकार थी :

धर्म	संख्या (लाख में)	कुल जन-संख्या का प्रतिशत
हिन्दू	३,०३२	८४.९९
मुसलमान	३५४	९.९३
ईसाई	८२	२.३०
सिक्ख	६२	१.७४
जैन	१६	०.४५
बौद्ध	२	०.०६
पारसी	१	०.०३
जन-जातीय धर्म	१७	०.४७
इतर-धर्मावलम्बी	१	०.०३
कुल धर्मों की जन-संख्या	३,५६७ लाख	१००.००

(घ) आदिवासी अनुसूचित जन-जातियों की संख्या—आदिवासियों की जन-संख्या १९५०-५१ के राष्ट्रपति के अध्यादेश के अनुसार १,९१,४७,०५४ थी जो भारत की सम्पूर्ण जन-संख्या का ५.३० प्रतिशत है, १९५६ के राष्ट्रपति के अध्यादेश के अनुसार यह जन-संख्या २,२५,११,९५४ थी जो भारत की सम्पूर्ण जन-संख्या का ६.२३ प्रतिशत है।

(ङ) अस्पृश्य कही जाने वाली अनुसूचित-जातियों की जन-संख्या—जिन जातियों को अस्पृश्य कहा जाता है उनकी संख्या १९५०-५१ के राष्ट्रपति के अध्यादेश के अनुसार ५,२२,०४,६४९ थी जो भारत की सम्पूर्ण जन-संख्या का १४.४५ प्रतिशत है, १९५६ के राष्ट्रपति के अध्यादेश के अनुसार यह जन-संख्या ५,५३,२७,०२१ थी जो भारत की सम्पूर्ण जन-संख्या का १५.३२ प्रतिशत है।

(च) स्त्री-पुरुषों की आयु, विवाहित-अविवाहित, विधवा-विधुर के रूप में जन-संख्या—क्योंकि हमें इस ग्रन्थ में स्त्रियों की स्थिति पर भी विचार करना है, बाल-विवाह, विधवा-विवाह तथा विधवाओं की दशा पर भी विचार करना है, अतः उनकी जन-संख्या का जानना भी आवश्यक है। १९५१ की जन-गणना के अनुसार यह संख्या निम्न प्रकार थी :

आयु	अविवाहित (लाख में)		विवाहित (लाख में)		विधुर या विधवा या परित्यक्त (लाख में)	
	पुरुष	स्त्री	पुरुष	स्त्री	पुरुष	स्त्री
१ वर्ष से कम	५,८२१	५,६६८	—	—	—	—
१– ४ वर्ष	१७,९३९	१७,९०८	—	—	—	—
५–१४ वर्ष	४१,८०४	३५,७३७	२,८३३	६,११८	६६	१३४
१५–२४ वर्ष	१६,६२८	५,१८४	१३,६६०	२४,०४१	३८४	८२४
२५–३४ वर्ष	३,७०१	७७३	२३,१२२	२३,७३१	१,०५२	२,१२९
३५–४४ वर्ष	१,१५०	३०४	१९,३२३	१५,३४६	१,५५९	३,८७९
४५–५४ वर्ष	६०४	१७३	१३,०७७	८,३१३	२,०३८	५,४१२
५५–६४ वर्ष	२२९	८९	६७७७	३,३३४	१,९८९	५,२०१
६५–७४ वर्ष	१०४	३७	२५३३	१,०९२	१,२३०	२,८४७
७५ से ऊपर	४६	१८	८८३	३७१	७०१	१,३६७
जिन्होंने आयु नहीं बतलाई	५१	६०	४५	४२	१५	१५
योग	८८,१४७	६५,९५१	८२,२५३	८२,३८८	९,०३४	२१,८११

उक्त तालिका से स्पष्ट है कि स्त्री-पुरुषों की संख्या में बहुत अन्तर नहीं है, इसलिए स्त्रियों की समस्याओं की तरफ़ उतना ही ध्यान देने की आवश्यकता है, जितना पुरुषों की समस्याओं की तरफ़ दिया जा रहा है। उक्त तालिका से यह भी स्पष्ट है कि अभी अपने देश में ५ से १४ वर्ष के बीच में बाल-विवाह करने वाले बालक-बालिकाओं की संख्या भी पर्याप्त है इसलिए बाल-विवाह की समस्या पर भी हमें विचार करना है। इस संख्या के अलावा विधवा तथा विधुरों की भी संख्या कम नहीं है। विधवाओं की समस्याओं की तरफ़ हमें ध्यान देने की ज़रूरत है।

२. हिन्दू-सामाजिक-रचना
(Hindu Social Organisation)

अपने देश में दो प्रकार के लोग रहते हैं। एक तो वे जो हमारे समाज का अभी तक अंग नहीं बने, हमारे शहरों में भी नहीं रहते, जंगलों तथा पहाड़ों में रहते हैं। इन्हें हमने आदिवासी, जन-जातियां, अनुसूचित जन-जातियां, आदिम जातियां आदि नाम दिया है और इनकी सामाजिक-रचना की विस्तारपूर्वक चर्चा हम इस पुस्तक में कर आये हैं। दूसरे वे लोग हैं जो हमारे समाज का अंग बन चुके हैं, शहरों तथा गांवों में एक-दूसरे के सम्पर्क में रहते हैं। इन लोगों में से कुछ हिन्दू, कुछ मुसलमान, कुछ ईसाई, कुछ अस्पृश्य कहे जाने वाले—भिन्न-भिन्न प्रकार के

ये लोग हैं, परन्तु इन सब के मिलने से एक समाज बनता है जो जन-जातियों के अतिरिक्त समाज है। इस समाज में भी अधिक संख्या हिन्दुओं की है। जैसा हम ऊपर एक तालिका में दर्शा आये हैं, हिन्दू देश की सम्पूर्ण जन-संख्या का ८४.९९ प्रतिशत हैं। यद्यपि हम इस ग्रन्थ में मुसलमान-ईसाई आदि की सामाजिक-रचना की चर्चा करेंगे, तो भी देश में हिन्दुओं की संख्या अधिक होने के कारण इनके समाज की रचना पर विशेष रूप से लिखेंगे।

इससे पहले कि हम हिन्दू-सामाजिक-रचना के विषय पर लिखें, संक्षेप में यह जानना आवश्यक है कि सामाजिक-रचना का क्या अर्थ है।

३. सामाजिक-रचना का अर्थ

'व्यक्ति' तथा 'समाज'--इन दो शब्दों से हम सब परिचित हैं। 'व्यक्ति' की कुछ मौलिक आवश्यकताएँ होती हैं। ये आवश्यकताएँ, शारीरिक भी हैं, मानसिक भी हैं। शारीरिक आवश्यकताएँ हैं--भूख, प्यास आदि, मानसिक आवश्यकताएँ हैं--काम, जिज्ञासा आदि। इन आवश्यकताओं को मनुष्य व्यक्ति रूप से पूरा नहीं कर सकता, दूसरे व्यक्ति उनमें बाधा उपस्थित कर देते हैं। भूख-प्यास हमें है तो दूसरों को भी है, काम-जिज्ञासा हमें है तो दूसरों को भी है। हमारा और उनका इन आवश्यकताओं की पूर्त्ति में संघर्ष उत्पन्न हो जाता है। यह संघर्ष न हो, हर व्यक्ति की आवश्यकता पूर्ण हो, दूसरों के कारण हमारी आवश्यकता की पूर्त्ति में जो रुकावट आ पड़ने की संभावना हर समय बनी रहती है, वह संघर्ष की सम्भावना सहयोग में बदल जाय---इस उद्देश्य से व्यक्ति व्यक्ति रूप से काम न करके समष्टि रूप से काम करने लगते हैं, और इससे 'समाज' उत्पन्न हो जाता है। 'व्यक्ति' से जब 'समाज' उत्पन्न हो जाता है तब इस बीच में कई अवान्तर प्रक्रियाएँ भी होती हैं जो 'समाज' बनने में आवश्यक हैं। वे अवान्तर प्रक्रियाएँ क्या हैं?

(क) आवश्यकता पूर्ण करने का 'व्यक्ति' का ढंग (Individual way) --'व्यक्ति' से 'समाज' बनने की जो प्रक्रिया है उसमें पहली प्रक्रिया है व्यक्ति का अपनी आवश्यकता को पूर्ण करने के किसी ढंग का आविष्कार। 'व्यक्ति' ने जब अपनी आवश्यकता पूर्ण करनी है तब उसका कोई-न-कोई ढंग तो वह निकालता ही है। अगर वह ढंग उसकी शारीरिक तथा मानसिक आवश्यकताओं को सफलता-पूर्वक पूर्ण करता है तब वह उस ढंग को बराबर दोहराता है, और समाज के अन्य व्यक्ति उस ढंग से उसकी बार-बार की सफलता को देख कर उसे अपनाने लगते हैं।

(ख) आवश्यकता पूर्ण करने का 'समाज' का ढंग या 'जन-रीति' (Social way or Folkways)---जब सफलता प्राप्त करने के लिए अपनाये गये व्यक्तियों के ढंग को, व्यवहार को समाज अपना लेता है, और समाज के सब लोग उस ढंग को, उस रीति को, उस तरीके को अपना लेते हैं, तब 'व्यक्ति' तथा 'समाज' के बीच की वह प्रक्रिया उत्पन्न हो जाती है जिसे जन-रीति, लोक-व्यवहार आदि कहा जाता है।

(ग) समाज का ढंग, रीति, लोक-व्यवहार परम्परा से चल पड़ता है और 'प्रथा' उत्पन्न हो जाती है (Social way from generation to generation or Custom)—व्यक्ति के सफल व्यवहार को समाज अपना कर जन-रीति का रूप देता है, यह जन-रीति परम्परा से समाज में जब लगातार चलती रहती है तब इसे 'प्रथा' कहा जाता है। 'प्रथा' का समाज में बड़ा बल होता है, 'प्रथा' के अनुकूल चलना अच्छा तथा इसके प्रतिकूल चलना बुरा समझा जाता है।

(घ) 'प्रथा' से 'रूढ़ि' उत्पन्न हो जाती है (Customs develop into Mores)—व्यक्ति की रीति जन-रीति बनी, जन-रीति से प्रथा बनी। समाज में प्रथा का इतना बल हो जाता है कि प्रथा की शक्ति कानून की शक्ति से भी प्रबल हो जाती है, सारा-का-सारा समाज प्रथा का दास हो जाता है, सब लोग प्रथा के अनुकूल चलते हैं, जो अनुकूल नहीं चलते उन्हें समाज दण्ड देता है, बहिष्कृत कर देता है, उनका हुक्का-पानी बन्द कर देता है। इस व्यवस्था में प्रथा सबल होकर 'रूढ़ि' का रूप धारण कर लेती है। 'रूढ़ि' क्या है? 'रूढ़ि' एक तरह से समाज की सर्वसम्मत एक आवाज है, और व्यक्ति के लिए समाज की इस एक आवाज के विरुद्ध चलना कठिन हो जाता है।

(ङ) 'रूढ़ियों को मूर्त रूप देने के लिये निश्चित सामाजिक विधि-विधानों का निर्माण होता है और यही 'संस्था' कहलाती है (Mores are made specific and definite as regards rules and this definite structure is called Institution)—रीति, जन-रीति, प्रथा, रूढ़ि—इस क्रम के बाद 'संस्था' उत्पन्न हो जाती है। 'संस्था' का काम ऐसे विधि-विधान, सामाजिक-नियम बना देना है जिनमें समाज का प्रत्येक व्यक्ति बँध जाय और उसी के अनुकूल चले। व्यक्ति विवाह करता है, वह किसी समाज का अंग होता है, उसने सामाजिक-व्यवहार करना है—इन सब बातों में वह व्यक्ति रूप से नहीं सोचता, जिस समाज का वह अंग होता है उस समाज के बने-बनाये, परम्परा से चले आ रहे नियमों के अनुसार ही वह सोचता है, उन नियमों के अनुसार ही कार्य करता है। अगर किसी हिन्दू ने विवाह करना हो, तो वह व्यक्ति रूप से नहीं सोचेगा कि क्या विधि-विधान करे, क्या न करे। हिन्दुओं में विवाह का जो विधि-विधान होगा वैसा करेगा, उसे इस विषय में व्यक्ति-रूप से सोचने की आवश्यकता नहीं होगी। इसी प्रकार ईसाई तथा मुसलमान अपने समाज के प्रचलित नियमों के अनुसार विवाह करेंगे। विवाह एक 'संस्था' है—इस 'संस्था' का रूप भिन्न-भिन्न समाजों में भिन्न-भिन्न हो सकता है, और प्रत्येक व्यक्ति अपने समाज की संस्था के नियमों के अनुसार काम करता है। इस दृष्टि से 'सामाजिक-रचना' (Social organisation) का सिलसिला 'व्यक्ति' की मौलिक आवश्यकताओं की पूर्त्ति के साधनों की खोज से शुरू होता है, और इसका अन्त 'संस्था' (Institution) के निर्माण तक चलता है। 'संस्था' (Institution) जब

उत्पन्न हो जाती है, तब मानो एक ऐसा सामाजिक-साधन उत्पन्न हो जाता है, जो समाज के प्रत्येक व्यक्ति की मौलिक आवश्यकताओं को एक-दूसरे के संघर्ष से बचा कर उन्हें पूर्ण करने में सहायक सिद्ध होता है। हमने इस पुस्तक में अबतक आदिवासियों की संस्थाओं का अध्ययन किया, अब उनके अतिरिक्त इस देश के अन्य वासियों की संस्थाओं का अध्ययन करेंगे, और क्योंकि इस देश में ८४.९९ प्रतिशत हिन्दू हैं इसलिए विशेष रूप से हिन्दुओं की संस्थाओं का अध्ययन करेंगे। इससे पहले कि हम हिन्दुओं की संस्थाओं का अध्ययन प्रारम्भ करें, 'संस्था' का अर्थ विशेष रूप से समझ लेना आवश्यक है। 'संस्था' का क्या अर्थ है ?

४. 'संस्था' का अर्थ
(Definition of Institution)

भिन्न-भिन्न लेखकों ने 'संस्था' (Institution) की भिन्न-भिन्न व्याख्याएँ की हैं जिनमें से मुख्य-मुख्य निम्न हैं :

[क] कूले की व्याख्या—"किसी निरन्तर बनी रहने वाली आवश्यकता या इच्छा की पूर्ति के लिए, जब सामूहिक-व्यवहार के रूप में, कोई व्यवस्थित-संगठन सामाजिक-विरासत के रूप में चल पड़ता है, तब उसे 'संस्था' कहते हैं।"

[ख] समनेर की व्याख्या—"संस्था में दो बातें होती हैं—'विचार' तथा विचार को क्रियात्मक रूप देने वाला 'ढांचा'।"

[ग] बोगर्डस की व्याख्या—"संस्था समाज का वह ढाँचा है जो मुख्य रूप से सुप्रचलित विधि-विधानों द्वारा समाज के व्यक्तियों की आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए बनाया जाता है।"

[घ] मैक आइवर तथा पेज की व्याख्या—"संस्था सामूहिक-व्यवहार के उन स्वरूपों तथा उन विधि-विधानों को कहते हैं जो सुप्रचलित तथा सुव्यवस्थित हो चुके होते हैं।"

५. संस्था के मुख्य तत्त्व
(Elements of Institution)

ऊपर 'संस्था' की जो व्याख्याएँ दी गई हैं उनसे स्पष्ट है कि संस्था के मुख्य-मुख्य तत्त्व क्या हैं। 'संस्था' के मुख्य तत्त्व निम्न हैं :—

[क] "An institution is a complex integrated organisation of collective behaviour established in the social heritage and meeting some persistent need or want." —*Cooley*.

[ख] "An institution consists of a concept (idea, notion, doctrine or interest) and a structure." —*Sumner*.

[ग] "A social institution is a structure of society that is organised to meet the needs of people chiefly through well-established procedures." —*Bogardus*.

[घ] "Institutions are the established forms or conditions of procedure characteristic of group-activity." —*MacIver & Page*.

(क) विचार (Concept)—संस्था का निर्माण तभी होता है जब मनुष्य अपनी मौलिक आवश्यकताओं को पूर्ण करने के लिए किसी ऐसे विचार का आविष्कार कर लेता है जिस विचार को अगर क्रिया में परिणत कर लिया जाय, तो उसकी आवश्यकताएँ पूरी हो जायें। जब तक मनुष्य को ऐसा विचार नहीं सूझता जिसे क्रिया में परिणत कर के वह अपनी आवश्यकताओं को पूरा कर सके, तब तक संस्था भी नहीं बनती। सन्तान की रक्षा कैसे हो—यह मनुष्य की आवश्यकता थी। मनुष्य को सूझा कि विवाह एक ऐसा साधन है जिसके द्वारा सन्तान का पालन-पोषण हो सकता है। इस विचार के सूझने से ही विवाह की संस्था की रचना हुई। मनुष्य की इस सूझ को समनेर ने अपनी परिभाषा में 'विचार' (Concept) का नाम दिया है। यह 'विचार' मनुष्य की किसी मौलिक आवश्यकता को पूरा करने का सर्वोत्तम साधन होता है।

(ख) ढाँचा (Structure)—जब मनुष्य को अपनी आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए कोई साधन, कोई उपाय, कोई विचार सूझ जाता है, तब वह उस विचार को मूर्त रूप देता है, उसका ढाँचा तैयार कर लेता है। यह ढाँचा क्या है? समाज में चल रहे विधि-विधान, नियम ही यह ढाँचा है जिसे 'संस्था' (Institution) का नाम दिया जाता है। समनेर ने अपनी परिभाषा में विधि-विधान को, विचारों को क्रिया-रूप में परिणत करने के इस ढाँचे को ही 'संस्था' (Institution) कहा है।

६. संस्था के कार्य
(Functions of Institution)

(क) संस्था का काम 'व्यक्ति' की आवश्यकताओं की पूर्ति है—हम पहले देख चुके हैं कि 'संस्था' का सिलसिला व्यक्ति की आवश्यकताओं की पूर्त्ति से शुरू होता है। आवश्यकताओं की पूर्ति के विचार से रीति, फिर जन-रीति, फिर प्रथा, फिर रूढ़ि और फिर संस्था उठ खड़ी होती है। क्योंकि 'संस्था' बनने का सिलसिला ही व्यक्ति की आवश्यकताओं की पूर्त्ति से शुरू होता है इसलिए प्रत्येक 'संस्था' का सब से पहला कार्य यह है कि वह व्यक्ति की इस जरूरत को पूरा करे।

(ख) संस्था का काम 'व्यक्ति' की आवश्यकताओं पर नियन्त्रण भी है—व्यक्ति की आवश्यकताओं की पूर्त्ति का यह मतलब नहीं है कि संस्था व्यक्ति को अपनी आवश्यकताएँ पूर्ण करने की खुली छुट्टी दे देती है। अगर प्रत्येक व्यक्ति को इस बात की खुली छूट दे दी जाय, तो समाज में संघर्ष पैदा हो जाय, क्योंकि हर-एक अपने स्वार्थ को पूरा करना चाहता है, और हर व्यक्ति का स्वार्थ दूसरे व्यक्ति के स्वार्थ से टकराता है। संस्था का काम जहाँ व्यक्ति की आवश्यकताओं को पूर्ण करना है, वहाँ हर व्यक्ति पर ऐसा नियन्त्रण रखना भी है जिससे समाज में संघर्ष पैदा हुए बिना सब की आवश्यकताओं की पूर्त्ति हो। इस संघर्ष को दूर करने के लिए 'संस्था' क्या करती है? संस्था ऐसे नियम, ऐसे विधि-विधान,

ऐसे नियन्त्रण, ऐसे प्रतिबन्ध रखती है जिससे समाज में स्वतंत्रता बनी रहती , उच्छृंखलता नहीं आने पाती।

(ग) संस्था का काम 'समाज' के साथ व्यक्ति की अनुरूपता उत्पन्न करके एक-सूत्रता उत्पन्न करना है--संस्था का एक पक्ष 'व्यक्ति' है, तो दूसरा पक्ष 'समाज' है। 'व्यक्ति' और 'समाज' का समन्वय करने के लिए संस्था का निर्माण होता है। संस्था का काम 'व्यक्ति' की आवश्यकताओं की पूर्त्ति और उसकी आवश्यकताओं पर नियन्त्रण है। इसके अतिरिक्त संस्था का काम है कि वह 'व्यक्ति' के व्यवहार को 'समाज' के व्यवहार के अनुकूल, उसके अनुरूप बनाये। हर व्यक्ति अपने-अपने ढंग से न चले, समाज के ढंग से चले ताकि सब का व्यवहार अलग-अलग न होकर एक-सा हो, सब के व्यवहार में समानता हो। व्यक्ति के व्यवहार को समाज के अनुरूप बनाना संस्था का ही काम है। एक हिन्दू जिस तरह से विवाह करता है, दूसरा भी उसी तरह से करता है--यह सब एकता इस-लिए होती है, क्योंकि हिन्दू-विवाह-संस्था में सब हिन्दुओं के लिए विवाह के एक-से नियम बने हुए हैं। समाज में इस एक-सूत्रता का होना संस्था के नियमों के कारण ही है।

(घ) संस्था का काम 'समाज' की परम्परा या एक-सूत्रता बनाये रखना है परन्तु संस्था अपना उद्देश्य पूरा न करे तो दूसरी संस्था उत्पन्न करके भिन्न-सूत्रता पैदा करना भी है--संस्था का काम समाज में एक-सूत्रता उत्पन्न करना है--इसका यही अभिप्राय नहीं कि व्यक्ति के व्यवहार को यह समाज के वर्त्तमान विधि-विधान के अनुरूप बनाती है, इसका यह अभिप्राय भी है कि पीढ़ी-दर-पीढ़ी से चले आ रहे परम्परागत-व्यवहार को यह समाज में बनाये रखती है, और इसी परम्परा को पीढ़ी-दर-पीढ़ी आगे चलाती रहती है। दूसरे शब्दों में, संस्था का काम सामाजिक-परम्परा को भूत, वर्त्तमान तथा भविष्य के लिए एक-सा बनाये रखना है। तो फिर क्या संस्था द्वारा सामाजिक-परम्परा सदा एक-सी बनी रहती है, वह कभी टूटती नहीं, उसमें कोई परिवर्त्तन नहीं आता ? ऐसी बात नहीं है। प्रत्येक संस्था किसी आवश्यकता को पूरा करने के लिए बनती है, जब वह संस्था उस आवश्यकता को पूरा करना बन्द कर देती है, तब उस संस्था की जगह दूसरी संस्था उत्पन्न हो जाती है, ऐसी संस्था जो व्यक्ति तथा समाज की नवीन आवश्यकताओं को पूरा कर सकती है। इस प्रकार पुरानी संस्थाएँ, पुराने रीति-रिवाज, परम्पराएँ, प्रथाएँ, रूढ़ियाँ नष्ट हो जाती हैं उनके स्थान पर नवीन संस्थाएँ, नवीन विधि-विधान बन जाते हैं, एक-सूत्रता की जगह भिन्न-सूत्रता, समता की जगह विषमता उत्पन्न हो जाती है। हम इस पुस्तक में आगे चलकर देखेंगे कि किस प्रकार हिन्दू-समाज की संस्थाएँ, परम्पराएँ और रूढ़ियाँ चिरकाल तक स्थिर रहीं, तब तक कायम रहीं जब तक वे व्यक्ति तथा समाज की आवश्य-कताओं को पूर्ण करती थीं, परन्तु जब उन्होंने व्यक्ति तथा समाज की आवश्य-कताओं को पूर्ण करना बन्द कर दिया, तभी इनमें परिवर्त्तन की प्रक्रिया प्रारंभ

हो गई और पुरानी संस्थाओं के स्थान में नवीन संस्थाओं ने जन्म ले लिया। इस प्रकार नवीन संस्था पुरानी संस्था को नष्ट कर देती है, इसलिए नष्ट कर देती है क्योंकि पुरानी संस्था व्यक्ति तथा समाज की नयी-नयी आवश्यकताओं को पूरा नहीं कर रही होती।

७. हिन्दू-सामाजिक-संस्थाएँ
(Hindu Social Institutions)

हमने देखा, संस्था किसे कहते हैं, संस्था के क्या कार्य हैं? अपने देश में अधिक संख्या हिन्दुओं की है, उन्हीं की संस्थाओं से हमें अधिकतर वास्ता पड़ता है। हिन्दुओं की वे मुख्य-मुख्य कौन-सी संस्थाएँ हैं जिनके विषय में हमें इस पुस्तक में चर्चा करनी होगी? इसके साथ इन संस्थाओं के विषय में हमें क्या-क्या चर्चा करनी होगी? संक्षेप में वे संस्थाएँ निम्न हैं :

(क) जाति-व्यवस्था––हिन्दुओं की सामाजिक-संस्थाओं में सब से प्रमुख स्थान जाति-व्यवस्था का है। किसी भी 'संस्था' पर विचार करते हुए हमें मुख्य तौर पर दो बातों पर विचार करना होगा––(i) उसके मुख्य तत्त्व क्या हैं, (ii) उसके कार्य क्या हैं। हम इस पुस्तक में जाति-व्यवस्था पर विचार करेंगे और विचार करते हुए जाति-व्यवस्था के मुख्य तत्त्वों तथा जाति-व्यवस्था के समाज में कार्यों पर प्रकाश डालेंगे। किसी भी संस्था के कार्यों पर प्रकाश डालते हुए हमें यह देखना होगा कि वह संस्था व्यक्ति तथा समाज की किन आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए बनी, और साथ ही यह भी देखना होगा कि जब उस संस्था ने व्यक्ति तथा समाज की आवश्यकताओं को पूरा करना छोड़ दिया, तब परिवर्त्तन की प्रक्रिया प्रारम्भ हो गई और उस संस्था का स्थान दूसरी संस्था ने ले लिया। जाति-व्यवस्था के विषय में चर्चा करते हुए हम यह दर्शाने का प्रयत्न करेंगे कि किस प्रकार इसका वर्त्तमान स्वरूप बदलता जा रहा है, उसमें परिवर्त्तन होता जा रहा है। इस सिलसिले में हम यह भी दर्शायेंगे कि हिन्दू-समाज की यह संस्था किन-किन परिवर्त्तनों में से गुजरी। कैसे पहले आर्य और दस्यु के रूप में यह समाज विभक्त था, फिर कैसे वर्ण-व्यवस्था चली, वर्ण-व्यवस्था का क्या स्वरूप था, फिर कैसे जाति-व्यवस्था चली और अब जाति-व्यवस्था भी किस प्रकार परिवर्त्तन में से गुजर रही है।

(ख) अस्पृश्यता की व्यवस्था––जाति-व्यवस्था से मिली-जुली हिन्दू-समाज में एक सामाजिक-संस्था 'अस्पृश्यता' की है। इस संस्था पर भी इसके मुख्य तत्त्वों तथा इस संस्था के हिन्दू-समाज में कार्य पर हम अस्पृश्यता के अध्याय में विचार करेंगे। वर्त्तमान-परिस्थितियों में अस्पृश्यता-सम्बन्धी विचारों में हिन्दू-समाज में क्या परिवर्त्तन आ रहे हैं––इस सब पर भी इस विषय के अध्याय में प्रकाश डाला जायगा।

(ग) संयुक्त-परिवार-व्यवस्था––हिन्दू-सामाजिक-संस्थाओं में 'संयुक्त-परिवार' का भी महत्त्वपूर्ण स्थान है। हिन्दुओं की परिवार-व्यवस्था पर लिखते

हुए हम पहले 'संयुक्त-परिवार-व्यवस्था' पर प्रकाश डालेंगे, इसके मुख्य-मुख्य तत्त्व क्या हैं, इस व्यवस्था का कार्य क्या है—इन दोनों बातों पर लिखेंगे। हर-एक सामाजिक-संस्था समाज की किसी आवश्यकता को पूरा करती है, संयुक्त-परिवार की संस्था भी हिन्दू-समाज की किसी आवश्यकता को पूरा करती रही है। जब कोई संस्था अपने आवश्यक-कार्य को पूरा करना छोड़ देती है तब उसमें विगठन प्रारम्भ हो जाता है, वह संस्था टूट जाती है; आज संयुक्त-परिवार की संस्था वर्त्तमान-युग की नवीन परिस्थितियों में उत्पन्न होने वाली आवश्यकताओं को नहीं पूरा कर रही इसलिए यह टूटती जा रही है—इन सब बातों पर हम इस विषय के अध्याय में लिखेंगे।

(घ) हिन्दू-विवाह-व्यवस्था—परिवार का मुख्य रूप विवाह है। हिन्दुओं की विवाह-व्यवस्था अपने-आप में एक संस्था है। हिन्दुओं की विवाह की संस्था के मुख्य-मुख्य तत्त्व क्या हैं, इस संस्था के क्या कार्य हैं—इन बातों पर हिन्दू-विवाह-व्यवस्था के अध्याय में विचार किया जायगा। विवाह जब अपने निश्चित उद्देश्य को पूरा नहीं करता तब तलाक की माँग होने लगती है। आज हिन्दुओं में भी तलाक की परिस्थितियाँ उत्पन्न होती जा रही हैं और तलाक-सम्बन्धी कानून बन रहे हैं। हिन्दुओं में बाल-विवाह की संस्था भी रही है, बाल-विवाह के साथ उसका अवश्यम्भावी परिणाम विधवाओं की संख्या का अधिक होना भी हिन्दू-समाज की एक विशेषता है। तलाक, बाल-विवाह-निषेध तथा विधवा-विवाह—ये सब हिन्दू-विवाह-व्यवस्था में परिवर्त्तन के तत्व हैं जिन सब पर अलग-अलग अध्यायों में हम प्रकाश डालेंगे।

(ङ) स्त्रियों की स्थिति—स्त्रियों की स्थिति को 'संस्था' तो नहीं कहा जा जा सकता, फिर भी हिन्दू-समाज की संस्थाओं पर विचार करते हुए इस समाज में स्त्रियों की स्थिति पर विचार करना आवश्यक है क्योंकि स्त्रियों की स्थिति का हिन्दू-समाज की स्त्रियों सम्बन्धी प्रत्येक संस्था पर प्रभाव है। स्त्रियों की स्थिति का ही यह परिणाम था कि यहाँ पर्दे का प्रचलन हुआ, कन्याओं की शिक्षा का अभाव रहा, बाल-विधवाएँ हुईं और सती-प्रथा चली। स्त्रियों सम्बन्धी सब समस्याओं का सम्बन्ध हिन्दू-समाज में स्त्रियों की स्थिति से है, इसलिए इस प्रश्न पर हम एक अलग अध्याय में विवेचन करेंगे। आज की परिस्थितियों में स्त्रियों की स्थिति में जो परिवर्त्तन आ रहा है उसका भी इस अध्याय में दिग्दर्शन किया जायगा।

(च) सामाजिक-सुधार की प्रगति—ऊपर हमने जिन बातों का वर्णन किया है, उन्हें एक शब्द में कहना चाहें, तो वर्त्तमान परिस्थितियों के कारण हिन्दू-समाज की वर्त्तमान सामाजिक संस्थाओं में जो परिवर्त्तन आ रहे हैं, उन्हें 'सुधार' के नाम से पुकारा जा सकता है। जाति-व्यवस्था में, वर्ण-व्यवस्था में, अस्पृश्यता के विचार में, संयुक्त-परिवार-पद्धति में, हिन्दुओं की विवाह की धारणा में, बाल-विवाह, विधवा-विवाह, विवाह-विच्छेद आदि धारणाओं में आज युगान्तर-कारी परिवर्त्तन आता जा रहा है, स्त्रियों की शिक्षा, पर्दे आदि के सम्बन्ध में

समाज की विचार-धारा आमूल-चूल बदलती जा रही है---इस सब का कारण सुधार की वह लहर है जो बीसवीं सदी में अपने उच्च शिखर पर पहुँच गई। हिन्दू-समाज की पुरानी तथा नयी व्यवस्था को ठीक-ठीक से समझने के लिए सुधार की इस लहर को समझना जरूरी है, इसलिए हम पुस्तक में इस पर भी विशेष रूप से विचार करेंगे।

(छ) मुस्लिम तथा पाश्चात्य संस्कृति का हिन्दू-संस्कृति पर प्रभाव---हिन्दू-समाज की सामाजिक-संस्थाओं के निर्माण में और इन संस्थाओं के आधार-भूत सिद्धान्तों में परिवर्त्तन में दो संस्कृतियों ने प्रमुख भाग लिया है। जब मुसलमान इस देश में आये तब उनकी विचार-धारा का, और बाद को जब अंग्रेज यहाँ आये तब पश्चिम की विचार-धारा का यहाँ की संस्कृति पर प्रभाव पड़े बिना न रहा। इस देश की सामाजिक-संस्थाओं में परिवर्त्तन के अनेक कारणों में से मुख्य कारण ये दो रहे हैं, इसलिए इन दोनों पर इस ग्रन्थ में पृथक् तौर पर विचार किया जायगा। इस प्रकरण में हम मुस्लिम-विवाह-व्यवस्था पर भी चर्चा करेंगे।

(ज) ग्राम-पंचायत---हिन्दू-सामाजिक-संस्थाओं का ग्राम-पंचायतें सदा से अभिन्न अंग रही हैं। पंचायत तो यहाँ की राजनैतिक-संस्था के साथ-साथ सामाजिक-संस्था भी रही है। पंचायतों का किस प्रकार उदय हुआ, किस प्रकार ह्रास हुआ, और वर्त्तमान-युग में किस प्रकार देश की नवीन आवश्यकताओं को पूर्ण करने के लिए इनका पुनरुत्थान हो रहा है---यह सब हिन्दू-सामाजिक-संस्थाओं के विद्यार्थी के लिए जानना आवश्यक है। पुस्तक में पंचायतों पर भी एक अध्याय में विचार किया जायगा।

इस पुस्तक में आगे जो अध्याय लिखे जायेंगे उसकी संक्षेप में रूप-रेखा हमने यहाँ दी है। इन सब विषयों पर अगले अध्यायों में हम विस्तार से प्रकाश डालने का प्रयत्न करेंगे।

१२

जाति-व्यवस्था

(CASTE SYSTEM)

जाति-व्यवस्था केवल भारत की उपज है। यह अन्य किसी देश में इस ढंग से नहीं पायी जाती जिस ढंग से अपने देश में पायी जाती है। इसका अपने यहाँ क्रमिक विकास हुआ है। जाति-व्यवस्था के समझने के लिए यह जानना आवश्यक है कि किस क्रम में से गुज़रती-गुज़रती यह वर्त्तमान रूप में पहुँची है।

जाति-व्यवस्था की आधार-भूत भावना है---मनुष्य का मनुष्य से भेद। आज तो सब प्रकार के भेद-भाव को मिटाने का यत्न हो रहा है। जन्म के भेद-भाव को मिटाने के लिए जन्म के आधार पर किसी को ऊँचा या किसी को नीचा मानने की भावना का सुधारकों की तरफ़ से ही नहीं, शासकों की तरफ़ से भी कानून द्वारा नाश किया जा रहा है। कर्म के द्वारा जो भेद-भाव उत्पन्न हो जाता है, कोई मेहनत करके अमीर हो जाता है, कोई मेहनत न कर सकने के कारण ग़रीब रह जाता है---इस स्थिति को भी बदलने का प्रयत्न हो रहा है, सब की स्थिति बराबर की हो---ऐसे उद्योग हो रहे हैं। परन्तु शुरू में ऐसा नहीं था। शुरू में भारतीय-समाज में क्या था---यही हमें देखना है।

१. प्रारम्भिक व्यवस्था 'वर्ण-व्यवस्था' थी जिसका आधार 'कर्म' था

(क) आर्य और दास---भारत की प्रारम्भिक सामाजिक-व्यवस्था में समाज को दो भागों में बाँटा गया था---'आर्य' तथा 'दास'। ये दोनों विभाग जन्म पर आश्रित नहीं थे। सदाचारी व्यक्ति को 'आर्य' तथा दुराचारी व्यक्ति को 'दास' कहा जाता था। 'दास' तथा 'दस्यु' का एक ही अर्थ था। 'दास' या 'दस्यु'-शब्द 'दसु उपक्षये'---इस धातु से बना है। उपक्षय---अर्थात् नाश करना। जो हर प्रकार की सामाजिक-व्यवस्था को तहस-नहस करते थे, वे दास या दस्यु कहलाते थे। आजकल भी संस्कृत-भाषा में 'दस्यु का अर्थ है---चोर। इस दृष्टि से 'आर्य' तथा 'दास' का विभाग जन्म पर आश्रित न होकर कर्म पर आश्रित था।

शुरू-शुरू में 'आर्य' तथा 'दास' को ही 'वर्ण' कहा जाता था। उस समय समाज में ये दो वर्ण थे, एक तरह से समाज के ये दो विभाग थे---अच्छे लोग और

बुरे लोग। बुरे लोगों को--दासों को--दण्ड दिया जाता था। ऋग्वेद २-१२-४ में लिखा है--'यो दासं वर्णम् अधरं गुहा अक:'--अर्थात्, जो दास-वर्ण को गुफ़ा के नीचे कैद कर देता है। चोरों और दुराचारियों को कैदखाने में डाला ही जाता है--यही बात इस वेद-मंत्र में लिखी है। कई पाश्चात्य-लेखकों का मत है कि 'आर्य' तथा 'दास' का विभाग जन्म पर आश्रित था। 'आर्य' लोग बाहर से भारत में आये थे। यहाँ के मूल-निवासियों को 'दास' कहते थे। दोनों की नस्ल अलग-अलग थी, दोनों का जन्म-गत भेद था, रुधिर का भेद था। परन्तु यह विचार भ्रम-मूलक है। 'आर्य' तथा 'दास' का विभाग जन्म पर आश्रित नहीं था, कर्म पर था--यह स्थापना इस बात से भी पुष्ट होती है क्योंकि ऋग्वेद ९-६३-५ में लिखा है--'कृण्वन्तो विश्वम् आर्यम्'--सारे विश्व को आर्य बनाओ। सारे विश्व को आर्य तभी बनाया जा सकता है, अगर 'आर्य' तथा 'दास' का भेद जन्म या नस्ल पर आश्रित न होकर कर्म पर आश्रित हो, सदाचारी को 'आर्य' कहा जाता हो, दुराचारी को 'दास' या 'दस्यु'। बौद्ध-ग्रन्थ मज्झिम-निकाय ९३ के पढ़ने से भी यही बात पुष्ट होती है। वहाँ लिखा है--'हे आश्वलायन! क्या तुमने सुना है कि यवन, कम्बोज और दूसरे सीमान्त देशों में दो ही वर्ण होते हैं--आर्य और दास। आर्य दास हो सकता है और दास भी आर्य हो सकता है।"

'आर्य' तथा 'दास' को 'वर्ण' कहा जाता था। ऋग्वेद में 'यो दासं वर्णम्'--यह आया है, अर्थात् 'दास' तथा 'आर्य' ये दोनों 'वर्ण' थे। कई पाश्चात्य-विद्वान् 'वर्ण' का अर्थ रंग करते हैं। उनका कहना है कि गोरे रंग के 'आर्य' थे, काले रंग के 'दास' थे, परन्तु वेदों में कहीं आर्यों को गौर और दासों को कृष्ण वर्ण का नहीं कहा गया, अतः यह विचार भी भ्रम-मूलक है। 'वर्ण'-शब्द 'वृञ् वरणे' धातु से बना है। वरण करना--अर्थात् चुनना। यह व्यक्ति की इच्छा पर है कि वह सदाचार के जीवन को चुने, 'आर्य' बने, या दुराचार के जीवन को चुने, 'दुराचारी' बने। 'वर्ण'-शब्द भी इस बात को सिद्ध करता है कि शुरू-शुरू में भारत की सामाजिक-व्यवस्था जन्म पर आश्रित न होकर कर्म पर आश्रित थी, और जो जिस प्रकार के जीवन को चुनता था, वह अपने कर्म से आर्य या दास वर्ण का कहलाता था।

(ख) ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र तथा निषाद--वैदिक-काल में 'आर्य' तथा 'दास'--इस दो प्रकार के सामाजिक-विभाग के साथ-साथ एक और सामाजिक कल्पना ने जन्म लिया। वह कल्पना थी--ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र तथा निषाद के विचार की कल्पना। जैसे शरीर में सिर का काम ज्ञान-प्रधान है, हाथों का काम रक्षा-प्रधान है, उदर का काम संचय-प्रधान है, टाँगों का काम श्रम-प्रधान है, उसी प्रकार समाज के शरीर की भी व्यवस्था है। कुछ लोग पढ़ाने-लिखाने का काम करते हैं, उन्हें यहाँ के समाज-शास्त्रियों ने 'ब्राह्मण' का नाम दिया, कुछ लोग देश की रक्षा करते हैं, उन्हें 'क्षत्रिय' कहा, कुछ वणिज-व्यापार करते हैं, उन्हें 'वैश्य' कहा, कुछ विशेष योग्यता न होने के कारण सेवा-कार्य करते हैं, मेहनत-

मजदूरी करते हैं, उन्हें 'शूद्र' कहा, कुछ ऐसे भी होते हैं जो किसी काम को नहीं कर सकते, सर्वथा निकम्मे और अपाहिज होते हैं, उन्हें 'निषाद' कहा। इस प्रकार भिन्न-भिन्न प्रकार के 'कर्म' करने के कारण समाज को उस समय पाँच भागों में बाँटा गया। इसी लिए मानव-समाज के लिए वेद में 'पंचजनाः'—'पंचकृष्टयः'—'पंचमानवाः'—ये शब्द आये हैं। इन सभी का अर्थ है—पाँच प्रकार के मनुष्य। 'आर्य' तथा 'दास' का विभाग तो आचार-परक (Ethical) था; ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र, निषाद का विभाग कर्म-परक (Professional) था। ऋग्वेद के १०वें मण्डल में लिखा है—'ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद् बाहू राजन्यः कृतः। ऊरू तदस्य यद्वैश्यः पद्भ्यां शूद्रोऽजायत'—समाज रूपी शरीर के ब्राह्मण मुख हैं, क्षत्रिय बाहु हैं, वैश्य ऊरू हैं, पाँव शूद्र हैं। यह विभाग जन्म के आधार पर तो किया नहीं जा सकता। इसका यही अभिप्राय तो हो सकता है कि जो मुख काम करता है समाज में वह काम जो करे वह ब्राह्मण है, जो हाथ काम करते हैं समाज में वह काम जो करे वह क्षत्रिय है, पेट का—संचय का—जो काम करे वह वैश्य है, पाँव का, मेहनत का जो काम करे वह शूद्र है। इसका मतलब यही हुआ कि वेदों में जिस प्रकार की वर्ण-व्यवस्था का वर्णन है उसका आधार कर्म है, जन्म नहीं।

२: 'वर्ण-व्यवस्था' के बाद की व्यवस्था 'जाति-व्यवस्था' थी जिसका आधार 'जन्म' था

[वर्ण-व्यवस्था तथा जाति-व्यवस्था में भेद]

'वर्ण-व्यवस्था' तथा 'जाति-व्यवस्था' में भेद है। वैदिक-काल में वर्ण-व्यवस्था का विचार उत्पन्न हुआ, जिसे पीछे के काल में क्रियात्मक रूप देने का प्रयत्न किया गया, और वह जाति-व्यवस्था का रूप धारण कर गया। वर्ण-व्यवस्था का विचार आर्य तथा दस्यु के रूप में समाज का 'आचार-परक' (Ethical) तथा ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र, निषाद के रूप में 'कार्य-परक' (Professional) वर्गीकरण था। आचार की दृष्टि से आर्य तथा दास और कार्य की दृष्टि से ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र तथा निषाद। इस विचार में जन्म से वर्गीकरण की कोई बात नहीं थी। अगर कोई पढ़ाता-लिखाता था, तो जैसे आजकल उसे अध्यापक कहते हैं, वैसे उस समय उसे ब्राह्मण कह देते थे; अगर कोई सेना में भर्त्ती होता था, तो जैसे आजकल उसे सिपाही कहते हैं, वैसे उस समय उसे क्षत्रिय कह देते थे। जैसे अध्यापक सेना में भर्त्ती के बाद सिपाही बन जाता है, वैसे ब्राह्मण शस्त्र चलाने का काम शुरू कर दे तो क्षत्रिय हो जाता है। ब्राह्मण जन्म से ही ब्राह्मण होता है, क्षत्रिय जन्म से ही क्षत्रिय होता है—ऐसी कोई बात वैदिक-काल में नहीं थी। इसी लिए ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र का विभाग उस समय एक 'विचारात्मक-वर्गीकरण' (Theoretical classification) था, और कुछ नहीं। वैदिक-काल के पीछे के काल में यह कर्म पर आश्रित न होकर जन्म पर आश्रित

माना जाने लगा और तब यह समाज का 'विचारात्मक-वर्गीकरण' न रहकर 'क्रियात्मक-वर्गीकरण' (Practical classification) हो गया और क्रियात्मक रूप में आते ही यह विचार 'वर्ण-व्यवस्था' का रूप छोड़ कर 'जाति-व्यवस्था' के रूप में बदल गया। वर्ण-व्यवस्था का विचार एक लचकीला विचार था, यह एक तरह का दार्शनिक वर्गीकरण था, इसके मानने-न-मानने से किसी का कुछ बनता-बिगड़ता न था, परन्तु वही विचार जब जाति-व्यवस्था का रूप धारण कर गया, तब वह अपने लचकीलेपन को खो कर एक कठोर चीज़ बन गया, इसे जन्म पर आश्रित माना जाने लगा, यह दार्शनिक-वर्गीकरण ही न रहकर एक ठोस, क्रियात्मक रूप धारण कर गया, किसी ख़ास जाति का होना व्यक्ति के बनने-बिगड़ने का कारण बन गया।

३. जाति का अर्थ या उसकी परिभाषा
(Concept of Caste or its Definition)

जैसा हमने पहले कहा, भारतीय-सामाजिक-व्यवस्था में 'वर्ण'-व्यवस्था पहले प्रचलित थी, उसके बाद 'जाति'-व्यवस्था प्रचलित हुई। इन दोनों का भेद हम दर्शा आये हैं। सदियों से हमें 'जाति'-व्यवस्था से ही सामना करना पड़ा है। 'जाति'-व्यवस्था में 'जाति'-शब्द का क्या अर्थ है, 'जाति' की क्या परिभाषा है—यह जानना हमारे लिए आवश्यक है। इसी सम्बन्ध में हम यहाँ कुछ चर्चा करेंगे।

[१] केतकर की परिभाषा—केतकर का कथन है कि 'जाति' एक ऐसा सामाजिक समुदाय है जिसकी दो विशेषतायें हैं—(क) इसके सदस्य वही होते हैं, जो इसमें पैदा होते हैं, (ख) इसके सदस्य इनके अपने सामाजिक-नियमों के आधार पर अपने समुदाय के बाहर विवाह नहीं कर सकते।

[२] मजूमदार तथा मदन की परिभाषा—"आवृत-श्रेणी जाति कहलाती है।" (श्रेणी या वर्ग का आधार अमीरी-ग़रीबी है। अमीर ग़रीब हो सकता है, ग़रीब अमीर हो सकता है। परन्तु जाति का आधार अमीरी-ग़रीबी न होकर जन्म है। जो जन्म से ब्राह्मण हुआ वह ब्राह्मण ही रहेगा। इसी को 'आवृत'—Closed—कहते हैं, यह व्यवस्था खुली न होकर बन्द है। यही जाति-व्यवस्था है—ऐसा मजूमदार तथा मदन का कथन है।)

उक्त परिभाषाएँ बहुत-कुछ ठीक हैं, परन्तु 'जाति' के किसी एक पहलू पर प्रकाश डालती हैं। इन परिभाषाओं के अतिरिक्त अन्य भी अनक विद्वानों ने

[1] "Caste as a social group has two characteristics: (a) Membership is confined to those who are born of members and includes all persons so born, (b) the members are forbidden by an inexorable social law to marry outside the group." —*Ketkar.*

[2] "A caste is a closed class." —*Mazumdar and Madan.*

'जाति' की, सब पहलुओं को लेकर, व्याख्या करने का प्रयत्न किया है जो फिर भी कुछ-न-कुछ त्रुटि-पूर्ण है। इनमें से पाश्चात्य-विद्वानों के दो-एक प्रयासों का हम यहाँ उल्लेख कर रहे हैं :—

[३] रिज़ले की परिभाषा—रिजले (Risley) का कहना है कि जाति परिवारों के उस समूह को कहते हैं जो एक काल्पनिक पूर्वज से वंश-परम्परा द्वारा चला आता है, यह पूर्वज कोई काल्पनिक मनुष्य या काल्पनिक देवता होता है। इस परिवार-समूह के व्यक्ति एक ही नाम से व्यक्त होते हैं, एक ही व्यवसाय करते हैं।

रिजले की परिभाषा दोष-पूर्ण है, क्योंकि इसमें 'गोत्र' तथा 'जाति' को एक ही परिभाषा में मिला दिया गया है। गोत्र में तो किसी एक काल्पनिक मनुष्य या काल्पनिक देवता को परिवार-समूह का पूर्वज माना जाता है, जाति में नहीं।

[४] ब्लण्ट की परिभाषा—ब्लण्ट (Blunt) का कहना है कि 'जाति' एक ऐसा अन्तर्विवाह करने वाला समूह है जिसका एक सामान्य नाम होता है, जिसकी सदस्यता वंश से वंश में चली आती है, जो अपने सदस्यों पर कुछ सामाजिक-प्रतिबन्ध लगाता है, जो परम्परा-गत व्यवसाय को करते हैं, जो अपनी उत्पत्ति एक ही पूर्वज से मानते हैं, जिनका एक सजातीय-समुदाय होता है।

ब्लण्ट की परिभाषा में भी एक ही पूर्वज से उत्पत्ति का वर्णन किया गया है। इसमें सन्देह नहीं कि अनेक जातियों में एक पूर्वज से उत्पत्ति का वर्णन पाया जाता है परन्तु इसे अखंड नियम नहीं कहा जा सकता। अनेक जातियाँ किसी पूर्वज का वर्णन नहीं करतीं।

[५] कूले की परिभाषा—कूले (Cooley) का कहना है कि जब एक श्रेणी अथवा वर्ग वंश-परम्परा पर आश्रित हो जाता है, तब उसे 'श्रेणी' या 'वर्ग' कहने के स्थान में 'जाति' कहते हैं।

कूले की परिभाषा 'वर्ग' तथा 'जाति' के भेद को तो प्रकट करती है, परन्तु 'जाति' की पृथक् तथा स्पष्ट व्याख्या नहीं करती।

[६] भारतीय-शास्त्रों की परिभाषा—भारतीय-शास्त्रों की दृष्टि से इस शब्द पर दो पहलुओं से विचार किया जा सकता है। एक है व्याकरण का पहलू, दूसरा है इस शब्द को भिन्न-भिन्न स्थलों में व्याख्या का पहलू। व्याकरण के अनुसार 'जाति' शब्द 'जनि प्रादुर्भावे'—इस धातु से बना है। प्रादुर्भाव का अर्थ है—प्रकट होना, उत्पन्न होना। जन्म, जननी, जनक आदि शब्द इसी धातु से बने हैं। इस प्रकार व्याकरण की दृष्टि से 'जाति' का सम्बन्ध 'जन्म' से स्पष्ट प्रतीत होता है। 'जाति' पूछने का अर्थ है—'जन्म' के सम्बन्ध में पूछना। व्याकरण के अतिरिक्त दूसरा पहलू है भारतीय-ग्रन्थों में इस शब्द की भिन्न-भिन्न व्याख्याएँ। न्याय-दर्शन में जाति का लक्षण करते हुए कहा है—'समान-

[5] "When a class is somewhat strictly hereditary we call it a caste."
—*Cooley.*

प्रसवात्मिका जातिः'--अर्थात्, जहाँ अपने समान प्रसव हो, अपने समान सन्तान उत्पन्न हो, वहाँ 'जाति'-शब्द का प्रयोग होगा--अपने समान उत्पन्न करने को 'जाति' कहते हैं। मनुष्य मनुष्य को उत्पन्न करता है, कुत्ता कुत्ते को और गाय गाय को। इस दृष्टि से मनुष्य की अपनी जाति है, कुत्ते की अपनी जाति है, गाय की अपनी जाति है। अपने समान उत्पन्न करने का अर्थ है--अपने समान शक्ल-सूरत। इस व्याख्या के अनुसार मनुष्य को तो 'जाति' कहा जा सकता है, परन्तु ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र को जाति नहीं कहा जा सकता क्योंकि जब कोई प्राणी अपने समान दूसरे प्राणी को उत्पन्न करता है तब उसे शक्ल-सूरत से ही पहचान लिया जाता है, परन्तु ब्राह्मण की सन्तान को शक्ल-सूरत से ब्राह्मण के तौर पर नहीं पहचाना जा सकता, ना ही क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र को। व्याकरण तथा न्याय-शास्त्र--इन दोनों की व्याख्याओं के अनुसार ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र को 'जाति' नहीं कहा जा सकता, फिर भी इन्हीं के लिए अपने देश में 'जाति'-शब्द का प्रयोग होता रहा है। इसका क्या कारण है? इसका कारण यही हो सकता है कि शुरू-शुरू में ब्राह्मण, क्षत्रिय आदि का विभाजन जन्म-परक नहीं था, परन्तु पीछे कभी जाकर इन्हें जन्म-परक माना जाने लगा और ये विभाग जो वैदिक-काल में 'आचार-परक' (Ethical) तथा 'कर्म-परक' या 'श्रम-विभाग-परक' (Professional or Division of Labour) थे, 'जन्म-परक' (Closed caste) बन गये।

संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि व्याकरण तथा न्याय-दर्शन की परिभाषा के अनुसार भी ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र को 'जाति' नहीं कहा जा सकता क्योंकि इनकी परिभाषाओं के अनुसार 'जाति' का अर्थ है अपने समान शक्ल-सूरत की सन्तान उत्पन्न करना, और अपने समान का अर्थ है दूसरों से भिन्न शक्ल-सूरत की सन्तान उत्पन्न करना। जैसे कुत्ता गाय से भिन्न सन्तान को उत्पन्न करता है, गाय भैंस से भिन्न सन्तान को उत्पन्न करती है, वैसे ब्राह्मण क्षत्रिय से भिन्न शक्ल-सूरत की संतान को नहीं उत्पन्न करता। फिर भी ब्राह्मण आदि के लिए 'जाति'-शब्द का प्रयोग पाया जाता है--इसका कारण यही है कि अपने देश में बहुत पीछे जाकर जब जन्म को प्रधानता मिलने लगी तब 'जाति'-शब्द का इन चार 'वर्णों' के लिए भी प्रयोग होने लगा। जब 'जाति'-शब्द इन वर्णों के लिए प्रयुक्त होने लगा तब से ब्राह्मण-क्षत्रिय-वैश्य-शूद्र का आधार जन्म हो गया, वंश-परम्परा हो गया, और इसका आधार 'प्रजननिक' (Genetic) माना जाने लगा। ब्राह्मण-क्षत्रिय आदि का जन्म-परक आधार मानने के बाद विवाह आदि के सम्बन्ध में अनेक नियमों का निर्माण हुआ जिनमें 'अंतर्विवाही'-'बहिर्विवाही' आदि नियम हैं जिनका अपने-अपने स्थान पर वर्णन किया जायगा।

४. जाति-व्यवस्था के आधारभूत तत्त्व (Characteristics of Caste)

वर्ण-व्यवस्था वैदिक-काल की उपज है, जाति-व्यवस्था ब्राह्मण-ग्रन्थों तथा स्मृतियों के काल की उपज है। ऊपर हमने 'जाति' की जो भिन्न-भिन्न व्याख्यायें

दीं उनसे यह निष्कर्ष निकलता है कि 'जाति' की व्याख्या या परिभाषा करने के स्थान में 'जाति' के आधार-भूत मुख्य-मुख्य तत्त्वों को जान लेने से इसकी व्याख्या अधिक स्पष्ट हो जायेगी। इसी लिए जाति-व्यवस्था के आधारभूत तत्त्व क्या हैं—इस सम्बन्ध में कुछ जान लेना आवश्यक है। जाति-व्यवस्था के आधार-भूत तत्त्व निम्न हैं :—

(क) जाति जन्म पर आश्रित होती है—जब से जाति-व्यवस्था चली तब से यह माना जाने लगा कि जो व्यक्ति जिस जाति में पैदा होता है वह आजन्म उसी जाति का रहता है, दूसरी जाति का नहीं हो सकता। जाति के अपने नियम बने होते हैं, उसके अपने रीति-रिवाज होते हैं। अगर कोई व्यक्ति उन नियमों या उन रीति-रिवाजों का उल्लंघन करता है, तो वह जाति-च्युत कर दिया जाता है, जाति से बहिष्कृत कर दिया जाता है। जाति-च्युत या जाति-बहिष्कृत करने का क्या अर्थ है? इसका यह अर्थ है कि किसी जाति का होने से उसे जो अधिकार मिले हुए हैं वे उससे छीन लिये जाते हैं। उदाहरणार्थ, एक जात-बिरादरी के लोग इकट्ठा बैठ कर हुक्का पी सकते हैं, एक साथ खा-पी सकते हैं। जाति के रीति-रिवाजों, जाति की प्रथाओं का उल्लंघन करने वाले का हुक्का-पानी बन्द कर दिया जाता है।

(ख) जाति के लोग जाति में ही विवाह कर सकते हैं—जो जिस जाति का है वह उसी जाति में विवाह कर सकता है, दूसरी जाति में नहीं। ब्राह्मण ब्राह्मणों में, क्षत्रिय क्षत्रियों में, वैश्य वैश्यों में और शूद्र शूद्रों में ही विवाह कर सकते हैं, अपनी जाति से बाहर नहीं। इसे 'अन्तर्विवाह' (Endogamy) कहते हैं। कोई व्यक्ति अपनी जाति के बाहर विवाह करता है, तो उसकी सन्तान उत्तराधिकार की अधिकारी नहीं समझी जाती, हाँ, इतना अवश्य है कि ब्राह्मण अपने से नीच-कुल की कन्या ले सकता है, परन्तु नीच-कुल का पुरुष अपने से उच्च कुल की कन्या से विवाह नहीं कर सकता। ब्राह्मण का क्षत्रिय, वैश्य अथवा शूद्र कन्या से या वैश्य का शूद्र कन्या से विवाह 'अनुलोम' (Hypergamy)-विवाह कहलाता है; शूद्र पुरुष का ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य कन्या से, या वैश्य पुरुष का ब्राह्मण, क्षत्रिय कन्या से, या क्षत्रिय पुरुष का ब्राह्मण-कन्या से विवाह 'प्रतिलोम' (Hypogamy) विवाह कहलाता है। 'अनुलोम'-विवाह को जाति-व्यवस्था के नियम स्वीकार करते हैं, 'प्रतिलोम'-विवाह को स्वीकार नहीं करते। अब 'हिन्दू विवाह तथा तलाक अधिनियम—१९५५' के अनुसार विवाह के इस कानूनी बन्धन को हटा दिया गया है। अब कोई भी व्यक्ति किसी भी जाति में विवाह कर सकता है। 'अनुलोम' तथा 'प्रतिलोम' विवाह की बात को छोड़ भी दिया जाय, तो भी जाति-व्यवस्था के आधार-भूत तत्त्वों में अपनी जाति में ही विवाह करना एक मुख्य तत्त्व है। जब किसी व्यक्ति को जाति-च्युत या जाति-बहिष्कृत किया जाता है, तब उसका हुक्का-पानी बन्द करने के साथ-साथ उसके साथ रोटी-बेटी का व्यवहार भी बन्द कर दिया जाता है।

(ग) जाति के लोग अपनी जाति के हाथ का ही खा-पी सकते हैं—जो जिस जाति का है वह उसी जाति के हाथ का खा-पी सकता है, खासकर, कच्चा खाना तो दूसरी जाति के हाथ का खा ही नहीं सकता। नीच जाति के हाथ का बना हुआ भोजन खाने से जाति चली जाती है। ब्राह्मण बनिये के घर का कच्चा खाना नहीं खा सकता, पूरी-परांठे उड़ा सकता है। कच्चे में ज्यादा और पक्के में कम छूत मानी जाती है। दूध, घी, हरी सब्जियां, फल, मेवा सब-कोई हर-किसी के हाथ का खा सकता है।

(घ) जाति-व्यवस्था का परिणाम अछूतपन है—जाति-व्यवस्था के आधार में मनुष्य का मनुष्य के साथ भेद-भाव है। मैं इस समूह का हूँ, उस समूह का नहीं हूँ—इस भावना से जाति-व्यवस्था की हर बात की शुरूआत होती है। परिणाम यह होता है कि जिनको मनुष्य अपने दायरे का नहीं समझता, उन्हें घृणा की दृष्टि से देखने लगता है। इसी कारण हिन्दुओं में जाति-व्यवस्था के परिणामस्वरूप अछूतपन का भाव उत्पन्न हो गया है। जो अपने हैं, वे अपने, परन्तु जो अपने नहीं हैं, वे इतने पराये हो जाते हैं कि उनमें से कोई-कोई अछूत माने जाने लगते हैं। अब 'अस्पृश्यता (अपराध) अधिनियम–१९५५' के अनुसार अछूतपन को अपराध घोषित कर दिया गया है।

(ङ) जाति-व्यवस्था में पेशा भी निश्चित होता है—जाति-व्यवस्था में व्यक्ति का पेशा भी पैतृक-परम्परा से आता है। पाधे का लड़का पधियाई करता है, ग्वाले का लड़का ग्वाले का काम, सुनार का लड़का सुनार और लोहार का लड़का लोहार का काम। जिस प्रकार युरोप में 'व्यावसायिक-संघ' (Guilds) होते थे, इन संघों में वंश-परम्परा से पेशा चला आता था, इसी प्रकार जाति-व्यवस्था में पेशा वंश-परम्परा से चलता है। इस दृष्टि से 'जाति' को एक प्रकार का 'व्यावसायिक-संघ' (Guild) भी कहा जा सकता है। पेशे के वंश-परम्परा से चलने का फ़ायदा भी है। जो काम पीढ़ी-दर-पीढ़ी चलेगा, उसमें कार्य-कुशलता का होना स्वाभाविक है। जिन घरानों में हिकमत पीढ़ी-दर-पीढ़ी चली आती है, उनमें हिकमत में कुशलता भी दिखाई देती है। आज जाति-व्यवस्था के शिथिल हो जाने से व्यवसायों का खानदारों के साथ अब तक का चला आ रहा सम्बन्ध भी शिथिल होता जा रहा है।

५. जाति-व्यवस्था की उत्पत्ति के सिद्धान्त
(Theories of the Origin of Caste)

जन्म से जाति-व्यवस्था की उत्पत्ति कैसे हुई, इस सम्बन्ध में भारतीय तथा पाश्चात्य विद्वानों के भिन्न-भिन्न मत हैं, जिनमें से मुख्य-मुख्य मतों की हम यहाँ चर्चा करेंगे :—

(क) हट्टन का आदिम-संस्कृति के सामाजिक-स्तरों का परम्परात्मक-सिद्धान्त (Hutton's Traditional theory of stratified social

structure functioning in primitive Indian culture)—कई विद्वानों का कहना है कि जाति-व्यवस्था का सिद्धान्त भारत में परम्परा से चला आ रहा है। किस समय इस सिद्धान्त का प्रतिपादन हुआ—यह नहीं कहा जा सकता। हम खोज करते-करते जिस समय में भी पहुँचते हैं, वहीं पर किसी-न-किसी प्राचीन-परम्परा के अनुसार ऊँच-नीच के स्तरों का यह सिद्धान्त पहले से चला आ रहा दीखता है। हम देख ही आये हैं कि वैदिक-काल में 'ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीत्' के रूप में इस सिद्धान्त की सत्ता थी। उसके बाद के काल में भी यह सिद्धान्त पाया जाता है। स्मृति-काल में प्रत्येक स्मृति में ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र—इन जातियों का वर्णन है। हट्टन का कथन है कि भारत में आदि-काल से जाति के ऊँच-नीच स्तरों का विचार चला आ रहा था। 'Strata' का अर्थ है—'स्तर'। 'स्तर'—अर्थात् कोई जाति ऊँचे स्तर की है, कोई नीचे स्तर की, ब्राह्मण ऊँचे माने जाते हैं, दूसरी जातियाँ नीचे। यह 'स्तरीकरण' (Stratification) भारत में सदा से, परम्परा से चला आ रहा है। आज की असम की नागा जातियों में भी एक प्रकार की जाति-व्यवस्था पायी जाती है। नागा-जाति में 'आओ' जाति दूसरी जातियों से नीची समझी जाती है। जाति-व्यवस्था के आधार-भूत तत्त्व भारतीय-समाज में सदा से रहे हैं। आर्य लोग जब भारत में आये तब उन्होंने यहाँ की प्रचलित जाति-व्यवस्था—ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य आदि को पेशों का रूप दे दिया। समनेर का कहना तो यह है कि यह ऊँच-नीच का भेद संसार में सर्वत्र पाया जाता है। उन्होंने लिखा है कि मैंने इतिहास में परिश्रम से वह समय ढूँढने का प्रयत्न किया जब वर्ग-घृणा न पायी जाती हो, परन्तु मैं ऐसा समय न पा सका।

इस मत की आलोचना—जहाँ तक परम्परा से जाति-व्यवस्था के चले आने का सम्बन्ध है, हम पहले लिख आये हैं कि जन्म से जाति-व्यवस्था के मानने का सिद्धान्त वैदिक-काल में नहीं था। उस समय कर्म से वर्ण-व्यवस्था का सिद्धान्त माना जाता था। मानव-समाज के जन्म से वर्गीकरण को भारत की आदिकालीन परम्परा नहीं कहा जा सकता। वह उत्तर-कालीन परम्परा है।

(ख) अबे डुबोय का राजनैतिक-सिद्धान्त (Abbe Dubois' Political theory)—कुछ विद्वानों का कहना है कि जाति-व्यवस्था ब्राह्मणों की एक राजनैतिक-योजना थी। इस सिद्धान्त द्वारा उन्होंने अपने को दूसरों से उच्च सिद्ध करने का प्रयत्न किया। यह एक प्रकार का दूसरों का शोषण था। इस युग में भी तो हिटलर ने जर्मन-जाति के विश्व-भर की अन्य जातियों से श्रेष्ठ होने की घोषणा की थी। यही बात ब्राह्मणों ने अपने समय में की। उन्होंने अपने को अन्य सबसे श्रेष्ठ घोषित किया। इस सिद्धान्त का १९वीं शताब्दी के फ्रांसीसी लेखक अबे डुबोय (Abbe Dubois) ने प्रतिपादन किया था। इबटसन भी इसी सिद्धान्त को मानता था। डा० घुर्ये भी इस सिद्धान्त को मानते हैं क्योंकि यह सिद्धान्त प्रजातीय-सिद्धान्त के निकट आता है।

इन लोगों का कहना है कि ब्राह्मणों ने जो नियम बनाये उनमें सदा अपने साथ रियायत की। ब्राह्मण हर जाति में विवाह कर सकता है, दूसरी जाति के लोग ब्राह्मण कन्या के साथ विवाह नहीं कर सकते; संसार में सब सम्पत्ति ब्राह्मण की है; जिन अपराधों के लिए दूसरों को मृत्यु-दंड है, उनके लिए ब्राह्मण को साधारण दंड है--यह सब ब्राह्मणों की राजनैतिक-योजना थी।

इस मत की आलोचना--जहाँ तक दूसरे वर्गों का ब्राह्मणों द्वारा शोषण करने वाले इस राजनैतिक-सिद्धान्त का सम्बन्ध है, यह कह सकना कठिन है कि ब्राह्मणों की इस बात को अन्य वर्गों ने कैसे मान लिया? ब्राह्मणों ने कहा कि हम ऊँचे हैं, दूसरे नीचे हैं, और सब ने ब्राह्मणों की बात मान ली--यह कैसे हो सकता है? मुसलमानों और अंग्रेजों के समय की बात दूसरी है। ये बाहर से आये थे, यहाँ के शासक थे। शासक तो सदा शासितों का शोषण करते रहे हैं, परन्तु ब्राह्मण तो क्षत्रिय, वैश्य, शूद्रों की एक ही सामाजिक-व्यवस्था के अंग थे, वे क्षत्रिय आदि के शासक तो नहीं थे, कहीं बाहर से भी इन लोगों के बीच नहीं आये थे। फिर वे अन्य जातियों का शोषण क्यों करने लगे?

(ग) रिज़ले का प्रजातीय-सिद्धान्त (Risley's Racial theory) --कुछ विद्वानों का कहना है कि जाति-व्यवस्था का सिद्धान्त प्रजाति अर्थात् नस्ल पर आश्रित है। आजकल भी कई लोग नस्ल के कारण अपने को दूसरों से श्रेष्ठ समझते हैं। इन विद्वानों के अनुसार नस्ल के कारण आर्य लोग अपने को दासों से श्रेष्ठ मानते थे। इनके अनुसार आर्य भारत के बाहर से आये थे, उन्होंने यहाँ के आदि-वासियों को जीता, उन्हें दास का नाम दिया। जब विजेता किसी देश को जीतता है, तब विजित देश की लड़कियों को अपने में खपाता है, परन्तु अपनी लड़कियों को विजित देश के युवकों को देने के लिए तैयार नहीं होता। इसी भावना से 'अनुलोम-विवाह' (Hypergamy) का अनुमोदन तथा 'प्रतिलोम-विवाह' (Hypogamy) का विजेता लोग निषेध करते हैं। अपने रक्त की शुद्धता बनाये रखने के लिए वे अपनी नस्ल के लोगों में ही विवाह करते हैं, जिसे सजातीय-विवाह और अंतर्विवाह (Endogamy) कहते हैं। क्योंकि भारत की जाति-व्यवस्था में ये तीनों बातें पाई जाती हैं, इसलिए इन विद्वानों का कथन है कि बाहर से आने के कारण आर्य लोगों ने प्रजातीय-सिद्धान्त के आधार पर जाति-व्यवस्था का निर्माण किया था। उन्होंने आर्य और दास का, तथा ब्राह्मण-क्षत्रिय-वैश्य-शूद्र का प्रजातीय-विभाग अपने रक्त की शुद्धता रखने के लिए किया। इस प्रजातीय-सिद्धान्त के समर्थक अपने पक्ष की पुष्टि में यह भी कहते हैं कि 'वर्ण'-शब्द का अर्थ रंग है। ब्राह्मणों की नस्ल गोरे रंग की थी, दूसरे लोग काले थे, इसलिए अपनी नस्ल के वर्ण अर्थात् रंग के आधार पर उन्होंने वर्ण-व्यवस्था को जारी किया। ये सब विचार प्रमुख रूप से रखने वाले श्री एच० एच० रिज़ले हैं। श्री डॉ० घुर्ये, प्रो० एन० के० दत्त तथा डॉ० मजूमदार भी इसी विचारधारा को मानते हैं। इस तरह की कुछ बात महाभारत-काल में अपने देश के विद्वानों में

भी कभी चली होगी, क्योंकि महाभारत के शांतिपर्व के १८८वें अध्याय के ५वें श्लोक में भृगु तथा भारद्वाज का संवाद आता है, जिसमें भृगु जी कहते हैं--'ब्राह्मणानां सितो वर्णः क्षत्रियाणां तु लोहितः। वैश्यानां पीतको वर्णः शूद्राणामसितस्तथा ॥'--अर्थात्, ब्राह्मणों का सफ़ेद रंग होता है, क्षत्रियों का लाल, वैश्यों का पीला तथा शूद्रों का काला।

इस मत की आलोचना--जहाँ तक जाति-व्यवस्था का नस्ल के आधार पर चलने का सम्बन्ध है, इसका मुख्य आधार इस बात पर निर्भर करता है कि क्या आर्य लोग बाहर से आकर यहाँ बसे थे, या यहीं के वासी थे। अगर आर्य बाहर से आकर बसे थे, तो आर्य तथा दास ये दोनों ही बाहर से ही आये होंगे, क्योंकि आर्य तथा दास ये दो नस्लें न होकर सदाचारियों को आर्य तथा दुराचारियों को दास कहा जाता था। कई लोग आर्यों को बाहर का तथा दासों को यहाँ का वासी कहते हैं, परन्तु यह बात बहुत विवादास्पद है कि आर्य बाहर से आकर यहाँ बसे थे और यहाँ के निवासी को वे दास कहते थे। श्री पी० टी० श्रीनिवास आयंगार अपने 'माधवाचार्य भाष्य सहित यजुर्वेद' में लिखते हैं--'जिन मंत्रों में आर्य, दास और दस्यु शब्द आये हैं उनकी सावधानी से परीक्षा करने पर पता लगता है कि ये शब्द वंश के या नस्ल के नहीं, वरन् धर्म या मत के द्योतक हैं। ये शब्द सब से अधिक ऋग्वेद में मिलते हैं। वहाँ 'आर्य'-शब्द ३४ बार आया है। ऋग्वेद में कुल १,५३,९७२ शब्द हैं। इतने शब्दों में 'आर्य'-शब्द का सिर्फ़ ३४ बार आना ही इस बात का प्रमाण है कि जो लोग अपने को 'आर्य' कहते थे, वे आक्रमणकारी नहीं थे, जिन्होंने देश को जीतकर यहाँ के आदिवासियों--दासों--का नाश किया। कारण यह है कि आक्रमण करने वाली जाति स्वभावतः अपनी सफलताओं की निरन्तर डींग हाँका करती है, जो इतने बड़े ग्रंथ में कहीं नहीं है।" श्रीयत् आयंगार का यह कथन सत्य प्रतीत होता है, परन्तु अगर यह मान भी लिया जाय कि आर्य लोग बाहर से आये थे, तो भी जैसा हम पहले लिख आये हैं, आर्य और दास--ये दो नस्लों के नाम तो हैं ही नहीं। अगर ये दो नस्लें होतीं, तब 'कृण्वन्तो विश्वमार्यम्'--'सबको आर्य बनाओ'--यह बात तो नहीं कही जा सकती। सबको अपने विचार का तो बनाया जा सकता है, अपनी नस्ल का तो नहीं बनाया जा सकता। अगर कोई कहे कि सबको नीग्रो बना दो, तो क्या यह बात कहीं सिरे बैठती है? बाकी रहा 'वर्ण'-शब्द का 'रंग' अर्थ होना। जो लोग भृगु जी का वह श्लोक उद्धृत करते हैं जिसमें उन्होंने कहा है कि ब्राह्मणों का रंग सफ़ेद और शूद्रों का काला होता है, उन्हीं भृगुजी ने स्वयं शांति-पर्व के १८८वें अध्याय के १०वें श्लोक में उत्तर दे दिया है-'न विशेषोस्ति वर्णानां सर्वं ब्राह्ममिदं जगत्। ब्रह्मणा पूर्वसृष्टं हि कर्मभिर्वर्णतां गतम् ॥'--वर्ण में सफ़ेद, लाल, पीला, काला भेद कहीं नहीं दीखता। ब्राह्मण काले और शूद्र गोरे भी दिखाई देते हैं, इसलिए वर्ण-भेद रंग के ऊपर आश्रित नहीं हैं, कर्म पर आश्रित है। कर्म से ही भिन्न-भिन्न वर्ण बने हैं। भृगुजी का पहला कथन पूर्व-पक्ष है, और यह दूसरा कथन उत्तर-पक्ष है। यह हम पहले ही लिख आये हैं

कि 'वर्ण'-शब्द का अर्थ रंग है जरूर, परन्तु वर्ण-व्यवस्था में 'वर्ण'-शब्द का अर्थ रंग न होकर 'चुनना' अर्थ है। चुनना--अर्थात्, जीवन का पेशा चुनना।

(घ) नेसफ़ील्ड तथा इबटसन का व्यवसायात्मक-सिद्धान्त (Nesfield's and Ebbetson's Occupational theory)--कुछ विद्वानों का कहना है कि प्रत्येक समाज में व्यवसायों के आधार पर मनुष्यों का वर्गीकरण हुआ करता है। जो व्यक्ति किसी ख़ास पेशे, किसी ख़ास व्यवसाय, किसी ख़ास धंधे को करते हैं, वे अपनी सन्तान को उसी पेशे, व्यवसाय या धंधे की शिक्षा देते हैं। इस प्रकार ख़ास-ख़ास पेशे करने वाले ख़ानदानों के अलग-अलग समूह बन जाते हैं। पाश्चात्य देशों में पेशों के जो समूह बने, उन्हें 'व्यावसायिक-संघ' (Guilds) कहा जाता था। इन संघों के बनने का आधार नस्ल नहीं होता था, एक-सा पेशा होता था। भारतवर्ष में भी इस प्रकार के एक-से पेशे के संघ बने, और वे संघ ही जातियाँ कहलाईं। ब्राह्मण का पेशा करने वाले ब्राह्मण, क्षत्रिय का पेशा करने वाले क्षत्रिय, वैश्य का पेशा करने वाले वैश्य और शूद्र का पेशा करने वाले शूद्र कहलाये। सुनार, लोहार आदि जातियाँ इसी प्रकार भिन्न-भिन्न पेशों से बनीं। पिता अपने पुत्र को अपने पेशे के रहस्य बतलाता था, इसलिए पुत्र उस पेशे में कुशल होता था। इस प्रकार ये पेशे वंश-परम्परा से चलने लगे, पेशों के वंश-परम्परा से चलने के कारण जाति-व्यवस्था भी वंश-परम्परा से चल पड़ी। पेशे के लोग दूसरों को अपना रहस्य नहीं बतलाना चाहते थे, इसलिए अपने पेशे के लोगों अर्थात् अपनी जाति में ही विवाह करते थे, जाति से बाहर नहीं। इस सिद्धान्त के सबसे बड़े समर्थक श्री नेसफ़ील्ड (Nesfield) तथा श्री इबटसन (Ebbetson) हैं।

इसी दृष्टिकोण का समर्थन करने वालों का कहना है कि समाज में 'श्रम-विभाग का नियम' (Division of labour) काम करता है। भारत में जाति-व्यवस्था को जारी करने वालों ने 'श्रम-विभाग' के इसी आर्थिक-नियम को समाज में क्रियात्मक रूप दे दिया था और भिन्न-भिन्न व्यवसायों को श्रम मानकर उनका ब्राह्मण-क्षत्रिय-वैश्य-शूद्र तथा अन्य जाति-उपजातियों में वर्गीकरण कर दिया था। इन व्यवसायों से जाति तथा इनके अवान्तर भेदों से उपजातियों का निर्माण हुआ।

इस मत की आलोचना--जहाँ तक व्यवसायों को आधार बनाकर जाति-व्यवस्था के निर्माण का सम्बन्ध है, यह प्रश्न उठ खड़ा होता है कि पाश्चात्य देशों में भी तो व्यवसायों को आधार बनाकर 'व्यावसायिक-संघ' (Guilds) बने थे, फिर वहाँ जन्म के आधार पर जाति-व्यवस्था का निर्माण क्यों नहीं हुआ? यह प्रथा सिर्फ़ अपने देश में ही क्यों उत्पन्न हुई?

(ङ) गिलबर्ट का भौगोलिक सिद्धान्त (Gilbert's Geographical theory)--कुछ विद्वानों का कहना है कि जाति-व्यवस्था का आधार भौगोलिक है। उदाहरणार्थ, सरस्वती के किनारे रहने वाले ब्राह्मण सारस्वत कहलाये,

कन्नौज में रहने वाले कन्नौजिये। इस विचार के समर्थकों में श्री गिलबर्ट (Gilbert) का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। इस प्रकरण में डॉ० सत्यकेतु विद्यालंकार का मन्तव्य ध्यान देने योग्य है। ये अपनी पुस्तक 'भारतीय-संस्कृति और उसका इतिहास'—इस ग्रन्थ के २९६ पृ० पर लिखते हैं—"वर्तमान समय की बहुत-सी जातियों की उत्पत्ति प्राचीन गण-राज्यों में ढूंढी जा सकती है। पंजाब के आरट्ट और क्षत्रिय-गण इस समय के अरोड़ा और खत्री जातियों में बदल गये। कौटिलीय अर्थशास्त्र का श्रेणि-गण इस समय के सैनियों के रूप में अब भी जीवित है। बौद्ध-काल के पिप्पलीवन के मोरिय इस समय के मोरई हैं, प्राचीन-काल के रोहितक-गण इस समय के रोहतगी या रस्तोगी, आग्रेय-गण अग्रवाल, काम्बोज-गण कंबोह, कोलियगण कोरी जाति, आर्जुनायन-गण अरायन जाति के रूप में पाये जाते हैं।" ये गण किसी-न-किसी भौगोलिक प्रदेश में शासन करते थे।

इस मत की आलोचना—भौगोलिक सिद्धान्त के विषय में यह आपत्ति की जाती है कि अनेक उप-जातियाँ तो भूगोल की दृष्टि से बनी प्रतीत होती हैं, परन्तु ब्राह्मण आदि जातियों का तो भूगोल से कोई सम्बन्ध नहीं दीखता।

(च) राइस का टोटम का सिद्धान्त (Rice's Totemistic theory)—कुछ विद्वानों का कहना है कि जाति-व्यवस्था का आधार टोटम है। टोटम क्या है? जातियाँ अपने वंश को खोजती-खोजती किसी कल्पित पूर्वज को ढूंढ निकालती हैं। कोई अपना प्रारम्भ सांप से, कोई आम के पेड़ से, कोई इसी तरह के अन्य किसी पूर्वज से बतलाता है। इसी कल्पित-पूर्वज को टोटम कहते हैं।

इस मत की आलोचना—टोटम-सिद्धान्त के विषय में यह आपत्ति है कि जंगली जातियों में तो यह ठीक प्रतीत होता है, किन्हीं-किन्हीं उप-जातियों में भी शायद यह ठीक जँच जाय, परन्तु ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र आदि जिस जाति-व्यवस्था पर हम विवेचन कर रहे हैं, उस पर यह ठीक नहीं बैठता क्योंकि ब्राह्मण, क्षत्रिय आदि का 'टोटम' से कोई सम्बन्ध नहीं।

(छ) हट्टन का बहु-कारणतावाद (Hutton's Multiple theory)—जाति-व्यवस्था के हमने ऊपर जो अनेक कारण लिखे उनमें से कौन-सा एक जाति की व्यवस्था में कारण बना होगा—यह तो नहीं कहा जा सकता। इनमें सब का थोड़ा-थोड़ा हिस्सा जाति-व्यवस्था को उत्पन्न करने में अवश्य रहा होगा—यही कहा जा सकता है। यद्यपि हट्टन का कहना यह है कि आर्यों के भारत में आने से पहले ही यहाँ की सामाजिक-रचना विषमता के आधार पर पहले से ही बनी हुई थी, आर्यों ने सिर्फ़ उस सामाजिक-विषमता पर ब्राह्मण, क्षत्रिय आदि पेशों की पैबन्द चढ़ा दी, फिर भी उसका कहना है कि यहाँ की जाति-व्यवस्था को वर्त्तमान रूप देने में एक नहीं अनेक कारणों ने सहयोग दिया है। किस कारण का कितना हिस्सा जाति-व्यवस्था के उत्पन्न करने में रहा होगा—यह गवेषणा का एक अच्छा विषय है।

जाति-प्रथा की उत्पत्ति में हमारा जो मत है वह हम इस अध्याय के प्रारम्भ में ही दे आये हैं।

६. जाति-व्यवस्था के कार्य
(Functions of Caste System)

जाति-व्यवस्था के कार्य अच्छे भी हो सकते हैं, बुरे भी। इन दोनों का यहाँ संक्षिप्त-सा वर्णन कर देना अप्रासंगिक न होगा। जाति-व्यवस्था के अच्छे कार्यों को हम 'जाति-व्यवस्था के गुण' तथा बुरे कार्यों को 'जाति-व्यवस्था के दोष'—इन शीर्षकों से लिखेंगे।

[जाति-व्यवस्था के गुण]

(क) मानसिक-निश्चिन्तता (Psychological Security)—जाति-व्यवस्था का सबसे बड़ा गुण यह है कि जाति का जो सदस्य होता है उसे अपने भविष्य के कार्य-क्रम की कोई चिन्ता नहीं रहती। जाति की जो परम्पराएँ हैं, उन्हीं को लेकर व्यक्ति जीवन में आगे-आगे कदम रखता जाता है, उसके लिए मानो सारा-का-सारा प्रोग्राम पहले से बना-बनाया है, शादी-ब्याह, खाना-पीना, रहन-सहन, रीति-संस्कार—इन सब के लिए उसे कोई चिन्ता नहीं करनी, यह सारी चिन्ता का भार बिरादरी सदा अपने ऊपर लिये रहती है।

(ख) आर्थिक-निश्चिन्तता (Economic Security)—आज उद्योग-धन्धे की समस्या हर व्यक्ति को परेशान करती है, परन्तु जाति-व्यवस्था में हर व्यक्ति का धन्धा निश्चित है। भंगी के लड़के को भंगी का काम करना है, कहार-बढ़ई-सुनार के लड़के को अपना परम्परागत धन्धा करना है। इसमें जो-कुछ प्राप्त हो गया उसी को वह बहुत मानता है। जाति क्योंकि जन्म से आती है, इसलिए ऊँची जाति में जन्म लिया तो भी सन्तोष, नीची जाति में जन्म लिया तो भी सन्तोष करना होता है, यह सोचकर सन्तोष करना होता है कि पिछले जन्म के कर्मों के कारण नीच जन्म मिला, अब कर्म का फल भोग लेंगे तो अगले जन्म में उच्च वंश में जन्म मिलेगा। जाति-व्यवस्था में हर युवक को धन्धे की तलाश नहीं करनी पड़ती, बाप-दादा का धन्धा उसका धन्धा होता है।

(ग) सामाजिक-सुरक्षा (Social Security)—आज वृद्ध, अपंग, अनाथ, विधवा के लिए सामाजिक-सुरक्षा के भिन्न-भिन्न प्रयत्न हो रहे हैं। वृद्धों के लिए वृद्धालय, अनाथों के लिए अनाथालय, विधवाओं के लिए विधवाश्रम खुल रहे हैं। जाति-व्यवस्था में इस प्रकार के असमर्थ व्यक्तियों का पालन-पोषण जात-बिरादरी करती थी।

(घ) संगठन (Social Unity)—जाति-व्यवस्था में जाति के सदस्यों का आन्तरिक-संगठन बड़ा दृढ़ होता है। जाति के मुखिया लोगों ने जो निश्चय कर दिया वह सबको मान्य होता है। बिरादरी अगर हड़ताल का निश्चय कर दे, तो किसी की मजाल नहीं जो हड़ताल के विरुद्ध चूँ भी कर सके। आजकल की मजदूरों की हड़तालों और बिरादरी की हड़ताल में यह भेद है कि मजदूरों

में दो पार्टियाँ बन सकती हैं, परन्तु बिरादरी की हड़ताल में दो पार्टियाँ नहीं बनतीं। बिरादरी की बात जो नहीं मानता उसे बहिष्कृत कर दिया जाता है, उसका हुक्का-पानी बन्द कर दिया जाता है, उससे रोटी-बेटी का व्यवहार तोड़ दिया जाता है। इस दृष्टि से जाति का संगठन एक जबर्दस्त संगठन है। राजनैतिक दल जात-बिरादरी के आधार पर वोट मांगते हैं, और भारत जैसे देश में जहाँ जात-बिरादरी का भूत हर-एक पर सवार है, जाति के आधार पर वोट ज्यादा लिये और दिये जा सकते हैं।

(ङ) भिन्न समुदायों को एकता में बांधना (Unity in diversity)—भारतीयों की जाति-व्यवस्था में एक खास बात यह है कि यह जातियों के भिन्न-भिन्न समूह होते हुए भी उन्हें एक सूत्र में बांध देती है। उदाहरणार्थ, बाहर से आये हुए शक, हूण आदि और अपने देश के अन्दर के जो लोग भी हैं—इन सब को हिन्दुओं की जाति-व्यवस्था में इस तरह पिरो दिया गया है कि वे सब अलग-अलग होते हुए भी हिन्दू-धर्म का अंग माने गये हैं। हिन्दुओं की जाति-व्यवस्था में हर-एक को स्थान है। हिन्दू हर-एक के साथ रोटी-बेटी का व्यवहार तो नहीं कर सकता, परन्तु अपनी जाति-व्यवस्था में हर-एक को स्थान अवश्य दे सकता है। अगर ईसाई हिन्दू होना चाहता है तो हिन्दू रोटी-बेटी का व्यवहार तो उसके साथ नहीं करेगा, परन्तु उसे 'ईसाई-हिन्दू' की जात अवश्य दे देगा। इस प्रकार जो ईसाई-हिन्दू बनेंगे, वे आपस में रोटी-बेटी का व्यवहार कर सकेंगे, दूसरों के साथ नहीं। इस तरह की है यह जाति-व्यवस्था।

[जाति-व्यवस्था के दोष]

(क) अराष्ट्रीयता (Anti-nationalism)—जाति-व्यवस्था में जहाँ यह गुण है कि यह छोटे-छोटे समूहों में एकता उत्पन्न करती है, वहाँ इसमें यह दोष है कि यह बड़े समूह का निर्माण नहीं होने देती, खासकर एक राष्ट्रीय-भावना के उत्पन्न होने में बाधक बन जाती है। जहाँ राष्ट्रीयता की भावना की बात हुई, वहाँ छोटे-छोटे समूह अपने-अपने स्वार्थों के कारण इस प्रकार लड़ने-झगड़ने लगते हैं कि बड़ी बात हो ही नहीं पाती। बनिये बनियों के दृष्टिकोण से, खत्री खत्रियों के दृष्टिकोण से जब बात करेंगे, तब राष्ट्रीयता के दृष्टिकोण की बात कहाँ हो सकती है?

(ख) शोषण (Exploitation)—जाति-व्यवस्था में ऊँच-नीच का भाव सदा बना रहता है। यह ऊँच-नीच का भाव कर्म पर आश्रित न होकर जन्म पर आश्रित होता है। इसका मतलब यह हुआ कि जाति-व्यवस्था में कुछ व्यक्ति सदा जन्म के कारण ऊँचे और कुछ जन्म ही के कारण सदा नीचे माने जाते हैं। परिणामस्वरूप उच्च-कुल के लोग सदा नीचे कहे जाने वाले वर्ग का शोषण करते रहते हैं। अछूतपन की बीमारी इसी जाति-व्यवस्था की उपज है। हिन्दू-समाज की जाति-व्यवस्था के कारण अछूत कहे जाने वाले वर्ग का सदा शोषण हुआ है। जाति-व्यवस्था के इन अत्याचारों का परिणाम है कि अनेक तथाकथित निम्न-जाति के लोग ईसाई तथा मुसलमान बन गये।

(ग) अप्रगतिशीलता (Static society)—जाति-व्यवस्था पर आश्रित समाज प्रगतिशील नहीं रहता। सब-कुछ पहले से निश्चित है। रीति-रिवाज क्या होंगे, रहन-सहन कैसा होगा, आर्थिक-दृष्टि से व्यक्ति किस प्रकार का उद्योग-धन्धा करेगा, कहाँ शादी-ब्याह करेगा, क्या करेगा, क्या नहीं करेगा—सब-कुछ जब व्यक्ति के लिए पहले से निश्चित है, तब वह अपने दिमाग़ को किसी बात के लिए तकलीफ़ क्यों देगा ? ऐसे समाज में व्यक्ति में क्रियाशीलता नहीं रहती, प्रगतिशीलता नहीं रहती, वह अपने उद्योग से आगे नहीं बढ़ सकता।

(घ) अप्रजातान्त्रिक (Anti-democratic)—१५ अगस्त १९४७ को भारत स्वतन्त्र हुआ। उससे पहले अंग्रेज़ों के काल में तो प्रजातन्त्र का कुछ काम ही नहीं था, उसके बाद इस दिशा में कदम उठाया गया। इस बीच जो संविधान बना, वह २६ जनवरी १९५० को सम्पूर्ण भारत पर लागू हुआ। इस संविधान की कुछ विशेषताएँ थीं जिनमें से जिस विषय पर हम विचार कर रहे हैं उससे सम्बन्ध रखने वाली विशेषताएँ हैं—'आधारभूत-अधिकार' (Fundamental Rights)।

आधारभूत-अधिकार' का मतलब है—कानून की दृष्टि से व्यक्ति व्यक्ति में कोई भेद नहीं होगा, कोई बड़ा नहीं, कोई छोटा नहीं, धर्म, वंश, जाति, लिंग के कारण मनुष्य-मनुष्य में भेद नहीं माना जायगा, सब बराबर होंगे, हर किसी को वोट का अधिकार होगा। यह अधिकार ऐसा है जिससे जाति-व्यवस्था की जड़ में कुठाराघात होता है। जाति-व्यवस्था और प्रजातन्त्र के सिद्धान्त पर माने गये 'आधारभूत-अधिकार'—दोनों एक-दूसरे से विरोधी चीजें हैं। अगर आधारभूत-अधिकारों के अनुसार भारत के हर व्यक्ति को, चाहे वह ब्राह्मण हो, चाहे चमार हो, एक-सा माना जाय, तो जाति-व्यवस्था खत्म हो जाती है; अगर जाति-व्यवस्था के अनुसार मनुष्य-मनुष्य में जन्म के कारण भेद माना जाय, तो 'आधार-भूत-अधिकार' खत्म हो जाते हैं। इन दोनों का मेल नहीं बैठता। वर्त्तमान-युग में क्योंकि प्रजातन्त्र का ही बोलबाला होगा इसलिए धीरे-धीरे जाति-व्यवस्था समाप्त हो जायगी—इसमें कोई सन्देह नहीं। इसमें भी सन्देह नहीं कि जैसी हालत अभी तक है उसमें चुनावों के समय लोग प्रजातान्त्रिक सिद्धान्तों को दृष्टि में रखकर वोट नहीं देते, अपनी जात-बिरादरी को सामने रखकर वोट देते हैं। भारत में असली प्रजातन्त्र तभी चलेगा जब जात-बिरादरी के संकुचित हित को भुलाकर लोग देश-हित की विशाल दृष्टि से सोचने लगेंगे।

७. जाति-प्रथा को स्थिर रखने वाले तत्त्व

यद्यपि वर्त्तमान-युग की परिवर्तित परिस्थितियों में जाति-प्रथा के विरोधी तत्त्व बढ़ रहे हैं, तो भी कई तत्त्व ऐसे हैं जिनसे यह प्रथा अब तक स्थिर बनी हुई है। वे तत्त्व निम्न हैं :—

(क) विभिन्न प्रजातीय-तत्त्वों की विद्यमानता—अपने देश में भिन्न-भिन्न नस्लों के तत्त्व पाये जाते हैं। कोई काला है, कोई गोरा; किसी की नाक लम्बी है,

किसी की चपटी; किसी के होंठ मोटे हैं, किसी के मोटे नहीं हैं। ये सब लोग अपने को भिन्न-भिन्न नस्लों का समझते हैं और अपनी नस्ल को शुद्ध रखने के लिए दूसरों से अपने को भिन्न बनाये रखने का भी प्रयत्न करते हैं। अपने को शुद्ध बनाये रखने के लिए ही मध्य-युग में हिन्दुओं ने मुसलमानों को म्लेच्छ कह कर उनके साथ सामाजिक-सम्पर्क बनाना अनुचित समझा। इससे हिन्दुओं की अपनी पृथक्ता भी बनी रही। इस दृष्टि से भारत में विभिन्न प्रजातीय-तत्त्वों का पाया जाना जाति-प्रथा को स्थिर रखने में सहायक रहा है।

(ख) स्थिर-समाज—जब समाज उन्नतिशील नहीं रहता, नये विचारों और नई गतियों को अपने में नहीं पचाता तब वह स्थिर हो जाता है, गतिशील नहीं रहता। ऐसी अवस्था में पुरानी रूढ़ियों तथा परम्पराओं का वह दास हो जाता है। भारत में चिर-काल से यह अवस्था रही है। सदियों तक हमारा समाज स्थिर रहा है, इसमें नए विचार और नई गति-विधि नहीं आ सकी। जो समाज इस प्रकार स्थिर हो जाता है, उसमें जातिवाद घर कर लेता है, इसलिए घर कर लेता है क्योंकि जातिवाद ही तो परम्परा से चला आ रहा होता है। हिन्दू-जाति में जाति-प्रथा इसलिए भी घर किये हुए है क्योंकि यह समाज स्थिर-समाज है, गतिशील-समाज नहीं है।

(ग) ग्रामीण तथा कृषि-प्रधान सामाजिक-ढाँचा—जिस देश का ढाँचा ग्रामीण हो, कृषि-प्रधान हो, वहाँ प्रत्येक व्यक्ति की 'स्थिति' (Status) तथा 'कार्य' (Role) निश्चित हो जाते हैं। जिस देश में उद्योग चल रहे हों उसमें 'स्थिति' तथा 'कार्य' निश्चित नहीं होते। कोई व्यक्ति आज एक उद्योग में लगा है, कल दूसरे उद्योग में लग सकता है। 'स्थिति' तथा 'कार्य' का निश्चित हो जाना और उसमें परिवर्तन न हो सकना ही तो 'जाति-प्रथा' कहलाती है। जाति-प्रथा में व्यक्ति को जो 'स्थिति' मिल गई है वह बदलती नहीं, तभी इसे 'आवृत-व्यवस्था' (Closed social system) कहा जाता है। भारत की ग्रामीण तथा कृषि-प्रधान व्यवस्था होने के कारण भी यहाँ जाति-प्रथा स्थिर बनी हुई है। इसके अतिरिक्त जाति-प्रथा के स्थिर रहने का दूसरा कारण यह है कि देश छोटे-छोटे गाँवों में बँटा हुआ है। गाँव इतने छोटे होते हैं कि हर-कोई एक-दूसरे को जानता है। जो जाति के नियमों को तोड़ता है, उसका एकदम आसानी से बहिष्कार कर दिया जाता है, उसका हुक्का-पानी बन्द कर दिया जाता है। यही कारण है कि जाति-प्रथा के गढ़ गाँव हैं, शहर नहीं। शहरों में चले जाने से मनुष्य एक ऐसे क्षेत्र में चला जाता है जहाँ उसे कोई जानता नहीं, और इसलिए वह जाति के बन्धनों से स्वतंत्र हो जाता है। इसी लिए शहरों में जाति-प्रथा का बन्धन नहीं दिखाई देता।

(घ) भौगोलिक-पृथक्ता—भौगोलिक दृष्टि से दूसरे देशों से जुदा होने के कारण भी पुरानी रूढ़ियाँ और प्रथाएँ समाज पर हावी रहती हैं। भारत सदियों से दूसरे देशों से कटा रहा और इस बीच जाति-वाद का ज़ोर बढ़ता गया। जबसे

अपना देश दूसरे देशों तथा दूसरी जातियों के सम्पर्क में आने लगा है तब से जाति-वाद का ज़ोर भी घटने लगा है।

(ङ) अज्ञानता तथा धर्म का प्रभाव--जाति-प्रथा को धर्म का अंग माना जाता रहा है। लोग समझते रहे हैं कि जाति-प्रथा के नियमों का पालन न करना पाप है। जहाँ-जहाँ यह अज्ञान दूर हो गया है वहाँ-वहाँ जाति-प्रथा का उतना ज़ोर नहीं रहा।

(च) कोई जाति को नहीं तोड़ता इसलिये भी जाति-प्रथा बनी हुई है--जाति-प्रथा के बने रहने का सब से बड़ा कारण यह है कि जो तोड़ने के लिए तैयार हैं, वे भी जब देखते हैं कि दूसरे नहीं तोड़ रहे तब वे भी न तोड़ने के लिए विवश हो जाते हैं। यह बात दो तरह से जाति-प्रथा को स्थिर रखने में सहायक हो रही है। पहले तो यह कि देखादेखी, दूसरों के अनुकरण के कारण लोग इस परम्परा के अंधे अनुयायी बने हुए हैं, दूसरे यह कि अगर कोई ब्राह्मण या क्षत्रिय या अन्य किसी जाति का व्यक्ति अपने से भिन्न जाति में विवाह करने के लिए तैयार हो भी जाता है, तब उसे ऐसे व्यक्ति ही नहीं दिखाई देते जो अपने से भिन्न जाति में लड़की या लड़का देने के लिए तैयार हों। परिणाम यह होता है कि वह तो भिन्न जाति में विवाह करने के लिए उद्यत होता है परन्तु दूसरे क्योंकि अपनी जाति में ही वर या कन्या की तलाश कर रहे होते हैं इसलिए विवश होकर उसे भी अपनी जाति का ही मुँह देखना पड़ता है। उदाहरणार्थ, अगर कोई ब्राह्मण अपने लड़के के लिए क्षत्रिय या वैश्य कन्या चाहे, और यह हर क्षत्रिय तथा वैश्य को क्षत्रियों तथा वैश्यों में ही वर ढूँढता पाये, तब उसके सामने इसके सिवाय क्या चारा रह जाता है कि घूम-फिर कर फिर अपनी जाति की कन्या को ही ढूँढे। जाति-प्रथा को तोड़ने की इच्छा रखते हुए भी इसे तोड़ न सकने तथा इसके स्थिर बने रहने में यह सब से बड़ा तत्त्व है।

८. जाति-प्रथा ने हिन्दू-समाज की रक्षा की है

आज जाति-प्रथा हिन्दू-समाज के विकास में अभिशाप बनी हुई है। मनुष्य और मनुष्य में भेद का यह कारण है। परन्तु कोई समय था जब इसी प्रथा के कारण हिन्दू-समाज का विकास और इसकी रक्षा हुई। किस प्रकार जाति-प्रथा ने हिन्दू-समाज की रक्षा की यह निम्न बातों से स्पष्ट हो जायगा :

(क) विभिन्न जातियों को एक सूत्र में बाँधना---भारत में विभिन्न जातियाँ थीं---यह हम दर्शा आये हैं। भिन्न-भिन्न जातियों का आपस में संघर्ष उठ खड़ा होना स्वाभाविक है। इन विभिन्न जातियों के अपने-अपने स्वार्थ थे, उन स्वार्थों के लिए वे एक-दूसरे के साथ लड़ सकते थे। जाति-प्रथा का विशुद्ध रूप वर्ण-व्यवस्था थी---यह हम दर्शा आये हैं। भारत के समाजशास्त्रियों ने वर्ण-व्यवस्था द्वारा इन सब भिन्न-भिन्न जातियों को एक ऐसे सूत्र में बाँध दिया जिसके द्वारा वे परस्पर संघर्ष करने के स्थान में परस्पर सहयोग का जीवन बिताने लगे। श्रीयुत् जोड ने जाति-प्रथा के महत्त्व पर लिखते हुए लिखा है कि यह प्रथा इस देश के भिन्न-

भिन्न रीति-रिवाजों, भिन्न-भिन्न धार्मिक-विश्वासों और परम्पराओं के लोगों को एक-सूत्र में बाँधने का एक सफल प्रयास था। हट्टन ने इस व्यवस्था की प्रशंसा करते हुए लिखा है कि इस व्यवस्था में ऊँचे-से-ऊँचे और नीचे-से-नीचे काम करने वालों को समाज में अपनी-अपनी स्थिति दे दी गई थी और प्रत्येक व्यक्ति को अपनी स्थिति से असन्तोष न होकर सन्तोष था, इसलिए सन्तोष था कि प्रत्येक व्यक्ति यह समझता था कि समाज में उसकी जो स्थिति है वह उसके पूर्व-जन्मों के कारण है, वह उसे बदल नहीं सकता, इसलिए उसे सन्तोषपूर्वक अपना काम करते रहना चाहिए।

(ख) मध्य-काल में मुसलमानों से हिन्दू-धर्म की रक्षा—इस्लाम के विषय में कहा जाता है कि यह जहाँ गया वहाँ आंधी की तरह गया और अपने सामने इसने किसी धर्म को टिकने नहीं दिया। यही कारण है कि युरोप तथा एशिया दोनों जगह इस धर्म ने अपनी जड़ें जमाईं। अन्य देशों में इसके सम्मुख कोई धर्म नहीं टिका, खास कर इसकी तलवार के सामने सब ने सिर झुका दिया, परन्तु भारत में हिन्दू-धर्म ने इसके सम्मुख अपने को अडिग बनाये रखा। इस्लाम जैसे धर्म का मुकाबिला करना हिन्दू-धर्म की जाति-प्रथा का ही काम था। जाति-प्रथा के अनुसार हिन्दू इस देश को विजित करने वाले मुसलमानों को म्लेच्छ कहते रहे और उनके सम्पर्क से अपने को बचाते रहे। मुसलमानों के बाद अंग्रेजों के साथ भी हिन्दुओं का यही रवैय्या रहा। इस दृष्टि से अनेक लेखकों ने जाति-प्रथा की प्रशंसा की है।

(ग) जाति-प्रथा द्वारा विदेशियों को हिन्दू-संगठन में पचा लिया गया—जाति-प्रथा में जहाँ एक-दूसरे से पृथक्ता की भावना है वहाँ हिन्दुओं ने विदेशी जातियों को इस प्रथा द्वारा अपने में पचा भी लिया है। इस देश में अनेक विदेशियों के आक्रमण हुए। उन्होंने यहाँ आकर विवाह-शादी की, उनकी सन्तान हुई। उन सन्तानों को जाति-प्रथा में कोई-न-कोई जाति-उपजाति देकर जाति की शृंखला में स्थान दे दिया गया। शक, हूण, मंगोल आदि अपनी जाति-प्रथा में कहीं-न-कहीं खप गये और उन्हीं के रक्त-सम्मिश्रण से भारत की अनेक जातियों तथा उप-जातियों का निर्माण हुआ।

(घ) व्यवसायों में स्थिरता—जाति-प्रथा में प्रत्येक व्यक्ति का व्यवसाय निश्चित होता है। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र आदि व्यवसायों के नाम ही तो थे। जो पढ़ाता-लिखाता था वह ब्राह्मण था, जो सेना में भर्ती होकर देश की रक्षा करता था वह क्षत्रिय था, जो वणिज-व्यापार से धन कमाता था वह वैश्य था। वैश्यों में भी धन कमाने के अपने-अपने व्यवसाय थे। कारीगरों में कोई लोहार, कोई बढ़ई था, इनकी जातियाँ भी जन्म के आधार पर निश्चित थीं। व्यवसाय के विषय में यह कहा जा सकता है कि पिता का व्यवसाय अगर पुत्र करेगा तो वह दूसरे की अपेक्षा अधिक कुशल होगा क्योंकि उसे जन्म से ही उस व्यवसाय की शिक्षा-दीक्षा मिलेगी। इसके अतिरिक्त जब किसी को जन्म से ही कोई व्यवसाय

मिल जायगा, तो उसके बेकार होने की सम्भावना भी नहीं रहेगी। इस दृष्टि से जाति-प्रथा जहाँ समाज से बेकारी को दूर करती है वहाँ इसने हिन्दू-समाज में व्यवसायों को स्थिर किया और उन व्यवसायों में कुशलता लाने में सहायता दी और इस प्रकार हिन्दू-समाज की रक्षा की।

९. जाति-प्रणाली तथा भारतीय मुसलमान

(क) मुसलमानों में विवाह-संबंध में ऊँच-नीच का भेद---इस्लाम में विश्व-बन्धुत्व का सिद्धान्त आधारभत माना जाता है। हजरत मुहम्मद के अनुसार इन्सान और इन्सान में भेद करना अनुचित है। सब मनुष्य एक-समान हैं, उनमें ऊँच-नीच का भेद नहीं है। यह विचार जाति-व्यवस्था के विचार से उल्टा है। जाति-व्यवस्था में तो जन्म से ही कोई ब्राह्मण, कोई क्षत्रिय, कोई वैश्य और कोई शूद्र है।

जाति-व्यवस्था के इस रूप से तो इस्लाम अछूता है, परन्तु असल में देखा जाय, तो जाति-व्यवस्था का आधारभूत-तत्त्व ब्राह्मण-क्षत्रिय-वैश्य-शूद्र न होकर मनुष्य का मनुष्य से भेद है। जहाँ मनुष्य का मनुष्य से सामाजिक-दृष्टि से भेद पाया जाता है, वहाँ जाति-व्यवस्था को किसी-न-किसी रूप में माना जाता है। जो लोग मनुष्य का मनुष्य से भेद करते हैं, वे एक-दूसरे को छूने से परहेज करते हैं, एक दूसरे के साथ उठने-बैठने से, खाने-पीने से, एक-दूसरे को विवाह में अपनी कन्या देने से परहेज करते हैं। इन दृष्टियों से देखा जाय, तो यद्यपि मुसलमानों में हिन्दुओं की तरह उतनी कट्टरता नहीं है, तो भी अन्तर्विवाह के क्षेत्र में उनमें भी ऊँच-नीच का भेद विद्यमान है। उदाहरणार्थ, श्री रामधारी सिंह 'दिनकर' ने अपने 'संस्कृति के चार अध्याय'-नामक ग्रन्थ में 'मुस्लिम-काल में सामाजिक-संस्कृति का स्वरूप'--इस अध्याय में लिखा है, "हिन्दुओं की जाति-प्रथा ने भी मुस्लिम-समाज को प्रभावित किया और मुसलमान भी शरीफ़ और रज़ील जातों का भेद करने लगे एवं जुलाहों और धुनियों के साथ शरीफ़ जात वालों को खाने-पीने में आपत्ति होने लगी।"......"हिन्दुओं की देखा-देखी, मुसलमानों में भी ऊँच-नीच का भेद चलने लगा एवं यह प्रथा प्रचलित हो गई कि सय्यद शेख की बेटी ले सकता है, किन्तु शेख सय्यद की बेटी से ब्याह नहीं कर सकता।"

(ख) मुसलमानों में ऊँच-नीच के सामाजिक-भेद का कारण--- यद्यपि इस्लाम में मनुष्य-मनुष्य के ऊँच-नीच के भेद को स्वीकार नहीं किया गया, तथापि इस्लाम में यह भेद किसी-न-किसी रूप में पाया जाता है। इसका कारण क्या है? इसका कारण यह है कि इस्लाम जब अन्य देशों में आक्रान्ता बनकर पहुँचा, तब वहाँ जाकर यद्यपि इसने दूसरे देश वालों को इस्लाम-धर्म में दीक्षित कर लिया, तो भी विजेता और विजित की भावना हर जगह बनी रही। जो लोग मुहम्मद साहब के रक्त के थे, या उनके सम्बन्धी थे, या उनके समय के साथी थे, वे तथा उनके वंशज सदा अपने को दूसरों से बड़ा समझते रहे और इस बड़प्पन के कारण ही वे अपनों तथा दूसरों में भेद करते रहे। जो विजित थे, उन्होंने यद्यपि इस्लाम स्वीकार

कर लिया, तो भी अपनी स्वतन्त्र-सत्ता बनाए रखने के लिए वे भी अपनों में ही ब्याह-शादी करते रहे, इसलिए एक तरह की जात-पाँत इन लोगों में बनी रही। जब इस्लाम भारत में आया, तब तो इस्लाम का जात-पाँत से प्रभावित होना और भी आसान हो गया। यहाँ तो जाति-व्यवस्था थी ही। इसका प्रभाव यह हुआ कि मुस्लिम आक्रान्ताओं में भी एक तरह से तीन सामाजिक श्रेणियाँ बन गईं। इतिहासकार अन्सारी के कथनानुसार भारत में मुसलमानों में जो सामाजिक भेद-भाव उत्पन्न हो गया उसे तीन भागों में विभक्त किया जा सकता है। वे भाग क्या हैं?

(ग) भारत में मुसलमानों में ऊँच-नीच के तीन भेद—अन्सारी के कथनानुसार भारत में मुसलमानों के तीन वर्ग बन गए। एक वर्ग तो वह है जो उच्च जाति के मुसलमानों का है, ये मुसलमान अपने को विजेता मुसलमानों का वंशधर बतलाते हैं, अरब या ईरान से आया हुआ बतलाते हैं, अपना किसी-न-किसी प्रकार का सम्बन्ध हजरत मुहम्मद से जोड़ते हैं। इन्हें 'अशरफ़' कहा जाता है, 'अशरफ़'—अर्थात् 'शरीफ़'—जिनका जिक्र हम ऊपर कर आए हैं। इन 'शरीफ़' मुसलमानों के बाद सामाजिक स्थिति में दूसरे दर्जे पर वे मुसलमान आते हैं जो उच्च जाति के हिन्दू थे, परन्तु मुसलमान हो गये। इनको क्योंकि 'शरीफ़'-दर्जे के मुसलमान अपने में शामिल नहीं करते इसलिए इनका दर्जा दूसरा है। तीसरे दर्जे में हिन्दुओं की वे छोटी-मोटी जातियाँ आ जाती हैं जो उच्च-दर्जे के हिन्दू नहीं थे, नीचे दर्जे के थे, और मुसलमान हो गये।

उक्त विवेचन से स्पष्ट है कि यद्यपि मुसलमानों में हिन्दुओं की छूत-छात नहीं है, खाने-पीने और हुक्के का परहेज भी नहीं है, इस दृष्टि से हिन्दुओं की-सी जाति-प्रणाली भी नहीं है, तथापि उनमें वंशगत ऊँच-नीच का भेद मौजूद है, ब्याह-शादी में भी जन्मगत भेद को ध्यान में रखा जाता है—इसलिए इन अंशों में उनमें भी जाति-प्रणाली के ये दो आधारभूत तत्त्व—जन्मगत-भेद तथा सामाजिक-स्थिति पर आश्रित ब्याह-शादी का भाव—मौजूद है।

१०. जातिवाद
(Casteism)

हमने अभी कहा कि मुसलमानों में यद्यपि हिन्दुओं की तरह की जाति-प्रणाली नहीं है, तो भी उनमें जाति-प्रणाली के कई तत्त्व मौजूद हैं, उनमें ऊँच-नीच की भावना मौजूद है। इस भावना को जाति-प्रणाली तो नहीं कहा जा सकता, परन्तु जातिवाद कहा जा सकता है। तो फिर जातिवाद क्या है?

(क) जातिवाद की परिभाषा—जातिवाद किसी एक जाति या मानव-समूह के सदस्यों की उस भावना को कहते हैं जो अपने देश या अपने सम्पूर्ण समाज का हित सामने नहीं रखती, अपितु अपनी जाति या अपने से सम्बन्धित छोटे समूह के सदस्यों के हित को सामने रखती है। यह जरूरी नहीं कि यह भावना हिन्दुओं की-सी जाति-प्रणाली का ही रूप धारण करे। जहाँ-जहाँ देश भर के या अपने

सम्पूर्ण समाज के हित को सामने रखने के स्थान में अपनी जाति, अपनी बिरादरी, अपने धर्म या अपने छोटे-से समाज का हित सामने रखकर व्यवस्था बनेगी, वहाँ जातिवाद कहा जा सकेगा। इस जातिवाद का परिणाम यह होता है कि लोग अपनी-अपनी जाति को दृढ़ बनाने का प्रयत्न करते हैं, उसके सदस्यों का आपस में सम्पर्क होता है, जाति के सदस्य आपस में ही शादी-ब्याह करते हैं, अपने दायरे से बाहर नहीं जाना चाहते।

(ख) जातिवाद के कारण—मनुष्य इकला भी नहीं रह सकता, सारे संसार का होकर भी नहीं रह सकता। इकले रहने से उसके कारोबार नहीं चल सकते, और सारे संसार का बनकर समुद्र में पानी की बूंद की तरह वह अपने को खो देता है। इसलिए अपने कारोबार चलाने के लिए, अपना परिवार बनाये रखने के लिए, शादी-ब्याह का चक्र चलाये रखने के लिए, अपने नजदीकी सहायकों का दायरा खड़ा करने के लिए वह एक समूह को अपना लेता है, इसी में अपने व्यवहार चलाता है, यही उसका जाति का दायरा कहलाता है। इस प्रकार के दायरे आजकल की परिस्थितियों में बन भी रहे हैं, टूट भी रहे हैं। क्यों बन रहे हैं और क्यों टूट रहे हैं इसके भी कारण हैं। वे कारण क्या हैं?

(i) उद्योगीकरण तथा नगरीकरण—पहले कभी लोग अपनी जात का ही पेशा करते थे, परन्तु आज उद्योग बढ़ रहे हैं, नगरों का विकास हो रहा है, सब लोग गाँव से नगर की ओर जाना चाहते हैं। गाँव में वे अपने सीमित-क्षेत्र में थे, हर समय जात-बिरादरी का भूत सवार रहता था; जब वे शहर में जाते हैं तब उनका जात-बिरादरी से सम्बन्ध टूट जाता है, नये-नये लोगों के बीच मनुष्य जा पड़ता है। परन्तु जातिवाद की जो भावना नगर में जाकर टूट गई थी, वह वहाँ की परिस्थितियों से फिर जाग भी जाती है। इतने बड़े नगर में मनुष्य अपने को इकला-सा अनुभव करने लगता है, कोई मुसीबत में साथ देने वाला नहीं दीखता। ऐसी हालत में फिर वह अपनी जाति वालों की तलाश करता है, अपने गाँव वाले, अपनी जात-बिरादरी वाले, ऐसे लोग जो जरूरत के वक्त उसका साथ दें। यही कारण है कि बड़े-बड़े शहरों में जातीय-संगठन बनते दिखाई देते हैं—गौड़ ब्राह्मण सभा, सारस्वत महामण्डल, अग्रवाल सभा इत्यादि। उद्योगीकरण तथा नगरीकरण से लोग नगरों में जाते हैं और वहाँ नगरों की परिस्थितियाँ जातिवाद को तोड़ने तथा बढ़ावा देने—दोनों में हाथ बँटा रही हैं।

(ii) आजीविका की समस्या—आजीविका की समस्या को हल करने के लिए भी जातिवाद का सहारा लिया जाता है। पहले कभी जातियाँ आजीविका का प्रश्न भी हल करती थीं। प्रत्येक जाति का एक पेशा होता था, उस जाति में जो पैदा हुआ उसको पेशा ढूंढने की जरूरत नहीं थी, उसकी जाति का पेशा उसका पेशा था। ब्राह्मण के लड़के को पधियाई ही करनी है, और कुछ नहीं, क्षत्रिय के लड़के को फ़ौज में भर्ती होना है, बनिये के लड़के को दुकानदारी करनी है। आज की कश्मकश के युग में यह अवस्था नहीं रही। ब्राह्मण का लड़का

पधियाई से सन्तुष्ट नहीं, वह सरकारी नौकरी करना चाहता है। यही हाल और जातियों का है। इस युग में जाति का पेशे के साथ अब तक जो सम्बन्ध चला आ रहा था वह टूट गया है, परन्तु जहां वह सम्बन्ध टूटा है वहां फिर से वह सम्बन्ध बनता भी जा रहा है। वह कैसे ? वह इस प्रकार कि जब कोई ब्राह्मण या किसी जाति या धर्म का कोई व्यक्ति उच्च पद पा लेता है तब वह अपनी जाति के लोगों का स्तर ऊँचा करने के लिए उन्हें सहारा देने लगता है। अगर कोई दलित-वर्ग का व्यक्ति मिनिस्टर बन गया, तो वह अपनी जात-बिरादरी वालों की जितनी सहायता कर सकता है, करता है, जहां तक उसका बस चलता है अपनी जात वालों को नौकरियां देता है। कायस्थ कायस्थों को ढूंढते हैं, काश्मीरी काश्मीरियों को, भिन्न-भिन्न जात वाले अपनी जात वालों को। नौकरियां ढूंढने वाले भी इस बात का पता लगाते रहते हैं कि उनकी जात का कौन बड़ा अफ़सर कहां लगा है। इन सब लोगों का ऐसा करना स्वाभाविक भी है। जब तक वे अपनी सारी जाति का आजीविका का आर्थिक-स्तर ऊँचा नहीं कर लेते तब तक अपने लड़के-लड़कियों के शादी-ब्याह की समस्या उनके सामने बनी रहती है। इस सब से भी जातिवाद को पनपने का अवसर मिलता है।

(ग) जातिवाद के परिणाम—उक्त कारणों से जातिवाद बढ़ रहा है—हिन्दुओं में, मुसलमानों में, सिक्खों, ईसाइयों, पारसियों—सभी में बढ़ रहा है। हमें यह देखना है कि जातिवाद के इस प्रकार बढ़ने के क्या परिणाम हैं ?

(i) जातिवाद राष्ट्रीयता तथा लोकतन्त्र-भावना के विपरीत है—जातिवाद का यह परिणाम है कि हम प्रत्येक क्षेत्र में अपनी जाति की बात ले बैठते हैं। स्कूलों-कालेजों में प्रबन्धक लोग अपनी जाति के लोगों को भरने लगते हैं। नगरपालिका, विधान-सभा आदि के चुनावों में अपनी जाति के लोगों को मतदान देने लगते हैं। राष्ट्रीयता तथा लोकतन्त्र की भावना यह नहीं है। राष्ट्रीयता तथा लोकतन्त्र में व्यक्ति सारे देश का है, एक समूह का, एक जाति का नहीं। अगर मान लिया जाय कि अपनी जाति के वे लोग जिन्हें हम नौकरी में भरते हैं, या जिन्हें हम वोट देते हैं, सब-के-सब योग्य ही हैं, तब भी इसका यह परिणाम तो होता ही है कि इससे एक क्षुद्र भावना को हम बढ़ावा देते हैं, राष्ट्रीयता तथा लोकतन्त्र की महान् भावना को नष्ट करते हैं।

(ii) जातिवाद से अयोग्य व्यक्तियों के हाथ में सत्ता आती है—यह समझना कि हमारी जाति के सब लोग योग्य ही होंगे, ग़लत धारणा है। योग्यता का पट्टा किसी एक जाति का नहीं। योग्य व्यक्ति सब जातियों, सब समूहों में पाये जाते हैं। जातिवाद का भयंकर दुष्परिणाम यह होता है कि सब जगह अयोग्य व्यक्ति भर जाते हैं और कोई काम ठीक-से नहीं हो पाता। आज अपने देश में सब जगह कार्य की शिथिलता का मुख्य कारण यही है कि जातिवाद के शिकार होकर हमने सब जगह अपने भाई-भतीजे भर दिये हैं।

(घ) जातिवाद को दूर करने के साधन—जैसा हमने पहले कहा, 'जातिवाद' हिन्दुओं की ही बीमारी नहीं, सब जगह भिन्न-भिन्न रूपों में पाया जाता है। इसे किस प्रकार समाप्त किया जाय—यह समाज-सुधारकों के सम्मुख सबसे बड़ी समस्या है। 'जातिवाद' से देश को बहुत हानि होती ह इसलिए यह विचार करना आवश्यक है कि यह कैसे समाप्त हो?

(i) जातिवाद को समाप्त करने के लिये जाति-व्यवस्था को समाप्त किया जाय—समाज-सुधारकों में एक प्रबल-पक्ष यह है कि जब तक हर-एक अपने को ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र—इस रूप में मानता है, तब तक हिन्दुओं का जातिवाद समाप्त नहीं हो सकता। इसी दृष्टि से कई लोग अपने को किसी जाति के नाम से न कहकर 'आर्य'—यह लिखते हैं। परन्तु कठिनाई यह है कि जाति-व्यवस्था हिन्दुओं में इतना घर कर चुकी है कि लेखों-व्याख्यानों से यह निकल नहीं सकती। इसके अतिरिक्त जाति-व्यवस्था को खत्म कर देने से जातिवाद समाप्त हो जायगा—यह विवादास्पद बात है। जाति-व्यवस्था तो जातिवाद का ही परिणाम है। हमें जातिवाद की भावना समाप्त करनी होगी, तब जाति-व्यवस्था अपने-आप समाप्त हो जायगी, अगर नहीं भी होगी तब भी जाति-व्यवस्था से जातिवाद के कुपरिणाम नहीं उत्पन्न होंगे।

(ii) कानून द्वारा जातिवाद को समाप्त किया जाय—दूसरा पक्ष यह है कि अगर जातिवाद लेखों-व्याख्यानों-प्रचार से नहीं समाप्त होता, तो इसे कानून बनाकर समाप्त कर दिया जाय। इसी दृष्टि से भारत के संविधान के अनुच्छेद १५ विभाग २ के अनुसार सभी जातियों को बिना किसी भेद-भाव के सार्वजनिक स्थानों के इस्तेमाल की आज्ञा दी गई है, और १६ अनुच्छेद के अनुसार सरकारी नौकरियों के लिए सबको बिना जाति तथा धर्म के भेद के समान अधिकार दिये गये हैं। इसमें सन्देह नहीं कि इस प्रकार के कानूनों से जातिवाद के उन्मूलन में पर्याप्त सहायता मिलेगी तथा मिल रही है।

(iii) अन्तर्जातीय विवाहों द्वारा जातिवाद को समाप्त किया जाय—जातिवाद को दूर करने का एक बड़ा साधन यह है कि अन्तर्जातीय-विवाहों को प्रोत्साहित किया जाय। जातिवाद के परिणामस्वरूप सबसे पहली बात यह होती है कि हम इस जाति में अपनी लड़की का विवाह नहीं कर सकते, उसमें नहीं कर सकते। इस प्रकार के नवयुवकों के तैयार होने की जरूरत है जो जान-बूझ कर अन्तर्जातीय विवाह करें। इससे जातिवाद की जड़ें धीरे-धीरे हिल जाने की सम्भावना है।

(iv) जाति-विमुक्त समूहों का निर्माण किया जाय—एक सुझाव यह है कि ऐसे नव-युवकों को प्रोत्साहित किया जाय जो अपने को किसी जाति का न कहें, हर प्रकार की जाति से अपने को विमुक्त कर लें। ऐसे समूह जितने बढ़ते जायेंगे उतने ही वे दूसरों को प्रभावित कर अपने साथ मिलाते जायेंगे। इस प्रकार के समूहों से सिर्फ़ यह खतरा है कि कहीं आगे चलकर ये स्वयं एक प्रकार की जाति का रूप न धारण कर लें, परन्तु यह खतरा बहुत दूर का खतरा है, अभी इस प्रकार के समूहों से इस तरह का कोई खतरा नहीं हो सकता।

१३

जाति तथा श्रेणी

(CASTE AND CLASS)

१. जाति-व्यवस्था तथा श्रेणी-व्यवस्था में भेद

जाति-व्यवस्था का जन्म से सम्बन्ध है, श्रेणी-व्यवस्था का जन्म से नहीं, कर्म से सम्बन्ध है। भारत में जाति-व्यवस्था चल रही है, युरोप में श्रेणी-व्यवस्था चल रही है। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र—ये जातियाँ हैं, और जन्म से मानी जाती हैं। धनी-निर्धन—ये श्रेणियाँ हैं, वर्ग हैं, ये कर्म से बनते हैं। यह ठीक है कि धनी-निर्धन भी जन्म से पैदा होते हैं, परन्तु धनी निर्धन हो जाता है, निर्धन धनी हो जाता है, जन्म इसमें बाधक नहीं होता। ब्राह्मण के क्षत्रिय बनने या क्षत्रिय के ब्राह्मण बनने में जन्म बाधक माना जाता है। जब हम कहते हैं कि जाति-व्यवस्था भारत में और श्रेणी-व्यवस्था युरोप में चल रही है, तब हमारा यह अभिप्राय नहीं होता कि श्रेणी-व्यवस्था भारत में नहीं चल रही, या जन्म की जाति-व्यवस्था युरोप में नहीं चल रही। भारत में भी धनी-निर्धन की श्रेणियाँ हैं, और युरोप में भी जन्म के कारण ऊँच-नीच के भेद हैं। यह सब होते हुए भी भारत के समाज की रचना मुख्य तौर पर जाति-व्यवस्था को मान कर चली है और युरोप के समाज की रचना मुख्य तौर पर श्रेणी-व्यवस्था को, धनी-निर्धन के भेद को आधार बनाकर चल रही है।

२. 'जाति' तथा 'श्रेणी' की परिभाषाएँ

'जाति' तथा 'श्रेणी' के सम्बन्ध में भिन्न-भिन्न लेखकों ने भिन्न-भिन्न व्याख्याएँ की हैं जिनमें से मुख्य-मुख्य निम्न हैं :—

[क] केतकर की 'जाति' की व्याख्या—"जाति एक ऐसा सामाजिक-समुदाय है जिसकी दो विशेषताएँ हैं—(१) इसके सदस्य वही होते हैं जो इसमें पैदा होते हैं, (२) इसके सदस्य इसके अपने सामाजिक-नियमों के आधार पर अपने समुदाय के बाहर विवाह नहीं कर सकते।"

[क] "Caste as a social group has two characteristics : (i) Membership is confined to those who are born of members and includes all persons so born, (ii) the members are forbidden by an inexorable social law to marry outside the group."

—*Ketkar.*

[ख] कूले की 'जाति' की व्याख्या--"जब एक 'श्रेणी' निश्चित तौर पर वंश-परम्परा से चल पड़ती है तब इसे 'जाति' कहते हैं।"

[ग] मजूमदार की 'जाति' की व्याख्या--"आवृत-श्रेणी को जाति कहा जाता है।"

[घ] ऑगबर्न तथा निमकॉफ़ की 'श्रेणी' की व्याख्या--"सामाजिक-श्रेणी उन व्यक्तियों के समुदाय को कहते हैं जिनकी किसी समाज में सामाजिक स्थिति एक-समान होती है।"

[ङ] लेपियर की 'श्रेणी' की व्याख्या--"एक ऐसा सांस्कृतिक-समूह जिसकी सम्पूर्ण समाज में एक विशिष्ट स्थिति बन जाती है उसे 'श्रेणी' कहते हैं।"

३. भारत में जाति-व्यवस्था

'जाति' और 'वर्ण' का भेद

आजकल की प्रचलित परिभाषा के अनुसार 'जाति' और 'वर्ण' का एक ही अर्थ समझा जाता है। हिन्दुओं में चार 'जातियाँ' हैं--ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र--इन्हीं को चार 'वर्ण' माना जाता है। 'जाति' अथवा 'वर्ण' जन्म से निर्धारित होता है, यह भी प्रचलित विचार है। यदि 'जाति' या 'वर्ण' जन्म से ही निश्चित होता है, तो इस प्रश्न का क्या उत्तर है कि शुरू-शुरू में 'जाति' अथवा 'वर्ण' का निर्धारण कैसे हुआ होगा? शुरू-शुरू का ब्राह्मण ब्राह्मण कैसे कहलाया, शुरू-शुरू का क्षत्रिय क्षत्रिय कैसे कहलाया, शुरू-शुरू का वैश्य वैश्य कैसे कहलाया। हम आज भले ही जन्म से 'जाति-व्यवस्था' अथवा 'वर्ण-व्यवस्था' मानें, यह तो हर हालत में मानना ही पड़ेगा कि जब यह व्यवस्था शुरू हुई होगी, तब 'जन्म' से नहीं 'कर्म' से शुरू हुई होगी। जैसा हम पहले कह आये हैं, जो पढ़ाने-लिखाने का काम करते थे वे ब्राह्मण, जो शत्रुओं से लड़ते थे वे क्षत्रिय, जो खेती-बाड़ी करते, पशु चराते और अर्थोपार्जन करते थे वे वैश्य कहलाते थे। प्रारम्भ का समाज 'जन्म' से नहीं, 'काम' के बटवारे से बना था। अन्य कोई कल्पना बन ही नहीं सकती। एक बार काम के आधार पर जब समाज की व्यवस्था हो गई, उसके बाद जो पढ़ाते-लिखाते थे उनकी सन्तान भी वही काम करने लगी, जो युद्ध करके देश की रक्षा करते थे, उनकी सन्तान भी युद्ध में कुशलता प्राप्त करने लगी, जो

[ख] "When a class is somewhat strictly hereditary we call it a caste." —*Cooley.*

[ग] "A caste is a closed class." —*Mazumdar and Madan.*

[घ] "A social class is the aggregate of persons having essentially the same social status in a given society." —*Ogburn and Nimkoff.*

[ङ] "A social class is a culturally defined group that is accorded a particular position or status within the population as a whole." —*Lapiere.*

खेती-बाड़ी करते थे उनकी सन्तान भी खेती-बाड़ी में कुशल हो गई—इस प्रकार पहले 'कर्म' से, फिर 'जन्म' से कर्मों का बँटवारा हुआ। 'कर्म' से बँटवारे को 'वर्ण-व्यवस्था' और उसके फिर 'जन्म' से चल पड़ने को 'जाति-व्यवस्था' कहा जा सकता है। 'वर्ण-व्यवस्था' कबतक चलती रही, इसे कौन बतला सकता है? जब तक अपनी-अपनी योग्यता के अनुसार लोग अपना-अपना काम, कोई पढ़ाने का, कोई युद्ध का, कोई खेती-बाड़ी का करते रहे, तब तक 'वर्ण-व्यवस्था' बनी रही। यह एक प्रकार का 'विचारात्मक-वर्गीकरण' (Theoretical classification) था। हर काम को करने वाले की सन्तान उस काम को दूसरों की अपेक्षा अच्छा कर सकती थी क्योंकि उसे जन्म से ही उस काम के अनुकूल परिस्थिति मिलती थी, इसलिए जब पहले-पहल 'जाति-व्यवस्था' बनी, अर्थात् जन्म से ही ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य कहलाने लगे, तब भी हर-एक व्यक्ति अपने-अपने काम में विशेष योग्यता रखता था। धीरे-धीरे वह अवस्था आ गई जब कोई अपने काम को करता था, कोई नहीं करता था, परन्तु जो अपना काम नहीं करता था, वह भी जन्म के कारण उसे जो विशेष गौरव मिल गया था, उसे छोड़ने के लिए तैयार न था। 'कार्य' (Role) तो उसका नीचा था, 'स्थान' (Status) उसका ऊँचा था। यह अवस्था वह थी जिसमें 'वर्ण-व्यवस्था' समाप्त हो गई, और उसका स्थान 'जाति-व्यवस्था' ने ग्रहण कर लिया। आज हम अपने समाज में 'वर्ण-व्यवस्था' नहीं पाते, 'जाति-व्यवस्था' पाते हैं, क्योंकि 'वर्ण-व्यवस्था' का आधार रुचि, योग्यता तथा कर्म है, 'जाति-व्यवस्था' का आधार सिर्फ़ जन्म है, और हिन्दू-समाज में, इस समय जो व्यवस्था चल रही है, वह जन्म पर ही आश्रित है, कर्म पर नहीं, इसलिए यह जाति-व्यवस्था है, वर्ण-व्यवस्था नहीं।

जाति-व्यवस्था का आधार जन्म
(CLOSED CASTE SYSTEM)

हिन्दुओं में जाति-व्यवस्था का आधार, सदियाँ हुईं, जब 'कर्म' से 'जन्म' हो गया। जन्म का विचार इतना प्रबल हो गया कि ब्राह्मण यह समझने लगे कि उनके रुधिर में ही अन्य जातियों के रुधिर से कोई विशेषता है। इसी प्रकार क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र की भिन्नता का आधार सिर्फ़ काम का भेद न समझ कर उनकी रुधिर की भिन्नता, उनका जन्म-गत कोई गहरा भेद समझा जाने लगा। उच्च-जाति के लोग समझने लगे कि वे किसी और ही मिट्टी के बने हुए हैं। इसी जन्म-गत रुधिर की भिन्नता के विचार का परिणाम यह हुआ कि हिन्दुओं में जन्म-गत ऊँच-नीच का भेद बहुत प्रबल हो उठा, और कई लोगों को रुधिर-भेद के कारण 'अछूत' तक कहा जाने लगा। ऐसे नियम बनाये गए जिनसे एक जाति का व्यक्ति दूसरी जाति में रोटी-बेटी का व्यवहार नहीं कर सकता था, किन्हीं-किन्हीं जातियों की छाया तक पड़ना अपवित्रता का सूचक समझा जाने लगा। इसमें सन्देह नहीं है कि यह अवस्था अब बदलती जा रही है। इस दिशा में आर्य-समाज ने बड़ा भारी काम किया। अन्य सुधारक-संस्थाओं ने भी इस अवस्था को बदलने का प्रयत्न किया। स्वराज्य-

प्राप्ति के बाद तो अछूतपन को ग़ैर-कानूनी घोषित कर दिया गया। ये सब शुभ लक्षण हैं, परन्तु हमें तो इस प्रकरण में इन बातों की चर्चा नहीं करनी, हमें सिर्फ़ इतना देखना है कि जाति-व्यवस्था का प्रारम्भ और चलन जन्म को आधार बनाकर हुआ। इस व्यवस्था में एक जाति का व्यक्ति दूसरी जाति में शामिल नहीं हो सकता। जो ऊँचा है वह ऊँचा है, जो नीचा है वह नीचा है, ऊँचा नीचा नहीं हो सकता, नीचा ऊँचा नहीं हो सकता। यह व्यवस्था 'आवृत-जाति-व्यवस्था' (Closed caste system) कही जा सकती है। 'आवृत' इसलिए क्योंकि यह चारों तरफ से ढकी हुई है, इसमें दूसरा कोई प्रविष्ट हो नहीं हो सकता।

जन्म के कारण भेद मानने का विरोध
(OPEN CASTE SYSTEM)

हमने देखा कि मानव-समाज में 'कर्म' के कारण तो भेद होता ही है, 'जन्म' के कारण भी भेद माना जाता है। जब तक धर्म के बोझ से लोग दबे रहते हैं, तब तक दलित-वर्ग इसलिए सिर नहीं उठाता क्योंकि वह समझता है कि वह नीच-जाति का है, उसका धार्मिक-कर्त्तव्य उच्च-जाति के सामने सिर झुकाना है। परन्तु जब लोग धर्म के बोझ से स्वतंत्र हो जाते हैं, तब यही चेतना कि वे नीच-जाति के हैं, उनके हृदय में विद्रोह की आग को प्रचण्ड कर देती है। इसी लिए हिन्दू-समाज में दोनों विचार-धाराएँ काम करती रही हैं। जब लोग पंडितों, पुरोहितों के नीचे दबे हुए ननु-नच न करते रहे, तब वे स्वयं अपने को नीच-जाति का कहते रहे, अपनी अवस्था देख कर उन्होंने कभी विद्रोह नहीं किया, परन्तु जब उन्होंने तथा-कथित धर्म के बोझ को अपने सिर से उतार दिया, तब उन्होंने यह भी कहा कि ब्राह्मण शूद्र हो सकता है, शूद्र ब्राह्मण हो सकता है—'शूद्रो ब्राह्मणतामेति ब्राह्मणश्चैति शूद्रताम्।' जब जाति में चेतना का संचार होता है, जागृति की भावनाएँ ज़ोर मारने लगती हैं, तब लोग रूढ़िवाद की जड़ हिला देते हैं, और जन्म के कारण माने जाने वाले भेदों को स्वीकार करने से इन्कार कर देते हैं। हिन्दू-समाज में भी जब जन्म से पैदा किये हुए भेद चरम सीमा पर पहुँच गये, तब समय-समय पर इस प्रवृत्ति का विरोध होता रहा, और जिस साहित्य में जन्म की जाति का वर्णन है उसी में यह भी कहा जाने लगा कि कोई जन्म से ऊँचा नहीं होता, कोई जन्म से नीचा नहीं होता—'जन्मना जायते शूद्रः संस्काराद् द्विज उच्यते'। इस विचार के अनुसार ऊँची जात में नीची जात का प्रवेश हो सकता है, नीची जात में ऊँची जात का प्रवेश हो सकता है, जन्म से कोई जात नहीं होती, काम से ही जात बनती है। इस व्यवस्था को 'अनावृत-जाति-व्यवस्था' (Open caste system) कहा जा सकता है। 'अनावृत' इसलिए क्योंकि यह चारों तरफ़ से खुली हुई है, इस व्यवस्था में जो चाहे प्रविष्ट हो सकता है। हिन्दू-साहित्य में 'आवृत जाति-व्यवस्था' (Closed caste system) तथा 'अनावृत जाति-व्यवस्था' (Open caste system)—इन दोनों का वर्णन मिलता है। 'जन्म' से जाति मानने वाले 'आवृत जाति-व्यवस्था' के मानने वाले हैं, 'कर्म'

से जाति मानने वाले 'अनावृत जाति-व्यवस्था' के मानने वाले हैं, परन्तु इसमें सन्देह नहीं कि शास्त्रों में खुले तौर पर जन्म के कारण जाति मानन के विरुद्ध लेख मिलने पर भी हिन्दू-समाज जन्म की जाति को ही मानता रहा है, वही इसमें आज तक प्रचलित है, बड़े-बड़े आर्य-समाजियों के घरों में भी जन्म की जाति अपना डेरा जमाये बैठी है।

४. युरोप में श्रेणी या वर्ग व्यवस्था

'सामन्त-पद्धति' (FEUDAL SYSTEM) तथा जन्म की जाति

युरोप में छठी और सातवीं सदी में 'सामन्त-पद्धति' (Feudal System) का जन्म हुआ। उस समय वहाँ सर्वत्र अराजकता छाई हुई थी। जिसके पास शक्ति थी वही अपनी सत्ता कायम कर लेता था। बड़े-बड़े सरदार विशाल भूमि-खण्डों पर अपना आधिपत्य जमा लेते थे, और अपने साथियों में ज़मीन के टुकड़ों को बाँट देते थे। बड़े विजेता सरदारों को राजा कहा जाय, तो उनके साथी छोटे-छोटे सरदार 'सामन्त' (Feudal lords) कहलाते थे। ये 'सामन्त' अपनी भूमि के स्वामी थे, और दासों से खेती करवाते थे। भूमि का जो स्वामी है उसका पुत्र अपने-आप, जन्म से ही उस भूमि का स्वामी था। इस प्रकार जन्म से ही कुछ लोग भू-स्वामी थे, कुछ लोग इन भू-स्वामियों की खेती करने वाले थे। जिसके पास ज़मीन नहीं थी उसके पास ज़मीन का मालिक बनने का कोई साधन नहीं था, और जिसके पास ज़मीन थी वह पुश्त-दर-पुश्त ज़मीन का मालिक था। जिस प्रकार भारत में जन्म से ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र थे, इसी प्रकार युरोप में जन्म से कुछ लोग भूमि के स्वामी थे, कुछ लोग उनके दास थे। जब ये दास स्वतंत्र हो जाते थे, तो मजदूर बन जाते थे। जहाँ तक जन्म का सम्बन्ध है, 'सामन्त-पद्धति' तथा 'जाति-व्यवस्था' में एक ही नियम काम कर रहा था, जैसे शूद्र ब्राह्मण नहीं बन सकता था, वैसे मजदूर सामन्त नहीं बन सकता था, दोनों का क्षेत्र जन्म के कारण निश्चित था। इतना भेद अवश्य था कि 'सामन्त-पद्धति' का उदय भूमि के स्वामित्व से हुआ था, 'जाति-व्यवस्था' का उदय भूमि के स्वामित्व से नहीं, कर्मों के विभाजन से हुआ था, यद्यपि वह होते-होते कर्मों को छोड़ कर सिर्फ़ जन्म तक सीमित रह गई थी। जन्म को आधार बनाने के कारण 'सामन्त-पद्धति' भी एक प्रकार की 'आवृत-जाति-व्यवस्था' (Closed caste system) थी जिसके भीतर कोई दूसरा प्रविष्ट नहीं हो सकता था।

'सामन्त-पद्धति' तथा औद्योगिक-क्रान्ति

युरोप में १८वीं तथा १९वीं शताब्दी में नये-नये आविष्कारों से औद्योगिक-क्रान्ति हुई। इस औद्योगिक-क्रान्ति का प्रभाव 'सामन्त-पद्धति' पर विशेष रूप से हुआ। 'सामन्त-पद्धति' में ज़मीन ही सबसे बड़ी दौलत थी। 'सामन्त-पद्धति' का लक्षण ही 'भूमि के नियन्त्रण की संगठित संस्था' (Institutionalised

system of land control)—यह किया जाता है। नवीन आविष्कारों तथा औद्योगिक उपायों से कल-कारखाने खुलने लगे, इन कारखानों का माल बिकने लगा और व्यापार लगातार बढ़ने लगा। अब तक भूमि को ही धन माना जाता था, भूमि वंश-परम्परा द्वारा पिता से पुत्र और पुत्र से पौत्र को जाती थी, इसलिए भूमि के कारण जो ऊँच-नीच का भेद था वह जन्म से चलता चला आ रहा था। औद्योगिक-क्रान्ति का यह परिणाम हुआ कि भूमि एक प्रकार की 'सम्पत्ति' (Wealth) तो मानी जाती रही, परन्तु 'सम्पत्ति' का मुख्य रूप 'भूमि' न रहकर 'धन' (Money) हो गया। लोग भिन्न-भिन्न उद्योगों से 'धन' कमाने लगे। जिनके पास भूमि नहीं भी थी, वे भी धनी होने लगे। भूमि का और धन का सम्बन्ध टूट गया। यह अवस्था आ गई कि जिसके पास भूमि बिलकुल नहीं थी, वह भी धन-कुबेर होने लगा। भूमि का और जन्म का तो सम्बन्ध था, सामन्त लोग जन्म से ही भूमिपति होते थे, परन्तु धन का और जन्म का तो कोई सम्बन्ध नहीं था। औद्योगिक-युग ने धन को भूमि से पृथक् करके एक नवीन सम्भावना को जन्म दे दिया। पहले तो भूमिपति ही सम्पत्तिशाली समझे जाते थे, अब भूमिहीन भी सम्पत्ति के स्वामी बनने लगे। यह एक बिलकुल नवीन स्थिति थी। भूमिपति जन्म के भूमिपति थे, धनपति जन्म के निर्धन भी हो सकते थे। अब तक तो लोग यही समझते थे कि जन्म के कारण ही कोई ऊँचा, कोई नीचा होता है, धन के भूमि से अलग हो जाने तथा निर्धन लोगों के धनी हो जाने पर लोग देखने लगे कि ऊँच-नीच का जन्म से कोई सम्बन्ध नहीं। अब तक समाज में जो प्रक्रिया नहीं होती थी, वह अब होने लगी। अब तक 'सामन्त' मजदूर नहीं बनते थे, मजदूर 'सामन्त' नहीं बनते थे। दोनों का भाग्य अपने जन्म से बँधा हुआ था। अब निर्धन धनी होने लगे, धनी निर्धन होने लगे। यह चमत्कार इसीलिए हो सका क्योंकि 'धन' एक ऐसी वस्तु से पृथक् हो गया, जो जन्म के साथ बँधी हुई थी। भूमि का स्वामित्व जन्म से बँधा हुआ था, धन का स्वामित्व जन्म से नहीं बँधा हुआ था? इस परिस्थिति ने जन्म से ऊँच-नीच के विचार को जबर्दस्त धक्का दिया, ऐसा धक्का दिया कि औद्योगिक-क्रान्ति ने 'सामन्त-पद्धति' को ही समाप्त कर दिया। इस क्रान्ति के बाद यह जरूरी नहीं रहा कि जो जन्म का धनी है वह सामन्तों की तरह जन्म का धनी ही बना रहे, न यह जरूरी रहा कि जो जन्म का निर्धन है वह मजदूर और दासों की तरह जन्म का निर्धन ही बना रहे। भारत में जन्म की 'जाति-व्यवस्था'—'आवृत-जाति-व्यवस्था' (Closed caste system) तो नहीं नष्ट हुई, परन्तु युरोप में औद्योगिक-क्रान्ति ने 'धन' को भूमि से पृथक् करके जन्म को आधार बनाकर टिकी हुई 'सामन्त-पद्धति' को, जो एक प्रकार की जन्म की ही 'जाति-व्यवस्था' थी, नष्ट कर दिया, और एक नवीन-व्यवस्था को जन्म दे दिया जिसमें 'जन्म' के स्थान पर हर-एक व्यक्ति अपने 'कर्म' से धनी-निर्धन हो सकता था, जिसे दूसरे शब्दों में कर्म की जाति-व्यवस्था—'अनावृत-जाति-व्यवस्था' (Open caste system) कहा जा सकता है।

पूँजीपति तथा मज़दूर श्रेणी

पहले 'सामन्त-पद्धति' चल रही थी, सामन्तों के पास भूमि थी, उन्हीं के पास राजनीतिक-शक्ति थी । व्यावसायिक-क्रान्ति के बाद जब 'धन' भूमि से पृथक् हो गया, तो धन वालों तथा निर्धनों की एक नई श्रेणी उत्पन्न हो गई, राज-शक्ति पर भी सामन्तों के स्थान पर धनी-वर्ग का प्रभुत्व हो गया। इस नई पद्धति में पूंजीपति तथा मजदूर—ये दो वर्ग, दो श्रेणियां बन गईं। 'सामन्त-पद्धति' जन्म के आधार पर थी, वह एक प्रकार की 'जाति' (Caste) थी, 'पूंजीपति-मजदूर-पद्धति' कर्म के आधार पर थी, यह एक प्रकार की 'श्रेणी' (Class) थी। कार्ल-मार्क्स का कहना था कि व्यावसायिक-क्रान्ति का अवश्यम्भावी परिणाम दो श्रेणियों का बन जाना हुआ। जहां दो श्रेणियां नहीं बनीं वहां बन रही हैं और धीरे-धीरे बन जायेंगी। जैसे पूंजीपतियों ने धन कमाकर 'सामन्त-पद्धति' को समाप्त कर दिया, वैसे आगे चलकर मजदूर-श्रेणी पूंजीपति-प्रथा को समाप्त कर देगी। इनमें श्रेणी-युद्ध होगा और ऊँच-नीच का भेद, जो पहले 'सामन्त-पद्धति' में जन्म से था, पीछे पूंजीवाद में कर्म से हो गया, वह सर्वथा मिट जायगा, उत्पादन के साधनों पर समाज का स्वामित्व हो जायगा और जन्म तथा कर्म दोनों के आधार पर बनी मानव-समाज की विषमता नष्ट होकर मनुष्य मनुष्य के समान हो जायगा। पहले जन्म के आधार पर बनी 'जाति' (Caste) समाप्त हुई, अब कर्म के आधार पर बनी 'श्रेणी' (Class) समाप्त हो जायगी। यह प्रक्रिया युरोप में तो बड़ी तेजी से चल रही है, वहाँ का समाज दो श्रेणियों में बँटता चला जा रहा है, कई जगह तो श्रेणी-युद्ध के भी आसार दीख रहे हैं, रूस और चीन में तो इस प्रक्रिया का परिणाम भी सामने आ गया है, परन्तु भारत में अभी जन्मगत जाति का ही राज्य है। ज्यों-ज्यों भारत में औद्योगिक-क्रान्ति होगी, यहाँ भी जन्म को आधार बनाकर बने हुए भेद मिट जायेंगे, एक नयी भेद-व्यवस्था उत्पन्न होगी, अमीर-ग़रीब के भेद ही रह जायेंगे, बाकी भेद मिट जायेंगे, अमीर-ग़रीब का भेद भी जन्म से नहीं रहेगा, लोग अपनी आँखों से देखने लगेंगे कि ऊँच-नीच जन्म से नहीं होता, जिसे वे नीचा समझते हैं वह देखते-देखते मालदार हो जायगा, नीच जाति का होते हुए भी समाज में उसकी प्रतिष्ठा बढ़ने लगेगी, धीरे-धीरे जाति का भाव ही मिट जायगा और उसके बाद क्या होगा—क्या अमीर-ग़रीब के भेद रूस के रास्ते से मिटेंगे, या अमरीका के रास्ते से मिटेंगे, या महात्मा गांधी के रास्ते से मिटेंगे, यह भविष्य बतलायेगा।

१४

जाति-व्यवस्था में परिवर्तन के तत्त्व

(FACTORS OF CHANGE IN CASTE SYSTEM)

जाति-व्यवस्था हमारी सामाजिक-रचना का इस समय एक अभिन्न अंग बनी हुई है। समझा यह जाता है कि यह व्यवस्था सनातन-काल से चली आ रही है, और सनातन काल तक चलती चली जायगी। जब कभी इसमें परिवर्त्तन की आवाज उठती है तभी यह कहा जाता है कि यह तो हिन्दू-धर्म की जड़ों में कुठाराघात है। असल में यह बात नहीं है। जाति-व्यवस्था ही क्या, कोई भी सामाजिक-व्यवस्था ऐसी नहीं होती, जो सदा एक-सी बनी रहे। समय-समय पर समाज की भिन्न-भिन्न आवश्यकताएँ उत्पन्न होती रहती हैं, और उन आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए समाजशास्त्री तथा नियम-निर्माता-श्रेणी के लोग भिन्न-भिन्न व्यवस्थाएँ बनाते रहते हैं। एक ही व्यवस्था में भी समयानुसार परिवर्त्तन होता रहता है। यह नियम जाति-व्यवस्था पर भी वैसा ही लागू है जैसा और व्यवस्थाओं पर। हमने यहाँ यह देखना है कि जाति-व्यवस्था का वर्त्तमान रूप क्या सनातन-काल से ऐसा ही चला आया है, या यह सामाजिक-संगठन हमारे समाज में भिन्न-भिन्न रूपों में से होता हुआ वर्त्तमान रूप में पहुँचा है।

अपने देश का इतिहास बहुत पुराना है। इतिहासज्ञ लोग भिन्न-भिन्न घटनाओं के भिन्न-भिन्न काल बतलाते हैं। पुरातन-काल की किसी घटना के विषय में भी सब विद्वानों का एकमत नहीं है। हम यहाँ काल के झगड़े में नहीं पड़ेंगे। हमारे उद्देश्य के लिए इतना पर्याप्त है कि हमारा बहुत पुराना काल वैदिक-काल था, उसके बाद उत्तर-वैदिक-काल आया, फिर स्मृतियों का काल आया, और अब वर्त्तमान काल है। हमें यह देखना है कि जाति-व्यवस्था का विचार इन चारों कालों में क्या एक-सा रहा, या इन सब कालों में से गुजरता हुआ समय की आवश्यकता के अनुसार यह भिन्न-भिन्न रूपों को धारण करता गया, इसमें समयानुसार परिवर्त्तन होता गया। हमारी स्थापना यह है कि अन्य विचारों के अनुसार यह विचार भी समय की आवश्यकताओं के अनुसार बदलता गया, इसमें परिवर्त्तन होता गया, यहाँ तक कि इस समय भी इसमें परिवर्त्तन हो रहा है, और समय की आवश्यकता के अनुसार इसमें अभी और अधिक परिवर्त्तन होने की आवश्यकता है। जाति-व्यवस्था में किस प्रकार परिवर्त्तन होता रहा है—यह आगे स्पष्ट हो जायगा।

१. वैदिक-काल में जाति-व्यवस्था

(आर्य तथा दास)

वैदिक-काल भारतीय इतिहास का प्राचीनतम काल समझा जाता है। आर्यों की प्राचीनतम सभ्यता, संस्कृति तथा सामाजिक-व्यवस्था जानने के लिए इस काल के ग्रन्थों का अनुशीलन आवश्यक है। इस काल का सबसे प्राचीन ग्रन्थ ऋग्वेद है। हम पहले दर्शा आये हैं कि भारत की प्रारम्भिक —अर्थात् वैदिक-काल की—सामाजिक-व्यवस्था में समाज को दो भागों में बाँटा गया था। वे दो भाग थे—आर्य तथा दस्यु। पाश्चात्य-विद्वानों का कथन है कि आर्य लोग भारत के आदि-निवासी नहीं थे। वे विजेता बन कर यहाँ आये। यहाँ के आदि-निवासी कोई दूसरे लोग थे जिन्हें वेदों में 'दास' या 'दस्यु' कहा गया है। आर्यों ने दासों को जीत लिया और 'दास या 'दस्यु' लोग आर्यों के अधीन भिन्न-भिन्न बस्तियों में रहने लगे। आर्य लोग दासों से घृणा करते थे। आर्यों का रंग गोरा था, दासों का काला; आर्यों की नाक नोकीली थी, दासों की चपटी। आर्य लोग विजेता बन कर आये थे इसलिए वे अधिकतर सैनिक थे; दास लोग यहाँ के आदि-वासी थे, उन्हें जीता गया था इसलिए उनसे सब तरह का हाथ का तथा सेवा का काम लिया जाता था। आर्यों तथा दासों का यह सम्बन्ध ही दास-प्रथा का रूप धारण कर गया। पाश्चात्य-विद्वानों का यह विचार ठीक है या नहीं—इस पर विद्वानों के भिन्न-भिन्न मत हैं। पाश्चात्य-विद्वानों से भिन्न अन्य अनेक विद्वानों का मत है कि आर्य लोग बाहर से नहीं आये थे, यहीं के आदि-निवासी थे। अगर बाहर से भी आये थे, तो भी 'आर्य' तथा 'दास'—ये दो भिन्न-भिन्न जातियां, या ये दोनों भिन्न-भिन्न रुधिरों की न होकर ये शब्द गुण-वाचक थे। अच्छे लोग आर्य कहलाते थे, बुरे लोग दस्यु कहलाते थे। 'दास' या 'दस्यु'-शब्द 'दसु-उपक्षये' धातु से बने हैं। 'उपक्षय' का अर्थ है—नाश करना, तोड़ना-फोड़ना। जो उस समय की सामाजिक-व्यवस्था को मान कर उसके अनुसार चलते थे वे 'आर्य' कहलाते थे, जो चोर-उचक्कों की तरह सामाजिक-व्यवस्था को न मान कर मनमानी करते थे उन्हें 'उपक्षय' करने के कारण 'दास' कहा जाता था। समाज में इस प्रकार दो तरह के व्यक्ति सदा रहते हैं—नियमों का पालन करने वाले तथा नियमों को तोड़ने वाले, आज भी ऐसे व्यक्ति हैं। वैदिक-काल में समाज के इस प्रकार के स्वाभाविक-विभाग को 'आर्य' तथा 'दस्यु' कहा जाता था, विजेता या विजित होने के कारण, या रंग का भेद होने के कारण या जाति का भेद होने के कारण नहीं। इसी लिए ऋग्वेद में कहा गया—'सब को आर्य बना लो'—अगर 'आर्य' तथा 'दस्यु' का रक्तगत भेद होता है, तो इस प्रकार की घोषणा का कोई अर्थ नहीं हो सकता। क्योंकि भिन्न रक्त के व्यक्ति को 'आर्य' कैसे बनाया जा सकता था।

जो-कुछ भी हो, आर्य बाहर से आये या यहीं के आदि-वासी थ, आर्य तथा दास भिन्न-भिन्न रक्त के थे या एक ही समाज में अच्छे व्यक्तियों को आर्य तथा बुरों

को दास कहा जाता था—यह स्पष्ट है कि वैदिक-काल में आज जैसी जाति-व्यवस्था नहीं थी। आज एक जाति के लोग दूसरी जाति में शादी-ब्याह नहीं करते, दूसरी जाति वालों के साथ खाते-पीते नहीं, उनके साथ मिलते-जुलते नहीं—यह सब-कुछ वैदिक-काल में नहीं था, इसलिए नहीं था क्योंकि उस समय समाज का विभाग 'आर्य' तथा 'दास' के सिवाय दूसरा-कुछ था ही नहीं। उस समय क्या था? उस समय, आज जैसे सैंकड़ों जात-पात हैं वैसी जातें नहीं थीं; उस समय समाज का ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र जैसे वर्ण-विभाग भी नहीं था; उस समय सब लोग एक-से थे। सब को ऋग्वेद में 'विशः' कहा गया है, 'विशः' का अर्थ है—'प्रजा', 'जनता', 'लोग'। इसका यह अभिप्राय नहीं कि उस सामाजिक-व्यवस्था में किसी प्रकार का भी भेद नहीं था। आर्यों के अपने-अपने कबीले ज़रूर थे, इन कबीलों को 'जनाः' कहा जाता था। ऋग्वेद में इस प्रकार के 'पंचजनाः' या 'पंचकृष्टयः' का वर्णन आता है। ये पंचजन थे—अणु, द्रुह्यु, यदु, तुर्वसु और पुरु। परन्तु ये पाँचों 'आर्य' थे और ऋग्वेद की परिभाषा में 'विशः' थे, उस समय की 'जनता' थे। आज जो 'वैश्य' शब्द चला हुआ है, यह 'विशः' से ही बना है। इसका अर्थ भी है—जनता। क्योंकि आम जनता वणिज-व्यापार से अपना गुज़ारा करती है, इसलिए वणिज-व्यापार करने वालों को भी 'वैश्य' कहा जाने लगा। 'वेश्या'-शब्द भी इसी 'विशः' से ही बना है। 'वेश्या' भी किसी एक की न होकर जन-साधारण की, लोगों की, जनता की होती है इसलिए उसे 'वेश्या' कहा जाता है। हमारे कहने का अभिप्राय इतना ही है कि वैदिक काल में यहाँ सामाजिक-व्यवस्था में सब लोग 'विशः' कहलाते थे, 'जनता' कहलाते थे, इस जनता के मुख्य तौर पर दो ही विभाग थे—'आर्य' तथा 'दस्यु', और आजकल जैसा जात-पाँत या वर्ण-व्यवस्था का-सा कोई भेद नहीं था, सारा-का-सारा समाज एक था, और अगर कोई भेद था तो अच्छे व्यक्तियों (आर्यों) और बुरे व्यक्तियों (दस्युओं) का था। यह भेद जन्म पर आश्रित न होकर कर्म पर आश्रित था। इस भेद को 'आचार-परक (Ethical)-भेद' कहा जा सकता है, और कुछ नहीं।

२. उत्तर-वैदिक-काल में जाति-व्यवस्था
(कर्म के आधार पर चार वर्ण)

ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद तथा अथर्ववेद—ये चार वेद हैं। इनमें ऋग्वेद सब से पुराना है। इस समय को वैदिक-काल कहते हैं। वैदिक-काल में वर्ण-व्यवस्था या जाति-व्यवस्था नहीं थी। उस समय चार वर्णों का कहीं ज़िक्र नहीं आता। अगर वर्णों का ज़िक्र आता भी है, तो सिर्फ़ दो का—"उभौ वर्णौ ऋषिरुग्रः पुपोष" (ऋक् १–१७९–६)—अर्थात्, उग्र ऋषि ने दोनों वर्णों को पुष्ट किया। वैदिक-काल में वर्णों या जात-पाँत के आधार पर होने वाला ऊँच-नीच का भेद भी नहीं था। ऋग्वेद (५–६०–५) में लिखा है—"अज्येष्ठासो अकनिष्ठास एते सं भ्रातरो वावृधुः सौभगाय'—तुममें से न कोई ऊँचा है न नीचा,

तुम सब भाई-भाई हो, इसलिए सौभाग्य पाने के लिए ही भाई-भाई की तरह बरतो। एक वर्ण का अर्थ होता है--एक ही काम-धन्धा करना परन्तु ऋग्वेद (९-११२-३) में लिखा है--"कारुरहं ततो भिषक् उपलप्रक्षिणी नना नानाधियो वसूयवोऽनु गा इव तस्थिमेन्द्रायेन्दो परिस्रव"--मैं बढ़ई हूँ, मेरा पिता वैद्य है, मेरी माता चक्की पीसती है। इस सब से ज्ञात होता है कि वैदिक-काल में जाति-व्यवस्था या वर्ण-व्यवस्था का वर्त्तमान रूप नहीं था। वैदिक-काल के बाद ब्राह्मण-ग्रन्थों तथा उपनिषदों का काल आता है। इसे उत्तर-वैदिक काल कहा जाता है। हमने देखना है कि इस उत्तर-वैदिक-काल में सामाजिक-व्यवस्था का क्या रूप हो गया। क्या वह वैदिक-काल के 'आर्य' तथा 'दस्यु' के रूप में ही रही या इसका रूप बदल गया।

हम कह आये हैं कि वैदिक-काल में चातुर्वर्ण्य की-सी वर्ण-व्यवस्था नहीं थी, परन्तु इसका यह अभिप्राय नहीं कि उस काल में वर्ण-व्यवस्था का विचार भी नहीं था। समाज का इस प्रकार का विभाग हो सकता है--यह 'विचारात्मक-कल्पना' (Theoretical idea) उस समय मौजूद थी। ऋग्वेद के १०वें मण्डल में आता है--"ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद् बाहू राजन्यः कृतः। ऊरू तदस्य यद्वैश्यः पद्भ्यां शूद्रोऽजायत।"--अर्थात्, जैसे मानव-शरीर में सिर है, वैसे समाज भी एक प्रकार का विशाल मानव-शरीर है जिसके सिर ब्राह्मण हैं, जैसे मानव-शरीर में बाहु रक्षा का काम करते हैं वैसे समाज-रूपी मानव-शरीर में राजन्य (क्षत्रिय) रक्षा का काम करते हैं, पेट तथा जंघाओं का काम वैश्य, पैरों का काम शूद्रों का है। यह कल्पना ऋग्वेद में पायी जाती है, परन्तु वैदिक-काल में यह विचार कल्पना तक ही सीमित था, इसे क्रियात्मक रूप नहीं दिया गया था। उत्तर-वैदिक-काल में इस विचार को क्रियात्मक रूप दिया गया और समाज की रचना--ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र--इन चार पेशों के आधार पर की गई। अब तक समाज का विभाग अच्छाई तथा बुराई पर आश्रित होने के कारण 'आचार-परक' (Ethical) था, परन्तु अब यह 'श्रम-विभाग' (Division of labour) पर आश्रित होने के कारण 'कर्म-परक' (Professional) हो गया; वैदिक-काल में यह विभाग विचारात्मक-वर्गीकरण (Theoretical classification) था, उत्तर-वैदिक काल में यह विभाग क्रियात्मक-वर्गीकरण (Practical Classification) हो गया। क्रियात्मक रूप में आने पर भी उत्तर-वैदिक-काल की सामाजिक-वर्गीकरण की व्यवस्था को 'अनावृत जाति-व्यवस्था' (Open caste system) कहा जा सकता है, 'आवृत-जाति-व्यवस्था' (Closed caste system) नहीं कहा जा सकता। 'अनावृत' तथा 'आवृत' में क्या भेद है? 'अनावृत' में हर वर्ण का व्यक्ति अपने वर्ण को हर दूसरे वर्ण में परिवर्तित कर सकता है, ब्राह्मण क्षत्रिय हो सकता है, क्षत्रिय ब्राह्मण हो सकता है, शूद्र चाहे तो ब्राह्मण बन जाये, ब्राह्मण चाहे शूद्र बन जाये; 'आवृत' में हर-कोई अपने-अपने वर्ण में रहता है। 'अनावृत' व्यवस्था कर्म पर आश्रित रहती है, 'आवृत' व्यवस्था जन्म

पर आश्रित रहती है। जो जैसा कर्म करेगा वह उसी वर्ण का कहलायेगा—यह 'अनावृत वर्ण-व्यवस्था' का आधार है; जो जिस घर में जन्म लेगा वह उसी वर्ण का कहलायेगा—यह 'आवृत वर्ण-व्यवस्था' का आधार है। उत्तर-वैदिक-काल की सामाजिक-व्यवस्था आजकल की जाति-व्यवस्था की तरह की नहीं थी। आजकल की जाति-व्यवस्था में जाति बदली नहीं जा सकती, उस समय की जाति-व्यवस्था में जाति बदली जा सकती थी क्योंकि वह सिर्फ़ काम-धंधे के आधार पर बनी थी। जो पढ़ाने-लिखाने का काम करे वह ब्राह्मण, जो देश की रक्षा का काम करे वह क्षत्रिय, जो वणिज-व्यापार करे वह वैश्य, जो मेहनत-मजदूरी करे वह शूद्र। आपस्तम्ब धर्मसूत्र में लिखा है—"धर्मचर्यया जघन्यो वर्णः पूर्वं पूर्वं वर्णमापद्यते जाति-परिवृत्तौ। अधर्मचर्यया पूर्वो वर्णो जघन्यं जघन्यं वर्णमापद्यते जाति-परिवृत्तौ।"—अर्थात्, धर्माचरण से निकृष्ट वर्ण अपने से उत्तम वर्ण को प्राप्त होता है, अधर्माचरण से उत्तम वर्ण निकृष्ट वर्ण को प्राप्त होता है।

इस सबसे स्पष्ट है कि उत्तर-वैदिक-काल में यद्यपि वर्ण-व्यवस्था ने क्रियात्मक रूप धारण कर लिया था तथापि उस समय इसका रूप 'अनावृत (खुली) जाति-व्यवस्था' का था, 'आवृत (बंद) जाति-व्यवस्था' का नहीं। पुराणों तथा मनुस्मृति आदि में भी 'शूद्रो ब्राह्मणतामेति ब्राह्मणश्चैति शूद्रताम्'—अर्थात् कर्म के अनुसार ब्राह्मण शूद्र हो सकता है और शूद्र ब्राह्मण हो सकता है—इत्यादि पाया जाता है जिसका अभिप्राय यही है कि उत्तर-वैदिक-काल में 'अनावृत जाति-व्यवस्था' थी, यह व्यवस्था लचकीली थी, रूढ़ नहीं हुई थी; कर्म-परक थी, जन्म-परक नहीं थी, इसमें रोटी-बेटी आदि के व्यवहार की रुकावट भी नहीं थी। इसी लिए उत्तर-वैदिक-काल तक के समय की व्यवस्था को हमने 'वर्ण-व्यवस्था' का नाम दिया है, 'जाति-व्यवस्था' का नाम नहीं दिया क्योंकि हमारी दृष्टि से 'वर्ण-व्यवस्था' का अर्थ है 'अनावृत सामाजिक-व्यवस्था', अर्थात् खुली व्यवस्था तथा 'जाति-व्यवस्था' का अर्थ है 'आवृत सामाजिक-व्यवस्था', अर्थात् बन्द व्यवस्था।

३. उत्तर-वैदिक-काल की जाति-व्यवस्था में ब्राह्मणों तथा क्षत्रियों की स्थिति

यह हम पहले कह आये हैं कि वैदिक-काल में वर्ण-व्यवस्था नहीं थी, परन्तु वेद में वर्ण-व्यवस्था सम्बन्धी विचार अवश्य था। "ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद् बाहू राजन्यः कृतः"—यह ऋग्वेद का मंत्र इस विचार को ही सूचित करता है। यह विचार ब्राह्मण-ग्रन्थों तथा उपनिषदों के काल में, जिसे हम उत्तर-वैदिक-काल कह आये हैं, क्रिया का रूप धारण कर गया। इस उत्तर-वैदिक-काल में ब्राह्मण-क्षत्रिय-वैश्य-शूद्र वर्णों का उसी प्रकार सामाजिक परीक्षण होने लगा जैसा आजकल के समाज में समाजवाद (Socialism) तथा कम्यूनिज़्म (Communism) का परीक्षण हो रहा है। उत्तर-वैदिक काल के दो प्रसिद्ध ग्रन्थ हैं

जो उस समय की सामाजिक-व्यवस्था पर प्रकाश डालते हैं। एक हैं, ब्राह्मण-ग्रन्थ तथा दूसरे हैं, उपनिषद्। ब्राह्मण-ग्रन्थ उस समय की ब्राह्मणों की कृतियाँ हैं, उपनिषद् उस समय के क्षत्रियों की कृतियाँ हैं। ब्राह्मण-ग्रन्थों से ब्राह्मणों का महत्त्व प्रदर्शित होता है, उपनिषदों से क्षत्रियों का महत्त्व प्रदर्शित होता है।

इन दोनों ग्रन्थों के अध्ययन से ऐसा प्रतीत होता है कि ऋग्वेद-काल के बाद जब वर्ण-व्यवस्था क्रियात्मक रूप में आयी तब वर्णों में जन्मगत भेद नहीं था, कर्मगत भेद ही था, अच्छे कर्म वाला ब्राह्मण हो सकता था, बुरे कर्म वाला अपने वर्ण से गिर जाता था। इस समय धर्म-कर्म का काम ब्राह्मण के सुपुर्द था, और ब्राह्मण ने धर्म के क्षेत्र में यज्ञ-यागादि तथा अनेक प्रकार के विधि-विधान-अनुष्ठान बनाकर धार्मिक विधानों को अत्यन्त जटिल बना दिया था। उस जटिलता के नमूने ही ब्राह्मण-ग्रन्थ हैं। धार्मिक विधि-विधानों की इस जटिलता को देख-कर उस समय के कुछ क्षत्रिय राजाओं ने धार्मिक-क्षेत्र में भी चिन्तन शुरू किया। इन राजाओं में जनक, अश्वपति कैकेय आदि का नाम मुख्य है। इनकी खोजों का परिणाम ब्रह्म, पुनर्जन्म, आत्मा आदि तत्व हैं और इन तत्त्वों को उन क्षत्रिय राजाओं ने उपनिषदों के रूप में सर्व-साधारण के सम्मुख रखा। उपनिषदों को पढ़ने से जगह-जगह पता चलता है कि ब्राह्मण लोग ब्रह्म-विद्या सीखने के लिए क्षत्रिय राजाओं की शरण में गये। राजा जनक के पास श्वेतकेतु तथा याज्ञवल्क्य आदि ब्राह्मण अध्यात्म-विद्या का उपदेश लेने गये, राजा कैकेय अश्वपति के पास प्राचीनशाल, सत्ययज्ञ, इन्द्रद्युम्न आदि ब्राह्मण गये। इस काल में ब्राह्मणों के यज्ञ-यागादि तथा क्षत्रियों की अध्यात्म-विद्या की चर्चा करते हुए एक उपनिषद् में कहा है कि ये यज्ञ-यागादि जिन पर ब्राह्मण लोग बहुत बल देते हैं—'प्लवाः ह्येते अदृढाः यज्ञरूपाः'—ऐसे बेड़े हैं जिनसे भव-सागर को पार नहीं किया जा सकता।

कहने का अभिप्राय यह है कि ब्राह्मण-ग्रन्थों तथा उपनिषदों के समय वर्ण व्यवस्था का श्रीगणेश हो गया था, और ब्राह्मणों और क्षत्रियों में आध्यात्मिक क्षेत्र में भी एक-दूसरे को नीचा दिखाने की प्रवृत्ति चल पड़ी थी। ब्राह्मण लोग यज्ञ-यागादि पर बल देते थे, क्षत्रिय लोग ब्रह्म-ज्ञान आदि पर बल देते थे। इसका परिणाम यह हुआ कि ब्राह्मण लोग समाज में अपनी सबसे ऊँची स्थिति बनाने में और क्षत्रिय अपनी ऊँची स्थिति बनाने में जुट गये।

यह वाद-विवाद बौद्ध-काल तक चलता रहा। बौद्ध-काल के साहित्य में जगह-जगह ब्राह्मणों की निन्दा की गई है। उपनिषद्-काल से लेकर बौद्ध-काल तक क्षत्रियों का प्राबल्य रहा, वे शारीरिक बल में ही नहीं, आध्यात्मिक-क्षेत्र में भी अपना सिक्का जमाने का प्रयत्न करते रहे। जातक-कथाओं में क्षत्रियों को सबसे उच्च वर्ण कहा गया, ब्राह्मणों के लिए 'नीच ब्राह्मण'-'तुच्छ-ब्राह्मण' आदि शब्द प्रयुक्त किये गये।

४. स्मृतियों तथा धर्मशास्त्रों के काल की जाति-व्यवस्था

(जन्म के आधार पर चार जातियाँ)

उपनिषदों के काल से लेकर बौद्ध-काल तक ब्राह्मणों तथा क्षत्रियों में अपनी-अपनी स्थिति को एक-दूसरे से ऊँचा कहने-कहलाने के प्रयत्न होते रहे, और इसमें क्षत्रियों का पक्ष प्रबल रहा। परन्तु इसके बाद स्मृतियों का काल आया। इस काल में ब्राह्मणों का पक्ष प्रबल हो गया और उनकी स्थिति समाज में सर्वोपरि मानी जाने लगी। यह किस प्रकार हुआ—यह बात कल्पना का विषय है परन्तु फिर भी उस कल्पना का थोड़ा-बहुत आधार है। वह आधार क्या है?

भारत मूलतः धर्म-प्रधान देश है और जो व्यक्ति या जो समुदाय सिर्फ़ धर्म-कार्य में लगा हुआ हो उसके सामने सिर झुकाना इस देश की परम्परा का स्वभाव है। यह बात अन्य देशों में भी पायी जाती है, प्राचीन-काल में तो विशेष रूप से पायी जाती थी। ब्राह्मणों का काम क्योंकि सिर्फ़ धर्म-कार्य था, क्षत्रियों का धर्म के क्षेत्र में केवल पदार्पण था, उनका असली क्षेत्र देश-रक्षा था, इसलिए अन्त में ब्राह्मणों को सर्वोपरि माना जाने लगा।

ब्राह्मणों की स्थिति उभर आने का दूसरा कारण यह था कि क्षत्रियों का प्रतिनिधि धर्म अब बौद्ध-धर्म हो चुका था, और बौद्ध-धर्म नास्तिकता का रूप धारण कर चुका था। भारत की भूमि में नास्तिकता को आधार बनाकर चलने वाले को सफलता नहीं मिल सकती थी क्योंकि यह भूमि अब तक मुख्य तौर पर आस्तिकता के लिए उपजाऊ रही है।

स्मृति-काल में जब ब्राह्मणों तथा क्षत्रियों की एक-दूसरे से बढ़ने की प्रतिस्पर्धा समाप्त हो चुकी थी और ब्राह्मणों को समाज का मूर्धन्य माना जाने लगा था, तब ब्राह्मणों ने अपने अधिकार को अक्षुण्ण बनाये रखने के लिए वर्ण-व्यवस्था को जाति-व्यवस्था का रूप दे दिया। इस कथन का क्या अर्थ है? इस कथन का यह अर्थ है कि अब तक तो वर्ण-व्यवस्था लचकीली व्यवस्था थी, इसका आधार जन्म न होकर कर्म था, यह 'अनावृत' (Open)-व्यवस्था थी, अब यह लचकीली न रही, इसका आधार कर्म न होकर जन्म हो गया, 'आवृत' (Closed)-व्यवस्था हो गई, जो जन्म का ब्राह्मण वह ब्राह्मण ही रहेगा, चाहे वह ब्राह्मण के कर्म करता हो या न हो, जो जन्म का शूद्र वह शूद्र ही रहेगा, चाहे वह कर्म से कितना ही पंडित क्यों न हो। इस समय जाति-व्यवस्था में जो ऊँच-नीच का भेद, बड़े-छोटे का भेद, अहंकार की भावना, श्रेणी-बद्धता (Hierarchy) पायी जाती है, अपने को जन्म से बड़े या छोटेपन की भावना पायी जाती है, यह वैदिक-युग की देन न होकर स्मृति-युग की देन है। इस समय स्मृतिकारों ने ब्राह्मणों तथा शूद्रों के प्रति क्या-क्या विधान बनाये, किस प्रकार जन्म के विचार को पुष्ट किया, अपने को बड़ा घोषित किया—यह निम्न उदाहरणों से स्पष्ट हो जाएगा।

"मुख से उत्पन्न होने के कारण ब्राह्मण सबसे बड़े हैं और सृष्टि के प्रभु या स्वामी हैं।"—(मनु० १-९३)

"देवता लोग ब्राह्मणों के मुख द्वारा ही भोजन करते हैं, इसलिए संसार में ब्राह्मण से बढ़कर कोई प्राणी नहीं।"--(मनु० १-९५)

"संसार में जो-कुछ है, सब ब्राह्मण का है क्योंकि जन्म से ही वह सबसे श्रेष्ठ है।"--(मनु १-१००)

"ब्राह्मण जो-कुछ भी खाता, पहनता और देता है, वह सब उसका अपना ही है। संसार के सब लोग ब्राह्मण की कृपा से ही खाते-पीते और लेते-देते हैं।"--(मनु० १-१०१)

स्मृति-काल में शूद्रों के सम्बन्ध में जो नियम बनाए गए वे अत्यन्त भेद-भाव को उत्पन्न करने वाले थे, तथा-कथित निम्न-जातियों पर अत्याचार करने वाले थे। उदाहरणार्थ, इन नियमों में कहा गया था कि ब्राह्मण निःसंकोच शूद्र का धन ले ले, क्योंकि शूद्र का अपना कुछ नहीं, उसका सब धन उसके स्वामी (ब्राह्मण) का है।--(मनु० ८-४१७)

मनुस्मृति, अध्याय ८, श्लोक २७० में लिखा है कि यदि शूद्र द्विजातियों को कड़ी अर्थात् चुभने वाली बात कहे तो उसकी जीभ काट डालनी चाहिए क्योंकि वह निकृष्ट अंग से उत्पन्न हुआ है।

इस समय के विधानों में शूद्रों को सब अधिकारों से वंचित किया गया, अन्यों के विषय में नहीं लिखा गया, इसका कारण यही हो सकता है कि श्रेणी-शृंखला में जो सबसे नीचे के स्तर पर था उसे जब सब अधिकारों से वंचित कर दिया गया, तो ऊपर के स्तरों के, वैश्यों तथा क्षत्रियों के अधिकार इसी तुलना में अपने-आप कम हो गये। सब से नीचे वाले को जब धकेला, तब उससे ऊपर वालों का भी अपेक्षाकृत उतना ही नीचा हो जाना स्वाभाविक था।

यद्यपि स्मृति-काल में जन्म की जाति का विचार प्रबल हो गया, तो भी इसका यह मतलब नहीं कि कर्म से वर्ण-व्यवस्था का विचार सर्वथा लुप्त हो गया। इस काल में दोनों विचार-धाराएँ आपस में टक्कर लेती रहीं, दोनों विचार विचारात्मक दृष्टि से तथा क्रियात्मक दृष्टि से इस समय पाये जाते हैं। स्मृतियों में जन्म से जाति की बात पाई जाती है, कर्म से जाति की बात भी पायी जाती है। दोनों प्रकार की बातों का पाया जाना सिद्ध करता है, कि यद्यपि इस काल में जन्म की प्रधानता हो चली थी, तब भी कर्म-सिद्धान्त को लेकर दोहाई देने वालों की कमी न थी। इतना ही नहीं कि विचार-क्षेत्र में दोनों प्रकार के लोग उस समय मौजूद थे, क्रिया के क्षेत्र में भी ऐसे लोगों की कमी नहीं थी जो ब्राह्मण होते हुए अन्य जातियों में ब्याह-शादी को अनुचित नहीं समझते थे। उस समय भी अनेक अन्तर्जातीय विवाह होते थे। ये अन्तर्जातीय विवाह दो तरह के थे--अनुलोम तथा प्रतिलोम। अनुलोम-विवाह वे थे जिनमें उच्च कुल का पुरुष नीच कुल की कन्या से विवाह करता था; प्रतिलोम-विवाह वे थे जिनमें नीच कुल का पुरुष उच्च कुल की कन्या से विवाह करता था। इस समय अनुलोम विवाह स्मृति द्वारा अनुमोदित समझे जाते थे, प्रतिलोम नहीं, परन्तु होते दोनों थे। उदाहरणार्थ, शिवपुराण (उत्तरार्ध,

अध्याय ३०) में लिखा है कि पिप्पलाद ब्राह्मण ने क्षत्रिया पद्मा से विवाह किया। देवी भागवत पुराण (स्कंध ४) में लिखा है कि विश्वामित्र ने देवलोक की अप्सरा मेनका से शकुन्तला को उत्पन्न किया जिसका राजा दुष्यन्त से विवाह हुआ। दुष्यन्त का पुत्र भरत हुआ जिससे इस देश का नाम भारत पड़ा। ये अनुलोम विवाहों के उदाहरण हैं। इसी प्रकार प्रतिलोम विवाह भी होते थे। उदाहरणार्थ, भागवत पुराण (स्कंध ९।२१) में लिखा है कि राजा नीप क्षत्रिय थे, उन्होंने ब्राह्मण शुक्राचार्य की पुत्री कृत्वी से विवाह किया जिससे ब्रह्मदत्त उत्पन्न हुआ। इसी कुल में मुद्गल उत्पन्न हुआ जिसके नाम पर ब्राह्मणों का मौद्गल्य गोत्र चला।

५. वर्तमान-काल की जाति-व्यवस्था

(जात-पाँत)

स्मृतियों तथा धर्मशास्त्रों के काल को भारतीय इतिहास का मध्य-युग कहा जा सकता है। मध्य-युग के बाद से वर्त्तमान-काल तक जाति-व्यवस्था की जटिलता दिनों-दिन बढ़ती गई। इस काल में जाति-व्यवस्था निश्चित रूप से कर्म-परक न रहकर जन्म-परक हो गई। जातियों के जन्म-परक होने के बाद अनुलोम तथा प्रतिलोम विवाहों का सर्वथा निषेध हो गया। प्रत्येक जाति अपनी जाति में ही विवाह-सम्बन्ध कर सकती थी, अपनी जाति के बाहर नहीं। ब्राह्मण ब्राह्मणों में ही विवाह-सम्बन्ध करता था, क्षत्रिय क्षत्रियों में, वैश्य वैश्यों तथा शूद्र शूद्रों में। जातियों के भोजन के सम्बन्ध में भी प्रतिबन्ध बने। रोटी-बेटी का व्यवहार अपनी जाति में सीमित हो गया। इस काल में प्रतिबन्ध के नियम इतने बढ़े कि अछूतपन की एक नवीन समस्या ने जन्म ले लिया। एक दृष्टि से यह कहना असंगत न होगा कि अछूतपन की समस्या जाति-व्यवस्था की ही उपज है। अभी तक चार जातियाँ थीं। अब प्रत्येक जाति में उप-जातियां बनने लगीं। प्रत्येक जाति तथा उप-जाति की अपनी-अपनी बिरादरी थी, जो बिरादरी के नियमों का उल्लंघन करता था उसे बिरादरी से बहिष्कृत कर दिया जाता था। इस बहिष्कार के भय के कारण जाति-उपजाति के समर्थकों का बल बढ़ता गया। इस समय ब्राह्मणों में गौड़, सारस्वत, सनाढ्य, सरयूपारी, कान्यकुब्ज आदि अनेक अवान्तर भेद हो गये; क्षत्रियों में चोपड़ा, बेरी, बुंजाही, सरीन, कपूर, खन्ना, कक्कड़ आदि अनेक अवान्तर भेद हो गये; वैश्यों में अग्रवाल, ओसवाल, मवाल, बारहसेनी, लोहिया आदि अनेक अवान्तर भेद हो गए। इन दोनों का आधार कहीं भौगोलिक है, कहीं और कुछ। उदाहरणार्थ, मत्स्य पुराण में पंजाब के हरियाना प्रान्त (रोहतक, पानीपत, करनाल, सोनीपत) तथा मारवाड़ एवं सरयू नदी के उत्तर के प्रदेश को गौड़ प्रदेश कहा गया है। इस प्रदेश के ब्राह्मण अपने को गौड़ ब्राह्मण कहने लगे और गौड़ों में ही रोटी-बेटी का व्यवहार करने लगे। सरस्वती नदी के किनारे रहने के कारण सारस्वत तथा कान्यकुब्ज (कन्नौज) में रहने के कारण कान्यकुब्ज ब्राह्मण हुए। ये लोग जब अपन-अपने प्रदेशों से चले भी गये तब भी अपने को उसी

नाम से पुकारते रहे। क्षत्रियों में बेरी जाति के लोग वे थे जिनका पूर्वज बेरी के नीचे पैदा हुआ। बुंजाही खत्री तथा सरीन खत्रियों की उत्पत्ति की भी एक कहानी है। बादशाह अलाउद्दीन खिलजी खत्रियों में विधवा-विवाह चलाना चाहते थे। कुछ खत्रियों ने इसका विरोध किया, और ५२ खत्रियों का एक प्रतिनिधि मंडल इस विरोध का आवेदन-पत्र लेकर बादशाह के पास गया। इन बावन खत्रियों की संतान बावनजी या 'बुंजाही' कहलाई, और जिन खत्रियों ने बादशाह के कानून को मान लिया वे 'शरअ आईन' कहलाये। यही 'शरअ आईन' बिगड़ कर 'सरीन' बन गया। लोहे के व्यापारी 'लोहिया' कहलाये, कपड़े के व्यापारी 'कापड़िया' कहलाने लगे। इस प्रकार कहीं भौगोलिक कारण से, कहीं व्यापार-धंधे के कारण से, कहीं अन्य किसी कारण से मध्य-युग से वर्त्तमान-युग तक जातियों-उपजातियों का विभाग दिनों-दिन बढ़ता चला गया और इन जातियों-उपजातियों के अपने-अपने विधि-विधान बनते चले गये जिनसे मनुष्य-मनुष्य तथा जाति-जाति में भेद बढ़ता चला गया। आज जाति-व्यवस्था अपने सम्पूर्ण दोषों के साथ हिन्दू-समाज को घेरे हुए है और एक बिलकुल 'आवृत' (Closed)-व्यवस्था बन गई है।

६. वर्तमान-काल में जाति-व्यवस्था में परिवर्त्तन या विगठन के तत्त्व

ऊपर हमने जो विवेचन किया उससे स्पष्ट है कि जाति-व्यवस्था का रूप सनातन-काल से एक-सा नहीं रहा। वैदिक-काल में इसका रूप आर्य और दास का था, उत्तर-वैदिक-काल में इसका रूप 'अनावृत वर्ण-व्यवस्था' (Open Caste System) का था, स्मृति-काल में इसका रूप 'आवृत जाति-व्यवस्था' (Closed Caste System) का हो गया, वर्त्तमान-काल में यह जाति-उपजातियों का रूप धारण कर गया। आज जाति-व्यवस्था फिर अनेक परिवर्त्तनों में से गुजर रही है, विगठित हो रही है। आज इस व्यवस्था में जो परिवर्त्तन हो रहे हैं, उनके अनेक कारण हैं, जिनमें से मुख्य-मुख्य कारण निम्न हैं :—

(क) समाजवादी विचारधारा (Socialism)—हमने देखा कि भारतीय-समाज के वर्गीकरण में तीन तत्त्व हैं—कर्म, जन्म तथा भेद-भाव। वर्ण-व्यवस्था तथा जाति-व्यवस्था दोनों में भेद-भाव का तत्त्व आधारभूत तत्त्व है। इन दोनों प्रकार की व्यवस्थाओं का अभिप्राय यह है कि मनुष्य-मनुष्य में भेद तो है और रहेगा, परन्तु वर्ण-व्यवस्था इस भेद का आधार कर्म (Effort) बतलाती है, जाति-व्यवस्था इस भेद का आधार जन्म (Birth) बतलाती है। मनुष्य-मनुष्य में जो भेद दिखाई देता है, वर्ण-व्यवस्था उस भेद के कारक-तत्त्व 'कर्म' पर बल देती है, जाति-व्यवस्था उस भेद के कारक-तत्त्व 'जन्म' पर बल देती है। जब तक 'व्यक्तिवाद' (Individualism) का बोलबाला था, तब तक 'कर्म' या 'जन्म' पर बल दिया जाता था, और मनुष्य-मनुष्य के भेद को स्वाभाविक

माना जाता था। आज समय बदल चुका है। आज 'व्यक्तिवाद' की जगह 'समाजवाद' (Socialism) का बोलबाला है। आज 'कर्म' या 'जन्म' का भेद तो क्या, हर प्रकार का भेद-भाव मिटाया जा रहा है, इसलिए वर्त्तमान-युग की विचार-धारा वर्ण-व्यवस्था तथा जाति-व्यवस्था दोनों को एक जबर्दस्त टक्कर दे रही है। आज की विचार-धारा का कहना यह है कि मनुष्य-मनुष्य में भेद जन्म या कर्म के कारण नहीं, यह भेद हमारा, समाज का बनाया हुआ है, और जैसे समाज ने इसे बनाया है वैसे समाज इसे दूर भी कर सकता है।

(ख) नगरीकरण तथा उद्योगीकरण (Urbanization and Commercialization)—जब देश में बड़े-बड़े नगर नहीं बने थे, छोटे गाँव या छोटे शहर थे, तब जाति-व्यवस्था का चल सकना आसान था। हर-कोई हर-दूसरे को जानता था। अगर किसी का हुक्का-पानी बन्द कर दिया गया, तो वह मुसीबत में फँस जाता था, इसलिए हर-कोई जाति के बन्धन में बँधा रहता था। अब बड़े-बड़े नगरों के बन जाने से कोई किसी को जानता-पहचानता नहीं, और जाति के बन्धनों को तोड़ देने से किसी का कुछ बनता-बिगड़ता नहीं। इसी लिए गाँवों में जहाँ छोटे समुदाय हैं, जहाँ वैयक्तिक-सम्पर्क हो सकता है, वहाँ जाति के बन्धन कठोर हैं, शहरों में वे बन्धन शिथिल हो जाते हैं। इसी प्रकार व्यापार के एक जगह केन्द्रित हो जाने से शहरों में भीड़-भड़क्का हो जाता है, अपने चूल्हे पर ही रोटी पका सकना कठिन हो जाता है, होटलों में लोग खाते हैं, रेलों में भंगी-चमार-ब्राह्मण एक-साथ कन्धे-से-कन्धा मिलाकर सफ़र करते हैं, व्यापार-धन्धे के लिए हर-किसी के सम्पर्क में आना पड़ता है—इन कारणों से भी जाति के बन्धन ढीले पड़ते जा रहे हैं।

(ग) आर्थिक-दृष्टिकोण की प्रधानता (Economic view of life)—आज जीवन के प्रति हमारा दृष्टिकोण आर्थिक होता चला जा रहा है। धन-सम्पत्ति में जो बड़ा है वह बड़ा, बिना पैसे वाला किसी काम का नहीं। इस हालत में नीच वंश का भी सम्पत्तिशाली होने से उच्च-स्थिति प्राप्त कर सकता है। आज धन सभी कमा सकते हैं—उच्च-कुल के भी, नीच-कुल के भी। जो धन कमा ले वह किसी खानदान का क्यों न हो, सब उसके साथ खाते-पीते हैं, उसके साथ उठते-बैठते हैं। आर्थिक-दृष्टिकोण की प्रधानता से जन्म की जाति-व्यवस्था अपने-आप ढीली पड़ती जा रही है, अगर कहा जाय कि 'जाति-प्रथा' (Caste system) के स्थान में 'वर्ग-प्रथा' (Class system) आती जा रही है, तो कोई अत्युक्ति नहीं। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र आदि जातियों के स्थान में धनी-निर्धन—ये वर्ग बनते जा रहे हैं, और जैसे कर्म की वर्ण-व्यवस्था के बाद जन्म की जाति-व्यवस्था आई, वैसे ही अब जाति-व्यवस्था के बाद वर्ग-व्यवस्था आ रही है, और इस सारे विकास की दिशा वर्ण से जाति, जाति से वर्ग और वर्ग से वर्ग-हीन समाज की तरफ़ जा रही है। अन्य देशों में तो यह प्रक्रिया हो ही रही है, अपने देश में भी सामाजिक-विकास का प्रवाह इसी दिशा की तरफ़ है।

(घ) आधुनिक-शिक्षा का प्रभाव—प्राचीन-शिक्षा और आधुनिक-शिक्षा में यह भेद है कि प्राचीन-शिक्षा ब्राह्मणों के हाथ में थी, नवीन-शिक्षा का संगठन भारत के अंग्रेज़ शासकों ने किया था। शिक्षा के ब्राह्मणों के हाथ में होने के कारण प्राचीन-शिक्षा में जाति-व्यवस्था के प्रति शिष्यों में अटूट श्रद्धा-भक्ति भर दी जाती थी और उस शिक्षा में पले हुए जाति-व्यवस्था को एक अटल-व्यवस्था समझते थे। अछूतों को दूसरे लोग ही अछूत नहीं समझते थे, अछूत स्वयं अपने को पिछले जन्म के किन्हीं पापों के कारण अछूत समझते थे। अंग्रेज़ों के युग में आधुनिक-शिक्षा का प्रचार हुआ, शिक्षा ब्राह्मणों की ही बपौती नहीं रही। प्राचीन-शिक्षा धर्म-मूलक थी, आधुनिक-शिक्षा धर्म-निरपेक्ष है। इसका जहाँ धर्म-मात्र को धक्का लगा, वहाँ जाति-व्यवस्था को भी इसका धक्का पहुँचा और इस शिक्षा में पले हुओं की इस व्यवस्था में श्रद्धा नहीं रही। इसके अतिरिक्त अंग्रेज़ी-शिक्षा ने कुछ नवीन विचारों को जन्म दिया जो जाति-व्यवस्था के विरोधी विचार थे। उदाहरणार्थ, जाति-व्यवस्था मनुष्य-मनुष्य के बीच भेद-भाव पर टिकी हुई थी, वर्त्तमान-शिक्षा ने एकता, समानता, विश्व-बन्धुता, स्वतन्त्रता, लोकतन्त्रता आदि पश्चिम की हवा को यहाँ ला बहाया। इन नवीन-विचारों के प्रभाव से भी जाति-व्यवस्था के बन्धन ढीले पड़ने लगे।

(ङ) समाज-सुधार आन्दोलन—आधुनिक-शिक्षा का प्रभाव यह हुआ कि समाज-सुधार आन्दोलन उठ खड़ा हुआ। बंगाल में ब्राह्मो-समाज तथा उत्तर-भारत में आर्य-समाज ने समाज-रूपी वृक्ष में घुन की तरह लगे हुए अन्ध-विश्वासों को निकाल कर बाहर करना शुरू किया। इन अन्ध-विश्वासों में जन्ममूलक जात-पाँत भी थी। इसी आन्दोलन के उग्र-रूप में पंजाब में जात-पाँत-तोड़क-मंडल का जन्म हुआ जिसके सदस्य यह व्रत लेते थे कि वे जन्म की जाति को तोड़ कर विवाह करेंगे।

(च) राजनैतिक आन्दोलन—आधुनिक-युग में देश को स्वतन्त्र करने के लिए महात्मा गांधी ने जो राजनैतिक आन्दोलन उठाया, अस्पृश्यता-निवारण उसका एक अभिन्न अंग था। यह हम पहले ही कह आये हैं कि जन्म की जात-पाँत का एक आवश्यक परिणाम अस्पृश्यता का विचार था। जब अस्पृश्यता के विचार को धक्का लगा तब जाति-व्यवस्था का ढीला पड़ जाना स्वाभाविक था। इस दृष्टि से राजनैतिक आन्दोलन ने जाति-व्यवस्था के विघटन में बहुत बड़ा हिस्सा लिया।

(छ) राज्य की तरफ़ से कानूनी हस्तक्षेप—जाति-व्यवस्था के अनुसार अन्तर्जातीय विवाह नहीं हो सकते थे, और अस्पृश्य कहे जाने वाले व्यक्तियों को मन्दिरों में अन्य द्विजातियों के समान प्रवेश करने का, उनके कुओं से पानी भरने का अधिकार नहीं था। आधुनिक-युग में इस प्रकार की रूढ़ियों को राज्य भी बर्दाश्त नहीं कर सकता था और इन सब बातों को रोकने के लिए कानून बनने लगे जिनसे जाति-व्यवस्था की जड़ें हिल गईं। उदाहरणार्थ, अन्तर्जातीय-विवाहों को

वैध करार देने के लिए १८७२ में 'विशेष-विवाह-अधिनियम' (Special Marriage Act) बना। १९२३ तथा १९५४ में इस कानून में फिर संशोधन हुआ। इस कानून की चर्चा आगे के एक अध्याय में की गई है। जाति के एकाधिकार पर प्रहार करने के लिए १९५० में 'जाति निर्योग्यता निवारक अधिनियम' (Caste Disabilities Removal Act) बना, और १९५५ में 'अस्पृश्यता (अपराध) अधिनियम' (The Untouchability—Offence—Act) बना जिसके अनुसार किसी प्रकार की भी अस्पृश्यता को क्रियात्मक रूप देने वालों को अपराधी घोषित कर दिया गया। उक्त अधिनियम में कहा गया है कि अगर कोई किसी को सार्वजनिक स्थान पर जाने से या स्नान करने से जात-पाँत की वजह से रोकेगा तो उसे छः महीने की सजा और ५०० रु० तक का दण्ड दिया जा सकेगा।

इस प्रकार हमने देखा कि भारतीय समाज का वर्गीकरण पहले आर्य तथा दस्यु के रूप में, फिर वर्ण-व्यवस्था के रूप में, फिर जाति-व्यवस्था के रूप में से होता हुआ अन्य देशों की तरह अब वर्ग-व्यवस्था का रूप धारण करता जा रहा है। हमने यह भी देखा कि जाति-व्यवस्था अपने पहले रूप में अब नहीं टिक सकती, इसका विगठन होता जा रहा है, और वर्त्तमान-युग में ऐसे तत्त्व बढ़ते जा रहे हैं, जो इसके वर्त्तमान रूप को परिवर्तित करते जा रहे हैं। इन सब परिवर्त्तनों के हो जाने से ऐसा समय दूर नहीं रहेगा जब जाति-व्यवस्था नाम-मात्र की रह जायगी।

१५

चार वर्ण तथा जाति-भेद

(FOUR CASTES AND SUB-CASTES)

गुण-कर्म के आधार पर बनी वर्ण-व्यवस्था किसी समय जन्म के आधार पर चलने वाली जाति-व्यवस्था बन गई—यह हमने जगह-जगह लिखा है। इस सम्बन्ध में कई प्रश्न उठ खड़े होते हैं जिनकी मीमांसा करना आवश्यक है। वे प्रश्न हैं :

(क) इस बात का क्या प्रमाण है कि वर्ण-व्यवस्था गुण-कर्म पर आश्रित थी ?

(ख) अगर गुण-कर्म पर आश्रित थी तो प्रत्येक वर्ण के क्या गुण-कर्म थे ?

(ग) चार जातियों से अनेक उप-जातियों की उत्पत्ति कैसे हुई ?

१. गुण-कर्म पर आश्रित वर्ण-व्यवस्था के प्रमाण

यजुर्वेद, का ३१वां अध्याय पुरुष-सूक्त कहलाता है। उसमें एक मंत्र आता है जिसमें चार वर्णों के नाम पाये जाते हैं। वह मन्त्र निम्न है :

ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद् बाहू राजन्यः कृतः।
ऊरू तदस्य यद्वैश्यः पद्भ्यां शूद्रोऽजायत।।

इस मंत्र में समाज की एक विराट् पुरुष के रूप में कल्पना की गई है। समाज मानो एक जीता-जागता विशाल-काय का पुरुष है। पुरुष के जैसे मुख होता है, वैसे समाज-रूपी पुरुष के मुख ब्राह्मण हैं। मुख का काम क्या है ? मुख जो-कुछ खाता है अपने पास नहीं रखता, चबा कर आगे कर देता है। ब्राह्मण भी कोई भौतिक-वस्तु अपने पास नहीं रखता। मुख का काम बोलना है, ज्ञान के कारण ही तो मनुष्य बोलता है। समाज में ब्राह्मण का काम भी ज्ञान का उपार्जन करना है। पुरुष के जैसे दो बाहु होते हैं, उनसे वह अपनी तथा दूसरों की रक्षा करता है, इसी प्रकार समाज-रूपी पुरुष के क्षत्रिय लोग बाहु के समान हैं, वे अपने समाज की और दूसरे किसी पीड़ित समाज की रक्षा करते हैं। क्षत्रिय का काम रक्षा करना है, यही इसका गुण-कर्म है। पुरुष के जैसे पेट तथा जंघाएँ होती हैं, वैसे समाज-रूपी विराट् पुरुष के वैश्य पेट तथा जंघाएँ हैं। पेट का काम खाये भोजन को पचाना, उसे अपने पास न रखकर उसका रस-रक्त बनाकर सारे शरीर में पहुँचा देना है, जंघाओं का काम उत्पादन है, इसी प्रकार समाज-रूपी शरीर में वैश्य का काम पेट की तरह धन-सम्पत्ति को अपने पास बटोर कर न रख कर उसे समाज के

लाभ के लिए लगा देना तथा समाज की सम्पत्ति का उत्पादन करना है। पुरुष के जैसे पाँव होते हैं वैसे समाज-रूपी पुरुष के शूद्र अर्थात् मजदूर-वर्ग पाँव हैं। पाँवों का काम मेहनत-मजदूरी करना है, शूद्र का काम भी मेहनत-मजदूरी है। इस मंत्र का यह भाव है, और इसी भाव को लेकर वर्ण-व्यवस्था के विचार का कभी हिन्दू-समाज में सूत्रपात हुआ था। इस मंत्र से स्पष्ट है कि वर्ण-व्यवस्था का आधार गुण-कर्म था, जन्म नहीं था।

इसी भाव को गीता में श्रीकृष्ण ने कहा है--'चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुण-कर्म-विभागशः' —अर्थात् गुण-कर्म के विभाग को सामने रख कर चार वर्णों का निर्माण मैंने किया है।

२. गुण-कर्म के बदलने से वर्ण बदल जाता था

वर्ण-व्यवस्था का आधार गुण-कर्म था, जन्म नहीं था—इसका सब से बड़ा प्रमाण यह है कि गुण-कर्म बदलने से वर्ण बदल जाता था। अगर वर्ण का आधार कर्म न होकर जन्म ही होता तो वर्ण बदल नहीं सकता। इस बात के प्रमाण प्राचीन ग्रन्थों में यत्र-तत्र-सर्वत्र पाये जाते हैं। महाभारत में लिखा है:

एकवर्णमिदं पूर्वं विश्वमासीद् युधिष्ठिर!
कर्म-क्रिया-विभेदेन चातुर्वर्ण्यं प्रतिष्ठितम्॥
न विशेषोऽस्ति वर्णानां सर्वं ब्राह्ममिदं जगत्।
ब्रह्मणा पूर्वसृष्टं हि कर्मभिर्वर्णतां गतम्॥

अर्थात्, हे युधिष्ठिर! इस जगत् में पहले एक ही वर्ण था, गुण-कर्म के विभाग से पीछे चार वर्ण किये गये। वर्णों में कोई भी वर्ण किसी प्रकार की विशेषता नहीं रखता, क्योंकि यह सम्पूर्ण जगत् ब्रह्ममय है। पहले सब को ब्रह्मा ने ही उत्पन्न किया, पीछे कर्मों के भेद से वर्णों की उत्पत्ति हुई।

शुरू में एक वर्ण था—इसका क्या अर्थ है? इसका अर्थ यही हो सकता है कि शुरू-शुरू में मनुष्यों में कोई विशेष भेद नहीं था, सब एक प्रकार का काम करते थ, सब लोग सभी काम कर लेते थे, कर्म-भेद ही नहीं था, इसलिए नहीं था क्योंकि उस समय का समाज जटिल नहीं था, सरल था। जब समाज विषम हो जाता है, तरह-तरह के काम-धंधे पैदा हो जाते हैं, तभी तो कर्म-भेद पैदा होता है। इसी लिए इन श्लोकों में जगह-जगह लिखा है कि पहले वर्ण एक था, फिर चार हो गये। जब चार वर्ण हो गये तब भी हर-एक का काम लचकीला था। पढ़ाने-लिखाने का काम करने वाला ब्राह्मण कहलाता था, परन्तु अगर वह सेना में भर्त्ती हो जाता था तब वह क्षत्रिय कहलाता था। वर्ण-भेद जाति-भेद की तरह कठोर नहीं था, इसलिए कठोर नहीं था क्योंकि वर्ण का अर्थ तो काम था, और काम मनुष्य का भिन्न-भिन्न हो सकता है।

भविष्य पुराण, १, ४२, ४९ में वसिष्ठ मुनि के विषय में लिखा है कि वे वेश्या के गर्भ से हुए परन्तु तप करने के कारण ब्राह्मण कहलाये:

गणिका-गर्भ-संभूतो वसिष्ठश्च महामुनिः।
तपसा ब्राह्मणो जातः संस्कारस्तत्र कारणम्॥

महाभारत में वन-पर्व में ३१२ अध्याय में यक्ष-युधिष्ठिर संवाद आता है जिसमें यक्ष युधिष्ठिर से पूछता है—हे युधिष्ठिर! ब्राह्मणता किस प्रकार प्राप्त होती है? क्या कुल से, शील से, स्वाध्याय से या गुरु से पढ़ने से? युधिष्ठिर ने उत्तर दिया—हे यक्ष! न कुल से, न स्वाध्याय से, न गुरु-मुख से अध्ययन से। एकमात्र शील, सदाचार से ही ब्राह्मणत्व प्राप्त होता है, शील नष्ट हुआ तो ब्राह्मणत्व नष्ट हुआ—

प्रश्न: राजन् कुलेन वृत्तेन स्वाध्यायेन श्रुतेन वा।
ब्राह्मण्यं केन भवति प्रब्रूह्येतत् सुनिश्चितम्॥१०५॥
उत्तर: शृणु यक्ष कुलं तात न स्वाध्यायो न च श्रुतम्।
कारणं हि द्विजत्वे च वृत्तमेव न संशयः॥१०६॥
वृत्तं यत्नेन संरक्ष्यं ब्राह्मणेन विशेषतः।
अक्षीणवृत्तो न क्षीणो वृत्ततस्तु हतो हतः॥१०७॥

आपस्तम्ब धर्म-सूत्र में लिखा है कि धर्मानुकूल आचरण करने से नीच वर्ण उच्च वर्ण हो जाता है, और अधर्माचरण करने से उच्च वर्ण नीच वर्ण हो जाता है:

धर्मचर्यया जघन्यो वर्णः पूर्वं पूर्वं वर्णमापद्यते जाति-परिवृत्तौ।
अधर्मचर्यया पूर्वो वर्णः जघन्यं जघन्यं वर्णमापद्यते जाति-परिवृत्तौ॥

भविष्य-पुराण में लिखा है कि व्यास धींवरी से, पराशर श्वपाक से, शुक शुकी से, कणाद उल्लूकी से, ऋषि शृंग हरिणी से, वसिष्ठ वेश्या से, मन्दपाल मुनि कैवर्तन से, माण्डूक्य ऋषि मंडूकी से उत्पन्न हुए और द्विज कहलाये। ऐतरेय ब्राह्मण ग्रन्थ के प्रणेता इतरा के पुत्र थे, इतरा का अर्थ है नीच जाति की स्त्री। नीच जाति की स्त्री से उत्पन्न होकर उन्होंने एक महान् ग्रन्थ को रचा और ब्राह्मण की पदवी प्राप्त की।

इसी विचार-धारा का प्रतिबिम्ब हमें मनुस्मृति के उस श्लोक में दीख पड़ता है जिसमें लिखा है कि शूद्र ब्राह्मण हो जाता है, ब्राह्मण शूद्र हो जाता है, इसी प्रकार क्षत्रिय-वैश्य आदि के विषय में कहा जा सकता है कि उनका वर्ण कर्मानुसार बदलता रहता है:

शूद्रो ब्राह्मणतामेति ब्राह्मणश्चैति शूद्रताम्।
क्षत्रियाज्जातमेवन्तु विद्याद्वैश्यात्तथैव च॥

मनुस्मृति के १०वें अध्याय में लिखा है कि द्राविड़ आदि जातियाँ जो नीच तथा शूद्र समझी जाती हैं, किसी समय उच्च वर्ण की थीं, परन्तु कार्य बिगड़ जाने से वे नीच वर्ण की हो गईं:

शनकैस्तु क्रियालोपादिमाः क्षत्रियजातयः।
वृषलत्वं गता लोके ब्राह्मणादर्शनेन च॥४३॥
पौण्ड्रकाश्चौड्रद्रविडाः कम्बोजा यवनाः शकाः।
पारदाः पल्लवाः चीनाः किराता दरदाः खशाः॥४४॥

ऊपर जो-कुछ लिखा गया है उससे स्पष्ट है कि वर्ण का विभाग कर्म से था, जन्म से नहीं था। तो फिर इन चार वर्णों के गुण-कर्म क्या थे, ब्राह्मण-क्षत्रिय-वैश्य-शूद्र के क्या-क्या कर्त्तव्य थे ? इन कर्त्तव्यों का विस्तृत वर्णन स्मृतियों में पाया जाता है जो निम्न प्रकार है :

३. चारों वर्णों के कर्तव्य

(क) ब्राह्मणों के गुण-कर्म—ब्राह्मणों के कर्त्तव्य क्या थे, इस सम्बन्ध में मनुस्मृति में विशेष रूप से वर्णन मिलता है। यह स्मृति ही सब से अधिक प्रामाणिक स्मृति है। उसके अनुसार ब्राह्मणों के गुण-कर्म निम्न प्रकार थे :

सम्मानाद् ब्राह्मणो नित्यमुद्विजेत विषादिव।
अमृतस्येव चाकांक्षेदवमानस्य सर्वदा ॥२–१६२॥
वेदमेव सदाभ्यस्येत् तपस्तप्यन् द्विजोत्तमः।
वेदाभ्यासो हि विप्रस्य तपः परमिहोच्यते ॥२–१६६॥
अध्यापनमध्ययनं यजनं याजनं तथा।
दानं प्रतिग्रहश्चैव षट् कर्माण्यग्रजन्मनः ॥१०–७५॥
दानग्रहसमर्थोऽपि प्रसंगं तत्र वर्जयेत्।
प्रतिग्रहेण ह्यस्याशु ब्राह्मं तेजः प्रशाम्यति ॥४–१८६॥

अर्थात्, ब्राह्मण को चाहिए कि वह सम्मान को विष के समान समझता हुआ उससे सदा डरता रहे और अपमान को अमृत समझता हुआ उसकी सदा कामना करता रहे। द्विज को चाहिए कि सदा वेद का अभ्यास करता रहे, ज्ञान का सम्पादन करता रहे, यह उसका तप है। ब्राह्मण का काम पढ़ना और पढ़ाना, यज्ञ करना और यज्ञ कराना, दान देना और दान लेना—यह छः प्रकार का काम है, परन्तु दान लेने का अवसर प्राप्त होने पर भरसक प्रयत्न यही करे कि दान न ले क्योंकि दान ग्रहण करने से उसका ब्राह्म तेज नष्ट हो जाता है।

(ख) क्षत्रिय के गुण-कर्म—मनुस्मृति के अध्याय १, श्लोक ८९ में क्षत्रिय के गुण-कर्म का वर्णन करते हुए लिखा है :

प्रजानां रक्षणं दानमिज्याध्ययनमेव च।
विषयेष्वप्रसक्तिश्च क्षत्रियस्य समासतः ॥

अर्थात्, प्रजा की रक्षा करना, दान देना, यज्ञ करना, अध्ययन करना, विषयों में न फँसना—ये संक्षेप में क्षत्रियों के गुण-कर्म हैं।

गीता (१८–४३) में क्षत्रिय के गुण-कर्म का विवेचन करते हुए इसी बात को दोहराते हुए लिखा है :

शौर्यं तेजो धृतिर्दाक्ष्यं युद्धे चाप्यपलायनम्।
दानमीश्वरभावश्च क्षात्रं कर्म स्वभावजम् ॥

(ग) वैश्य के गुण-कर्म—मनु-स्मृति, १ अध्याय, ९० श्लोक में वैश्य के गुण-कर्म के सम्बन्ध में लिखा है :

पशूनां रक्षणं दानमिज्याध्ययनमेव च।
वणिक्पथं कुसीदं च वैश्यस्य कृषिमेव च।।

अर्थात्, गाय-बैल आदि पशुओं की रक्षा, उनका बढ़ाना, दान, अग्नि-होत्र-यज्ञ आदि करना, पढ़ना-लिखना, वणिज-व्यापार करना, व्याज पर रुपया लेना-देना और खेती करना—ये वैश्य के गुण-कर्म हैं।

(घ) शूद्र के गुण-कर्म—मनु-स्मृति, १ अध्याय, ९१ श्लोक में शूद्र के गुण-कर्म के विषय में लिखा है :

एकमेव तु शूद्रस्य प्रभुः कर्म समादिशत्।
एतेषामेव वर्णानां शुश्रूषामनसूयया।।

अर्थात्, प्रभु ने शूद्र के लिए तो एक ही कर्म का आदेश दिया है, और वह आदेश यह है कि उक्त वर्णों की बिना ईर्ष्या के सेवा-शुश्रूषा करे।

४. तो फिर जन्म से वर्ण की बात क्यों पायी जाती है?

हमने देखा कि वर्ण-व्यवस्था गुण-कर्म से थी, जन्म से नहीं थी, यहां तक कि वर्ण बदल भी जाता था, गुण-कर्म बदलने से शूद्र ब्राह्मण हो जाता था, ब्राह्मण शूद्र हो जाता था। तो फिर, क्या जन्म से वर्ण-व्यवस्था के प्रमाण मनुस्मृति आदि ग्रन्थों में नहीं पाये जाते? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि पाये जाते हैं, जैसे गुण-कर्म से वर्ण-व्यवस्था के प्रमाण पाये जाते हैं, वैसे जन्म से भी वर्ण-व्यवस्था के प्रमाण पाये जाते हैं। अगर यह कहा जाय कि गुण-कर्म की अपेक्षा जन्म से वर्ण-व्यवस्था के प्रमाण अधिक पाये जाते हैं, तो कोई अत्युक्ति न होगी। इस परस्पर-विरोध का क्या कारण है? इसका कारण यह है कि भारत की सामाजिक-व्यवस्था के इतिहास में दो बातें रही हैं। शुरू के वैदिक-काल में तो गुण-कर्म से वर्ण-व्यवस्था थी, बाद के स्मृतियों के काल में जन्म से जाति-व्यवस्था आ गई, वर्ण-व्यवस्था का स्थान जाति-व्यवस्था ने ले लिया। स्मृतियों में कहीं गुण-कर्म की वर्ण-व्यवस्था का वर्णन पाया जाता है, कहीं जन्म की जाति-व्यवस्था का वर्णन पाया जाता है, स्मृतियों में ये दोनों परस्पर-विरोधी बातें पायी जाती हैं—इसका कारण यह है कि ये स्मृति-ग्रन्थ न तो किसी एक स्मृतिकार के बनाये हुए हैं, न किसी एक काल के लिखे हुए हैं। पहले की बात वर्ण-व्यवस्था थी, वह भी स्मृतिकार ने लिख दी, पीछे की बात जाति-व्यवस्था थी, वह भी स्मृतिकार ने लिख दी। स्मृतियाँ, पुराण आदि ग्रन्थ एक तरह की एनसाइक्लोपीडिया थीं, जिनमें अपने ढंग से वे लोग अपने समय की बातों को लिखते रहे। ज्यों-ज्यों समय बदलता गया, इन स्मृतियों में और पुराणों में नई बातों का भी समावेश होता गया और क्योंकि पुरानी और नई बातें एक-दूसरे के विरोध में थीं, इसलिए इन ग्रन्थों में परस्पर विरोधी बातें भी शामिल होती गईं। यही कारण है कि जिन स्मृतियों और पुराणों में गुण-कर्म के आधार पर वर्ण-व्यवस्था का वर्णन पाया जाता है उन्हीं में जन्म के आधार पर जाति-व्यवस्था का वर्णन भी पाया जाता है। अगर हम इस बात को ध्यान में रखें कि वर्ण-व्यवस्था आदि-काल की हिन्दू-समाज की व्यवस्था

थी, जाति-व्यवस्था बाद की सामाजिक-व्यवस्था है, और इन दोनों का एन्साइ-क्लोपीडिया की तरह स्मृतियों तथा पुराणों में वर्णन है, तो किसी प्रकार का विरोध नहीं रहता।

५. चार जातियों से अनुलोम तथा प्रतिलोम विवाहों द्वारा अनेक जातियाँ उत्पन्न हुईं

अब प्रश्न रह जाता है कि अगर शुरू-शुरू में चार वर्ण थे, चार जातियाँ थीं, तो उनसे अनेक जातियाँ (उप-जातियाँ—Sub-Castes) कैसे उत्पन्न हो गई? इसका उत्तर तो कुछ ऊपर के वर्णन में आ गया है। ऊपर हम स्मृतिकारों के शब्दों में लिख आये हैं कि शुरू-शुरू में एक वर्ण था, गुण-कर्म से चार वर्ण हो गये। गुण-कर्म से चार वर्ण हो गये, परन्तु जब वर्ण का विभाग गुण-कर्म पर न रहा, जन्म पर हो गया, तब जन्म के कारण चार से हजारों हो गये। वे कैसे?

यह तो स्पष्ट है कि शुरू-शुरू में जब वर्ण थे, जातियाँ नहीं थीं, तब जाति-भेद या उप-जातियाँ भी नहीं थीं। जाति-भेद या उप-जातियाँ जातियों के बाद बनीं। जातियों के बनने में अनेक कारण थे जिनमें से मुख्य कारण प्रजातीय था, नस्ल का था, रक्त की शुद्धता का था। जब हिन्दू-सामाजिक-संगठन में नस्ल के प्रजातीय विचार ने, रक्त की शुद्धता के विचार ने प्रवेश किया, तब रक्त की शुद्धता को बनाये रखने के लिए दो नियम बने। पहला यह कि जातियों के विवाह अपनी जाति में ही होंगे, और दूसरा यह कि हिन्दुओं में बाहर की जाति में नहीं होंगे। इन्हीं दो नियमों को 'अन्तर्विवाह' (Endogamy) तथा 'बर्हिविवाह' (Exogamy) कहा जाता है। 'अन्तर्विवाह' का अभिप्राय यह है कि प्रत्येक व्यक्ति अपनी जाति में ही विवाह करे। हिन्दुओं में जातियाँ चार थीं, इसलिए प्रश्न उठ खड़ा हुआ कि इन जातियों में आपस में विवाह का क्या नियम हो? अगर जाति का आधार जन्म है, नस्ल है, रक्त की शुद्धता है, तो यह तो स्वयंसिद्ध बात थी कि ब्राह्मणों के ब्राह्मणों में हो, क्षत्रियों के क्षत्रियों में ही, वैश्यों के वैश्यों में ही विवाह करने का नियम बना होगा, इसलिए यह नियम बना होगा जिससे इन भिन्न-भिन्न जातियों के रक्त का आपस में सम्मिश्रण न हो। परन्तु इस सम्मिश्रण को रोक कौन सकता था? संसार में सदा प्रतिबन्धक नियमों के होते हुए भी प्रेम-बंधन या काम-वासना के कारण रक्त का सम्मिश्रण होता रहा है। अमरीका में नीग्रो जाति को कितनी घृणा से देखा जाता है, परन्तु वहाँ भी गोरे अमरीकन पुरुष तथा काली नीग्रो स्त्री का सम्बन्ध हो ही जाता है। इतना ही नहीं, काले नीग्रो पुरुष तथा गोरी अमरीकन स्त्री का भी सम्बन्ध हो जाता है। हिन्दू-समाज में भी यद्यपि अपनी जाति में ही विवाह करने के कड़े नियम बने थे, तो भी भिन्न-भिन्न जातियों में विवाह हो ही जाते थे। इस परिस्थिति का मुकाबिला करने के लिए अन्तर्जातीय विवाहों के सम्बन्ध में अनुलोम तथा प्रतिलोम विवाह के नियम बनाये गये। अनुलोम-विवाह का अर्थ था कि उच्च-कुल का व्यक्ति नीच-कुल की किसी

भी जाति की कन्या से विवाह करे, प्रतिलोम-विवाह का अर्थ था कि नीच-कुल का व्यक्ति किसी भी उच्च-कुल की कन्या से विवाह करे। अनुलोम-विवाह की स्मृति-कारों ने आज्ञा दी थी, प्रतिलोम-विवाह को निषिद्ध घोषित किया था। हर हालत में शुद्ध सन्तान तो वही समझी जाती थी जो अपनी जाति के अन्दर विवाह करने से पैदा होती थी, अनुलोम-विवाह को हीन-विवाह समझा जाता था और प्रतिलोम को तो बिलकुल ही निकृष्ट समझा जाता था। परन्तु निकृष्ट समझने से क्या होता है, लोग अपनी जाति में तो विवाह करते ही थे, प्रेम-वश या काम-वश अनुलोम-विवाह भी करते थे, प्रतिलोम-विवाह भी करते थे। इन अनुलोम तथा प्रतिलोम विवाहों से जो सन्तान उत्पन्न होती थी, उसकी समाज में क्या स्थिति थी? हमारा विचार है कि अनुलोम-विवाहों से जो सन्तानें उत्पन्न होती थीं, उन्हें हिन्दू-समाज अपने में खपा लेता था और इसी से जाति-भेद या उप-जातियों (Sub-Castes) का निर्माण हुआ। उप-जाति से हमारा अभिप्राय उन सब जातियों से है जो हिन्दू-समाज में चार जातियों के अलावा पैदा हो गईं। इन्हें उप-जाति कहा जाय, या अन्य जातियाँ कहा जाय, परन्तु ये कुछ अंश तक परिणाम थीं अनुलोम-विवाहों से उत्पन्न संतानों की। प्रतिलोम-विवाह निषिद्ध था, इन प्रतिलोम-विवाहों से जो सन्तान उत्पन्न होती थीं, उन्हें समाज में नहीं खपाया जाता था, इन विवाहों की सन्तान को समाज में से बहिष्कृत कर दिया जाता था, इन्हें अस्पृश्य या अछूत कहा जाता था, 'जाति-भ्रष्ट' (Outcast) समझा जाता था।

अनुलोम-विवाहों की सन्तानों से भिन्न-भिन्न जातियों या उप-जातियों का निर्माण हुआ, इससे जाति-भेद चला—इसका यह अभिप्राय नहीं कि भिन्न-भिन्न जातियों, अर्थात् उप-जातियों के निर्माण का यही एक कारण था। उप-जातियाँ (भिन्न-भिन्न जातियाँ) अनेक कारणों से बनीं। पेशों से बनीं, भौगोलिक कारणों से बनीं, प्रजातीय कारणों अर्थात् नस्ल को शुद्ध रखने के उद्देश्य से भी बनीं। पेशों के कारण कुम्हार (कुम्भकार—घड़ा बनाने वाले), कहार (क—पानी, हर—लाने वाले) आदि बने, भौगोलिक कारणों से सारस्वत (सरस्वती नदी के किनारे रहने वाले), कन्नौजिये (कन्नौज में रहने वाले) आदि बने, साथ ही अनुलोम-विवाहों से जो सन्तान उत्पन्न हुई उससे भी उप-जातियाँ या भिन्न-भिन्न जातियाँ बनीं। क्षत्रिय पिता तथा ब्राह्मणी माता से जो सन्तान होती थी उसे महाभारत के अनुशासन पर्व के अनुसार 'सूत' कहा गया है, क्षत्रिय पिता तथा शूद्र माता की सन्तान को 'उग्र' कहा गया है। पराशर संहिता, अध्याय ११ में नाई की उत्पत्ति ब्राह्मण पिता और शूद्र माता से बताई गई है और इसी लिए कई नाई अपने को न्यायी-ब्राह्मण कहते हैं। सम्भव है, इस प्रकार अनुलोम-विवाहों से जो सन्तान होती थीं, उन्हें हिन्दू-समाज में कोई-न-कोई जाति, उप-जाति देकर खपा लिया जाता था। जब इन जातियों, उप-जातियों की संख्या इतनी बढ़ गई कि नयी-नयी जातियाँ, उप-जातियाँ बनाना कठिन हो गया, तब यह व्यवस्था कर दी गई कि अनुलोम-विवाह में पिता की जो जाति होगी सन्तान की वही जाति मानी जायगी—ब्राह्मण के ब्राह्मणी,

क्षत्रियाणी, वैश्य तथा शूद्र कन्या से उत्पन्न सन्तान ब्राह्मण ही कहलायेगी या ब्राह्मण की सारस्वत, गौड़, कन्नौजिया आदि जो जाति, उप-जाति होगी वही जाति, उप-जाति सन्तान की होगी। इसी प्रकार क्षत्रिय, वैश्य आदि के सम्बन्ध में भी अनुलोम विवाह में यही व्यवस्था की गई। परन्तु यह व्यवस्था बाद को चली होगी, शुरू में नहीं चली होगी, क्योंकि अगर शुरू से ही यह व्यवस्था चली, तो ब्राह्मण के ब्राह्मणी से और ब्राह्मण के क्षत्रियाणी, वैश्य या शूद्र कन्या से सन्तान में क्या कोई भेद ही न रहा होगा ? रक्त की शुद्धता को मानने वाले ब्राह्मण के ब्राह्मणी तथा ब्राह्मण के अन्य जातियों की कन्याओं से उत्पन्न हुई सन्तान में भेद अवश्य मानते होंगे, और उस भेद को उन्होंने ब्राह्मण के ब्राह्मणी से सन्तान को ब्राह्मण तथा अन्य जाति की कन्याओं से सन्तान को उप-जातियों के रूप में प्रकट किया होगा, परन्तु जब ये जातियाँ, उप-जातियाँ बहुत बढ़ गईं, तब यह व्यवस्था कर दी गई होगी कि अनुलोम-विवाह में पिता की जाति ही सन्तान की जाति मानी जायगी, अन्य कोई जाति नहीं, क्योंकि अबतक उप-जातियाँ इतनी बढ़ गई होंगी कि उनके और अधिक बढ़ने की गुंजाइश नहीं रही होगी।

जो-कुछ हो, यह सब हमारी कल्पना है। यह कल्पना अन्य कल्पनाओं की तरह ठीक भी हो सकती है, ग़लत भी, परन्तु इस कल्पना पर गवेषणा करने की आवश्यकता अवश्य है। इस कल्पना का आधार यह है कि हिन्दू-सामाजिक-संगठन में अपनी जाति में विवाह ही श्रेष्ठ माना जाता रहा है, इतर जाति में विवाह चाहे वह अनुलोम हो, चाहे प्रतिलोम---हर हालत में अपनी जाति में विवाह से निचले दर्जे का रहा है। अगर वह निचले दर्जे का रहा है, तब अनुलोम-विवाह में, भले ही वह शास्त्र-सम्मत हो, पिता की जाति सन्तान को कैसे दी जा सकती है ? तब तो अपनी जाति के भीतर तथा जाति के बाहर के अनुलोम-विवाह में कोई भेद ही न हुआ। इस शंका का समाधान इसी प्रकार हो सकता है कि अनुलोम-विवाह अपनी जाति के भीतर के विवाह की कोटि का नहीं था, उससे नीचे दर्जे का था, परन्तु अनुलोम-विवाह की सन्तान को हिन्दू-सामाजिक-संगठन में कोई जाति, उप-जाति का नाम देकर अपने सामाजिक-संगठन का अंग बना लिया गया था। जो प्रतिलोम-विवाह करते थे, उन्हें तथा उनकी सन्तान को हिन्दू-सामाजिक-संगठन से बहिष्कृत कर दिया जाता था, उन्हें अस्पृश्य, अछूत कहा जाता था।

अनुलोम-विवाह को हिन्दू-सामाजिक-संगठन में स्वीकृति क्यों दे दी गई थी, प्रतिलोम-विवाह को स्वीकृति क्यों नहीं दी गई--इस सम्बन्ध में निम्न कल्पनाएँ हैं :--

(क) सुप्रजननिक-युक्ति (Eugenic argument)---कुछ लोगों का कहना है कि अनुलोम-विवाह की स्वीकृति इसलिए दे दी गई थी क्योंकि उस समय के स्मृतिकार समझते थे कि ऊँची जाति के पुरुष के नीची जाति की स्त्री से सन्तान उत्पन्न करने में सन्तान में ऊँची जाति के ही गुण आते हैं। आज भी ऊँची नस्ल के घोड़े को नीची नस्ल की घोड़ी से मिलाकर ऊँची नस्ल पैदा करने का यत्न होता है, परन्तु नीची नस्ल के घोड़े को ऊँची नस्ल की घोड़ी से नहीं मिलाया जाता।

जिन लोगों ने सुप्रजननिक-आधार पर इस व्यवस्था को चलाया वे प्रजातीय-वाद के शिकार रहे होंगे। वर्त्तमान-गवेषणाओं से जैसा हम पहले देख चुके हैं, प्रजातीयवाद निराधार सिद्ध हो चुका है।

(ख) आर्यों के आक्रान्ता होने की युक्ति ('Aryans were invaders'-argument)—अनुलोम-विवाहों से उत्पन्न सन्तानों को हिन्दू-संगठन में खपा लेने की एक यह युक्ति दी जाती है कि आर्य लोग बाहर से आये थे, आक्रान्ता थे, यहाँ आकर उन्होंने विजय प्राप्त की थी। आक्रान्ता लोग दूसरों की लड़कियों को तो ले लेते हैं, अपनी लड़कियों को नहीं देते। उनके ऐसा करने का कारण भी बहुत अंश तक 'सुप्रजननिक' ही होता है, वही कारण जिसका हम अभी ऊपर उल्लेख कर आये हैं। आर्य लोग भी यहाँ के रहने वालों की लड़कियाँ ले लेते थे, उन्हें अपनी लड़कियाँ नहीं देते थे। इसी आधार पर अनुलोम तथा प्रतिलोम विवाह का विचार चला होगा।

आर्य लोग बाहर से आये थे—यह कल्पना अन्य कल्पनाओं की तरह एक कल्पना ही है। इस के विरोध में एक दूसरी कल्पना यह है कि आर्य यहीं के निवासी थे, उन्हीं में श्रेष्ठ व्यक्तियों को आर्य तथा अश्रेष्ठ व्यक्तियों को अनार्य या दस्यु कहा जाता था।

६. रक्त-सम्मिश्रण से जातियों, उप-जातियों के उत्पन्न होने के प्रमाण

अनुलोम-विवाहों से जातियों-उपजातियों के निर्माण की जो कल्पना हमने लिखी है उसके कुछ प्रमाण भी हैं। उदाहरणार्थ, मनुस्मृति के १०वें अध्याय में निम्न श्लोक आते हैं :—

ब्राह्मणाद् वैश्यकन्यायां अम्बष्ठो नाम जायते।
निषादः शूद्रकन्यायां यः पारशव उच्यते ॥ ८ ॥
क्षत्रियात् शूद्रकन्यायां क्रूराचारविहारवान्।
क्षत्रशूद्रवपुर्जन्तुरुग्रो नाम प्रजायते ॥ ९ ॥
विप्रस्य त्रिषु वर्णेषु नृपतेर्वर्णयोर्द्वयोः।
वैश्यस्य वर्णे चैकस्मिन् षडेतेऽपसदाः स्मृताः ॥१०॥
क्षत्रियाद् विप्रकन्यायां सूतो भवति जातितः।
वैश्यान्मागधवैदेहौ राजविप्राङ्गनासुतौ ॥ ११ ॥
शूद्राद् आयोगवः क्षत्ता चाण्डालश्चाधमो नृणाम्।
वैश्य-राजन्य-विप्रासु जायन्ते वर्णसंकराः ॥१२॥

मनुस्मृति के उक्त श्लोकों में जो-कुछ लिखा है उसके अनुसार ब्राह्मण से वैश्य-कन्या द्वारा 'अम्बष्ठ', ब्राह्मण से शूद्र-कन्या द्वारा 'निषाद' या 'पारशव' अर्थात् शव या मृत के समान आदि जातियों की उत्पत्ति का वर्णन है। क्षत्रिय से शूद्र-कन्या में उत्पन्न सन्तान 'उग्र' कहलाती है, ब्राह्मण द्वारा क्षत्रिय-वैश्य-शूद्र कन्या में, क्षत्रिय

द्वारा वैश्य-शूद्र कन्या में और वैश्य द्वारा शूद्र कन्या में जो सन्तान हो वह 'अपसद' कहलायेगी। इसी प्रकार प्रतिलोम-विवाहों के सिलसिले में उक्त श्लोकों म क्षत्रिय-पिता तथा ब्राह्मण-कन्या की सन्तान से 'सूत' की उत्पत्ति का वर्णन है। वैश्य द्वारा क्षत्रिय-कन्या की सन्तान 'मागध' और ब्राह्मण-कन्या की सन्तान 'वैदेह' कही गई है। शूद्र द्वारा वैश्य-कन्या की सन्तान 'आयोगव', क्षत्रिय-कन्या की सन्तान 'क्षत्ता' तथा ब्राह्मण-कन्या की सन्तान 'चण्डाल' कहलाती है।

एक अन्य स्मृति में क्षत्रिय-पिता तथा ब्राह्मण-कन्या की सन्तान को 'भूमिहार'-ब्राह्मण कहा गया है जो निम्न श्लोक से स्पष्ट है :

क्षत्रियस्य च वीर्येण ब्राह्मणस्य च योगिनि।
भूमिहार्य्यभवत्पुत्रो ब्रह्म-क्षत्रस्य वेपभृत् ॥

औशनस-स्मृति में कुम्हार की उत्पत्ति का वर्णन करते हुए लिखा है कि ब्राह्मण-पिता से वैश्य-कन्या में चोरी से जो सन्तान उत्पन्न हो वह कुम्हार है। श्लोक निम्न है :—

वैश्यायां विप्रतश्चौर्यात् कुम्भकारः स उच्यते ॥

ऊपर हमने जो-कुछ लिखा है उससे यह तो स्पष्ट है कि जातियों, उप-जातियों की उत्पत्ति अनुलोम-प्रतिलोम-विवाहों द्वारा हुई है, परन्तु यह भी स्पष्ट है कि स्मृतिकार इस बात में सहमत नहीं हैं कि किस-किस जाति के संयोग से कौन-सी जाति, उप-जाति उत्पन्न हुई। इसी लिए कोई स्मृति क्षत्रिय-पिता और ब्राह्मण-कन्या की सन्तान को 'सूत', और कोई स्मृति इस सन्तान को 'भूमिहार' कहती है। यह सब-कुछ होते हुए भी जाति-संकरता से जातियों, उप-जातियों का प्रादुर्भाव हुआ—यह स्पष्ट है। यह भी हो सकता है कि अनुलोम तथा प्रतिलोम दोनों प्रकार के विवाहों की सन्तान को हिन्दू-सामाजिक-संगठन में सम्मानित स्थान दे दिया गया हो, और हमने जो यह कल्पना की है कि प्रतिलोम-विवाहों से उत्पन्न सन्तान को अस्पृश्य या अछूत (Untouchable) कहा गया था—यह कल्पना ग़लत हो, और अस्पृश्यों की उत्पत्ति का कोई अन्य ही कारण हो। अस्पृश्यों के सम्बन्ध में हम विस्तृत विवेचना 'अस्पृश्यता' के अध्याय में करेंगे।

आज के युग में ये जातियाँ, उप-जातियाँ इतनी जंजाल बन गई हैं कि कानून द्वारा इनके लगाये प्रतिबन्धों को हटा दिया गया है, और 'हिन्दू-विवाह तथा तलाक अधिनियम' द्वारा अनुलोम-प्रतिलोम आदि सब झगड़ों को समाप्त कर दिया गया है।

१६

वर्ण-व्यवस्था

(VARNA VYAVASTHA)

हमने पिछले कुछ अध्यायों में देखा कि जाति-व्यवस्था क्या है, और उसका वर्ण-व्यवस्था से क्या सम्बन्ध है। भारत की मूलभूत सामाजिक-व्यवस्था तो जाति-व्यवस्था न होकर वर्ण-व्यवस्था ही थी। जो भी संस्थाएँ जाति के नाम से बनीं, उन सब का आधार वर्ण-व्यवस्था का ही विचार था। यह वर्ण-व्यवस्था का विचार क्या था---इसे जानना जरूरी है क्योंकि इस के शुद्ध रूप को जाने बग़ैर हम भारत की सामाजिक-रचना के मुख्य आधार को नहीं समझ सकते।

वर्ण-व्यवस्था इस देश की संस्कृति तथा इस देश की सामाजिक-रचना का प्राण थी। परन्तु कौन-सी वर्ण-व्यवस्था? क्या वह वर्ण-व्यवस्था जो ब्राह्मण को क्षत्रिय से, क्षत्रिय को वैश्य से, वैश्य को शूद्र से पृथक् करती है, जो मनुष्य-समाज में छूत और अछूत का भेद उत्पन्न करती है, जिसके परिणामस्वरूप ब्राह्मण तथा ब्राह्मणेतर का संग्राम छिड़ा हुआ है, जो जाति-पाँति के झगड़े की जड़ है, जो जन्म को कर्म से प्रधानता देती है? इस समय देश की जागृति का रुख मुख्यतः वर्णों की स्वार्थपूर्ण दुर्भेद्य चट्टान के टुकड़े-टुकड़े करने की तरफ़ बढ़ रहा है। आज इस जाति-पाँति को तोड़ने के लिए जागृति का प्रत्येक प्रेमी व्याकुल हो रहा है। लोग समझ रहे हैं कि जाति-पाँति की रचना ब्राह्मणों के दिमाग़ की उपज है, उन्होंने स्वार्थ-वश अधिकारों पर अनुचित तौर पर एकाधिपत्य जमाने के लिए इसे रचा था, इससे उन्हें अखंड अधिकार प्राप्त हो जाते हैं। वर्ण-व्यवस्था के नाम से हमारे देश में जो सामाजिक अत्याचार होते रहे, मनुष्य मनुष्य का शत्रु रहा, उसे देखते हुए तो यही समझ में आता है कि देश को उन्नति के मार्ग पर ले जाना हो, तो इसे एकदम भुला देना होगा, जाति के बालकों के मस्तिष्क से मिटा देना होगा, लुप्त कर देना होगा, इतिहास की वस्तु बना देना होगा, तभी हम आगे बढ़ सकेंगे। परन्तु क्या सही अर्थों में यही वर्ण-व्यवस्था है?

आर्य-संस्कृति ने जिस वर्ण-व्यवस्था को जन्म दिया था वह, वह वर्ण-व्यवस्था नहीं थी जो आज हमारे समाज में चली हुई है---आज जिस चीज़ को वर्ण-व्यवस्था कहा जा रहा है उसे जितनी जल्दी मिटा दिया जायगा उतनी जल्दी समाज उन्नति के मार्ग पर चलेगा। दूसरों को उनके जन्मसिद्ध अधिकारों से वंचित करने की इस अव्यवस्था को वर्ण-व्यवस्था कहना भूल है। आज तो वर्गहीन-समाज

(Classless society) का निर्माण ही हमारा लक्ष्य है, परन्तु 'वर्ण', 'वर्ग' नहीं है। वर्ण-व्यवस्था का प्रारम्भ बड़े गहन सिद्धान्तों पर हुआ था। आज सदियाँ बीत जाने पर वर्ण-व्यवस्था का नाम ही रह गया है, असली चीज़ कभी की समाप्त हो चुकी है। वर्ण-व्यवस्था किन्हीं स्वार्थी ब्राह्मणों के दिमाग़ की उपज नहीं थी, यह मानव-समाज के उन महान् आध्यात्मिक सिद्धान्तों का वर्गीकरण तथा नियमन था जिनके बिना कोई समाज एक क़दम भी आगे नहीं बढ़ सकता। वे सिद्धान्त क्या थे?

यह सब-कोई जानता है कि मनुष्य इकला नहीं रह सकता, वह दूसरों के साथ रहना चाहता है, वह सामाजिक प्राणी है। हमारी वैयक्तिक आवश्यकताएँ अकेले रहते हुए पूर्ण नहीं हो सकतीं, इसी लिए पारस्परिक सहायता के लिए मनुष्य समूह-रूप से मिल कर 'समुदाय'—'समाज'—उत्पन्न कर लेता है। उन समुदायों के नागरिक अनेक होने के कारण अपनी-अपनी शक्ति के अनुसार काम को बाँट लेते हैं। इस प्रकार 'श्रम-विभाग' तथा 'परस्पर-सहयोग' (Division of Labour and Mutual Co-operation) से काम चल निकलता है। ज्यों-ज्यों एक आदमी एक ही काम के लिए अपना समय देता है, त्यों-त्यों वह उसे दूसरों की अपेक्षा अधिक कुशलता तथा आसानी से कर लेता है। उसकी सन्तान उस काम को जन्मते ही सीखने लगती है, अतः उसकी सन्तान के लिए वह काम और भी आसान हो जाता है।

१. 'वर्ण-व्यवस्था' और 'श्रम-विभाग' एक वस्तु नहीं हैं

मनुष्य की प्राथमिक आवश्यकताएँ खाना-पीना, कपड़ा और मकान होती हैं, इसलिए प्रारम्भ में श्रम-विभाग का अभिप्राय भौतिक-आवश्यकताओं को पूर्ण करने के लिए ज़रूरी श्रम के विभाग से ही होता है। भौतिक-आवश्यक सामग्री को 'पूँजी' कहा जा सकता है, उसके बँटवारे के साधन को 'श्रम' कहा जा सकता है, अतः समाज की प्रारम्भिक अवस्था में एक प्रकार से श्रम-विभाग द्वारा ही पूँजी का विभाग होता है। यदि समाज को ऐसे ही विकसित होने दिया जाय, 'श्रम-विभाग' का सिद्धान्त ही समाज का विकास करता चला जाय, समाज भी भौतिक-आवश्यकताओं तक अपने को सीमित रखे, भौतिक-आवश्यकताओं से ऊपर उठ कर समाज के विकास की कोई दूसरी दिशा भी हो सकती है—खाने-पीने, कपड़े के सिवा समाज के विकास में कोई और तत्त्व भी हो सकते हैं—इसे न माना जाय, तोसमाज का संगठन 'श्रम-विभाग' और 'पूँजी-विभाग' को ही सामने रखकर होगा, अर्थ-शास्त्र ही हमारे अध्ययन का मुख्य विषय होगा, पूँजीवाद, समाजवाद, कम्यूनिज़्म, लेबर, स्ट्राइक, मालिक, मज़दूर—ये समस्याएँ ही हमारी सबसे बड़ी समस्याएँ होंगी।

भौतिक-आवश्यकताओं को पूर्ण करना मनुष्य-जीवन के लिए आवश्यक है, परन्तु मनुष्य-जीवन इन्हीं में समाप्त नहीं हो जाता। भौतिक-विकास एकांगी विकास है, और सिर्फ़ इसी पर शक्ति केन्द्रित करने का परिणाम समाज के लिए भयंकर होता है। भौतिक-विकास से पूँजी का अपने-आप असमान-विभाग हो जाता

है। श्रम-विभाग को अनियमित चलने देने का आवश्यक परिणाम पूंजी का असमान-विभाग है। जिस समाज में पूंजी का असमान-विभाग होगा, उसमें पूंजी का समान-विभाग करने के लिए समय-समय पर उत्पात मचते रहेंगे तथा पूंजीपतियों और श्रमियों के झगड़े भी उठते रहेंगे। जिन देशों में समाज का संगठन केवल भौतिक-आवश्यकताओं को आधार बनाकर किया गया है, वे समाज-विद्रोह की अच्छी उपजाऊ भूमि हैं, क्योंकि श्रम से पूंजी का जो असमान-विभाग हो जाता है उसका निपटारा करने के लिए ग़रीबों का ख़ून खौल उठता है। जो समाज श्रम द्वारा पूंजी अथवा भौतिक-आवश्यकताओं के सम या विषम विभाग के सिद्धान्त पर आश्रित होगा उसमें श्रम या पूंजी के विभाग की स्वाभाविक बीमारियों का इलाज करने के लिए प्रकृति अपने उपायों का अवलम्बन अवश्य करेगी, चाहे उसे ख़ून की नदियाँ ही क्यों न बहानी पड़ें!

भारत के समाज-शास्त्रियों ने अपने समाज का विकास अन्धी प्रकृति पर नहीं छोड़ा था। उनके समाज की रचना केवल भौतिक-आवश्यकताओं को दृष्टि में रख कर श्रम-विभाग के सिद्धान्त के अनुसार नहीं हुई थी। समाज-विषयक उनकी दृष्टि एकांगी या अधूरी नहीं थी। उन्होंने समाज का विकास अन्धी प्रकृति के हाथ में छोड़ने के स्थान पर अपने हाथों में ले लिया था। इसमें सन्देह नहीं कि भौतिक-आवश्यकताओं को पूर्ण करना, श्रम द्वारा पूंजी का विभाग करना भी उनके समाज-निर्माण का एक आवश्यक अंग था, परन्तु उनके लिए जीवन का अभिप्राय भौतिक-आवश्यकताओं को पूर्ण करने-मात्र से बहुत-कुछ अधिक था। वे समझते थे कि समाज को केवल पूंजीपति या श्रमी—इन दो भागों में विभक्त कर देना समाज के आप-से-आप हो रहे, अन्ध-विकास (Unconscious development of society) का परिणाम है, इसका अन्त श्रेणी-युद्ध तथा समाज-विप्लव (Class-war and revolution) में होता है। वे यह भी समझते थे कि समाज के विकास को अपने हाथ में लेकर इस प्रकार चलाया जा सकता है, जिससे समाज को श्रेणी-युद्ध या विप्लव से बचाया जा सके। समाज के इसी विकास को भारत की संस्कृति में 'वर्ण-व्यवस्था' का नाम दिया गया था।

२. श्रम-विभाग का आधार 'आर्थिक', वर्ण-व्यवस्था का आधार 'मनोवैज्ञानिक' है

जो लोग वर्ण-व्यवस्था की श्रम-विभाग के सिद्धान्त से तुलना करते हैं, वे भारत की संस्कृति के मूल-तत्त्वों को नहीं समझते। इस देश की संस्कृति में 'श्रम' का विचार आश्रम-व्यवस्था में रखा था, वर्ण-व्यवस्था में नहीं। 'श्रम' का अर्थ है, परिश्रम, मेहनत। ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ तथा संन्यास—ये चार श्रम थे, चार प्रकार की मेहनत थे जो आत्मा को जीवन-पथ पर आगे-आगे ले जाते थे। इनमें कर्म को नहीं छोड़ा जाता था, कर्म के लिए तो श्रम किया जाता था, तभी इन्हें, 'आ-श्रम' अर्थात् चारों तरफ़ से श्रम-ही-श्रम कहा जाता था। वर्ण-शब्द

तो 'वृञ् वरणे'—वरण करना, चुनना—इस धातु से बना है। प्रत्येक मनुष्य में स्वाभाविक तौर पर जो चार प्रकार की प्रवृत्तियाँ हैं उनमें से अपने स्वभाव को देख कर वह किसी एक को चुन लेता है। वर्ण-विभाग चार पेशे या चार व्यवसाय नहीं हैं, ये चार प्रकार की मनोवैज्ञानिक प्रवृत्तियाँ हैं। वर्ण-व्यवस्था के अनुसार, मनुष्य की भौतिक-आवश्यकताओं के पहलू को, आर्थिक पहलू को ही नहीं, सम्पूर्ण मनुष्य को देखा गया है। वर्ण-व्यवस्था का सिद्धान्त, समाज के ध्येय को सम्मुख रखते हुए, उसके अभीष्ट विकास का सिद्धान्त है। खाना-पीना-कपड़ा ही सब-कुछ नहीं, मनुष्य इससे बहुत-कुछ ऊँचा है, शरीर ही सब-कुछ नहीं, वह शरीर का अधिष्ठाता, उसका स्वामी है। श्रम तथा पूँजी शरीर की रक्षा के लिए हैं, परन्तु फिर, शरीर तो अपने लिये नहीं, शरीर आत्मा के लिये है। व्यक्तिरूप से प्रत्येक मनुष्य को आत्मा की तरफ़ जाना है। वर्ण-व्यवस्था मनुष्य को सामूहिक रूप से शरीर से आत्मा की तरफ़ ले जाने का सिद्धान्त है। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र—चार वृत्तियाँ नहीं, मानव की चार प्रवृत्तियाँ हैं, आत्मा के जीवन-यात्रा में जाने की चार दिशाएँ हैं। इनमें एक प्रवृत्ति, एक दिशा, खाना-पीना-कपड़ा भी है, परन्तु यही तो सब-कुछ नहीं। हमारा सब-कुछ, हमारा ध्येय तो आत्मा का विकास है। खाना-पीना-कपड़ा वैश्य-प्रवृत्ति है, आत्मा का विकास इससे बहुत-कुछ बढ़ कर है। भारत की संस्कृति के दृष्टि-कोण में प्रत्येक मानव को जीवन-यात्रा में आत्मा का विकास करना है। जो काम प्रत्येक को करना है वही तो अन्त में जाकर मानव-समाज को करना है, क्योंकि मानव के सामूहिक-विकास का नाम ही सामाजिक-विकास है। व्यक्ति-रूप में मानव के विकास का लक्ष्य आत्मा का विकास है, तो सामूहिक-रूप में मानव-समाज के विकास का लक्ष्य इसके सिवा और क्या हो सकता है? इस विकास की तरफ़ जाना ही समाज में ब्राह्मण-प्रवृत्ति को जगाना है।

३. चार मनोवैज्ञानिक प्रवृत्तियाँ

इस बात को जरा और अधिक स्पष्ट समझने की जरूरत है। मनुष्य में चार प्रवृत्तियाँ हैं, इन्हीं चार के आधार पर मनुष्य-समाज में भारतीय संस्कृति ने चार प्रवृत्तियाँ मानी हैं। प्रवृत्तियाँ चार क्यों हैं, और कैसे? प्रवृत्तियों का चार में विभाग संसार के मौलिक-तत्त्वों पर किया गया है। सांख्य-शास्त्र के अनुसार सत्तामात्र के आधार में सत्त्व, रज, तम—ये तीन मौलिक-तत्त्व हैं। इसी को 'सत्त्वरजस्तमसां साम्यावस्था प्रकृतिः'—सत्त्व, रज, तम की समावस्था का नाम प्रकृति, इनकी विषमावस्था का नाम विकृति, अर्थात् 'यह संसार'—ऐसा कहा है। सृष्टि की रचना के यही सूक्ष्म तत्त्व मन की रचना करते हैं जिनसे मन सात्त्विक, राजसिक तथा तामसिक कहलाता है। मनोविज्ञान के ये तीन तत्त्व समाज-शास्त्र में जाकर चार बन जाते हैं। आर्य-संस्कृति के समाज-शास्त्रियों ने सांख्य के मनोविज्ञान के तीन तत्त्वों के सिद्धान्त को लेकर समाज का विभाग सात्त्विक, सात्त्विक-राजसिक, राजसिक-तामसिक तथा तामसिक—इस प्रकार

चार प्रवृत्तियों को आधार बनाते हुए—ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र—इन चार वर्णों के रूप में कर दिया है। ये चारों पेशे नहीं, व्यवसाय नहीं, अपितु मनुष्य की मनोवैज्ञानिक प्रवृत्तियों के चार मुख्य विभाग हैं। संसार भर के पेशे, व्यवसाय, इन विभागों में से वैश्य-विभाग के अन्तर्गत समा जाते हैं। भारतीय अध्यात्म-तत्त्व (Metaphysics) से ही भारतीय मनोविज्ञान (Psychology) ने अपने सिद्धान्तों को स्थिर किया, इसी मनोविज्ञान को आधार बनाकर भारत की संस्कृति के समाज-शास्त्र (Sociology) ने मनुष्य की स्वाभाविक-प्रवृत्तियों को सामने रख कर समाज के ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र—ये चार विभाग किये। मानव-समाज की प्रवृत्तियों का, उसकी स्वाभाविक दिशाओं का यह वर्गीकरण है। सात्त्विक-प्रवृत्ति वाला व्यक्ति, जिसकी जीवन के प्रति आध्यात्मिक-दृष्टि है ब्राह्मण है। सत्त्वगुण तथा रजोगुण का सम्मिश्रण क्षात्र-प्रवृत्ति है, इसमें सत्त्वगुण के साथ रजोगुण की प्रधानता है। ब्राह्मण तथा क्षत्रिय-प्रवृत्ति के लोग समाज-सेवा का जो कार्य करते हैं वह इसलिए नहीं करते क्योंकि यह उनका पेशा है, आजीविका का साधन है। वे इन कार्यों को इसलिए करते हैं क्योंकि उनके जीवन का आधारभूत-तत्त्व आत्मा का विकास है और वही उन्हें अपने 'मस्तिष्क' तथा 'पौरुष' से समाज-सेवा के कार्य में प्रेरित करता है। उनका आत्मा स्वार्थ से परार्थ के मार्ग पर जा रहा है, विषमता से समता के मार्ग पर जा रहा है, अनेकता से एकता के मार्ग पर जा रहा है, प्रकृति में भटकने के स्थान पर अपने स्वरूप में जा रहा है, अपने विकास के मार्ग पर आगे बढ़ रहा है। उनकी सेवा निष्काम होती है, समाज उनकी भौतिक-आवश्यकताओं को पूर्ण करता है। ब्राह्मण-प्रवृत्ति वाले के लिए तो यहाँ तक कहा गया है कि वह समाज-सेवा करता हुआ भूखा मरने लगे, तो 'शिल' तथा 'उञ्छ' से निर्वाह कर ले, परन्तु माँगे नहीं—'शिलोञ्छमप्याददीत विप्रोऽजीवन्यतस्ततः'। बहुत दिनों के लिए भोजन-सामग्री इकट्ठी करके भी न रखे। स्वाधीन रहता हुआ निष्काम-वृत्ति से समाज की सेवा करे। ग़रीबी में ही अमीरी समझे। क्षत्रिय-प्रवृत्ति वाले के लिये भी धन की लालसा उसका क्षेत्र नहीं है। उसकी राजसिक-प्रवृत्तियाँ सत्त्वगुण की तरफ़ ही जा रही हैं। रजोगुण के कारण उसमें क्रियाशीलता की प्रधानता है, परन्तु उसकी सम्पूर्ण क्रियाशीलता का रुख सत्त्वगुणी है। रजोगुण तथा तमोगुण मिलकर वैश्य-प्रवृत्ति को बनाते हैं, इसमें रजोगुण की अपेक्षा तमोगुण प्रधान है। जैसे ब्राह्मण तथा क्षत्रिय-प्रवृत्ति में निष्कामता है, वैसे वैश्य-प्रवृत्ति में सकामता है। तामसिक प्रवृत्ति को शूद्र-प्रवृत्ति कहा गया है।

आर्य-संस्कृति के जिस विचार को हमने अभी सांख्य के शब्दों में कहा, उसे वर्तमान मनोविज्ञान की परिभाषा में भी कहा जा सकता है। जीव दो प्रकार के होते हैं—उद्बुद्ध तथा अनुद्बुद्ध। उद्बुद्ध-जीव तीन प्रकार के होते हैं—ज्ञान-प्रधान, क्रिया-प्रधान, इच्छा-प्रधान। जो मस्तिष्क से समाज की सेवा करते हैं, वे निष्काम-प्रवृत्ति वाले सात्त्विक जीव ज्ञान-प्रधान होने के कारण ब्राह्मण कहलाते हैं;

जो हाथ से समाज की सेवा करते हैं वे निष्काम राजस-जीव क्रिया-प्रधान होने के कारण क्षत्रिय कहलाते हैं; जो उदर से, खाने-पीने के दृष्टि-कोण को मुख्यता देकर समाज की सेवा करते हैं वे सकाम तमःप्रधान राजस-जीव इच्छा के प्रबल होने के कारण वैश्य कहलाते हैं। यह तो उद्‌बुद्ध-जीवों की बात हुई, परन्तु जो अनुद्‌बुद्ध-अवस्था के जीव होते हैं वे सकामता, जड़ता तथा तमोगुण के प्रधान होने केकारण शूद्र कहलाते हैं। मनुष्य में ज्ञान (Knowing), क्रिया (Willing) तथा इच्छा (Feeling) की प्रधानता के कारण उसका ज्ञान-प्रधान, क्रिया-प्रधान तथा इच्छा-प्रधान—यह सत्त्वरजस्तमसात्मक-विभाग करके वर्ण-व्यवस्था की आधार-शिला रखी गई है। इसकी रचना में अध्यात्म-शास्त्र तथा मनोविज्ञान-शास्त्र के सिद्धान्त काम कर रहे हैं। समाज का यह विभाग, यह वर्गीकरण, जानते हुए, समझते हुए, समाज को मानो अपने हाथ में लेकर किया गया है, समाज को यों ही विकसित होने के लिए अपने भाग्य पर नहीं छोड़ा गया। मनुष्य की व्यक्ति-रूप से जो स्वाभाविक, आधार-भूत चार प्रवृत्तियाँ हैं, उन्हें सामाजिक-रूप में समझने, और समाज के विकास में नियुक्त करने के प्रयास का नाम वर्ण-व्यवस्था है।

४. श्रम-विभाग वैश्य-प्रवृत्ति का अंग है

ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र को चार पेशे समझना भूल है। क्या प्राचीन आर्यों में चार ही पेशे थे, उनके चार ही व्यवसाय थे? पेशे तो अनन्त हो सकते हैं। जैसा अभी कहा गया, ये चार विभाग पेशों के, वृत्तियों (Professions) के नहीं, प्रवृत्तियों (Tendencies) के हैं। इन चार प्रवृत्तियों में से एक प्रवृत्ति वह है जिसे वैश्य-प्रवृत्ति कहा जाता है। मनुष्य की वैश्य-प्रवृत्ति ही श्रम-विभाग (Division of labour) के रूप में प्रकट होती है। इस प्रवृत्ति का व्यक्ति सब-कुछ व्यापारिक दृष्टि से देखता है, और जीवन के आर्थिक प्रश्नों को हल करने में ही लगा रहता है। वैश्य के जीवन को ही पेशे या व्यवसाय का जीवन कहा जा सकता है, ब्राह्मण तथा क्षत्रिय को नहीं, इसलिए वैश्य-प्रवृत्ति तथा श्रम-विभाग का सिद्धान्त एक ही वस्तु है। परन्तु, क्योंकि वैश्य-प्रवृत्ति वर्ण-व्यवस्था का चौथाई हिस्सा है; वैश्य-प्रवृत्ति के अलावा भारत की संस्कृति में सामाजिक-विकास की तीन और प्रवृत्तियाँ मानी गई हैं, इसलिए श्रम-विभाग का सिद्धान्त वर्ण-व्यवस्था के केवल चौथाई हिस्से को छूता है। वर्ण-व्यवस्था ही श्रम-विभाग नहीं है। वर्ण अर्थात् 'प्रवृत्तियाँ' (Tendencies) चार हैं, श्रम अर्थात् 'वृत्तियाँ' (Professions) अनन्त हैं। भारतीय संस्कृति में अनन्त श्रमों का नाम वैश्य-प्रवृत्ति है। ब्राह्मण-प्रवृत्ति और क्षत्रिय-प्रवृत्ति की तरफ़ अभी तो मनुष्य-समाज ने कदम भी नहीं रखा। भारतीय संस्कृति में केवल चार पेशे नहीं थे, आजकल की तरह हजारों पेशे थे, परन्तु उन सब को एक वैश्य-प्रवृत्ति के नाम से पुकारा जाता था। 'वर्ण' का अर्थ पेशा या व्यवसाय नहीं है—इसका अर्थ है 'वृञ् वरणे'—वरण करना, चुनना। चुनने का अभिप्राय पेशे के चुनने से नहीं, पेशा तो जीवन की भौतिक-आवश्यकताओं को सामने रख कर चुना जाता है, चुनने का अभिप्राय

प्रवृत्ति अथवा स्वभाव के अनुकूल अपने जीवन-पथ को चुनने से है, वह पथ जो आत्मा के विकास के लिए अधिक उपयुक्त है। वर्ण का अर्थ 'वृत्ति' नहीं, 'प्रवृत्ति' था। ये प्रवृत्तियाँ चार समझी जाती थीं, जिनमें से आर्थिक-प्रवृत्ति एक थी। वेद पढ़ने अथवा सेना में भर्त्ती होने का उद्देश्य भी यदि रुपया कमाना होगा, तो वह वैश्य-प्रवृत्ति में ही गिना जायगा, ब्राह्मण तथा क्षत्रिय-प्रवृत्ति में नहीं। जो लोग पैसा कमाने के लिए पढ़ाते-लिखाते हैं, पैसे के लिए सेना में भर्त्ती होकर दूसरे मुल्कों में जाकर बेगुनाहों को गोली का शिकार बनाते हैं, भले ही वे अपनी जान खतरे में डालते हों, वे न ब्राह्मण हैं, न क्षत्रिय। भारतीय संस्कृति की परिभाषा में पैसा कमाने के लिए कुछ भी करने वाला वैश्य है। प्रवृत्ति ही मुख्य वस्तु है, क्योंकि यही आन्तरिक है, वास्तविक है, यही आत्मा से फूटती है, 'वृत्ति' (Profession) तो चार में से एक 'प्रवृत्ति' (Tendency) का बाह्य रूप है। समाज का विकास जड़ सिद्धान्तों पर चलता हुआ श्रम-विभाग के आर्थिक-नियम (Economic Principle) को पैदा कर देता है। श्रम-विभाग से पूंजी का असमान-विभाग हो जाता है। पूंजी के असमान-विभाग से बना-बनाया समाज टूट जाता है, श्रेणी-युद्ध, क्रांति तथा विप्लव की आँधी से टुकड़े-टुकड़े हो जाता है। वही सामाजिक-विकास मनोवैज्ञानिक-सिद्धान्तों पर चलता हुआ वर्ण-व्यवस्था के गहरे तथा विस्तृत नियमों पर समाज की रचना करता है, इसका परिणाम शांति, सहयोग तथा पारस्परिक प्रेम होता है। क्यों होता है? क्योंकि वर्ण-व्यवस्था के अनुसार जीवन का आर्थिक पहलू एक बहुत छोटा पहलू है। सारे लड़ाई-झगड़े, सब संग्राम, सब क्रांतियाँ, सब विप्लव आर्थिक-विषमता को दूर करने के लिए ही होते हैं। भारतीय संस्कृति ने वर्ण-व्यवस्था की रचना करते हुए मनुष्य के सामने एक ऊँचा लक्ष्य रख दिया था, वैश्य-प्रवृत्ति को आर्थिक-समस्या में उलझता छोड़ कर यह घोषित किया था कि तमोगुण से रजोगुण ऊँचा है, रजोगुण से सत्त्वगुण ऊँचा है, सात्त्विक-भाव को जागृत करना आत्मा को जानना है, पहचानना है, और यही मनुष्य की जीवन-यात्रा का अन्तिम लक्ष्य है। श्रम-विभाग आर्थिक-[illegible] को मनुष्य की मुख्य समस्या मानता है, वैश्य-प्रवृत्ति को ही सब-कुछ मानता है, वर्ण-व्यवस्था ऐसा नहीं मानती, यह श्रम-विभाग तथा वर्ण-व्यवस्था के सि[illegible] में मूलगत भेद है। यदि समाज के विकास को अपने हाथ में न लेकर स्वयं होने दिया जाय, तो थोड़े ही काल के अनन्तर 'श्रम-विभाग' का सिद्धान्त अपने-आप कार्य करता दिखाई देगा; 'वर्ण-व्यवस्था' तो उस सिद्धान्त को अपने हाथ में लेकर, उसके उद्देश्यों को निर्धारित कर, उनकी तरफ़ समाज को ले जाने का नाम है। अपने-आप इसलिए क्योंकि अर्थ-पूंजी-खाना-पीना-कपड़ा—इन पर रुक जाना, इनके आगे न बढ़ना, यह मनुष्य का कुछ स्वभाव-सा है। आगे तो तब बढ़े जब भौतिक-आवश्यकताओं की पूर्ति को साधन समझे, साध्य नहीं। वर्ण-व्यवस्था में तो आत्मा का विकास प्रधान है, भौतिक भोग-सामग्री उस विकास का एक साधक-अंग है, वही सब-कुछ नहीं। वर्ण-व्यवस्था में श्रम-विभाग आ जाता है,

श्रम-विभाग में वर्ण-व्यवस्था नहीं आती। वर्ण-व्यवस्था बड़ी वस्तु है, श्रम-विभाग छोटी। श्रम-विभाग का आधार मनुष्य की शारीरिक, अर्थात् आर्थिक आवश्यकताएँ हैं; वर्ण-व्यवस्था का आधार शारीरिक, मानसिक तथा आत्मिक आवश्यकताएँ हैं। श्रम-विभाग की दृष्टि पेशों तथा व्यवसायों पर पड़ती है; वर्ण-व्यवस्था की दृष्टि उन सिद्धान्तों पर जिनसे पेशे तथा मानव के विकास की दिशा निश्चित की जाती है। श्रम-विभाग की दृष्टि भौतिक तथा वर्ण-व्यवस्था की दृष्टि आध्यात्मिक है।

हमने अबतक यह कहा कि वर्ण-विभाग वृत्तियों का, पेशों का नाम न होकर प्रवृत्तियों का विभाग है। अच्छी आमदनी न होने या अन्य किसी कारण से मनुष्य पेशा बदल सकता है, परन्तु प्रवृत्ति नहीं बदलती। पेशा तो बदलने वाली वस्तु है, वर्ण, अर्थात् प्रवृत्ति सत्य-वस्तु है। तभी कहा है—'आचार्यस्त्वस्य यां जातिं यथावद् विधिपारगः। उत्पादयति सावित्र्या सा सत्या साऽजराऽमरा ॥' —आचार्य अपने शिष्य के मानसिक-विकास को वर्षों तक देख कर, उसकी प्रवृत्ति को देख कर जो जाति, जो वर्ण निश्चित कर देता है, वह सत्य है, अजर है, अमर है, क्योंकि वर्ण-विभाग तो प्रवृत्ति का विभाग है, वर्गीकरण है, बचपन से लगातार वर्षों तक समीप से देख कर यह बता देना है कि अमुक व्यक्ति के जीवन की दिशा इस तरफ़ जा सकती है, दूसरी तरफ़ नहीं। जैसे आजकल के मनोवैज्ञानिक 'बुद्धि-परीक्षा' (Intelligence test) करते हैं, वे कहते हैं, 'विद्या' बढ़ सकती है, 'बुद्धि' नहीं, बुद्धि अर्थात् विषय के ग्रहण करने की योग्यता मनुष्य में वही रहती है, वैसे प्राचीन-काल के आचार्य प्रत्येक बालक की बुद्धि-परीक्षा करने के बाद उसकी प्रवृत्ति का निर्धारण कर देते थे, उस प्रवृत्ति को वे 'वर्ण' कहते थे, और अगर वे कहते थे कि वह वर्ण बदलता नहीं, तो वे वही बात कहते थे जो आजकल के बड़े-बड़े शिक्षा-शास्त्री, बड़े-बड़े शिक्षा-मनोविज्ञान के पण्डित कहते हैं। आजकल वर्ण-व्यवस्था के इस अर्थ को कोई नहीं लेता, ग़लती से 'वर्ण' का अर्थ पेशा लिया जाता है।

५. 'श्रम-विभाग' के लिए 'वर्ण-व्यवस्था' शब्द का प्रयोग

हाँ, तो क्या 'वर्ण-व्यवस्था' का पेशों के साथ कोई भी सम्बन्ध नहीं? क्या यह प्रवृत्तियों के विभाग के सिवा कुछ नहीं? ऐसी बात भी नहीं है। पेशों का विभाग ही श्रम-विभाग का दूसरा नाम है। वर्ण-व्यवस्था में वैश्य-वर्ण श्रम-विभाग का प्रतिनिधि था। जैसे श्रम-विभाग में मनुष्य अर्थ के उपार्जन के लिए कई श्रम, कई व्यवसाय करता है, वैसे अर्थ-उपार्जन के लिए जो-जो भी व्यवसाय किये जाते थे वे वैश्य-वर्ण में गिने जाते थे। वर्ण-व्यवस्था शब्द का दोनों अर्थों में प्रयोग होता था। मुख्यतः प्रवृत्तियों के विभाग को 'वर्ण-व्यवस्था' कहा जाता था, परन्तु वैश्य-वर्ण में जो व्यवसायों का विभाग था उसे भी वर्ण कह दिया जाता था। जब वर्ण-शब्द का प्रवृत्तियों के विभाग के अर्थ में प्रयोग होता था तब वर्ण सत्य था, अजर था, अमर था। जब वर्ण शब्द का पेशे और व्यवसाय के अर्थ में प्रयोग होता था, जैसा यह सदियों से होता रहा, तब वर्ण बदल सकता था, जब चाहे जो जिस वर्ण में

जा सकता था। उसी अर्थ में कहा जाता था—'शूद्रो ब्राह्मणतामेति ब्राह्मणश्चैति शूद्रताम्। क्षत्रियाज्जातमेवं तु विद्याद्वैश्यात्तथैव च॥'—शूद्र ब्राह्मण हो सकता है, ब्राह्मण शूद्र हो सकता है। क्योंकि प्राचीन साहित्य में व्यवसाय और स्वभाव, वृत्ति और प्रवृत्ति—दोनों के लिए 'वर्ण' शब्द का प्रयोग हुआ है, इसलिए वर्ण बदल सकता है, नहीं बदल सकता—ये दोनों भाव उसमें पाये जाते हैं, परन्तु जब कहा जाता है, वर्ण नहीं बदल सकता तब 'प्रवृत्ति' से अभिप्राय होता है, पेशे से नहीं, जब कहा जाता है, वर्ण बदल सकता है तब 'वृत्ति' से, पेशे से अभिप्राय होता है; प्रवृत्ति से नहीं। असल में वर्ण बदलता भी है, नहीं भी बदलता, क्योंकि एक पेशे को छोड़ कर दूसरे पेशे को लेने से कोई किसी को रोक नहीं सकता, उम्र भर के लिए किसी के लिए एक ही पेशा लिखा नहीं जा सकता, परन्तु इसके साथ-साथ भिन्न-भिन्न वृत्तियों के मनकों के अलग-अलग होते हुए प्रवृत्ति-रूपी एक-सूत्र उन्हें बांधे रखता है, इसमें भी सन्देह नहीं।

६. आज सब वैश्य बन रहे हैं

आज दूसरी प्रवृत्तियों का तो कोई नाम ही नहीं लेता, एक ही प्रवृत्ति ने मानव को घेर रखा है, सब वैश्य बने जा रहे हैं, पैसा-पूंजी कमाने के पीछे पड़े हुए हैं, ब्राह्मण-क्षत्रिय जो प्रवृत्तियां थीं वे भी प्रवृत्तियां, पेशा—पैसा कमाने का साधन बन गई हैं, ब्राह्मणत्व-क्षत्रियत्व बिलकुल उठ गया है, निष्कामता कहीं रही नहीं, समाज के ऊँचे अध्यात्मवादी आदर्शों की कोई चर्चा नहीं करता—इसका क्या कारण है? इसका कारण यह है कि हमने समाज का विकास अन्धी, जड़-शक्तियों के हाथ में दे रखा है, उसे चेतन-शक्ति के हाथ में नहीं दिया। जड़-विकास का परिणाम है कि आज हम भौतिक पदार्थों को, संसार के भोग-ऐश्वर्य को सब-कुछ समझे बैठे हैं, इनके लिए जीते, इनके लिए मरते हैं। पैसे से भौतिक-पदार्थ जुटते हैं इसलिए पैसा सब-कुछ बन गया है। परन्तु अगर हमें जड़ की तरफ़ नहीं, चेतन की तरफ़ जाना है, तो यह प्रश्न उठना स्वाभाविक है कि जो-कुछ हो रहा है, वह ठीक है या ग़लत? क्या इसे ऐसे ही चलने दिया जाय? भारतीय संस्कृति इस बात को नहीं मानती कि खाना-पीना ही सब-कुछ है, रोटी की समस्या ही मनुष्य की आदि और अन्त की समस्या है। परन्तु न मानने मात्र से तो काम नहीं चलता। पैसे से मनुष्य का मोह कैसे छूटे, इससे उसका मुँह कैसे मुड़े? जबतक पैसे से मनुष्य का मोह न तोड़ा जायगा तबतक यह कम्बख्त आगे नहीं चलेगा। भारतीय-संस्कृति ने इसका उपाय वर्ण-व्यवस्था द्वारा किया था।

७. पैसे की क्रय-शक्ति बढ़ गई है

वह कैसे? लोग पैसे के पीछे क्यों भागते हैं? पैसे के पीछे वे इसलिए भागते हैं क्योंकि पैसे की खरीदने की शक्ति बहुत बढ़ गई है। कोई समय था जब संसार में पैसे को कोई जानता तक न था। किसान खेती करता था, जुलाहा कपड़ा बुनता था, तीसरा आदमी तीसरा काम करता था। जिसके पास जो-कुछ था दूसरों को दे देता था, जो उसके पास नहीं था, वह बदले में दूसरों से ले लेता था।

इस प्रकार वस्तुओं से वस्तुओं का आदान-प्रदान, विनिमय होता था। परन्तु मनुष्य विनिमय का कोई सुविधाजनक, छोटा, संक्षिप्त माध्यम चाहता था। सौ मन अनाज या रुई को सम्भाल रखना कोई आसान काम न था, उसे देर तक रखा भी नहीं जा सकता था, उसमें कीड़ा लग सकता था, आग-पानी से वह नष्ट हो सकती थी, उसे एक जगह से दूसरी जगह पर आसानी से ले जाया नहीं जा सकता था। विनिमय के इस माध्यम की तलाश करते-करते पैसे की उत्पत्ति हुई। पैसे को जब चाहे जिस चीज़ में बदला जा सकने लगा। मनुष्य को बहुत सुविधा हो गई। मनुष्य पैसे को सम्भाल कर रख लेता। जब चाहता जिस किसी चीज़ को पैसे में बदल लेता, और जब चाहता उसका अनाज, कपड़ा, लकड़ी, मकान—जो चाहता ख़रीद लेता, पैसे में इतनी ही शक्ति रहती तो संसार में कोई अनर्थ न होता, परन्तु धीरे-धीरे पैसे की शक्ति बढ़ने लगी। यह शक्ति इतनी बढ़ गई कि पैसे से मनुष्य खाने-पीने-पहनने के पदार्थ ही नहीं, सब-कुछ ख़रीद सकने लगा। पैसे से मनुष्य मनुष्य को ख़रीदने लगा। जब ब्राह्मण ने यह देखा कि पैसे में इतनी शक्ति है, उसे किसी भी चीज़ में बदला जा सकता है, उसमें संसार की सब शक्तियाँ समेट कर रख दी गई हैं, जब चाहें उसमें से जिस किसी शक्ति को उद्बुद्ध किया जा सकता है, तो उसने पैसे के लिए अपने मस्तिष्क को बेचना शुरू कर दिया। ब्राह्मण व्यापारी के हाथ बिक गया, सबसे ऊँची बोली देने वाले के हाथ उसने अपने दिमाग़ को नीलाम कर दिया। क्षात्र-शक्ति भी बनियों के हाथों में खेलने लगी, क्योंकि हर बात में पैसे को जो प्रधानता मिल गई। पैसे वाला आज के युग का राजा है—यह इसलिए क्योंकि पैसे की क्रय-शक्ति—ख़रीदने की ताक़त बहुत बढ़ गई है। भारतीय संस्कृति के समाज-शास्त्रियों ने इस ख़राबी को यहीं पकड़ लिया था। उन्होंने अपने समाज का विकास आर्थिक-आधारों पर नहीं होने दिया, पैसे की क्रय-शक्ति को नहीं बढ़ने दिया। उन्होंने यह कैसे किया—इसे समझने की आवश्यकता है।

पैसे की क्रय-शक्ति बढ़ गई—इसका क्या अर्थ है? पैसा अगर रोटी-कपड़ा-मकान ख़रीद सके, तो इसमें किसे आपत्ति हो सकती है? अगर पैसे वाला रोटी ख़रीदेगा तो कितनी ख़रीद लेगा, खायेगा तो कितनी खा लेगा। अगर मकान भी ख़रीदेगा तो कितने ख़रीद लेगा, ख़रीदता ही चला जायगा तो वे उसके किस काम आयेंगे? पैसे से कोई मोटर ख़रीद ले, हवाई जहाज़ ख़रीद ले, परन्तु फिर वही प्रश्न उठ खड़ा होता है, कितने और कहाँ तक? पैसे को जमा करते-करते एक अवस्था ऐसी आ जाती है जब जमा करने वाले के लिए पैसा निरर्थक हो जाता है। करोड़ों रुपया जिसका बैंक में जमा है वह उसका क्या उपयोग कर सकता है? चार रोटी से ज़्यादा वह खा नहीं सकता, एक कमरे से ज़्यादा में वह सो नहीं सकता, दो-चार गज़ से ज़्यादा कपड़ा वह पहन नहीं सकता। जो आदमी सात फ़ुट पानी में डूब जाता है उसके लिए सौ फ़ुट पानी हो तो भी उतना, सात फ़ुट पानी हो तो भी उतना। डूबने के लिए तो सात फ़ुट ही चाहिए, बाक़ी का बेकार है। भौतिक-आवश्यकताओं की पूर्त्ति के लिए भी एक ख़ास

सीमा तक रुपये-पैसे की जरूरत है, उससे आगे जितनी आर्थिक-सम्पत्ति है वह सब बेकार है। परन्तु फिर भी लोग पैसा जोड़ने से थकते नहीं। यह इसलिए क्योंकि पहले तो पैसे से भौतिक सुख-भोग मिलते हैं, बाकी बचे हुए, बैंक में जमा किये हुए, जिसे हम निरर्थक कह रहे हैं, उस पैसे से हुकूमत और इज्जत मिलती है। पैसे-वाले की हुकूमत है, पैसे वाले की इज्जत है। पैसा खाने-पीने की चीजों को ही नहीं, हुकूमत और इज्जत को भी खरीद सकता है। यह है पैसे की बढ़ी हुई ताक़त, बढ़ी हुई क्रय-शक्ति। जब इसकी क्रय-शक्ति इतनी बढ़ी हुई है तब हर-एक का पैसा जमा करने के लिए लपक पड़ना स्वाभाविक है।

८. वर्ण-व्यवस्था द्वारा पैसे की क्रय-शक्ति घटा दी गई थी

वर्ण-व्यवस्था द्वारा भारतीय संस्कृति ने यह प्रयत्न किया था कि पैसे वाला खाने-पीने, भौतिक ऐश्वर्य-उपभोग को तो खरीद सके, परन्तु हुकूमत और इज्जत को न खरीद सके। भारतीय संस्कृति का कहना था कि चारों प्रवृत्तियों के लोगों के लिए आवश्यक है कि वे अपनी-अपनी प्रवृत्ति के अनुसार समाज की सेवा करें—ब्राह्मण ज्ञान से, क्षत्रिय क्रिया से, वैश्य इच्छा से, शूद्र शारीरिक सेवा से। यह उनका 'कर्त्तव्य' है। जब किसी का कोई 'कर्त्तव्य' निश्चित किया जाता है तो उसके साथ उसे कोई 'अधिकार' भी दिया जाता है। यह अधिकार उसे कर्त्तव्य के पारितोषिक के रूप में दिया जाता था। संसार में अधिकार चार प्रकार के हैं—इज्जत, हुकूमत, दौलत, खेल-कूद। भारतीय संस्कृति में इन चारों का विभाग कर दिया गया था। ब्राह्मण को इज्जत दी जाती थी, परन्तु इज्जत से दिमाग़ न बिगड़ जाय, इसलिए इज्जत देते हुए साथ ही कह दिया जाता था—'सम्मानाद् ब्राह्मणो नित्यमुद्विजेत विषादिव'—सम्मान से ब्राह्मण ऐसे डरता रहे जैसे विष से। क्षत्रिय को हुकूमत दी गई थी, परन्तु हुकूमत से भी दिमाग़ न बिगड़ जाय, इसलिए दण्ड देने की शक्ति को देते हुए उसे साथ ही कह दिया जाता था—'दण्डो हि सुमहत्तेजो दुर्धरश्चाकृतात्मभिः। धर्माद्विचलितं हन्ति नृपमेव सबान्धवम् ॥'—सचाई से डिगने वाले क्षत्रिय को दण्ड-शक्ति ही उसके बन्धु-बान्धवों के साथ नष्ट कर डालती है। वैश्य को दौलत मिलती थी। वह दौलत से खाने, पीने, पहनने, रहने के साधनों के सिवा और कुछ नहीं खरीद सकता था। साथ ही, जैसे भोजन के पेट में ही पड़े रहने से बीमारी हो जाती है, सम्पूर्ण सम्पत्ति के वैश्य के पास जमा हो जाने से समाज का शरीर रुग्ण न हो जाय, इसलिए वैश्य को दौलत-सम्पत्ति देते हुए कहा जाता था—'दद्याच्च सर्वभूतानामन्नमेव प्रयत्नतः'—वैश्य लेता जाय परन्तु साथ ही देता जाय। शूद्र, क्योंकि समाज की अपनी किसी मानसिक-शक्ति द्वारा सेवा नहीं कर सकता, इसलिए उसे अपने कर्त्तव्यों के पुरस्कार में छुट्टी, खेल-कूद, तमाशा—ये चीजें मिलती थीं, परन्तु शूद्र अपनी निचली स्थिति में ही पड़ा न रहे, अपने आत्मा का विकास करे, इसलिए उसे कहा जाता था—"शूद्रेण समस्तावत् यावद्वेदे न जायते'—'शूद्रो ब्राह्मणतामेति ब्राह्मणश्चैति शूद्रताम्'—शूद्र भी ब्राह्मण बन सकता है, जब तक वह उन्नत नहीं होता तभी तक वह शूद्र

है, उसके उन्नति के मार्ग पर चलने में कोई समाज उसके सामने बाधा बन कर नहीं खड़ा हो सकता। इस प्रकार की व्यवस्था में जहाँ अधिकार है, वहाँ कर्त्तव्य भी है, जहाँ स्वतंत्रता है, वहाँ बन्धन भी है। इस समय सब लोग सब प्रकार के अधिकार चाहते हैं। ब्राह्मण चाहते हैं उन्हें इज्जत, हुकमत, दौलत, खेल-कूद—सब-कुछ मिले; क्षत्रियों की भी यही अभिलाषा है; वैश्य भी इसी के शिकार हैं। वर्त्तमान सामाजिक संगठन में तो वैश्यों का ही पलड़ा भारी हो रहा है। उन्हीं को दौलत के साथ-साथ इज्जत और हुकूमत मिल रही है, वही खेल-कूद में समय बिताते हैं, मजदूर बेचारे तो काम के मारे मरे जाते हैं। इसी का परिणाम है कि शुद्ध ब्राह्मणत्व तथा शुद्ध क्षत्रियत्व से संसार की जो उच्च अवस्था चित्रित की जा सकती है, वह कहीं देखने को भी नहीं मिलती। वैश्यत्व के बोझ से मानव-समाज की आत्मा कराह रही है। रुपये-पैसे से सब-कुछ खरीदा जा सकता है, इसलिए सब पैसा कमाने में जुटे हैं। वर्ण-व्यवस्था में पैसे की क्रय-शक्ति को कम करने के लिए इज्जत, हुकूमत, दौलत को अलग-अलग बाँट दिया गया था, वैश्य को सामाजिक-व्यवस्था में, ब्राह्मण तथा क्षत्रिय से नीचे के स्थान पर रख दिया था। भारतीय समाज-शास्त्री जानते थे कि समाज का विकास स्वार्थ-बुद्धि तथा परार्थ-बुद्धि दोनों के समन्वय से हो सकता है। समाज को न स्वार्थमय बनाया जा सकता है, न परार्थ-मय। वे जानते थे कि स्वार्थ परार्थ के लिए चलेगा तभी समाज का विकास होगा। इसलिए उन्होंने आर्थिक दृष्टि-कोण की अवहेलना तो नहीं की थी, परन्तु परार्थ को मुख्य बनाकर स्वार्थ को परार्थ के साधक के तौर से गौण स्थान दे दिया था। निष्काम-प्रवृत्ति परार्थ प्रवृत्ति है; सकाम-भाव स्वार्थ-प्रवृत्ति है। ब्राह्मण तथा क्षत्रिय निष्काम तथा परार्थ-भाव से समाज की सेवा करते हैं, और वैश्य तथा शूद्र सकाम तथा स्वार्थ-भाव से। भारतीय संस्कृति का ध्येय सकामता नहीं, निष्कामता था, स्वार्थ नहीं परार्थ था। इसी लक्ष्य की तरफ़ चलते हुए इस देश की संस्कृति ने सकामता को निष्कामता का, स्वार्थ को परार्थ का सेवक बना दिया था, वैश्य-प्रवृत्ति को निचला दर्जा देकर ब्राह्मण-प्रवृत्ति से ऊपर उभरने नहीं दिया था। यह भाव वर्ण-व्यवस्था का आधार-भूत तत्त्व था और इसी के द्वारा भारतीय संस्कृति ने पैसे की क्रय-शक्ति को कम कर दिया था।

वर्ण-विभाग का लक्ष्य प्रवृत्तियों, आकांक्षाओं का बँटवारा है। ज्ञान-प्रधान व्यक्ति को ज्ञान का जीवन बिताने की सोचनी चाहिए, और इसी आकांक्षा को रखते हुए उसे उचित पुरस्कार मिलना चाहिए। इसी प्रकार क्रिया तथा इच्छा-प्रधान व्यक्तियों को करना चाहिए। ब्राह्मण ज्ञान-प्रधान (Man of knowledge) है, अतः ज्ञान के कारण उसे इज्जत मिलेगी, हुकूमत और दौलत नहीं। क्षत्रिय क्रिया-प्रधान (Man of action) है, अतः क्रियाशीलता के कारण उसे हुकूमत मिलेगी, दौलत और इज्जत नहीं। वैश्य इच्छा-प्रधान (Man of desire) है, अतः इच्छाशीलता के कारण उसे दौलत मिलेगी, इज्जत और हुकूमत नहीं। संसार के सारे अनर्थ इसलिए होते हैं क्योंकि इज्जत, हुकूमत और दौलत एक ही

जगह जमा हो जाते हैं—इन्हें एक जगह जुटने न दिया जाय, अलग-अलग रखा जाय, तो समाज में अव्यवस्था हो ही नहीं सकती, और ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य को अपनी प्रवृत्ति के अनुसार समाज-सेवा के रूप में कर्त्तव्य को निभाने का जो अधिकार दिया जायगा, ब्राह्मण को इज्जत, क्षत्रिय को हुकूमत, वैश्य को दौलत—उसका दुरुपयोग हो ही नहीं सकता। इस समय जो सब के वैश्य बनने की प्रवृत्ति बढ़ती जा रही है, उसका कारण भी यही है कि वैश्य के पास प्रतिष्ठा, शक्ति तथा धन तीनों आकर इकट्ठे हो गये हैं। अगर इन तीनों को अलग-अलग कर दिया जाय, अगर वैश्य को प्रतिष्ठा तथा शक्ति न देकर केवल धन दिया जाय, प्रतिष्ठा तथा शक्ति को धन से ख़रीदी जा सकने वाली चीज़ें न बनने दिया जाय, तो सब लोग वैश्य बनने का प्रयत्न भी न करें, और इससे जीवन-संग्राम की विषमता भी कम हो जाय। इस समय तो सम्पूर्ण मानव-समाज वैश्य बना जा रहा है। इसका यह अभिप्राय नहीं कि सब को धन की इतनी आवश्यकता है। प्रवृत्ति न होते हुए भी वैश्य-वृत्ति के लिए यह घुड़दौड़ इसलिए हो रही है क्योंकि आज दौलत से ही इज्जत और हुकूमत मिलती है। मनुष्य, स्वभाव से, दौलत इतनी नहीं चाहता जितनी इज्जत और हुकूमत चाहता है। दौलत को तो वह इसलिए चाहता है क्योंकि आज इसी से इज्जत और हुकूमत मिल रही है। यदि समाज का ढाँचा बदल दिया जाय, धन की बढ़ती हुई क्रय-शक्ति को ढीला कर दिया जाय, तो रुपये-पैसे की यह दौड़ आधी से कम रह जाय। वर्ण-व्यवस्था का यही पहलू संसार की रक्षा कर सकता है, नहीं तो संसार धन-संग्रह करता-करता ही मट्टी का ढेर हो जायगा। इस समय कितने होन-हार युवक केवल इज्जत और हुकूमत पाने के लिए रुपया बटोरने में पसीना बहा रहे हैं। कुछ में ज्ञान की प्रधानता है, कुछ में क्रिया की प्रधानता है, परन्तु उन शक्तियों से वे समाज को कोई लाभ नहीं पहुँचा रहे। वर्ण-व्यवस्था की मूलगत विचार-धारा को समझने से संसार की न-जाने कितनी अमूल्य शक्ति को नष्ट होने से बचाया जा सकता है, उसका समाज के विकास में उपयोग किया जा सकता है।

ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र—ये चार 'कर्त्तव्य' हैं; इज्जत, हुकूमत, दौलत, खेल-कूद—ये चार 'अधिकार' हैं। कर्त्तव्यों तथा अधिकारों को प्रवृत्ति के अनुसार चार हिस्सों में बाँट कर उन्हें नियमित कर देने का नाम वर्ण-व्यवस्था है, ऐसा न होने का नाम वर्ण-संकरता है। जब ज्ञान-प्रधान सात्त्विक जीव ज्ञान से समाज की सेवा कर केवल प्रतिष्ठा या इज्जत चाहता है—हुकूमत और दौलत की तरफ़ नजर नहीं उठाता—तब वर्ण-व्यवस्था होती है। जब वह इज्जत, हुकूमत और दौलत तीनों को पाना चाहता है तब वर्ण-संकरता। यही नियम क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र पर लागू है। प्रवृत्तियों का विभाग हो जाने पर उसे क्रियात्मक रूप देना राज्य का काम है। राज्य को यह देखना चाहिए कि ब्राह्मण तथा क्षत्रिय प्रवृत्तियों के व्यक्ति, जो समाज की सेवा में निष्काम तथा परार्थ-वृत्ति से दिन-रात लगे हैं, भूखे तो नहीं मरते, उनकी भौतिक आवश्यकताएँ तो पूर्ण होती हैं, उन्हें उचित प्रतिष्ठा तथा सम्मान मिलता है। इस प्रकार व्यक्तिरूप से जब सब लोग अपनी

प्रवृत्तियों को नियमित रखेंगे, समष्टि-रूप से राज्य उनके नियमन में सहायक होगा, तब वर्ण-व्यवस्था का सिद्धान्त क्रियात्मक रूप धारण करेगा। जो व्यक्ति जिस कार्य के योग्य हो, जिस कार्य को कर सकने की ओर उसकी प्रवृत्ति हो, उसके लिए वैसी वृत्ति देना, वैसा आजीविका का साधन उत्पन्न कर देना राज्य का कर्त्तव्य है, और राज्य से वैसी वृत्ति की आशा रखना प्रत्येक व्यक्ति का अधिकार है। प्रवृत्तियों तथा वृत्तियों में समता रखने की ज़िम्मेदारी राज्य पर है। ब्राह्मण की आँख हुकूमत और दौलत पर न हो, काम पर ही हो जिससे उसे मान-प्रतिष्ठा इज्ज़त मिल सकती है; क्षत्रिय की आँख दौलत और इज्ज़त पर न हो, ऐसे ही काम पर हो जिससे उसके हाथ में शक्ति दी जा सके; वैश्य की आँख इज्ज़त और हुकूमत पर न हो, ऐसे ही काम पर हो जिससे वह धन का संचय कर सके—हर व्यक्ति की आकांक्षा, उसके दिल की चाह इन तीनों में से एक वस्तु पाने की हो, यह व्यवस्था रखना राज्य का काम है। डा० भगवानदास के शब्दों में जैसे राज्य यह व्यवस्था करता है कि एक पुरुष एक स्त्री के साथ विवाह करे, अनेक स्त्रियों के साथ नहीं, वैसे राज्य को इस बात की देख-भाल करनी चाहिए कि हर आदमी हर आकांक्षा को लेकर न बैठ जाय। ब्राह्मण-प्रवृत्तियों का व्यक्ति बाज़ार में तराज़ू लेकर बैठा हो, और वैश्य-प्रवृत्तियों का व्यक्ति धर्म का ठेकेदार बना हुआ हो—ये वर्ण-संकरता की निशानियाँ हैं, और यही अवस्था आज समाज में अधिकता से दीख पड़ती है। इन घटनाओं से वर्ण-व्यवस्था की अक्रियात्मकता सिद्ध नहीं होती। इनसे यही सिद्ध होता है कि समाज की व्यवस्था टूट जाने से वर्ण-संकरता की अवस्था आ जाती है। वर्ण-संकरता की अवस्था, वह अवस्था जिसमें समाज का विकास मनुष्य की स्वाभाविक प्रवृत्तियों के ऊपर नहीं हो रहा होता, किसी भी राज्य की सब से कड़ी आलोचना है, क्योंकि हर व्यक्ति को उसकी प्रवृत्ति के अनुसार वृत्ति देना राज्य का काम है।

पहले यह दर्शाया जा चुका है कि 'श्रम-विभाग' का सिद्धान्त केवल आर्थिक आधारों पर आश्रित होने के कारण समाज के चौमुखी-विकास में सहायक सिद्ध नहीं हो सकता, परन्तु कइयों की यह सम्मति भी हो सकती है कि श्रम-विभाग को संकुचित अर्थों में न लेकर विस्तृत अर्थों में लेना चाहिए। उनके मत में श्रम में केवल वैश्य नहीं, ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र—सब आ जाते हैं। उनका कहना है कि चारों वर्ण भी चार श्रम हैं। श्रम का अर्थ आर्थिक-श्रम ही नहीं, प्रत्येक प्रकार का कार्य 'श्रम' है। ब्राह्मण और क्षत्रिय के निःस्वार्थ, निष्काम-जीवन के श्रम हैं, वैश्य-शूद्र के स्वार्थ, सकाम-भाव के श्रम हैं। अगर 'श्रम'-शब्द का इतना विस्तृत अर्थ लिया जाय तो इसमें भी कोई आपत्ति नहीं। वर्ण-व्यवस्था का तो यही तकाज़ा है कि त्याग-भाव को, निवृत्ति को, परार्थ को जीवन में मुख्य स्थान मिलना चाहिए, स्वार्थ-भाव को, प्रवृत्तियों को, भोग को गौण। यदि यह भाव 'श्रम'-शब्द का प्रयोग करते हुए भी रह सकता है तो भले ही वर्ण-व्यवस्था के लिए 'श्रम-विभाग'-शब्द का प्रयोग हो, परन्तु फिर भी वर्ण-व्यवस्था तथा श्रम-विभाग में इतना अन्तर तो रह ही जाता है कि श्रम-विभाग वह सिद्धान्त है जो बे-जाने-बूझे, स्वयं,

समाज के अन्धे विकास में, अपने-आप काम कर रहा होता है, जिसका समाज-शास्त्री अध्ययन करते हैं, और वर्ण-व्यवस्था वह सिद्धान्त है जिसके अनुसार समझ-बूझ कर, समाज को अपने हाथ में लेकर, समाज में विकसित हो रहे नियम का अध्ययन नहीं अपितु उस नियम के अनुसार समाज को विकसित करने का प्रयत्न किया जाता है। इसमें सन्देह नहीं कि वर्त्तमान समाज-शास्त्र में श्रम-विभाग भी ऐसा सिद्धान्त बनता चला जा रहा है, जो मनुष्य के क़ाबू में आ रहा है, और स्वयं अपनी अन्धी दौड़ नहीं दौड़ रहा। परन्तु पश्चिम के समाज ने जहाँ से पहले-पहल इसे पकड़ा है वहाँ इसका संकुचित आर्थिक अभिप्राय (Economic consideration) ही लिया है, और इसे हाथ में लेकर समाज का विकास करने के स्थान में देर तक इस सिद्धान्त का अध्ययन भर किया है और, यदि अब धीरे-धीरे मनुष्य के सम्पूर्ण विकास को श्रम-विभाग के अन्तर्गत किया जा रहा है और इस सिद्धान्त को आधार बनाकर समाज की रचना की जा रही है, होने ही नहीं दी जा रही, तो समझ लेना चाहिए कि पश्चिम इतनी देर के बाद अब भारत के वर्ण-व्यवस्था के आदर्श को छूने की तैयारी भर कर रहा है। अगर श्रम-विभाग के ये विस्तृत अर्थ मानें तो दोनों सिद्धान्तों से परिणाम भी लगभग एक-से निकलते हैं। श्रम-विभाग के सिद्धान्त से भी समाज के, वर्ण-व्यवस्था की तरह के ही, चार विभाग हो जाते हैं। इस समय यरोप में भी क्लर्जी, सोल्जर, मर्चेंट तथा लेबरर—ये चार विभाग ही हैं, और सर्वदा-सर्वत्र, सब देश-काल में मनुष्य-समाज के यही चार भेद स्वाभाविकतया हो सकते हैं। नाम भले ही कुछ हों, ये तो उन प्रवृत्तियों के विभाग हैं जो सब जगह एक-सी हैं। श्रम-विभाग के इन स्वाभाविक भेदों को वर्ण-व्यवस्था ने सिर्फ़ नियमित कर दिया है, और इस विभाग के अपने-आप हो जाने में इसके सिर्फ़ आर्थिक बन जाने की जो प्रवृत्ति है उसे हटा दिया है। वर्ण-व्यवस्था के विचार से मिलता-जुलता ही विचार ग्रीस के प्रसिद्ध दार्शनिक प्लेटो का था। उसने अपनी पुस्तक 'रिपब्लिक' में लिखा है—

"समाज के मुखिया 'गार्डियन', अर्थात् 'रक्षक' कहलायेंगे। उनका जीवन इस प्रकार का हो कि जहाँ तक सम्भव हो कोई निजी सम्पत्ति न बना सकें। उनके घर में किसी का प्रवेश निषिद्ध न हो, उनका भंडार सब के लिए खुला हो। संयमी तथा उत्साही लोगों को जो युद्ध करने में दक्ष हों, जिस चीज़ की ज़रूरत हो, वह उन्हें निश्चित रूप में समाज की तरफ़ से मिला करे, क्योंकि वे समाज की सेवा करते हैं। उन्हें जो-कुछ मिले, वह न ज़्यादा हो, न कम हो। वे एक ही भोजनालय में भोजन करें, और ऐसे रहें जैसे कैम्प में रहा करते हैं। उन्हें मालूम होना चाहिए कि उनके हृदयों में परमात्मा ने दैवीय-धन रखा है इसलिए उन्हें सोने-चाँदी की आवश्यकता नहीं। पार्थिव-सम्पत्ति उनके आत्मिक-धन को अपवित्र बनायेगी क्योंकि संसार में सिक्के ने ही असंख्य उपद्रव खड़े किये हैं। उनके लिए सोने-चाँदी को छूना पाप है, जिस मकान में ये चीज़ें हों उसमें जाना पाप है, इनके आभूषण पहनना और इन धातुओं के बर्तनों में पानी पीना पाप है। यदि वे इन नियमों का पालन करते रहेंगे, तो वे अपनी तथा अपने समाज की रक्षा कर सकेंगे। जब वे सम्पत्ति जोड़ लेंगे, जब

उनके पास ज़मीन, घर तथा रुपया हो जायगा, तो वे 'गार्डियन' या रक्षक होने के स्थान पर घर-बार वाले व्यापारी हो जायेंगे, और अपने समाज के सहायक होने की जगह उसे दबाने वाले स्वामी बन जायेंगे। उनका जीवन घृणा करने तथा घृणा किये जाने में, षड्यंत्र करने तथा षड्यन्त्रों का शिकार बनने में बीत जायगा, समाज नष्ट हो जायगा। 'गार्डियन्स' के लिए इसी प्रकार का राज्य-नियम होना चाहिए।"

प्लेटो ने समाज के वही विभाग किये हैं जो वर्ण-व्यवस्था में पाये जाते हैं। उसके विभाग हैं—'गार्डियन्स' या 'फ़िलासफ़र्स', 'सोल्जर्स' तथा 'आर्टिज़न्स'। जिस प्रकार वर्ण-व्यवस्था के समाज-शास्त्रीय सिद्धान्त का आधार मनोवैज्ञानिक प्रवृत्तियाँ हैं, उसी प्रकार प्लेटो ने भी अपने विभाग का आधार मनोविज्ञान ही रखा है। 'रिपब्लिक' की चतुर्थ पुस्तक में लिखा है—

"क्या आत्मा की तीन प्रकार की प्रकृति होती है? क्यों नहीं, यदि समाज के तीन प्रकार के विभाग हैं, तो ये ज़रूर आत्मा की प्रकृति के विभाग होंगे, क्योंकि समाज में ये तीन गुण व्यक्तियों के गुणों से ही आते हैं।"

भिन्न-भिन्न प्रवृत्तियों वाले व्यक्तियों का उल्टी वृत्तियों में पड़ जाना वर्ण-संकरता है, और इसी अवस्था को प्लेटो ने सामाजिक-अव्यवस्था कहा है। उसका कथन है कि इस अव्यवस्था को दूर करना राज्य का कार्य है। 'रिपब्लिक' की चतुर्थ पुस्तक में लिखा है—

"जब ऐसा व्यक्ति, जो प्रकृति के अनुसार "आर्टिज़न" अर्थात् वैश्य-प्रवृत्ति का है, धन के घमंड में आकर 'वारियर' अर्थात् क्षत्रिय-श्रेणी में प्रविष्ट होना चाहता है, जब 'वारियर' अपने से ऊँची श्रेणी के योग्य न होता हुआ 'सीनेटर' या 'गार्डियन' अर्थात् ब्राह्मण-श्रेणी में आना चाहता है, जब एक ही व्यक्ति सब के काम करना चाहता है, तब समाज में दुर्व्यवस्था फैल जाती है। किसी भी राज्य में सुशासन होने के लिए आवश्यक है कि भिन्न-भिन्न व्यक्तियों को अपने-अपने धर्म में ही लगाया जाय, और अव्यवस्था न होने दी जाय।"

वर्ण-व्यवस्था के रूप में भारतीय संस्कृति ने समाज के विकसित होने के एक महान् सिद्धान्त का आविष्कार किया था। हम इस सिद्धान्त को किस हद तक क्रिया में परिणत कर सकते हैं—इसका निर्णय उस वर्ण-व्यवस्था को देख कर करना न्याय-संगत नहीं जो आजकल हमारे समाज में प्रचलित है। यह वर्ण-व्यवस्था नहीं, वर्ण-व्यवस्था का कुत्सित रूप है, वह यह भव्य भवन नहीं जिसका भाररीय-संस्कृति ने निर्माण किया था, यह उस भवन का खंडहर है। हमें नामों से किसी प्रकार का आग्रह नहीं, ये नाम रखे जाँय, कोई दूसरे नाम रख लिये जाँय, परन्तु इसमें सन्देह नहीं कि वर्ण-व्यवस्था के आधार में भारतीय संस्कृति के जो सजीव तत्त्व काम कर रहे हैं वे ही मानव-समाज की समस्याओं का यथार्थ और अन्तिम हल हैं।

हमने वर्ण-व्यवस्था के सम्बन्ध में जो-कुछ लिखा उससे स्पष्ट है कि वर्ण-व्यवस्था एक संस्था नहीं अपितु एक सिद्धान्त है जिस सिद्धान्त ने हिन्दू-समाज के सामाजिक-संगठन को शुरू दिन से आज दिन तक प्रभावित किया है।

१७

अस्पृश्यता

(UNTOUCHABILITY)

१. अस्पृश्यता का अर्थ

'अस्पृश्यता' समाज की वह व्यवस्था है जिसके कारण एक व्यक्ति दूसरे व्यक्ति को, या एक समाज दूसरे समाज को परम्परा के आधार पर छू नहीं सकता, अगर छूता है तो स्वयं अपवित्र हो जाता है, और इस अपवित्रता से छूटने के लिए उसे किसी प्रकार का प्रायश्चित्त करना पड़ता है।

'अस्पृश्यता' हिन्दुओं की जाति-व्यवस्था का सीधा परिणाम है। जाति-व्यवस्था में ऊँच-नीच का क्रम रखा गया है। एक जाति सब से ऊँची है, दूसरी उससे नीची, तीसरी उससे नीची। इस प्रकार ऊँचाई-नीचाई के क्रम से कोई जाति सब से ऊँची होगी, कोई सब से नीची होगी। हिन्दुओं के सामाजिक-स्तरों के इस सोपान-क्रम में सब से ऊँचे स्तर पर ब्राह्मण हैं, सब से नीचे स्तर पर अस्पृश्य-वर्ग है। जाति-व्यवस्था का यह सोपान-क्रम समाज का 'स्तरीकरण' (Stratification) कहलाता है।

२. समाज का स्तरीकरण
(Stratification of society)

आज तो हम जाति-विहीन तथा वर्ग-विहीन समाज (Casteless and classless society) बनाने जा रहे हैं, परन्तु हजारों सालों से समाज जाति तथा वर्ग का शिकार रहा है। हिन्दू-समाज में भी जाति तथा वर्ग का बोलबाला रहा है। इस समाज में ऊँच-नीच के भिन्न-भिन्न वर्ग रहे हैं। इन वर्गों में ब्राह्मण को सर्वोपरि माना गया है, उसके बाद क्षत्रिय, फिर वैश्य और सब से नीचे शूद्र माने गये हैं, शूद्रों से भी नीचे के स्तर में उन जातियों की गणना है जिन्हें अस्पृश्य कहा जाता है। ब्राह्मण के लिए मनुस्मृति, १० अध्याय, ३ श्लोक में लिखा है:

वैशेष्यात् प्रकृतिश्रैष्ठ्यात् नियमस्य च धारणात्।
संस्कारस्य विशेषाच्च वर्णानां ब्राह्मणः प्रभुः।।

अर्थात्, विशेष गुणों के कारण, स्वभाव में सब से श्रेष्ठ होने के कारण, यम-नियमों का पालन करने के कारण, जन्म के संस्कारों के कारण सब वर्णों में ब्राह्मण सब का मूर्धन्य है, सब से ऊँचा है।

पश्चिम में ऊँच-नीच का भाव धन पर आश्रित है, उस व्यवस्था को हम वर्ग-व्यवस्था कह आये हैं, परन्तु भारत में वर्ग-व्यवस्था की जगह जाति-व्यवस्था रही है। धनी- निर्धन तो होते रहते हैं, आज जो धनी है कल वह निर्धन हो सकता है,

परन्तु जाति-व्यवस्था में तो जन्म की जो जाति है वही बनी रहती है, उसमें परिवर्तन नहीं होता। यही कारण है जिससे पश्चिम की वर्ग-व्यवस्था की अपेक्षा जाति-व्यवस्था अधिक स्थिर है, जल्दी-जल्दी नहीं बदलती। पश्चिम में समाज का जो 'स्तरीकरण' (Stratification) है उसकी अपेक्षा भारत का 'सामाजिक-स्तरीकरण' (Social stratification) अधिक उग्र है, इसलिए उग्र है क्योंकि इसका आधार पश्चिम की तरह अमीरी-ग़रीबी न होकर जन्म है।

भारत तथा पश्चिम के अतिरिक्त अन्य जातियों के अध्ययन से भी यही परिणाम निकलता है कि 'स्तरीकरण' की प्रक्रिया से कोई समाज अछूता नहीं है। यहाँ तक कि निम्न जातियों में भी 'स्तरीकरण' है, उनमें भी कई अपने को दूसरों से ऊँचा समझती हैं। उदाहरणार्थ, चमार स्वयं तो अछूत समझे जाते हैं, फिर भी डोम नाम की एक दूसरी अछूत जाति के हाथ का नहीं खाते। असम की नागा जन-जाति में भी ऊँच-नीच का 'स्तरीकरण' पाया जाता है। नागा-जन-जाति की एक अन्य जन-जाति है जिसका नाम 'आओ' है। इसे निम्न स्तर का समझा जाता है और इन्हें भुजाओं पर हाथी-दाँत के ज़ेवर पहनने का अधिकार नहीं है। दक्षिण में 'पुलयन' नाम की एक अस्पृश्य जाति है। यह स्वयं अस्पृश्य कहलाती है, परन्तु 'परिया' नाम की अस्पृश्य जाति से इतनी घृणा करती है कि अगर कोई परिया छू जाय तो पुलियन पाँच बार स्नान करता है। यह समाज में 'स्तरीकरण' की प्रक्रिया का एक जीवित उदाहरण है। संसार की जातियों, उप-जातियों तथा जन-जातियों का अध्ययन करने के बाद समनेर ने लिखा है कि उन्हें तो कोई भी समाज ऐसा नहीं दीखा जिसमें 'स्तरीकरण' (Stratification), ऊँच-नीच का भेद-भाव न पाया जाता हो। संसार के सभी समाजों में 'स्तरीकरण' की जो प्रक्रिया पायी जाती है उसी का एक उदाहरण हिन्दुओं की जाति-व्यवस्था है। जाति-व्यवस्था के विशाल भवन के उच्च-शिखर पर ब्राह्मण खड़े हैं, तो उसके निम्नतम स्तर पर जो मानव-समाज दीखता है, वही अस्पृश्य कहलाता है। दूसरे शब्दों में जाति-व्यवस्था की स्तरीकरण की प्रक्रिया का परिणाम ही 'अस्पृश्यता' की सामाजिक-रचना है।

३. अस्पृश्यता के लक्षण

१९३१ से पहले तक जन-गणना की पुस्तकों में अनुसूचित-जातियों (Scheduled castes) को 'दलित-वर्ग' (Depressed classes) कहा जाता था। इस शब्द के प्रयोग के विरुद्ध इस वर्ग के नेताओं ने आन्दोलन किया और कहा कि 'दलित' (Depressed) तथा 'बहिष्कृत' (Outcast) का एक ही अर्थ है, इसलिए इसके स्थान में किसी अन्य शब्द का प्रयोग होना चाहिए। परिणामस्वरूप १९३१ की जन-गणना में इस वर्ग के लिए 'बाह्य-जाति' (Exterior castes)-शब्द का प्रयोग किया गया। कठिनाई यह थी कि 'बाह्य-जाति'—इस शब्द में कौन-कौन सी जातियाँ गिनी जायें, कौन-सी न गिनी जायें, इसलिए इस 'जन-गणना' में 'बाह्य-जाति' के निम्न लक्षण निश्चित किये गये :—

(i) क्या ब्राह्मण उस जाति की पुरोहिताई करते हैं या नहीं ?

(ii) क्या द्विजों का काम करने वाले नाई, कहार तथा दर्ज़ी उनका काम करते हैं या नहीं ?

(iii) क्या उस जाति के स्पर्श या निकटता से सवर्ण हिन्दू अपने को अपवित्र समझते हैं या नहीं ?

(iv) क्या सवर्ण हिन्दू उस जाति के हाथ का पानी पी सकते हैं या नहीं ?

(v) क्या उस जाति के व्यक्ति सार्वजनिक सड़कों, किश्तियों, कुओं तथा विद्यालयों का प्रयोग कर सकते हैं या नहीं ?

(vi) क्या उस जाति के लोगों के लिए हिन्दुओं के मन्दिरों में प्रवेश निषिद्ध है या नहीं ?

(vii) क्या उस जाति के शिक्षित व्यक्ति के साथ उसी शिक्षा के सवर्ण हिन्दू के समान व्यवहार होता है या नहीं ?

(viii) क्या उस जाति के लोगों को 'दलित' इसलिए कहा जाता है क्योंकि वे अज्ञानी हैं, अशिक्षित हैं या ग़रीब हैं, या उन्हें 'दलित' कहने का कोई अन्य कारण है ?

(ix) क्या उस जाति के लोगों को 'दलित' इसलिए कहा जाता है, क्योंकि उनका पेशा नीच काम का है, और अगर वे उस पेशे को छोड़ दें तो उन्हें 'दलित' नहीं कहा जायगा ?

उक्त लक्षणों के अनुसार जिन जातियों के साथ ऐसा व्यवहार होता है जो इन लक्षणों में कहा गया है, उसे 'दलित' या 'बाह्य-जाति' में गिन लिया जाता है।

४. अस्पृश्य-जातियों के नामकरण

अंग्रेज़ी का 'Caste'-शब्द १८०० ईस्वी से पहले का नहीं है। यह लैटिन के 'Castus'-शब्द से बना है जिसका अर्थ है—'पवित्र'। जब पहले-पहल पुर्तगाली यात्री भारत में आये तब उन्होंने यहाँ की सवर्ण-जातियों के लिए इस शब्द का प्रयोग किया। अगर ब्राह्मणादि 'पवित्र' जातियाँ थीं, तो इतर लोग 'अपवित्र' थे, और इस लिए सवर्णेतर जातियों के लिए 'Outcast'-शब्द का प्रयोग हुआ।

हिन्दुओं में पहले इन्हें 'अछूत' कहा जाता था, फिर 'दलित'-शब्द का प्रयोग किया जाने लगा। 'दलित' का अर्थ है जिसे दबाया जाय, जिसे अधिकारों से वंचित किया जाय। आर्य-समाज ने 'अछूतोद्धार' की जगह 'दलितोद्धार'-शब्द का ही सदा प्रयोग किया। आर्य-समाज का कहना था कि ये वर्ग 'अछूत' नहीं हैं, इनका अपनी दशा के लिए कोई दोष नहीं है; ये वर्ग 'दलित' हैं, हमने इन्हें दबा रखा है, इनकी हीन दशा के लिए हमारा दोष है, दोषी हम हैं न कि ये। दलित वर्ग के लोगों ने भी इस बात को पसन्द किया, और १९३१ से पहले तक जन-गणना में इस वर्ग के लिए 'दलित' (Depressed)-शब्द का ही प्रयोग होता रहा। आर्य-समाज ने अंग्रेज़ी के 'Depressed'-शब्द के लिए 'Suppressed'-शब्द का प्रयोग किया। १९३१ की जन-गणना के समय फिर प्रश्न उठा, कुछ लोगों ने 'दलित'-शब्द को भी

'बहिष्कृत'(Outcast)-शब्द जैसा ही समझा। तब उस समय के जनगणना अधीक्षक ने एक नवीन शब्द का आविष्कार किया। वह शब्द था--'बाह्य-जाति' (Exterior caste)--इस शब्द का इसलिए प्रयोग किया गया क्योंकि इन जातियों का भारतीय-सामाजिक-रचना में कोई स्थान नहीं था, इस सामाजिक-रचना के ये बाहर थीं।

'बाह्य-जाति'-शब्द के प्रयोग ने एक समस्या खड़ी कर दी। डा० अम्बेदकर ने यह कहना शुरू कर दिया कि इन जातियों का हिन्दुओं से कोई सम्बन्ध नहीं है, ये हिन्दुओं की सामाजिक-रचना में नहीं आतीं, ये हिन्दू नहीं हैं। हिन्दू नहीं हैं तो इसका राजनैतिक परिणाम क्या निकलता है? जैसे मुसलमानों को हिन्दुओं से पृथक् होने के कारण 'पृथक्-निर्वाचन' (Separate representation) का अधिकार दिया गया था, वैसे डॉ० अम्बेदकर ने इन जातियों के हिन्दू न होने के कारण इनके लिए पृथक्-निर्वाचन के अधिकार की माँग की। इसी समय १९३१ में लंदन में गोल-मेज कान्फ़रेन्स हो रही थी। इस कान्फ़रेंस में डॉ० अम्बेदकर ने यह माँग की कि इन जातियों को हिन्दू न होने के कारण पृथक्-निर्वाचन का अधिकार होना चाहिए। महात्मा गांधी का कहना था कि दलित-वर्ग हिन्दुओं से पृथक् नहीं है, हिन्दुओं का ही एक अंग है, इसलिए इन्हें पृथक्-निर्वाचन का अधिकार दिया जायगा, तो हिन्दू-समाज नष्ट-भ्रष्ट हो जायगा। उस समय रैमजे मैकडौनल्ड ब्रिटेन के प्रधान मंत्री थे। उन्होंने दलित-वर्ग को पृथक्-निर्वाचन का अधिकार देने की घोषणा कर दी। इस घोषणा के होते ही महात्मा गांधी ने २० सितम्बर १९३२ को आमरण-अनशन शुरू कर दिया। इस समय डॉ० जयकर तथा डॉ० सप्रू ने बीच में पड़ कर डॉ० अम्बेदकर तथा महात्मा गांधी के बीच दलित-वर्ग के लिए समझौता कराया जिसे 'पूना-पैक्ट' कहा जाता है। इस समझौते के अनुसार दलित-वर्ग को विशेष अधिकार दिये गये और उन्हें हिन्दुओं का ही अंग माना गया। इस समय महात्मा गांधी ने इन जातियों के लिए एक नवीन शब्द का प्रयोग शुरू किया। यह शब्द था---'हरिजन'। इसके बाद महात्मा गांधी ने 'यंग इंडिया' के स्थान में 'हरिजन' पत्र का प्रकाशन शुरू कर दिया और अपनी सारी शक्ति हरिजनोद्धार पर केन्द्रित कर दी। १९३६ में इन जातियों को सरकारी तौर पर 'अनुसूचित-जातियाँ' कहा जाने लगा और भारतीय-संविधान में अस्पृश्य कही जाने वाली इन जातियों को 'अनुसूचित-जातियाँ' (Scheduled castes) कहा गया है, 'अनुसूचित' इसलिए क्योंकि इनकी एक सूची तैयार की गई, उस सूची में जो जातियाँ रखी गईं उन्हें 'अनुसूचित' कह दिया गया। इस प्रकार अस्पृश्य, दलित, बाह्य-जाति, हरिजन, अनुसूचित-जातियाँ---ये शब्द हैं जो इन जातियों के लिए प्रयुक्त होते रहे या हो रहे हैं जिनके लक्षणों की हम ऊपर चर्चा कर आये हैं।

५. अनुसूचितों की संख्या

१९३१ में 'बाह्य-जातियों' (Exterior castes) की संख्या २२७ थी और अनुसूचित कहे जाने वाले व्यक्तियों की संख्या ५,०१,९५,७७० थी। १९५१ में 'अनुसूचित-जातियों' की संख्या २८७ थी और अनसूचित कहे जाने वाले व्यक्तियों

की संख्या ५,१३,४३,८९८ थी। १९५६ में राष्ट्रपति के अध्यादेश से कुछ जातियों को अनुसूचित-श्रेणी में डाला गया, कुछ को हटाया गया। इस अध्यादेश के अनुसार अनुसूचित कहे जाने वाले व्यक्तियों की संख्या ५,५३,२७,०२१ हो गई। यह संख्या भारत की कुल जन-संख्या का १५.३२ प्रतिशत है। अनुसूचित-जातियों के जो व्यक्ति ईसाई-मुसलमान हो चुके हैं, वे इसमें सम्मिलित नहीं हैं। अपने देश में ९.९३ प्रतिशत मुसलमान और २.३० प्रतिशत ईसाई हैं। अगर इनमें से ५ प्रतिशत अनुसूचित-जातियों में से मुसलमान-ईसाई बने हों, तो १५.३२+५=२०.३२ प्रतिशत इस देश की आबादी अनुसूचित-जातियों के व्यक्तियों की है जिसका अर्थ है कि देश का लगभग पाँचवाँ हिस्सा इन्हीं जातियों से बसा हुआ है। इतनी बड़ी संख्या में इस वर्ग का होना, और उसके साथ इन जातियों के साथ दुर्व्यवहार होना अपने देश के लिए कलंक के सिवाय क्या हो सकता है? इसलिए इस वर्ग की तरफ़ विशेष ध्यान देना जनता तथा सरकार दोनों का कर्त्तव्य है।

अनुसूचित व्यक्तियों की किस प्रान्त में कितनी संख्या है, और उस प्रान्त की कुल जन-संख्या का क्या प्रतिशत है—यह निम्न तालिका[1] से स्पष्ट हो जायगा:—

राज्य	१९५६ के राष्ट्रपति के अध्यादेश के अनुसार अनुसूचितों की संख्या	यह संख्या राज्य की जन-संख्या का कितना प्रतिशत है
आन्ध्र	४४,१५,९९५	१४.१३
असम	४,२४,०४४	४.६९
बिहार	४९,१३,९९०	१२.६७
बम्बई	५२,०२,०७७	१०.७८
जम्मू तथा काश्मीर	१,५६,१३५	३.५४
केरल	१२,०७,२९४	८.९१
मध्य-प्रदेश	३९,१२,२०५	१५.०१
मद्रास	५३,८१,८३६	१७.९५
मैसूर	२५,८३,१४२	१३.३१
उड़ीसा	२६,२९,२५०	१७.९५
पंजाब	३४,९०,९८३	२१.६४
राजस्थान	२५,०२,२०२	१५.६७
उत्तर-प्रदेश	१,३१,००,३९८	२०.७२
पश्चिमी-बंगाल	४७,४३,७१३	१८.०४
दिल्ली	२,६८,५३०	१५.४०
हिमाचल-प्रदेश	३,१९,९७२	२८.८४
लकाबीव द्वीप-समूह	—	—
मणिपुर	२८,६४७	४.९६
त्रिपुरा	४६,६०८	७.२९
योग	५,५३,२७,०२१	१५.३२ देश की जन-संख्या का प्रतिशत

1. Report of the Commissioner for Scheduled Castes and Scheduled Tribes, 1956-1957 (Part II, Appendix II)

६. अनुसूचित-जातियों की निर्योग्यताएँ (अनर्हताएँ)
(Disabilities of Scheduled Castes)

अनुसूचित-जातियों को हिन्दू-समाज ने अपने से पृथक् कर रखा है, इसलिए उन्हें समाज में धार्मिक, आर्थिक, सामाजिक तथा सार्वजनिक—इन चार क्षेत्रों में उन अधिकारों से वंचित किया गया है जो अधिकार अन्य हिन्दुओं को हिन्दू-समाज का अंग होने से प्राप्त हैं।

(क) धार्मिक-निर्योग्यता—अनुसूचित-जाति के लोग हिन्दुओं के मन्दिरों में प्रवेश नहीं कर सकते। शूद्र के लिए वेद का अध्ययन वर्जित था। 'स्त्री-शूद्रौ-नाधीयाताम्'—स्त्री और शूद्र पढ़ने के अधिकारी नहीं हैं—इसे श्रुति-वाक्य कहा जाता था। गौतम धर्म-सूत्र १२-४ में लिखा है—'अथ ह अस्य वेदम् उपशृण्वतः त्रपुजतुभ्यां श्रोत्र-परिपूरणम्, उदाहरणे जिह्वाच्छेदो, धारणे शरीरभेदः।'—अर्थात् यदि शूद्र वेद सुन ले तो उसके कानों में पिघला हुआ सीसा और लाख भर दे, यदि वह मन्त्रोच्चारण करे तो उसकी जीभ कटवा दे, यदि वह वेद-मन्त्रों को याद कर ले तो उसका शरीर चीर दे। मन्दिर-प्रवेश तथा धर्म-शास्त्रों के पढ़ने-लिखने से ही अनुसूचित-जातियों पर पाबन्दी नहीं लगाई गई उन्हें धार्मिक-संस्कारों से भी वंचित किया गया और कोई पुरोहित उनके संस्कार आदि नहीं करा सकता।

इन धार्मिक-निर्योग्यताओं का प्रतीकार करने के लिए समाज-सुधारकों ने कई प्रयत्न किये। मन्दिर-प्रवेश की समस्या को लेकर कट्टर-पन्थियों के साथ सुधारवादियों के सत्याग्रह हुए। आर्य-समाज तथा महात्मा गांधी के हरिजन-आन्दोलन ने इस दिशा में बहुत बड़ा काम किया।

(ख) आर्थिक-निर्योग्यता—अनुसूचित-जातियों के लोगों के पास भूमि नहीं है, इसलिए वे स्वयं कृषि तो कर नहीं सकते, भूमिहीन होने के कारण वे मेहनत-मजदूरी ही कर सकते हैं। मजदूरी में आमदनी क्या हो सकती है। इसके अतिरिक्त जमींदार उनसे बेगार लेता रहा है—वे बेचारे बिना मजदूरी के जमींदारों के गुलाम रहे हैं। उनके पेशे पहले तो किसी काम के हैं नहीं, हैं तो भंगी के, चमार के। दूसरे पेशे उनके लिए खुले नहीं, इसलिए वे वंश-परम्परा से टट्टी उठाते, जूती बनाते हैं। जब वे अपने यहाँ शादी-ब्याह या किसी जरूरत के लिए कर्ज लेते हैं, तो वह कर्ज उनसे जन्म भर नहीं उतरता और महाजन के लिए वे मानों जन्म भर के लिए बिक-से जाते हैं।

अब यह स्थिति धीरे-धीरे सरकारी प्रयत्नों से बदलने लगी है। सब राज्य-सरकारें अनुसूचितों को महाजनों की कर्जदारी से बचाने के लिए कानून बना रही हैं। बिहार तथा उड़ीसा में कर्जदार-अनुसूचित-व्यक्ति महाजन के यहाँ दास की तरह काम करता था, अब इस प्रथा को कानूनन रोक दिया गया है। आन्ध्र, असम, बिहार, उड़ीसा, मध्य-प्रदेश, पश्चिमी-बंगाल, भूपाल में उन्हें भूमि से बेदखल नहीं कराया जा सकता। आन्ध्र, बिहार, उड़ीसा, बम्बई, मद्रास, उत्तर-प्रदेश तथा

सौराष्ट्र में बंजर पड़ी भूमियों को उपजाऊ बना कर अनुसूचितों में बांटा जा रहा है। असम, बिहार, बम्बई, उत्तर-प्रदेश, हैदराबाद, पश्चिमी-बंगाल में इन लोगों को गृहोद्योगों में प्रशिक्षित करने के लिए प्रशिक्षण-केन्द्र खोले जा रहे हैं और जो व्यक्ति इन केन्द्रों में गृहोद्योग सीख जाते हैं, उन्हें स्वतंत्र उद्योग चलाने के लिए ऋण दिया जाता है। कई राज्यों में इन्हें पशु तथा मुर्गी पालने के व्यवसाय सिखाये जाते हैं और खेती के लिए इन्हें उपकरण, बीज, खाद आदि दिये जाते हैं। हरिजनों की आर्थिक-स्थिति सुधारने के लिए किये गये सरकारी प्रयत्नों की हम विशेष रूप से अगले अध्याय में चर्चा करेंगे।

(ग) सामाजिक-निर्योग्यताएँ—इन लोगों के साथ ऐसा बर्ताव किया जाता है जैसे ये हिन्दू-समाज के अंग न हों। नाई इनके बाल नहीं बनायेगा, कहार इनका पानी नहीं भरेगा, धोबी इनके कपड़े नहीं धोयेगा। गढ़वाल में अनुसूचित जातियों के लिए 'डोला-पालकी' का प्रश्न उग्र रूप धारण कर गया। उन्हें 'डोला-पालकी' में नहीं चढ़ने दिया जाता था, जो चढ़ते थे उन्हें सवर्ण-हिन्दू मारते-पीटते थे। अब आन्दोलनों से ये बातें हटती जा रही हैं।

(घ) सार्वजनिक-निर्योग्यताएँ—अनुसूचित-जाति के व्यक्तियों को सार्वजनिक स्थानों का स्वतंत्रता-पूर्वक प्रयोग नहीं करने दिया जाता। उदाहरणार्थ, हडसन ने लिखा है कि तामिलनाड में ऐसी अस्पृश्य जाति है जिसके छूने से ही नहीं, अपितु देखने से भी सवर्ण हिन्दू के अपवित्र हो जाने का भय रहता है, इसलिए ये लोग लाचारी में अपना सब काम रात को करते हैं, दिन को नहीं, ताकि कोई सवर्ण हिन्दू उन्हें देख न ले। ये लोग दिन को सार्वजनिक सड़कों का इस्तेमाल नहीं कर सकते। सार्वजनिक कुओं से तो ये लोग पानी भर ही नहीं सकते। कहीं-कहीं तो इन्हें इतना अपवित्र समझा जाता है कि इन्हें कुओं के पास भी नहीं आने देते, इनके लिए अपने अलग कुएँ बने होते हैं। बंगाल में कुएँ के पास तो आ सकते थे परन्तु कुएँ से पानी नहीं खींच सकते थे। उन्हें कोई सवर्ण हिन्दू ही कुएँ से पानी खींच कर दे सकता था, और जब तक कोई सवर्ण हिन्दू कुएँ पर नहीं आ जाता था तब तक उन्हें कुएँ पर प्रतीक्षा करनी पड़ती थी। सार्वजनिक शिक्षणालयों में तो इन्हें सवर्ण छात्रों के साथ बैठने नहीं दिया जाता था, यह समझा जाता था कि इनके स्पर्शमात्र से मनुष्य अपवित्र हो जाता है।

स्पर्शमात्र से सवर्ण-हिन्दू के अपवित्र हो जाने की बात दक्षिण-भारत में इतनी उग्र हो गई थी कि श्री घुर्ये के अनुसार दक्षिण की नायर जाति से तिया जाति के लोग बारह कदम तथा इलावत जाति के लोग चौबीस कदम दूर रहने के लिए बाधित हैं, और पुलयन जाति के लोग तो नायर जाति के निकट आ ही नहीं सकते। कौन-कौन-सी अनुसूचित-जातियां ब्राह्मण से कितनी दूरी पर रहें—दक्षिण-भारत में अनेक स्थानों पर इस बात की भी व्यवस्था बनी हुई है। उदाहरणार्थ, बढ़ई, लोहार १६ हाथ, ताड़ी बनाने वाले २४ हाथ, पालम ३२ हाथ, परिया ४० हाथ दूर रहने चाहिएँ, इससे कम दूरी रह जाने पर ब्राह्मण अपवित्र हो

जाता है। श्रीयुत् घुर्ये ने अपनी पुस्तक 'Caste and Class in India' में लिखा है कि पेशवाओं के शासन-काल में महाराष्ट्र में यदि कोई सवर्ण हिन्दू सड़क पर चल रहा हो तो अछूत को वहाँ चलने की आज्ञा नहीं होती थी, ताकि कहीं उसकी छाया से वह सवर्ण भ्रष्ट न हो जाय। अछूतों को अपनी कलाई पर या गले में निशानी के रूप में एक काला डोरा बाँधना पड़ता था ताकि हिन्दू उसे भूल कर स्पर्श न कर बैठें। पेशवाओं की राजधानी पूना में अछूतों के लिए राजाज्ञा थी कि वे कमर में झाड़ू बाँध कर चलें। चलने से भूमि पर उनके पैरों के जो चिह्न बनें उन्हें झाड़ू से मिटाते जायें जिससे कोई हिन्दू उन पद-चिह्नों पर पैर रखने से अपवित्र न हो जाय। पूना में अछूत को मट्टी की हाँडी लटका कर चलना पड़ता था, ताकि उसे थूकना हो तो उसमें थूके। कारण यह कि भूमि पर थूकने से यदि उसके थूक पर किसी हिन्दू का पाँव पड़ गया तो वह अपवित्र हो जायगा। डॉ० अम्बेदकर ने अपनी पुस्तक 'Annihilation of Caste' में इन सब उद्धरणों का उल्लेख किया है।

श्रीयुत् पणिक्कर ने अपने ग्रन्थ 'हिन्दू-समाज निर्णय के द्वार पर' में एक जगह लिखा है : "जब जाति-पद्धति अपनी यौवनावस्था में थी तब अछूत कहे जाने वालों की दशा कई प्रकार से दासों से भी बुरी थी। दास कम-से-कम स्वामी की अपनी सम्पत्ति था और इसलिए स्वामी के साथ उसका एक व्यक्तिगत सम्बन्ध होता था। कालान्तर में आर्थिक-स्वार्थों और मानवीय-भावनाओं ने व्यक्तिगत दासता की नृशंसता में कमी कर दी, किन्तु ये बातें हिन्दुओं की अस्पृश्यता-पद्धति के पाषाण-हृदय को द्रवीभूत करने में असफल रहीं? क्यों? ध्यान देने से मालूम हो जायगा कि दासता और अस्पृश्यता में भारी अन्तर था। अस्पृश्यता के अन्तर्गत जातिगत दासता अन्तर्भूत थी। दास केवल एक व्यक्ति के अधीन होता था, लेकिन अछूतों के परिवार तो गाँव के साथ जोड़ दिये जाते थे और उन पर इस प्रकार गाँव-भर की दासता का भार होता था। इस प्रथा की कठोरता में कमी के लिए किसी व्यक्तिगत या सामाजिक रियायत की गुंजायश नहीं थी। इसकी कल्पना स्वप्न तक में नहीं की जा सकती थी कि उच्च वर्णों का कोई व्यक्ति किसी अछूत के साथ व्यक्तिगत सम्बन्ध रख सकता था।"

७. अनुसूचित-जातियों की निर्योग्यताओं के परिणाम

अनुसूचित-जातियों के साथ हिन्दू-समाज ने जो बर्ताव किया है उसके कुछ परिणाम तो अनुसूचितों को भुगतने पड़ रहे हैं, इनका जिक्र हमने ऊपर किया, कुछ परिणाम हिन्दू-जाति को भी भुगतने पड़ रहे हैं। हिन्दू-जाति को जो परिणाम भुगतने पड़ रहे हैं, उन्हें दो भागों में विभक्त किया जा सकता है—धार्मिक तथा राजनैतिक। ये परिणाम क्या हैं?

(क) धार्मिक परिणाम—धार्मिक-दृष्टि से इन निर्योग्यताओं का परिणाम यह हो रहा है कि अस्पृश्यता के अभिशाप से बचने के लिए ये जातियाँ मुसलमान या ईसाई होती जा रही हैं। दक्षिण-भारत में अस्पृश्यता बहुत अधिक है, और

इसी कारण उधर ये लोग ईसाई भी पुष्कल मात्रा में हुए हैं। इस्लाम तथा ईसाइयत में छूत-छात नहीं है, है भी तो दूसरे प्रकार की है, हिन्दुओं जैसी मानवता को कोंचने जैसी नहीं। इन लोगों के मुसलमान तथा ईसाई बनने से हिन्दुओं की संख्या का ह्रास हो रहा है। जब मौलाना मुहम्मद अली और शौकत अली जिन्दा थे, तब उन्होंने कांग्रेस के मंच से यह सुझाव रखा था कि अस्पृश्य कहे जाने वाली जातियों को मुसलमानों के सुपुर्द कर दिया जाय।

(ख) राजनैतिक परिणाम—राजनैतिक-दृष्टि से इन निर्योग्यताओं का परिणाम यह हो रहा है कि अनुसूचित-जातियाँ अपने को हिन्दुओं से पृथक् समझ कर अल्पसंख्यकों के रूप में पृथक् मताधिकार माँग रही हैं। हम डॉ० अम्बेदकर की उस माँग का जिक्र कर आये हैं जिसमें उन्होंने १९३१ की लंदन की गोल-मेज-कान्फ़रेंस में अपनी जाति के लिए पृथक् मताधिकार की माँग की थी, जिससे अनुसूचित-जातियाँ हिन्दुओं से सदा के लिए अलग हो जातीं और जिसे ब्रिटिश कूटनीतिज्ञों ने स्वीकार कर लिया था। अंग्रेजों का हिन्दुओं के टुकड़े-टुकड़े कर देने का यह दाँव महात्मा गांधी ने अपने आमरण-अनशन की घोषणा से चलने न दिया। परन्तु अगर यह दाँव चल जाता, और राजनतिक-दृष्टि से अनुसूचित-जातियाँ हिन्दुओं से पृथक् हो जातीं, तो इसका मुख्य-कारण तो हिन्दुओं का इन जातियों के साथ दुर्व्यवहार ही होता। हम अंग्रेजों को कोसने लगते हैं, डॉ० अम्बेदकर को दस-बीस सुनाने लगते हैं, परन्तु यह भूल जाते हैं कि ये लोग जो-कुछ करते या कहते थे उसका अवसर तो हम ही अपनी सामाजिक-रचना द्वारा उन्हें दे रहे थे।

८. अस्पृश्यता की उत्पत्ति के कारण
(Origin of Untouchability)

इस प्रकरण में इस बात पर विचार करना असंगत न होगा कि अस्पृश्यता के विचार की उत्पत्ति के कारण क्या थे। 'अस्पृश्यता' की उत्पत्ति के कारणों का विवेचन करते हुए श्री हट्टन ने इस हिन्दू-प्रथा के तीन कारणों का उल्लेख किया है—'प्रजातीय' (Racial), 'धार्मिक' (Religious) तथा 'सामाजिक' (Social)।

(क) प्रजातीय-कारण (Racial factors)—श्री रिजले तथा श्री हट्टन का कथन है कि जब कोई जाति किसी दूसरी जाति को अपने आधीन करती है तब वह अपने को ऊँचा तथा उसे नीचा मानने लगती है। विजित-जातियाँ स्वयं भी अपने को नीचा ही समझने लगती हैं। हट्टन का कथन है कि बर्मा के राजाओं ने किसी समय मणिपुर तथा स्याम को जीता और वहाँ की नस्ल के लोगों को दास बना कर बर्मा के धर्म-मन्दिरों में काम-काज करने के लिए दास बना दिया। ये लोग बर्मा की नस्ल से भिन्न हैं और बर्मा में पगोडाओं (मन्दिरों) में दासों की तरह काम करते हैं। इसी तरह हट्टन का कथन है कि आर्य लोग जब भारत में आये, तब उन्होंने यहाँ के आदिवासियों को परास्त किया और उनके साथ निम्न-स्तर

का सा बर्ताव करने लगे। वेदों में आर्यों तथा दासों का वर्णन पाया जाता है। प्रजातीय सिद्धान्त को मानने वालों का कहना है कि आर्य मध्य-एशिया से भारत में आये थे, यहाँ जो लोग रहते थे वे दास कहलाते थे। इन लोगों का रंग काला था, होंठ मोटे थे, नाक चपटी थी। चपटी नाक होने के कारण ये वेदों में 'अनासाः'—'बिना नाक वाले' भी कहे गये हैं। वेदों में जहाँ 'पंचजनाः' का वर्णन है, वहाँ चार वर्ण और पाँचवें ये दास लोग थे—ऐसा कुछ विद्वानों का कहना है। जिस प्रकार हिन्दुओं ने यवनों, खशों, ग्रीकों आदि को अपने में उन्हें भिन्न-भिन्न जातियों का नाम देकर पचा लिया, इसी प्रकार किसी समय इन दासों को अपने में पचाने के लिए इन्हें 'पंचम-वर्ण' का नाम भी दिया गया। परन्तु क्योंकि 'आर्य' विजेता थे, 'दास' लोग विजित थ, इसलिए सदियाँ गुज़र जाने पर भी आर्य लोग दासों को, यहाँ के आदि-निवासियों को अपने में नहीं पचा सके और इन्हें अलग-जाति के तौर पर ही समझते रहे। इतना ही नहीं, आर्य लोग अपने को इतना ऊँचा और बड़ा समझते रहे कि वे इनके सम्पर्क को भी अपमानजनक मानते रहे और इन्हें सदा अपने से दूर रखते रहे। आर्यों की इस मनोवृत्ति को देख कर ये लोग भी उनसे दूर रहते रहे, कभी-कभी आर्यों पर डाके भी डालते रहे। इनमें से जिन लोगों को आर्य दबा न सके, जो उन पर डाका-हमला करते रहे, उन्हें आर्यों ने 'दस्यु' कहा, दस्यु का अर्थ है 'डाकू', और जिनको आर्यों ने दबा दिया, जिनकी पीठ तोड़ दी, उन्हें आर्यों ने 'दास' कहा, दास का अर्थ है ग़ुलाम। अस्पृश्यता का प्रजातीय-उद्भव मानने वालों का कहना है कि आजकल जितनी अस्पृश्य कहलाने वाली जातियाँ हैं वे इन अनार्यों से, दासों या दस्युओं से ही निकली हैं, अनुसूचित-जातियाँ अनार्य-जातियों की उत्तराधिकारी हैं, उन्हीं का विस्तार हैं। यह विचार उन लोगों का है जो आर्यों को बाहर का, और दस्युओं या अनार्यों को इस देश के आदिवासी मानते हैं। इनके मत से आर्य तथा अनार्य दो भिन्न-भिन्न जातियाँ हैं।

जो लोग आर्यों को बाहर से आया हुआ नहीं मानते, यहीं के आदि-निवासी मानते हैं, आर्य तथा दस्यु—ये दो जातियाँ नहीं मानते, अच्छों को आर्य और बुरों को दस्यु मानते हैं,जो लोग यह मानते हैं कि आर्य बुरा काम करने पर दास कहलाता था, दास अच्छा कर्म करने लगता तो आर्य कहलाने लगता था, उनके मत में अस्पृश्यता का क्या कारण है, ऐसा कारण जिसे प्रजातीय-कारण कहा जा सके? हम पहले १५वें अध्याय में लिख आये हैं कि हिन्दुओं में प्रजातीय-आधार पर अनुलोम-विवाहों को तो बरदाश्त किया जाता था, प्रतिलोम-विवाहों को नहीं, परन्तु फिर भी प्रेम-वश या काम-वश ऐसे विवाह या ऐसे सम्बन्ध हो जाते थ। प्रयत्न यह किया जाता था कि प्रत्येक विवाह अपनी जाति में ही हो, ब्राह्मण का ब्राह्मणों में, क्षत्रिय का क्षत्रियों में, वैश्यों का वैश्यों में, परन्तु अगर जाति तोड़ी भी जाती थी तो उच्च-जाति का व्यक्ति हीन जाति की कन्या से विवाह कर सकता था, हीन-जाति का व्यक्ति उच्च-जाति की कन्या से विवाह नहीं कर सकता था। इसी को अनुलोम तथा प्रतिलोम विवाह कहा जाता था। हम पहले लिख आये हैं कि अनुलोम-

विवाहों से जो सन्तानें होती थीं, उन्हें हिन्दू-सामाजिक-व्यवस्था में खपा लिया जाता था, इन सन्तानों को हिन्दुओं की जाति-व्यवस्था में कोई जाति दे दी जाती थी, इन्हें अस्पृश्य नहीं समझा जाता था, प्रतिलोम-विवाहों से जो सन्तानें होती थीं उन्हें हिन्दू-सामाजिक-व्यवस्था में नहीं खपाया जाता था, एसी सन्तानों को सामाजिक-व्यवस्था से बहिष्कृत कर दिया जाता था, उन्हें अस्पृश्य घोषित कर दिया जाता था। मनुस्मृति में लिखा है कि शूद्र पिता द्वारा ब्राह्मण कन्या की सन्तान को 'चाण्डाल' कहा जाता था। सम्भव है, अस्पृश्य-जातियों के बनने का कारण यह प्रतिलोम-विवाह-प्रथा रही हो। इस क्षेत्र में अभी अधिक गवेषणा करने की आवश्यकता है क्योंकि सम्भव है यह कल्पना ठीक हो, सम्भव है ठीक न हो। यह विचार उन लोगों का है जो आर्यों तथा अनार्यों को दो भिन्न-भिन्न जातियां नहीं मानते, सदाचारियों को आर्य तथा दुराचारियों को अनार्य कहते हैं, आर्यों तथा अनार्यों को एक ही नस्ल का मानते हैं। आचार-भेद से आर्य-अनार्य के भेद को मानते हैं।

(ख) धार्मिक कारण (Religious factors)—धर्म के कामों में पवित्रता को अत्यन्त आवश्यक माना जाता है। पूजा-पाठ करते हुए स्नान करना, जहाँ बैठें उसे शुद्ध रखना, धूप जलाना, जल छिड़कना—आदि सब कार्य पवित्रता की दृष्टि से किये जाते हैं। इसका स्वाभाविक परिणाम यह है कि जो लोग आदतों से या पेशों से अपवित्र कार्य करते हों उन्हें धार्मिक समारोहों से दूर रखा जाय, मन्दिर-तीर्थ आदि पवित्र स्थानों पर न आने दिया जाय। इस दृष्टि से अस्पृश्यता का धार्मिक-कारण मन्दिर-तीर्थ तथा पवित्र स्थानों को अपवित्रता से सुरक्षित रखना है। भंगी टट्टी उठाता है, चमार मरे जानवर की चमड़ी उतारता है, इन लोगों के अपवित्र कार्य हैं, इसलिए इनके संसर्ग से धार्मिक स्थानों को बचाने के लिए अस्पृश्यता के विचार ने जन्म लिया। जैसे मन्दिर-तीर्थ को अपवित्रता से बचाने के लिए उन्हें नजदीक नहीं आने दिया जाता, वैसे जो लोग अपने को पवित्र समझते हैं उन्होंने भी इनके साथ छूने को ठीक न समझा।

परन्तु प्रश्न यह है कि भंगी तो टट्टी उठाने के समय ही अपवित्र कार्य करता है, चमार चाम को हाथ लगाते हुए अपवित्र कार्य करता है, जब ये लोग नहा-धो लें, साफ़-सुथरे हो जायें, धुले हुए कपड़े पहन लें, तब इनके स्पर्श को क्यों बुरा माना जाता रहा? इसके अतिरिक्त अस्पृश्य लोग अपने लोगों में क्यों किसी को स्पृश्य और किसी को अस्पृश्य मानते हैं, उनमें यह भेद-भाव क्यों है, जब वे अस्पृश्य हैं तब उनमें भी कोई ज्यादा अस्पृश्य क्यों हैं?

इसका उत्तर हट्टन ने दिया है। उसका कथन है कि जाति-व्यवस्था तथा अस्पृश्यता आर्यों की सामाजिक-व्यवस्था नहीं हैं। आर्यों के इस देश में आने से पूर्व जो आदिम-जातियाँ इस देश में बसती थीं उनमें एक प्रकार का 'सामाजिक-स्तरीकरण' (Social stratification) मौजूद था। उस 'स्तरीकरण' को आर्यों ने अपना कर अपनी जाति-व्यवस्था का निर्माण किया, उसे ब्राह्मण-क्षत्रिय-

वैश्य-शूद्र का नाम दिया, असल में यह व्यवस्था उन्होंने आदिवासियों से ली। इतना ही नहीं, हट्टन के कथनानुसार 'अस्पृश्यता' की व्यवस्था भी आर्यों की व्यवस्था नहीं थी, यह भी उन्होंने यहाँ के आदिवासियों से ली। वह किस प्रकार? हट्टन का कहना है कि आदिवासियों में 'मैना' (Mana) का विचार पाया जाता है, और यही विचार 'अस्पृश्यता' के विचार का मूल है। 'मैना' का विचार क्या है। 'मैना' उस अवैयक्तिक शक्ति को कहते हैं जो संसार की प्रत्येक विलक्षण वस्तु में काम कर रही है। अगर पहाड़ ऊँचा है तो 'मैना' के कारण, अगर समुद्र गहरा है तो 'मैना' के कारण, अगर किसी व्यक्ति में कोई विलक्षण शक्ति है तो 'मैना' के कारण। कौडरिंगटन ने पहल-पहल संसार की आदिम-जातियों का अध्ययन करते हुए उनके इस सिद्धान्त की तरफ़ मानव-शास्त्रियों का ध्यान आकर्षित किया। 'मैना' के विषय में आदिवासियों का यह विचार है कि यह स्पर्श से दूसरे में आ जाती है, इसलिए आदिवासी स्पर्श-दोष से बचने का प्रयत्न करते हैं, खास कर रोटी-बेटी, भोजन आदि के विषय में तो स्पर्श-दोष को बहुत महत्त्व देते हैं। पोलीनेशिया में हर पुरुष तथा स्त्री में 'मैना' माना जाता है। वे यह मानते हैं कि साथ-साथ भोजन करने से पवित्र व्यक्ति का 'मैना', उसकी शक्ति नष्ट हो जाती है। इस जाति में मुखिया के बर्त्तन का भोजन दूसरा कोई व्यक्ति नहीं कर सकता। वे यह समझते हैं कि इस प्रकार मुखिया की शक्ति, उसका 'मैना' जो उसके भोजन में है खाने वाले को नष्ट कर देगी। पोलिनेशिया की 'मैना' की यह भावना भारत में भी पायी जाती है। डा० मजूमदार ने लिखा है कि इस देश की आदिम-जातियों में 'मैना' को 'बोंग' कहा जाता है। कौडरिंगटन का 'मैनावाद' श्री मजूमदार का 'बोंगवाद' है। बिहार की खरिया जाति के लोग अपनी भोजन पकाने की हंडिया को किसी को छूने नहीं देते, और अगर उनके रसोई-घर में कोई अपरिचित व्यक्ति प्रवेश कर ले तो वे अपने सब बर्त्तन नष्ट कर देते हैं, वे समझते हैं कि उसके 'बोंग' से वे सब भ्रष्ट हो गये। हट्टन ने भारत की अस्पृश्य कही जाने वाली जातियों तथा भारत की अनेक जन-जातियों के ऐसे दृष्टान्त दिये हैं जिनसे सिद्ध होता है कि 'अस्पृश्यता' का विचार आर्यों का विचार न होकर अनार्यों का विचार था और इसे आर्यों ने उनसे ले लिया। उदाहरणार्थ, छोटा नागपुर की 'हो' जन-जाति इसी 'मैना' या 'बोंग' के कारण खान-पान की दृष्टि से अनेक छोटे-छोटे समुदायों में बँटी हुई है।

'मैना' या 'बोंग' की आधार-भूत भावना यह है कि दूसरे के साथ स्पर्श से उसकी शक्ति का प्रभाव हम पर पड़ जाता है और अगर उसकी शक्ति नीची है तो हम में नीच-भाव आ जाता है। हट्टन ने बर्मा की एक जाति का उल्लेख किया है जिसका काम कब्र खोदना है। ये कब्र खोदने वाले अस्पृश्य समझे जाते हैं। क्यों अस्पृश्य समझे जाते हैं? क्योंकि उन्हें सदा मुर्दों से वास्ता पड़ता है और उनके स्पर्श से मौत की छूत लगने का डर लगा रहता है। इसी प्रकार धोबियों के विषय में हट्टन का कहना है कि वे तो कपड़े धोने, उन्हें साफ़ करने का काम करते हैं,

उनके स्पर्श से लोग क्यों बचते हैं ? इसका कारण हट्टन ने यह लिखा है कि क्योंकि वे सभी जातियों में अपवित्र समझे जाने वाले स्त्रियों के मासिक-धर्म से अपवित्र वस्त्रों को धोते हैं, इसलिए उनके स्पर्श से अपवित्रता का भय लगा रहता है।

दूसरे के 'मैना' या 'बोंग' से बचने का यही अर्थ नहीं है कि नीच-जाति के स्पर्श से बचा जाय। अस्पृश्य-जातियाँ उच्च-जातियों के स्पर्श से भी बचती हैं ताकि ऐसा न हो कि ऊँची जाति का 'मैना' या 'बोंग' उन्हें नष्ट कर दे। इसका उदाहरण हट्टन ने दक्षिण-भारत की होलिया जाति का दिया है। वहाँ जब कोई ब्राह्मण अस्पृश्य कहे जाने वाले होलिया लोगों की बस्ती में जाता है तब होलिया स्त्री-पुरुष गोबर, झाड़ू, जूतों की माला लेकर उसका स्वागत करते हैं और समझते हैं कि इस प्रकार ब्राह्मण का 'मैना' या 'बोंग' उन पर असर नहीं करता।

'मैना' या 'बोंग' के कारण ही अनुसूचित जातियों तथा जन-जातियों में 'वर्जन' (Taboo) का विचार पाया जाता है। यह खाना, यह न खाना—यह विचार क्यों पैदा होता है ? यह विचार इसलिए पैदा होता है क्योंकि जिस चीज को खाने के लिए निषिद्ध ठहराया जाता है, उसके 'मैना' या 'बोंग' से बचने का प्रयत्न किया जाता है। 'वर्जन' (Taboo) के नियम हिन्दुओं में भी पाये जाते हैं, भारत की अनुसूचित-जातियों तथा आदिवासी जन-जातियों में भी पाये जाते हैं। 'वर्जन' की यह भावना भी मूल रूप में आर्यों की न होकर आर्यों से पहले भारत में जो लोग रहते थे उनकी है, और उन्हीं से आर्यों ने ग्रहण की है।

अस्पृश्यता के सम्बन्ध में श्री हट्टन की जिस कल्पना का हमने उल्लेख किया वह कहाँ तक ठीक है, कहाँ तक ठीक नहीं है—हम नहीं कह सकते। इतना अवश्य कहा जा सकता है कि अस्पृश्यता की भावना का आधार—'मैना' या 'बोंग' का विचार—निम्न जातियों में अवश्य पाया जाता है, और इसके साथ यह भी कहा जा सकता है कि वेदों में अस्पृश्यता का विचार कहीं नहीं पाया जाता।

(ग) सामाजिक-कारण (Social factors)—अस्पृश्यता के सामाजिक-कारणों को दो भागों में बाँटा जा सकता है—एक तो है 'रूढ़िवाद' के कारण समाज में चली आ रही अस्पृश्यता, दूसरी है 'सामाजिक-स्तरीकरण' के कारण अस्पृश्यता।

(i) रूढ़िवाद (Custom and Mores) के कारण अस्पृश्यता—समाज में कई बातें प्रथा और रूढ़ि के कारण चल पड़ती हैं। पहले तो प्रथा तथा रूढ़ि का अन्य कोई कारण होता है, परन्तु पीछे जाकर प्रथा तथा रूढ़ि इसलिए चलती है क्योंकि वह प्रथा है, रूढ़ि है। हिन्दू-समाज में भी पहले किन्हीं भी कारणों से अस्पृश्यता प्रारम्भ हुई, परन्तु अब तो यह इसलिए भी चल रही है क्योंकि यह सैंकड़ों सालों से चलती चली आ रही है। प्रथा तथा रूढ़ि का बल कानून से भी प्रबल होता है। कानून को तो दण्ड के कारण लोग मानते हैं, मौका मिले तो उसे तोड़ने का यत्न करते हैं; प्रथा तथा रूढ़ि को इसलिए मानते हैं क्योंकि उनका अन्तरात्मा उन्हें कहता है कि बाप-दादों के समय से चली आ रही यह बात गलत

कैसे हो सकती है, प्रथा तथा रूढ़ि को तोड़ने का यत्न नहीं करते। अस्पृश्यता के हिन्दू-समाज में चलते रहने का यह एक सामाजिक-कारण है।

(ii) स्तरीकरण (Stratification) के कारण अस्पृश्यता—हम पहले कह आये हैं कि हर समाज में ऊँच-नीच का स्तर पाया जाता है। हिन्दुओं में भी है, अहिन्दुओं में भी है, यहाँ तक कि अस्पृश्य कहे जाने वालों में भी स्तरीकरण का यह रोग घर किये हुए है। इसके कई उदाहरण भी हम पहले दे आये हैं। स्तरीकरण की इस सामाजिक-प्रक्रिया में जो सब से पवित्र समझे जाते हैं, वे सब से ऊपर माने जाते हैं, जो अपवित्र समझे जाते हैं—भले ही अपने पेशों से अपवित्र माने जाते हों—वे सब से नीचे माने जाते हैं। हिन्दू-समाज की अस्पृश्यता का यह दूसरा सामाजिक-कारण है।

९. अस्पृश्यता के विरुद्ध आन्दोलन

'अस्पृश्यता' के विरुद्ध आन्दोलनों को पाँच भागों में बाँटा जा सकता है—बौद्ध-काल से वर्त्तमान-काल तक लगातार चल रहा आन्दोलन, अस्पृश्य कही जाने वाली जातियों द्वारा आन्दोलन, सवर्ण हिन्दुओं द्वारा आन्दोलन, ईसाइयों द्वारा प्रचार-कार्य तथा सरकार द्वारा किये गये प्रयत्न। इन पाँचों प्रयत्नों के विषय में कुछ लिखना आवश्यक है।

(क) बौद्ध-काल से अब तक निरन्तर चल रहा अस्पृश्यता-विरोधी आन्दोलन—जाति-व्यवस्था की ऊँच-नीच तथा अस्पृश्यता के विरुद्ध महात्मा बुद्ध के समय से आन्दोलन चल रहा है। अस्पृश्यता जाति-व्यवस्था का ही तर्क-संगत परिणाम है, इसलिए महात्मा बुद्ध ने जन्म की जाति-व्यवस्था पर कठोर प्रहार किया था। बौद्ध-साहित्य में एक कथा आती है जिसके अनुसार वासत्थ और भारद्वाज नाम के दो ब्राह्मण महात्मा बुद्ध के पास आये और पूछने लगे कि मनुष्य क्या जन्म से ब्राह्मण होता है या कर्म से। महात्मा बुद्ध ने उत्तर दिया कि मनुष्यों में जो गौएँ चराता है उसे हम ग्वाला कहेंगे, ब्राह्मण नहीं; जो व्यापार करता है उसे व्यापारी कहेंगे, ब्राह्मण नहीं; जो नौकरी करता है उसे नौकर कहेंगे, ब्राह्मण नहीं; जो चोरी करता है उसे चोर कहेंगे, ब्राह्मण नहीं। मैं किसी को माता के पेट से पैदा होते ही ब्राह्मण नहीं कहूँगा। जो व्यक्ति अक्रोधी है, अकामी है, सच्चा है, वही ब्राह्मण है। महात्मा बुद्ध के अनुयायियों में सभी जातियों के लोग थे। उपाली महात्मा बुद्ध का शिष्य था और नाई था।

जाति-व्यवस्था और अस्पृश्यता के विरुद्ध जो आन्दोलन महात्मा बुद्ध के समय से चला वह कभी दबा, कभी उठा, परन्तु मुसलमानों के भारत में आने के काल में फिर उग्र हो उठा। मुसलमान मनुष्यमात्र को एक समझते थे, इसकी प्रतिक्रिया हिन्दुओं पर भी हुई, और हिन्दू-धर्म में फिर से जाति-व्यवस्था और अस्पृश्यता के विरुद्ध आवाज उठी। इस काल में जो सन्त-महात्मा हुए उन्होंने मानव की एकता पर बल दिया, भक्ति-मार्ग का प्रचार किया। इन महात्माओं में से कई महात्मा अस्पृश्य जातियों के भी थे जिन्हें हिन्दू पूजने लगे।

पन्द्रहवीं शताब्दी के अन्तिम काल में रामानुज-सम्प्रदाय के एक गुरु स्वामी रामानन्द हुए। इन्होंने राम-भक्ति का द्वार सब जातियों के लिए खोल दिया। भक्तमाल के अनुसार उनके शिष्य थे—अनन्तानन्द, सुखानन्द, सुरसुरानन्द, नरहर्यानन्द, भवानन्द, पीपा, कबीर, सेन, धन्ना, रैदास, पद्मावती और सुरसरी। इन बारह शिष्यों में से कबीर तो जाति के जुलाहे थे और सेन जाति के नाई थे, रैदास जाति के चमार थे। इनमें से कबीर का नाम सबने सुना है, उन्हें हिन्दू तथा मुसलमान दोनों मानते थे। रैदास चमार थे, परन्तु इनकी भी बड़ी ख्याति हुई। रैदासी लोग इनका उत्सव मनाते हैं। इनकी भक्ति से आकृष्ट होकर ब्राह्मण लोग भी इनके सामने माथा नवाते थे।

(ख) अस्पृश्य कही जाने वाली जातियों द्वारा अस्पृश्यता-विरोधी आन्दोलन—अस्पृश्य कही जाने वाली जातियों की तरफ़ से इस दिशा में उन पर लगी हुई निर्योग्यताओं के हटाने के लिए आन्दोलन करना स्वाभाविक है। इस दिशा में दो संस्थाओं का नाम उल्लेखनीय है। एक है—'अखिल भारतीय अनुसूचित-जाति संघ' (All India Scheduled Castes Federation) जिसके प्रधान स्वर्गीय डाक्टर भीमराव अम्बेदकर थे, अब श्री राजभोज हैं, और दूसरी है 'भारतीय दलित-वर्ग संघ' (Bhartiya Depressed Classes League) जिसके प्रधान एन० एस० कजोलकर, एम० पी० हैं। इनमें से प्रथम-संस्था डॉ० अम्बेदकर के तत्वावधान में राजनैतिक माँगें रखती रही है, द्वितीय-संस्था का सम्बन्ध कांग्रेस के साथ है। प्रथम-संस्था को सरकार की तरफ़ से सहायता नहीं मिलती रही, द्वितीय-संस्था को पर्याप्त सरकारी सहायता मिल रही है और इस सहायता से इन्होंने अनेक वैतनिक प्रचारक रखे हुए हैं। इनकी रिपोर्ट के अनुसार इन्होंने काफ़ी कार्य किया है।

(ग) सवर्ण हिन्दुओं द्वारा अस्पृश्यता-विरोधी आन्दोलन—अस्पृश्यता के निवारण के लिए सवर्ण-हिन्दुओं ने भी काफ़ी आन्दोलन किया है। इन आन्दोलनों में प्रमुख स्थान आर्य-समाज तथा हरिजन-सेवक-संघ का है। आर्य-समाज की स्थापना ऋषि दयानन्द ने की और हरिजन-सेवक-संघ की स्थापना महात्मा गांधी ने की। अस्पृश्यता-विरोधी आन्दोलन को समझने के लिए इन दोनों का जानना आवश्यक है।

(i) आर्य-समाज का अस्पृश्यता-विरोधी आन्दोलन—आर्य-समाज के प्रचार का मुख्य केन्द्र पंजाब रहा है। आर्य-समाज के कार्य-क्रम का अछूतोद्धार एक मुख्य अंग रहा है। आर्य-समाज ने यह कार्य १८८८ में शुरू किया। इस कार्य का श्रीगणेश किस प्रकार हुआ—इसका वर्णन श्री पं० चमूपति ने 'आर्य-समाज का इतिहास' में इस प्रकार किया है: "पं० गंगाराम मुजफ्फरगढ़ में ओवरसियर थे, इनकी दृष्टि में एक जाति ऐसी आई जो हिन्दुओं और मुसलमानों के बीच में थी। ये अपने मृतकों को तो दबा देते, शेष देव-पूजन, तीर्थ-यात्रा, पर्वों तथा मोटे-मोटे संस्कारों में हिन्दुओं का-सा व्यवहार करते थे। ये अस्पृश्य कहे जाते थे, सर्व-

साधारण इन्हें 'ओड' कहते थे, परन्तु 'ओड' लोग अपने को भगीरथ कहते थे। भगीरथ लोग अपने उद्‌भव का स्रोत सगर राजा को बताते थे। उनका कहना था कि सगर की सन्तान, जिनकी संख्या साठ हजार थी, एक ऋषि की आज्ञानुसार प्रतिदिन नया कुआँ खोद कर उसके पानी से यज्ञ किया करती थी। रोज-रोज खुदने से पृथिवी माता को कष्ट होता था। एक बार पृथिवी ने इन्हें पानी नहीं दिया। इससे ये अत्यन्त व्याकुल हुए। गहरी खुदाई के पश्चात् जब इन्हें पानी दिखाई दिया तो प्यास के मारे ये कुएँ में कूद पड़े। ऊपर से कुआँ बन्द हो गया और श्राद्ध आदि द्वारा इनकी सद्‌गति न हो सकी। इस प्रकार पुरुष तो मर गये परन्तु स्त्रियाँ रह गईं। एक गर्भवती स्त्री की कोख से भगीरथ नाम का बालक पैदा हुआ। बड़े होकर उसने कैलाश-पर्वत पर तप किया और शिव जी के वर से गंगा को स्वर्ग से उतार लाया। आगे-आगे भगीरथ था, पीछे-पीछे गंगा बह रही थी। जब भगीरथ अपने गाँव के बाहर पहुँचा तो गंगा को वहीं छोड़ कर अपनी माता से उस ढके कुएँ का स्थान पूछने गया। इतने में एक ब्राह्मण ने गुम हो गई गंगा नाम की अपनी गाय को पुकारा। गंगा-नदी उस ब्राह्मण को भगीरथ समझ कर उसके पीछे हो ली और कुएँ के स्थान से आगे निकल आई। भगीरथ पीछे से पहुँचा और उसने गंगा को पीछे लौटा ले जाना चाहा, परन्तु गंगा ने कहा—गंगा उलटी नहीं बहती। इस प्रकार भगीरथ का भगीरथ-परिश्रम व्यर्थ गया। भगीरथ और उसकी सन्तति अपने पूर्वजों की अपगति के कारण तभी से भ्रष्ट हो गई। ये तभी से अस्पृश्य हैं और शोक के रूप में सारा पहरावा खुर्दरे कम्बल के रूप में ही पहनते हैं। इनके उद्धार का समय तब होगा जब इनके पितरों का उद्धार होगा। पं० गंगाराम ओडों की इस कहानी को सुन कर सोच में पड़ गये। एक दिन उन्होंने ओड-जाति के मुखियाओं को बुला कर कहा—भाई, तुम्हारे पितरों का उद्धार हो गया। ओडों ने पूछा—कैसे? इन्होंने कहा—जिस गंगा के स्पर्श से करोड़ों मनुष्य सद्‌गति प्राप्त कर चुके हैं, क्या उसे स्वर्ग से उतार ले आने वाले अस्पृश्य रह सकते हैं? तुम्हारी तो अगली सभी पीढ़ियाँ भी मुक्ति-धाम प्राप्त कर चुकी हैं। पंडित गंगाराम की बात सुन कर ओडों को निश्चय हो गया कि अब वे अस्पृश्य नहीं रहे। उन्होंने मुजफ्फरगढ़ आर्यसमाज में इस प्रश्न को रखा और समूह-रूप में उन्हें यज्ञोपवीत देकर उन्हें आर्य-जाति का अंग बना लिया। इसके बाद मुलतान के ओडों को अपने में मिलाया गया। ओडों के बाद 'रहतियों' की शुद्धि का कार्य-क्रम जालन्धर में स्वर्गीय महात्मा मुन्शीराम जी के द्वारा हुआ। ३ जून १९०० को क्षौर करा कर रहतियों का समूह-का-समूह लाहौर में आर्य बना लिया गया। इसके बाद लायलपुर, रोपड़ आदि में रहतियों को आर्य बनाया गया और यह संख्या ३०० तक पहुँच गई। १९११ में सिन्ध में 'वसिष्ठों' को आर्य बनाया गया, इस पर आर्यों का बहिष्कार हो गया। एक शुद्ध हुए 'वसिष्ठ' का यज्ञोपवीत उतार कर उसके शरीर पर जल रहे लोहे द्वारा यज्ञोपवीत का चिह्न कर दिया गया। इस आपत्ति के समय आर्य-समाज का आन्दोलन प्रबल हो उठा। इसके बाद १९१२ में

गुरदासपुर ज़िले में 'डूमनों' को आर्य बनाया गया। इन्हें आर्य बनाने में पं० रामभज-दत्त चौधरी ने अन्तिम साँस तक साथ दिया। आर्य-समाज ने ओडों, रहतियों, डूमनों को तो आर्य बनाया, परन्तु 'मेघ'-जाति के उद्धार ने तो एक व्यापक तथा स्थायी आन्दोलन का रूप धारण कर लिया और एक विशाल संस्था को जन्म दिया। इस संस्था का नाम था—'मेघोद्धार-सभा'। मेघ नाम की अस्पृश्य जाति सियालकोट, गुरदासपुर तथा गुजरात के ज़िलों और काश्मीर तथा जम्मू की रियासत में रहती थी। मेघ अस्पृश्य क्यों गिने गये इसका पता नहीं चलता। १९०१ की जन-गणना के वृत्तान्त में लिखा है कि यह जाति साँसियों, चूढ़ों, चमारों—अर्थात् अन्य अस्पृश्य जातियों के संस्कारों में ब्राह्मणों का काम किया करती थी। सम्भव है, अस्पृश्यों के पुरोहित होने के कारण ये स्वयं आगे चलकर अस्पृश्य माने जाने लगे। आर्य-समाज ने मेघों को आर्य बनाने का इतना ज़बर्दस्त आन्दोलन किया कि इनके लिए दस्तकारी स्कूल खोले गये, इनके लड़कों को गुरुकुलों में भेजा गया, और आर्य-प्रतिनिधि-सभा का एक मुख्य विभाग मेघोद्धार करना हो गया।"

आर्य-समाज ने अस्पृश्यता-निवारण में सब से पहले कदम बढ़ाया। आर्य-समाज के कार्य का मुख्य केन्द्र पंजाब रहा इसलिए ये सब कार्य पंजाब में हुए। उत्तर-प्रदेश में भी लखनऊ में आर्य-समाज के उद्योग से अस्पृश्य-जातियों के उद्धार का कार्य हुआ। पंजाब में जो-कुछ हुआ, जो लोग आर्य बने, देश के विभाजन के बाद उनकी क्या स्थिति हुई, इसका कुछ पता नहीं।

(ii) 'हरिजन-सेवक-संघ' तथा महात्मा गांधी का अस्पृश्यता-विरोधी कार्य—हम पहले ब्रिटिश-सरकार की उस नीति का वर्णन कर आये हैं जिसके द्वारा डॉ० अम्बेदकर की माँग पर वे अस्पृश्य-जातियों को हिन्दुओं से पृथक् मताधिकार देकर उन्हें हिन्दुओं से अलग करने की चाल चल रहे थे। इसके विरोध में महात्मा गांधी ने आमरण-अनशन की घोषणा कर दी थी। उस समय वे पूना की यरवदा जेल में थे। महात्मा गांधी के आमरण-अनशन की घोषणा से देश में जो जागृति उत्पन्न हुई उसके परिणामस्वरूप ३० सितम्बर १९३२ को बम्बई में स्वर्गीय महामना पं० मदनमोहन मालवीय की अध्यक्षता में एक विशाल सभा हुई जिसमें अखिल-भारतीय-स्तर पर अस्पृश्यता का उन्मूलन करने के लिए 'अखिल-भारतीय हरिजन-सेवक-संघ' की स्थापना हुई। इस संघ के प्रधान श्री घनश्याम दास बिड़ला तथा मंत्री स्वर्गीय ठक्कर बापा नियत किये गये। महात्मा गांधी जब जेल से निकले तब ७ नवम्बर १९३३ से जुलाई १९३४ तक उन्होंने सारे भारत का दौरा किया। ८ महीनों में उन्होंने ८ लाख से अधिक रुपया इकट्ठा किया। महात्मा गांधी ने 'हरिजन-सेवक-संघ' के विधान को स्वयं बनाया। यह संस्था राजनैतिक नहीं है, इसका काम सिर्फ़ सामाजिक है। १९३२ से यह लगातार काम कर रही है। इसकी शाखाएँ भारत के २५ प्रान्तों में खुली हुई हैं और ३२५ ज़िलों में इस संस्था का काम चल रहा है। इसका मुख्य कार्यालय किंग्स वे कैम्प दिल्ली में

है। संघ का काम हरिजनों के लिए शिक्षा-सम्बन्धी, जल-व्यवस्था-सम्बन्धी, मन्दिर-प्रवेश-सम्बन्धी तथा प्रचार-सम्बन्धी है।

शिक्षा की दृष्टि से संघ की तरफ़ से हरिजन-बालकों को छात्र-वृत्तियाँ दी जाती हैं, हरिजनों के लिए शिक्षणालय तथा छात्रावास खोले जाते हैं। इस समय संघ की तरफ़ से ११४ छात्रावास चल रहे हैं और २९ छात्रावासों को 'संघ' की तरफ़ से अनुदान दिया जा रहा है।

संघ ने ५ औद्योगिक-शिक्षणालय खोले हुए हैं जिनमें छात्रों के रहने की सुविधा भी है। इनमें से ३ लड़कों तथा २ लड़कियों के लिए हैं। दिल्ली के दो औद्योगिक-शिक्षणालयों में से एक लड़कों तथा एक लड़कियों के लिए है जिसमें अखिल-भारतीय स्तर पर छात्र-छात्राएँ भर्त्ती किये जाते हैं। इन दोनों संस्थाओं में १० प्रतिशत सवर्ण हिन्दू, २५ प्रतिशत आदिवासी जन-जातियों तथा पिछड़े-वर्गों के छात्र-छात्राएँ भी ली जाती हैं, और ये सब लोग इकट्ठे रहते हैं जिससे जाति की भावना समाप्त होती है। इन संस्थाओं में सवर्ण हिन्दुओं के छात्रों को खर्चा देना होता है, दूसरों के लिए सब-कुछ निःशुल्क है। पहले जब हरिजन बालकों को अन्य शिक्षणालयों में नहीं लिया जाता था तब 'संघ' की तरफ़ से हरिजनों के शिक्षणालय पृथक् रूप से खोले जाते थे, परन्तु जब से सब शिक्षणालय सब के लिए खुल गये हैं, तब से 'संघ' ने अपने शिक्षणालय भी नगरपालिकाओं तथा स्थानीय संस्थाओं को दे दिये हैं क्योंकि अब उनके पृथक् चलाने की आवश्यकता नहीं रही।

जल-व्यवस्था की दृष्टि से 'संघ' की तरफ़ से यह प्रयत्न होता रहा है कि सवर्णों के कुओं पर हरिजनों को भी जल लेने की व्यवस्था हो जाये, और वे कुएँ उनके लिए खुल जायें, परन्तु जहाँ इस कार्य में 'संघ' को सफलता नहीं मिलती रही, या जहाँ कुएँ हरिजनों की बस्ती से बहुत दूर रहे हैं, वहाँ 'संघ' की तरफ़ से सहायता देकर कुएँ खुदवाने का प्रबन्ध है। इन कुओं के लिए ७५ प्रतिशत सहायता 'संघ' देता है, और २५ प्रतिशत खर्चा हरिजनों को अपना श्रम देकर करना होता है। 'संघ' की तरफ़ से जो कुएँ खुदते हैं वे सब के लिए खुले होते हैं।

मन्दिर-प्रवेश की दृष्टि से भी 'संघ' को पर्याप्त सफलता मिली है। 'संघ' की १९५७–५८ की रिपोर्ट के अनुसार उसे १३३० मन्दिर, ६७ धर्मशालाएँ, १९८५ कुएँ और ६१८ नाई की दुकानें खुलवाने में सफलता मिली। यह सब-कुछ होने के बावजूद अब हरिजनों का मन्दिर-प्रवेश आदि के लिए उत्साह घटता जा रहा है। सम्भवतः, इसका कारण यह है कि मनुष्य की असली समस्या आर्थिक होती है, और उस क्षेत्र में उन्हें अपनी स्थिति में अधिक सुधार नहीं दीखता। मन्दिर-प्रवेश आदि तो समय-समय की बातें हैं। फिर भी 'संघ' की तरफ़ से बचे-खुचे मन्दिरों के हरिजनों के लिए खुलने का प्रयत्न जारी है।

प्रचार की दृष्टि से 'संघ' के पास प्रशिक्षित कार्य-कर्त्ता हैं जो सारे देश में बिखरे हुए हैं। इन्हें 'सेवक' कहा जाता है। १९५७–५८ की रिपोर्ट के अनुसार 'संघ' के पास ७५ 'सेवक' ऐसे हैं जिन्हें केन्द्रीय-सरकार के अनुदान में से वेतन मिलता

है, २१ 'सेवकों' को राज्य-सरकारों की सहायता से वेतन मिलता है। इनका काम भिन्न-भिन्न प्रकार का है। उदाहरणार्थ, जब हरिजनों को शिकायत होती है, कि धोबी उनके वस्त्र नहीं धोते या नाई उनकी हजामत नहीं करते, तब वे धोबियों तथा नाइयों को जाकर समझाते हैं। अगर वे मान जाते हैं तब तो ठीक, अन्यथा उन पर मुकदमा दायर कर दिया जाता है। होटलों में हरिजनों को या तो आने नहीं दिया जाता, या उन्हें अलग बैठने को बाधित किया जाता है, उन्हें अपने बर्त्तन स्वयं धोने को कहा जाता है। ऐसी हालत में भी ये 'सेवक' बीच में पड़ते हैं और इन निर्योग्यताओं को हटवाने का प्रयत्न करते हैं। जब कहीं हरिजनों या सवर्णों में झगड़ा हो जाता है वहां भी इन 'सेवकों' का काम दोनों में समझौता कराना होता है। इन 'सेवकों' के पास अस्पृश्यता-निवारण के प्रचार के लिए पोस्टर, पुस्तिकाएँ आदि होती हैं, जिन्हें ये सभाओं आदि में बाँटते हैं। ये लोग अन्तर्जातीय भोजों, जलपानों का भी समय-समय पर आयोजन करते रहते हैं।

सरकार की तरफ़ से 'हरिजन-सेवक-संघ' को पर्याप्त सहायता मिल रही है। १९५२ में 'संघ' ने एक आवेदन-पत्र प्रधान-मंत्री को दिया था जिसके फल-स्वरूप प्रान्तीय सरकारों की मार्फ़त ग़ैर-सरकारी तौर पर काम करने वाली अस्पृश्यता-निवारक संस्थाओं को ५० लाख की सहायता दी गई थी।

हमने अस्पृश्यता-निवारण के लिए काम करने वाली केवल दो संस्थाओं का वर्णन किया है—'आर्य-समाज' तथा महात्मा गांधी का 'हरिजन-सेवक-संघ'। यह इसलिए क्योंकि इन संस्थाओं ने विशेष रूप से इस कार्य को किया है। वैसे स्वामी विवेकानन्द का रामकृष्ण मिशन, पूना की सर्वेण्टस् ऑफ इंडिया सोसाइटी, अलाहाबाद का ईश्वरशरण आश्रम ला० लाजपतराय द्वारा स्थापित सर्वेण्ट्स आफ पीपल सोसायटी भी इस दिशा में सराहनीय कार्य कर रहे हैं।

(घ) ईसाई मिशनरियों द्वारा अस्पृश्यता-विरोधी प्रचार-कार्य—असवर्णों तथा सवर्णों—सबसे पहले अस्पृश्यता-निवारण के क्षेत्र में ईसाई मिशनरियों ने काम सम्भाला था। ब्रिटिश-शासन की इनको सदा सहायता रही और ये लोग अस्पृश्य-जातियों में बड़ी लगन और तत्परता से कार्य करते रहे। ईसाइयों ने अस्पृश्य जातियों तथा आदिवासी जन-जातियों के उद्धार के लिए बहुत काम किया। उनके पास विपुल धन-राशि थी, सरकार का हाथ उनके सिर पर था, इसलिए उन्होंने इन पिछड़े-वर्गों के लिए शिक्षा, स्वास्थ्य आदि के क्षेत्र में बहुत काम किया। कोढ़ियों के लिए ईसाइयों ने जो कार्य किया वह भी सराहनीय है।

ईसाइयों के कार्य के सम्बन्ध में कई हिन्दू-संस्थाओं की आपत्ति बनी रही। आपत्ति का कारण यह था कि ये लोग जहां पिछड़े-वर्गों के लिए शिक्षा-संस्थाएँ खोलते थे, अस्पताल बनाते थे, वहां इन्हें ईसाई बनाने के लिए सदा प्रयत्नशील रहते थे। इनका मुख्य उद्देश्य हिन्दुओं को, अस्पृश्य-जाति तथा जन-जाति के लोगों को ईसाई बनाना रहा। भारत में १९२१ में ईसाइयों की संख्या ३९ लाख थी जो १९५१ में १ करोड़ के लगभग हो गई। इसमें सन्देह नहीं कि इन लोगों के

ईसाई बन जाने में मुख्य कारण हिन्दुओं की उपेक्षा-वृत्ति रही। आर्य-समाज ने इस दिशा में हिन्दुओं का ध्यान इधर विशेष रूप से आकर्षित किया। जो-कुछ हो, ईसाई लोगों ने इस वर्ग के लोगों की आर्थिक तथा सामाजिक स्थिति सुधारने में बहुत-कुछ किया है—यह कहे बिना नहीं रहा जा सकता।

(ङ) सरकार द्वारा किये गये अस्पृश्यता-विरोधी प्रयत्न—१९२० में कांग्रेस ने अस्पृश्यता-निवारण को अपने प्रोग्राम का आवश्यक अंग बना लिया था। १९३२–३३ के बाद जब से हरिजनों को पृथक् निर्वाचन का अधिकार न देकर 'पूना-पैक्ट' द्वारा हिन्दुओं का अंग माना गया, हरिजनों के कल्याण का कार्य कांग्रेस की जिम्मेदारी हो गई। जब से देश स्वतंत्र हुआ और कांग्रेस की सरकार बनी तब से सरकार का ध्यान विशेष रूप से इधर गया। सरकार द्वारा इस दिशा में जो कार्य हुआ, उसे मुख्य तौर पर तीन भागों में बाँटा जा सकता है—(i) पहले तो संविधान बनाते हुए जन्मगत भेदों को दूर करने की घोषणा की गई और संविधान में स्पष्ट रूप से लिखा गया कि 'अस्पृश्यता' का विधान द्वारा अन्त किया जाता है, (ii) दूसरे, १९५५ में पार्लियामेंट में कानून बना दिया गया कि 'अस्पृश्यता' को आधार बनाकर आचरण करने पर किसी भी व्यक्ति तथा संस्था को दण्ड दिया जायेगा, (iii) तीसरे, भिन्न-भिन्न राज्य-सरकारों ने भी इसी प्रकार के कानून हर प्रान्त में बना दिये। इन तीनों पर हम यहाँ थोड़ा-थोड़ा प्रकाश डालेंगे।

['संविधान' में अस्पृश्यता-निवारण की घोषणा]

'संविधान' में जिन अनुच्छेदों में अस्पृश्यता के निवारण की घोषणा की गई है उनमें से मुख्य-मुख्य निम्न हैं :—

अनुच्छेद १५—इस अनुच्छेद के अनुसार राज्य किसी नागरिक के विरुद्ध केवल धर्म, वंश, जाति, लिंग, जन्म-स्थान अथवा इनमें से किसी के आधार पर कोई विभेद नहीं करेगा, तथा इनमें से किसी के आधार पर कोई नागरिक दुकानों, सार्वजनिक-भोजनालयों, होटलों और सार्वजनिक मनोरंजन के स्थानों में प्रवेश तथा पूर्ण अथवा आंशिक रूप में राज्य से सहायता पाये हुए कुओं, तालाबों, घाटों, सड़कों तथा सार्वजनिक समागम-स्थानों तक के उपयोग के बारे में किसी भी निर्योग्यता के आधीन न होगा—अर्थात्, इन स्थानों के इस्तेमाल की हर-एक को पूर्ण स्वतंत्रता होगी।

अनुच्छेद १६—इस अनुच्छेद के अनुसार राज्य के आधीन सब को नौकरी के समान अवसर दिये जायेंगे, परन्तु इस अनुच्छेद की किसी बात से राज्य को पिछड़े हुए किसी नागरिक-वर्ग के पक्ष में, जिनका प्रतिनिधित्व राज्य की राय में राज्याधीन सेवाओं में पर्याप्त नहीं है, नियुक्तियों या पदों के रक्षण के लिए उपलब्ध करने में कोई बाधा न होगी।

अनुच्छेद १७—इस अनुच्छेद के अनुसार 'अस्पृश्यता' का अन्त किया जाता है और उसका किसी भी रूप में आचरण निषिद्ध किया जाता है। 'अस्पृश्यता' से उपजी किसी निर्योग्यता को लागू करना अपराध होगा जो कि विधि के अनुसार दण्डनीय होगा।

अनुच्छेद २५—इस अनुच्छेद के अनुसार राज्य को अधिकार होगा कि वह हिन्दुओं की सार्वजनिक धार्मिक-संस्थाओं को सब वर्गों के लिए खुला कर दे।

अनुच्छेद २९—इस अनुच्छेद में कहा गया है कि राज्य द्वारा घोषित अथवा राज्य-निधि से सहायता पाने वाली किसी शिक्षा-संस्था में प्रवेश से किसी भी नागरिक को केवल धर्म, वंश, जाति, भाषा अथवा इनमें से किसी के आधार पर वंचित न किया जा सकेगा।

अनुच्छेद ४६—इस के अनुसार राज्य जनता के दुर्बलतर विभागों के, विशेषतया अनुसूचित-जातियों तथा अनुसूचित आदिम-जातियों के शिक्षा तथा अर्थ-सम्बन्धी हितों को विशेष सावधानी से उन्नत करेगा तथा सामाजिक अन्याय तथा सब प्रकार के शोषण से उनका संरक्षण करेगा।

अनुच्छेद १६४—उड़ीसा, बिहार और मध्य-प्रदेश के राज्यों में आदिम-जातियों के कल्याण के लिए एक मंत्री होगा जो साथ-साथ अनुसूचित-जातियों और पिछड़े-वर्गों के कल्याण का अथवा किसी अन्य कार्य का भी भार ग्रहण कर सकेगा।

अनुच्छेद ३३०—लोक-सभा में अनुसूचित जातियों के लिए स्थान सुरक्षित रखा जायगा। इसका अनुपात वही होगा जो अनुसूचित-जातियों की जन-संख्या का उस राज्य की समस्त जन-संख्या के साथ होगा जिस जन-संख्या के आधार पर उस राज्य को लोक-सभा की सीटें दी गई हैं।

अनुच्छेद ३३२—प्रत्येक राज्य की विधान-सभाओं में भी अनुसूचित जातियों के लिए स्थान सुरक्षित होगा।

अनुच्छेद ३३५—राज्य में पदों की नियुक्ति करते हुए शासन की कार्य-पटुता को ध्यान में रखते हुए अनुसूचित-जातियों तथा आदिम-जातियों के दावों का ध्यान रखा जायगा।

अनुच्छेद ३३८—अनुसूचित-जातियों तथा आदिम-जातियों के लिए एक विशेष पदाधिकारी होगा जिसे राष्ट्रपति नियुक्त करेगा। इस पदाधिकारी का काम इन जातियों के सम्बन्ध में सब बातों का अनुसंधान कर राष्ट्रपति को प्रतिवेदन देना होगा। ये सब प्रतिवेदन राष्ट्रपति द्वारा संसद् में रखे जायेंगे।

'संविधान' में अस्पृश्यता के निवारण के लिए जो अनुच्छेद हैं उनके मुख्य-मुख्य भाग हमने ऊपर दिये। अब हम १९५५ में पार्लियामेंट में स्वीकृत हुए उस अधिनियम का उल्लेख करेंगे जिसके द्वारा अस्पृश्यता को अपराध का रूप दे दिया गया है:

[१९५५ का अस्पृश्यता (अपराध) अधिनियम]

(Untouchability—Offences—Act, 1955)

"अस्पृश्यता" के आचरण के लिए, उससे उद्भूत होने वाली किसी निर्योग्यता के प्रवर्त्तन के लिए और उससे संसक्त विषयों के लिए दंड विहित करने के लिए अधिनियम।

भारत के गणराज्य के छठे वर्ष में संसद् द्वारा निम्न रूप से अधिनियमित हो :—

१—(क) यह अधिनियम अस्पृश्यता (अपराध) अधिनियम, १९५५ कहलाया जा सकेगा।

(ख) इसका विस्तार सम्पूर्ण भारत पर है।

(ग) यह उस तारीख को प्रवर्त्तन में आ जायेगा, जिसे कि केन्द्रीय सरकार राजकीय गजट में अधिसूचना द्वारा नियुक्त करे।

२—इस अधिनियम में, जब तक प्रसंग से अन्यथा अपेक्षित न हो—

(क) "होटल" के अन्तर्गत उपाहार-गृह, भोजनालय, बासा, काफी-हाउस और काफे हैं,

(ख) "स्थान" के अन्तर्गत गृह, भवन, तम्बू और जलयान हैं,

(ग) लोक मनोरंजन स्थान के अन्तर्गत कोई ऐसा स्थान है जिसमें जनता प्रविष्ट की जाती है और जिसमें मनोरंजन उपबन्धित किया जाता है या होता है,

व्याख्या—मनोरंजन के अन्तर्गत कोई प्रदर्शनी, अभिनय, क्रीड़ा, खेल-कूद, और विनोद का कोई अन्य रूप है।

(घ) "लोक उपासना स्थान" से ऐसा स्थान, चाहे वह किसी नाम से ज्ञात क्यों न हो, अभिप्रेत है, जो कि लोक धार्मिक उपासना के तौर पर उपयोग में लाया जाता है या जो कि वहाँ किसी धार्मिक क्रिया करने के लिए या वहाँ अर्चना करने के प्रयोजनों के लिए किसी धार्मिक सम्प्रदाय के व्यक्तियों को अर्पित किया गया है या उनके द्वारा उपयोग में लाया जाता है, और ऐसे स्थान के साथ अनुलग्न सब भूमियाँ और छोटे मन्दिर इसके अन्तर्गत हैं,

(ङ) "दूकान" से ऐसा कोई परिसरे अभिप्रेत है, जहाँ वस्तुओं का या तो थोक या फुटकर दोनों प्रकार का विक्रय किया जाता है और धोबीखाना या बाल काटने की दुकान और कोई अन्य स्थान जहाँ पर ग्राहकों की सेवाएँ की जाती हैं, इसके अन्तर्गत हैं।

३—जो कोई किसी व्यक्ति को—

(क) ऐसे किसी लोक उपासना स्थान में जो उसी धर्म के मानने वाले या उसी धार्मिक सम्प्रदाय या उसी के किसी विभाग के या अन्य व्यक्तियों के लिए खुला है, ऐसे व्यक्ति के रूप में प्रवेश करने से या

(ख) जिस रीति में और जिस विस्तार तक कि उसी धर्म के मानने वाले या उसी धार्मिक सम्प्रदाय या उसके किसी भाग के व्यक्तियों के लिए किसी लोक उपासना स्थान में उपासना करना

या अर्चना करना या किसी पवित्र तालाब, कुएँ, जल-स्रोत या जल-प्रवाह में स्नान करना या ऐसे तालाब, कुएँ, जल स्रोत या जल-प्रवाह के जलों का उपयोग करना अनुज्ञेय है उसी रीति में और उसी विस्तार तक किसी व्यक्ति को अपनी वैसी हैसियत में किसी लोक उपासना स्थान में उपासना करने से या अर्चना करने से या किसी पवित्र तालाब, कुएँ, जल-स्रोत या जल-प्रवाह में स्नान करने से या ऐसे तालाब, कुएँ, जल-स्रोत या जल-प्रवाह के जल का उपयोग करने से अस्पृश्यता के आधार पर निवारित करता है वह कारावास से, जो छः महीने तक का हो सकेगा या जुर्माने से, जो पाँच सौ रुपया तक का हो सकेगा, या दोनों से दण्डनीय होगा।

व्याख्या—इस धारा और धारा ४ के प्रयोजनों के लिए बौद्ध, सिक्ख या जैन धर्म के मानने वाले व्यक्ति या हिन्दू धर्म के किन्हीं भी स्वरूपों या विकासों को मानने वाले व्यक्ति जिनके अन्तर्गत वीर, शैव, लिंगायत, आदिवासी ब्राह्मोसमाज, प्रार्थना समाज, आर्य-समाज के अनुयायी और स्वामी नारायण सम्प्रदाय हैं, हिन्दू समझे जायेंगे।

४—जो कोई—

(क) किसी दुकान, लोक उपाहार-गृह, होटल या लोक मनोरंजन के स्थान तक पहुँच करने के सम्बन्ध में, या

(ख) किसी लोक उपाहार-गृह, होटल, धर्मशाला, सराय या मुसाफिर-खाने में, साधारण जनता, या उसी वर्ग धर्म के मानने वाले या उसी धार्मिक सम्प्रदाय या उसी के किसी विभाग के व्यक्तियों के उपयोग के लिए रखे हुए किन्हीं बरतनों और अन्य वस्तुओं को ऐसे व्यक्ति के रूप में उपयोग करने के सम्बन्ध में, या

(ग) किसी वृत्ति या किसी उपजीविका, व्यापार या कारबार को चलाने के सम्बन्ध में, या

(घ) किसी नदी-नाले, जल-स्रोत, कुएँ, तालाब, हौद, नल्के या जल रखने वाले अन्य स्थान के या किसी स्नान घाट, दफनगाह या श्मशान भूमि, किसी स्वच्छता सम्बन्धी सुविधा, किसी सड़क या रास्ते या लोक आश्रम के ऐसे किसी अन्य स्थान के जिसको जनता के अन्य सदस्य, या उसी धर्म के मानने वाले या उसी धार्मिक-सम्प्रदाय या उसी के किसी विभाग के व्यक्ति उपयोग करने के लिए या उसमें प्रवेश करने के लिए अधिकारवान हैं, ऐसे व्यक्ति के रूप में उपयोग करने के सम्बन्ध में या उसमें प्रवेश करने के सम्बन्ध में, या

(ङ) राज्य निधियों में से पूर्णतः या भागतः पोषित, पूर्त्त या लोक प्रयोजनार्थ उपयोग किये जाने वाले ऐसे किसी स्थान के, जो साधारण जनता या उसी धर्म के मानने वाले या उसी धार्मिक सम्प्रदाय या उसके किसी विभाग के व्यक्तियों के उपयोग के लिए समर्पित किया गया हो।

(च) ऐसे व्यक्ति के रूप में प्रयोग करने या प्रवेश के सम्बन्ध में, या साधारण जनता या किसी धर्म के मानने वाले या उसी धार्मिक सम्प्रदाय या उसी के किसी विभाग के व्यक्तियों के फायदे के लिए सृष्ट किसी पूर्त्त न्यास के अधीन किसी फायदे का उपयोग ऐसे व्यक्ति के रूप में करने के सम्बन्ध में, या

(छ) किसी सार्वजनिक सवारी का उपयोग करने या उसमें प्रवेश करने के सम्बन्ध में, या

(ज) किसी बस्ती, चाहे वह कैसी भी हो, किसी निवास योग्य परिसर का सन्निर्माण, अर्जन या दखल में, या

(झ) जो धर्मशाला, सराय, या मुसाफिरखाना साधारण जनता या उसी धर्म के मानने वाले या उसी धार्मिक सम्प्रदाय या उसी के किसी विभाग के लिए खुली या खुला है, उसका उपयोग ऐसे व्यक्ति के रूप में करने के सम्बन्ध में, या

(ञ) किसी सामाजिक या धार्मिक रूढ़ि तथा या संस्कार के अनुपालन या किसी धार्मिक जलूस में भाग लेने के सम्बन्ध में, या

(ट) आभूषणों और अलंकारों का उपयोग करने के सम्बन्ध में, अस्पृश्यता के आधार पर किसी व्यक्ति के खिलाफ किसी निर्योग्यता का प्रवर्त्तन करता है वह कारावास से, जो ५ महीने तक का हो सकेगा या जुर्माने से जो पाँच सौ रुपए तक का हो सकेगा या दोनों से दण्डनीय होगा।

५—जो कोई "अस्पृश्यता" के आधार पर—

(क) किसी व्यक्ति को किसी चिकित्सालय, औषधालय, शैक्षिक संस्था, या उससे सम्पृक्त किसी छात्रावास में, यदि ऐसे चिकित्सालय, औषधालय, शैक्षिक संस्था या छात्रावास, साधारण जनता या उसके किसी विभाग के फायदे के लिए स्थापित या सम्पृक्त है, दाखिल करने से इनकार करता है,

(ख) पूर्वोक्त संस्थाओं में से किसी में दाखिले के पश्चात् ऐसे व्यक्ति के खिलाफ विभेदपूर्ण कोई कार्य करता है, वह कारावास से, जो छः मास तक का हो सकेगा, या जुर्माने से जो पाँच सौ रुपए तक का हो सकेगा, या दोनों से दण्डनीय होगा।

६–जो कोई "अस्पृश्यता" के आधार पर उसी समय और स्थान पर और वैसे ही निबन्धनों और शर्तों पर जिसमें या जिन पर कि कारबार के साधारण अनुक्रम में अन्य व्यक्तियों को ऐसी वस्तुएँ बेची जाती हैं या सेवाएँ की जाती हैं, किसी व्यक्ति को किन्हीं वस्तुओं को बेचने से और किसी सेवा को करने से इनकार करता है, वह कारावास से, जो छः महीने तक का हो सकेगा, या जुर्माने से, जो पाँच सौ रुपए तक का हो सकेगा, या दोनों से दण्डनीय होगा।

७—(i) जो कोई—

(क) किसी व्यक्ति को संविधान के अनुच्छेद १७ के अधीन अस्पृश्यता के अन्त से उसको प्रोद्भूत होने वाले किसी अधिकार का प्रयोग करने से रोकता है, या

(ख) किसी व्यक्ति को किसी ऐसे अधिकार के प्रयोग में उत्पीड़ित करता है, क्षति पहुँचाता है या क्लेश पहुँचाता है या बाधा डालता है, या बाधा डलवाता है, या बाधा डालने की चेष्टा करता है, या किसी व्यक्ति को उसके किसी ऐसे अधिकार का प्रयोग कर चुकने के कारण उत्पीड़ित करता है, क्षति पहुँचाता है, क्लेश पहुँचाता है या बहिष्कृत करता है, या

(ग) किसी व्यक्ति या व्यक्तिवर्ग या साधारणतः जनता को बोले गये या लिखित शब्दों से या चिन्हों से या दृश्य व्यपदेशनों से या अन्यथा रूप से किसी भी अस्पृश्यता का आचरण करने के लिए उद्दीप्त करता है, या प्रोत्साहित करता है या कारावास से, जो छः महीने तक का हो सकेगा, या जुर्माने से, जो पाँच सौ रुपए तक हो सकेगा, या दोनों से दण्डनीय होगा।

व्याख्या—उस व्यक्ति के बारे में यह समझा जायगा कि वह अन्य व्यक्ति का बहिष्कार करता है जो कि—

(क) ऐसे अन्य व्यक्ति को किसी गृह या भूमि को भाटक पर देने या ऐसे अन्य व्यक्ति को, किसी गृह या भूमि का उपयोग करने के लिए या उस पर दखल करने के लिए अनुज्ञा देने से, या ऐसे अन्य व्यक्ति के साथ से व्यवहार करने से, उसके लिए अवक्रय पर काम करने से या उसके साथ कारबार करने से, या उसकी कोई रूढ़िगत सेवा करने से या उससे कोई रूढ़िगत सेवा लेने से इनकार करता है या उक्त बातों में किसी को ऐसे निबन्धनों पर करने से इनकार करता है, जिन पर कि ऐसी बातें कारबार के साधारण अनुक्रम में सामान्यतः की जाती हैं, या

(ख) ऐसे सामाजिक, वृत्यात्मक या कारबारी सम्बन्धों से प्रतिविरत रहता है, जैसा कि वह ऐसे अन्य व्यक्ति के साथ साधारणतया बनाये रखता है।

(ii) जो कोई इस आधार पर कि ऐसे व्यक्ति ने अस्पृश्यता पर आचरण करने से इनकार किया है या कि ऐसे व्यक्ति ने इस अधिनियम के उद्देश्यों के अग्रसर करने के लिए कोई कार्य किया है--

(क) अपने समुदाय के या उसके किसी विभाग के व्यक्ति को किसी ऐसे अधिकार या विशेषाधिकार को नहीं देता जिसके लिए ऐसा व्यक्ति ऐसे समुदाय या विभाग के सदस्य के तौर पर हकदार होता, या

(ख) ऐसे व्यक्ति को बिरादरी से छेके जाने में कोई भाग लेता है, वह कारावास से, जो छः महीने तक का हो सकेगा या जुर्माने से, जो पाँच सौ रुपए तक का हो सकेगा, या दोनों से दण्डनीय होगा।

८—जब कि वह व्यक्ति जो धारा ६ के अधीन किसी अपराध का सिद्ध-दोष हो, ऐसी किसी वृत्ति, व्यापार, आजीविका या नियोजन के बारे में कोई अनुज्ञप्ति, तत्समय प्रवृत्त किसी विधि के अधीन संधारण किये हुए हैं, जिसके बारे में अपराध किया गया है, तब उस अपराध का परीक्षण करने वाला न्यायालय किसी ऐसी अन्य शास्ति पर जिसके लिए ऐसा व्यक्ति उस धारा के अधीन भागी हो, प्रतिकूल प्रभाव डाले बिना निर्देश दे सकेगा कि वह अनुज्ञप्ति उतनी कालावधि के लिए जितनी कि न्यायालय ठीक समझे प्रतिसंहृत या निलम्बित रहेगी, और अनुज्ञप्ति को इस प्रकार प्रतिसंहृत या निलम्बित करने वाले न्यायालय का प्रत्येक आदेश ऐसे प्रभावी होगा, मानो कि वह आदेश उस प्राधिकारी द्वारा दिया गया है जो कि किसी ऐसी विधि के अधीन अनुज्ञप्ति का प्रतिसंहरण या निलम्बन करने के लिए सक्षम है।

व्याख्या—इस धारा में अनुज्ञप्ति के अन्तर्गत अनुज्ञा-पत्र या अनुज्ञा है।

९—जहाँ कि ऐसे कोई लोक उपासना स्थान का प्रबन्धक या न्यासधारी, जिसे कि सरकार से भूमि या धन का अनुदान मिलता है, इस अधिनियम के अधीन किसी अपराध के लिए सिद्धदोष हुआ है और ऐसी दोष सिद्धि किसी अपील या पुनरीक्षण में उलटी नहीं गयी है या अवखंडित नहीं की गयी है, वहाँ यदि सरकार की राय में उस मामले की परिस्थितियों से ऐसा करना अभिविष्ट है तो वह ऐसे सारे अनुदान या उसके किसी भाग के निलम्बन या प्रत्यादान के लिए निर्देश दे सकेगी।

१०—जो कोई इस अधिनियम के अधीन किसी अपराध का या ऐसे अपराध के लिए अभिप्रेरण करता है, वह उस अपराध के लिए उपबन्धित दंड से दंडनीय होगा।

११—जो कोई उस अधिनियम के अधीन किसी अपराध का या ऐसे अपराध के अभिप्रेरण का पहले भी सिद्धदोष हो चुकने पर किसी ऐसे अपराध या

अभिप्रेरण का पुनः सिद्धदोष होता है, वह पश्चात्वर्ती ऐसे प्रत्येक दोषसिद्ध पर कारावास और जुर्माना दोनों से दण्डनीय होगा।

१२—जहाँ कि इस अधिनियम के अधीन अपराध गठित करने वाला कोई कार्य संविधान के अनुच्छेद ३६६ के खंड (२४) में पारिभाषित अनुसूचित जाति के सदस्य के सम्बन्ध में किया गया है, वहाँ न्यायालय जब तक कि प्रतिकूल सिद्ध नहीं किया जाता, यह उपधारित करेगा कि ऐसा कार्य "अस्पृश्यता" के आधार पर किया गया था।

१३—(क) यदि न्यायालय के समक्ष किसी वाद या कार्यवाही का दावा या किसी आज्ञप्ति या आदेश का दिया जाना या किसी आज्ञप्ति का पूर्णतः या भागतः निष्पादन इस अधिनियम के उपबन्धों से किसी अनुरीति में प्रतिकूल हो तो ऐसा न्यायालय ऐसा कोई वादा या कार्यवाही ग्रहण न करेगा या ऐसी कोई आज्ञप्ति या आदेश न देगा या ऐसी किसी आज्ञप्ति या आदेश का निष्पादन न करेगा।

(ख) कोई न्यायालय किसी बात के न्याय निर्णयन में या किसी आज्ञप्ति या आदेश के निष्पादन में, किसी व्यक्ति पर कोई निर्योग्यता अस्पृश्यता के आधार पर आरोपित करने वाली किसी रूढ़ि या प्रथा को अभिज्ञात नहीं करेगा।

१४—(क) यदि इस अधिनियम के अधीन अपराध करने वाला व्यक्ति कम्पनी है, तो वह प्रत्येक व्यक्ति, जो उस कम्पनी के कारबार के संचालन के लिए उस कम्पनी का भारसाधक और कम्पनी के प्रति उत्तरदायी उस समय था, जबकि अपराध किया गया था उस अपराध का दोषी समझा जायगा और वह इसके दायित्वाधीन होगा कि उसके खिलाफ तदनुसार कार्यवाही चलायी जाये और उसे दण्डित किया जाये, परन्तु यदि वह व्यक्ति सिद्ध कर देता है कि अपराध उसकी जानकारी के बिना किया गया था कि उसने ऐसे अपराध का किया जाना निवारण करने के लिए सब सम्यक् उद्यम किया था तो इस धारा में अन्तर्विष्ट किसी बात से ऐसा कोई व्यक्ति किसी दंड के दायित्वाधीन नहीं होगा।

(ख) उपधारा (क) में अन्तर्विष्ट किसी बात के होते हुए भी, जहाँ कि इस अधिनियम के अधीन कोई अपराध कम्पनी के किसी निर्देशक या प्रबन्धक या सचिव, या अन्य पदाधिकारी की अनुमति से किया गया है, वहाँ वह भी उस अपराध का दोषी समझा जायेगा और इसके दायित्वाधीन होगा कि उसके खिलाफ कार्यवाही चलायी जाये और उसे दंडित किया जाये।

व्याख्या—इस धारा के प्रयोजनों के लिए—

(क) 'कम्पनी' से कोई निगम निकाय अभिप्रेत है, और उसके अन्तर्गत फर्म या व्यक्तियों की अन्य संस्था है, और

(ख) "निर्देशक" से फर्म के सम्बन्ध में फर्म का भागीदार अभिप्रेत है।

१५—दंड प्रक्रिया संहिता, १८९८ (१८९८ का ५) में अन्तर्विष्ट किसी बात के होते हुए भी—

(क) इस अधिनियम के अधीन प्रत्येक अपराध प्रसंज्ञेय हैं, और

(ख) प्रत्येक ऐसे अपराध का प्रशमन न्यायालय की अनुज्ञा से किया जा सकेगा।

१६—इस अधिनियम में अन्यथा स्पष्टतः उपबन्धित किये गये के सिवाय इस अधिनियम के उपबन्ध तत्समय प्रवृत्त किसी अन्य विधि में या किसी रूढ़ि या प्रथा में या ऐसी विधि के या किसी न्यायालय या अन्य प्राधिकार की किसी आज्ञप्ति या आदेश के बल से प्रभाव रखने वाली किसी लिखत में अन्तर्विष्ट ऐसी किसी बात के होते हुए भी, जो कि इस अधिनियम के उपबन्धों से असंगत है, प्रभावशील होंगे।

१७—अनुसूची में उल्लिखित अधिनियमितियाँ उस विस्तार तक जहाँ तक कि वे या उनमें अन्तर्विष्ट उपबन्धों में से कोई इस अधिनियम या उसमें अन्तर्विष्ट उपबन्धों में से किसी के सदृश्य हैं या उसके विरुद्ध हैं, एतद्द्वारा निरसित की जाती हैं।

ऊपर हमने जिस अस्पृश्यता-अपराध-अधिनियम की रूप-रेखा दी है वह कानूनी भाषा में है। संक्षेप में इसका अभिप्राय यह है कि जो अस्पृश्यता का आचरण करेगा या दूसरे को ऐसा करने के लिए प्रोत्साहित करेगा उसे कारावास तथा जुर्माना किया जा सकता है। जेल छः महीने और जुर्माना ५०० रुपए तक किया जा सकता है। इस अधिनियम के अन्तर्गत अपराध 'प्रसंज्ञेय' (Cognizable) होंगे। इस अधिनियम द्वारा शिक्षणालय, मंदिर, कुए, भोजनालय, छात्रावास आदि सब-कुछ हरिजनों के लिए कानून द्वारा खोल दिये गये हैं।

अब हम भिन्न-भिन्न राज्य-सरकारों द्वारा स्वीकृत अस्पृश्यता-निवारक कानूनों की सूची दे रहे हैं जिससे ज्ञात हो सके कि सम्पूर्ण भारत में इस सम्बन्ध में कानूनी-दृष्टि से क्या-क्या हुआ है :

[भिन्न-भिन्न राज्य-सरकारों द्वारा स्वीकृत अस्पृश्यता-निवारक कानून]

१—दी बिहार हरिजन (रिमूअल आफ डिसेबिलिटीज) ऐक्ट, १९४९ (बिहार ऐक्ट, १९ आफ १९४९)।

२—दी बाम्बे हरिजन (रिमूअल आफ सोशल डिसेबिलिटीज) ऐक्ट, (बाम्बे ऐक्ट, १० आफ १९४७)।

३—दी बाम्बे हरिजन टैम्पल एन्ट्री ऐक्ट, १९४७ (बाम्बे ऐक्ट, ३५ आफ १९४७)।

४—दी सेन्ट्रल प्राविन्सेज ऐंड बरार शेड्यूल्ड कास्ट (रिमूअल आफ डिसेबिलिटीज) ऐक्ट, १९४७ (सेंट्रल प्राविन्सेज ऐन्ड बरार ऐक्ट, २४ आफ १९४७)।

५—दी सेन्ट्रल प्रोविन्सेज एण्ड बरार टॅम्पल एन्ट्री आथोराइजेशन ऐक्ट, १९४७ (सेन्ट्रल प्राविन्सेज एँड बरार ऐक्ट, ४१ आफ १९४७)।

६—दी ईस्ट पंजाब (रिमूअल आफ रिलीजस एँड सोशल डिसेबिलिटीज) ऐक्ट, १९४८ (ईस्ट पंजाब ऐक्ट, १६ आफ १९४८)।

७—दी मद्रास रिमूअल आफ सिविल डिसेबिलिटीज ऐक्ट, १९३८ (मद्रास ऐक्ट, २१ आफ १९३८)।

८—दी उड़ीसा रिमूअल आफ सिविल डिसेबिलिटीज ऐक्ट, १९४६ (उड़ीसा ऐक्ट, ११ आफ १९४६)।

९—दी उड़ीसा टॅम्पल एन्ट्री आथोराइजेशन ऐक्ट, १९४८ (उड़ीसा ऐक्ट, ११ आफ १९४८)।

१०—दी यूनाइटेड प्राविन्सेज रिमूअल आफ सोशल डिसेबिलिटीज ऐक्ट, १९४७ (यू० पी० ऐक्ट, १४ आफ १९४७)।

११—दी वेस्ट बंगाल हिन्दू सोशल डिसेबिलिटीज रिमूअल ऐक्ट, १९४८ (वेस्ट बंगाल ऐक्ट, ३७ आफ १९४८)।

१२—दी हैदराबाद हरिजन टॅम्पल एन्ट्री रेगुलेशन, १३५८ एफ० (नं० ५५ आफ १३५८ फसली)।

१३—दी हैदराबाद हरिजन रिमूअल आफ सोशल डिसेबिलिटीज रेगुलेशन, १३५८ एफ० (नं० ५६ आफ १३५८ फसली)।

१४—दी मध्य भारत हरिजन अयोग्यता निवारण विधान, संवत् २००५ (मध्य भारत ऐक्ट नं० १५ आफ १९४९)।

१५—दी रिमूअल आफ सिविल डिसेबिलिटीज ऐक्ट, १९४३ (मैसूर ऐक्ट, ४२ आफ १९४३)।

१६—दी मैसूर टॅम्पल एँट्री आथोराइजेशन ऐक्ट, १९४८ (मैसूर ऐक्ट, १४ आफ १९४८)।

१७—दी सौराष्ट्र हरिजन (रिमूअल आफ सोशल डिसेबिलिटीज) आर्डिनेंस (नं० ४० आफ १९४८)।

१८—दी ट्रावनकोर-कोचीन रिमूअल आफ सोशल डिसेबिलिटीज ऐक्ट, १९२५ (ट्रावनकोर और कोचीन ऐक्ट, ८ आफ १९२५)।

१९—ट्रावनकोर-कोचीन टॅम्पल एँट्री (रिमूअल आफ डिसेबिलिटीज) ऐक्ट, १९५० (ट्रावनकोर-कोचीन ऐक्ट, २७ आफ १९५०)।

२०—दी कुर्ग शेड्यूल्ड कास्ट्स (रिमूअल आफ सिविल एँड सोशल डिसेबिलिटीज) ऐक्ट, १९४९ (कुर्ग ऐक्ट, ऐक्ट १ आफ १९४९)।

२१—दी कुर्ग टॅम्पल एँट्री आथोराइजेशन ऐक्ट, १९४९ (कुर्ग ऐक्ट, २ आफ १९४९)।

वैसे तो सम्पूर्ण भारत में अनुसूचित-जातियाँ बहुत अधिक हैं, उन सब का नाम यहाँ देना कठिन है, फिर भी उत्तर-प्रदेश की अनुसूचित-जातियों के नाम हम यहाँ दे रहे हैं :

[उत्तर-प्रदेश की अनुसूचित-जातियाँ]

भारतीय संविधान के अन्तर्गत उत्तर-प्रदेश में[1] अनुसूचित-जातियाँ, शासकीय आदेश सं० १४४२/२६--८१८-१९५७, दिनांक २२ मई, १९५७ द्वारा निर्धारित

(१) अगरिया
(२) बादी
(३) बधिक
(४) बहेलिया
(५) बैगा
(६) बैंसवार
(७) बजनिया
(८) बाजगी
(९) बलाहर
(१०) बलई
(११) बाल्मीकि
(१२) बंगाली
(१३) बनमानुष
(१४) बंसफोर
(१५) बरवार
(१६) बसोर
(१७) बावरिया
(१८) बेलदार
(१९) बेड़िया
(२०) भांतू
(२१) भुइया
(२२) भुइयार
(२३) बोरिया
(२४) चमार, धुसिया, झुसिया, जाटव
(२५) चेरो
(२६) दबगर
(२७) धनगर
(२८) धानुक
(२९) धरकार
(३०) धोबी
(३१) डोम
(३२) डोमर
(३३) दुसाध
(३४) घरमी
(३५) घरिया
(३६) गौल
(३७) हबूड़ा
(३८) हरी
(३९) हेला
(४०) कलाबाज
(४१) कंजड़
(४२) कपड़िया
(४३) करवल
(४४) खैराहा
(४५) खोरोट
(४६) खरवार, बनवासी के अलावा
(४७) खटिक
(४८) कोल
(४९) कोरवा
(५०) लालबेगी
(५१) मझवार
(५२) मझावी
(५३) मुसहर
(५४) नट
(५५) पंखा
(५६) पराहीया
(५७) पासी या तरमाली
(५८) पाटारी
(५९) रावत
(६०) सहारिया
(६१) सनौरिया
(६२) सांसिया
(६३) शिल्पकार
(६४) तुरैया

कोरी—आगरा, मेरठ और रुहेलखंड डिवीजन को छोड़कर राज्य भर में।

गोंड—रुहेलखंड डिवीजन और कैमूर श्रेणी के दक्षिण जिला मिर्जापुर के भाग में।

---

१. इस सूची के कार्यान्वित होने के पहले, 'अनुसूचित जाति' में वही जातियां आ सकती थीं जो कि हिन्दू धर्म को मानने वाली हों, लेकिन अब सिख धर्म को मानने वाली कुछ जातियां भी अनुसूचित जातियों की सूची में आ गयी हैं।

१०. अस्पृश्यता के आधार पर अधिकार मांगने के विचार की समीक्षा

'अस्पृश्यता' हिन्दू-सामाजिक-संगठन में घुन बन कर लगा हुआ है, इसे दूर करना आवश्यक है—इसमें सन्देह नहीं, परन्तु इसे दूर करने के जो उपाय हैं उन पर अवश्य मत-भेद हो सकता है। जहाँ तक अस्पृश्यता को दूर करने के लिए ग़ैर-सरकारी उपाय हैं, असवर्णों के, सवर्णों के—इन पर भी मत-भेद नहीं है, परन्तु जहाँ तक सरकारी उपाय हैं उन उपायों में से कुछ-एक उपायों पर मत-भेद है। सरकारी उपायों में अस्पृश्य-जातियों को अस्पृश्यता के नाते विशेष अधिकार दिये जाते हैं। अनुसूचित-जातियाँ स्वयं अस्पृश्यता के नाते विशेष अधिकारों की माँग करती हैं। अनुसूचित-जातियों को अस्पृश्य होने के कारण नौकरियों में विशेष अधिकार दिये जाते हैं, उनके साथ आयु की दृष्टि से भी विशेष रियायत की जाती है। आपत्ति करने वालों का कहना है कि एक तरफ़ तो हम जातिवाद का विरोध करते हैं, अस्पृश्यता को समाप्त करना चाहते हैं, दूसरी तरफ़ अनुसूचित-जातियों को अस्पृश्य होने के नाते विशेष अधिकार देते हैं। यह परस्पर-विरोधी बातें हैं, इससे जातिवाद के समाप्त होने के स्थान में उसके पनपने की सम्भावना बढ़ जाती है। प्रजातंत्रवाद में सब को समान अधिकार देने की बात तो कही जा सकती है, परन्तु जाति-विशेष को किसी जाति के आधार पर विशेष अधिकार देने की बात नहीं कही जा सकती। इस दृष्टि से अस्पृश्यता के आधार पर विशेष अधिकार देना जहाँ जातिवाद को प्रोत्साहन देगा वहाँ यह प्रजातंत्र के ऊपर भी कुठाराघात होगा। जिन लोगों को अस्पृश्य होने के नाते विशेष अधिकार मिलेंगे, उनका तो फिर स्वार्थ यह हो जायगा कि अस्पृश्यता की संस्था सदा के लिए बनी रहे, कम-से-कम जो अनुसूचित-जातियों के नाते लोक-सभा आदि में आयेंगे, उनके लिए इस आसान रास्ते को छोड़ना कठिन हो जायगा। इसके अतिरिक्त अनुसूचितों को शिक्षकों, प्रोफ़ेसरों, मैजिस्ट्रेटों आदि के स्थानों में भरने से तो समस्या ही दूसरी खड़ी हो जायगी। इन पदों पर योग्य व्यक्तियों को लाने से तो कार्य में कुशलता आयेगी, परन्तु किसी व्यक्ति को एक ख़ास जाति का होने के कारण लाने से तो समाज का ढाँचा ही ढीला होने लगेगा। अस्पृश्यता के आधार पर अधिकार देने और माँगने से जातिवाद बढ़ेगा, प्रजातंत्रवाद घटेगा और कार्य-कुशलता का ह्रास होगा। कहीं-कहीं तो ऐसी स्थिति भी उत्पन्न हो गई है कि अस्पृश्यता के नाते अधिकार मिलता देख कर कई सवर्ण-हिन्दू भी अपने को अस्पृश्य कहलाने के लालच में पड़ जाते हैं। अस्पृश्यता के आधार पर विशेष अधिकार देते हुए हमें इस बात से सतर्क रहना होगा कि ब्राह्मणों की तरह अपने को अस्पृश्य कहने वालों का भी कहीं एक 'विशेष-अधिकारों वाला वर्ग' (Privileged class) न बन जाय।

एक पक्ष तो यह है परन्तु दूसरा पक्ष यह है कि जिन लोगों को सदियों से अधिकारों से वंचित रखा गया है, उन्हें अगर रियायत नहीं दी जायगी, तो वे कब दूसरों का साथ पकड़ सकेंगे? अब तक उन्हें अवसर नहीं दिया गया। जो लोग

आज आगे बढ़े दीखते हैं वे इसलिए आगे बढ़े हैं क्योंकि उन्हें आगे बढ़ने का अवसर मिलता रहा है। जो कमजोर होता है उसी की तो सहायता की जाती है, निर्बल बच्चे को ही तो माँ दूध देती है। आज अस्पृश्य-जातियाँ सदियों से उन्नति के क्षेत्र से निर्वासित रही हैं। उन्हें अगर सम्पूर्ण समाज का अंग समझ कर सब के समान के स्तर पर लाना है, तो उनके साथ विशेष रियायत किये बग़ैर, उन्हें विशेष अधिकार दिये बग़ैर यह स्थिति नहीं आ सकती।

उक्त दोनों पक्षों में सचाई है, इसलिए मध्य-मार्ग ही ठीक है। हरिजनों को विशेष अधिकार देने चाहिएँ, दस साल तक, पन्द्रह साल तक, बीस साल तक, परन्तु इस सिलसिले को कहीं तो ख़त्म करना होगा, कहीं तो यह कहना ही पड़ेगा कि अब हम जातिवाद को आगे नहीं बढ़ने देंगे, अब प्रजातंत्र में सब समान होंगे, योग्यता के आधार पर ही ऊँच-नीच का भेद होगा, अन्य किसी आधार पर हम ऊँच-नीच के भेद को, विशेष अधिकार को स्वीकार नहीं करेंगे।

१८

अस्पृश्य या अनुसूचित-जातियाँ तथा समाज-कल्याण

(UNTOUCHABILITY OR SCHEDULED CASTES AND SOCIAL WELFARE)

यह[1] तो हम पहले ही लिख आये हैं कि अस्पृश्य कही जाने वाली जातियों को सरकारी तौर पर 'अनुसूचित-जाति' (Scheduled caste) तथा समाज में पिछड़े वर्ग को जो अस्पृश्य तो नहीं है परन्तु जाति के तौर पर पिछड़ा हुआ है, सरकारी तौर पर 'पिछड़ा-वर्ग' (Backward class) कहा जाता है। 'अनुसूचित-जाति' तथा 'पिछड़ा-वर्ग' होने के कारण उन्हें समाज की अन्य जातियों तथा वर्गों के समान स्तर पर लाने के लिए कुछ विशेष अधिकार देने की व्यवस्था की जाती है। भिन्न-भिन्न जातियों तथा वर्गों में आजकल अपने को अनुसूचितों तथा पिछड़ों में अपना नाम लिखवाने की होड़ मची हुई है। इस अध्याय में हम इन अस्पृश्य कहे जाने वाली जातियों के लिए 'अनुसूचित'-शब्द का प्रयोग करेंगे।

अनुसूचित जन-जातियों के प्रकरण में हम उनकी समाज-कल्याण-सम्बन्धी प्रशासकीय-व्यवस्था पर लिख आये हैं। उस प्रकरण में हम अनुसूचित जन-जातियों के सम्बन्ध में सरकारी प्रयत्नों पर भी विस्तार से प्रकाश डाल आये हैं। जो-कुछ 'अनुसूचित जन-जातियों' (Scheduled Tribes) के लिए प्रशासकीय-व्यवस्था है वही 'अनुसूचित-जातियों तथा पिछड़े-वर्गों' (Scheduled castes and Backward classes) के लिए भी प्रशासकीय-व्यवस्था है। जो कल्याण-योजनाएँ अनुसूचित जन-जातियों के लिए बनाई गई हैं लगभग वैसी ही कल्याण-योजनाएँ अनुसूचित-जातियों तथा पिछड़े-वर्गों के लिए बनाई गई हैं। जहाँ धन-राशि किसी समाज-कल्याण के लिए स्वीकृत की गई है वहाँ राशि का भेद तो है, लेकिन योजना का भेद बहुत थोड़ा है। इस पृष्ठ-भूमि में इस अध्याय को पढ़ना होगा।

१. यह अध्याय अनुसूचित-जातियों तथा अनुसूचित आदिम-जातियों के कमिश्नर की १९५७-५८ की रिपोर्ट के आधार पर लिखा गया है।

१. प्रशासकीय-व्यवस्था

(क) वर्त्तमान-व्यवस्था—भारत की अनुसूचित-जातियों तथा पिछड़े-वर्गों की कल्याण-योजनाओं की देख-रेख करने के लिए इस समय जो व्यवस्था है वह यह है कि दिल्ली में 'गृह-मंत्रालय' (Ministry of Home Affairs) के आधीन केन्द्रीय-कार्य, अर्थात् सारे भारत की अनुसूचित-जातियों का कार्य करने के लिए एक 'आयुक्त' (कमिश्नर) नियुक्त है। यह आयुक्त वही है जो 'जन-जातियों' (Tribes) का 'आयुक्त' है। इसका नाम 'अनुसूचित-जातियों तथा अनुसूचित आदिम-जातियों का आयुक्त' (Commissioner for Scheduled Castes and Scheduled Tribes) है। इसकी नियुक्ति विधान की ३३८ धारा के अनुसार राष्ट्रपति स्वयं करता है। प्रारम्भ से ही इस पद पर श्रीयुत् एल० एम० श्रीकान्त कार्य कर रहे हैं। केन्द्रीय-आयुक्त का काम तो सारे भारत की इन वर्गों की कल्याण-योजनाओं की देख-रेख करना है, उसके अतिरिक्त भारत को १६ प्रदेशों में बाँट कर १६ 'प्रादेशिक-सहायक-आयुक्त' (Regional Assistant Commissioners) नियुक्त किये गये हैं। अब इन्हें 'प्रादेशिक सहायक-आयुक्त' न कहकर 'सहायक-आयुक्त' (Assistant Commissioners) ही कहा जाता है। अभी इनमें कुछ स्थान रिक्त हैं जिनकी अर्थाभाव के कारण पूर्ति नहीं हो सकी। 'आयुक्त' तथा 'सहायक-आयुक्तों' का काम जहाँ देश की आदिम-जातियों की समस्याओं का हल करना और उनकी देख-रेख करना है, वहाँ आयुक्त का काम अनुसूचित-जातियों तथा पिछड़े-वर्गों की स्थिति तथा उनकी समस्याओं का यथार्थ रूप राष्ट्रपति के सम्मुख रखना भी है। इस दृष्टि से प्रति वर्ष 'आयुक्त' की तरफ़ से एक रिपोर्ट राष्ट्रपति के सम्मुख पेश की जाती है जिस पर पार्लियामेंट में विचार होता है। 'आयुक्त' (कमिश्नर) का काम देश में जगह-जगह घूम-फिर कर इन सब की समस्याओं का पता लगाना है, परन्तु वह स्वयं कर कुछ नहीं सकता, राष्ट्रपति को सलाह भर देता है।

उक्त 'आयुक्त' के अतिरिक्त अनुसूचित-जातियों की समस्याओं पर विचार करने के लिए १९५६ में एक 'केन्द्रीय परामर्शदातृ हरिजन-कल्याण-पटल' (Central Advisory Board for Harijan Welfare) बनाया गया जिसमें पार्लियामेंट के तथा जनता के प्रतिनिधि रखे गये जिससे जनता की आवाज़ सरकार तक संगठित रूप में पहुँचती रहे। इस 'पटल' का कार्य सरकार को अनुसूचित-जातियों की कल्याण-योजनाओं के सम्बन्ध में समय-समय पर सलाह देते रहना है। केन्द्र के अतिरिक्त प्रान्तों में 'परामर्शदातृ कल्याण-कौन्सिल' (Advisory Councils for Harijan Welfare) तथा ज़िलों में 'परामर्शदातृ समितियाँ' (Advisory Committees for Harijan Welfare) बनी हुई हैं जिनमें जनता का सहयोग लिया जाता है। इनका काम भी सरकार को सलाह देना मात्र है, कर वे भी स्वयं कुछ नहीं सकतीं।

(ख) प्रस्तावित-व्यवस्था—श्री काका कालेलकर की अध्यक्षता में १९५३ में जो 'पिछड़ी-जातियों का आयोग' (Backward Classes Commission) बना था उसने अपनी ३१ मार्च १९५५ की रिपोर्ट में अनुसूचित-जातियों तथा पिछड़े-वर्गों की समाज-कल्याण-सम्बन्धी प्रशासकीय-व्यवस्था के लिए जो परामर्श दिये थे, उनके अनुसार आयोग का कहना था कि अनुसूचित-जातियों की समस्या को एक तीव्र समस्या समझ कर केन्द्र में तथा प्रान्तों में 'उद्धार-मंत्रालयों' (Ministry for the Advancement of Backward Classes) की स्थापना होनी चाहिए जिसका मुख्य कार्य देश के सब पिछड़े-वर्गों की कल्याण-योजनाओं का संचालन करना होना चाहिए। इस समय तो 'आयुक्त' राष्ट्रपति के तथा 'केन्द्रीय-परामर्शदातृ-पटल' गृह-मंत्रालय के आधीन काम करते हैं, और सिर्फ़ सलाह देने का काम करते हैं, परन्तु अब प्रस्ताव यह है कि प्रस्तावित-मंत्रालय गृह-मंत्रालय के आधीन न होकर एक स्वतन्त्र मंत्रालय हो, और सिर्फ़ सलाह देने का काम करने के स्थान में अन्य मंत्रालयों की तरह यह मंत्रालय सब काम स्वयं कर सके, सलाहें ही न देता रहे।

२. अनुसूचित-जातियों की 'समाज-कल्याण-संबंधी'-योजनाओं पर व्यय

अनुसूचित-जातियों तथा पिछड़े-वर्गों की समाज-कल्याण-सम्बन्धी समस्याओं को हल करने के लिए जिन योजनाओं पर धन का व्यय किया जाता है वे हैं—शिक्षा, कृषि, गृहोद्योग, स्वास्थ्य, गृह-निर्माण, यातायात, सहकारिता, पुनर्वास, जंगल, पशु-विभाग, प्रचार-विभाग, कम्यूनिटी सेंटर, ग़ैर-सरकारी संस्थाओं को सहायता, प्रबन्ध, डिवेलपमेंट ब्लॉक तथा अन्य व्यय। प्रथम तथा द्वितीय पंच-वर्षीय योजनाओं में इन विभागों पर जो व्यय हुआ उससे स्पष्ट हो जायगा कि कल्याण-योजनाएँ कहाँ तक अपना कार्य कर सकती हैं। इस व्यय का ब्योरा पृष्ठ ३९३ पर दिया गया है :

उक्त विवरण से स्पष्ट है कि प्रथम पंच-वर्षीय-योजना में अनुसूचित-जातियों की भिन्न-भिन्न कल्याण-योजनाओं पर ५ करोड़ ९६ लाख खर्च किया गया और द्वितीय पंच-वर्षीय कल्याण-योजनाओं पर २५ करोड़ ६२ लाख व्यय किया जा रहा है। इनके अतिरिक्त पिछड़े वर्गों की कल्याण-योजनाओं पर प्रथम-योजना-काल में १ करोड़ ६२ लाख तथा द्वितीय-योजना-काल में ६ करोड़ ६२ लाख व्यय किया जा रहा है। आदिवासियों पर जो प्रथम तथा द्वितीय योजना में व्यय किया गया या किया जा रहा है वह इस व्यय से अलग है और उसका विवरण हम अनुसूचित जन-जातियों के कल्याण पर लिखते हुए उस अध्याय में दे आये हैं।

अब हम अनुसूचित-जातियों के लिए चलाई गई भिन्न-भिन्न सामाजिक-कल्याण-योजनाओं पर कुछ प्रकाश डालेंगे।

अनुसूचित-जातियों तथा पिछड़े-वर्गों पर प्रथम तथा द्वितीय योजना में व्यय[1]

योजना	अनुसूचित-जातियों पर व्यय		पिछड़े-वर्गों पर व्यय	
	प्रथम-योजना	द्वितीय-योजना	प्रथम-योजना	द्वितीय-योजना
शिक्षा	३,८८,३८,८४३	१०,७६,८०,१९२	१,१७,२३,६८७	३,३९,१३,८५०
कृषि	६,५८,४८५	७६,२९,०००	९३,७६०	५८,८५,०००
गृहोद्योग	१६,८८,९१२	२,४७,५४,५५०	३,०२,०८०	३८,२२,४५०
स्वास्थ्य	६५,२०,७३२	२,८४,३४,६७५	१८,२१,८७१	१५,७८,२००
गृह-निर्माण	१२,२४,३६८	५,४६,५७,९००	४,६९,२३६	१८,०४,३५०
यातायात	२,२४,८९८	३,८१,७५०	१,९०,१४४	४,६३,५००
सहकारिता	१,३१,७५५	६६,४९,८००	२,२२,६९९	६,६२,६५०
पुनर्वास	...	५०,२८,४००	४,८३,०५५	१२,९९,०००
जंगल	...	...	...	...
पशु-विभाग	१,९८२	...	...	१,००,०००
प्रचार-विभाग	२९,२७,६६२	४६,४४,५६५	२०,०००	७०,५००
कम्यूनिटी सेंटर	७३,६५१	४५,१०,७७५	...	१६,८३,२००
गैर-सरकारी संस्थाएँ	३४,५१,४६५	३५,३०,९५०	३,६१,८६०	१०,६८,५००
प्रबन्ध	९,६८,१०४	२६,१९,१००	४,५७,१२७	३३,२९,७००
डिवेलपमेण्ट ब्लॉक	...	...	...	...
अन्य-व्यय	२९,४८,३७५	५७,६३,५१०	६५,४२०	१,०१,५३,९५०
योग	५,९६,५९,३१२	२५,६२,८५,१६७	१,६२,१०,९३९	६,५८,३४,८५०

1. India—1959, page 169.

३. अनुसूचित-जातियों के लिये 'शिक्षा-सम्बन्धी' कल्याण-योजनाएँ

(क) शिक्षा पर व्यय—केन्द्रीय-सरकार का हरिजनों की शिक्षा पर व्यय दिनोंदिन बढ़ता जा रहा है। निम्न तालिका से यह बात स्पष्ट हो जायगी :

हरिजनों की शिक्षा पर व्यय की तालिका

वर्ष	व्यय
१९४७–४८	५,३९,३०७
१९४८–४९	४,५२,३१७
१९४९–५०	५,१५,५१२
१९५०–५१	७,२६,६५१
१९५१–५२	८,१७,९७६
१९५२–५३	१४,३५,५५१
१९५३–५४	२६,३६,३१६
१९५४–५५	४५,८०,४९८
१९५५–५६	६३,७८,४३२
१९५६–५७	८८,२४,०००

(ख) केन्द्रीय-सरकार की अन्तर्देशीय छात्रवृत्तियाँ (Inland scholarships of Government of India)—१९४४–४५ में अनुसूचित-जातियों के बालकों को छात्रवृत्तियाँ देने का उपक्रम शुरू हुआ था। १९४९–५० में आदिम-जातियों तथा पिछड़े-वर्गों को भी इन छात्रवृत्तियों का लाभ दिया जाने लगा। अनुसूचित-जातियों को दी जानेवाली ये छात्रवृत्तियाँ किस प्रकार प्रतिवर्ष बढ़ती जा रही हैं, यह अनुसूचित-जातियों के 'आयुक्त' की निम्न तालिका से स्पष्ट हो जायगा :—

अनुसूचित जातियों को प्रतिवर्ष दी जाने वाली छात्रवृत्तियाँ

वर्ष	दी गई छात्रवृत्तियाँ
१९४७–४८	६५५
१९४८–४९	६४७
१९४९–५०	८७९
१९५०–५१	१,३१६
१९५१–५२	१,६०७
१९५२–५३	३,४०४
१९५३–५४	५,९५४
१९५४–५५	१०,०३४
१९५५–५६	१६,०८१
१९५६–५७	२१,५२५
१९५७–५८	२६,४४७

१९५७–५८ में अनुसूचित-जातियों के बालकों के २६,४४७ प्रार्थना-पत्र प्राप्त हुए और उनमें से प्रत्येक को छात्रवृत्ति दे दी गई। इस काल में पिछड़े-वर्गों के छात्रों के प्राप्त ३५,०७४ प्रार्थना-पत्रों में से १३,६६८ को छात्रवृत्ति दे दी गई।

(ग) प्रान्तीय-सरकारों की अन्तर्देशीय छात्रवृत्तियाँ (Inland scholarships of State Governments)—अनेक प्रान्तीय-सरकारें

अनुसूचित-जातियों का परीक्षा-शुल्क जो उन्हें विश्व-विद्यालय को देना पड़ता है, स्वयं देती हैं। केरल-सरकार उन अनुसूचित-जातियों के छात्रों को जो न्यायालय की 'सनद' परीक्षा में बैठते हैं, ५५२ रुपया प्रति मास सहायता के रूप में देती है। केरल में जो छात्र किसी वकील के आधीन प्रशिक्षण ग्रहण करते हैं या किसी अस्पताल में हाउस-सर्जन का काम सीखते हैं, उनमें से कुछ-एक को साल भर के लिए ५० रुपया प्रतिमास छात्रवृत्ति दी जाती है। केरल की तरह अन्य राज्य-सरकारों को भी इस दिशा में कदम बढ़ाना चाहिए।

(घ) छात्रावास (Hostels)—कई राज्यों में अनुसूचित-जातियों के लाभ के लिए सरकारी तथा ग़ैर-सरकारी संस्थाओं द्वारा छात्रावास चलाये जाते हैं। इन छात्रावासों का उद्देश्य पृथक्ता की भावना को मिटाना है, इसलिए इनमें सवर्ण तथा अन्य जातियों के छात्र भी भर्ती किये जाते हैं। १९५६–५७ में बम्बई सरकार ने अस्पृश्यता-निवारण-प्रोग्राम के आधीन ग़रीब तथा योग्य अनुसूचित-जाति के छात्रों को जो कालेजों में पढ़ रहे थे, इसलिए भोजन-भत्ता देना शुरू किया था कि वे सार्वजनिक भोजनालयों में सवर्ण-छात्रों के साथ भोजन करें जिससे अस्पृश्यता की भावना कम हो। बम्बई सरकार इस योजना को १९५७–५८ में भी चलाती रही। अस्पृश्यता दूर करने का सब से अच्छा सस्ता तरीका सवर्ण जाति के छात्रों को अनुसूचित-जातियों की भोजनशालाओं में खाना खाने के लिए वज़ीफ़ा देना है। इससे अनुसूचित-जातियों के लिए बनाये गये छात्रावासों से अस्पृश्यता दूर करने के लिए काफ़ी सहायता मिलेगी।

(ङ) प्रौद्योगिक-प्रशिक्षण (Technical Training)—अनुसूचित-जातियों के छात्रों को मैडिकल, एंजीनियरिंग तथा अन्य प्रौद्योगिक-शिक्षणालयों में भर्ती होने के लिए सब प्रकार की सुविधा दी जाती है। इन विद्यालयों में इनके लिए स्थान भी सुरक्षित रखे जाते हैं।

(च) विदेशों में अध्ययनार्थ छात्रवृत्तियाँ (Scholarships for overseas studies)—केन्द्रीय-सरकार विदेशों में पढ़ाई के लिए जैसे जन-जातियों के छात्रों को छात्रवृत्ति देती है वैसे अनुसूचित-जातियों के छात्रों को भी छात्रवृत्ति देती है। इनमें से ४ छात्रवृत्तियाँ अनसूचित-जाति के, ४ जन-जाति के और ४ पिछड़ी-जाति के छात्रों को दी जाती हैं—इस प्रकार ये १२ छात्रवृत्तियाँ हैं। ऐसे छात्रों को टूरिस्ट श्रेणी का आने-जाने का किराया भी दिया जाता है। १९५७–५८ में शिक्षा-मंत्रालय की विदेश में अध्ययन के लिए श्रेष्ठता के अनुसार छात्रवृत्तियाँ देने की योजना के अन्तर्गत एक अनुसूचित-जाति तथा तीन पिछड़े-वर्ग के छात्रों को वज़ीफ़े दिये गये। राज्य-सरकारों में से असम सरकार ने १९५७–५८ में ३ अनुसूचित-जाति के छात्रों को छात्रवृत्तियाँ दीं।

(छ) पब्लिक-स्कूलों में छात्रवृत्तियाँ (Scholarships in Public schools)—१९५३ में भारत-सरकार ने योग्य-विद्यार्थियों को पब्लिक-स्कूलों में शिक्षा पाने के लिए छात्र-वृत्ति देने की योजना को प्रारम्भ किया। इस

योजना को क्रियान्वित करने के लिए १ लाख रुपए की स्वीकृति दी गई। इस रुपए से योग्य विद्यार्थी इन स्कूलों में भर्ती किये जाते हैं। ये योग्य विद्यार्थी सवर्ण भी हो सकते हैं, असवर्ण भी। जन-जातियों, अनुसूचित-जातियों एवं पिछड़े-वर्गों के लिए इन स्कूलों में १७½ प्रतिशत स्थान सुरक्षित रखे गये। १९५७-५८ में पब्लिक-स्कूलों में पढ़ाई के लिए भारत-सरकार ने कुल ६५ छात्रवृत्तियां दीं जिनमें से २ अनुसूचित-जाति, ५ अन्य पिछड़े-वर्ग के छात्रों को दी गईं, परन्तु आदिम-जाति के किसी छात्र को यह छात्रवृत्ति नहीं दी जा सकी। इन ७ के अतिरिक्त पब्लिक-स्कूलों में शिक्षा ग्रहण करने के लिए दी जाने वाली ५८ छात्रवृत्तियां सवर्ण बालकों को योग्यता के आधार पर दी गईं। १९५७-५८ में पब्लिक-स्कूलों ने अपनी तरफ़ से २ छात्रवृत्तियां अनुसूचित-जाति के बालकों को दीं।

(ज) तकनीकी तथा शिक्षा-संस्थाओं में स्थान सुरक्षित रखना, दाखिले के लिये माप-दंड तथा आयु की सीमा में ढिलाई (Reservation of seats in Technical and Educational Institutions)—भारत-सरकार के कृषि-मंत्रालय ने नेशनल डेयरी रिसर्च इन्स्टीट्यूट, करनाल (पंजाब) में २० प्रतिशत और दक्षिणी रीजनल स्टेशन बंगलौर में भारतीय डेयरी डिप्लोमा के लिए ४ स्थान ,जन-जातियों, अनुसूचित-जातियों तथा पिछड़े-वर्गों के लिए सुरक्षित रखे हैं। श्रम तथा रोजगार मन्त्रालय ने अपने आधीन ३ प्रौद्योगिक-संस्थाओं में १७½ प्रतिशत स्थान इन तीनों वर्गों के लिए सुरक्षित रखे हैं। स्वास्थ्य मंत्रालय ने अपने आधीन सभी मैडिकल कालेजों तथा संस्थाओं में २० प्रतिशत स्थान, नई दिल्ली की स्वास्थ्य-संस्थाओं में १० प्रतिशत, लेडी हार्डिंज कालेज में २ स्थान, क्रिश्चियन मैडिकल कालेज लुधियाना में १ स्थान इन तीनों प्रकार के निम्न वर्गों के लिए सुरक्षित हैं। केन्द्र-सरकार की तरह राज्य-सरकारें भी इस वर्ग के छात्रों को तकनीकी तथा शिक्षा-संस्थाओं में शिक्षा ग्रहण करने के लिए प्रोत्साहित कर रही हैं। बम्बई सरकार ने आदेश दिया है कि पिछड़ी जातियों के किसी भी योग्य छात्र को राज्य के किसी भी कृषि-कालेज में दाखिले से मना न किया जाय, केरल सरकार ने राज्य में स्थित तकनीकी संस्थाओं में अनुसूचित-आदिम-जातियों के अतिरिक्त अन्य पिछड़े-वर्गों के लिए ३० प्रतिशत स्थान सुरक्षित कर दिये हैं। इस राज्य में आर्ट्स और विज्ञान-कालेजों तथा अध्यापक-प्रशिक्षण-कालेजों में पिछड़े वर्गों के लिए ३० प्रतिशत स्थान सुरक्षित हैं।

इन सब सुविधाओं के अतिरिक्त अनेक विश्व-विद्यालयों ने उत्तीर्णाङ्क प्राप्त करने तथा आयु के सम्बन्ध में भी अनुसूचित-जातियों तथा अन्य पिछड़े-वर्गों को सुविधाएं प्रदान की हैं।

(झ) बुनियादी आवासिक स्कूल (Basic Residential Schools)—जैसे उड़ीसा में आदिवासी-बालकों के लिए आश्रम-स्कूल खोले गये वैसे बिहार-सरकार ने बिहार-हरिजन-जांच-कमेटी की सिफ़ारिश पर सब से पिछड़े अर्थात् डोम, मुसहर और मेहतरों के लड़कों को पढ़ाने के लिए जूनियर बुनियादी

आवासिक-स्कूल खोले। इन स्कूलों में इलाके के दूसरे बच्चे भी पढ़ते हैं। बिहार की द्वितीय पंच-वर्षीय-योजना में इस प्रकार के ३५ आवासिक-स्कूल चलाने का प्रोग्राम है। बिहार में अनुसूचित-जातियों की लड़कियों के लिए भी ऐसे स्कूल खोले जा रहे हैं। अन्य राज्यों की सरकारें भी बिहार का अनुकरण कर हरिजनों के लिए ऐसे आवासिक-स्कूल खोल सकती हैं।

४. अनुसूचित-जातियों के लिए 'कृषि-विकास-संबंधी' कल्याण-योजनाएँ

(क) भूमिहीन अनुसूचित-जाति के किसानों को भू-स्वामित्व (Land tenure for landless labourers of Scheduled castes)—देश में अगर खेती करने वाले किसान १०० हैं, तो इन सौ में १५.३ प्रतिशत अनुसूचित-जाति के लोग हैं। अगर खेती करने वाले भूमि-हीन किसान १०० हों तो उनमें ३३ प्रतिशत भूमिहीन-किसान अनुसूचित-जाति के लोग हैं। भूमिहीन किसान जन-जातियों की अपेक्षा भी अनुसूचित-जातियों में अधिक हैं। जन-जाति के लोग तो जंगलों में रहते हैं इसलिए उन्हें भूमिहीनता के प्रश्न का सामना नहीं करना पड़ता, अनुसूचित-जातियों के लोग शहरों में रहते हैं, इसलिए इनके लिए यह एक विकट समस्या है। १९५१ की जन-गणना के अनुसार ग्रामीण अनुसूचित-जाति के लोगों की संख्या ४,६२,२०,५८७ थी जिनमें ३,७२,०५,१९३ अनुसूचित-जाति के भूमिहीन किसान हैं जो बटाई पर खेत बोते हैं।

इन लोगों को जितनी अधिक संख्या में भूमि दी जा सकती है, दी जानी चाहिए। इस कार्य के लिए जमीन तीन प्रकार से प्राप्त हो सकती है—राज्य के पास जो कृषियोग्य व्यर्थ जमीन पड़ी हैं, भूमि-अधिकार (Ceiling of land) निश्चित होने के बाद बची हुई भूमि तथा भू-दान और ग्राम-दान से प्राप्त हुई भूमि अनुसूचित-जाति के लोगों में बाँटी जा सकती है।

भिन्न-भिन्न राज्य-सरकारों में अनुसूचित-जातियों, जन-जातियों तथा पिछड़े-वर्गों को जो भूमियाँ बाँटी गई हैं उनका पूरा ब्यौरा तो उपलब्ध नहीं हैं, परन्तु जो कुछ उपलब्ध हुआ है उसके आधार पर कहा जा सकता है कि इस दिशा में भिन्न-भिन्न राज्यों में कार्य हो रहा है, जो निम्न विवरण से स्पष्ट है:

राज्य	जमीन जो दी गई (एकड़ों में)			कुल योग
	अनुसूचित-जातियों को	जन-जातियों को	पिछड़े-वर्गों को	
बिहार	४४,८६७	४४,३५०	१३,९७०	,०३,१८७
बम्बई	८,५२,९७३	८,९१,५८१	२२,१३,९२३	३९,५८,४७७
मध्य-प्रदेश	२,००,०००	—	—	२,००,०००
उड़ीसा	१०,९८५	३५,३६४	८,२४०	५४,५८९
त्रिपुरा	—	२५,६४६	—	२५,६४६
कुल योग	११,०८,८२५	९,९६,९४१	२२,३६,१३३	४३,४१,८९९

बिहार में रैवेन्यू-अधिकारी ज़मीन बाँट देता है। इस कार्य में वह हरिजन-कल्याण-विभाग के अधिकारी का सहयोग ले लेता है। अनुसूचित-जाति के प्रत्येक परिवार को ५ एकड़ कृषि-योग्य भूमि दी जाती है जिसके लिए रजिस्ट्री की फ़ीस नहीं लगती। १७ ज़िलों में भू-दान द्वारा २ लाख एकड़ से अधिक भूमि प्राप्त हुई है जो १.२४ लाख लोगों को बाँटी गई है जिसमें ६० हज़ार के लगभग अनुसूचित-जाति तथा जन-जाति के लोग हैं। इनमें अनुसूचित-जाति के अधिक हैं। बम्बई सरकार ने सब ज़िलों के पिछड़े-वर्गों के लोगों को खेती करने के लिए बंजर भूमि "अधिक अन्न उपजाओ" आन्दोलन के अन्तर्गत ठेके पर देने की आज्ञा दी है। मध्य-प्रदेश में भू-दान में मिली भूमि तथा ज़मींदारी-प्रथा रद्द होने से राज्य-सरकार को मिली भूमि रैवेन्यू-अधिकारियों द्वारा अनुसूचित-जातियों तथा आदिम-जातियों में बाँट दी गई है। भूमिहीन परिवारों को प्रति परिवार १५ एकड़ ज़मीन दी जाती है और उसे उपजाऊ बनाने के लिए ख़र्चे का कुछ भाग भी सरकार देती है। इसी प्रकार अन्य राज्य-सरकारों में इन लोगों को भूमि वितरित की जा रही है।

६. अनुसूचित-जातियों के लिए 'गृहोद्योगों' की कल्याण-योजनाएँ

जैसा हम देख आये हैं अनुसूचित-जातियों की अर्थ-व्यवस्था जन-जातियों से भी हीन है। जन-जातियों के पास ज़मीनें तो हैं, इनके पास ज़मीनें भी नहीं हैं, इन्हें मेहनत-मज़दूरी से ही पेट भरना पड़ता है। इस दृष्टि से इनकी आर्थिक-समस्या को हल करने के लिए गृहोद्योगों को जारी करना ज़रूरी है। हमारी प्रथम पंच-वर्षीय-योजना कृषि-प्रधान थी, उद्योगों की तरफ़ उसमें कम ध्यान दिया गया था, इसलिए उस योजना-काल में अनुसूचित-जातियों की समस्या का हल करने वाले उद्योग जारी नहीं किये जा सके, अब द्वितीय-योजना-काल में इधर विशेष ध्यान दिया गया है। प्रथम पंच-वर्षीय-योजना में विभिन्न राज्य-सरकारों द्वारा पिछड़े-वर्ग के लिए संचालित गृहोद्योग-योजनाओं पर ७४ लाख से अधिक रुपया व्यय किया गया। द्वितीय पंच-वर्षीय योजना में पिछड़े-वर्ग के विकास के अन्तर्गत ५४७.२९ लाख की रकम इनके विकास के लिए रखी गई है, जिसमें से २,४७,५४,५५० रुपया अनुसूचित-जातियों तथा ३५,२२,४५० रुपया पिछड़े-वर्गों की जातियों के ग्रामोद्योगों के विकास पर व्यय होगा।

६. अनुसूचित-जातियों के लिए 'आर्थिक-सुधार-संबंधी' अन्य योजनाएँ

(क) अन्न-भंडार (Grain Golas)—पिछड़े-वर्गों के भूमिहीन किसानों के लिए अन्न-भंडारों का महत्त्वपूर्ण स्थान है। ये लोकप्रिय इसलिए हैं क्योंकि इन भंडारों से परिवारों को दैनिक उपयोग के लिए अन्न मिलता है, और कृषि के लिए उधार के तौर पर बीज मिलता है। अन्न-भण्डार पहले बिहार तथा

बम्बई राज्य में केवल आदिवासियों की सहायतार्थ स्थापित किये गये थे। उन राज्यों में सफल प्रयोग के परिणामस्वरूप अब वे सब राज्यों में अपना लिये गये हैं और अनुसूचित-जातियों को भी इनका लाभ दिया जाने लगा है। ज्यादातर ये अन्न-भण्डार आदिवासियों के काम आते हैं, परन्तु बिहार में द्वितीय पंच-वर्षीय योजना में ७२५ अन्न भण्डार खोलने का विचार है जिनमें से ३९५ आदिवासियों के लिए और ३३० अनुसूचित-जातियों के लिए खोले जायेंगे।

(ख) ऋण-मोचन तथा साहूकारों पर प्रतिबन्ध (Debt redemption and check on money-lenders)—हमारे ग्रामीण लोगों में आम तौर पर सभी स्तरों पर ऋण-ग्रस्तता काफ़ी दिखाई देती है, किन्तु अनुसूचित-जातियों में यह सब से अधिक है। ऋण-ग्रस्तता के अन्य कारणों में से प्रमुख कारण हैं—निर्धनता, फ़िज़ूलखर्ची और पैतृक-ऋण। अनुसूचित-जातियों को निर्वाह के लिए भी ऋण लेना पड़ता है, और भूमिहीन होने के कारण ऋण अदा करने की उनकी सामर्थ्य इतनी कम गिनी जाती है कि केवल सूदखोर साहूकार ही उन्हें अधिक ब्याज के लोभ से ऋण देना चाहता है, अन्य कोई नहीं। सामाजिक रीति-रिवाजों में फ़िज़ूलखर्ची भी इनके ऋण में वृद्धि का कारण है। पैतृक-ऋण भी ऋण-ग्रस्तता का एक कारण है। ये लोग ऋण लेकर पैदा होते, ऋण में ही जीते और ऋण का बोझ सिर पर लेकर मरते हैं। यह क्रम जैसे-का-तैसा पीढ़ियों तक चलता है। इसका परिणाम यह होता है कि जो-कुछ बची-खुची जमीन उनके पास होती है, सब साहूकारों के पास चली जाती है।

कुछ राज्य-सरकारों ने ग्राम के साहूकारों की इस क्रूर मनोवृत्ति को रोकने के लिए कर्ज के ब्याज की दर को नियन्त्रित करने एवं पिछले बहुत दिनों के चालू कर्ज को समाप्त करने आदि के लिए कुछ कदम उठाये हैं। जम्मू और काश्मीर सरकार ने ऋण-ग्रस्तता की समस्या को 'पीड़ित-ऋणी-मुक्ति-एक्ट' (Distressed Debtors Relief Act) द्वारा हल किया है। इससे हरिजनों को भी लाभ पहुँचा है। मद्रास में 'साहूकारा-कानून-१९५७' (Money Lenders' Act, 1957) स्वीकृत हुआ है जिससे साहूकारों के व्यवसाय पर काफ़ी नियमन तथा नियन्त्रण हो गया है। इससे भी हरिजनों को राहत मिलेगी। राजस्थान में यद्यपि इस आशय का कोई कानून नहीं बना, तो भी 'ऋण-समझौता बोर्डों' (Debt Reconciliation Boards) द्वारा कर्ज के बोझ से अन्य ऋण-ग्रस्त लोगों की तरह अनुसूचित-जातियों को भी राहत दी जाती है।

७. अनुसूचित-जातियों में 'स्वास्थ्य-संबंधी' कल्याण-योजनाएँ

स्वास्थ्य के सम्बन्ध में दो बातों पर ध्यान रखना आवश्यक होता है—स्वास्थ्य-रक्षा तथा रोग-निरोध। स्वास्थ्य-रक्षा के लिए भोजन, जल, वायु पर ध्यान देना होता है, रोग-निरोध के लिए मलेरिया, कुष्ठ, यौन-रोग, चर्म-रोग आदि से तन-बदन की रक्षा करनी होती है।

भोजन के लिए पौष्टिक-भोजन चाहिए, परन्तु यह तो जन-साधारण की आर्थिक अवस्था के उन्नत होने पर ही हो सकता है। जल-वायु के लिए अनुसूचित-जातियों को बहुत कष्ट उठाना पड़ता है। पीने योग्य अच्छे पानी के मिलने की समस्या इन जातियों की प्रमुख समस्याओं में एक है। प्रायः ये तालाबों का पानी पीते हैं। इनके मकान भी गन्दी बस्तियों में बने होते हैं, जहाँ पानी के निकास की नालियाँ नहीं होतीं, जगह-जगह बच्चे बैठे टट्टी-पेशाब किया करते हैं। मलेरिया, कुष्ठ, चर्म-रोग आदि से ये पीड़ित रहते हैं। प्रथम पंच-वर्षीय योजना के अन्तर्गत पिछड़े वर्गों को चिकित्सा-सम्बन्धी सुविधाएँ देने के लिए केन्द्रीय तथा राज्य-सरकारों ने २.४३ करोड़ की धन-राशि व्यय की है; द्वितीय-योजना में इस मद में ८.०५ करोड़ की धन-राशि व्यय की जा रही है। देश के अनेक पिछड़े क्षेत्रों में १९५६–५७ में २२२ दवाखाने और अस्पताल, २८ स्वास्थ्य और प्रसूति-केन्द्र खोलने तथा चलाने पर एवं ४,७५१ कुओं के निर्माण पर ७६,८६,११५ रुपया व्यय किया गया। १९५७–५८ में इन कामों पर १,०६,९२,९४३ रुपए का व्यय किया जा रहा है जिससे ३४० दवाखाने और अस्पताल, ७८ स्वास्थ्य, प्रसूति एवं बाल-कल्याण-केन्द्र खोलने और चलाने तथा ४,१२७ कुएँ बनवाने और मरम्मत करवाने की योजना है।

८. अनुसूचित-जातियों के लिए 'गृह-निर्माण' तथा गन्दी बस्तियाँ हटाने की कल्याण-योजनाएँ

पिछड़े-वर्गों के घरों की दशा को सुधारने के लिए द्वितीय पंच-वर्षीय योजना में ८२३ लाख रुपया रखा गया है। यह राशि आदिवासियों, अनुसूचित-जातियों तथा पिछड़े-वर्गों के लिए है। समस्या इतनी बड़ी है कि यह धन-राशि बिलकुल अपर्याप्त है। हरिजनों के घर अधिकतर ऐसी जमीन पर बने हैं जो उनकी अपनी नहीं है। किसी भी गाँव में हरिजनों के घरों का पता लगाना बहुत आसान है क्योंकि वे कम ऊँची दीवारों के बने होने के साथ-साथ, परस्पर सटे हुए, गाँव के एक कोने में बने हुए, उनके सहन कीचड़ से भरे हुए, गलियाँ धूल से भरी हुई होती हैं।

अनुसूचित-जातियों को गृह-निर्माण के लिए सहायता दी जाती है। राज्य-सरकारों की अपनी-अपनी परिस्थितियों के अनुसार अपनी-अपनी योजनाएँ हैं, परन्तु केन्द्रीय-सरकार की योजना के अनुसार एक मकान के लिए १,००० रुपया व्यय आना चाहिए जिसमें से ७५० रुपया अनुदान के रूप में सरकार देती है और २५० रुपया अनुदान लेने वाले को अपने श्रम के रूप में देना पड़ता है। यह अनुभव किया गया है कि जहाँ-तहाँ पृथक्-पृथक् घर बनाने से समस्या हल न होगी इसलिए प्रान्तीय-सरकारों पर इस बात का जोर डाला गया है कि वे बस्तियों के बनवाने का प्लान बनवा लें ताकि उनमें पानी की व्यवस्था, अच्छी नालियाँ आदि बनाने का काम भी किया जा सके जिससे सब को लाभ हो। जहाँ कहीं भी लोगों को घर बनाने में सहायता दी गई है उन्होंने बड़े उत्साह का परिचय दिया है।

केन्द्र द्वारा प्रसारित योजना के अन्तर्गत उत्तर-प्रदेश में अनुसूचित जातियों के कल्याण के लिए इलाहाबाद, आजमगढ़, देवरिया, गोरखपुर, हरदोई, जौनपुर, मेरठ और बाराबांकी के ज़िलों में से प्रत्येक ज़िले में एक प्रोजेक्ट-क्षेत्र चुन लिया गया है और प्रत्येक प्रोजेक्ट-क्षेत्र में द्वितीय पंच-वर्षीय योजना के अन्तर्गत अनुसूचित-जातियों के निमित्त ५०० घरों के निर्माण का आयोजन किया गया है।

'निर्माण, आवास और संभरण मंत्रालय' (Ministry of Works, Housing and Supply) की तरफ़ से ग्रामों के पुनर्निर्माण की एक योजना द्वितीय पंच-वर्षीय योजना-काल में चल रही है जिसका लक्ष्य यह है कि देश भर में ५,००० गाँवों को बिलकुल गिरा कर नये सिरे से पक्की ईंटों का और अच्छे ढंग का बनाया जाय। एक गाँव का बिलकुल पुनर्निर्माण ८–१० वर्ष में पूरा होगा। इस योजना में एक मकान १,५०० रुपए का होगा। इस कार्य में सरकार सहायता देगी परन्तु लागत का कम-से-कम ५० प्रतिशत सामान या श्रम के रूप में मकान-मालिक को देना होगा। हरिजन क्योंकि ऋण देने में असमर्थ होते हैं इसलिए केन्द्रीय-सरकार उन्हें अनुदान देने की सुविधा प्रदान करती है। इस प्रकार का सफल प्रयोग पंजाब के गुड़गाँवा जिले के शमसपुर नामक गाँव में किया गया है जहाँ गाँव के सभी घर गिरा कर उन्हें दुबारा नये सिरे से और नये ढंग से बनाया गया है।

द्वितीय पंच-वर्षीय योजना में २०० लाख रुपए की व्यवस्था गन्दी-बस्तियों को हटाने और भंगियों के लिए घरों का प्रबन्ध करने के लिए की गई है। इस योजना के अन्तर्गत केन्द्रीय सरकार लागत का २५ प्रतिशत अनुदान के रूप में और ५० प्रतिशत ऋण के रूप में प्रदान करती है और शेष २५ प्रतिशत अनुदान के रूप में राज्य-सरकारों और स्थानीय अधिकारियों को देना पड़ता है। आन्ध्र-प्रदेश में १७ लाख रुपए की धन-राशि भंगियों के लिए घरों की योजना के निमित्त दी गई है। असम में नगरपालिकाओं के मेहतरों आदि के लिए पक्के मकान बनाने के अनुदान दिये गये हैं। कलकत्ता कॉरपोरेशन ने अपने १३,००० भंगियों के लिए घर बनाने की २ करोड़ की लागत की योजना तैयार की है। राजस्थान में जयपुर, अलवर, कोटा और उदयपुर में भंगियों के लिए घर बनाये गये हैं। उत्तर-प्रदेश में नगरपालिकाओं को भंगियों के क्वार्टर बनाने के लिए धन दिया गया है।

९. अनुसूचित-जातियों के लिए 'सहकारिता' की कल्याण-योजनाएँ

सहकारिता-आन्दोलन ग़रीब लोगों को आर्थिक-सहायता तथा साहूकारों के चुंगल से छुटकारा देने का एक ठोस साधन है। द्वितीय पंच-वर्षीय योजना में अनुसूचित-जातियों को केन्द्र तथा राज्य की तरफ़ से सहकारिता के क्षेत्र में सहायता के लिए जो धन दिया जा रहा है, वह निम्न है:

केन्द्र तथा राज्य	द्वितीय-योजना के लिए व्यय	१९५६–५७ का व्यय	१९५७–५८ का व्यय
केन्द्र	१९,५५,०००	१७,५००	—
राज्य	४६,९४,८००	४६,५३३	१,०९,९५८

बिहार, जम्मू व काश्मीर तथा उत्तर-प्रदेश की राज्य-सरकारों द्वारा अनुसूचित-जातियों को साधारण शर्तों पर कर्ज देने की सुविधाएँ देने के लिए 'सहकारी-ऋण-समितियाँ' (Co-operative Credit Societies) स्थापित की गई हैं। सहकारी-समितियों का अधिक कार्य आदिम-जातियों में हो रहा है, परन्तु जैसा ऊपर के व्यय की रकमों से सूचित होता है, अनुसूचित-जातियों में भी इस कार्य का श्रीगणेश हो चुका है।

१०. अनुसूचित-जातियों के लिए केन्द्र तथा राज्य में सुरक्षित स्थान तथा सुविधाएँ

अनुसूचित-जातियों की उन्नति करने के लिए उनके लिए सभी क्षेत्रों में स्थान सुरक्षित किये गये हैं ताकि वे आगे बढ़ सकें। उदाहरणार्थ,

(क) लोक-सभा तथा राज्य-विधान-सभाओं में सुरक्षित स्थान—१९५६ के अध्यादेश के अनुसार अनुसूचित-जातियों के लिए लोक-सभा में ७६ तथा राज्यों की विधान-सभाओं में ४७० स्थान सुरक्षित हैं। 'संविधान' की धारा ३३४ के अनुसार अनुसूचित-जातियों के लिए लोक-सभा तथा राज्यों की विधान-सभाओं में दस वर्ष के लिए ये स्थान सुरक्षित रखे गये थे। यह अवधि २६ जनवरी १९६० को समाप्त हो रही थी, इसलिए अब १९५९ की ३० नवम्बर को संसद् में एक बिल पेश करके यह अवधि और दस साल अर्थात् १९७० तक के लिए बढ़ा दी गई है। क्योंकि 'संविधान' में लिखा है कि यह अवधि दस साल तक रहेगी, और 'संविधान' में परिवर्त्तन किये बिना इस अवधि में परिवर्त्तन नहीं किया जा सकता, और 'संविधान' की किसी बात में परिवर्त्तन करने के लिए तीन-चौथाई सदस्यों का मत होना अपेक्षित है, इसलिए तीन-चौथाई मत से यह परिवर्त्तन स्वीकृत हुआ है।

इस परिवर्त्तन के पक्ष में युक्तियाँ—लोक-सभा तथा विधान-सभाओं में अनुसूचित-जातियों के सुरक्षित स्थानों की अवधि दस वर्ष तक बढ़ा देने वालों का कहना है कि यह बात तो विपक्ष के लोग भी मानते हैं कि इन जातियों को शिक्षा, नौकरी, सामाजिक, आर्थिक आदि के क्षेत्रों में सब रियायतें देनी चाहिएँ, राजनतिक क्षेत्र में ही वे इस रियायत का विरोध करते हैं। परन्तु सामाजिक, आर्थिक, राजनैतिक क्षेत्रों को एक-दूसरे से अलग नहीं किया जा सकता। अगर ये पिछड़ी हुई जातियाँ हैं, तो हर क्षेत्र में पिछड़ी हुई हैं, और इसलिए इन्हें हर क्षेत्र में रियायत देनी पड़ेगी। इस रियायत के देने के पक्ष में दूसरी युक्ति यह है कि हिन्दू-समाज ने सैंकड़ों नहीं, हजारों वर्ष से इस वर्ग को सब अधिकारों से वंचित रखा है। जिस वर्ग को हजारों सालों से अधिकारों से वंचित रखा हो उसे बीस वर्ष तक विशेष राजनैतिक अधिकार दे दिये गये, तो क्या गजब हो गया। इस रियायत देने के पक्ष में तीसरी युक्ति यह है कि जो लोग कहते हैं कि नौकरी आदि में तो इन्हें और दस साल की रियायत दे दी जाय, संसद् में इनके लिए स्थान सुरक्षित न किये जायें, वे यह भूल जाते हैं कि नौकरी में तो कुशल व्यक्तियों की जरूरत है, एक अकुशल व्यक्ति भी शासन को बिगाड़ सकता है, परन्तु लोक-सभा या विधान-सभाओं में क्योंकि व्यक्ति काम नहीं

करता, पार्टी काम करती है, इसलिए वहाँ कुछ अकुशल व्यक्तियों के आ जाने से शासन पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता। अगर विपक्षी शासन में इन जातियों को रियायत देने के लिए तैयार हैं, तो लोक-सभा तथा राज्यों की विधान-सभाओं में इनके लिए स्थान सुरक्षित करने से तो कोई हानि हो ही नहीं सकती। क्योंकि अभी तक ये जातियाँ पिछड़ी हुई ही हैं इसलिए इनके लिए स्थान सुरक्षित रखना इन्हें देश की अन्य जनता के स्तर पर लाने के लिए जरूरी है।

इस परिवर्त्तन के विपक्ष में युक्तियाँ—जो लोग कहते हैं कि अब और दस साल तक यह अवधि नहीं बढ़ानी चाहिए उनका कहना है कि इस प्रकार 'संविधान' में बार-बार परिवर्त्तन करना 'संविधान' के साथ खिलवाड़ करना है। 'संविधान' एक पवित्र वस्तु है, उसमें बार-बार परिवर्त्तन करना अनुचित है। इनकी दूसरी युक्ति यह है कि इस प्रकार राजनैतिक-क्षेत्र में स्थान सुरक्षित करने का अर्थ जातिवाद को सदा के लिए प्रश्रय देना होगा। एक तरफ़ हम जातिवाद का विरोध करते हैं, दूसरी तरफ़ जातिवाद के आधार पर स्थान सुरक्षित करते हैं—यह परस्पर-विरोध है। तीसरी बात ये लोग यह कहते हैं कि लोक-सभा आदि में इन जातियों के लिए स्थान सुरक्षित करने का उद्देश्य क्या है? इसका उद्देश्य यही तो है कि इन जातियों को शिक्षा के क्षेत्र में, नौकरी के क्षेत्र में, सामाजिक तथा आर्थिक क्षेत्र में रियायत दी जाय। उसी रियायत से भारी संख्या को लाभ होगा, कुछ लोगों के लिए कुछ स्थान लोक-सभा में सुरक्षित कर देने से तो इन जातियों को जाति के तौर पर कोई लाभ नहीं होगा। यह लाभ तो इन जातियों के कुछ चलते-पुर्जे लोगों को हो जायगा, सर्व-साधारण को इससे कोई लाभ नहीं होगा। सर्व-साधारण को शिक्षा, नौकरी, सामाजिक तथा आर्थिक-क्षेत्र में लाभ देने के लिए इनके साथ रियायतें कर दी जायें—इसमें किसी को कोई आपत्ति नहीं, परन्तु राजनैतिक-क्षेत्र में इनके लिए स्थान सुरक्षित कर देने से तो उस जातिवाद की जड़ें पक्की हो जायेंगी, जिसे हम हटाना चाहते हैं।

(ख) प्रादेशिक-परिषदों, स्थानीय निकायों तथा पंचायतों में सुरक्षित स्थान—इसी प्रकार प्रादेशिक-परिषदों (Territorial Councils), स्थानीय निकायों (Local Boards) तथा पंचायतों में भी इनके लिए स्थान सुरक्षित हैं।

(ग) चतुर्थ-श्रेणी के पदों के लिये सुरक्षित स्थान—केन्द्रीय-सरकार के दफ्तरों में चतुर्थ श्रेणी के स्थायी पदों के २१.७६ प्रतिशत तथा अस्थायी पदों के लिए २२.८२ प्रतिशत स्थान अनुसूचित-जातियों के लिए सुरक्षित हैं। अन्य पदों पर अनुसूचित-जाति के व्यक्ति इतनी बड़ी संख्या में नहीं हैं। उदाहरणार्थ, प्रथम श्रेणी के स्थायी पदों पर इनकी संख्या कुल ०.७ प्रतिशत तथा अस्थायी पदों पर ०.९५ प्रतिशत है। यही हाल द्वितीय श्रेणी के पदों पर है, तृतीय श्रेणी के स्थायी पदों पर इनकी संख्या ५.०३ तथा स्थायी पदों पर ७.६७ प्रतिशत है। अधिक संख्या चतुर्थ श्रेणी के पदों पर ही है जिसके लिए किसी को आपत्ति नहीं होनी चाहिए।

(घ) आयु तथा योग्यता की शर्त में ढील—विश्व-विद्यालयों की परीक्षाओं में तथा जिन विभागों में अनुसूचित-जातियों के लिए स्थान सुरक्षित हैं उनमें अनुसूचित-जाति के बालकों तथा उम्मीदवारों की आयु एवं योग्यता आदि का प्रतिबन्ध उतना कड़ा नहीं है जितना अन्य वर्गों के लिए है।

११. अनुसूचित-जातियों तथा जन-जातियों के छात्रों के लिए परीक्षा-पूर्व-प्रशिक्षण-केन्द्र

यद्यपि अनुसूचित-जातियों तथा अनुसूचित जन-जातियों के लिये आई० ए० एस० आदि सेवाओं में कुछ स्थान सुरक्षित रखे जाते हैं, तथापि योग्यता की कमी के कारण इन परीक्षाओं में इन जातियों तथा जन-जातियों के छात्र उत्तीर्ण नहीं होते और ये स्थान खाली रह जाते हैं। इस कमी को दूर करने के लिए मई १९५८ से इलाहाबाद विश्व-विद्यालय के तत्वावधान में केन्द्रीय-सरकार की तरफ़ से एक प्रशिक्षण केन्द्र खोला गया है जिसका नाम 'अनुसूचित-जातियों तथा जन-जातियों का परीक्षा-पूर्व-प्रशिक्षण-केन्द्र' (Scheduled Castes and Scheduled Tribes Pre-examination Training Centre) रखा गया है। इस केन्द्र में उक्त परीक्षाओं में बैठने वाले अनुसूचित-जातियों तथा जन-जातियों के छात्रों को योग्यता बढ़ाने के लिए अवसर दिया जाता है। जिन-जिन विषयों की परीक्षा होती है उन विषयों के २०-२५ अध्यापक इन विद्यार्थियों को अपने-अपने विषय की तय्यारी कराते हैं। फ़िलहाल ४०-५० विद्यार्थियों को प्रशिक्षित करने की इस संस्था में व्यवस्था है। इनका खाना-पीना, रहन-सहन, शिक्षा आदि सब मुफ़्त होता है।

१२. अनुसूचित-जातियों के कल्याण के लिए ग़ैर-सरकारी प्रयत्न

अस्पृश्यता-निवारण के लिए सरकार की तरफ़ से जो प्रयत्न हो रहा है और इनके लिए जो सरकारी कल्याण-योजनाएँ बन रही हैं उनका वर्णन हमने किया। इन सरकारी प्रयत्नों के अलावा ग़ैर-सरकारी संस्थाओं की तरफ़ से भी इस दिशा में बहुत कार्य हुआ है। अगर कहा जाय कि पहले ग़ैर-सरकारी प्रयत्न हुआ, उसी ने सरकार को इस दिशा में कार्य करने के लिए बाधित किया, तो भी अत्युक्ति नहीं होगी। ग़ैर-सरकारी प्रयत्नों में कुछ प्रयत्न अनुसूचित-जातियों की तरफ़ से हुए, कुछ सवर्ण-हिन्दुओं की तरफ़ से हुए, कुछ सामाजिक तथा राजनैतिक संस्थाओं की तरफ़ से हुए। अनुसूचित-जातियों के प्रयत्नों में स्वर्गीय डॉ० अम्बेदकर का 'अखिल भारतीय अनुसूचित जाति संघ' तथा श्री कजोलकर का 'भारतीय दलित-वर्ग संघ' प्रसिद्ध हैं। सवर्ण-हिन्दुओं के प्रयत्नों में आर्यसमाज की दलितोद्धार-सभाएँ बड़ा सराहनीय कार्य कर रही हैं। राजनैतिक-संस्थाओं की तरफ़ से १९२० में महात्मा गांधी के प्रयत्न से कांग्रेस का अस्पृश्यता-विरोधी आन्दोलन को अपने कार्य-क्रम में सम्मिलित कर लेना तथा महात्मा गांधी का हरिजन-सेवक-संघ को स्थापित करना इस दिशा में बड़ा भारी कदम था। इन का कुछ विस्तार से वर्णन हम पिछले अध्याय में कर आये हैं, यहाँ अधिक लिखने की आवश्यकता नहीं है।

१६

हिन्दू-संयुक्त-परिवार

(HINDU JOINT FAMILY)

१. संयुक्त-परिवार की उत्पत्ति का कारण तथा रूप

परिवार का आधार 'प्राणि-शास्त्रीय एषणाएँ' (Biological drives) तथा 'आर्थिक-एषणाएँ' (Economic drives) हैं। कैसे? स्त्री-पुरुष में 'यौन-भावना' (Sex drive) है, जब तक उसे कानूनी रूप न दे दिया जाय, तब तक समाज उसको खुली छूट नहीं देता। स्त्री-पुरुष में 'सन्तान की कामना' (Procreative drive) भी है। ये दोनों एषणाएँ परिवार का 'प्राणि-शास्त्रीय' (Biological) आधार हैं। इसके अतिरिक्त भूख-प्यास हर-एक को लगती है, सुरक्षा हर-एक चाहता है। भूख-प्यास के कारण 'बुभुक्षा' (Hunger drive) तथा जीवन की रक्षा के कारण 'सुरक्षा' (Security drive) की चाह भी हर-एक में है। ये दोनों एषणाएँ 'आर्थिक' (Economic) हैं। 'प्राणि-शास्त्रीय' तथा 'आर्थिक'—इन दो एषणाओं को पूर्ण करने के लिए ही परिवार बना है। इन एषणाओं के परिणाम-स्वरूप परिवार में पति-पत्नी तथा सन्तान होते हैं, परन्तु शुरू-शुरू में जब परिवार का संगठन हुआ था, उस समय—पति, पत्नी, सन्तान—केवल इन तीन से तो परिवार नहीं बना होगा। उस समय एक-दो के नहीं, अनेक व्यक्तियों के सहयोग से भोजन-प्राप्ति जैसा कठिन कार्य सम्पन्न होता होगा। एक पूर्वज से परिवार के जितने लोग उत्पन्न हुए थे सब साथ रहते थे। एक माता-पिता की पाँच सन्तानें हैं। खेती-बाड़ी के लिए माता-पिता के अतिरिक्त इन पाँचों की जरूरत थी। कोई हल चलाता, कोई बीज बोता, कोई खेती की रक्षा करता—सब कामों के लिए अधिक-से-अधिक व्यक्तियों की आवश्यकता थी। सब की साझी जमीन में तो सब का गुजर चल सकता था, जमीन के टुकड़े-टुकड़े करके कौन कितना पैदा कर सकता था? परिवार में पति-पत्नी और बच्चे ही नहीं थे, चाचा-ताऊ और उनके बच्चे—सब शामिल थे। किसी के सन्तान न होती तो गोद ले लेता था, अकेला आदमी कहाँ तक काम कर सकता है, इस प्रकार का जो परिवार बनता था, उसे 'संयुक्त-परिवार' (Joint Family) कहते थे। इस परिवार में अविवाहिता कन्याएँ और अविवाहिता बहनें भी शामिल थीं। यह ध्यान देने की बात है कि बहनें तथा कन्याएँ तभी तक इस 'संयुक्त-परिवार' का अंग मानी जाती थीं, जब तक उनका विवाह नहीं हो जाता था। विवाह

होने के बाद वे दूसरे परिवार का अंग बन जाती थीं, और पहले परिवार से उनका सम्पत्ति-सम्बन्धी कोई लगाव नहीं रह जाता था, जिस परिवार में वे जाती थीं, उसमें अपने पति के साथ उनका आर्थिक-सम्बन्ध जुड़ जाता था। विवाह से पहले ही कन्या अपने पिता या भाई से अपने भरण-पोषण की अधिकारिणी हो सकती थी, उसके बाद इस परिवार का उसके भरण-पोषण के साथ कोई सम्बन्ध नहीं रह जाता था। जब तक वह इस परिवार में थी तब तक वह अपने पिता तथा भाई पर आश्रित थी, जब वह उस परिवार में चली गई तब अपने पति पर आश्रित हो गई; यहाँ रहते हुए वह यहाँ के देवी-देवताओं की पूजा करती थी, वहाँ जाकर वह वहाँ के देवी-देवताओं की पूजा करने लगी; यहाँ की जिम्मेदारी यहाँ छोड़ कर उसने वहाँ की जिम्मेदारी ले ली। इस दृष्टि से 'संयुक्त-परिवार' में लड़की उम्र भर लड़की नहीं मानी जाती, भरण-पोषण की दृष्टि से लड़की के साथ तभी तक लड़की का-सा व्यवहार होता है जब तक वह किसी की पत्नी नहीं बन जाती। पत्नी बनते ही उसके भरण-पोषण का किसी प्रकार का उत्तरदायित्व संयुक्त-परिवार पर नहीं रहता।

२. संयुक्त-परिवार की परिभाषा

संयुक्त-परिवार के स्वरूप के सम्बन्ध में हमने ऊपर जो-कुछ लिखा उससे उसकी परिभाषा स्पष्ट हो जाती है। संयुक्त-परिवार वह कहलाता है जिसमें परिवार के सब सदस्यों की सम्पत्ति तथा आय सम्मिलित हो, वे एक-साथ रहें, उन सब की एक जगह रसोई बनती हो, उनका आर्थिक तथा सामाजिक जीवन एक-सूत्र में बँधा हो। आर्थिक तथा सामाजिक जीवन एक-सूत्र में बँधा हो—इसका क्या अर्थ है? इसका यह अर्थ है कि जो-कोई कमाये वह उसकी अपनी निजी कमाई न समझी जाकर सब की साझी कमाई समझी जाय, अगर किसी एक भाई की लड़की या उसके लड़के की शादी हो तो किसी भाई के निजी लड़के-लड़की की शादी न समझी जाकर वह उस परिवार के लड़के-लड़की की शादी समझी जाय। इसका अर्थ यह हुआ कि संयुक्त-परिवार के सदस्यों के कुछ कर्त्तव्य तथा कुछ अधिकार भी होते हैं। संयुक्त-परिवार के बड़े सदस्यों का कर्त्तव्य है कि छोटों की ब्याह-शादी अपनी लड़कों की तरह करें, और छोटों का अधिकार है कि वे अपनी शिक्षा-दीक्षा, ब्याह-शादी पर अपने माता-पिता से ही नहीं, परन्तु परिवार के बड़े से हर प्रकार की सहायता की आशा करें। इस दृष्टि से संयुक्त-परिवार की परिभाषा कुछ विस्तृत हो जाती है। हमने कहा था कि संयुक्त-परिवार वह है जिसमें परिवार के सब सदस्य एक-साथ रहें, उन सब की एक जगह रसोई बनती हो। डा० आई० पी० देसाई का कथन है कि अगर वे एक-साथ न भी रहें, एक-साथ न भी खायें-पीयें, कोई गाँव में और कोई बम्बई या कलकत्ता में रहता हो, परन्तु अगर बाधित तौर पर उन्हें उन कर्त्तव्यों तथा अधिकारों को निबाहना पड़ता हो जो एक-साथ रहते हुए उन्हें निबाहने होते हैं, तब भी वे संयुक्त-परिवार के ही अंग समझे जायेंगे। 'संयुक्त-परिवार' की परिभाषा करते हुए हमें समझ लेना चाहिए कि यह एक

कानूनी-शब्द है, और सिर्फ़ इतना कह देने से कि मैं संयुक्त-परिवार का सदस्य नहीं रहना चाहता कोई व्यक्ति संयुक्त-परिवार की अपनी कानूनी ज़िम्मेदारियों से मुक्त नहीं हो सकता। 'संयुक्त-परिवार' का आधार धन-सम्पत्ति-ज़मीन-आमदनी है, और क्योंकि दीवानी के सब मुकदमे धन-सम्पत्ति सम्बन्धी होते हैं इसलिए दीवानी की अदालतों में 'संयुक्त-परिवार' से सम्बन्ध रखने वाले अनेक मुकदमे लड़े जाते हैं।

अभी हमने 'संयुक्त-परिवार' की जो परिभाषा दी है उसे सम्मुख रखते हुए भिन्न-भिन्न लेखकों ने इसकी व्याख्याएँ की हैं जिनमें से कुछ हम यहाँ दे रहे हैं:

[क] आई० पी० देसाई की व्याख्या—"हम उस घराने को 'संयुक्त-परिवार' कहते हैं जिसमें एकाकी-परिवार की अपेक्षा वंश की गहराई अधिक होती है, जिसमें तीन या इससे अधिक वंश के लोग आपस में सम्पत्ति, आय तथा पारस्परिक अधिकारों तथा कर्त्तव्यों के द्वारा बँधे होते हैं।"

[ख] डॉ० श्रीमती आई० कर्वे की व्याख्या—"संयुक्त-परिवार उन व्यक्तियों का समूह है जो सामान्य तौर पर एक ही मकान में रहते हैं, जो एक ही रसोई घर में बना भोजन करते हैं, जो सम्पत्ति के एक-समान स्वामी हैं, जो एक-समान पूजा-पाठ करते हैं और जो आपस में किसी ख़ास प्रकार के रक्त-सम्बन्ध से बंधे हुए हैं।"

३. संयुक्त-परिवार के आवश्यक तत्त्व

परिवार दो तरह का होता है—'संयुक्त' (Joint) तथा 'वैयक्तिक' (Individual or Nuclear)। 'संयुक्त' में पिता-माता-पुत्र-चाचा-ताऊ सब एक-साथ रहते, एक-साथ खाते-पीते हैं और अगर एक-साथ नहीं रहते, एक-साथ नहीं खाते-पीते, एक-दूसरे से अलग रहते हैं, तो भी संयुक्त-परिवार के अपने कर्त्तव्यों को एक-दूसरे के प्रति निबाहते हैं। शादी-ब्याह हो जाने पर भी ये अलग नहीं होते। 'वैयक्तिक' में शादी होने पर पुरुष तथा स्त्री—इनका 'वैयक्तिक' या 'एकाकी' परिवार बन जाता है। 'वैयक्तिक' परिवार में दो ही व्यक्ति होते हैं, और उन्हीं दो का सिलसिला आगे चलता है, इसलिए उसमें प्रत्येक व्यक्ति की सामाजिक तथा आर्थिक स्थिति की कोई समस्या

[क] "We call that household a joint-family which has greater generation depth (*i.e.*, three or more) than the nuclear family and the members of which are related to one another by property, income and the mutual rights and obligations."
—*I. P. Desai.*

[ख] "A joint family is a group of people who generally live under one roof, who eat food cooked at one hearth, who hold property in common and who participate in common worship and are related to each other as some particular type of kindred." —*Dr. I. Karve.*

नहीं उठती, 'संयुक्त-परिवार' में क्योंकि अनेक व्यक्ति होते हैं, इसलिए उनकी सामाजिक तथा आर्थिक समस्याएँ प्रायः उठा करती हैं। अदालतों में दीवानी के मुकदमे ज्यादातर 'संयुक्त-परिवार-प्रथा' से सम्बन्ध रखते हैं। क्योंकि परिवार की मुख्य समस्याओं का सम्बन्ध 'संयुक्त-परिवार' से है इसलिए इसकी मुख्य-मुख्य बातों को हम यहाँ लिख रहे हैं।

(क) संयुक्त-निवास तथा संयुक्त-भोजन—संयुक्त-परिवार की सबसे मुख्य बात है परिवार के सब सदस्यों का एक ही मकान में रहना और उन सब का एक ही जगह भोजन बनाना। अगर किसी परिवार के सदस्य एक ही मकान में रहते हैं, परन्तु उनका चौका-चूल्हा अलग-अलग है, तो वे कह सकते हैं कि वे संयुक्त-परिवार के अंग नहीं हैं।

(ख) सम्मिलित आय-व्यय तथा सम्पत्ति—आजकल जैसे ज्वॉइन्ट-स्टाक कम्पनी या कॉरपोरेशन होती है जिसमें कई हिस्सेदार होते हैं, सब उसकी आय में साझीदार होते हैं, कम्पनी भी सब की सम्पत्ति समझी जाती है, इसी-प्रकार 'संयुक्त-परिवार' में आय अलग-अलग व्यक्ति की नहीं समझी जाती, सब की साझी समझी जाती है, परिवार की सम्पत्ति भी किसी एक की न होकर सब की साझी मानी जाती है।

आय की तरह व्यय भी इस आधार पर नहीं होता कि कौन कितना कमाता है। जिसकी जितनी आवश्यकता उस पर उतना व्यय परिवार की तरफ़ से किया जाता है। अगर संयुक्त-परिवार का कोई सदस्य बिलकुल नहीं कमाता, तो भी उस पर परिवार व्यय करता है।

'प्रत्येक व्यक्ति से उसकी शक्ति के अनुसार काम लेना परन्तु प्रत्येक व्यक्ति को उसकी आवश्यकतानुसार देना' (From each according to his ability and to each according to his needs.)—यह नारा जो आज साम्यवाद का आधार बना हुआ है, संयुक्त-परिवार की आय-व्यय तथा सम्पत्ति की व्यवस्था की नींव में है।

(ग) संयुक्त-परिवार में एक-समान पूजा-पाठ, धर्म-कर्म तथा एक ही देवी-देवताओं की पूजा—परिवार का प्रारम्भ किसी एक पूर्वज से होता है। परिवार के सब सदस्य उसे याद रखते हैं और किसी-न-किसी तरह उसकी पूजा-अर्चना करते हैं। हिन्दुओं में पूर्वजों को 'पितर' कहा जाता है। पितरों की पूजा के लिए वर्ष में कुछ दिन निश्चित हैं जिन्हें 'कनागत' कहा जाता है। ये श्राद्ध के दिन होते हैं। इन दिनों में अपने बाप, दादा तथा अन्य सभी पूर्वजों की ब्राह्मण-भोज आदि द्वारा तृप्ति तथा पूजा की जाती है। इस प्रकार परिवार के सब सदस्य केवल एक पूर्वज की ही नहीं, अपितु अपने सब पूर्वजों की पूजा द्वारा आपस में बँधे रहते हैं। पूर्वजों की पूजा के अतिरिक्त परिवार के सब सदस्यों की धार्मिक-क्रियाएँ भी एक-समान होती हैं। अगर 'संयुक्त-परिवार' के सदस्य आजीविका के लिए गाँव से बाहर किसी शहर में चले जाते हैं, तो परिवार में जिस मूर्त्ति की पूजा की

परिपाटी चली आ रही होती है उसे परिवार के हर व्यक्ति के पास बारी-बारी भेज दिया जाता है ताकि वह उसकी पूजा कर सके। समान पूजा-पाठ, समान धर्म-कर्म तथा समान पूर्वजों या पितरों की उपासना से संयुक्त-परिवार के सदस्य आपस में एक-सूत्र से बँधे रहते हैं।

(घ) संयुक्त-परिवार के सदस्य—संयुक्त-परिवार में तीन पीढ़ियाँ आ जाती हैं। पिता, पुत्र तथा पौत्र, पिता के छोटे तथा बड़े भाई, उनके पुत्र तथा पौत्र—ये सब संयुक्त-परिवार के अंग हैं। इन पीढ़ियों से पहले के व्यक्ति कम जीवित पाये जाते हैं, परन्तु अगर कोई जीवित हों, तो वे भी संयुक्त-परिवार का ही अंग समझने चाहिएँ।

(ङ) संयुक्त-परिवार का मुखिया या कर्त्ता—परिवार में जो व्यक्ति आयु में सब से बड़ा होता है, वह संयुक्त-परिवार का मुखिया कहलाता है। कानूनी परिभाषा में उसे 'कर्त्ता' कहते हैं। 'कर्त्ता' का अर्थ है—मैनेजर या ट्रस्टी। वह परिवार की सम्पत्ति का स्वामी न होकर उसका मैनेजर, ट्रस्टी, प्रबन्धक, व्यवस्थापक माना जाता है। परिवार के सब व्यक्तियों की आमदनी 'कर्त्ता' के पास ही जमा होती है और वही आवश्यकतानुसार परिवार के खर्चे चलाता है। किसी बच्चे की शिक्षा है, किसी बच्चे की शादी है—परिवार के सब बच्चों की शिक्षा, विवाह आदि का प्रबन्ध परिवार के कोष में से 'कर्त्ता' ही करता रहता है। परिवार की समस्याओं के सम्बन्ध में 'कर्त्ता' का निश्चय ही अन्तिम समझा जाता है। 'कर्त्ता' के बाद उन व्यक्तियों का क्रमशः स्थान होता है जो आयु के अनुसार कर्त्ता से क्रम-पूर्वक नीची आयु के होते हैं। इस संगठन में 'कर्त्ता' की स्त्री का स्थान अन्य स्त्रियों से ऊँचा होता है, और व्यावहारिक दृष्टि से 'कर्त्ता' के बाद 'कर्त्ता की स्त्री' का ही रहता है। एक तरह से यह एकतंत्रवादी संगठन है, और इसी से परिवार में एकता की भावना दृढ़ बनी रहती है।

४. संयुक्त-परिवार में भिन्न-भिन्न व्यक्तियों की स्थिति

एकाकी-परिवार में तो हर-एक व्यक्ति की स्थिति पूर्णतया निश्चित होती है। संयुक्त-परिवार में बहू की स्थिति, लड़की की स्थिति, लड़के की स्थिति, हर-एक की स्थिति दूसरों की परिवार की स्थिति के ऊपर निर्भर रहती है। संयुक्त-परिवार में भिन्न-भिन्न व्यक्तियों की क्या स्थिति रहती है—इस पर विचार कर लेना आवश्यक है :

(क) संयुक्त-परिवार में बहू की स्थिति—'वैयक्तिक-परिवार' में तो बहू को सिर्फ़ अपने पति से वास्ता पड़ता है, परन्तु 'संयुक्त-परिवार' में कहीं सास-ससुर हैं, कहीं तँय्या सास-ससुर, कहीं चचिया सास-ससुर, कहीं जेठ, कहीं देवर। एक ही घर में इन सब की मौजूदगी में बहू को सब सम्बन्धों को निबाहना पड़ता है और वह एक विकट-स्थिति में बनी रहती है। उसका ज्यादातर समय उन्हीं लोगों की सेवा में बीतता है, अपने पति के साथ भी वह सब लोगों के सामने बात

नहीं कर सकती, केवल रात को ही उसे अपने पति के दर्शन होते हैं। बहू के लिए संयुक्त-परिवार में जाना एक विकट-स्थिति में जाना है। सास तो बहू आने पर समझती है कि काम करने के लिए उसे एक दासी मिल गई।

(ख) संयुक्त-परिवार में कन्या की स्थिति—प्राचीन हिन्दू विचारकों ने संयुक्त-परिवार में कन्या को एक ऐसे आभूषण से तुलना दी है जो किसी महाजन के यहाँ गिरवी रखा हुआ है और जिसे माँगे जाने पर उसके स्वामी को सौंपा जाना जरूरी है। निरुक्तकार यास्क मुनि ने कन्या के विषय में तीन पद्धतियों का वर्णन किया है—दान, विक्रय और अतिसर्ग। ये पद्धतियाँ संयुक्त-परिवार-प्रथा की ही देन हैं, जहाँ कन्या की स्वतंत्र रूप से कोई स्थिति नहीं। विवाह में कन्या को दे देना उसका 'दान' कहलाता है, धन-ग्रहण करके कन्या देना 'विक्रय' कहलाता है, कन्या को स्वयं वर चुनने की स्वतंत्रता देना 'अतिसर्ग' कहलाता है। संयुक्त-परिवार-पद्धति में पुत्री को केवल सन्तति माना जाता है और उसके विषय में यह निश्चित समझा जाता है कि उसका विवाह होगा और वह किसी पारिवारिक-समुदाय में पत्नी बन कर चली जायगी जहाँ 'बहू' के रूप में उसके साथ वही व्यवहार होगा जिसका हम ऊपर वर्णन कर आये हैं। एकाकी-परिवार में कन्या की यह स्थिति नहीं रही। आज जो एकाकी-परिवार बनते जा रहे हैं उनमें कन्या की स्वतंत्र-सत्ता मानी जाने लगी है और उसकी शिक्षा की तरफ़ वैसे ही ध्यान दिया जाने लगा है जैसे पुत्र की शिक्षा की तरफ़ अबतक दिया जाता रहा है। संयुक्त-परिवार में कन्या की स्वतंत्र-सत्ता नहीं मानी जाती थी, इसलिए यह कल्पना भी नहीं की जाती थी कि वह कभी स्वतंत्र भी रह सकेगी। जब उसे स्वतंत्र नहीं रहना, कन्या के रूप में माता-पिता के पास, पत्नी के रूप में पति के पास और विधवा के रूप में सास-ससुर या परिवार के पास रहना है, तब उसे शिक्षा की क्या आवश्यकता है, उसका भरण-पोषण तो इन्हीं के द्वारा होगा। कन्या की इस स्थिति के अन्य अनेक कारणों में से संयुक्त-परिवार-प्रथा को एक मुख्य कारण कहा जा सकता है क्योंकि जहाँ-जहाँ संयुक्त-परिवार-प्रथा हटती जा रही है, वहाँ-वहाँ कन्या की इस स्थिति में परिवर्त्तन आता जा रहा है।

(ग) संयुक्त-परिवार में पति-पत्नी की पारस्परिक-स्थिति—संयुक्त-परिवार में पति-पत्नी की पारस्परिक-स्थिति एकाकी-परिवार से भिन्न होती है। एकाकी-परिवार में पति-पत्नी की स्थिति एक-दूसरे के बराबर आती जा रही है परन्तु संयुक्त-परिवार में पति स्वामी है, पत्नी अपने स्वामी की दासी है, आलंकारिक-भाषा में नहीं, वास्तविक अर्थों में। संयुक्त-परिवार प्रथा में पति ईश्वर है, परमेश्वर है, सब-कुछ है। अगर पति दुराचारी-व्यभिचारी-शराबी-कबाबी हो, स्त्री का काम उसकी पूजा करना है, उसे अपना देवता समझना है, स्त्री का सुख और उसकी शान्ति उसकी पूजा करने में ही है। इस स्थिति को हिन्दू-आदर्श भी कहा जा सकता है, संयुक्त-परिवार-प्रथा का परिणाम भी कहा जा सकता है क्योंकि संयुक्त-परिवार में पति-पत्नी की पारस्परिक-स्थिति इन्हीं आदर्शों को लेकर बनती है।

(घ) संयुक्त-परिवार में स्त्री तथा धन की पारस्परिक-स्थिति—संयुक्त-परिवार में सब आय तथा सब सम्पत्ति सम्मिलित परिवार की होती ह, परन्तु विवाह के समय तथा विवाह के बाद समय-समय पर स्त्री को जो भेंट के तौर पर उसके माँ-बाप या रिश्तेदार देते या देते रहते हैं, वह स्त्री-धन कहलाता है और वह सम्पूर्ण परिवार का न होकर उसका निजी धन समझा जाता है। इस स्त्री-धन पर इन्कम-टैक्स भी नहीं लगता इसलिए कई धनी परिवार आय-कर से बचने के लिए अपनी निजी सम्पत्ति को भी स्त्री-धन के तौर पर दर्शा देते हैं, क्योंकि वे जानते हैं कि स्त्री से तो वे जब चाहेंगे धन ले सकेंगे।

(ङ) संयुक्त परिवार के सम्बन्ध में उत्तराधिकार का १९५६ का अधिनियम—'वैयक्तिक-परिवार' में तो पति की सम्पत्ति अपनी उपार्जित की हुई सम्पत्ति होती है, इसलिए वह अपनी वसीयत के अनुसार जिसे देना चाहे दे सकता है, परन्तु 'संयुक्त-परिवार' की सम्पत्ति को वसीयत के अनुसार किसी को नहीं दिया जा सकता, वह तो उन्हीं वारिसों को मिलती है जो उसके उत्तराधिकारी हैं। इस दृष्टि से 'संयुक्त-परिवार' के लिए उत्तराधिकार के नियम विशेष महत्त्व रखते हैं। १९५६ से पहले उत्तराधिकार के रूप में पत्नी का खानदान की जायदाद में कोई हिस्सा नहीं था, लड़की का भी नहीं था, विधवा को सन्तान न होने पर अपना गुज़ारा चला सकने का अधिकार था, बेचने का अधिकार नहीं था, उसके मरने के बाद अगर दूर-से-दूर का भी उसका कोई रिश्तेदार निकल पड़ता था तो सम्पत्ति उसको चली जाती थी। अब १९५६ के 'हिंदू-उत्तराधिकार-अधिनियम' (Hindu Succession Act, 1956) के अनुसार स्त्री को सम्पत्ति सम्बन्धी कई अधिकार मिल गये हैं। उदाहरणार्थ, लड़की को पिता की वसीयत न की गई अपनी कमाई सम्पत्ति में भी लड़के के बराबर का हिस्सा दे दिया गया है, और खानदानी सम्पत्ति में भी कुछ हिस्सा दिया गया है। विधवा को पति की खानदानी सम्पत्ति में हिस्सा दिया गया है जिस पर उसका पूर्ण-अधिकार होगा, वह चाहे तो उसे बेच भी सकेगी।

(च) संयुक्त-परिवार में लड़के की स्थिति—संयुक्त-परिवार में लड़के की स्थिति अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। इस संसार में लड़के का जो स्थान है वह तो सब जानते ही हैं। लड़का ही वृद्धावस्था का सहारा होता है। आजकल के एकाकी परिवारों में लड़का कोई सहारा नहीं रहा। वह बड़ा हुआ, उसका विवाह हुआ, और वह अपने बीबी-बच्चों को लेकर अलग जा बसता है। अगर उसकी माँ उसके पास रहती है, तो उसके बाल-बच्चों को खिलाने का काम करती है, अगर उसका बाप उसके पास रहता है, तो अलग परदेसी की तरह पड़ा रहता है, परन्तु संयुक्त-परिवार में ऐसा नहीं होता, उसमें तो वह अन्तिम दिनों का वास्तव में सहारा होता है, इसलिए उसकी स्थिति माता-पिता के लिए बड़ा अर्थ रखती है। इसके अतिरिक्त जब माता-पिता इस संसार से चल देते हैं तब श्राद्ध का काम बड़े लड़के को करना होता है। सब से बड़ा लड़का ही पिण्डदान तथा दाह-संस्कार करता है, वह अधिकार उसी का है, दूसरे लड़कों का नहीं। बड़ा लड़का छोटों के

लिए माता-पिता के मरने के बाद उनका स्थान ग्रहण करता है, वही तब परिवार का मुखिया कहलाता है, वही परिवार का प्रबन्ध करता है। हिन्दू-परिवार में लड़के का न होना माता-पिता के लिए नरक का कारण माना जाता है। शास्त्रों में लिखा है—'पुम् नामक नरक से जो त्राण करे वह पुत्र कहलाता है'। इस दृष्टि से पुत्र का काम माता-पिता का श्राद्ध करके, उन्हें पिण्डदान कर के उसकी रक्षा करना है। हिन्दुओं का विचार है कि मरने के बाद व्यक्ति 'पुम्'-नामक नरक में भटकता रहता है, वह भूखा-प्यासा रहता है और जब तक उसका श्राद्ध नहीं होता, तब तक वह बेचैन रहता है। उसे पिण्डदान देना ही श्राद्ध कहलाता है। यह काम लड़के के सिवाय दूसरा कोई नहीं कर सकता। इसलिए लड़के का होना आवश्यक है। 'पुम्'-नामक नरक कौन-सा है—यह कहना कठिन है, परन्तु सम्भव है कि वृद्धावस्था को शास्त्रों में नरक समान माना गया हो। उस समय माता-पिता की देख-रेख लड़के के सिवाय दूसरा कोई नहीं करता। उस समय श्रद्धा से माता-पिता की सेवा को ही 'श्राद्ध' कहा जाता होगा, परन्तु पीछे जाकर जीते माता-पिता की भी जो लोग सेवा नहीं करते थे वे ब्राह्मणों को खिला-पिला कर माता-पिता का श्राद्ध करने लगे। यह भी सम्भव है कि मृत माता-पिता को स्मरण रखने का एक तरीका श्राद्ध का रहा हो। जो-कुछ भी हो, संयुक्त-परिवार में लड़के का जो स्थान और महत्त्व है वह एकाकी-परिवार में नहीं रहा।

५ः संयुक्त-परिवार तथा सम्पत्ति—दायभाग तथा मिताक्षरा

[संयुक्त-परिवार का आधारभूत तत्त्व]

हमने देखा कि संयुक्त-परिवार के जितने सदस्य होते हैं सब एक ही मकान में रहते हैं, एक जगह उनका भोजन बनता है, सब की कमाई एक ही जगह जमा हो जाती है, एक ही देवी-देवताओं की वे आराधना करते हैं। यद्यपि वर्तमान-युग की आर्थिक-परिस्थितियों के कारण संयुक्त-परिवार के सदस्य भी भिन्न-भिन्न स्थानों पर आजीविकोपार्जन के लिए जाते हैं, तो भी जहाँ कहीं वे होते हैं वहाँ से अपनी आय का अधिकांश वे परिवार के उस सदस्य के पास भेजते रहते हैं, जो उनके बाल-बच्चों की देख-भाल करता रहता है, जो परिवार का 'कर्त्ता', 'प्रबन्धक' या 'ट्रस्टी' होता है। समय-समय पर वे बम्बई, कलकत्ता, जहाँ-कहीं भी हों, वहाँ से अपने घर आते रहते हैं, खास कर शादी-ब्याह के अवसर पर, होली-दीवाली-दशहरे के अवसर पर, और उस समय वे अपनी पूँजी परिवार के प्रधान के सामने रख देते हैं। अगर किसी कारणवश संयुक्त-परिवार के सदस्य एक-दूसरे से जुदा होना चाहें, तो अपनी सम्पत्ति बराबर-बराबर बाँटकर अलग हो सकते हैं। संयुक्त-परिवार की सम्पत्ति के बँटवारे के सम्बन्ध में अपने देश में मुख्य तौर पर दो प्रकार के कानून प्रचलित हैं। एक कानून तो बंगाल तथा असम के कुछ हिस्सों में प्रचलित है। इसे 'दायभाग' कहते हैं। दायभाग-विधान के अनुसार पिता अपने जीवन-काल में सम्पत्ति का अखण्ड स्वामी माना गया है, वही इसका

प्रबन्धक भी है, और चाहे तो अपनी इच्छानुसार उसे बेच भी सकता है। इसमें पुत्र पिता की मृत्यु के बाद ही पैतृक-सम्पत्ति का अधिकारी होता है। दूसरा कानून बंगाल, असम तथा दक्षिण-भारत के कुछ हिस्सों को छोड़ कर भारत में सर्वत्र माना जाता है। इसे 'मिताक्षरा' कहते हैं। इसके अनुसार पिता के साथ उसके पुत्र भी जन्म लेते ही सम्पत्ति के मालिक माने गये हैं, पिता वंश-परम्परा-प्राप्त सम्पत्ति को बेच नहीं सकता, अगर हर-एक अलग-अलग सम्पत्ति का मालिक बनना चाहता है, तो 'संयुक्त-परिवार' को भंग करना आवश्यक है, कानूनी तौर पर 'संयुक्त-परिवार' में सम्पत्ति का बँटवारा 'संयुक्त-परिवार' को भंग किये बिना नहीं हो सकता। इन दोनों के अलावा 'मालावार' में भी संयुक्त परिवार की सम्पत्ति के सम्बन्ध में एक कानून है जिसमें सम्पत्ति का विभाजन करना हो, तो वह सब भागीदारों की स्वीकृति के बिना नहीं हो सकता।

हमने अभी कहा कि 'संयुक्त-परिवार' में सब सदस्य अपनी आय को एक जगह एकत्रित कर देते हैं और इसी 'संगृहीत-द्रव्य' (Common pool) से परिवार के सब सदस्यों का खर्चा चलता है, इसी से परिवार का मुखिया सब के शादी-ब्याह करता है। कई सदस्य ऐसे भी होते हैं जो कुछ कमा नहीं रहे होते। वे भी क्योंकि परिवार के सदस्य होते हैं अतः उनका भी खर्चा इसी 'संगृहीत-द्रव्य' से चलता है। परिणाम यह होता है कि कई सदस्य नकारे बने रहते हैं, उन्हें इस बात की फ़िक्र नहीं होती कि उन्हें भी कुछ करना है, क्योंकि उनके गृहस्थी के कारोबार तो सब चलते ही रहते हैं। जहाँ 'संयुक्त-परिवार' के सदस्य एक ही जगह रहते हैं, सब की साझी जमीन होती है, सब को खेती-बाड़ी का कुछ-न-कुछ काम करना पड़ता है, वहाँ अगर कोई सदस्य अपने अतिरिक्त समय में, अतिरिक्त मेहनत से कुछ कमा-धमा लेता है, तो वह उसका निजी धन समझा जाता है। इसके अतिरिक्त पत्नी विवाह के समय जो जेवर, जवाहरात, कपड़े आदि अपने पिता के घर से लाती है वह भी उसकी निजी सम्पत्ति—'स्त्री-धन'—समझी जाती है।

देवी-देवताओं की पूजा के सम्बन्ध में 'संयुक्त-परिवार' की यह व्यवस्था है कि सब एक स्थान पर इकट्ठे होकर पूजा करते हैं और यदि सब लोग एक जगह पर नहीं रह रहे, आजीविका के लिए भिन्न-भिन्न स्थानों पर चले गये हैं, तो मूर्त्ति को बारी-बारी सब के पास भेजा जाता है, ताकि हर-एक देवता की व्यक्तिरूप से पूजा कर सके।

'संयुक्त-परिवार' का, आयु में जो सब से बड़ा पुरुष-सदस्य होता है, वही 'संयुक्त-परिवार' की सब सम्पत्ति का 'प्रबन्धक' या 'ट्रस्टी' माना जाता है। घर के आन्तरिक-प्रबन्ध की देख-रेख की जिम्मेवारी उसकी स्त्री की होती है। वैसे तो अविकसित-समाज में सभ्य-समाज की अपेक्षा ईमानदारी अधिक पायी जाती है, 'संयुक्त-परिवार' का प्रधान सब के साथ समान बर्त्ताव करता है, परन्तु जिसके हाथ में सारी सम्पत्ति हो उसका बेईमान हो जाना भी सम्भव है, उसका घर की साझी सम्पत्ति को सिर्फ़ अपना समझ लेना कोई आश्चर्य की बात नहीं।

कभी-कभी इस प्रमुख व्यक्ति का अन्य सदस्यों के साथ बर्ताव भी कठोर हो जाता है। इन दोनों कारणों से 'संयुक्त-परिवार' में झगड़े उठ खड़े हुआ करते हैं, परन्तु प्रचलित प्रथा के अनुसार इस मुखिया की आज्ञा का कोई उल्लंघन नहीं करता, जो वह कहता है वही दूसरे करते हैं, उसका कथन सब के लिए अनिवार्य तौर से शिरोधार्य होता है।

६. 'संयुक्त' से 'वैयक्तिक' (एकाकी) परिवार की तरफ़

(क) संयुक्त से एकाकी परिवार की विश्व-व्यापी प्रक्रिया है--इस समय मानव-समाज की जिस दिशा की तरफ़ प्रगति हो रही है उसमें 'संयुक्त-परिवार' प्रथा टूटती नजर आ रही है। लोग सामूहिक-जीवन बिताने के स्थान में वैयक्तिक-जीवन बिताने की तरफ़ बढ़ रहे हैं, जिसका परिणाम यह हो रहा है कि अब तक जो परिवार 'संयुक्त' थे, वे 'वियुक्त' हो रहे हैं, जो 'अविभक्त' थे, वे 'विभक्त' हो रहे हैं, इसी लिए यह कहना असंगत न होगा कि वर्त्तमान-युग की दिशा 'संयुक्त-परिवार' (Joint family) से 'वैयक्तिक-परिवार' या 'एकाकी-परिवार' (Individualistic, Nuclear or Immediate family[1]) की तरफ़ जा रही है। 'संयुक्त-परिवार' में चचा-ताऊ, भाई-भतीजे सब साथ रहते हैं, 'वैयक्तिक-परिवार' में पति-पत्नी तथा सन्तान--इन तीन का ही साथ रह जाता है। 'वैयक्तिक-परिवार' को 'सन्तान-केन्द्रिक' (Filiocentric) भी कहते हैं क्योंकि 'वैयक्तिक-परिवार' के सब लोगों की जबान पर रहता है कि बाल-बच्चों की परवरिश करें, या सब को कमाकर खिलावें। आजकल जीवन में आर्थिक विषमता बढ़ती जा रही है, पहले की तरह ही हर बात की बहुतायत नहीं रही, अपने बाल-बच्चों का ही भरण-पोषण कठिन होता जा रहा है, सब का भरण-पोषण तो कौन कर सकता है—इन्हीं सब कारणों से 'संयुक्त-परिवार' प्रथा टूटती जा रही है। यह प्रक्रिया आज के युग में विश्व-व्यापी हो रही है।

(ख) भारत में संयुक्त से एकाकी परिवार की प्रक्रिया—आज की आर्थिक-परिस्थितियाँ संयुक्त-परिवार के पक्ष में न होकर एकाकी-परिवार के पक्ष में हैं, इसलिए जैसे संसार में अन्य स्थानों में संयुक्त से एकाकी परिवार की प्रक्रिया चल रही है, वैसे भारत में भी संयुक्त-परिवार से एकाकी-परिवार की तरफ़ जाने का झुकाव है। भारत की १९५१ की जन-गणना में कहा गया है कि गाँवों में प्रति तीसरा परिवार ऐसा है जिसकी सदस्य-संख्या तीन या तीन से कम है। इस प्रकार के एकाकी-परिवार जन-गणना-आयुक्त के कथनानुसार भारत के गाँवों में ३३ प्रतिशत तथा शहरों में ३८ प्रतिशत हैं। पहले तो एकाकी-परिवार होते ही नहीं थे, संयुक्त-परिवार ही होते थे। संयुक्त-परिवारों के मुकाबिले में एकाकी-परिवारों का इस प्रकार बढ़ना सिद्ध करता है कि भारत में भी यह प्रक्रिया बड़ी तीव्र गति

---

१. अंग्रेजी में Joint family का उल्टा Nuclear या Immediate family कहलाता है।

से जारी है। जन-गणना-आयुक्त के कथनानुसार "छोटे घरों का इतने अधिक अनुपात में होना सिद्ध करता है कि अब संयुक्त-परिवारों की पुरानी परम्परा टूटती जा रही है और देश में प्रवृत्ति संयुक्त-परिवार से अलग होकर एकाकी-परिवार स्थापित करने की तरफ़ है।"

हमने देखा कि विश्व-भर में परिवार की संस्था संयुक्त से एकाकी परिवार की तरफ़ बढ़ रही है। यह प्रक्रिया अपने देश में भी जारी है। 'संयुक्त-परिवार' के टूट कर 'वैयक्तिक-परिवार' या 'एकाकी-परिवार' बनने में अनेक कारण हैं, और इसके अनेक हानि-लाभ हैं, परन्तु उनमें मुख्य कारण तथा मुख्य हानि-लाभ निम्न हैं:

७. संयुक्त-परिवार के टूटने के कारण

(क) आर्थिक-कारण (उद्योगीकरण)—'संयुक्त-परिवार' के टूटने का सबसे मुख्य कारण आर्थिक है। पहले जब 'संयुक्त-परिवार' का निर्माण हुआ था तब परिवार वस्तु का 'उत्पादन' (Production) भी करता था, 'उपभोग' (Consumption) भी करता था। अपने उपभोग के लिए जिस वस्तु की आवश्यकता थी वह परिवार में ही उत्पन्न कर ली जाती थी। कपड़े की ज़रूरत है, तो घर में करघे लगे हुए थे, जितना कपड़ा चाहिए बना लिया। खाने की ज़रूरत है, तो अपनी खेती में से जितना अनाज चाहिए मिल गया। अपनी ज़रूरत से जितना ज्यादा होता था वह दूसरों को देकर उनके पास जो चीज़ होती थी, वह बदले में ले ली जाती थी। आर्थिक-व्यवस्था इतनी जटिल नहीं हुई थी जितनी आज हो गई है। घर ही 'गृहोद्योग' का केन्द्र था, और उसके लिए 'संयुक्त-परिवार-प्रथा' अत्यन्त उपयुक्त थी। यह मानो एक बनी-बनाई कम्पनी थी, एक कॉरपोरेशन था। परन्तु युरोप में १८वीं सदी में अनेक आविष्कार हुए। १९वीं तथा २०वीं सदी में ये आविष्कार और बढ़े जिनका परिणाम कल-कारखाने लगना हुआ। पहले करघे पर जितना काता-बुना जाता था, अब मशीनों के ज़रिये आठ-दस गुना काता-बुना जाने लगा। इसे 'औद्योगिक-क्रांति' (Industrial revolution) कहते हैं। वैज्ञानिक आविष्कारों के साथ-साथ औद्योगिक-क्रांति का रूप उग्र होता चला गया। क्योंकि घर की अपेक्षा घर के बाहर कल-कारखानों में उद्योगों से अधिक काम हो सकता था, अतः जितने उद्योग घर में केन्द्रित थे, वे १९वीं तथा २०वीं सदी में औद्योगिक-क्रान्ति के कारण घर से बाहर जाने लगे। परिणाम यह हुआ कि घर केवल 'उपभोग का केन्द्र' (Consuming centre) रह गया, 'उत्पादन का केन्द्र' (Producing centre) न रहा। 'उत्पादन के केन्द्र' के रूप में 'संयुक्त-परिवार' का विशेष महत्त्व था क्योंकि सब लोग मिलकर काम करते थे। जब परिवार 'उत्पादन का केन्द्र' ही न रहा, तब उसका टूट जाना स्वाभाविक था। 'औद्योगिक-क्रांति' का यह परिणाम हुआ कि अनेक व्यक्तियों का काम मशीन के ज़रिये एक व्यक्ति करने लगा। इससे बेकारी

और बेरोजगारी का बढ़ना स्वाभाविक था। तब लोग क्या करते? कारखाने हर जगह तो थे नहीं। बड़े-बड़े शहरों में कारखाने लगे थे। लोग पेट की खातिर शहरों में जाने लगे। शहरों में रोटी-पानी का क्या प्रबन्ध हो? वे अपने बाल-बच्चों को भी बुला लेते थे। जब घर में परिवार के सदस्य न रहे, तो 'संयुक्त-परिवार-प्रथा' का टूटना स्वाभाविक हो गया।

(ख) घरेलू-झगड़े---'संयुक्त-परिवार'-प्रथा टूटने के जिन आर्थिक-कारणों का ऊपर निर्देश किया गया है उनके अतिरिक्त इस प्रथा के टूटने का दूसरा कारण घरेलू-झगड़े हैं। 'संयुक्त-परिवार' में ३०-४० सदस्य तो होते ही हैं। बंगाल के एक 'संयुक्त-परिवार' में ५०० के लगभग सदस्य गिने गये थे। इस विषय का विस्तृत अध्ययन करने के लिए हमें कुछ परिवारों को चुनकर उनकी सब अवस्थाओं की क्रियात्मक जानकारी हासिल करनी चाहिए। यह गवेषणा का एक दिलचस्प विषय है। इतने व्यक्तियों के एक-साथ रहने से उनके आपस के सामाजिक-व्यवहार में समय-समय पर मनोमालिन्य हो जाना कोई अचम्भे की बात नहीं है। ऐसे परिवारों में प्रायः स्त्रियों से झगड़े उठा करते हैं। जो लोग कमाऊ होते हैं उनकी स्त्रियाँ दूसरों को ताना दिया करती हैं, उन्हें अपने पति के कमाऊ होने पर गर्व होता है, वे नहीं चाहतीं कि उनका पति कमाता रहे और दूसरे बैठ कर खाते रहें। कभी-कभी 'संयुक्त-परिवार' का मुखिया रुपए-पैसे की गड़बड़ कर जाता है, पैसे अपने काम में उड़ा देता है। ये सब कारण जब इकट्ठे हो जाते हैं, तब घरेलू-झगड़े उग्र रूप धारण कर लेते हैं, और 'संयुक्त-परिवार' टूट कर 'वैयक्तिक-परिवार' बन जाते हैं।

(ग) नवीन विचार---इस बीसवीं सदी में मानव-समाज जो प्रगति कर रहा है उसके प्रभाव में आकर भी लोग 'संयुक्त-परिवार' में बँधे रहना नहीं पसन्द करते। जैसे संयुक्त-परिवार प्राचीन-काल से चला आ रहा है, वैसे इसका विरोध भी प्राचीन-काल से ही होता आया है। शुक्र-नीति में लिखा है---

सदारप्रौढ़पुत्रान्प्राक् श्रेयोऽर्थी विभजेत्पिता।
सदारा भ्रातरः प्रौढ़ाः विभजयुः परस्परम्॥

अर्थात्, युवा और विवाहित पुत्र अथवा भाई कल्याण के लिए परस्पर गृहस्थी को बाँट लें और जुदा हो जाँय।

प्राचीन-भारत में 'संयुक्त-परिवार' के सम्बन्ध में क्या विचार थे---इस पर संस्कृत के 'भ्रातृव्य'-शब्द से पर्याप्त प्रकाश पड़ता है। 'भ्रातृव्य'-शब्द का अर्थ है---भाई का लड़का, परन्तु इस शब्द का अर्थ शत्रु भी है। एक ही शब्द के दो अर्थ हों---भाई का लड़का और शत्रु---यह तभी सम्भव है जब इन दोनों बातों का कोई परस्पर सम्बन्ध हो। प्रायः देखा जाता है कि संयुक्त-परिवार में भाई के लड़के ही आगे चल कर बखेड़ा खड़ा करते हैं, वह बखेड़ा सम्पत्ति के कारण होता है, आज भी यह अवस्था है, और 'भ्रातृव्य'-शब्द सिद्ध करता है कि वैदिक-काल में भी यही अवस्था थी।

जो लोग नवीन विचारों से प्रभावित होकर 'संयुक्त-परिवार-प्रथा' का विरोध करते हैं, वे निम्न युक्तियां देते हैं :—

८. संयुक्त-परिवार की हानियाँ

(क) बच्चे का विकास नहीं हो पाता—'संयुक्त-परिवार' में बच्चों के व्यक्तित्व का उचित विकास नहीं हो पाता। बड़ों के बच्चों को बड़ा समझा जाता है, छोटों के बच्चों को छोटा। परिणाम यह होता है कि घुटी हुई परिस्थिति में परवरिश पाने के कारण कई बच्चों में 'हीनता की भावना' (Inferiority complex) उत्पन्न हो जाती है। घर में इतने व्यक्तियों के होने के कारण सब बच्चों को जितना दूध चाहिए, खाना चाहिए, वह भी नहीं मिल पाता। यह युग बालकों का युग है। जिस प्रथा में बालक को अपने विकास का पूरा मौका न मिले वह प्रथा कैसे रह सकती है? 'वैयक्तिक-परिवार' में तो एक तरह से परिवार का केन्द्र ही बालक होता है। माता-पिता के सम्पूर्ण प्रेम की परिधि का वही एक बिन्दु होता है अतः आज के सामाजिक-विकास में 'वैयक्तिक-परिवार' या 'एकाकी-परिवार' का महत्त्व बढ़ता जा रहा है।

(ख) व्यक्ति का विकास नहीं हो पाता—बच्चे के अलावा व्यक्ति को भी अपनी अनेक इच्छाओं को 'संयुक्त-परिवार'-प्रथा में दबाना पड़ता है। परिवार जिस बात को चाहे वही हो, व्यक्ति जिसे चाहे वह न हो—इस बात को आज का व्यक्तिवादी मनुष्य पसन्द नहीं करता। वह चाहता है, वह जो चाहे करे। यह तभी हो सकता है जब व्यक्ति अपने को 'संयुक्त-परिवार' से अलग कर ले। 'संयुक्त-परिवार' से व्यक्ति का स्वतन्त्र विकास नहीं हो पाता।

(ग) पति-पत्नी को स्वतन्त्रता नहीं मिलती—पति-पत्नी आज के युग में एक-दूसरे के अधिक निकट रहना चाहते हैं। संयुक्त-परिवार में पति-पत्नी को एक-दूसरे के निकट का जीवन व्यतीत करने का बहुत कम अवसर मिलता है। दिन को वे आस-पास बैठ कर बात नहीं कर सकते, रात को ही मिलते हैं। एक तरह से 'संयुक्त-परिवार' में पारिवारिक-जीवन का अभाव-सा है, संयुक्त-परिवार एक प्रकार का सामाजिक-जीवन है। इस प्रकार के बन्धनों को जो 'संयुक्त-परिवार' में पाये जाते हैं, आज का वैयक्तिक-मानव पसन्द नहीं करता।

(घ) निकम्मापन बढ़ता है—'संयुक्त-परिवार' में निकम्मा बैठने की आदत बढ़ जाती है। आज के संघर्षमय संसार में बेकार को बैठे-बैठे कौन रोटी खिला सकता है? व्यक्ति को 'संयुक्त-परिवार' एक तरह से निकम्मा बना देता है।

(ङ) बाल-विवाह को प्रोत्साहन मिलता है—'संयुक्त-परिवार'-प्रथा से बाल-विवाह को प्रोत्साहन मिलता है। वैसे तो जिसका विवाह हो जाय, उसे कमाना पड़े तो वह सोच-समझ कर शादी करे, परन्तु 'संयुक्त-परिवार' में तो बिना कमाये रोटी मिलती है इसलिए छोटे बच्चों की शादी पर जो स्वाभाविक आर्थिक रुकावट हो सकती है वह हट जाती है। बाल-विवाह के दुष्परिणामों को तो सब

जानते ही हैं। 'संयुक्त-परिवार'-प्रथा के विरोधियों का कहना है कि बाल-विवाह को रोकने के लिए भी 'संयुक्त-परिवार'-प्रथा को तोड़ देना लाभदायक है।

९. संयुक्त-परिवार के लाभ

हमने देखा कि 'संयुक्त-परिवार'-प्रथा क्यों टूट रही है और इसकी क्या हानियां हैं। तो क्या इस प्रथा के कुछ लाभ नहीं हैं? इस प्रथा के पृष्ठ-पोषक इसके अनेक लाभ बतलाते हैं जिनमें से कुछ निम्न हैं :—

(क) पारिवारिक-एकता—'संयुक्त-परिवार'-प्रथा परिवार में एकता बनाये रखती है। परिवार के कुछ विधि-विधान होते हैं, उसके कुछ रस्मो-रिवाज होते हैं। परिवारों के अलग-अलग हो जाने से लोग सब-कुछ भूल जाते हैं, नयी सन्तति तो पुरानी किसी बात को याद ही नहीं रखती, अपने निकट के सम्बन्धियों तक को नयी औलाद नहीं पहचानती। साथ-साथ रहने से एक-दूसरे को शर्म रहती है, लिहाज रहता है, शर्म-लिहाज किसी को न रहे तो मनुष्य सच्चरित्रता से भी भ्रष्ट हो जाता है। बम्बई, कलकत्ता आदि में कई ऐसे परिवार हैं जो अपने रिश्ते-दारों से दूर रहते हैं, उन्हें उनका कोई रिश्तेदार नहीं जानता, वे अपने किसी रिश्ते-दार को नहीं जानते। शराब पीते, मस्त-मौला बन अपना दिन काटते हैं। उन्हें सन्मार्ग दिखाने वाला कोई नहीं। इसका यह अभिप्राय नहीं कि 'संयुक्त-परिवार' से जो अलग होगा उसका यही हाल होगा, इसका इतना ही अभिप्राय है कि परिवार के अन्य सदस्यों की देख-रेख का बन्धन मनुष्य को पथ-भ्रष्ट होने से रोकता है।

(ख) नियन्त्रण—'संयुक्त-परिवार'-प्रथा मनुष्य को नियम में रखती है, बन्धन में रखती है। मनुष्य बन्धन नहीं चाहता—यह ठीक है, परन्तु कभी-कभी बन्धन मनुष्य के लिए आवश्यक हो जाता है। 'वैयक्तिक-परिवार' में मनुष्य को अपने को बन्धन में रखने के लिए, अपने को अपनी ही जिम्मेदारी पर छोड़ना पड़ता है, उस पर से सामाजिक-बन्धन उठ जाता है। अपनी जिम्मेवारी अपने ऊपर कितने लोग ले सकते हैं? सर्व-साधारण को तो अपने नियन्त्रण के लिए दूसरे पर ही छोड़ना पड़ता है।

(ग) बेकारी में सहायक—वर्तमान-युग की आर्थिक अवस्थाओं में कौन कब बेकार हो जायगा, इसे कौन कह सकता है? 'संयुक्त-परिवार'-प्रथा बेकारी में अपने सदस्यों की सहायक सिद्ध होती है, परिवार के दूसरे सदस्य अपने सगे-सम्बन्धी के काम आते हैं। अमीर लोगों की बात तो आज दूसरी है, वे एक दिन से ज्यादा किसी को अपने घर नहीं रख सकते, परन्तु ग़रीब लोग जिनमें 'संयुक्त-परिवार'-प्रथा के प्रति अभी तक आदर है, अपने रिश्तेदारों को महीनों तक अपने पास रखते हैं, जब तक उन्हें नौकरी नहीं मिल जाती तब तक यथाशक्ति उनकी सहायता करते हैं।

(घ) स्त्रियों की सहायक—स्त्रियों की तो इस प्रथा से विशेष सहायता होती है। खास कर अपने समाज में जो विधवायें शादी-ब्याह नहीं करतीं उनका

त्राण 'वैयक्तिक-परिवार' में नहीं हो सकता, 'संयुक्त-परिवार' में उनका भरण-पोषण भी औरों के साथ-साथ चलता रहता है।

(ङ) वृद्धों की सहायक—मनुष्य बूढ़ा होकर खुद तो कमा नहीं सकता, आजकल के 'वैयक्तिक-परिवार' के नौजवान अपने बूढ़े माँ-बाप की परवाह नहीं करते, वे कहते हैं—अपने बाल-बच्चों को खिलायें या बूढ़े माँ-बाप को खिलायें। जिन माता-पिता ने उनको पाल-पोस कर बड़ा किया, उनकी तरफ़ उनका ध्यान नहीं जाता। ऐसी अवस्था में या तो राष्ट्र अपने ऊपर बूढ़ों की परवरिश की ज़िम्मेदारी ले, या 'संयुक्त-परिवार'-प्रथा द्वारा उनका भरण-पोषण हो, तीसरा रास्ता उनका रो-रोकर अपना बुढ़ापा काटने के सिवाय क्या रह जाता है?

(च) निःस्वार्थपरता—'वैयक्तिक-परिवार'-प्रथा व्यक्ति को स्वार्थी बना देती है, 'संयुक्त-परिवार'-प्रथा उसे निःस्वार्थी, अपने को छोड़ कर दूसरों को भी अपना समझना सिखलाती है।

ऊपर 'संयुक्त-परिवार'-प्रथा तथा 'वैयक्तिक-परिवार'-प्रथा के सम्बन्ध में जो विवेचन किया गया है उससे स्पष्ट है कि दोनों के अपने-अपने लाभ और अपनी-अपनी हानियां हैं। इस समय समाज की दिशा 'संयुक्त' से 'वैयक्तिक' परिवार की तरफ़ जा रही है, परन्तु समाज के कर्णधारों को दोनों का इस प्रकार का समन्वय करना चाहिए जिससे दोनों के गुण रह जांय, अवगुण नष्ट हो जांय।

१०. संयुक्त-परिवार क्यों बना हुआ है?

संयुक्त-परिवार दिनोंदिन शिथिल हो रहा है—इसमें सन्देह नहीं। इसमें भी सन्देह नहीं कि आज के युग में संयुक्त-परिवार में अनेक हानियां दृष्टि-गोचर हो रही हैं। तो फिर यह बना क्यों हुआ है? वर्तमान प्रतिकूल परिस्थितियों में भी संयुक्त-परिवार-प्रथा के बने रहने के निम्न कारण हैं:

(क) अर्थ-व्यवस्था के कृषि-प्रधान होने के कारण संयुक्त-परिवार की व्यवस्था—भारत की अर्थ-व्यवस्था कृषि-प्रधान है। १९५१ की जन-गणना के अनुसार इस देश में ८२.७ प्रतिशत जनता गाँवों में बसती है। इस देश में ३०१८ शहर हैं तो ५,५८,०८८ गाँव हैं। इन गाँवों में रहने वालों की आजीविका का साधन मुख्य तौर पर खेती है। खेती करना इकले आदमी के बूते की बात नहीं। हल चलाना, बीज बोना, खेती काटना—ये सब काम एक नहीं, अनेक व्यक्तियों के हैं। यही कारण है कि परिवार में अनेक सदस्यों का होना कृषि-जीवन के लिए आवश्यक है, और इसी कारण अपने देश में संयुक्त-परिवार-प्रथा बनी हुई है। कृषि के अतिरिक्त जो गृहोद्योग गाँवों में चलते हैं, उनमें भी अनेक व्यक्तियों का सहयोग आवश्यक है। इस सहयोग के लिए भी कई व्यक्तियों का साथ मिलकर काम करना जरूरी है। ज्यों-ज्यों अपना देश कृषि को छोड़कर बड़े उद्योगों की तरफ़ बढ़ता जायगा, त्यों-त्यों संयुक्त-परिवार-प्रथा टूट कर एकाकी-परिवार-प्रथा आती जायगी।

(ख) भारतीय स्मृतिकारों के विधि-विधान द्वारा संयुक्त-परिवार की व्यवस्था—भारतीय परिवार की संस्था का ढाँचा हमारी स्मृतियों द्वारा खड़ा किया गया है। जैसे आजकल के कानून बने हुए हैं, वैसे भारतीय-समाज के कानून बनाने वाले स्मृतिकार थे। इन स्मृतिकारों ने परिवार के विषय में संयुक्त-परिवार की ही व्यवस्था दी थी। सम्पत्ति के सम्बन्ध में जिस दायभाग तथा मिताक्षरा प्रणाली का हम ऊपर ज़िक्र कर आये हैं, वह स्मृतिकारों की ही बनाई हुई थीं। दायभाग-प्रणाली का आधार संयुक्त-परिवार-प्रथा ही है। इस प्रणाली में पिता ही अपने जीवन-काल में सम्पत्ति का अधिकारी है। जब पिता ही सम्पत्ति का अधिकारी है, तब पिता के जीवित रहते लड़के अलग क्यों होंगे? उनके अलग होने से उन्हें कुछ मिलने वाला भी तो नहीं है। मिताक्षरा-प्रणाली के अनुसार पुत्र उत्पन्न होते ही पिता की सम्पत्ति में अधिकारी बन जाते हैं, अगर पुत्र अलग-अलग अपना हिस्सा चाहें, तो संयुक्त-परिवार का भंग करना पड़ता है, परन्तु अगर सम्पत्ति सब पुत्रों को बाँट कर संयुक्त-परिवार का भंग कर दिया जाय, तो पिता के पास सम्पत्ति कम रह जाती है। सम्पत्ति कम न रह जाय—इस कारण से मिताक्षरा-प्रणाली के संयुक्त-परिवार में पिता अपने जीवन-काल में परिवार को 'संयुक्त' से 'एकाकी' होने में बाधा बना रहता है, और जहाँ कोई लड़का अपना हिस्सा अलग कराने का शोर मचाता है वहाँ परिवार में संकट बना रहता है। मनु-स्मृति में पहले पिता को संयुक्त-परिवार का 'कर्त्ता', 'व्यवस्थापक', 'मैनेजर' या 'ट्रस्टी' कहा गया है, पिता के मरने के बाद ज्येष्ठ-पुत्र को पिता का स्थान दिया गया है। जैसे आजकल के कानूनों का शासन हम लोगों पर बना रहता है वैसे भारतीय परिवार की संस्था पर स्मृतिकारों के विधान का शासन बना रहता था और क्योंकि स्मृतिकार संयुक्त-परिवार का ही प्रतिपादन करते थे, इसलिए अपने देश में यह प्रथा अब तक चली आ रही है।

(ग) पितरों की पूजा, पिंड-दान तथा सगोत्र-विवाह-निषेध की धार्मिक विधि द्वारा संयुक्त-परिवार की व्यवस्था का पोषण—हिन्दू-परिवार की संस्था का आधार अनिश्चित-काल से संयुक्त-परिवार-प्रथा रहा है। इस प्रथा की नींव में धार्मिक-भावना काम करती रही है। वह धार्मिक-भावना क्या थी ?

हिन्दू-परिवार की लड़ी बहुत लम्बी रही है। इस लड़ी को तीन भागों में बाँटा जाता रहा है—सपिंड, सकुल तथा समानोदक।[१] सपिंड कौन थे ? पिता, पितामह, प्रपितामह तथा पुत्र, पौत्र, प्रपौत्र—ये छः और व्यक्ति स्वयं—इस प्रकार सात व्यक्ति 'सपिंड' माने जाते हैं। मृत-व्यक्ति को पिंड-दान दिया जाता है। 'पिंड' का अर्थ है—आटे की रोटी। व्यक्ति अपने मृत पिता, पितामह तथा प्रपितामह को श्राद्ध के रूप में पिंड-दान करता है और स्वयं मर जाने पर अपने पुत्र,

१. A History of Hindu Civilization during British Rule by Pramath Nath Bose (1894).

पौत्र तथा प्रपौत्र से पिंड-दान की आशा करता है। जो मर जाते हैं, वे 'पितर' कहलाते हैं। इन पितरों को पिंड-दान जो सम्बन्धी करते ह वे सब 'सपिंड' कहलाते हैं। पिता, पितामह तथा प्रपितामह को सब भाई पिंड-दान करते हैं, अपने पितरों की पूजा करते हैं, अतः ये सब एक ही परिवार के अंग माने जाते हैं. संयुक्त-परिवार में रहते हैं। इस दृष्टि से पितरों की पूजा, पिंड-दान या इन सब की सपिंडता की धार्मिक-भावना हिन्दू-परिवार को संयुक्त-परिवार के रूप में बनाये रखने में बड़ी सहायक रही है।

'सकुल' तथा 'समानोदक' कौन थे ? पिता, पितामह, प्रपितामह तथा पुत्र, पौत्र, प्रपौत्र इन छः से तीन आगे की और तीन पीछे की पीढ़ियाँ समान 'कुल' की, अपने 'कुल' की मानी गई हैं, अतः इन्हें 'सकुल' कहा गया था। इन तीन से भी सात पीढ़ियाँ आगे की और सात पीढ़ियाँ पीछे की जिनके नाम, जन्म आदि का कुछ पता हो वे 'समानोदक' माने जाते हैं। इन्हें 'समानोदक' इसलिए कहा गया है क्योंकि जैसे 'सपिंड' को 'पिंड-दान' दिया जाता है वैसे इन्हें 'उदक-दान' दिया जाता है। सपिंड, सकुल तथा समानोदक—ये तीन की लम्बी-चौड़ी पीढ़ी मिल कर प्रत्येक हिन्दू का 'गोत्र' बनता है जिसमें विवाह करने का निषेध है। इस सारी-की-सारी धार्मिक-व्यवस्था का पालन संयुक्त-परिवार में ही हो सकता था, एकाकी-परिवार में तो क्योंकि पिता के बाद की पीढ़ी को भी लोग भूल जाते हैं, अतः उसमें नहीं हो सकता था। इसलिए यह कहना असंगत न होगा कि पितरों की पूजा, पिंड-दान तथा अपने गोत्र में विवाह के निषेध की धार्मिक-व्यवस्थाओं द्वारा संयुक्त-परिवार की संस्था का पोषण होता रहा है, इसलिए भी यह संस्था हिन्दुओं में अबतक बनी हुई है।

(घ) पितृ-सत्ताक-परिवार—पितृ-सत्ताक-परिवार का अर्थ है वह परिवार जिसमें पिता परिवार का मुखिया हो, वही उसका कर्त्ता-धर्त्ता हो। पिता जब तक जीवित रहता है और जब तक वही परिवार की गति-विधि का नियन्त्रण करता है, तब तक वह अपनी सन्तान को एक सूत्र में बाँधे रखता है। पितृ-सत्ताक-परिवार में सन्तान भी पिता को सब-कुछ मानती है और उसकी इच्छा के विरुद्ध नहीं चलती। इसलिए यह कहा जा सकता है कि हिन्दुओं की पितृ-सत्ताक-परिवार-प्रथा के कारण भी संयुक्त-परिवार की संस्था टिकी हुई है।

११. संयुक्त-परिवार प्रथा पर पाश्चात्य प्रभाव

यद्यपि हिन्दू-परिवार का ढाँचा सदियों की परम्पराओं के कारण संयुक्त-परिवार का रहा है, तो भी जब से भारत अंग्रेजों के आधीन हुआ तब से पाश्चात्य सभ्यता तथा संस्कृति ने इस देश को बहुत अधिक प्रभावित किया। भारत की सभ्यता तथा संस्कृति का आधार समष्टिवाद रहा, 'सर्व-भूत-हिते रतः' की भावना यहाँ प्रधान रही, यह भावना संयुक्त-परिवार की पद्धति के अनुकूल थी, परन्तु पाश्चात्य विचार-धारा समष्टिवाद के स्थान में व्यक्तिवाद की पोषक थी। जो लोग अंग्रेजी पढ़ने लगे, या अंग्रेजी सभ्यता के सम्पर्क में आये उन्हें पाश्चात्य-

संस्कृति के विचार प्रभावित करने लगे। उन्होंने हर क्षेत्र में व्यक्तिवाद की दृष्टि से सोचना शुरू किया। व्यक्तिवाद का अवश्यम्भावी परिणाम था संयुक्त-परिवार का एकाकी-परिवार बन जाना। व्यक्तिवाद के अतिरिक्त पाश्चात्य विचार-धारा में दूसरी बात थी स्वतंत्रता की, आज़ादी की। जैसे पाश्चात्य रंग में रंगे युवक समष्टिवाद की जगह व्यक्तिवाद के दृष्टि-कोण से सोचने लगे, वैसे वे हर क्षेत्र में स्वतंत्रता तथा आज़ादी के दृष्टि-कोण से भी सोचने लगे। जैसे इस युग में देश की स्वतंत्रता के विचार ने जन्म लिया वैसे ही इस युग में परिवार की स्वतंत्रता के विचार ने भी जन्म लिया। संयुक्त-परिवार में तो व्यक्ति को स्वतंत्रता नहीं रहती, वह परिवार के बन्धनों से बँधा रहता है, एकाकी-परिवार में व्यक्ति को स्वतंत्रता मिलती है, वह स्वतन्त्र रूप से अपना विकास कर सकता है। इस दृष्टि से परिवार की संस्था पर अंग्रेज़ों का, पाश्चात्य सभ्यता तथा संस्कृति का अमिट प्रभाव पड़ा।

१२. भारत में संयुक्त-परिवार-प्रथा का भविष्य

संयुक्त-परिवार-प्रथा इस समय संक्रान्ति-काल में से गुज़र रही है, धीरे-धीरे समाप्त हो रही है, परन्तु भविष्य में जो भी परिवार की संस्था बने उसमें संयुक्त-परिवार तथा एकाकी परिवार के दोष न हों, दोनों के गुण हों—ऐसा प्रयत्न करने की आवश्यकता है।

(क) संयुक्त-परिवार-प्रथा का संक्रान्ति-काल—हमने अभी कहा कि संयुक्त-परिवार-प्रथा अपने देश में संक्रान्ति-काल में से गुज़र रही है। इसका क्या अर्थ है? हम पहले लिख आये हैं कि १९५१ की जन-गणना के अनुसार भारत के गाँवों में ३३ प्रतिशत तथा शहरों में ३८ प्रतिशत एकाकी-परिवार हैं। इसका यह अर्थ हुआ कि अभी गाँवों में ६७ प्रतिशत तथा शहरों में ६२ प्रतिशत परिवार संयुक्त-परिवार की श्रेणी में आते हैं। यह संख्या धीरे-धीरे कम हो रही है, और एकाकी-परिवारों की संख्या धीरे-धीरे बढ़ रही है। इसी को संक्रान्ति-काल कहा जाता है। हम अभी न सिर्फ़ संयुक्त-परिवार की श्रेणी में हैं, न सिर्फ़ एकाकी-परिवार की श्रेणी में हैं। दोनों श्रेणियाँ अपने देश में पायी जाती हैं, परन्तु गति संयुक्त से एकाकी की तरफ़ है। ऐसा क्यों है? ऐसा इसलिए है क्योंकि आज के युग में हमारे युवकों के और उनके अभिभावकों के विचारों में खींचातानी चल रही है। माता-पिता पुराने विचारों के हैं, लड़के-लड़कियाँ नये विचारों के हैं। पुराने विचार एक तरफ़ खींचते हैं तो नये विचार दूसरी तरफ़ खींचते हैं, माता-पिता पुरातन को स्थिर रखना चाहते हैं, लड़के-लड़कियाँ पुरातन को उखाड़ फेंकना चाहते हैं। पुराने लोग चौके में कपड़े उतार कर और चौकी पर बैठ कर भोजन करेंगे तो उनके नये फ़ैशन के लड़के कोट-पतलून-जूते डट कर और मेज़-कुर्सी लगाकर भोजन करेंगे; पुराने लोग आदर दर्शाने के लिए पाँव छूएँगे तो उनके कुमार अपने माता-पिता को हैट हिला कर अभिवादन करेंगे; पुराने तरीके की सास बहू से पर्दे [illegible] करेंगी तो नये ज़माने के लड़के अपनी पत्नी को

नंगे सिर हाथ में हाथ डाले हुए टहलने ले जाना चाहेंगे। हम नहीं कहते कि इनमें से कौन-सी बात ठीक है, कौन-सी ग़लत, परन्तु इसमें सन्देह नहीं कि पाश्चात्य-संस्कृति के प्रभाव से, नये युग की हवा से पुरातन तथा नवीन का संघर्ष चल पड़ा है और संयुक्त-परिवार की संस्था पर इस संधि-काल की चोटें ज़ोर-ज़ोर से पड़ रही हैं।

(ख) संयुक्त-परिवार की संस्था धीरे-धीरे समाप्त हो रही है—संयुक्त-परिवार की संस्था अपने संक्रान्ति-काल में से गुज़र रही है, परन्तु इस संक्रान्ति की दिशा किधर है ? इस संस्था के सम्बन्ध में हमने जो-कुछ लिखा है, उससे स्पष्ट है कि अब वर्त्तमान-युग के थपेड़े खाकर संयुक्त-परिवार की संस्था टिक नहीं सकती। व्यक्तिवाद तथा वैयक्तिक स्वतंत्रता का दबाव इतना जबर्दस्त है कि परिवार का एकाकी हो जाना अवश्यम्भावी है। इसके अतिरिक्त आर्थिक-परिस्थितियाँ भी संयुक्त-परिवार की संस्था को समाप्त कर रही हैं। जिन कारणों से संयुक्त-परिवार की संस्था का भविष्य अन्धकारमय है, उनका वर्णन हम इस संस्था की हानियों के प्रकरण में कर आये हैं। इससे स्पष्ट है कि आगे के युग में संयुक्त-परिवार की संस्था समाप्त हो जायगी।

(ग) संयुक्त-परिवार तथा एकाकी-परिवार के गुणों का समन्वय—यद्यपि संयुक्त-परिवार की संस्था समाप्त होती दीखती है, तो भी परिवार की संस्था को सफल बनाने के लिए यह आवश्यक दीखता है कि परिवार का जो भी रूप भविष्य में बने उसमें संयुक्त-परिवार के लाभों को समाविष्ट करने का प्रयत्न किया जाय। संयुक्त-परिवार का सब से बड़ा गुण पारस्परिक सहयोग, सहानुभूति और सहायता का है। भविष्य में संयुक्त की जगह एकाकी परिवार बनने वाले हैं, उनमें व्यक्तिवाद के कारण एक-दूसरे के साथ सहानुभूति की भावना नहीं रहेगी। इन परिवारों की सब से बड़ी समस्या यही होगी कि इनमें सहयोग तथा सहानुभूति के पुट को जो परिवार की बड़ी आवश्यकता है, कैसे दिया जाय ? इसका एकमात्र उपाय यही प्रतीत होता है कि एक दूसरे प्रकार के परिवारों की रचना हो, ऐसे परिवारों की जिनमें व्यक्तियों का रुधिर का, रिश्तेदारी का सम्बन्ध तो न हो, परन्तु जो परिवार रिश्तेदारी के कर्त्तव्यों को निभा सकें। संयुक्त-परिवार टूट क्यों रहे हैं ? इसके अन्य कारणों में से एक मुख्य कारण आजकल की विषम आर्थिक-परिस्थितियाँ हैं। जिन लोगों को अपने लिए ही खाने-पीने के लिए काफ़ी नहीं मिलता वे सारे परिवार के सदस्यों को अपने साथ रख कर कैसे गुज़र कर सकते हैं ? ऐसी अवस्था में परिवार के रूप में ऐसे परिवर्त्तन करने की आवश्यकता है जिससे व्यक्ति पर सारे परिवार के पालने का बोझ न रहे परन्तु उसे संयुक्त-परिवार की सहानुभूति, सहयोग तथा सहकारिता प्राप्त हो। आजकल इस प्रकार के परिवार बन रहे हैं, दोस्त-मित्रों के परिवार, सभा-सोसाइटियों के परिवार। ये परिवार एकाकी होते हैं, वैयक्तिक होते हैं, कोई किसी के आर्थिक बोझ को अपने ऊपर नहीं लेता, परन्तु ये लोग रिश्तेदारों की तरह मिलते-जुलते हैं, एक-दूसरे की सुख-

दुःख में सहायता करते हैं, एक-दूसरे का साथ देते हैं। इस प्रकार के परिवारों का एक-दूसरे के साथ सम्पर्क दो तरह से होता है—वैयक्तिक तौर पर तथा सामूहिक तौर पर। वैयक्तिक तौर पर तो जो लोग दोस्त-मित्र होते हैं, वे एक-दूसरे के साथ मैत्रीपूर्ण व्यवहार करते हैं, सामूहिक तौर पर किसी संस्था या समाज का सदस्य होने के नाते भिन्न-भिन्न परिवारों का आपस में मैत्रीपूर्ण सम्बन्ध होता है। आर्य-समाजी होने के नाते प्रत्येक आर्यसमाजी परिवार का दूसरे आर्यसमाजी परिवारों से, इसी प्रकार मुसलमान या ईसाई होने के नाते इन परिवारों का अपने समुदाय के परिवारों से मैत्रीपूर्ण व्यवहार होता है। आजकल परिवार का रूप संयुक्त से एकाकी तो हो रहा है, परन्तु एकाकी होता हुआ भी उक्त परिभाषा में फिर से संयुक्त हो रहा है। जो परिवार प्राचीन संयुक्त-परिवार-प्रथा से टूट कर एकाकी हो गया है, और एकाकी होने के बाद जिसका किसी वैयक्तिक परिवार से या किसी समूह से सम्पर्क नहीं है, वह समय आने पर अपने को निस्सहाय स्थिति में अनुभव करने लगता है।

२०

हिन्दू-परिवार के भिन्न-भिन्न रूप

(VARIOUS FORMS OF HINDU FAMILY)

पिछले अध्याय में हमने 'हिन्दू-संयुक्त-परिवार' का अध्ययन किया। परिवार के प्रकरण में हमें यह भी देखना है कि परिवार के क्या-क्या प्रकार हैं, और इन प्रकारों में हिन्दुओं में किस प्रकार के परिवार की संस्था चल रही है। इस अध्याय में हम इसी विषय की चर्चा करेंगे।

१. परिवार की परिभाषा

परिवार एक ऐसे समूह का नाम है जो संसार में सब जगह पाया जाता है। इसमें निम्न 'तत्त्व' हैं:

(क) स्त्री-पुरुष का यौन-सम्बन्ध (Mating relationship),

(ख) इस यौन-सम्बन्ध को दूसरे लोग भी स्वीकार करें, इस उद्देश्य से विवाह जैसा कोई संस्कार--(Some form of marriage),

(ग) स्त्री-पुरुष का यह सम्बन्ध सिर्फ़ उन तक ही सीमित न रहे, इसका परिणाम आगे तक भी चलता रहे, स्थिरता मिल जाय, इस उद्देश्य से, पिता या माता के नाम से वंश का चलना--(Reckoning of descent),

(घ) सन्तानोत्पत्ति, सन्तान का पालन तथा एक-दूसरे का भरण-पोषण --(Child-bearing, Child-rearing and Economic provison), तथा

(ङ) सह-वास—(Common habitation)।

इस दृष्टि से 'परिवार' एक ऐसा समूह है जिसमें (क) स्त्री-पुरुष का 'यौन-सम्बन्ध' (ख) 'विधि-पूर्वक' स्वीकार किया जाता है, (ग) इसे 'स्थिर' बना दिया जाता है, और (घ) जिसमें सन्तान की 'उत्पत्ति', 'पालन' तथा 'भरण-पोषण' की जिम्मेवारी लेकर (ङ) स्त्री-पुरुष किसी 'स्थान' पर साथ-साथ रहते हैं।

उक्त बातों को ध्यान में रखते हुए भिन्न-भिन्न लेखकों ने 'परिवार' की भिन्न-भिन्न परिभाषाएँ की हैं जिनमें से मुख्य-मुख्य निम्न हैं:—

[क] मैक आइवर की व्याख्या--"परिवार उस समूह का नाम है जिसमें स्त्री-पुरुष का यौन-सम्बन्ध पर्याप्त निश्चित होता है, और इनका साथ इतनी देर

[क] "The family is a group defined by a sex-relationship sufficiently precise and enduring to provide for the procreation and upbringing of children." —*MacIver*.

तक रहता है जिससे सन्तान उत्पन्न हो जाय और उसका पालन-पोषण भी किया जाय।"

[ख] बरजेस तथा लॉक की व्याख्या—"परिवार व्यक्तियों के उस समूह का नाम है जिसमें वे विवाह, रुधिर या दत्तक-सम्बन्ध से बंधे हुए होकर, भिन्न-भिन्न नहीं, अपितु एक-गृहस्थी का निर्माण करते हैं। इस गृहस्थी में वे एक-दूसरे पर पति-पत्नी, माता-पिता, पुत्र-पुत्री, भाई-बहन के रूप में प्रभाव डालते हैं, और एक-दूसरे के साथ सम्बन्ध स्थापित करते हैं। ये सब इस गृहस्थी में एक सामान्य-संस्कृति को जन्म देते हैं और उस संस्कृति को बनाये रखते हैं।"

२. परिवार की उत्पत्ति
(Origin of Family)

पहले-पहल परिवार की उत्पत्ति कैसे हुई इस सम्बन्ध में समाज-शास्त्रियों में भिन्न-भिन्न सिद्धान्त पाये जाते हैं जिनमें से मुख्य निम्न हैं:—

(क) पितृ-सत्ताक परिवार का सिद्धान्त (Patriarchal theory),

(ख) एक-विवाही परिवार का सिद्धान्त (Monogamous family theory),

(ग) लिंग साम्यवादी परिवार का सिद्धान्त (Sex communism theory),

(घ) मातृ-सत्ताक परिवार का सिद्धान्त (Matriarchal theory),

(ङ) विकासात्मक परिवार का सिद्धान्त (Evolutionary theory)।

इन चारों सिद्धान्तों में से पितृ-सत्ताक तथा मातृ-सत्ताक परिवार के सिद्धान्त मुख्य हैं अतः हम इन दोनों का कुछ विस्तार से तथा अन्य दोनों का गौण रूप से वर्णन करेंगे।

(क) पितृ-सत्ताक परिवार—इस विचार के मानने वाले कहते हैं कि शुरू-शुरू में परिवार में पिता की प्रधानता थी। इस सिद्धान्त के पृष्ठ-पोषकों में हैनरी मेन (Henry Maine) मुख्य हैं। इन लोगों का कहना है कि प्राणि-जगत् में नर और मादा साथ-साथ ही नहीं रहते, नर मादा को अपने एकाधिकार में भी रखता है। मादा दूसरे के पास जाय, तो उसे ईर्ष्या होती है। नर क्योंकि मादा से बलवान् होता है, अतः 'एकाधिकार' तथा 'ईर्ष्या'—इन दो भावनाओं के कारण वह मादा पर अपना स्वत्व जमा लेता है। नर के मादा पर स्वत्व जमाने को

[ख] "A family is a group of persons united by the ties of marriage, blood or adoption, constituting a single household, inter-acting and inter-communicating with each other in their respective social role of husband and wife, mother and father, son and daughter, brother and sister and creating and maintaining a common culture." —*Burges and Locke.*

ही पितृ-सत्ताक परिवार कहा जाता है। इस प्रकार के परिवार में घर की अन्तिम ज़िम्मेवारी स्त्री की नहीं, पुरुष की होती है। सम्पत्ति पर अधिकार स्त्री का नहीं, पुरुष का होता है। वंश-परम्परा स्त्री के नाम से नहीं, पुरुष के नाम से चलती है। इस प्रकार के परिवार में स्त्रियों की स्थिति पुरुषों से हीन होती है। इस सिद्धान्त को मानने वालों का कहना है कि समाज में पहले-पहल इसी प्रकार के परिवारों की उत्पत्ति हुई।

(ख) एक-विवाही-परिवार—पितृ-सत्ताक परिवार के सिद्धान्त को मानने वालों के विचारों को ही लेकर एक-विवाही परिवार के सिद्धान्त को मानने वालों का कहना है कि शुरू-शुरू के परिवार पितृ-सत्ताक ही नहीं थे, एक-विवाही भी थे। इस सिद्धान्त के पृष्ठ-पोषकों में विकासवादी डार्विन के अनुयायी वेस्टरमार्क (Westermarck) का नाम मुख्य है। उनका कहना है कि ताकतवर होने के कारण पुरुष स्त्री पर स्वत्व ही नहीं जमा लेता, परन्तु 'एकाधिकार' तथा 'ईर्ष्या' की भावना के कारण कोई पुरुष अपनी स्त्री को दूसरे के पास नहीं जाने देता। इस भावना का परिणाम स्वभावतः 'एक-विवाह' हो जाता है। वेस्टर-मार्क का कहना है कि निम्न-स्तर के बन्दरों में भी 'एक-विवाह' की प्रथा ही है, इसलिए विकास की दृष्टि से वेस्टरमार्क के कथनानुसार 'एक-विवाही-परिवार' समाज में पीछे नहीं, शुरू में प्रारम्भ हुआ।

(ग) लिंग साम्यवादी परिवार—कई लोगों का यह विचार है कि शुरू-शुरू में स्त्री-पुरुष के सम्बन्ध में साम्यवाद था, जो जिससे चाहता सम्बन्ध कर सकता था। ऐसी जातियाँ पायी जाती हैं जिनमें 'यूथ-विवाह' (Group marriage) होता था। समूह की सब स्त्रियाँ समूह के सब पुरुषों से विवाहित समझी जाती थीं। इस बात को यों भी कहा जा सकता है कि आदि-काल में विवाह की प्रथा ही नहीं थी, आजकल का जो स्त्री-पुरुष का एक-दूसरे के लिए एकाधिकार या स्वामित्व का भाव है, वह नहीं था।

(घ) मातृ-सत्ताक-परिवार—इस विचार के मानने वालों का कहना है कि जब शुरू-शुरू में विवाह नहीं था, अनेक स्त्रियाँ अनेक पुरुषों के साथ रहती थीं, सब का बिना भेद-भाव के आपस में सम्बन्ध हो सकता था, तो ऐसी अवस्था में यह तो कहा जा सकता था कि किस स्त्री का कौन-सा बच्चा है, परन्तु यह नहीं कहा जा सकता था कि किस पुरुष का कौन-सा बच्चा है। बच्चे के साथ पिता का सम्बन्ध न जोड़ सकने के कारण पिता की परिवार में कोई स्थिति नहीं कही जा सकती थी। 'यूथ-विवाह' (Group marriage) में पिता का पता ही नहीं था, इसलिए पिता की कोई स्थिति ही नहीं थी, सिर्फ़ माता की स्थिति थी, उसी की मुख्यता थी, इसलिए इस विचार के मानने वालों के अनुसार आदि-समाज मातृ-सत्ताक था। इस विचार के समर्थकों में ब्रिफ़ाल्ट (Briffault) तथा टाइलर (Tylor) का नाम मुख्य है।

(ङ) विकासात्मक परिवार—मारगन (Margon) महोदय ने उक्त सब सिद्धान्तों से भिन्न सिद्धान्त का प्रतिपादन किया है। उनका कहना है कि विकास की प्रक्रिया में से गुज़रता हुआ परिवार पाँच क्रमों में से गुज़रा है। ये पाँच क्रम निम्न हैं:—

(i) समान-रुधिर परिवार (Consanguineous family)—यह शुरू-शुरू की अवस्था है जिसमें एक रुधिर वाले लोग आपस में विवाह-शादी करते थे, भाई-बहिन का भेद नहीं था।

(ii) समूह-परिवार (Punaluant family)—परिवार के विकास की यह दूसरी अवस्था है जिसमें समान-रुधिर वालों में विवाह तो बन्द हो गया, परन्तु एक परिवार के सब भाइयों का विवाह दूसरे परिवार की सब बहनों के साथ होना शुरू हो गया। यह एक प्रकार का 'यूथ-विवाह' था। इस विवाह में एक परिवार के सब भाइयों का दूसरे परिवार की सब बहिनों के साथ विवाह हो जाने के बाद किसी विशेष भाई की कोई विशेष स्त्री नहीं होती थी, सब भाइयों के लिए वे सब बहनें, और सब बहनों के लिए वे सब भाई पत्नी तथा पति समझे जाते थे।

(iii) सिन्डेस्मियन-परिवार (Syndasmian family)—परिवार के विकास की यह तीसरी अवस्था है। इसमें 'यूथ-विवाह' होना अर्थात् अनेक भाइयों का अनेक बहनों से एक-साथ विवाह होना तो बन्द हो गया, एक पुरुष एक स्त्री से विवाह करने लगा, परन्तु परिवार में जितनी भी स्त्रियाँ थीं उनमें से किसी से भी उसका सम्बन्ध हो सकता था, यह ज़रूरी नहीं कि जिस स्त्री से उसका विवाह हुआ है उसी से वह सम्बन्ध करे, अन्य किसी से न करे।

(iv) पितृ-सत्ताक परिवार (Patriarchal family)—परिवार के विकास में चौथी अवस्था वह है जिसमें पुरुष का सम्बन्ध तो विवाहिता पत्नी से ही होता था, परन्तु वह अनेक स्त्रियों से विवाह कर सकता था, उन सब के साथ सम्बन्ध रख सकता था। इस अवस्था में परिवार में पुरुष की प्रधानता हो गई। इसमें स्त्री की स्थिति पहली अवस्थाओं की तरह निम्न ही रहती है।

(v) एक-विवाही परिवार (Monogamous family)—परिवार के विकास की पाँचवीं अवस्था वह है जिसमें पुरुष अनेक विवाह करने के स्थान में सिर्फ़ एक स्त्री से विवाह कर सकता है, स्त्री भी एक ही पुरुष से विवाह कर सकती है। इस अवस्था में स्त्री की स्थिति ऊँची उठने लगती है। वर्तमान-युग में परिवार इसी अवस्था में से गुज़र रहा है।

जैसा हमने ऊपर कहा, इन सब सिद्धान्तों में मुख्य सिद्धान्त दो ही हैं—'मातृ-सत्ताक-परिवार' तथा 'पितृ-सत्ताक-परिवार'। तो फिर, शुरू-शुरू में परिवार की उत्पत्ति किस प्रकार हुई? माता की मुख्यता से परिवार की उत्पत्ति हुई, या पिता की मुख्यता से? माता की मुख्यता से जिस परिवार का निर्माण होता है, उसे 'मातृ-सत्ताक-परिवार' (Matriarchal family), तथा पिता की मुख्यता से जिस परिवार का निर्माण होता है, उसे 'पितृ-सत्ताक-परिवार'

(Patriarchal family) कहते हैं। वर्त्तमान समाज-शास्त्रियों का कहना है कि निश्चित तौर पर नहीं कहा जा सकता कि विकास की दृष्टि से पहले-पहल 'मातृ-सत्ताक-परिवार' (Matriarchal family) बने, या 'पितृ-सत्ताक-परिवार' (Patriarchal family) बने। इन दोनों की सत्ता प्रारम्भिक समाज में एक-समान पायी जाती है। हाँ, इतना अवश्य कहा जा सकता है कि प्रत्येक परिवार के आधार में, चाहे वह 'मातृ-सत्ताक' (Matriarchal) हो, चाहे 'पितृ-सत्ताक' (Patriarchal), कुछ आधार-भूत बातें अवश्य पायी जाती हैं। वे आधार-भूत बातें हैं—'भिन्न-लिंगता' (Sex), 'सन्तानोत्पत्ति' (Reproduction) तथा इस समूह की 'आर्थिक-आवश्यकताओं की पूर्त्ति' (Satisfaction of economic needs)। प्रत्येक स्त्री-पुरुष में युवावस्था में काम-वासना का उदय होता है। यह वासना पशुओं की तरह जो पुरुष चाहे जिस स्त्री से, और जो स्त्री चाहे जिस पुरुष से पूरी करे—यह बात क्रियात्मक प्रतीत नहीं होती। पुरुष तो ऐसा कर सकता है, परन्तु स्त्री के बच्चा हो जाने के कारण वह पुरुष को बाधित करती है, कि अगर वह काम-वासना की पूर्त्ति करना चाहता है, तो बच्चों को पालने की ज़िम्मेवारी में भी हाथ बटाये, उनके भरण-पोषण एवं स्त्री की तथा बच्चों की आर्थिक-आवश्यकताओं को हल करने में भी सहयोग दे। यह सब स्वाभाविक है और प्रत्येक परिवार के आधार में ये मनोवैज्ञानिक प्रवृत्तियाँ काम कर रही हैं। परन्तु इन प्रवृत्तियों से, शुरू-शुरू में किस प्रकार के परिवार का उदय हुआ, 'मातृ-सत्ताक' (Matriarchal) का, या 'पितृ-सत्ताक' (Patriarchal) का, यह नहीं कहा जा सकता, क्योंकि आदि-कालीन जातियों में दोनों प्रकार के परिवार पाये जाते हैं।

३. 'मातृ-सत्ताक-परिवार' (Matriarchal Family)

'मातृ-सत्ताक-परिवार' (Matriarchal family) में माता की प्रधानता रहती है। वह किस प्रकार? समाज-शास्त्रियों के अध्ययन में कई ऐसे परिवार सामने आये हैं जिनमें स्त्री, विवाह के बाद भी अपने माता-पिता, भाई-बहन के पास ही रहती है, उन लोगों के पास रहती है जिनके साथ उसका रुधिर का सम्बन्ध है, अपना घर छोड़ कर पति के घर नहीं जाती, उन लोगों में नहीं जाती जिनके साथ उसका रुधिर का सम्बन्ध नहीं होता। पति, पत्नी के घर आ जाता है, पत्नी के साथ रहता है, परन्तु बच्चों पर माता का ही अधिकार होता है, उन लोगों का अधिकार होता है जिनका बच्चों की माँ से रुधिर का नाता होता है। लड़की अपने माँ-बाप के घर रहती है, उसके बच्चों की देख-भाल, उन्हें पढ़ाने-लिखाने का काम, लड़की का भाई, लड़की के माता-पिता करते हैं। हम क्योंकि दूसरे पर्यावरणों में पले हैं इसलिए हमें यह सुनकर आश्चर्य होता है, परन्तु उन लोगों को इसमें कुछ आश्चर्य की बात नहीं लगती। ऐसे परिवारों को दो दृष्टियों से देखा जा सकता है। एक दृष्टि तो वह है जिसमें लड़की का अपने माता-पिता, भाई-बहन से रुधिर का सम्बन्ध है। आजकल तो वह अपने रुधिर

के सम्बन्धियों को छोड़ कर ऐसे व्यक्ति के पास चली जाती है, जिसके साथ उसका रुधिर का कोई सम्बन्ध नहीं हैं, परन्तु जिन परिवारों का हम वर्णन कर रहे हैं, उनमें वह अपने रुधिर के सम्बन्धियों के पास ही रहती है, और वहीं रहती हुई बाल-बच्चे भी उत्पन्न करती है। इस दृष्टि से इस प्रकार के परिवार को 'समान-रुधिर-परिवार' (Consanguineous family) कहते हैं, इसमें पति का पत्नी के परिवार में बहुत तुच्छ स्थान होता है। उसका अपना स्थान अपने परिवार में होता है, जहाँ उसको बहिन के बच्चों की जिम्मेदारी उसके कन्धों पर होती है। इस प्रकार के परिवार का एक पहलू तो यह है कि स्त्री अपने ही परिवार में बनी रहती है, उस परिवार में जिसमें उसी के रुधिर के लोग हैं, दूसरा पहलू यह है कि इतना ही नहीं कि वह अपने परिवार में बनी रहती है, अपने परिवार में उसकी स्थिति भी पति से ऊँची रहती है। 'समान-रुधिर-परिवार' (Consanguineous family) में पत्नी की स्थिति पति से ऊँची होने के दो प्रमाण पाये गये हैं। पहला प्रमाण तो यह है कि यह परिवार 'मातृ-स्थानी'(Matrilocal) है। 'मातृ-स्थानी' (Matrilocal) का मतलब यह है कि पति-पत्नी और बच्चों का जो परिवार बनता है, उसका स्थान बच्चों के पिता का स्थान न होकर, उनकी माता का घर ही उनका स्थान होता है। हम लोगों के आजकल के परिवार 'पितृ-स्थानी' (Patrilocal) हैं, अर्थात् माता और बच्चे पिता के घर रहते हैं, परन्तु 'समान-रुधिर-परिवार' (Consanguineous family) में परिवार के लोग माता के स्थान पर रहते हैं। 'समान-रुधिर-परिवार' में पत्नी की स्थिति पति से ऊँची होने का दूसरा प्रमाण यह है कि उसमें वंश-परम्परा पिता के नाम से न चलकर माता के नाम से चलती है, अर्थात् 'समान-रुधिर-परिवार' 'मातृ-वंशी' (Matrilineal) होते हैं, उनमें पिता के नाम से वंश-परम्परा नहीं चलती, अर्थात् वे 'पितृ-वंशी' (Patrilineal) नहीं होते। माता का निवास-स्थान परिवार का केंद्र होना, और माता के नाम से वंश का चलना—ये दोनों बातें परिवार में माता को मुख्यता दे देती हैं, और इसी लिए इस प्रकार के परिवार को 'मातृ-सत्ताक' (Matriarchal) कहते हैं।

वैदिक-काल में अपने देश में 'मातृ-सत्ताक-परिवार' थे—यह बात प्राचीन साहित्य से पुष्ट होती है। उदाहरणार्थ, बृहदारण्यक उपनिषद् (अध्याय ६, ब्राह्मण ५) में एक बड़ी लम्बी वंश-परम्परा दी गई है जिसमें सब वंश माता के नाम से चले हैं। पौतिमाषीपुत्र, कात्यायनीपुत्र, गौतमीपुत्र, भारद्वाजीपुत्र, पाराशरीपुत्र—इस प्रकार ५०–६० माता के नाम से चले परिवारों का वहाँ वर्णन पाया जाता है। संसार की जिन सभ्यताओं में वंश-परम्परा किसी स्त्री से गिनी जाती है, वे 'मातृ-सत्ताक' हैं।

वर्तमान-काल में भी अपने देश में कई स्थानों में 'मातृ-सत्ताक-परिवार' मौजूद ह। मातृ-सत्ताक-परिवारों के अपने देश में दो केन्द्र ह—मलाबार तथा असम। मलाबार में नीची कही जाने वाली अनेक जातियों में मातृ-सत्ताक-परिवार पाय जाते ह। उदाहरणार्थ, नायर, वेल्लार, बसवी, देवदिग, गुरुक्कल,

जोगी पुरुष, केलसी, मलयाली क्षत्रिय, पल्लन, समन्तन तथा थियन जातियों में पत्नी विवाह के बाद पति के घर जाने की जगह पिता के घर ही रहती है, और उसी के नाम से वंश-परम्परा चलती है, पिता के मरने पर लड़के की जगह लड़की सम्पत्ति की अधिकारिणी होती है, बच्चे माता के समझे जाते हैं, पिता के नहीं और वे अपनी ननिहाल का ही अंग बने रहते हैं। इसी प्रकार असम की खासी तथा गारो जातियों में मातृ-सत्ताक-परिवार ही पाये जाते हैं।

सर हेनरी मेन ने मलाबार के मातृ-सत्ताक-परिवार का वर्णन करते हुए लिखा है कि मलाबार में एक बड़े परिवार को 'तरवाड़' कहते हैं। इस 'तरवाड़' में छोटे-छोटे परिवार सम्मिलित होते हैं जिन्हें 'तायवड़ी' कहते हैं। इस बड़े परिवार, अर्थात् 'तरवाड़' की सम्पत्ति सब की साझी होती है, और इसका प्रबन्ध परिवार की बूढ़ी स्त्री के या बूढ़े पुरुष के हाथ होता है। परिवार की सम्पत्ति का प्रबन्ध करने वाली इस बूढ़ी स्त्री को 'कारणवती' तथा बूढ़े पुरुष को 'कारणवत्' कहते हैं। इस प्रथा में वंश-परम्परा पितृ-मूलक न होकर मातृ-मूलक है, विवाह के बाद पत्नी अपने घर ही रहती है, पति अपनी पत्नी से मिलने ससुराल जाता रहता है, इस युगल पति-पत्नी की सन्तान भी अपने नाना के यहाँ ही रहती है और नाना की सम्पत्ति की उत्तराधिकारिणी मानी जाती है, इनके 'तरवाड़' की मुखिया प्रायः कोई बूढ़ी स्त्री होती है, कभी-कभी कोई बूढ़ा पुरुष भी हो सकता है, इस प्रथा में सम्पत्ति का उत्तराधिकार पुत्र को न मिलकर भांजे को मिलता है। मलाबार में उत्तराधिकार की व्यवस्था को 'मरुमक्कतायम' कहते हैं, क्योंकि 'मरुमक्क' का अर्थ है भांजा और 'ताय' का अर्थ है—दायभाग या उत्तराधिकार।

हमने देखा कि 'समान-रुधिर-परिवार' (Consanguineous family) तथा 'मातृ-सत्ताक-परिवार' (Matriarchal family) एक ही प्रकार के परिवार के दो पहलू हैं। जब हम स्त्री की स्थिति को उसके माता-पिता, भाई-बहन की दृष्टि से देखते हैं, तब हम कहते हैं कि वह 'समान-रुधिर-परिवार' (Consanguineous family) की अंग है, जब हम उसकी स्थिति को उसके पति की दृष्टि से देखते हैं, तब कह देते हैं कि वह 'मातृ-सत्ताक-परिवार' (Matriarchal family) की अंग है।

'मातृ-सत्ताक-परिवार' अन्त तक क्यों नहीं बना रहता ?

'मातृ-सत्ताक-परिवार' (Matriarchal family) तभी तक रह सकता है, जब तक कोई समाज 'कृषि-सभ्यता' तक नहीं पहुँचता। जब तक मनुष्य शिकार से, या पशु-पालने से जीवन-निर्वाह करता है, तब तक तो यह सम्भव हो सकता है कि पति अपने घर को छोड़ कर पत्नी के घर आता-जाता रहे, परन्तु जब मनुष्य ने कृषि का आविष्कार किया, तब पतियों के लिए पत्नी के घर आना-जाना कठिन हो गया। उस अवस्था में वह अपने कारोबार में, खेती-बाड़ी में इतना व्यस्त रहता था कि अपने धंधों से ही उसे फुर्सत नहीं मिलती थी। जमीन को साफ़ करना, हल चलाना, बीज बोना, जानवरों से खेती की रक्षा करना,

पकने पर काटना—ये सब इतने जंजाल के काम थे जिनके बिना उसका जीवन-निर्वाह नहीं हो सकता था, परन्तु जिनमें लग जाने पर उसके पास फ़ुर्सत भी नहीं रहती थी। इसलिए 'कृषि-सभ्यता' से पहले अगर 'मातृ-सत्ताक' तथा 'पितृ-सत्ताक' दोनों प्रकार के परिवार रहे भी होंगे, तो भी कृषि के आविष्कार के बाद तो 'मातृ-सत्ताक-परिवार' भी 'पितृ-सत्ताक' ही बन गया होगा। उस हालत में पत्नी को अपने रुधिर के परिवार को छोड़ना पड़ा होगा, इसलिए छोड़ना पड़ा होगा कि पति को पत्नी के परिवार में जाने की फ़ुर्सत ही बहुत कम रही होगी। इस प्रकार जहाँ-जहाँ 'मातृ-सत्ताक-परिवार' रहा होगा, वह आर्थिक-कारणों से 'पितृ-सत्ताक-परिवार' में बदल गया होगा। मैक आइवर का कथन है कि कृषि की उन्नति, सम्पत्ति का विकास तथा विशेषीकरण की प्रक्रिया का प्रभाव यह होता है कि परिवार मातृ-सत्ताक से पितृ-सत्ताक हो जाता है। इसके अतिरिक्त मातृ-सत्ताक-परिवार में पति तथा पत्नी अलग-अलग परिवारों में रहते हैं, इसलिए परिवार की इकाई ठोस नहीं बन पाती, पितृ-सत्ताक परिवार में दोनों एक ही स्थान पर रहते हैं इसलिए उनकी वंश-परम्परा की इकाई ठोस बन जाती है। भारत में क्योंकि वंश-परम्परा पर अधिक बल दिया जाता है, और वंश-परम्परा 'पितृ-सत्ताक-परिवार' से ही अधिक ठोस बनती है, इसलिए अपने देश में 'पितृ-सत्ताक-परिवार' ही मुख्य तौर पर पाये जाते हैं। इस समय हिन्दू-समाज में 'मातृ-सत्ताक-परिवार' इने-गिने स्थानों में ही पाये जाते हैं, सभ्य-समाज में, सब जगह 'पितृ-सत्ताक-परिवार' ही हैं।

४. 'पितृ-सत्ताक-परिवार' (Patriarchal family)

'पितृ-सत्ताक-परिवार' में स्त्री समान-रुधिर के लोगों में न रह कर भिन्न रुधिर के लोगों में जाकर रहने लगती है। 'मातृ-सत्ताक-परिवार' में समान-रुधिर-परिवार' (Consanguineous family) में रहकर भी विवाह-सम्बन्ध तो स्त्री का भिन्न रुधिर वाले व्यक्ति से ही होता है, परन्तु रहती वह अपने घर के लोगों के साथ ही है, वंश-परम्परा भी उसी के नाम से चलती है। जिस समाज में स्त्री अपने माता-पिता का घर छोड़ कर पति के घर, भिन्न रुधिर वालों के साथ जाकर रहने लगती है, उस समाज का परिवार 'सहयोगी-परिवार' (Conjugal family) कहलाता है। पहली प्रकार के परिवार में माता का निवास-स्थान परिवार का केंद्र था, दूसरी प्रकार में पिता का 'निवास-स्थान' परिवार का केंद्र हो जाता है, इसलिए यह परिवार 'पितृ-स्थानी' (Patrilocal) कहलाता है। इसमें वंश-परम्परा माता के नाम से न चलकर पिता के नाम से चलती है, इसलिए इसे 'पितृ-वंशी' (Patrilineal) भी कहते हैं। क्योंकि इसमें माता की जगह पिता की प्रधानता हो जाती है, इसलिए इसे 'पितृ-सत्ताक-परिवार' (Patriarchal family) कहा जाता है।

वैदिक-काल में अपने देश में 'मातृ-सत्ताक-परिवारों' के साथ-साथ 'पितृ-सत्ताक-परिवार' थे—इसमें कोई सन्देह नहीं। उदाहरणार्थ, बृहदारण्यक-

उपनिषद् (अध्याय ५, ब्राह्मण ६) में एक वंश-परम्परा दी गयी है जिसमें सब वंश पिता के नाम से चले हैं। गोपवन का पुत्र, कौशिक का पुत्र, कौण्डिन्य का पुत्र, शाण्डिल्य का पुत्र—इस प्रकार ५०–६० पिता के नाम से चले परिवारों का वहाँ वर्णन पाया जाता है। संसार की जिन सभ्यताओं में वंश-परम्परा किसी पुरुष से गिनी जाती है, वे 'पितृ-सत्ताक' हैं। प्राचीन रोम में पिता का अपने पुत्र पर निरंकुश अधिकार माना जाता था। पिता के निरंकुश अधिकार को जतलाने के लिए उसे 'पेटर फ़ेमिलिया' (Pater familia) कहा जाता था। इस निरंकुश-अधिकार को 'पेट्रिया पोटेस्टा' (Patria Potesta) कहा जाता था। पिता को अधिकार था कि वह अपने पुत्र को जेल में डाल दे, प्राणदण्ड दे या जो चाहे करे। पिता को 'पितृ-सत्ताक-परिवार' में इतना निरंकुश अधिकार था। हिन्दुओं में पिता को इतने निरंकुश अधिकार तो नहीं दिये गये, परन्तु हिन्दू-परिवार में भी पिता की स्थिति बहुत ऊँची मानी गई है।

'पितृ-सत्ताक-परिवार' से हिन्दू-स्त्री को क्या हानि हुई ?

जैसा हमने बार-बार कहा, यह नहीं कहा जा सकता कि विकास की दृष्टि से उक्त दोनों प्रकार के परिवारों में से कौन-सा पहले है, कौन-सा पीछे। हाँ, इतना कहा जा सकता है कि जहाँ-जहाँ 'मातृ-सत्ताक-परिवार' (Matriarchal family) था, वह भी धीरे-धीरे पर्यावरणों के कारण 'पितृ-सत्ताक-परिवार' (Patriarchal family) में परिवर्तित होता चला गया। अब ऐसी अवस्था आ गई है जब प्रायः सर्वत्र 'पितृ-सत्ताक-परिवार' (Patriarchal family) ही रह गये हैं, दूसरी प्रकार के नहीं रहे। परन्तु इस प्रकार के परिवार बनने से स्त्री की स्थिति में बहुत अन्तर पड़ गया है। परिवार में पुरुष की सत्ता बढ़ जाने से स्त्री की स्थिति बहुत नीचे गिर गई है। अपने माता-पिता के परिवार में वह घर की मालकिन थी, पति का उसकी सम्पत्ति में कोई अधिकार न था, न ही पति उस पर अपना रौब जमा सकता था। पहले तो वह अपने बहिन-भाई, माता-पिता के साथ थी, सब उसके अपने थे, वहाँ उसके अधिकार को छीनने वाला कोई नहीं था, यहाँ पति के घर आने पर वह अपरिचितों के बीच आ पड़ी, यहाँ उसका कोई अधिकार नहीं था। यहाँ उसे भोजन मिलता था, परन्तु उसके बदले उसे घर के सब काम-काज करने पड़ते थे। काम तो उसे अपने घर भी करने पड़ते थे, परन्तु वहाँ अपना घर समझ कर, परन्तु यहाँ विवश होकर करने पड़ते थे। 'पितृ-सत्ताक-परिवार' (Patriarchal family) में पुरुष की प्रधानता के कारण स्त्री की स्थिति जितनी भी गिर सकती थी, गिरी। स्त्री घर की दासी है, 'ढोल, गँवार, शूद्र, पशु, नारी, ये सब ताड़न के अधिकारी'—ये सब बातें हिन्दू-परिवार में पुरुष की प्रधानता के कारण उठ खड़ी हुई हैं। जैसे 'मातृ-सत्ताक-परिवार' (Matriarchal family) की एक बड़ी कमी थी, जिसके कारण यह टिक नहीं सका, पुरुष के काम-काज में लग जाने और उसे फ़ुर्सत न होने के कारण जहाँ-जहाँ 'मातृ-

सत्ताक-परिवार' था, वहाँ-वहाँ 'पितृ-सत्ताक-परिवार' ही उत्पन्न हो गया, इसी प्रकार 'पितृ-सत्ताक-परिवार' की इस कमी को, वह कमी जिसमें स्त्रियों को कोई अधिकार ही नहीं रहा, दूर करने के लिए वर्तमान-समाज में नयी-नयी योजनाएँ बन रही हैं, स्त्रियों को अधिकार दिये जाने के कानून बन रहे हैं, और समाज अपने 'पितृ-सत्ताक' परीक्षण की कमियों को दूर करने का प्रयत्न कर रहा है।

परिवार के सम्बन्ध में हमने जो-कुछ कहा, उसे चित्र में यों प्रकट कर सकते हैं :—

परिवार

१. मातृ-सत्ताक-परिवार (Matriarchal family)	१. पितृ-सत्ताक-परिवार (Patriarchal family)
२. समान-रुधिर-परिवार (Consanguineous family)	२. सहयोगी परिवार (Conjugal family)
३. मातृ-स्थानी परिवार (Matrilocal family)	३. पितृ-स्थानी परिवार (Patrilocal family)
४. मातृ-वंशी परिवार (Matrilineal family)	४. पितृ-वंशी परिवार (Patrilineal family)

२१

हिन्दू-विवाह-संस्कार

(SACRAMENT OF HINDU MARRIAGE)

१. हिन्दू-विवाह एक धार्मिक-संस्कार है

विवाह के सम्बन्ध में दो दृष्टि-कोण हैं। एक दृष्टि-कोण तो यह है कि विवाह स्त्री-पुरुष का एक ऐसा ठेका (Contract) है जिसमें स्त्री अपने ऊपर बालक की परवरिश की, और पुरुष अपने ऊपर इन दोनों को भूख-प्यास-संरक्षा आदि की जिम्मेवारी लेता है। भूख-प्यास-संरक्षा आदि मनुष्य की आधारभूत जरूरियात हैं। एक-दूसरे की इन जरूरियात को पूरा करने के लिए स्त्री-पुरुष मानो एक प्रकार का सौदा करते हैं। ठेके के साथ ठेके के टूटने का भाव भी जुड़ा रहता है। अगर वे एक-दूसरे की जरूरियात पूरी नहीं कर सकते, तो यह ठेका टूट सकता है, स्त्री-पुरुष विवाह-बंधन से छूट सकते हैं। दूसरे लोग जो बालक की सुरक्षा में जरा-सा भी खतरा मोल लेना नहीं चाहते हैं, उनका दृष्टि-कोण यह है कि विवाह कोई ठेका नहीं, यह किन्हीं शर्तों पर नहीं किया जाता, विवाह तो एक 'धार्मिक-संस्कार' (Sacrament) है, यह टूट नहीं सकता, एक बार हो गया तो हो गया, इसे आजन्म निभाना होता है।

हिन्दू-विवाह के विषय में सनातन-काल से यही धारणा चली आ रही है कि यह एक जन्म-जन्मान्तर का सम्बन्ध है, इसे तो हर हालत में निभाना ही निभाना है। जो लोग विवाह को धार्मिक-सम्बन्ध नहीं मानते वे तो 'सिविल मैरेज' कर लेते हैं, रजिस्ट्रार के यहाँ अपना विवाह रजिस्टर्ड करा लेते हैं, उन्हें किसी धार्मिक-संस्कार की जरूरत नहीं पड़ती, जो लोग विवाह को धार्मिक-संस्कार मानते हैं वे विवाह को रजिस्टर्ड नहीं कराते, वे धार्मिक-संस्कार की विधि द्वारा विवाह करते हैं। हिन्दू-विवाह एक 'धार्मिक-संस्कार' (Sacrament) है, 'ठेका' (Contract) नहीं—इस बात को मानने के मुख्य कारण निम्न हैं :—

(क) हिन्दू-विवाह का मुख्य उद्देश्य पितृ-ऋण चुकाना है—हिन्दू-सामाजिक-व्यवस्था में विवाह के तीन उद्देश्य हैं—धर्म, प्रजा तथा रति। आजकल विवाह के उद्देश्य रति, प्रजा तथा धर्म—ये उल्टे उद्देश्य समझे जाते हैं। पहला उद्देश्य विषय-भोग है, विषय-भोग के साथ सन्तान आ जाती है इसलिए यह दूसरे दर्जे का उद्देश्य है, और विवाह हो जाने तथा सन्तान उत्पन्न होने पर सामाजिक-धर्मों का, सामाजिक-व्यवहारों का पालन करना होता है, यह विवाह का तीसरे दर्जे

का उद्देश्य है, परन्तु हिन्दू-व्यवस्था के अनुसार विवाह का सब से प्रथम उद्देश्य धर्म का पालन है, दूसरा उद्देश्य प्रजा अर्थात् सन्तान की प्राप्ति है और तीसरे दर्जे का उद्देश्य विषय-भोग है। यह समझा जाता है कि मनुष्य संसार म तीन ऋणों से दबा हुआ है—ऋषि-ऋण, देव-ऋण तथा पितृ-ऋण। हमारे प्राचीन ऋषियों ने ज्ञान-सम्पादन करके हम तक पहुँचाया, उन ऋषियों के प्रति हम ऋणी हैं, समाज के विद्वान् लोग हमारे लिए सामाजिक-व्यवहार को बनाये रखते हैं, इसलिए इन देवों के हम ऋणी हैं, माता-पिता ने हमें जन्म दिया, इसलिए हम माता-पिता के भी ऋणी हैं। माता-पिता के प्रति हमारा ऋण पितृ-ऋण है। जैसे उन्होंन हमें जन्म दिया वैसे हमें भी विवाह करके सन्तान के क्रम को आगे-आगे चलाना है, वंश-सूत्र को टूटने नहीं देना, इस दृष्टि से विवाह करके सन्तति-प्रवाह को जारी रखना हमारा धर्म है। पितृ-ऋण चुकाना एक धार्मिक-कर्त्तव्य है जो विवाह को ठेका मान कर नहीं, अपितु एक धार्मिक-संस्कार मान कर ही पूरा हो सकता है।

(ख) विवाह के बिना स्वर्ग प्राप्त नहीं होता—हिन्दू के जीवन के उद्देश्य धर्म, अर्थ, काम तथा मोक्ष—ये चार हैं। वह जो-कुछ करता है धर्म के लिए, अर्थ के लिए, काम के लिए और मोक्ष के लिए करता है। सब कार्यों का अन्तिम लक्ष्य मोक्ष है। हिन्दू-विचार के अनुसार विवाह न करने से मोक्ष-प्राप्ति नहीं होती। महाभारत में (१२।१०।२२-२५) लिखा है कि यदि गृहस्थाश्रम के त्याग से कोई सिद्धि पा सके तो पहाड़ और पेड़ तुरन्त सिद्धि प्राप्त कर लें क्योंकि वे नित्य संन्यासी और निरन्तर ब्रह्मचारी होते हैं। महाभारत (१।१३; १।४५) में जरत्कारु ऋषि की कथा का वर्णन है। लिखा है कि उन्होंने विवाह नहीं किया किन्तु अपने पितरों की दुर्दशा देख कर उन्हें विवाह करना पड़ा। इसी प्रकार महाभारत (९।५२) में लिखा है कि कुणिगर्ग की कन्या ने जीवन-पर्यन्त घोर तप किया, बूढ़ी होने पर अपने अब तक के तप के आधार पर स्वर्ग जाना चाहा, परन्तु नारद जी ने उससे कहा कि अविवाहिता कन्या को स्वर्ग नहीं मिलता। तब अपने तप का आधा हिस्सा शृंगवान् को देकर उसने उससे शादी की और शादी करने के बाद उसे स्वर्ग मिला। हम पहले लिख आये हैं कि नम्बूद्री ब्राह्मणों में जो कन्या अविवाहिता रह जाती है उसके मरने पर उसका विवाह करने पर ही उसका दाह-संस्कार किया जाता है। इस प्रथा का उक्त कारण ही है। इससे भी स्पष्ट है कि हिन्दू-विवाह एक धार्मिक-संस्कार है।

(ग) पितरों की पूजा तथा पिंड-दान के लिए पुत्र होना तथा पुत्र के लिए विवाह होना आवश्यक है—हिन्दू-व्यवस्था के अनुसार यह समझा जाता है कि मरने के बाद मनुष्य पितरों की श्रेणी में चला जाता है, और जबतक पुत्र द्वारा पितरों का पिंड-दान देकर तर्पण नहीं होता तबतक पितरों का उद्धार भी नहीं होता। पितरों को पिंडदान देने के लिए पुत्र की आवश्यकता है और इसी लिए पुत्र की व्याख्या करते हुए कहा गया है—'पुं नामक नरक से त्राण करने वाला पुत्र

है—'पुंनाम्नः नरकात् त्रायते इति पुत्रः।' इस दृष्टि से भी हिन्दू-विवाह एक धार्मिक संस्कार है, ठेका नहीं।

(घ) धार्मिक विधि-विधान—हिन्दू-विवाह एक धार्मिक-संस्कार है, ठेका नहीं, इसी लिए इसमें संस्कार के तौर पर अनेक ऐसे विधि-विधान किये जाते हैं, जिनसे हिन्दू-विवाह की धार्मिकता की नींव दृढ़ हो जाती है। उदाहरणार्थ, संस्कार में वेद-मंत्र पढ़े जाते हैं, अग्नि को साक्षी रख कर विवाह किया जाता है, विवाह में फेरे, सप्तपदी आदि विधियां की जाती हैं, सगे-सम्बन्धियों को बुला कर सब के सामने संस्कार किया जाता है। यह सब-कुछ इसलिए किया जाता है क्योंकि हिन्दू के लिए विवाह इसी जन्म का सम्बन्ध नहीं, यह जन्म-जन्मान्तर का अटूट सम्बन्ध है।

हिन्दुओं में विवाह का जो धार्मिक-संस्कार किया जाता है उसकी रूप-रेखा हम नीचे दे रहे हैं। यह विधि पारस्कर गृह्य-सूत्र कां० १, कं० ३, सू० ४ में दी गई है।

२. वधू द्वारा वर का स्वागत

हिन्दुओं में वर-पक्ष के लोग बरात लेकर वधू-पक्ष के शहर में जाते हैं। जब विवाह-संस्कार का समय होता है तब वर अपने निवास-स्थान पर और कन्या अपने निवास-स्थान पर स्नान करके संस्कार के लिए तैयार होते हैं। स्नान करके वर जहाँ ठहरा हुआ है वहाँ ईश्वर-स्तुति, स्वस्तिवाचन तथा शांति-प्रकरण के मंत्रों द्वारा यज्ञ किया जाता है, इसी प्रकार कन्या के घर में ईश्वर-स्तुति, स्वस्तिवाचन तथा शान्ति-प्रकरण के मंत्रों द्वारा यज्ञ होता है। इसके बाद संस्कार के लिए निश्चित समय पर वर-पक्ष के लोग जुलूस बनाकर कन्या के घर पर गाजे-बाजे के साथ आते हैं जहाँ कन्या द्वारा वर का स्वागत किया जाता है। स्वागत के मुख्य-मुख्य अंग निम्न हैं:

(क) आसन देना[1]—कन्या यज्ञ-वेदी के पास आकर वर को कहती है, आइये, हम आपका स्वागत करते हैं, और आसन देकर[2] कहती है कि लीजिये, इस आसन को ग्रहण कीजिये, इस पर विराजिये। इसके बाद वर कन्या के हाथ से आसन लेकर उस पर बैठ जाता है।

(ख) पैर धोने के लिए जल देना[3]—जब वर आसन पर बैठ जाता है तब कन्या उसे एक पात्र में जल लेकर उसे पैर धोने के लिए जल देती है। पवित्र-कार्यों के लिए जल से पैर धोने की प्रथा हिन्दू-समाज में चिर-काल से चली आती है, वही विधि इस समय की जाती है। इसके बाद वर कन्या से जल-पात्र लेकर पाँव पर छींटे देता है जिसका अर्थ पाँव धोने से है।

---

१. साधु भवान् आस्ताम्, अर्चयिष्यामो भवन्तम्।
२. ओं विष्टरो विष्टरो विष्टरः प्रतिगृह्यताम्।
३. ओं पाद्यं पाद्यं पाद्यं प्रतिगृह्यताम्।

(ग) मुख धोने के लिए जल देना[1]—पाँव धोने के बाद कन्या वर को मुख प्रक्षालन के लिए जल का पात्र देती है। इसे अर्घ-जल कहा जाता है। वर कन्या के हाथ से अर्घ-जल का पात्र लेकर मुख पर छींटा देता है जिसका अर्थ है—मुख-धोना।

(घ) आचमन के लिए जल देना[2]—हाथ-पाँव तथा मुख धोने के बाद अब कन्या वर को आचमन करने के लिए जल-पात्र देती है और वर उस पात्र को लेकर तीन बार आचमन करता है।

(ङ) मधु-पर्क से सत्कार[3]—आचमन कर लेने के बाद कन्या वर का मधुपर्क से सत्कार करती है। मधुपर्क बनाने के लिए १२ तोले दही में ४ तोले शहद और ४ तोले घी मिलाया जाता है। यह काँसे के पात्र में दिया जाता है। वर कन्या से मधुपर्क लेकर उसे थोड़ा-सा खा लेता है और मधुपर्क के छींटे चारों दिशाओं में फेंकता है।

(च) गोदान से सत्कार[4]—वर का इतना सत्कार कर लेने के बाद कन्या की तरफ़ से वर को गोदान दिया जाता है। आजकल लोग गौ देने के स्थान में या तो गौ के दाम के रुपए दे देते हैं या गोदान का नाम लेकर ५–१० रुपए वर को दे देते हैं। वर भी कहता है कि मैं आपके दिए इस गोदान को ग्रहण करता हूँ।

(छ) कन्या-दान से सत्कार[5]—इतना सब-कुछ कर लेने के बाद कन्या के माता-पिता वर का दायाँ हाथ चत्ता अर्थात् हथेली ऊपर करके उसके हाथ में कन्या का दाहिना हाथ चत्ता रख के वर से कहते हैं कि अमुक गोत्र में उत्पन्न अमुक नाम की इस अलंकृत कन्या को आप ग्रहण कीजिये। इसका उत्तर देते हुए वर कहता है कि मैं ग्रहण करता हूँ।

ऊपर वर के सत्कार की जो विधि लिखी गई है वह कई दृष्टियों से महत्त्वपूर्ण है। इसमें हिन्दुओं की सत्कार की प्राचीन-प्रथा का दिग्दर्शन हो जाता है। जब कोई आये, तो उसे सत्कार-पूर्वक बैठाना, हाथ-पैर धोने के लिए पानी देना, जल-पान में जल अथवा दही आदि देना उस समय की प्रथाएँ विवाह-संस्कार में आज भी सुरक्षित चली आ रही हैं। इसके अतिरिक्त विवाह के समय गोदान देना बहुत महत्त्वपूर्ण है। आज तो हम चाय का सेट देते हैं, प्राचीन काल के हिन्दू लोग गाय देते थे, तभी तो दूध-दही खाकर उन लोगों के शरीर हृष्ट-पुष्ट होते थे। इसका अर्थ यह भी लगाया जाता है कि जिस समय यह प्रथा चली उस समय हिन्दू-

१. ओम् अर्घोऽर्घोऽर्घः प्रतिगृह्यताम्।
२. ओम् आचमनीयम् आचमनीयम् आचमनीयम् प्रतिगृह्यताम्।
३. ओम् मधुपर्को मधुपर्को मधुपर्कः प्रतिगृह्यताम्।
४. ओम् गौः गौः गौः प्रतिगृह्यताम्।
५. ओम् अमुकगोत्रोत्पन्नां इमाम् अमुकनाम्नीम् अलंकृतां कन्यां प्रतिगृह्णातु भवान्।

लोग कृषि-सभ्यता में से गुज़र रहे थे, गौ ही उस समय की सम्पत्ति थी, इसलिए दहेज के तौर पर जैसे आज अन्य वस्तुएँ दी जाती हैं वैसे उस समय गौ दी जाती थी, क्योंकि यही उस समय की सम्पत्ति थी। हिन्दुओं में अपने गोत्र में विवाह का निषेध था इसलिए इस संस्कार में यह घोषित करना पड़ता है कि कन्या का अमुक गोत्र है।

३. वर द्वारा वधू का स्वागत

वर का जब स्वागत हो चुकता है और कन्या-दान हो चुकता है, तब वर की ओर से वधू का सत्कार किया जाता है। वर-वधू को हाथ का कता और हाथ का बुना कपड़ा पहनने को देता है। वर का दिया हुआ कपड़ा वधू लेकर पहनती है। वर वधू को हाथ का कता और हाथ का बुना हुआ[1] कपड़ा पहनने को देता है—इसका अर्थ यही हो सकता है कि जिस काल में यह प्रथा चली उस समय कपड़े का व्यवसाय एक गृहोद्योग का व्यवसाय था और इस व्यवसाय का प्रधान कार्य स्त्रियां करती थीं क्योंकि हाथ का कता-बुना होने के साथ इस मंत्र में यह भी लिखा है कि इस कपड़े को स्त्रियों ने कता-बुना है। इसका यह भी अर्थ हो सकता है कि स्त्री को इस बात की प्रेरणा दी गई है कि जैसे हम अपने घर की स्त्रियों से कतवा और बुनवा कर कपड़ा लाये हैं वैसे तुम भी कातना-बुनना करती रहना। जो-कुछ हो, यह प्रथा उस समय की सामाजिक-अवस्था पर पर्याप्त प्रकाश डालती है।

४. यज्ञ की तैयारी तथा यज्ञ

इसके बाद विवाह के यज्ञ की तैयारी शुरू हो जाती है। इस तैयारी में भी अनेक प्रक्रियाओं को करना होता है। वे प्रक्रियाएँ क्या हैं?

(क) पुरोहित की नियुक्ति—ऊपर जिस आदर-सत्कार का वर्णन किया गया है वह पुरोहित कराये तो उसे कार्यकर्ता कहा जायगा। वह न कराये तो वर तथा कन्या स्वयं कर सकते हैं। वर तथा कन्या नहीं करते, इसलिए उक्त विधि कार्यकर्ता के रूप में पुरोहित ही कराता है। परन्तु अब विवाह का असली संस्कार शुरू होता है। इस संस्कार को कराने के लिए वही कार्यकर्ता अब बाकायदा पुरोहित बनकर कार्य कराता है। पुरोहित की बाकायदा नियुक्ति होती है, स्पष्ट शब्दों में कहा जाता है कि मैं इस विवाह-कार्य के लिए आपको पुरोहित नियुक्त करता हूँ। यह पुरोहित जो संस्कार कराता है वह बाकायदा कानूनी-कार्यवाही समझी जाती है।

(ख) कलश की स्थापना—यज्ञ प्रारम्भ होने के साथ ही वर-पक्ष का एक पुरुष शुद्ध वस्त्र धारण करके जल से पूर्ण एक कलश को लेकर कुण्ड के दक्षिण भाग में उत्तर की तरफ मुख करके बैठे। जब तक यज्ञ पूर्ण न हो जाय तब तक यह व्यक्ति जल के कलश के पास ही बैठा रहे। यह विधि शायद इस आशय से हो कि अगर कहीं आग लगे तो एकदम वह पानी से उसे बुझा दे।

---

१. ओं या अकृतन् अवयन् या अतन्वत याश्च देवीः तन्तून् अभितो ततन्थ।
तास्त्वा देवीः जरसे संव्ययस्व आयुष्मती इदं परिधत्स्व वासः॥

(ग) यज्ञ का प्रारम्भ—पुरोहित के नियुक्त हो जाने के बाद वह यज्ञ की अग्नि प्रदीप्त करता है और बाकायदा अग्निहोत्र के मन्त्रों को उच्चारण कर अग्नि में घृत तथा सामग्री की आहुतियाँ दी जाती हैं। इस यज्ञ में १६ आज्याहुति, जया-होम की १३ आज्याहुति, अभ्यातन होम की १८ आज्याहुति, ८ विशेष आज्याहुति, ४ साधारण आज्याहुति—इस प्रकार यज्ञ की अग्नि में घी की आहुतियाँ दी जाती हैं। घी की आहुति का नाम ही 'आज्याहुति' है। प्रत्येक घी की आहुति के लिए अलग-अलग मंत्र हैं। यह सारा यज्ञ पुरोहित कराता है और वही इन मंत्रों को बोलता है। अग्नि में घी की आहुति वर डालता जाता है।

५. पाणि-ग्रहण

हिन्दू विवाह-संस्कार का विशेष आरम्भ पाणि-ग्रहण के छः मंत्रों[1] से होता है। पाणि-ग्रहण में वर वधू का हाथ पकड़ता है। वर द्वारा वधू के हाथ पकड़ने की विधि युरोपियन जातियों में भी किसी-न-किसी रूप में पायी जाती है। हिन्दू-संस्कार में पाणि-ग्रहण के समय वर वधू के सामने खड़ा होकर उसका हाथ पकड़ कर छः मंत्र बोलता है। इस समय वधू अपने आसन पर बैठी रहती है, वर जरा नम कर उसका हाथ पकड़ता है। पाणिग्रहण के मंत्र बहुत महत्त्वपूर्ण हैं, इनमें जो-कुछ कहा गया है वह गृहस्थाश्रम के लिए एक तरह से आदर्श है। इन मंत्रों में क्या कहा गया है?

पहले मंत्र में कहा गया है कि मैं तेरे सौभाग्य के लिए तेरा हाथ ग्रहण करता हूँ। तू मुझ पति के साथ बुढ़ापे तक सुखपूर्वक रहना। भग, अर्यमा, सविता, पुरन्धिः तथा अन्य देवताओं ने गृहस्थाश्रम धर्म निबाहने के लिए तुझे मेरे सुपुर्द किया है।

दूसरे मंत्र में कहा गया है कि तेरा हाथ मैंने क्या पकड़ा है मानो ऐश्वर्य ने तेरा हाथ पकड़ा है, सविता अर्थात् संसार में उत्पादन का कार्य करने वाली शक्ति ने तेरा हाथ पकड़ा है, तू मेरी धर्म की पत्नी है और मैं तेरे घर का पति हूँ।

तीसरे मंत्र में कहा गया है कि तू मेरी पोष्य है, मेरा धर्म तेरा पोषण करना है, बृहस्पति ने तुझे मुझे दिया है। मुझ पति के साथ सन्तान उत्पन्न करती हुई सौ बरस तक जीना।

इसी प्रकार छहों मंत्रों में पुरुष के स्त्री के प्रति कर्त्तव्यों को बड़े रोचक भावों में प्रकट किया गया है।

१. ओं गृभ्णामि ते सौभगत्वाय हस्तं मया पत्या जरदष्टिर्यथासः।
भगो अर्यमा सविता पुरन्धिः मह्यं त्वादुः गार्हपत्याय देवाः ॥
ऋ० १०।८५।३६

ओं भगस्ते हस्तमग्रभीत् सविता हस्तमग्रभीत्।
पत्नी त्वमसि धर्मणा अहं गृहपतिस्तव ॥ अथर्व० १४।१।५२

ओं ममेयम् अस्तु पोष्या मह्यं त्वा अदाद् बृहस्पतिः।
मया पत्या प्रजावति शं जीव शरदः शतम् ॥ अथर्व० १४।१।५२

६. अग्नि की परिक्रमा

प्राणि-ग्रहण के उक्त छः मंत्रों के बाद वर वधू का हाथ पकड़ कर उठाता है और दोनों प्रदीप्त यज्ञ-कुण्ड की प्रदक्षिणा करते हैं। जब ये दोनों प्रदक्षिणा कर रहे होते हैं उस समय पानी के कलश वाला व्यक्ति इनके पीछे-पीछे पानी का कलश लेकर चलता है। इसका यही अर्थ हो सकता है कि कहीं असावधानी से किसी के वस्त्र में आग लग गई तो वह एकदम पानी से उसे बुझा सके। अग्नि की इस प्रदक्षिणा को करते हुए अग्नि को साक्षी रखकर वर-वधू एक-दूसरे को कहते हैं :

मैं यह हूँ, तू वह है, तू वह है मैं यह हूँ; मैं सामवेद हूँ, तू ऋग्वेद है; मैं द्यु-लोक हूँ, तू पृथिवी लोक है; हम दोनों विवाह करें, प्रजा को उत्पन्न करें, हमारे अनेक पुत्र हों, वे पुत्र दीर्घ आयु के हों, प्यारे पुत्र हों, तेजवान् पुत्र हों, मनस्वी पुत्र हों। हम और हमारे पुत्र सौ साल तक देखते-सुनते रहें, सौ साल तक हम लोग जीते रहें।[1]

७. शिलारोहण

इसके बाद वधू की माता या भाई उसका दायाँ पैर उठाकर पास रखी शिला पर रखता है और कहता है कि तू इस शिला पर पाँव रख, शिला की तरह स्थिर वृत्ति की होना। लड़ाई-झगड़ा करने वालों को दबा कर रखना और स्वयं इस शिला की तरह स्थिर बनना।[2]

८. लाजा-होम या चार फेरे

शिलारोहण के बाद लाजा-होम की विधि है। हिन्दू-विवाह के लिए फेरे तथा सप्तपदी दो आवश्यक अंग हैं। लाजा-होम ही फेरे कहलाते हैं। लाजा-होम में वर-वधू दोनों पूर्व की तरफ़ मुंह करके खड़े हो जाते हैं। वर की हस्तांजलि पर वधू अपनी दक्षिण हस्तांजलि रक्खे। फिर वधू का भाई या माँ सूप में धान की खीलें लेकर खड़े हो जायें और इन खीलों में से कुछ खीलें इन दोनों की मिली अंजलि में डालें। अब इन खीलों को वर-वधू यज्ञ-कुंड की प्रज्वलित अग्नि में डालें। इन खीलों के द्वारा जो होम किया जाता है उसे लाजा-होम कहते हैं। लाजा-होम करते हुए जो मन्त्र[3] बोले जाते हैं, उनका आशय है :

१. ओं अमोहमस्मि सा त्वं सा त्वमस्यमोहं सामाहमस्मि ऋक्त्वं द्यौरहं पृथिवी त्वं तावेव विवहावहै सह रेतो दधावहै। प्रजां प्रजनयावहै पुत्रान् विन्दावहै बहून्। ते सन्तु जरदष्टयः रोचिष्णू सुमनस्यमानौ। पश्येम शरदः शतं जीवेम शरदः शतं श्रृणुयाम शरदः शतम् ॥
अथर्व० १४।२।७१।

२. ओम् आरोह इमम् अश्मानम् अश्मेव त्वं स्थिरा भव।
अभितिष्ठ पृतन्यतः अवबाधस्व पृतनायतः। पारस्कर गृह्य सूत्र १।६।

३. ओम् अर्यमणं देवं कन्या अग्निमयक्षत।
स नो अर्यमा देवः प्रेतो मुञ्चतु मा पतेः स्वाहा ॥

कन्या अग्निरूप परमात्मा की पूजा करती हुई कहती है कि वह परमात्म-देव मुझे अपने पिता के कुल से छुड़ावे और पति के कुल से न छुड़ावे।

इन खीलों को अग्नि में डालती हुई यह नारी कहती है कि मेरा पति आयुष्मान् होवे और मेरे कुटुम्ब के सगे-सम्बन्धी समृद्ध हों।

हे पति ! मैं तेरी समृद्धि के लिए इन खीलों को अग्नि में छोड़ती हूँ। मेरा और तेरा परस्पर अनुराग हो और इस अनुराग में पूजनीय परमात्मा हमारे लिए सहायक हों।

लाजा-होम के बाद अग्नि-कुंड के चार फेरे किये जाते हैं, और इन फेरों में आगे-आगे वधू, पीछे वर और इन दोनों के पीछे जल का कलश लिये हुए एक व्यक्ति चलता है। हर फेरे के बाद खीलों को यज्ञ की अग्नि में डाला जाता है।

लाजा का अर्थ है धान की खील। विवाह के समय धान की खील को हिन्दुओं ने इतना शुभ क्यों माना है ? इसके अतिरिक्त चार बार यज्ञ की प्रदक्षिणा करके फेरों का इतना महत्त्व क्यों गिना गया है ? फेरे चार बार क्यों किये जाते हैं ? इन सब बातों के कुछ-न-कुछ कारण तो अवश्य रहे होंगे। ऐसा प्रतीत होता है कि यह सब-कुछ किसी भावना के प्रतीक हैं। धान फूल कर कब खील बन जाती है ? जब इसे आग का सेक मिलता है। इसी प्रकार पति-पत्नी को जब एक-दूसरे का प्रेम मिलता है तब वे खील के समान प्रफुल्ल हो उठें—यह खील का अभिप्राय प्रतीत होता है। फेरों का अर्थ है यज्ञ वेदी के चारों तरफ़ बैठे समाज के सम्मुख आना जिससे सब अच्छी तरह से देख सकें कि किन का विवाह हो रहा है, चारों तरफ़ बैठा समाज इन दोनों को पहचान ले। विवाह जन्मभर का साथ है। इसमें कई झगड़े भी उठ सकते हैं। कभी-कभी गवाही की भी जरूरत होती है। आजकल रजिस्ट्री से जो विवाह होते हैं उनमें भी गवाही की जरूरत होती है। हिन्दुओं में विवाह के कागज पर रजिस्ट्री तो नहीं होती थी, परन्तु वे विवाह के समय अपने जान-पहचान के एक-दो को नहीं, सब लोगों को बुला कर उनके सामने विवाह करते थे, और बार बार उनको अपना मुंह दिखलाते थे जिससे सब लोग विवाह करने वाले इन दोनों वर-वधू को पहचान जावें। फेरे का यही अभिप्राय हो सकता है। बार बार फेरे का यह अर्थ प्रतीत होता है कि सब लोग इन दोनों को बार बार देख लेने के कारण अच्छी तरह पहचान जायें। फेरों को मंगल-फेरा भी कहा जाता है। फेरों के समय घर के लोग गीत गाते हैं। जब फेरे हो जायें तब समझा जाता है कि विवाह हो गया। फेरों का हो जाना हिन्दुओं में कानूनी तौर पर विवाह का हो जाना माना जाता है।

ओम् इयं नारी उपब्रूते लाजानावपन्तिका।
आयुष्मानस्तु मे पतिः एधन्तां ज्ञातयो मम स्वाहा॥
ओम् इमान् लाजान् आवपामि अग्नौ समृद्धिकरणं तव।
मम तुभ्यं च संवननं तदग्निरनुमन्यतामियम् स्वाहा।

९. सप्तपदी

फेरों के बाद सप्तपदी की विधि की जाती है। फेरों की तरह यह भी हिन्दू-विवाह का प्रधान अंग है। सप्तपदी में वर-वधू उठकर खड़े हो जाते हैं। यज्ञ-कुण्ड के उत्तर-भाग में खड़े होकर वर अपना दाहिना हाथ वधू के दाहिने कन्धे पर रखता है। दोनों का मुख उत्तर की तरफ़ होता है। तब कुछ मन्त्र[1] बोल कर वर और वधू एक-साथ सात कदम चलते हैं।

पहला कदम वर-वधू एक-साथ रखते हुए वर कहता है—'अन्न' के लिए यह पहला कदम हम एक-साथ रखते हैं, तेरा मन मेरे मन के अनुकूल हो, परमात्मा तुझे मेरे अनुकूल बनाये, हम दोनों मिलकर बहुत-से पुत्रों को प्राप्त करें और वे वृद्धावस्था तक जीने वाले हों।

दूसरा कदम वर-वधू एक-साथ रखते हुए वर कहता है—'ऊर्ज' (शारीरिक-बल) के लिए यह दूसरा कदम हम एक-साथ रखते हैं, तेरा मन मेरे मन के अनुकूल हो, परमात्मा तुझे मेरे अनुकूल बनाये, हम दोनों मिलकर बहुत-से पुत्रों को प्राप्त करें और वे वृद्धावस्था तक जीने वाले हों।

तीसरा कदम वर-वधू एक-साथ रखते हुए वर कहता है—'रायस्पोष' (धन) के लिए यह तीसरा कदम हम एक-साथ रखते हैं, तेरा मन मेरे मन के अनुकूल हो—इत्यादि-इत्यादि।

चौथा कदम वर-वधू एक-साथ रखते हुए वर कहता है—'मयोभव' (सुख) के लिए यह चौथा कदम हम एक-साथ रखते हैं, तेरा मन—इत्यादि-इत्यादि।

पाँचवाँ कदम वर-वधू एक-साथ रखते हुए वर कहता है—'प्रजा' (सन्तान) के लिए यह पाँचवाँ कदम हम एक-साथ रखते हैं, तेरा मन—इत्यादि-इत्यादि।

छठा कदम वर-वधू एक-साथ रखते हुए वर कहता है—'ऋतुओं' (चारों तरफ़ की प्राकृतिक परिस्थिति) के लिए यह छठा कदम हम एक-साथ रखते हैं, तेरा मन—इत्यादि-इत्यादि।

सातवाँ कदम वर-वधू एक-साथ रखते हुए वर कहता है—'सखापन' (मैत्री-भाव) के लिए यह सातवाँ कदम हम एक-साथ रखते हैं—इत्यादि-इत्यादि।

---

१. ओम् इषे एकपदी भव सा माम् अनुव्रता भव विष्णुस्त्वानयतु पुत्रान् विन्दावहै बहून् ते सन्तु जरदष्टयः।

ओम् ऊर्जे द्विपदी भव सा माम्—इत्यादि ऊपर का ही भाग आगे चलता है।

ओं रायस्पोषाय त्रिपदी भव सा माम्—इत्यादि ऊपर का ही भाग आग चलता है।

ओं मयोभवाय चतुष्पदी भव सा माम्—इत्यादि।

ओं प्रजाभ्यः पंचपदी भव सा माम्—इत्यादि।

ओं ऋतुभ्यः षट्पदी भव सा माम्—इत्यादि।

ओं सखे सप्तपदी भव सा माम्—इत्यादि।

विवाह के समय वर-वधू का सात पाँव एक-साथ चलना भी किसी भाव का ही प्रतीक है। पहले तो एक-साथ चलना, फिर सात कदम चलना—ये दोनों बातें विचारणीय हैं। हिन्दू-शास्त्रों में गृहस्थ को एक आश्रम कहा गया है, यह एक मंज़िल है। मंज़िल तक पहुँचने के लिए खड़े रहने से तो काम नहीं चलता, मंज़िल की तरफ़ चलना पड़ता है। सप्तपदी का अभिप्राय यह है कि वर-वधू दोनों को इस बात की प्रतीति कराई जाती है कि यह आश्रम आराम से लेट रहने का नहीं है, इस आश्रम के कुछ उद्देश्य हैं, प्रयोजन हैं, उन प्रयोजनों को सिद्ध करने के लिए चलना होगा, दोनों को अलग-अलग नहीं एक-साथ चलना होगा, कदम-से-कदम मिलाकर आगे बढ़ना होगा, तभी वे इस आश्रम के उद्देश्य को पा सकेंगे। किन बातों के लिए एक-साथ चलना होगा? उन बातों का वर्णन इन सात मंत्रों में कर दिया गया है। वे बातें हैं—अन्न, बल, धन, सुख, सन्तान, प्राकृतिक परिस्थिति तथा सामाजिक परिस्थिति। दोनों को मिल कर अन्न प्राप्त करना होगा, दोनों को मिल कर शारीरिक बल का सम्पादन करना होगा, दोनों को मिल कर धन का विनियोग और व्यय करना होगा, दोनों को मिल कर एक-दूसरे के सुख-दुःख में शरीक होना होगा, दोनों को मिल कर सन्तान का पालन करना होगा, दोनों को मिल कर प्राकृतिक परिस्थिति तथा सामाजिक परिस्थिति का सामना करना होगा। ऋतु अनुकूल भी होती हैं, प्रतिकूल भी होती हैं, मित्र अनुकूल होते हैं, प्रतिकूल होते हैं—ये सब एक-दूसरे के लिए बराबर रहेंगे और इन सब परिस्थितियों में दोनों को एक-दूसरे का हाथ बँटाना होगा।

१०. सूर्यावलोकन

सप्तपदी के बाद वर-वधू सूर्य के दर्शन करते हैं और दर्शन करते हुए मन्त्र[1] बोलते हैं—यह सूर्य मानो भगवान् का चक्षु है, उसकी आँख है, यह सामने उदय हो रहा है। हमें जीवन-पर्यन्त भगवान् की यह आँख देखती रहे, उसकी आँख से हमारा कोई काम छिप ही कैसे सकता है। भगवान् की इस आँख के सामने हम सौ बरस तक देखते रहें, सौ बरस तक जीते रहें, सौ बरस तक सुनते रहें, सौ बरस तक बोलते-चालते रहें, सौ बरस तक अदीन हों, दीन-दुःखी न हों, सौ बरस तक हम ऐसे ही रहें।

११. हृदय-स्पर्श

सूर्यावलोकन के बाद वर-वधू के हृदय का स्पर्श करता हुआ कहता है[2]—तेरे हृदय की बात को पूरा करना मैं अपना व्रत समझूंगा, मेरा चित्त तेरे चित्त के

---

१. ओं तच्चक्षुर्देवहितं पुरस्तात् शुक्रमुच्चरत्। पश्येम शरदः शतं जीवेम शरदः शतं शृणुयाम शरदः शतं प्रब्रवाम शरदः शतम् अदीनाः स्याम शरदः शतं भूयश्च शरदः शतात्॥

२. ओं मम व्रते ते हृदयं दधामि मम चित्तमनु चित्तं ते अस्तु। मम वाचमेकमना जुषस्व प्रजापतिष्ट्वा नियुनक्तु मह्यम्॥

अनुकूल हो, मेरी वाणी को तू एकमन होकर सुनना, प्रजापति तुझे मेरे साथ सदा बांधे रखे।

इस प्रकार वर-वधू सोचने-विचारने में, हार्दिक-भावों में एक-दूसरे के निकट आने की प्रतिज्ञा करते हैं। इस मन्त्र को पढ़ कर वर फिर कहता[1] है--यह मंगल करने वाली वधू है। आइये, आप लोग इसके दर्शन कीजिये। आप लोग सौभाग्य का आशीर्वाद देकर अपने घरों को जाइयेगा।

यह मंत्र ऋग्वेद का है। इसमें स्पष्ट लिखा है कि आप सब इस वधू को आकर देखिये---'इमां समेत पश्यत'। सब को आकर वधू के दर्शन करने का निमन्त्रण और इस सारे विवाह-संस्कार का भारी जनता में किया जाना इस बात को सिद्ध करता है कि हिन्दू-विवाह-संस्कार में जो पारस्कर गृह्य-सूत्र द्वारा किया जाता है पर्दे को कोई स्थान नहीं है।

१२. ध्रुव तथा अरुन्धती दर्शन

हिन्दू-विवाह की विधि में अन्तिम प्रक्रिया ध्रुव तथा अरुन्धती---इन दो तारों का दर्शन है। ध्रुव तारे और अरुन्धती तारे के दर्शन का क्या अभिप्राय है? ध्रुव तारा अपने स्थान को नहीं बदलता, वह ध्रुव रहता है, अपने स्थान पर स्थिर रहता है। वर को ध्रुव तारा दिखा कर उसे कहा जाता है कि तुम अपने व्रत में ध्रुव रहना, स्थिर रहना, ध्रुव तारे को अपना आदर्श बनाना। इसी प्रकार वधू को अरुन्धती तारे के दर्शन कराये जाते हैं। अरुन्धती तारा वसिष्ठ तारे के साथ रहता है। अरुन्धती स्त्री-वाची शब्द है। जैसे नक्षत्रों में अरुन्धती सदा वसिष्ठ तारे के साथ रहती है वैसे तुम भी पति के साथ रहना---यह अरुन्धती-दर्शन का अभिप्राय है। इसके अतिरिक्त वसिष्ठ तारा सप्तर्षिमंडल में एक तारा है। जैसे सप्तर्षियों में वसिष्ठ है, अपने सप्तर्षि परिवार में बना रहता है, उसके साथ अरुन्धती बनी रहती है, वैसे वर अपने परिवार में बना रहे और वधू पति के साथ अरुन्धती की तरह बनी रहे---यही इस सब का अभिप्राय है।

१. ओं सुमंगलीरियं वधूः इमां समेत पश्यत।
सौभाग्यमस्यै दत्त्वा यथास्तं विपरेतन॥

२२

हिन्दू-विवाह के भिन्न-भिन्न रूप तथा प्रथाएँ

(VARIOUS FORMS AND CUSTOMS OF HINDU MARRIAGE)

हिन्दू-विवाह-संस्कार का क्या रूप है—यह हमने देखा। यह संस्कार तो आजकल प्रचलित विवाह में पाया जाता है। प्रचलित-विवाह हिन्दुओं के आठ प्रकार के प्राचीन विवाहों में से एक है। प्राचीन-काल में जो आठ प्रकार के विवाह हिन्दू-समाज में पाये जाते थे, उनमें से एक का नाम 'ब्राह्म-विवाह' था। आजकल का विवाह 'ब्राह्म-विवाह' ही है, परन्तु मनुस्मृति तथा याज्ञवल्क्य-स्मृति के अनुसार इन स्मृतियों के काल में जो विवाह प्रचलित थे, वे क्या थे?

१. प्राचीन-भारत में विवाह के आठ प्रकार

मनु, याज्ञवल्क्य तथा नारद स्मृति में विवाह के आठ प्रकार कहे गये हैं। इन आठों का वर्णन करते हुए मनुस्मृति (३-९) में लिखा है:

ब्राह्मो दैवस्तथैवार्षः प्राजापत्यस्तथासुरः।
गान्धर्वो राक्षसश्चैव पैशाचश्चाष्टमोऽधमः॥

अर्थात्, विवाह के आठ प्रकार हैं—ब्राह्म, दैव, आर्ष, प्राजापत्य, आसुर, गान्धर्व, राक्षस तथा पैशाच। इनमें से पहले चार उत्तम विवाह माने जाते हैं, इन्हें धर्म-विवाह कहा गया है, अन्तिम चार अधम तथा निकृष्ट माने जाते हैं, इन्हें अधर्म-विवाह कहा गया है। इन आठों का स्वरूप निम्न प्रकार है:—

(क) ब्राह्म-विवाह—मनुस्मृति (३-२७) के अनुसार ब्राह्म-विवाह में कन्या का पिता योग्य, सुशील, विद्वान् युवक को ढूंढ कर उसे अपने घर पर आमन्त्रित करता है और धार्मिक-संस्कार कर के कन्या का उस वर को दान करता है। इस विवाह के आवश्यक तत्त्व तीन हैं—माता-पिता की स्वीकृति, विवाह-संस्कार तथा दहेज का न देना। दहेज का न देना इसलिए क्योंकि मनुस्मृति में लिखा है कि ब्राह्म-विवाह में कन्या को केवल एक वस्त्र से अलंकृत करके उसका दान दिया जाता है। केवल एक वस्त्र का अभिप्राय यही हो सकता है कि विवाह के समय आजकल जैसा यह दे-वह दे का आडम्बर नहीं किया जाता।

(ख) दैव-विवाह—दैव-विवाह के विषय में दो विचार हैं। श्री अलतेकर का विचार तो यह है कि प्राचीन-काल में गृहस्थ लोग समय-समय पर बड़े-बड़े

यज्ञ करवाया करते थे। उन यज्ञों में देवताओं का पूजन चल रहा होता था। इन अवसरों पर अनेक पुरोहित यज्ञ करवाने के लिए निमन्त्रित किये जाते थे। इन पुरोहितों में कई नव-युवक भी होते थे। सम्भव है कि यज्ञ करवाने वाले यजमान को इन पुरोहित-बालकों में से कोई बालक पसन्द आ जाता हो और वह अपनी लड़की का उसके साथ विवाह कर देता हो। क्योंकि देवताओं की पूजा के समय ऐसा विवाह सम्पन्न होता था इसलिए इसे 'दैव' कहा गया। देवताओं की पूजा के समय विवाह जैसी बात मन में नहीं लानी चाहिए, इसलिए इसे ब्राह्म-विवाह जैसा उत्तम विवाह नहीं माना गया, फिर भी इसे निकृष्ट भी नहीं माना गया। श्री अलतेकर का कहना है कि जब देव-पूजा का युग न रहा तब ये 'दैव' विवाह होने भी स्वाभाविक तौर पर बन्द हो गये। दैव-विवाह यज्ञ कराने वाले किसी पुरोहित से यजमान की कन्या का विवाह था। दैव-विवाह के विषय में दूसरा विचार यह है कि जैसे ब्राह्म-विवाह सादगी का नमूना था, वैसे दैव-विवाह उससे उल्टा टीप-टाप का नमूना था। दैव-विवाह में योग्य, सुशील, विद्वान् युवक को और बड़े-बड़े विद्वानों को विस्तृत यज्ञ में निमन्त्रित कर के, और कन्या को वस्त्रों तथा आभूषणों से अलंकृत करके उस युवक के हवाले कर देना है। यह विवाह तड़क-भड़क का नमूना है।

(ग) आर्ष-विवाह—इस विवाह में कुछ लेने-देने का मामला होता है। कन्या का पिता वर से एक गाय तथा एक बैल या इनका जोड़ा लेकर कन्या का वर के साथ विवाह कर देता है। कई लोगों का कहना है कि यह विवाह जन-जातियों के क्रय-विवाह से मिलता-जुलता है, परन्तु इस प्रकार के विवाह में लिया इतना थोड़ा जाता है कि इसे क्रय-विवाह कहना भी असंगत-सा है। श्री अलतेकर का कहना है कि किसी समय हिन्दू-समाज में कन्या का मूल्य देने की प्रथा रही होगी, यह उस प्रथा का अवशेष है। अवशेष इसे इसलिए भी कह सकते हैं क्योंकि दहेज आदि की प्रथा भी तो कन्या-मूल्य देने की प्रथा का ही तो अवशेष है। कन्या का मूल्य देने की प्रथा लुप्त हो गई, परन्तु उसका यह रूप बच गया।

(घ) प्राजापत्य-विवाह—ब्राह्म-विवाह की तरह इस विवाह में भी कोई टीप-टाप, तड़क-भड़क नहीं की जाती थी। ऐसा प्रतीत होता है प्राजापत्य-विवाह में तो कोई उत्सव भी नहीं रचा जाता था, किसी को निमन्त्रित भी नहीं किया जाता था। वर तथा कन्या को यज्ञशाला में बैठाकर और सत्कारपूर्वक यह उपदेश देकर कि तुम दोनों साथ-साथ धर्म का जीवन व्यतीत करो एक-साथ कर दिया जाता था। इस विवाह में प्रधानता प्रजा अर्थात् सन्तान उत्पन्न करने को दी जाती थी, और वर-वधू को यह शिक्षा दी जाती थी कि सन्तानोत्पत्ति के लिए विवाह किया जाता है। ब्राह्म तथा प्राजापत्य में इतनी समानता है कि कई विद्वानों के कथनानु-सार ये दोनों अलग-अलग न होकर एक ही हैं। मनुस्मृति ने तो इस विवाह का ब्राह्म-विवाह से अलग उल्लेख किया है, परन्तु वसिष्ठ तथा आपस्तम्ब ने प्राजापत्य का उल्लेख नहीं किया।

ब्राह्म, दैव, आर्ष तथा प्राजापत्य विवाहों में ध्यान रखने की बात यह है कि इन सब में पिता वर को कन्या का दान करता है, परन्तु आसुर, गान्धर्व, राक्षस तथा पैशाच विवाहों में कन्या का दान नहीं होता, वह मोल ली जाती है, या उसका अपहरण होता है।

(ङ) आसुर-विवाह—जब वर कन्या के पिता को या कुटुम्बियों को कुछ धन-राशि देकर कन्या प्राप्त करता है, तब इसे आसुर-विवाह कहते हैं। यह एक प्रकार का कन्या-विक्रय है। महाभारत काल में पांडु का माद्री के साथ विवाह इसी प्रकार का विवाह था। हिन्दू-जाति के निम्न वर्ग में आज भी इस प्रकार का कन्या-विक्रय होता है। ऊपर जो चार विवाह कहे गये हैं वे उत्तम विवाह हैं, आसुर, गान्धर्व, राक्षस और पैशाच ये चारों अधम विवाह माने गये हैं।

(च) गान्धर्व-विवाह—जब वर तथा कन्या बिना विवाह-संस्कार के एक-दूसरे की इच्छा-पूर्वक काम-भाव से संयोग करने लगते तथा एक-दूसरे के साथ रहने लगते हैं, तब इसे 'गान्धर्व'-विवाह कहा जाता है। इस विवाह में माता-पिता तथा सम्बन्धियों को नहीं पूछा जाता। आजकल के 'प्रणय-विवाह' (Love marriage) को गान्धर्व-विवाह कहा जा सकता है। वात्स्यायन ने कामसूत्र में 'गान्धर्व-विवाह' को आदर्श विवाह माना है। प्राचीन-काल में गन्धर्व नाम की एक जाति थी जो अत्यन्त कामुक थी। उनके लिए कहा गया है—'स्त्रीकामाः वै गन्धर्वाः'—स्त्री की कामना गन्धर्व लोगों की विशेषता है। यही कारण है कि काम-वासना पर आश्रित इस विवाह को प्राचीन स्मृतिकारों ने 'गान्धर्व-विवाह' का नाम दिया है। शकुन्तला तथा दुष्यन्त का विवाह गान्धर्व-विवाह का प्रसिद्ध उदाहरण है। आजकल के अनेक युवक-युवति जो प्रेम-विवाह करते हैं, वह गान्धर्व-विवाह ही है।

(छ) राक्षस-विवाह—किसी कन्या को जबर्दस्ती पकड़ लाना, रोती-बिलपती-चिल्लाती को उठा लाना या युद्ध आदि में जीत कर ले आना राक्षस-विवाह कहलाता है। यह प्रथा क्षत्रिय-विवाह भी कहलाती थी क्योंकि क्षत्रिय लोग ही युद्ध में कन्याओं को पकड़ लाया करते थे। यह समझा जाता था कि जैसे युद्ध में लूट-मार से और माल मिला है वैसे कन्याएँ भी युद्ध में जीतने का पारितोषिक है। श्रीकृष्ण ने रुक्मिणी का, अर्जुन ने सुभद्रा का अपहरण किया था, जबर्दस्ती उठा लाये थे।

(ज) पैशाच-विवाह—सोती, नशे में उन्मत्त कन्या को एकान्त में पाकर उसे दूषित कर देना सब विवाहों से नीच विवाह गिना जाता था। मनु (३—३४) ने इस विवाह की निन्दा करते हुए इसे पापिष्ठ विवाह कहा है। वसिष्ठ तथा आपस्तम्ब ने इस प्रकार के विवाह को विवाहों में गिनती नहीं की। परन्तु मनु का इस प्रकार के जबर्दस्ती सम्बन्ध को भी विवाह मान लेने का अर्थ यह प्रतीत होता है कि जिस स्त्री के साथ बलात्कार किया गया हो, जिसमें उसका अपना कोई दोष न हो उसे समाज में से निर्वासित नहीं किया जाता था, सिर्फ उस विवाह का दर्जा

नीचा माना जाता था, परन्तु इस प्रकार के पुरुष तथा स्त्री को भी समाज में स्थान था।

इन आठ प्रकार के विवाहों का विवरण सिद्ध करता है कि विवाह के जितने भी भिन्न-भिन्न प्रकार हो सकते हैं, हिन्दू-समाज के स्मृतिकारों ने अपनी सामाजिक-व्यवस्था में उन सब को खपाने का प्रयत्न किया था। इनमें से कौन कब प्रचलित था, कब नहीं था, कौन-सा प्रकार सब से पुराना है या ये सब एक-साथ प्रचलित थे—यह गवेषणा का विषय है।

२. हिन्दू-विवाह की भिन्न-भिन्न प्रथाएँ

हिन्दू-विवाह के भिन्न-भिन्न रूप क्या थे—यह हमने देखा। अब हम यह देखेंगे कि हिन्दुओं में विवाह-सम्बन्धी प्रथाएँ क्या थीं। विवाह की प्रथाओं से हमारा क्या अभिप्राय है? विवाह के सम्बन्ध में कहीं एक-विवाह चलता है, कहीं बहु-विवाह चलता है; बहु-विवाह में कहीं बहुपति-विवाह चलता है, कहीं बहुपत्नी-विवाह चलता है, कहीं यूथ-विवाह चलता है; विवाह में कहीं विधि है—यहाँ विवाह करो, कहीं निषेध है—यहाँ विवाह न करो; यहाँ करो के सम्बन्ध में नियम है कि अपनी जाति में करो, यहाँ न करो के सम्बन्ध में नियम है कि अपने गोत्र, पिंड तथा प्रवर में न करो; जाति के सम्बन्ध में भी नियम है कि उच्च जाति का पुरुष अपने से नीची जाति की स्त्री से विवाह कर सकता है जिसे अनुलोम-विवाह कहा जाता है, नीच जाति का पुरुष उच्च-जाति की स्त्री से विवाह नहीं कर सकता जिसे प्रतिलोम-विवाह कहा जाता है; पिंड के सम्बन्ध में नियम है कि पिता की सात तथा माता की पाँच पीढ़ी तक विवाह नहीं हो सकता। इन सब प्रथाओं का हम वर्णन करेंगे। ये सब प्रथाएँ जिनका हम यहाँ वर्णन करेंगे निम्न हैं:

(क) एक-विवाह प्रथा (Monogamy)
(ख) बहु-विवाह प्रथा (Polygamy)
  (i) द्वि-पत्नी या बहु-पत्नी विवाह (Biogamy or Polygyny)
  (ii) बहुपति-विवाह (Polyandry)
  (iii) यूथ-विवाह (Group marriage)
(ग) अन्तर्विवाही प्रथा (Inter-marriage or Endogamy)
(घ) बहिर्विवाही प्रथा (Marriage out of Gotra and Pravar or Exogamy)
(ङ) अनुलोम-विवाह प्रथा (Hypergamy)
(च) प्रतिलोम-विवाह प्रथा (Hypogamy)

३. एक-विवाह की प्रथा
(Monogamy)

एक-विवाह की प्रथा आजकल के सभ्य-समाज में पायी जाती है, और आदि-काल के अशिक्षित समाज में पायी जाती थी। आदिकालीन-समाज की आर्थिक-व्यवस्था फल-मूल एकत्रित करने वाली सरल आर्थिक-व्यवस्था थी। इस आर्थिक-

व्यवस्था की जो अशिक्षित जन-जातियाँ इस समय जीवित पाई जाती हैं उनमें एक-विवाह की प्रथा पायी जाती है, उनके परिवार के सदस्यों में एक पुरुष तथा एक स्त्री—यही नियम है। ऐसा प्रतीत होता है कि आदि-समाज को यही पद्धति बच्चे की परवरिश के लिए सर्वोत्तम प्रतीत हुई होगी और इसी लिए उस समाज ने इसी पद्धति को अपनाया होगा। आदि-काल की अवस्थाओं में एक स्त्री तथा एक पुरुष के विवाह से ही मनुष्य जीवित रह सका, दूसरे किसी प्रकार का विवाह होता—'बहुपति-विवाह' या 'बहुपत्नी-विवाह'—तो मनुष्य की सन्तान माता तथा पिता के ध्यान बँट जाने से जीवित न रह सकती। इसके अतिरिक्त अगर हम जीवित जंगली जातियों का अध्ययन करें, तो उनमें से भी अधिकांश 'एक-विवाही' ही पाई जाती हैं। ठीक भी है, इन निम्न-स्तर की अशिक्षित जन-जातियों में पुरुष का युवावस्था प्राप्त करते ही विवाह कर लेना लाजमी प्रतीत होता है, क्योंकि युवा बन जाने के बाद इनको खिलाने-पिलाने की जिम्मेदारी दूसरा कोई नहीं ले सकता। युवा होने के बाद अगर ये शादी करके अपना अलग खाने-कमाने का सिलसिला न बना लें, तो हर समय घर में वैमनस्य बना रहे। आदिकालीन समाज में क्योंकि स्त्री-पुरुषों की संख्या में विषमता होने का कोई कारण नहीं प्रतीत होता, और उन्हें घर में वैमनस्य न पैदा हो जाय इस कारण घर से अलग होना जरूरी था, और साथ ही क्योंकि उस समय स्त्री-पुरुषों की संख्या भी बराबर-बराबर थी, इसलिए कई लोगों का कहना है कि आदि-कालीन समाज बहु-विवाही न होकर एक-विवाही ही था। आजकल का सभ्य-समाज तो एक-विवाही है ही।

वैदिक-काल से लेकर वर्त्तमान-काल तक हिन्दुओं के इतिहास में ऐसा कोई समय प्रतीत नहीं होता जब एक-विवाह इस देश की एकमात्र प्रथा रही हो। आज के सभ्य-समाज के युग में तो एक-विवाह की ही आज्ञा दी जाती है, बहु-विवाह की नहीं, परन्तु हिन्दुओं में इस प्रथा पर अधिक बल नहीं दिया गया। सर्व-साधारण समाज आर्थिक तथा व्यावहारिक कारणों से एक-विवाही रहा, परन्तु यह पाबन्दी अनिवार्य नहीं रही।

४: बहु-विवाह की प्रथा
(Polygamy)

एक पुरुष की एक से अधिक पत्नियाँ हों या एक पत्नी के एक से अधिक पति हों, तो इसे बहु-विवाह कहा जाता है। बहु-विवाह की प्रथा का वह रूप जिसमें एक स्त्री के अनेक पति हों, इने-गिने स्थानों में पाया जाता है, परन्तु एक पुरुष की अनेक पत्नियों के रूप में बहु-विवाह संसार में प्रायः सर्वत्र पाया जाता है। स्त्री के प्रति समाज के हीन दृष्टिकोण का यह जीता-जागता नमूना है। स्त्री क्या है, खिलौना है, एक से जी नहीं लगा दूसरा ले लिया। इस समय सभ्य-समाज में स्त्री की स्थिति पुरुष के समान होती जा रही है और ज्यों-ज्यों स्त्री तथा पुरुष की स्थिति समान होती जाती है त्यों-त्यों बहु-विवाह की प्रथा भी हीन दृष्टि से देखी जाने लगी है। अब तो 'हिन्दू-विवाह-अधिनियम—१९५५' के अनुसार

बहु-विवाह को दण्डनीय घोषित कर दिया गया है। स्त्री की पुरुष के समान स्थिति के लिए संघर्ष में यह स्त्री की महान् विजय है। हम इस प्रकरण में पहले बहुपत्नी-प्रथा तथा फिर बहुपति-प्रथा पर लिखेंगे।

५. बहु-विवाह का रूप द्वि-पत्नी या बहु-पत्नी विवाह (Biogamy or Polygyny as a form of Polygamy)

बहु-विवाह के दो रूप हैं—एक पुरुष की दो या दो से अधिक पत्नियाँ तथा एक स्त्री के अनेक पति। हम यहाँ एक पुरुष की दो या दो से अधिक पत्नियों की चर्चा करेंगे, अगले शीर्षक में एक स्त्री के अनेक पतियों की चर्चा करेंगे।

वैसे तो द्वि-पत्नी-विवाह को बहु-विवाह ही कहा जा सकता है, परन्तु क्योंकि एकपत्नी-व्रत का भंग दूसरी पत्नी के साथ विवाह करने से होता है, और उसके आगे जितनी पत्नियाँ आती हैं, वे सब 'अनेक' शब्द में आ जाती हैं, इसलिए 'द्वि-पत्नी' तथा 'बहु-पत्नी'—इन दो शब्दों का अलग-अलग प्रयोग होता है। वैसे जो बातें 'द्वि-पत्नी-विवाह' (Biogamy) के विषय में कही जा सकती हैं, वे सभी 'बहु-पत्नी-विवाह' (Polygyny) के विषय में भी समान रूप से कही जा सकती हैं। हिन्दुओं की विवाह की प्राचीन प्रथा के सम्बन्ध में कहा जा सकता है कि यद्यपि सर्व-साधारण 'एक-विवाही' थे, तो भी बहु-विवाह की आज्ञा थी, धनी-मानी, प्रतिष्ठित तथा राजा लोग अनेक विवाह करते थे, कभी-कभी बहु-विवाह का विरोध भी होता था।

(क) बहु-विवाह की अनुमति—हम इसी अध्याय में अनुलोम तथा प्रतिलोम विवाहों का वर्णन करेंगे। अनुलोम विवाह का अर्थ है उच्च जाति के पुरुष का निम्न जाति की कन्या से विवाह। अनुलोम विवाहों को हिन्दू-समाज में आज्ञा थी इसलिए ब्राह्मण ब्राह्मणी से तो विवाह कर ही सकता था, क्षत्रिय तथा वैश्य-कन्या से भी विवाह कर सकता था। इस प्रकार ब्राह्मण को तीन पत्नियों का अधिकार था। क्षत्रिय क्षत्रियाणी से तथा वैश्य-कन्या से विवाह कर सकता था, उसे दो पत्नियाँ रखने का अधिकार था। वैश्य सिर्फ़ अपनी जाति की कन्या से विवाह कर सकता था। शूद्र-कन्या को रति के लिए रखा जा सकता था, उससे पुत्र उत्पन्न करना अनुचित समझा जाता था, अगर विप्र शूद्र-कन्या से सन्तान उत्पन्न करता था तो उसे प्रायश्चित्त करना होता था। कई लोगों का कहना था कि शूद्र-कन्या से रति के लिए भी सम्बन्ध अनुचित है[1]।

---

१. तिस्रो भार्या ब्राह्मणस्य द्वे क्षत्रियस्य तु।
वैश्यः स्वजात्यां विन्देत तास्वपत्यं हिताय ते॥
द्विजस्य ब्राह्मणी श्रेष्ठा क्षत्रिया क्षत्रियस्य तु।
रत्यर्थमपि शूद्रा स्यान् नेत्याहुरपरे जनाः॥
अपत्य-जन्म शूद्रायां न प्रशंसन्ति साधवः।
शूद्रायां जनयन् विप्रः प्रायश्चित्तमवाप्नुयात्॥
—महाभारत, अनु० ४४।

बहु-विवाह होता था---इसमें सन्देह नहीं। राजा दशरथ की तीन रानियाँ थीं, याज्ञवल्क्य ऋषि की कात्यायनी तथा मैत्रेयी दो पत्नियाँ थीं, कहते हैं मनु की दस स्त्रियाँ थीं।

(ख) बहु-विवाह का विरोध---यह सब-कुछ होते हुए भी यह नहीं कहा जा सकता कि हिन्दुओं में बहु-विवाह का विरोध नहीं था। स्मृतिकारों के वचनों तथा उनकी व्यवस्थाओं को पढ़ने से प्रतीत होता है कि दूसरी पत्नी ग्रहण करने के लिए कई प्रतिबन्ध भी लगाये गये थे। इन प्रतिबन्धों का होना सिद्ध करता है कि अनेक स्मृतिकार दो स्त्रियों का रखना अनुचित भी समझते थे। उदाहरणार्थ, बौधायन धर्मसूत्र में लिखा है कि स्त्री के बन्ध्या होने पर भी पुरुष को दस वर्ष तक देखना चाहिए कि पुत्र होता है या नहीं। अगर दस वर्ष तक भी पुत्र न हो तब वह दूसरा विवाह कर सकता है। इसी प्रकार अगर स्त्री के कन्याएँ-ही-कन्याएँ पैदा होती हों तब बारह वर्ष और अगर सन्तान पैदा होकर मर जाती हो, तब पन्द्रह वर्ष तक इन्तज़ार करने के बाद दूसरा विवाह करने का बौधायन धर्मसूत्र[1] में विधान है। आपस्तम्ब धर्मसूत्र में लिखा है कि धर्मपूर्वक सन्तान उत्पन्न हो जाय तो दूसरा विवाह न करे[2]। महाभारत में लिखा है कि जो व्यक्ति यों ही अपनी स्त्री का त्याग कर के दूसरा विवाह कर लेता है उसका कल्याण नहीं होता[3]।

६. बहु-विवाह के कारण

हिन्दुओं में बहु-विवाह का अनुमोदन भी होता रहा है, इसका विरोध भी होता रहा। इतना सभ्य तथा शिक्षित समाज बहु-विवाह का अनुमोदन किन कारणों से करता रहा? वे कारण निम्न थे:

(क) पुत्र-प्राप्ति के कारण दूसरा विवाह---बहु-विवाह का सब से बड़ा कारण पुत्र का न होना था। हिन्दू धर्म-व्यवस्था में यह समझा जाता है कि पुत्र ही पिता को नरक से तराता है---'पुं' नामक नरक से तराने वाले को पुत्र कहते हैं। पुत्र श्राद्ध में पिंड दान करता है और इस पिंड-दान से मृत-पूर्वजों का उद्धार होता है। हम पहले बौधायन धर्मसूत्र का उल्लेख कर आये हैं कि पुत्र न हो तो १०वें या पुत्री-ही-पुत्री हों तो १२वें साल में दूसरा विवाह किया जा सकता है। मनु का कथन है कि अगर पुत्र न हो तो आठवें साल के बाद दूसरा विवाह कर ले।

आज के युग में जब श्राद्ध आदि को लोग नहीं मानते तब दूसरा विवाह करने का यह कारण तो रहता नहीं।

१. अप्रजां दशमे वर्षे स्त्री-प्रजां द्वादशे त्यजेत्।
मृतप्रजां पंचदशे सद्यस्त्वप्रियवादिनीम्॥ ---बौधायन २।२-४-६

२. धर्मप्रजासंपन्ने दारे नान्यां कुर्वीत॥ ---आपस्तम्ब २।५-११-१२

३. एवं हि त्यजतां भार्यां नराणां नास्ति निष्कृतिः।---महाभारत १२,५८,१३

(ख) आर्थिक कारणों से दूसरा विवाह—बहु-विवाह का दूसरा कारण आर्थिक है। आर्थिक-कारण के दो अर्थ हैं—धन अधिक होने से भी दूसरा विवाह किया जाता है, धन के अभाव के कारण भी दूसरा विवाह किया जाता है। धन अधिक हो और कोई पुत्र न हो तो विरासत के तौर पर सम्पत्ति किसको जायगी ? सगे-सम्बन्धियों को जो अपने पसीन की कमाई न देना चाहे वह दूसरा विवाह करके सन्तान उत्पन्न करने का प्रयत्न करता था। धन न हो, आदमी ग़रीब हो, और सन्तान न हो तब बुढ़ापे में उसका कौन सहारा होगा। ग़रीब आदमी बुढ़ापे के सहारे के लिए सन्तान न होने पर दूसरे विवाह से सन्तान उत्पन्न करना चाहता है। किसानों के लिए दूसरा विवाह इसलिए उपयोगी है कि जितनी स्त्रियां होंगी उतनी ही काम करने वाली हो जायेंगी। नौकर तो चोरी कर सकता है, दिल मार कर काम नहीं करता, परन्तु स्त्री तो पति के साथ मिल कर, लगन से, रुचि से काम करती है, कई स्त्रियां होंगी तो यह एक प्रकार का सहकारिता का कार्य होगा, उनके जितने बच्चे होंगे सब काम में हाथ बटायेंगे। किसानों में तो जितने काम करने वाले होंगे उतने ही कमाने वाले होंगे, इसलिए उनके लिए बहु-विवाह उनकी आर्थिक-समस्या को हल करता है। पहाड़ों में तो खेत दूर-दूर होते हैं। इनकी देख-रेख, इनकी सुरक्षा अनेक पत्नियों से जितनी हो सकती है उतनी दूसरे किसी उपाय से नहीं हो सकती। वेस्टरमार्क का कहना है कि उन्होंने आफ्रीका की जुलू जाति के एक व्यक्ति से जब पूछा कि वह बहु-विवाह क्यों करता है, तो उसने उत्तर दिया कि जब मेरी एक पत्नी बीमार पड़ जायेगी तो मुझे खाना बनाकर कौन देगा ? असल में, बहु-विवाह के अनेक कारणों में से एक प्रबल कारण आर्थिक है।

आज के युग में जब सुरक्षा के अन्य साधन निकलते आ रहे हैं, जब खेतों में काम करने के लिए ट्रैक्टर आदि की व्यवस्था हो रही है, तब बहु-विवाह करने का यह कारण भी नहीं रहता।

(ग) काम-भाव के कारण दूसरा विवाह—बहु-विवाह के ऊपर जो दो कारण कहे गये हैं उनके अतिरिक्त इसका तीसरा कारण पुरुष की काम-वासना भी है। उदाहरणार्थ, अनेक जातियों में यह विचार पाया जाता है कि गर्भावस्था तथा बच्चे से जब तक माता का दूध न छुड़ा दिया जाय तब तक स्त्री-संग नहीं करना चाहिए। इस प्रकार जो लोग बाधित-ब्रह्मचर्य नहीं रख सकते वे बहु-विवाह को एक उपयोगी प्रथा समझते हैं। इसी प्रकार स्त्री बच्चे पैदा करने के कारण पुरुष की अपेक्षा जल्दी बूढ़ी हो जाती है, पुरुष का स्वास्थ्य देर तक वैसा ही बना रहता है। दूसरा विवाह करने का यह भी एक कारण है। काम-भाव से विवाह करने का तीसरा कारण है पुरुष की विविधता के प्रति रुचि। पुरुष हर बात में नवीनता चाहता है, विविधता चाहता है, और काम-वासना के क्षेत्र में नवीनता तथा विविधता का अर्थ है—'बहु-विवाह'। काम-भाव की इसी दृष्टि से समाज में वेश्यावृत्ति भी चली हुई है, रोकने से और कानून बनाने से भी नहीं रुकती।

आज के युग में मनुष्य ने काम-वासना की तृप्ति के साधन बहु-विवाह को त्याग दिया है। अगर कहा जाय कि स्त्री-जाति के समानता के व्यवहार के आन्दोलन के फलस्वरूप पुरुष को इस क्षेत्र को जबर्दस्ती छोड़ना पड़ा है तब भी अत्युक्ति न होगी। हर हालत में बहु-विवाह करने का अब यह कारण नहीं रहा।

(घ) परिवार को दृढ़ बनाने के लिए दूसरा विवाह—आज 'व्यक्ति' समाज की इकाई बना हुआ है, व्यक्ति की दृष्टि से ही सब सामाजिक-संगठनों को परखा जाता है, व्यक्ति का जिस संगठन से हित है वह ठीक, जिससे हित नहीं है वह ग़लत, परन्तु कोई समय था जब व्यक्ति समाज की इकाई न होकर 'परिवार' समाज की इकाई था, परिवार की दृष्टि से सब सामाजिक-संगठनों को परखा जाता था, जिस संगठन से परिवार मजबूत होता था वह संगठन टिकता था, दूसरा समाप्त हो जाता था। इस दृष्टि से विचार किया जाय, तो किसी समय बहु-विवाह परिवार को दृढ़ बनाने के लिए जबर्दस्त संस्था थी। विवाह में क्या होता है? विवाह में दो परिवार एक-दूसरे के साथ घुल-मिल जाते हैं, दोनों के स्वार्थ एक हो जाते हैं, जो पहले एक-दूसरे को जानते तक न थे वे एक-दूसरे के साथ मिलकर अभिन्न हो जाते हैं। अगर एक विवाह से परिवार का संगठन इतना दृढ़ हो सकता है, तो अनेक विवाहों से अनेक परिवार एक-दूसरे के साथ पारस्परिक सहयोग के बंधन से बंध जायेंगे—इसमें क्या सन्देह है? हिन्दुओं में भी इसी आधार पर अनेक विवाह किये जाते थे, अनेक परिवार एक-दूसरे के साथ इन विवाहों के कारण पारस्परिक-सहयोग में बँध जाते थे, परन्तु इस प्रकार से बंधने की जरूरत तब पड़ती थी जब मनुष्य का जीवन समाज में असुरक्षित था।

आज इस प्रकार के बंधन की जरूरत नहीं रही। परिवार से ऊँची वस्तु राज्य का विकास हो चुका है। अनेक परिवारों के मिलने से मनुष्य को जो सुरक्षा की भावना मिलती थी वह राज्य से प्राप्त हो जाती है, इसलिए बहु-विवाह का यह कारण भी नहीं रहा।

(ङ) सामाजिक प्रतिष्ठा बढ़ाने के लिए दूसरा विवाह—कोई समय था जब प्रतिष्ठित व्यक्ति बहु-विवाह करता था। जंगली जातियों में यह समझा जाता है कि ग़रीब आदमी ही एक स्त्री रख सकता है, अमीर को तो अनेक स्त्रियाँ रखनी ही चाहिएँ। अपने देश में भी कभी अमीरों में यह विचार रहा होगा। तभी कथा-सरित्सागर में लिखा है—'सपत्न्यो हि भवन्तीह प्रायः श्रीमति भर्तरि। दरिद्रो बिभृयादेकामपि कष्टं कुतो बहूः॥'—श्रीमान् लोग ही अनेक विवाह कर के सौतों को घर में बैठा सकते हैं, दरिद्र व्यक्ति के लिए तो एक स्त्री का भरण-पोषण ही कठिन है, वह बहुत स्त्रियों का पालन कैसे कर सकता है?

आज इस प्रकार की मान-प्रतिष्ठा को मान-प्रतिष्ठा नहीं समझा जाता। आज के युग में तो जनता की आवाज के कारण दो पत्नियों वाला लज्जा के मारे यह कहने का साहस ही नहीं कर सकता कि उसकी एक से अधिक पत्नियाँ हैं। बहु-विवाह का अब यह कारण भी नहीं रहा।

७. बहु-विवाह के हिन्दुओं में कुछ रूप

वैसे तो हिन्दुओं में बहु-विवाह की प्रथा प्रचलित है, परन्तु इसके कुछ जघन्य दृष्टान्त कुछ ख़ास वर्गों में पाये जाते हैं। बहु-विवाह के ये जघन्य रूप हैं बंगाल का कुलीन-बहु-विवाह तथा मलाबार के नम्बूदरी ब्राह्मणों का नम्बूदरी-बहु-विवाह। ये दोनों बहु-विवाह क्या हैं?

(क) बंगाल की कुलीन बहु-विवाह प्रथा (Kulin Polygamy of Bengal)--बंगाल[1] में प्रसिद्ध है कि बंगाल का आदिशूर नामक एक प्राचीन राजा कन्नौज से पांच ब्राह्मण बंगाल में लाया था। ११वीं शताब्दी में इस राजा का अनुवंशज बंगाल का एक राजा था जिसका नाम था—बल्लाल। इस राजा के समय उन पाँच ब्राह्मणों के वंश के ५६ परिवार मौजूद थे। बल्लाल ने कन्नौज के पाँच ब्राह्मणों के इन अनुवंशजों में से उनको 'कौलीन्य' की उपाधि देने का निश्चय किया जिनमें निम्न नौ गुण थे—सदाचार, नम्रता, विद्या, ख्याति, तीर्थ-यात्रा, ईश्वर-विश्वास, निश्चित-व्यवसाय, भक्ति तथा दान। इन ५६ परिवारों में से केवल ८ परिवारों में उक्त गुण पाये गये, इन ८ परिवारों में भी १९ व्यक्ति ऐसे थे जिन्हें 'कुलीन-ब्राह्मण' की उपाधि दी गई। इनमें से ३४ परिवार ऐसे पाये गये जिनमें सिर्फ़ एक गुण की कमी थी। इन्हें कुलीन के नीचे का दर्जा देकर इन्हें 'श्रोत्रिय-ब्राह्मण' की उपाधि दी गई। धीरे-धीरे 'कुलीन-ब्राह्मणों' ने भी अपने गुण खो दिये और १६वीं शताब्दी में देवीबर घटक ने फिर से कुलीन-ब्राह्मणों का वर्गीकरण किया। देवीबर ने यह वर्गीकरण नये सिरे से क्यों किया इसकी दिलचस्प कहानी है।

कहते हैं, एक दिन एक कुलीन ब्राह्मण जिसका नाम जोगेश्वर पंडित था, अपने चचेरे भाई देवीबर घटक को मिलने गया। घर पर वह तो नहीं था, देवीबर की माता थी। चाची ने जोगेश्वर से नाश्ता करने को कहा, और साथ कहा कि इस बीच वह उसके लिए खाना तैयार कर देगी। देवीबर ने कहा कि वह कुलीन ब्राह्मण है, और चाची का जिस ब्राह्मण परिवार में विवाह हुआ है वह कुलीनों के मुकाबिले में इतना निम्न स्थिति का है कि वह तो उस परिवार के पानी से पाँव भी नहीं धो सकता। यह कहकर उसने अपनी चाची से भोजन बनाने को मना कर दिया क्योंकि उसके हाथ का भोजन पाकर वह अपवित्र हो जायगा। वह चाची के घर में अपने हाथ से भोजन बना सकता था, परन्तु ऐसा करने से चाची का अपमान होगा, इसलिए जोगेश्वर ने कहा कि उसका लौट जाना ही ठीक है। चाची को इस घटना से अत्यन्त दुःख हुआ था, उसने इसे अपना घोर अपमान समझा था। कुछ देर बाद देवीबर घर लौटा और अपनी माँ को दुःखी देख कर उसने कारण पूछा। उसकी माँ ने सब घटना सुनाई। इससे देवीबर को अत्यन्त

1. A History of Hindu Civilisation during British Rule by Pramath Nath Bose, p. 59.

क्रोध आया और उसने प्रण कर लिया कि वह इसका बदला लेगा। देवीबर ने बंगाल में सब जगह घूम-फिर कर कुलीन ब्राह्मणों के विषय में जांच-पड़ताल शुरू कर दी, और फिर से कुलीन-ब्राह्मणों का उनके आचार-व्यवहार के आधार पर वर्गीकरण किया। उसका कहना था कि ये लोग यों ही अपने को इतना ऊँचा मानने लगे हैं, सच्चे आचार-विचार वाले कुलीन परिवार न के बराबर हैं।

कुलीन-ब्राह्मणों को ऊँचा माना जाता रहा है इसलिए निम्न-स्तर के ब्राह्मण अपनी लड़कियों का विवाह उनसे करते थे। जब निम्न-स्तर के ब्राह्मण की लड़की कुलीन-ब्राह्मण के यहां विवाह दी जाती थी, तब इस कुलीन का सामाजिक-स्तर भी गिर जाता था, इसलिए गिर जाता था क्योंकि इसने निम्न-स्तर की कन्या से विवाह किया था। माना यह जाता था कि इसका स्तर अब और अधिक नीचे नहीं गिर सकता। निम्न-स्तर वालों के साथ विवाह करने से इसने अपना स्तर गिराया, इसलिए उसे रुपया-पैसा देकर उसकी मान-क्षति की पूर्त्ति की जाती थी। इस प्रकार जो कुलीन निम्न-स्तर में विवाह करता था वह भंग-कुलीन कहलाता था, भंग इसलिए कि उसने अपनी उच्च-स्थिति का भंग कर दिया। एक बार भंग-कुलीन होने के बाद और नीचे वह नहीं गिर सकता—यह माना जाता था। इन भंग-कुलीनों का पेशा विवाह करना और विवाह में पैसा वसूल करना हो गया। एक-एक दिन में इनके चार-चार विवाह हो जाते थे। ऐसे दृष्टान्त मौजूद हैं जिनमें इन भंग-कुलीनों ने पचास, साठ और सौ तक विवाह किये थे। इनकी स्त्रियां इनके यहां नहीं रहती थीं। वे अपने माता-पिता के पास रहती थीं। उनका भरण-पोषण भी इन्हें नहीं करना पड़ता था। उनका भरण-पोषण उनके माता-पिता करते थे। ये भंग-कुलीन अपनी पत्नियों के घर तभी जाते थे जब इन्हें पैसा दिया जाता था। जब इन्हें पैसे की जरूरत होती ये अपने ससुर के पास चले जाते थे। इनके इतने विवाह हो चुके होते थे कि इन्हें अपनी पत्नियों के नाम, उनके पते अपनी डायरियों में नोट करने पड़ते थे।

पाश्चात्य-सम्पर्क का शिक्षित बंगाल की जनता पर जो प्रभाव पड़ा उसकी प्रतिक्रिया का यह परिणाम था कि जनता में कुलीन-विवाह के रूप में बहु-विवाह की इस प्रथा के प्रति विद्रोह उठ खड़ा हुआ। राजा राममोहन राय ने इस प्रथा के विरुद्ध आवाज उठाई। १८६६ में महाराजा बर्दवान के नेतृत्व में २१ हजार हिन्दुओं ने एक प्रार्थना-पत्र बंगाल के लेफ्टीनेंट गवर्नर के सम्मुख प्रस्तुत किया और इस प्रथा को कानून द्वारा रोक देने का अनुरोध किया। सरकार ने समाज की इस प्रथा में कानून द्वारा हस्त-क्षेप करने में असमर्थता प्रकट की। १८७१ में ईश्वरचन्द्र विद्यासागर ने फिर से इस आन्दोलन को जीवित किया। उन्होंने १३१ कुलीनों की एक सूची प्रकाशित की जो ७६ गाँवों में फैले हुए थे और जिनकी ५ से ८० तक पत्नियाँ थीं। १९०० तक यह प्रथा चल रही थी। अब जनता के सार्वजनिक विरोध के कारण यह प्रथा लुप्त हो गई है।

(ख) मद्रास की नम्बूद्री ब्राह्मणों की बहु-विवाह प्रथा (Nambudri Polygamy of Madras)—मद्रास में नम्बूद्री नाम के ब्राह्मण होते हैं जिनमें अपने ही ढंग की बहु-विवाह की प्रथा है। इन ब्राह्मणों में जो सब से बड़ा भाई होता है वही अपनी जाति में विवाह कर सकता है, छोटे भाई अपनी जाति में विवाह नहीं कर सकते, उन्हें अपने से नीची जाति के लोगों में विवाह करना पड़ता है। उदाहरणार्थ, नम्बूद्रियों में बड़ा तो नम्बूद्री ब्राह्मणों में ही विवाह करेगा, छोटा नायर कन्या से विवाह करेगा। इसका नतीजा यह हुआ कि नम्बूद्री ब्राह्मणों में विवाह करने वाले पुरुषों की संख्या कम हो गई और कन्याओं की संख्या अधिक हो गई। नम्बूद्री जाति की इन अधिक कन्याओं के लिए दो ही रास्ते रह गये—या वे आजन्म कुँवारी रहें या बहु-विवाह करने वाले पति से विवाह कर लें। इस जाति के ब्राह्मणों में यह भी परिपाटी है कि कुँवारी लड़की का मरने के बाद दाह-संस्कार करने से पहले उसका विवाह अवश्य कर देना चाहिए। बड़े लड़के का ही अपनी जाति में विवाह तथा मृत कुँवारी लड़की के दाह-संस्कार से पहले उसके विवाह का अवश्य होना—इन दो प्रथाओं का परिणाम नम्बूद्री-ब्राह्मणों में बहु-विवाह का प्रचलन हो गया।

८. बहु-पति-विवाह (Polyandry)

(क) यह प्रथा आदिवासियों में है—बहु-पत्नी-विवाह की प्रथा अत्यन्त प्रचलित है, इससे प्रायः सब लोग परिचित हैं। बहु-पति-विवाह की प्रथा से सभ्य-समाज अपरिचित है, परन्तु यह भी संसार में प्रायः सर्वत्र पाई जाती है। बहु-पति-विवाह का अर्थ है—एक स्त्री के एक से अधिक पति हों, दो हों, चार हों, कितने भी हों। यह प्रथा प्रायः जन-जातियों में पायी जाती है। इन जन-जातियों के लोग अपने को हिन्दू कहते हैं, उनमें से कई अपने को पांडवों के अनुवंशज कहते हैं, और कहते हैं कि जैसे पाँच पांडवों की एक पत्नी—द्रौपदी—थी इसी प्रकार हमारे भी सब भाइयों की एक पत्नी होती है। प्रायः यह प्रथा पहाड़ी इलाकों में पायी जाती है। लद्दाख में, पंजाब के पहाड़ी प्रदेशों में—काँगड़ा, स्पीती तथा लाहौल के परगनों में—चम्बा, कुल्लू और मंडी के रहने वाले कनेतों में, देहरादून के जौनसार बावर में, टिहरी के रवाँई प्रदेश में, मद्रास की तरफ़ मलाबार के नायरों में और नीलगिरि के टोडों, कुरुम्बों तथा कोटों में, मध्य-प्रदेश के ओराओं तथा सन्थालों में भी बहु-पति-प्रथा पायी जाती है।

(ख) इस प्रथा के दो रूप—बहु-पति-प्रथा के दो रूप हैं। एक तो इसका वह रूप है जिसमें पत्नी के सब पति आपस में सगे या सौतेले भाई होते हैं। इसे 'भ्रातृक-बहुपति-प्रथा' (Adelphic या Fraternal Polygamy) कहते हैं। इसका दूसरा रूप वह है जिसमें पत्नी के पतियों में आपस का कोई सम्बन्ध नहीं होता। इसे 'अभ्रातृक-बहुपति-प्रथा' (Non-fraternal Polygamy) कहते हैं। पहले प्रकार की 'भ्रातृक-बहुपति-प्रथा' में स्त्री तथा उसके सब पति

इकट्ठे, एक ही परिवार में, एक स्थान पर रहते हैं। यह प्रथा 'संयुक्त-परिवार' में पायी जाती है। देहरादून के जौनसार बावर इलाके के खस-जन-जाति के लोगों में तथा नीलगिरि के टोडा लोगों में यह प्रथा आज भी पायी जाती है। खस लोगों में जब बड़ा भाई शादी करता है उस समय छोटा भाई अगर बच्चा हो तो बड़ा होने पर वह भी बड़े भाई की पत्नी का पति बन जाता है। दूसरे प्रकार की विवाह की प्रथा मद्रास के नायर लोगों में पायी जाती है। इस प्रथा में पति भिन्न-भिन्न स्थानों पर रहते हुए पत्नी के पास जाते हैं, और जब एक पति अपनी पत्नी के पास रहता है तब दूसरे पतियों का उस पर अधिकार नहीं होता। कभी-कभी पत्नी भिन्न-भिन्न स्थानों में रहने वाले अपने पतियों के पास जाकर रहती है। यह दूसरे प्रकार की प्रथा बहुत कम जातियों में प्रचलित है। 'बहु-पति-प्रथा' काश्मीर से लेकर असम तक जो मंगोल लोग पाये जाते हैं, उन सब में किसी-न-किसी रूप में है।

(ग) इस प्रथा के दो कारण—इस प्रथा के दो कारण हैं। एक कारण तो स्त्रियों की अपेक्षा पुरुषों की संख्या का कम होना है, दूसरा कारण आर्थिक है। यह कह सकना कठिन है कि किस प्रदेश में इन दोनों कारणों में से कौन-सा कारण प्रधान है, परन्तु इसमें सन्देह नहीं कि इन दोनों कारणों में से कोई-न-कोई कारण इस प्रथा के आधार में होता है।

(i) पुरुषों की कमी—वेस्टरमार्क का कहना है कि बहु-पति-प्रथा का मुख्य कारण पुरुषों की कमी है। अगर कहीं पुरुष कम होंगे, स्त्रियाँ अधिक होंगी, तो स्वभावतः इस सामाजिक समस्या को हल करने के लिए अनेक पुरुषों के लिए एक स्त्री की ही व्यवस्था हो सकेगी। उदाहरणार्थ, नीलगिरि की टोडा जन-जाति में बालिकाओं का वध कर दिया जाता था। बालिकाओं के वध से स्त्रियों की संख्या अपने-आप कम हो गई और उन लोगों में बहु-पति-प्रथा चल पड़ी। वहाँ पिछली तीन पीढ़ियों में प्रत्येक पीढ़ी में अगर १०० स्त्रियाँ थीं, तो पुरुषों की संख्या क्रमशः २५९, २०२ तथा १७१ थी। अगर १०० स्त्रियाँ हों और २५९ पुरुष हों तो अपने-आप बहु-पति-प्रथा चल पड़ेगी। सब से पिछली पीढ़ी में २५९ पुरुष थे, अगली पीढ़ी में २०२ और नवीन पीढ़ी में १७१ रह गये—इसका कारण बालिका-वध के कानून का लागू करना और उसका सख्ती से पालन कराना था।

(ii) आर्थिक कारण—अर्थात्, पहाड़ी प्रदेशों की दरिद्रता, जन-संख्या निरोध तथा जमीन को अविभक्त रखना—क्रिफ़ाल्ट तथा कनिंघम का कहना है कि उक्त कारण के अलावा पहाड़ी प्रदेशों की दरिद्रता इस प्रथा का सब से बड़ा कारण है। उदाहरणार्थ, लद्दाख में पुरुषों की अपेक्षा स्त्रियों की संख्या अधिक है, फिर भी वहाँ 'बहु-पति-प्रथा' प्रचलित है। ऐसा क्यों है? इसका कारण यह है कि इन प्रदेशों में खेती बहुत कम होती है, आजीविका के साधन अत्यन्त सीमित हैं, एक व्यक्ति की आर्थिक-स्थिति ऐसी नहीं होती कि वह एक स्त्री का भी पालन कर सके। ऐसी हालत में सारा-का-सारा परिवार, परिवार के सब भाई मिल कर स्त्री

का पालन करते हैं। स्त्री को भी सुरक्षा की आवश्यकता होती है। आर्थिक-कठिनाइयों को देखते हुए स्त्री एक व्यक्ति पर ही अपनी सुरक्षा का भार नहीं छोड़ सकती, उसे सुरक्षा के कई हाथों की आवश्यकता पड़ती है, इसलिए वह भी बहु-पति-प्रथा को अपने लिए हितकर ही समझती है। बेल्यू ने लिखा है कि इस प्रथा का एक लाभ यह है कि एक स्त्री के अनेक पति होने के कारण जन-संख्या सीमित रहती है। इन प्रदेशों में जन-संख्या बढ़ जाय, तो खेती-बाड़ी की कठिनता के कारण उसका जीवित रह सकना कठिन है, इसलिए जन-संख्या के निरोध का इन प्रदेशों के रहने वालों ने यह एक उत्तम उपाय ढूँढ निकाला है। दरिद्रता तथा जन-संख्या निरोध के अतिरिक्त पहाड़ी प्रदेशों में 'बहु-पति-विवाह' का एक कारण यह भी है कि लोग अपने खेतों को बँटने देना नहीं चाहते। पहाड़ी इलाकों में खेत छितरे-छितरे होते हैं। एक यहाँ है, दूसरा वहाँ है, और प्रत्येक खेत छोटा-सा टुकड़ा है। अगर प्रत्येक भाई अलग-अलग शादी करे, तो विवाह के बाद वह अपना अलग खेत चाहेगा। इस प्रकार वहाँ के खेत बँट ही नहीं सकते, बँटेंगे तो उनके इतने छोटे-छोटे टुकड़े हो जायेंगे कि उन पर किसी प्रकार की खेती करना ही सम्भव न रहेगा। इस दृष्टि से वहाँ की आर्थिक-अवस्था ही 'बहुपति-विवाह' को उत्पन्न करने का एक मुख्य कारण है।

९. यूथ-विवाह
(Group Marriage)

कुछ पाश्चात्य-विद्वानों का कथन है कि पहले कभी 'यूथ-विवाह' की प्रथा प्रचलित थी। एक परिवार के सब भाइयों का दूसरे परिवार की सब बहनों के साथ विवाह हो जाता था। दूसरे पक्ष के विद्वान् इस बात को नहीं मानते। आदिकालीन जन-जातियों में कई जातियाँ ऐसी पायी जाती हैं जिनमें चाचा-ताया, चाची-तायी आदि के लिए पिता-माता—ये शब्द ही पाये जाते हैं, कई में चाचा को छोटे पिता कहा जाता है। इन शब्दों के आधार पर कल्पना की जाती है कि इनमें कभी 'यूथ-विवाह' की प्रथा प्रचलित थी, परन्तु अगर ऐसा होता, तो आदि-कालीन किसी जंगली जन-जाति में तो यह प्रथा अब भी पायी जाती। भारत की क्या संसार की किसी जीवित जन-जाति में यह प्रथा प्रचलित नहीं है, इससे सिद्ध होता है कि यह कल्पना एक कल्पना ही है, इस कल्पना का यथार्थ आधार कोई नहीं है।

१०. अन्तर्विवाही-प्रथा अथवा विवाह में 'विधि'
(Endogamy, Inter-marriage or Preference)

विवाह की एक-विवाही, बहु-विवाही आदि प्रथाओं का हमने वर्णन किया। विवाह के सम्बन्ध में अन्य भी अनेक प्रथाएँ हिन्दू-समाज में प्रचलित हैं जिनमें से 'अन्तर्विवाह' तथा 'बहिर्विवाह' की प्रथाएँ भी हैं। 'अन्तर्विवाह' का अर्थ है—कहाँ हिन्दू को विवाह करना चाहिए, 'बहिर्विवाह' का अर्थ है—कहाँ हिन्दू को विवाह नहीं करना चाहिए। पहले हम 'अन्तर्विवाह' पर लिखेंगे, फिर 'बहि-र्विवाह' पर।

(क) 'विधि' अथवा अन्तर्विवाह (Endogamy, Preference or Inter-marriage)—हिन्दुओं में विवाह अपनी जाति के भीतर किया जाता है, जाति से बाहर नहीं। जाति के भीतर विवाह को ही 'अन्तर्विवाह' (Endogamy) कहते हैं। इसी का विधान है, इसलिए इसे 'विधि' कहा जाता है। परन्तु हिन्दुओं में अन्तर्विवाह की इकाई वैदिक-काल की जाति नहीं, आजकल की उप-जाति है। उदाहरणार्थ, ब्राह्मण ब्राह्मणों में विवाह करे—ऐसी बात नहीं है, ब्राह्मण ब्राह्मणों की अपनी उप-जाति में विवाह करते हैं। सारस्वत ब्राह्मण सारस्वतों में, गौड़ गौड़ों में, कान्यकुब्ज कान्यकुब्जों में। इस दृष्टि से इसे उपजाति-विवाह कह सकते हैं। अन्तर्विवाह का समूह जाति न होकर जाति की उप-जाति है, जिसे ग़लती से हम लोग जाति कहते हैं। हम कहते हैं कि हिन्दू अपनी जाति में विवाह करता है। असल में यह बात तब ठीक होती अगर हिन्दुओं में ब्राह्मण जिस किसी ब्राह्मण परिवार में शादी कर लेता। ऐसा वह नहीं करता। ब्राह्मणों में वह अपनी उप-जाति के ब्राह्मण ढूंढता है, और जो हर किसी ब्राह्मण-परिवार में शादी करने को तैयार हो जाय उसे सुधारवादी कहा जाता है।

(ख) अन्तर्विवाह तथा अन्तर्जातीय विवाह में भेद—प्रचलित अर्थों में उप-जाति को ही हिन्दू लोग जाति मानते हैं, ब्राह्मण-क्षत्रिय-वैश्य आदि जो असल में जातियाँ हैं, उन्हें बोल-चाल में तो जाति कह देते हैं, परन्तु व्यवहार में इन्हें जाति नहीं मानते। जाति की आधारभूत बात यह है कि जाति के भीतर ही विवाह किया जाता है, जाति से बाहर नहीं। इस दृष्टि से विवाह की इकाई के रूप में जो जाति मानी जाती है—सारस्वत, गौड़, कान्यकुब्ज आदि—उसमें विवाह करने का विधान है, उससे बाहर नहीं। उसके भीतर विवाह करने को 'अन्तर्विवाह' (Inter-marriage) कहते हैं, उसके बाहर विवाह किया जाय तो उसे 'अन्तर्जातीय-विवाह' (Inter-caste marriage) कहते हैं। ब्राह्मण अगर सारस्वत है और गौड़ या कान्यकुब्ज परिवार में विवाह करता है, तो इसे 'अन्तर्विवाह' (Inter-marriage) न कहकर 'अन्तर्जातीय-विवाह' (Inter-caste marriage) कहा जायगा। जो लोग इससे भी आगे कदम बढ़ाने को तैयार होते हैं, वे ब्राह्मण होते हुए क्षत्रिय आदि भिन्न वर्णों या जाति-उपजातियों में विवाह करने लगते हैं। हिन्दुओं में अन्तर्विवाह की आज्ञा है, इसका विधान है, अन्तर्जातीय-विवाह का निषेध है। यह सब-कुछ होते हुए भी वर्तमान अवस्थाओं में अन्तर्जातीय-विवाह बढ़ते जा रहे हैं।

(ग) अन्तर्विवाह की प्रथा क्यों शुरू हुई—हिन्दुओं में अन्तर्विवाह की प्रथा के शुरू होने का मुख्य कारण 'प्रजातिवाद' (Racism) है। 'प्रजातिवाद' ने ही 'जातिवाद' (Casteism) को जन्म दिया। 'प्रजातिवाद' तथा 'जातिवाद' दोनों का अभिप्राय अपने को ऊँचा मानना है। मनुष्य अपने को शुद्ध रक्त की दृष्टि से अथवा सामाजिक दृष्टि से दूसरे से बड़ा समझता है। हिन्दुओं में भी अन्य प्रजातिवादियों या जातिवादियों की तरह अपने को शुद्ध आर्य-रक्त का मानने

का विचार घर किये हुए था। इसके साथ सामाजिक-स्थिति के कारण ऊँच-नीच मानने का विचार भी जुड़ गया। इन दोनों कारणों के मिल जाने से 'अन्तर्विवाह' की प्रथा का प्रारम्भ हुआ। ब्राह्मण इतना ही नहीं समझते थे कि उनकी अन्यों से सामाजिक-स्थिति ऊँची है, वे यह भी समझते थे कि उनका रक्त अन्यों की अपेक्षा अधिक शुद्ध है। रक्त की शुद्धता को बनाये रखने का विचार प्रायः सब देशों तथा जातियों में पाया जाता है। सामाजिक-दृष्टि से ऊँच-नीच का भाव तो रक्त-शुद्धता के भाव के लुप्त हो जाने पर भी बना रहने वाला है। इन दो दृष्टियों से हिन्दुओं में अन्तर्विवाह की प्रथा का प्रारम्भ हुआ।

(घ) अन्तर्विवाह की प्रथा से हानि—अन्तर्विवाह की प्रथा से रक्त की शुद्धता बनी रहती है, यह विचार प्रजातिवादियों का है, परन्तु प्रजातिवाद ही निराधार सिद्धान्त है। प्रजातिवाद का अगर कुछ अर्थ हो सकता है, तो यही अर्थ हो सकता है कि रक्त के कारण कुछ लोग ऊँचे होते हैं, कुछ नीचे होते हैं। हम इस पुस्तक के प्रारम्भ में देख आये हैं कि रक्त के आधार पर ऊँच-नीच का भेद ग़लत है। परिस्थिति अच्छी हो तो मनुष्य की शारीरिक तथा मानसिक उन्नति होती है, परिस्थिति निकृष्ट हो तो अच्छे शरीर और अच्छे मन वाला व्यक्ति भी भिनक जाता है। अन्तर्विवाह का आधार प्रजातिवाद तथा जातिवाद है जो स्वयं निराधार है। अन्तर्विवाह प्रजातिवाद तथा जातिवाद को बढ़ावा देता है, इससे समाज में ऊँच-नीच का भेद मिटने के स्थान में अमिट होने लगता है, इसलिए अन्तर्विवाहों के स्थान में अन्तर्जातीय विवाहों के होने की जरूरत है। प्रजातिवाद से अन्तर्विवाह और अन्तर्विवाह से प्रजातिवाद—यह एक कुचक्र चल पड़ता है। इसके अतिरिक्त अन्तर्विवाह-प्रथा की एक और हानि है। जब मनुष्य अपनी उप-जाति में ही विवाह कर सके, उप-जाति के बाहर न जा सके, तब उसके चुनाव का क्षेत्र अत्यन्त सीमित हो जाता है। चुनाव के क्षेत्र के सीमित हो जाने से या तो बेमेल विवाह होने लगते हैं या लड़कों को लड़कियाँ नहीं मिलतीं, लड़कियों को लड़के नहीं मिलते और लड़के-लड़कियाँ कुँवारे रह जाते हैं। इन कारणों से अब कुछ अंश तक स्वयं लोगों का ध्यान अन्तर्जातीय-विवाहों की तरफ़ जाने लगा है। हिन्दुओं की परिभाषा में अन्तर्जातीय-विवाह का अर्थ है ब्राह्मण अपनी उप-जातियों में विवाह करने के स्थान में ब्राह्मणमात्र में विवाह करने लगें। यह तो बहुत छोटा-सा कदम है। अन्तर्जातीय-विवाह का असली अर्थ है ब्राह्मण-क्षत्रिय-वैश्य आदि का बिना जाति-उपजाति के भेद को देखे आपस में विवाह करने लगना। अब कुछ समय से अन्तर्जातीय-विवाहों की संख्या बढ़ने लगी है, यह संख्या क्यों बढ़ने लगी है—इसके अनेक कारण हैं। वे कारण क्या हैं ?

(ङ) अन्तर्जातीय-विवाहों के बढ़ने के कारण—वर्तमान-परिस्थितियों में अन्तर्विवाहों की जगह अन्तर्जातीय-विवाहों की प्रवृत्ति बढ़ रही है, इसके निम्न कारण हैं :

(i) शिक्षा का प्रचार—ज्यों-ज्यों शिक्षा का प्रचार होता जा रहा है त्यों-त्यों जातिवाद का थोथापन प्रकट होता जा रहा है। शिक्षित नवयुवक तथा नव-

युवतियों को समझ नहीं पड़ता कि वे किसी जाति-विशेष में ही विवाह क्यों करें। शिक्षा के प्रचार के साथ-साथ मानसिक-स्तर की एकता मनुष्य-मनुष्य में बढ़ती जा रही है, और अबतक जात-पात के कारण जो भिन्नता की भावना थी वह समाप्त होती जा रही है। एक ही जाति के पुरुष तथा स्त्री में शिक्षा की भिन्नता के कारण असमानता तथा भिन्न-भिन्न जाति के पुरुष तथा स्त्री में शिक्षा की समानता के कारण समानता बढ़ती जा रही है जिससे अन्तर्विवाहों के स्थान में शिक्षित-समाज में अन्तर्जातीय-विवाह बढ़ते जा रहे हैं। शिक्षित समाज को यह भी समझ आता जा रहा है कि शुद्ध-रक्त का सिद्धान्त निराधार है, और क्योंकि अन्तर्जातीय-विवाहों में सब से बड़ी रुकावट रक्त की शुद्धता ही थी, इसलिए शिक्षा के बढ़ने और रक्त की शुद्धता के सिद्धान्त के थोथेपन को समझ लेने के कारण शिक्षित समाज की अन्तर्जातीय-विवाहों के प्रति रुचि बढ़ती जा रही है।

(ii) सह-शिक्षा—उच्च-शिक्षा के क्षेत्र में लड़के-लड़कियों के एक-साथ पढ़ने से भी इस वर्ग में अन्तर्जातीय-विवाह होने लगे हैं। जब हर जाति के लड़के-लड़कियाँ एक-साथ पढ़ते हैं, एक-साथ रहते हैं, तब उनका एक-दूसरे के प्रति आकर्षण हो जाना स्वाभाविक है। इस आकर्षण का परिणाम जात-पात तोड़ कर शादी करना भी होता है जिससे अन्तर्जातीय-विवाहों को प्रोत्साहन मिलता है।

(iii) उद्योगीकरण तथा नगरीकरण—जबतक लोग गाँवों में रहते हैं, तबतक जाति के बंधनों में बंधे रहते हैं, इसलिए बंधे रहते हैं क्योंकि उस समय वे बुजुर्ग लोगों के बीच में होते हैं, और हर समय हर बात की रोक-टोक होती रहती है, खास करके प्रथा से चली आ रही बातों के विरुद्ध जाने का कोई साहस नहीं करता। वर्त्तमान-युग उद्योगीकरण का युग है, सब जगह कल-कारखाने खुल रहे हैं। इन कल-कारखानों में काम करने के लिए यातायात की भी सुविधा बढ़ती जा रही है। गांव के लोग यातायात के इन साधनों से उद्योगों के केन्द्र शहरों में चलते चले जा रहे हैं। शहरों में जाकर वे बुजुर्गों की आँखों से दूर चले जाते हैं। वहाँ उन पर रोक-टोक करने वाला, उन्हें प्रथाओं की शृंखला में बाँधे रखने वाला कोई नहीं होता। शहरों में होटलों में वे सब के साथ खाते, कारखानों में सब के साथ उठते-बैठते हैं। इससे भी जातीयता की दीवारें टूटती जा रही हैं और अन्तर्जातीयता की भावना बढ़ती जा रही है। इस अन्तर्जातीयता की भावना से अन्तर्जातीय-विवाहों का होना स्वाभाविक है।

(iv) समाज-सुधारकों का प्रभाव—१९वीं तथा २०वीं सदी में हिन्दू-समाज में अनेक समाज-सुधारक हुए जिन्होंने जात-पाँत पर कुठाराघात किया। राजा राममोहन राय, ऋषि दयानन्द, केशवचन्द्र सेन, स्वामी विवेकानन्द आदि ने हिन्दू-जाति की चेतना को चुनौती दी और जात-पाँत के बंधनों को हिन्दू-जाति के अधःपतन का एकमात्र कारण घोषित किया। इनके आन्दोलन का यह परिणाम हुआ कि भारत के अनेक नव-युवक जाति के बन्धनों को तोड़ कर विवाह करने लगे। अभी इस दिशा में काफ़ी कार्य नहीं हुआ, परन्तु नव-युवकों में जागृति के चिह्न

धीरे-धीरे प्रकट हो रहे हैं और अन्तर्जातीय-विवाहों को उपहास से देखने के स्थान में आदर की दृष्टि से देखा जाने लगा है।

(v) कानूनी बाधाएँ समाप्त होती जा रही हैं—अन्तर्जातीय-विवाहों को इस बात से भी प्रोत्साहन मिला है कि पहले तो अन्तर्जातीय-विवाह वैध ही नहीं था, कानून की दृष्टि से इसे विवाह ही नहीं कहा जा सकता था, परन्तु ब्राह्मो-समाज के केशव चन्द्रसेन आदि जो लोग जात-पाँत को नहीं मानते थे, उनके आन्दोलनों से ऐसे कानून बने जिनके आधार पर अन्तर्जातीय-विवाह को कानूनी तौर पर मान्यता प्राप्त हो गई। उदाहरणार्थ, १८७२ में केशवचन्द्र सेन के उद्योग से 'विशेष-विवाह-कानून' (Special Marriage Act, 1872) बना। इस कानून के अनुसार उन सब लोगों को आपस में विवाह करने का अधिकार दे दिया गया जो किसी धर्म को नहीं मानते। इस कानून के अनुसार विवाह करने वालों को यह घोषित करना पड़ता था कि वे न हिंदू हैं, न ईसाई हैं, न मुसलमान हैं, न बौद्ध हैं, न जैन हैं, वे किसी धर्म को नहीं मानते। परन्तु धीरे-धीरे यह अनुभव किया जाने लगा कि अगर हिन्दू हिन्दू रहता हुआ और मुसलमान मुसलमान रहता हुआ किसी दूसरे धर्म के व्यक्ति से विवाह कर ले तो इसकी आज्ञा क्यों नहीं देनी चाहिए ? इस आधार पर १९२३ में 'विशेष-विवाह-कानून' में, जो हिन्दू १८७२ के कानून के अनुसार विवाह करते थे उनके लिए, संशोधन हुआ जिसके अनुसार यह कहने की जरूरत नहीं रही कि मैं किसी धर्म को नहीं मानता। १९२३ में 'अन्तर्धर्म-विवाहों' को मान्यता प्राप्त हो गई, परन्तु इन विवाहों को रजिस्टर्ड कराना आवश्यक था। १९५४ में इस 'विशेष-विवाह-कानून' में फिर संशोधन हुआ। अब तक तो 'विशेष-विवाह-कानून' के अन्तर्गत जो विवाह किये जाते थे, उन्हीं को इस कानून का लाभ मिलता था, परन्तु अब १९५४ के संशोधित 'विशेष-विवाह-कानून' का लाभ हर किसी को मिल सकता है—अर्थात्, हिन्दू, मुस्लिम, ईसाई आदि किसी पद्धति से भी कोई विवाह क्यों न हो चुका हो, और पहले कभी भी क्यों न हुआ हो, अगर विवाह करने वाले 'विशेष-विवाह-कानून' के अधीन रजिस्ट्री कराना चाहें तो करा सकते हैं और इस कानून का लाभ उठा सकते हैं। इस कानून में एक-विवाह जरूरी है, परन्तु इसमें 'पारस्परिक-सहमति से तलाक' (Divorce by mutual consent) की व्यवस्था की गई है। इस कानून के अन्तर्गत जो शादी करेगा उसके सम्बन्ध में, चाहे वह हिन्दू हो, सिक्ख हो, ईसाई, मुसलमान, बौद्ध या जैन हो, यह समझा जायगा कि वह अपने संयुक्त-परिवार का सदस्य नहीं रहा। इस प्रकार हमने देखा कि 'विशेष-विवाह-कानून-१८७२' तथा उसके १९२३ तथा १९५४ के संशोधनों से अन्तर्जातीय-विवाहों को प्रोत्साहन मिला।

इसके अतिरिक्त जो आर्यसमाजी जात-पाँत को नहीं मानते उनके विवाह को वैध घोषित करने के लिए श्रीयुत् घनश्याम सिंह के उद्योग से 'आर्य-विवाह-कानून' (Aryan Marriage Validating Act, 1937) बना। यह कानून इसलिए बना क्योंकि आर्यसमाजी अपने को हिन्दू भी कहलाना चाहते थे, जात-पाँत को

तोड़ना भी चाहते थे। हर हालत में वे अपने को हिन्दुओं से इतना नहीं काट लेना चाहते थे जितना 'विशेष-विवाह-कानून' वाले अपने को हिन्दुओं से काट लेने के लिए तैयार थे।

आर्यसमाजियों के लिए तो १९३७ में 'आर्य-विवाह-कानून' बन गया, परन्तु जो हिन्दू जात-पांत तोड़ कर विवाह करना चाहते थे और आर्यसमाजी भी नहीं थे, उनके लिए क्या हुआ? उनके लिए पहले-पहल १९४६ में 'हिन्दू-विवाह-निर्योग्यता निवारण कानून' (Hindu Marriage Disabilities Removal Act, 1946) बना, इसका लक्ष्य सिर्फ़ हिन्दुओं की उप-जातियों में जहां विवाह नहीं हो सकता था, उस विवाह को वैधानिक रूप देना था, हिन्दू किसी भी जाति में विवाह कर सके—यह नहीं था। सब से पहले मैसूर में १९४८ में अन्तर्जातीय-विवाहों को वैध करने का कानून बना। इसके बाद १९४९ में भारत के समस्त-हिन्दुओं के लिए हर जाति उप-जाति में विवाह को वैध करार देने का 'हिन्दू-विवाह-वैधी-करण-कानून—१९४९' (Hindu Marriages Validating Act, 1949) बना जिसके अनुसार हर धर्म, जाति, उप-जाति में हिन्दुओं में विवाह हो सकते हैं। इन सब कानूनों के बनने से हिन्दुओं के अन्तर्जातीय-विवाहों में कानूनी रुकावट कोई नहीं रही।

१९५५ का 'हिन्दू-विवाह-कानून' (Hindu Marriage Act, 1955) अधिक व्यापक कानून है। हिन्दू-सामाजिक-संगठन पर इसका बहुत गहरा असर है। इसने अन्तर्विवाह तथा अन्य सभी प्रकार की हिन्दुओं की विवाह-सम्बन्धी समस्याओं को हल कर दिया है। इसका विस्तृत विवरण हम आगे चल कर देंगे।

११. बहिर्विवाही-प्रथा अथवा गोत्र, प्रवर, सपिंड में विवाह का 'निषेध'

(Exogamy or marriage out of Gotra and Prawar)

हिन्दुओं में जिस प्रकार जाति के अन्दर विवाह का विधान है, उसी प्रकार अपने गोत्र, अपने प्रवर तथा अपने सपिंड में विवाह का निषेध है। जाति के अन्दर विवाह करने को 'अन्तर्विवाह' (Endogamy) कहते हैं, गोत्र, प्रवर और सपिंड के बाहर विवाह करने को 'बहिर्विवाह' (Exogamy) कहते हैं। गोत्र, प्रवर तथा सपिंड का क्या अर्थ है?

(क) गोत्र में विवाह करने का निषेध—हम इस पुस्तक में अन्यत्र 'गोत्र' के सम्बन्ध में विस्तृत चर्चा कर आये हैं, इसलिए यहां 'गोत्र' के सम्बन्ध में अधिक लिखने की आवश्यकता नहीं। संक्षेप में, इतना कहा जा सकता है कि भारतीय-साहित्य के अनुसार विश्वामित्र, जमदग्नि, भरद्वाज, गौतम, अत्रि, वसिष्ठ और कश्यप ऋषियों की सन्तान गोत्र कही गई है।[1] इन सात में अगस्त्य की सन्तान को

१. तेषां सप्तर्षीणाम् अगस्त्याष्टमानां यदपत्यं तद्गोत्रमित्युच्यते।

—सत्याषाढ हिरण्यकेशी श्रौतसूत्र

भी गोत्र कहा गया है। ये गोत्र पहले तो ७–८ ही थे, परन्तु आगे चलकर इनकी संख्या हजारों-लाखों तक पहुँच गई।[1] इस दृष्टि से कहा जा सकता है कि किसी परिवार का जो आदि-प्रवर्त्तक था, जिस महापुरुष से परिवार चला था उसका नाम परिवार का गोत्र था, और उस परिवार के जो स्त्री-पुरुष थे, वे आपस में भाई-बहन समझे जाते थे और क्योंकि भाई-बहन की शादी अनुचित प्रतीत होती है, इसलिए एक गोत्र के लड़के-लड़की का विवाह वर्जित था।

गोत्र के सम्बन्ध में याज्ञवल्क्य तथा बौधायन का कथन है कि इनकी संख्या आठ न होकर हजारों है, परन्तु एक वंश-परम्परा में खानदान का जो कोई प्रसिद्ध व्यक्ति हुआ, चाहे वह आदिकाल में हुआ, चाहे बीच के काल में हुआ, उसके नाम से गोत्र चल पड़ा।[2] इस दृष्टि से भी गोत्र का अभिप्राय अपने खानदान के ही किसी व्यक्ति से प्रतीत होता है।

गोत्र के सम्बन्ध में जो परम्परा चली आती है उससे भी यही प्रतीत होता है कि इसका खानदान के किसी आदिकालीन महा-पुरुष से सम्बन्ध है। जिन लोगों का आदिपुरुष एक रहा हो वे आपस में एक-दूसरे के लड़की-लड़के को भाई-बहन समझते थे और इसलिए उनका आपस का विवाह निषिद्ध था। यह एक प्रकार का रक्त का सम्बन्ध था, बहुत दूर की किसी पीढ़ी में, इतनी दूर की पीढ़ी में कि इसे 'शारीरिक-सम्बन्ध' (Physical relation) कहने के स्थान में 'भावात्मक-सम्बन्ध' (Emotional ralation) मानना अधिक संगत प्रतीत होता है। आजकल के युग में ऐसे कल्पनात्मक-सम्बन्ध के आधार पर विवाह का निषेध करना अनुचित प्रतीत होता है क्योंकि इस आधार पर तो सारा मानव-समाज एक परिवार है, अगर सब लोग आठ ऋषियों की सन्तान हैं तो ये आठ ऋषि भी तो किसी एक ऋषि की ही सन्तान होंगे। इसलिए सगोत्र-विवाह का निषेध पहले कभी सार्थक रहा होगा, आज के युग में जब वंश-परम्परा का सिलसिला बहुत आगे निकल गया है, यह निषेध निरर्थक निषेध है। वर्तमान-अवस्था में सगोत्र-विवाह का निषेध लगभग ऐसा है जैसे कई लोग अपने गाँव की लड़की से शादी नहीं करते। गाँव के सब लोग सम्बन्धी समझे जाते हैं।

(ख) प्रवर में विवाह करने का निषेध—जैसे गोत्र ऋषियों के नाम हैं, वैसे प्रवर भी ऋषियों के ही नाम हैं। 'प्रवर' शब्द 'वृञ्‌ वरणे' धातु से बना है। इसका अर्थ हुआ 'चुन लेना'। 'प्र' का अर्थ है—विशेष तौर पर। जिसे खास तौर पर प्रार्थना के लिए यज्ञ में चुन लिया जाय, उसे 'प्रवर' कहते हैं। श्री पांडुरंग

विश्वामित्रो जमदग्निर्भरद्वाजोऽथ गोतमः।
अत्रिर्वसिष्ठः कश्यप इत्येते गोत्रकारकाः॥

१. चतुर्विंशति गोत्राणि। ऊनपंचाशद् गोत्रभेदाः। गोत्राणि तु शतानि अनंतानि।

२. 'वंशपरपरा-प्रसिद्धं गोत्रम्'—याज्ञवल्क्यः।

वामन काणे का कथन है कि यज्ञ करते समय पुरोहित कुछ प्रसिद्ध, यशस्वी ऋषियों को चुनकर उनके नाम से यज्ञ में आहुति देता था और प्रार्थना करता था कि मैं अग्नि में वैसे ही आहुति देता हूँ जैसे भृगु ने दी थी, जैसे अंगिरा ने दी थी, शुचि ने दी थी, और्व ने दी थी। ये प्राचीन ऋषि अनेक ऋषियों में से चुन लिये जाने के कारण 'प्रवर' कहलाने लगे। पुरोहित ने जिन ऋषियों को चुन लिया वे पुरोहित के 'प्रवर' हुए, और क्योंकि यजमान यज्ञ के लिए पुरोहित को चुनता है इसलिए पुरोहित के 'प्रवर' ही यजमान के भी 'प्रवर' समझे जाने लगे। इस प्रकार पुरोहित के तथा यजमान के 'प्रवर' एक ही हो गये और एक प्रवर के लोगों में विवाह-सम्बन्ध निषिद्ध समझा गया, इसलिए निषिद्ध समझा गया क्योंकि एक ही प्रवर के लोग आपस में भाई-बहन के समान हैं। श्री काणे का कथन है कि गोत्र तथा प्रवर दोनों प्राचीन ऋषियों के नाम हैं। गोत्र अर्वाचीन आठ ऋषियों के नाम हैं, उन ऋषियों के जिनसे आजकल की वंश-परम्परा चल रही है, प्रवर इन अर्वाचीन आठ ऋषियों के भी प्राचीन वंश-प्रवर्त्तकों के नाम हैं। जिस आधार पर गोत्र में विवाह करना वर्जित है, उसी आधार पर प्रवर में विवाह करना वर्जित है, परन्तु अगर गोत्र के प्रवर्त्तक ऋषियों को हजारों साल बीत गये तो प्रवरों के प्रवर्त्तकों को तो उससे भी ज्यादा समय बीता होगा, इस दृष्टि से अगर गोत्र में विवाह का निषेध निरर्थक है, तो प्रवर में विवाह का निषेध तो उससे भी अधिक निरर्थक है।

हिन्दू-समाज में १९४६ तक सगोत्र-विवाह अवैध समझे जाते थे। १९४६ में 'सगोत्र-विवाह-वैधता-कानून' के पास हो जाने के बाद तो सगोत्र-विवाह वैध हो गये।

(ग) सपिंड में विवाह करने का निषेध—जिस प्रकार अपने गोत्र तथा प्रवर में विवाह करने का हिन्दू-समाज में निषेध है, इसी प्रकार अपने सपिंड में विवाह करने का भी हिन्दू-समाज में निषेध है।[1] सपिंड का क्या अर्थ है? 'सपिंड'-शब्द के तीन अर्थ बताये जाते हैं। हिन्दू-कानून की दो प्रणालियाँ हैं—दायभाग तथा मिताक्षरा। दायभाग-प्रणाली के अनुसार 'पिंड' का अर्थ है श्राद्ध के समय पितरों को अर्पित किया जाने वाला चावलों का गोला। जो लोग एक ही पितर को पिंड अर्पण कर सकें वे आपस में 'सपिंड' कहलाते हैं। एक ही पिता, पितामह की सन्तान अपने पितरों को श्राद्ध के समय पिंड अर्पण करते हैं इसलिए वे 'सपिंड' हैं। मिताक्षरा-प्रणाली के अनुसार याज्ञवल्क्य-स्मृति के टीकाकार विज्ञानेश्वर का कथन है कि 'सपिंड' का अर्थ है एक ही पिंड या एक ही शरीर वाला। पिता और पुत्र सपिंड हैं क्योंकि पिता का रक्त ही पुत्र में आता है। दादा-परदादा भी हमारे सपिंड हैं क्योंकि उनके रक्त से ही तो हमारा शरीर बना है। सपिंड का अर्थ है—'एक ही रक्त के लोग' (Consanguineous)। सपिंड का तीसरा अर्थ

---

१. असपिंडा च या मातुः असगोत्रा च या पितुः।
सा प्रशस्ता द्विजातीनाम् दारकर्मणि मैथुने॥ —मनुस्मृति।

श्री दफ्तरी ने किया है। उनका कथन है कि सपिंड लोग वे होते हैं, जो साथ-साथ पिंड अर्थात् भोजन करते हैं। उदाहरणार्थ, भाई-बहन तो साथ-साथ भोजन करते हैं, भाई-बहनों की सन्तानें नहीं क्योंकि ये सन्तान तो बहुत देर बाद पैदा होती हैं।

समान गोत्र तथा समान प्रवर में विवाह न करने का विधान तो 'भावात्मक' (Emotional) है, परन्तु सपिंड में विवाह न करने का विधान 'भावात्मक' के साथ-साथ 'प्रजननिक' (Eugenic) भी है। यह तो सब-कोई जानते हैं कि अति परिचय में प्रेम नहीं रहता, इसलिए भावात्मक-दृष्टि से भाई-बहन की शादी वर्जित है, परन्तु यह भी ठीक है कि एक ही समान रुधिर की सन्तान में उत्कृष्टता नहीं आती, भिन्न रुधिर में उत्कृष्टता आती है। इस दृष्टि से, समान गोत्र तथा प्रवर में विवाह का निषेध 'भावात्मक-दृष्टि' से असंगत रहा होगा, परन्तु सपिंड-विवाह का निषेध तो इन दोनों दृष्टियों से असंगत है, और इसी लिए हिन्दू-विवाह-व्यवस्था में इस प्रकार के विवाह का निषेध है।

सपिंड में कौन-कौन आ जाते हैं? मिताक्षरा के अनुसार पीढ़ियों को गिनते हुए 'सामान्य-पूर्व-पुरुष' (Common ancestor) को भी इस गणना में गिनना चाहिए और वर तथा वधू इन दोनों के माता और पिता की पीढ़ियों को देखना चाहिए। पूर्व-पुरुष को छोड़ दिया जाय, तो माता की ओर से पांच-पीढ़ियों में विवाह नहीं हो सकता, पूर्व-पुरुष को भी इस गणना में ले लिया जाय तो माता की ओर से छः पीढ़ियों में विवाह नहीं हो सकता। यदि गणना पिता की ओर से की जाय तो पिता से सातवीं पीढ़ी के बाद विवाह हो सकता है, आठवीं में, नौवीं में; इससे उरे विवाह नहीं हो सकता, परे हो सकता है। अपने रुधिर वालों में विवाह न करने के इस नियम का तो 'प्रजननिक-दृष्टि' (Eugenic point of view) से कुछ आधार है, गोत्र तथा प्रवर में विवाह न करने का कोई 'प्रजननिक-आधार' नहीं है।

तो क्या हिन्दू-समाज में 'सपिंड-विवाह' (Consanguineous marriages) होते ही नहीं रहे? यह बात नहीं है। हिन्दू-समाज में 'सपिंड-विवाह' होते रहे हैं। उदाहरणार्थ, अर्जुन ने सुभद्रा से विवाह किया। सुभद्रा अर्जुन के मामा की लड़की थी और इससे वीर अभिमन्यु उत्पन्न हुआ। अर्जुन और सुभद्रा का विवाह ममेरे भाई-बहन (Maternal Cross Cousins) का विवाह था। श्रीकृष्ण ने रुक्मिणी से विवाह किया, वह भी उनके मामा की लड़की थी। श्रीकृष्ण के लड़के प्रद्युम्न ने अपने मामा की लड़की रुक्मावती से विवाह किया, श्रीकृष्ण के पोते अनिरुद्ध ने अपने मामा की लड़की रोचना से विवाह किया, परीक्षित ने अपने मामा की लड़की इन्द्रावती से विवाह किया, श्रीकृष्ण ने अपने पिता की बहन की लड़की, अर्थात् फुफेरी बहन (Paternal Cross-Cousin) मित्रविन्दा तथा भद्रा से विवाह किया, सिद्धार्थ (गौतम बुद्ध) ने अपने मामा की लड़की यशोधरा से विवाह किया, पृथ्वीराज चौहान ने अपनी माँ की बहन की पोती संयुक्ता से विवाह किया। दक्षिण भारत में मामा की लड़की से विवाह करने की

प्रथा है। कर्नाटक तथा मैसूर के ब्राह्मणों में भी यह प्रथा है। मद्रास की वेल्लम जाति में अपनी भांजी से और तेलगू तथा तामिल जिलों में शूद्रों तथा ब्राह्मणों में अपनी साली की लड़की से विवाह हो जाता है। सम्भव है, दक्षिण में सपिंड-विवाह होने का कारण 'मातृ-सत्ताक-परिवार' (Matriarchal family) की प्रथा हो।

१२. अन्तर्विवाही तथा बहिर्विवाही प्रथा के दोष

अन्तर्विवाह तथा बहिर्विवाह के सम्बन्ध में हिन्दू-समाज में जो नियम बने हुए हैं उनकी कभी आवश्यकता रही होगी, परन्तु वर्त्तमान-काल में तो ये प्रथाएँ हिन्दू-समाज के लिए हितकर सिद्ध नहीं हो रहीं। इन प्रथाओं के जो दोष हैं, वे निम्न हैं :

(क) विवाह का क्षेत्र सीमित हो जाना—अन्तर्विवाह के कारण जाति के अन्दर ही विवाह हो सकता है, जाति के बाहर नहीं। इससे विवाह का क्षेत्र अत्यन्त सीमित हो जाता है। बहिर्विवाह के कारण जाति के भीतर भी अपने गोत्र में, अपने प्रवर में, अपने सपिंड में विवाह नहीं हो सकता। इससे पहले से संकुचित विवाह का क्षेत्र और अधिक संकुचित और सीमित हो जाता है। श्रीयुत ब्लंट ने १९११ की उत्तर-प्रदेश की मनुष्य-गणना की रिपोर्ट में लिखा है कि पिता की सात और माता की पांच पीढ़ियों में विवाह के निषेध से २,१२१ लड़कियाँ हिन्दू के लिए विवाह में वर्जित हो जाती हैं। हिन्दुओं की तुलना में ईसाइयों में केवल ३० सम्भाव्य सम्बन्धियों का निषेध बनता है। इस सब का परिणाम हिन्दू-समाज के लिए हितकर नहीं हो रहा। विवाह के लिए लड़के-लड़की ढूंढना एक समस्या हो जाता है।

(ख) दहेज की प्रथा का चल पड़ना—विवाह के क्षेत्र के इतना अधिक सीमित हो जाने का परिणाम यह होता है कि लड़कियों को वर नहीं मिलते, जो मिलते भी हैं, वे भारी दहेज मांगने लगते हैं। कई जातियों में तो लड़के की पढ़ाई का सारा खर्च लड़की के बाप को देना पड़ता है, लड़की के मां-बाप कर्जा उठा कर उसकी शादी करते हैं और उसके लालची सास-ससुर रुपया खींचने के लिए उसे जन्म भर तंग करते रहते हैं।

(ग) बेमेल-विवाह या आजन्म कुँवारीपन—अन्तर्विवाही तथा बहिर्विवाही प्रथाओं का एक दुष्परिणाम यह भी होता है कि अपनी जात में योग्य वर न मिलने के कारण लड़की के माता-पिता किसी बूढ़े के गले लड़की को मढ़ देते हैं, या लड़की बिना विवाह के घर बैठी जन्म काट देती है। विवाह न करने से समाज में जो दुष्परिणाम होते हैं वे भी समाज को भुगतने पड़ते हैं।

१३. अनुलोम तथा प्रतिलोम विवाह
(Hypergamy and Hypogamy)

जैसा हम ऊपर देख आये हैं, हिन्दुओं में अन्तर्जातीय-विवाहों का निषेध है, परन्तु इस निषेध के होते हुए भी एक-दूसरे ढंग से अन्तर्जातीय-विवाह को कानूनी

तौर पर स्वीकार भी किया गया है। अन्तर्जातीय-विवाह की स्वीकृति अनुलोम-विवाह के तौर पर दी गई है। अनुलोम-विवाह का अर्थ है उच्च-जाति के पुरुष का निम्न-जाति की स्त्री से विवाह करना। इस प्रकार के विवाह को हिन्दुओं में वैध माना गया है। प्रतिलोम-विवाह की स्वीकृति हिन्दू-व्यवस्था में नहीं दी गई।

अब जब कि हम विवाह के सम्बन्ध में विधि तथा निषेध पर विचार कर रहे हैं, हिन्दू-सामाजिक-व्यवस्था के अनुलोम तथा प्रतिलोम विवाहों पर भी विचार करना आवश्यक है क्योंकि अनुलोम-विवाह का विधान तो नहीं परन्तु वह वैध-विवाह माना जाता है, प्रतिलोम-विवाह का तो निषेध ही है, वह वैध-विवाह नहीं माना जाता।

(क) अनुलोम-विवाह की वैधता—हिन्दुओं की जाति-व्यवस्था के अनुसार लड़की की विवाह से पहले जाति पिता की जाति होती है, विवाह के बाद जाति पति की जाति हो जाती है। एक तरह से स्त्री की तो कोई जाति ही नहीं होती, पुरुष की जाति होती है, स्त्री जिस जाति के पुरुष के साथ विवाह करे उसकी वही जाति मानी जाती है। हिन्दू-व्यवस्था में क्योंकि पुरुष को सब अधिकार दिये गये हैं, स्त्री को कोई अधिकार नहीं दिया गया, पुरुष को दिये गये अधिकारों के अनुसार ब्राह्मण को सब से अधिक, बाद को क्षत्रिय, उसके बाद वैश्य आता है, इसलिए विवाह के क्षेत्र में ब्राह्मण को यह अधिकार दिया गया कि चाहे तो वह ब्राह्मण-कन्या से विवाह करे, चाहे क्षत्रिय, वैश्य या शूद्र कन्या से विवाह करे। इसी प्रकार क्षत्रिय को अधिकार दिया गया है कि वह चाहे क्षत्रिय कन्या से विवाह करे, चाहे वैश्य या शूद्र कन्या से विवाह करे। वैश्य को वैश्य तथा शूद्र कन्या से विवाह की आज्ञा दी गई है। कहने का अभिप्राय यह है कि उच्च-वर्ण का पुरुष अपने कुल के अतिरिक्त अपने से निम्न-कुल की कन्या से विवाह कर सकता है। इस प्रकार का विवाह अनुलोम-विवाह कहलाता है, और हिन्दू-शास्त्रों के अनुसार यह वैध-विवाह है। तो क्या ब्राह्मण का ब्राह्मण-कन्या तथा ब्राह्मण का अन्य वर्णों की कन्या के साथ जो विवाह होता है, इन दोनों में कोई भेद नहीं है? भेद है, तो वह भेद क्या है?

(ख) सवर्ण-विवाह तथा असवर्ण-विवाह (अनुलोम-विवाह) में भेद—अपने वर्ण के पुरुष का अपने वर्ण की स्त्री के साथ विवाह सवर्ण-विवाह कहलाता है, उच्च-वर्ण के पुरुष तथा निम्न-वर्ण की स्त्री का विवाह असवर्ण-विवाह कहलाता है, इसी को अनुलोम-विवाह भी कहते हैं। इन दोनों विवाहों को हिन्दू-व्यवस्था में वैध तो माना गया है, परन्तु इनमें कोई भेद न हो—ऐसी बात नहीं है। श्रीयुत् हरिदत्त विद्यालंकार ने अपनी पुस्तक 'हिन्दू-परिवार-मीमांसा'[१] में लिखा है: "मनु (९-१५३) तथा याज्ञवल्क्य (२-१२५) की व्यवस्था के अनुसार यदि एक

१. हिन्दू-परिवार-मीमांसा, पृ० ३८६। —हरिदत्त विद्यालंकार।

ब्राह्मण की चार वर्णों की चार पत्नियां हों और उनके चार पुत्र हों, तो सारी सम्पत्ति दस भागों में बांट कर उसका निम्न प्रकार से विभाग होगा--४ भाग ब्राह्मणी के पुत्र को, ३ भाग क्षत्रिया के पुत्र को, २ भाग वैश्या तथा १ भाग शूद्रा के पुत्र को। यदि ऊपर के तीन वर्णों की पत्नियों से सन्तान न हों, केवल शूद्रा को ही सन्तान हो तो भी उसे दसवां ही हिस्सा मिलेगा (मनु ९।१५४)। आजकल न्यायालयों ने इस व्यवस्था को स्वीकार किया है। यदि किसी ब्राह्मण की चारों वर्णों की पत्नियों में से केवल उच्च-वर्ण की किसी पत्नी से एक सन्तान हो तो वह पिता की सारी सम्पत्ति की स्वामी बनेगी, यदि एक सन्तान केवल शूद्रा से हो तो वह $\frac{1}{10}$ सम्पत्ति हो पा सकती है, यदि एक सन्तान उच्च-वर्ण की पत्नी से तथा एक शूद्रा से हो तो पहली को $\frac{9}{10}$ तथा दूसरी को $\frac{1}{10}$ सम्पत्ति प्राप्त होगी।"

इसका अर्थ यह हुआ कि उच्च-वर्ण के पुरुष को निम्न-वर्ण की स्त्री से विवाह करने का अधिकार तो है, परन्तु वह विवाह सवर्ण-विवाह के स्तर का नहीं समझा जायगा, उसे सवर्ण न कहकर असवर्ण या अनुलोम-विवाह कहा जायगा, उस विवाह की सन्तान को सम्पत्ति में सवर्ण-विवाह की सन्तान के बराबर अधिकार नहीं होगा। इन अनुलोम-विवाहों से उत्पन्न सन्तान को 'अपसद' कहा जाता था। ब्राह्मण तथा शूद्रा के विवाह के विषय में तो कहा गया है कि ब्राह्मण शूद्रा से विवाह भले ही कर ले, उससे सन्तान[1] न उत्पन्न करे, अगर करे तो उसे प्रायश्चित्त करना होगा। शूद्रा से विवाह काम-भाव से किया जाता है, सन्तान उत्पन्न करने के लिए नहीं। मनुस्मृति में लिखा है कि ब्राह्मण से शूद्रा में उत्पन्न सन्तान शव के समान होती है, इसलिए इस सन्तान को 'पारशव' कहा गया है। इस सारे का अभिप्राय यह प्रतीत होता है कि अगर शूद्र से सन्तान होगी, तो वह अच्छे संस्कारों की नहीं होगी, इसलिए उससे सन्तान ही उत्पन्न न करे, उसके साथ रति-सम्बन्ध भले ही कर ले। ऐसे विधान में पुरुष के मुकाबिले में स्त्री को नाचीज ही समझा गया होगा, तभी ऐसा विधान बनाया गया होगा।

हिन्दू-शास्त्रों में अनुलोम-विवाहों की आज्ञा क्यों दी जबकि वे जाति-व्यवस्था के इतने पक्षपाती थे—इस सम्बन्ध में दो विचार हैं। एक विचार तो यह है कि कामी व्यक्तियों के लिए ऐसे विवाह की आज्ञा दी गई, इस प्रकार के विवाहों को वैध तो माना गया, परन्तु इन्हें उच्च-कोटि का नहीं माना गया, इनकी सन्तान को भी अन्तर्विवाही-विवाहों के समान सम्पत्ति में अधिकार नहीं दिये गये। दूसरा विचार रिजले का है। उनका कहना है कि जब आर्य लोग भारत में आये, तब उन्हें स्त्रियों की आवश्यकता हुई। विजेता लोग जब दूसरे मुल्क पर आक्रमण करते हैं तब वे अपनी स्त्रियां साथ तो लाते नहीं, मुल्क को जीत कर जब वहां बस जाते हैं, तब उन्हें परिवार बनाने के लिए विजित देश की स्त्रियों को अपने में खपाना पड़ता

१. अपत्यजन्म शूद्रायां न प्रशंसन्ति साधवः।
शूद्रायां जनयन् विप्रः प्रायश्चित्तमवाप्नुयात्॥ (महाभारत, अनु०, ४४)

है। इसी कारण आर्यों ने अनुलोम-विवाहों की आज्ञा दे दी, परन्तु जब उनकी आवश्यकता पूरी हो गई तब इस प्रकार के विवाहों की प्रथा को छोड़ दिया। यही कारण है कि हिन्दू-शास्त्रों में अनुलोम-विवाहों की आज्ञा तो है, परन्तु इस प्रकार के अन्तर्जातीय-विवाह होते नहीं हैं, क्योंकि अनुलोम-विवाह दूसरे शब्दों में अन्तर्जातीय-विवाह है।

(ग) प्रतिलोम-विवाह की अवैधता—अनुलोम-विवाह को उत्तम विवाह तो नहीं माना गया, परन्तु वैध अवश्य माना गया है, परन्तु प्रतिलोम-विवाह को तो अवैध माना गया है। प्रतिलोम-विवाह का अर्थ है निम्न-जाति के पुरुष का उच्च-जाति की कन्या से विवाह करना। जैसा हमने ऊपर कहा, स्त्री की कोई जाति नहीं मानी जाती, पुरुष की जाती मानी जाती है। जब निम्न जाति का पुरुष उच्च-जाति की कन्या से विवाह करता है, तब वह एक कन्या को अपनी निम्न जाति में लाकर निम्न जाति की संख्या बढ़ाता है। इस दृष्टि से हिन्दू-सामाजिक-व्यवस्था में इस प्रकार के विवाह का निषेध है। हिन्दू-स्मृतिकारों ने तो लिखा है कि अगर शूद्र उच्च-वर्ण की स्त्री से सम्बन्ध करे तो उसे सार्वजनिक-स्थान पर लाकर कुत्तों से नुचवा डाले, अग्नि से लाल शय्या पर बँधवा दे। यह व्यवस्था आजकल के अमरीका के 'कु-क्लक्स-क्लैन'-लोगों के नीग्रो जाति के लोगों के साथ किये जाने वाले व्यवहार जैसी है।

हिन्दू-शास्त्रों में प्रतिलोम-विवाहों को निषिद्ध क्यों किया गया जब कि ये भी अनुलोम-विवाहों की तरह अन्तर्जातीय हैं—इस विषय में दो मत हैं। एक मत तो यह है कि आर्य रक्त-शुद्धता में विश्वास करते थे, और पुरुष को रक्त-शुद्धता में प्रधान कारण मानते थे, इसलिए निम्न-जाति के पुरुष का उच्च-वर्ण की स्त्री से सम्बन्ध बर्दाश्त नहीं करते थे, इससे निम्न कोटि की सन्तान उत्पन्न होने की सम्भावना थी। दूसरा मत श्री हट्टन का है। उनका कहना है कि इस प्रकार के विवाह इसलिए निषिद्ध थे कि एक शूद्र के लड़के और ब्राह्मणी से उत्पन्न सन्तान को न पिता की तरफ़ से सम्पत्ति मिल सकेगी, न माता की तरफ़ से क्योंकि उस समय ब्राह्मणों में पितृ-सत्ताक-परिवार होते थे, शूद्रों में मातृ-सत्ताक-परिवार। यह सन्तान न शुद्ध ब्राह्मण की होती, न शुद्ध शूद्र की, इसलिए यह यों ही रह जाता।

१४. अनुलोम-प्रतिलोम का दुष्परिणाम

अनुलोम तथा प्रतिलोम विवाहों की व्यवस्था का मुख्य आधार 'प्रजातिवाद' (Racism) प्रतीत होता है। हिन्दुओं में ब्राह्मणों को उच्च-प्रजाति का माना जाता रहा है, शूद्रों को निम्न-प्रजाति का, इसी आधार पर यह व्यवस्था प्रारम्भ हुई होगी। इसके जो दुष्परिणाम हिन्दू-समाज को भुगतने पड़ रहे हैं या भुगतने पड़े हैं, वे निम्न हैं :

(क) उच्च-वर्णों में दहेज की प्रथा (Bridegroom's Price or Dowry system)—ब्राह्मण अपने वर्ण में तो विवाह कर ही सकता है, साथ ही अपने से नीचे वर्णों में भी विवाह कर सकता है—इस अनुलोम-विवाह की स्वीकृति

देने वाली सामाजिक-प्रथा का परिणाम यह हुआ कि ब्राह्मण का विवाह का क्षेत्र बहुत विस्तृत हो गया, और ब्राह्मण लड़की सिर्फ़ ब्राह्मण के साथ विवाह कर सकती है, अपने से नीची जाति में विवाह नहीं कर सकती—इस प्रतिलोम-विवाह की अस्वीकृति देने वाली सामाजिक-प्रथा का परिणाम यह हुआ कि ब्राह्मण-लड़की का विवाह का क्षेत्र अत्यन्त संकुचित हो गया। ब्राह्मण-लड़का जहां चाहता शादी कर सकता था, ब्राह्मण-लड़की सिर्फ़ अपने वर्ण में शादी कर सकती थी। ब्राह्मण-लड़कियों के लिए विवाह एक समस्या हो गई। या तो ब्राह्मण-लड़का पाने के लिए लड़की के माता-पिता दहेज दें या लड़की जन्मभर कुंवारी बैठी रहे। प्रतिलोम-विवाह को नाजायज़ करने का परिणाम ब्राह्मणों में 'दहेज' (Bride-groom price) की प्रथा का चलन हो गया।

(ख) उच्च वर्णों में बहु-पत्नी-विवाह (Polygyny) की प्रथा—अनुलोम-विवाह में उच्च-वर्ण वाले पुरुष को अपने वर्ण तथा अपने से निम्न वर्ण की पत्नियों से विवाह करने की आज्ञा है। इसके अतिरिक्त हिन्दू-व्यवस्था में एक-विवाह के प्रति कोई निष्ठा नहीं, जो चाहे बहु-पत्नी-विवाह कर सकता है। इसका परिणाम यह हुआ कि हिन्दू अपने वर्ण की पत्नी के अतिरिक्त अन्य जिस किसी वर्ण की कन्या को भी पा सका उसके साथ विवाह करने लगा। बहु-पत्नी-विवाह का कुत्सित रूप बंगाल में कुलीन-विवाह की प्रथा के रूप में प्रकट हुआ जिसका हम अन्यत्र विस्तार से उल्लेख कर आये हैं।

(ग) निम्न वर्णों में कन्या-विक्रय (Bride price) की प्रथा—अनुलोम-प्रतिलोम-प्रथा के अनुसार निम्न वर्ण की कन्या तो उच्च-वर्ण में आ सकती है, निम्न-वर्ण का पुरुष उच्च-वर्ण की कन्या से विवाह नहीं कर सकता। इस सामाजिक-व्यवस्था का परिणाम यह हुआ कि निम्न-वर्ण के पुरुष का विवाह का क्षेत्र तो बहुत संकुचित हो गया, निम्न-वर्ण की कन्या का विवाह का क्षेत्र बहुत विस्तृत हो गया। उदाहरणार्थ, शूद्रा तो अपने वर्ण के अतिरिक्त सब वर्णों में जा सकती थी, परन्तु शूद्र सिर्फ़ अपने वर्ण की कन्या से विवाह कर सकता था। नतीजा यह हुआ कि निम्न वर्ण में विवाह-योग्य कन्याएं कम मिलने लगीं, पुरुष ज़्यादा थे। स्वाभाविक तौर पर उच्च-वर्णों में जैसे वर का मूल्य देना पड़ता था, वैसे निम्न-वर्णों में कन्या का मूल्य देने की प्रथा चल पड़ी। अनुलोम तथा प्रतिलोम प्रथा का आज हिन्दू-समाज पर यह प्रभाव पड़ रहा है कि उच्च-वर्णों में लड़के बिकते हैं, निम्न वर्णों में लड़कियां बिकती हैं, बड़ी जातों में एक पुरुष अनेक स्त्रियां रखता रहा है, छोटी जातों में अनेक पुरुष एक स्त्री तक रखते हैं, बड़ी जातियों में पुरुष अविवाहित नहीं रहता, छोटी जातियों में कई बार पुरुष को जन्मभर अविवाहित रह जाना पड़ता है, बड़ी जातों में लड़की आसानी से मिल जाती है, छोटी जातों में लड़की को लूट कर, भगा कर लाना पड़ता है।

(घ) लड़के-लड़कियों के अनुपात में असमानता (Disproportion of the sexes)—अनुलोम-विवाह के अनुसार उच्च वर्ण में लड़के को सब वर्णों की

लड़कियाँ मिल जाती हैं, लड़की को सब वर्णों के तो क्या अपने वर्ण के लड़के मिलने भी कठिन हो जाते हैं, निम्न-वर्ण में प्रतिलोम-विवाह के अनुसार लड़की को सब वर्णों के लड़के मिल जाते हैं, लड़के को अपने वर्ण में भी लड़की मिलनी कठिन हो जाती है, इस कारण उच्च तथा निम्न वर्ण दोनों में लड़के-लड़कियों का अनुपात बिगड़ जाता है। या तो जाति-व्यवस्था को हटा दिया जाय, तब तो लड़के-लड़कियों की इस विषमता का सामाजिक-रचना पर कोई प्रभाव नहीं पड़ सकता, परन्तु अगर जाति-व्यवस्था बनी हुई है, हर व्यक्ति को जाति को दृष्टि में रख कर ही विवाह करना है, तब तो लड़के-लड़कियों का यह असम-विभाग अनेक समस्याएँ उत्पन्न करके ही रहेगा। लड़के-लड़कियों की विषमता से उत्पन्न होने वाली उन सब समस्याओं का आज हिन्दू-समाज को सामना करना पड़ रहा है।

अब १९४९ के 'हिन्दू-विवाह-वैधता-कानून' (Hindu Marriages Validity Act, 1949) के अनुसार अनुलोम-प्रतिलोम सब विवाहों को वैध घोषित कर दिया गया है, और आशा की जाती है कि उक्त प्रथाओं के कारण हिन्दू-समाज को जिन समस्याओं का सामना करना पड़ता रहा है वे समस्याएँ धीरे-धीरे हल होने लगेंगी।

१५. अनुलोम-विवाह तथा कुलीन-विवाह

हिन्दी के कई लेखकों ने अनुलोम-विवाह को कुलीन-विवाह का नाम दिया है। असल में, कुलीन-विवाह-प्रथा बंगाल की प्रथा है जिसका उल्लेख हम इसी अध्याय में पहले कर आये हैं। परन्तु क्योंकि अनुलोम का अर्थ है उच्च-कुल के व्यक्ति का निम्न-कुल की हर कन्या से विवाह करने का अधिकार तथा उच्च-कुल की कन्या का सिर्फ़ अपने कुल में विवाह का अधिकार, और प्रतिलोम का अर्थ है निम्न-कुल के पुरुष का सिर्फ़ अपने कुल में विवाह का अधिकार तथा निम्न-कुल की स्त्री का उच्च कुल में विवाह का अधिकार—इसलिए इस प्रथा को कुलीन-विवाह-प्रथा कहा जा सकता है। इन अर्थों में कुलीन-विवाह का अर्थ हुआ अपने से ऊँचे कुल में कन्या देने की प्रथा। बंगाल की जिस कुलीन-प्रथा का हम उल्लेख कर आये हैं वह कन्या को अपने से उच्च-कुल में देने की प्रथा है। यह प्रथा प्रायः अपने देश में सर्वत्र पायी जाती है। बंगाल का तो वर्णन हमने किया ही, उत्तर-प्रदेश में भी यह प्रथा है। उदाहरणार्थ, उत्तर-प्रदेश में कान्यकुब्ज ब्राह्मणों में सामाजिक-स्तर को नापने की व्यवस्था को बिस्वा कहा जाता है। जिन कान्यकुब्ज ब्राह्मणों को मुग़ल बादशाहों ने किसी-न-किसी प्रकार की सहायता देकर सम्मानित किया था, वे आज भी ऊँचे स्तर के माने जाते हैं। बीस बिस्वा ब्राह्मण सब से ऊँचे हैं। सनाढ्य-ब्राह्मणों के विषय में प्रसिद्ध है कि जिन ब्राह्मण परिवारों को बदायूँ के राजा से सम्मान मिला उनकी सन्तान साढ़े तीन घर की कही जाती है और ये साढ़े तीन घरे अन्य सनाढ्य ब्राह्मणों से ऊँचे दर्जे के हैं। इन्हें साढ़े-तीन-घरे क्यों कहा जाता है? क्योंकि कथानक के अनुसार बदायूँ के राजा ने जिन ४ ब्राह्मणों को सम्मानित किया था उनके १४ लड़के थे। इन्हें एक गाँव दिया था। हर-एक

को १४/४ = ३ १/२ हिस्सा आया इसलिए इन्हें साढ़े-तीन-घरे कहा गया। ये उच्च-कुल के कहे जाते थे। अनुलोम-विवाह के अनुसार, जिसे कुलीन-विवाह-प्रथा भी कहा जा सकता है, हर व्यक्ति अपने से ऊँचे कुल में विवाह करने का इच्छुक रहता है, कान्यकुब्जों में बीस बिस्वे वाले घरों में, सनाढ्यों में साढ़े-तीन-घरों के कुलों में, इसी तरह बंगाल में कुलीन-ब्राह्मण कहलाने वाले घरों में।

अनुलोम-विवाह या कुलीन-प्रथा से दहेज-प्रथा, वर-मूल्य प्रथा, बहु-पत्नी-विवाह, बेमेल-विवाह, बाल-विवाह आदि चल पड़ते हैं, लड़कियाँ अविवाहिता रह जाती हैं, लड़कियाँ घरों में अभिशाप मानी जाती हैं, कन्या-वध शुरू हो जाता है, कन्याओं का होना ही अपशकुन समझा जाता है, लड़कियाँ कम होने से विनिमय-विवाह भी चल पड़ता है? यह सब क्यों? क्योंकि कुलीन-विवाह में हर-कोई ऊँचे कुल में कन्या देना चाहता है इसलिए वर-पक्ष वाले दहेज माँगने लगते हैं, वर का मूल्य चढ़ता जाता है; अनेक परिवार उस कुल में विवाह करना चाहते हैं, इसलिए बहु-पत्नी-प्रथा भी चल पड़ती है; वर हाथ से न निकल जाय इसलिए बचपन में शादी होने लगती है, बाल-विवाह भी चल पड़ता है; जो लड़कियाँ ऊँचे कुल में नहीं जा सकतीं वे अविवाहिता रह जाती हैं; लड़कियों के घर में अविवाहिता रह जाने की सम्भावना से कन्याओं का वध भी होने लगता है। ये सब परिणाम विवाह में और-कुछ न देखकर सिर्फ़ कुल देखकर विवाह करने के हो रहे हैं।

कुलीन-विवाह का निम्न-कुल के वर्गों पर भी अपना प्रभाव पड़ता है? हम पहले ही कह आये हैं कि निम्न-कुलों के पुरुष तो ऊँचे-कुल में विवाह नहीं कर सकते, निम्न-कुल की स्त्री ऊँचे कुल में विवाह कर सकती है। प्रतिलोम-विवाह में यही बात आ जाती है। इस प्रथा का क्या नतीजा होता है? इस प्रथा का नतीजा यह होता है कि निम्न-कुलों के पुरुषों का विवाह का क्षेत्र संकुचित हो जाता है, इसलिए उनके यहाँ अनेक पुरुष अविवाहित रह जाते हैं; उन्हें अपनी जाति में लड़कियाँ नहीं मिलतीं क्योंकि लड़कियाँ ऊँचे कुलों में जाती हैं, इसलिए उनमें कन्या-विक्रय तथा कन्या-क्रय होने लगता है; कन्याओं की कमी रहती है, इसलिए कभी-कभी उनमें बहु-पत्नी की जगह बहु-पति-विवाह पाया जाता है; कन्याओं की कमी के कारण उनमें विधवाओं को भी विवाह की आज्ञा दी जाती है।

इस प्रकार हमने देखा कि कुलीन-विवाह अनुलोम तथा प्रतिलोम विवाह का ही दूसरा रूप है। अनुलोम तथा प्रतिलोम शास्त्रीय शब्द हैं, कुलीन-विवाह प्रचलित भाषा का शब्द है जिसका अर्थ है अपने से ऊँचे कुल में कन्या का विवाह करना। कोई समय था जब रुपया-पैसा आदि देखने के बजाय कुल देखा जाता था, कुल पर ही ज़ोर दिया जाता था, अन्य किसी बात को महत्त्व नहीं दिया जाता था। कुल पर आवश्यकता से अधिक बल देने के ये परिणाम थे जिनका हमने अभी उल्लेख किया।

१६. हिन्दू-विवाह-अधिनियम—१९५५
(The Hindu Marriage Act, 1955)

(क) सुधार की माँग—हमने देखा कि हिन्दू-विवाह में क्या-क्या प्रथाएँ रही हैं। हमने यह भी देखा कि इन प्रथाओं से हिन्दू-समाज को किन दुष्परिणामों को भोगना पड़ता है। कहीं गोत्र तथा प्रवर में विवाह नहीं कर सकते, कहीं सपिंड में विवाह का निषेध है, कहीं अनुलोम की रुकावट, कहीं प्रतिलोम की रुकावट, कहीं जाति की रुकावट, कहीं विवाह का सम्बन्ध अमर रहने वाला होने के कारण पति-पत्नी का झगड़ा। इन सब बातों के खिलाफ़ समय-समय पर आन्दोलन होते रहे, भिन्न-भिन्न कानून बनते रहे, परन्तु इन सब कानूनों से शिक्षित तथा प्रगतिगामी हिन्दू-समाज की सब माँगें पूरी नहीं हुईं।

(ख) राव कमेटी—इस सब का यह परिणाम हुआ कि १९४१ में स्वर्गीय श्री बेनेगल नरसिंह राव की अध्यक्षता में राव-कमेटी बनायी गई जिसे आदेश दिया गया कि वह हिन्दू-कोड बनाने की वांछनीयता पर रिपोर्ट करे। राव-कमेटी ने हिन्दू-कानून में सुधार की सिफ़ारिश की और विवाह तथा उत्तराधिकार आदि के सम्बन्ध में जो संशोधन होने चाहिएँ, वे तैयार भी किये और 'ड्राफ्ट हिन्दू-कोड' (Draft Hindu Code) के कुछ अंश तैयार करके केन्द्रीय-असेम्बली में प्रस्तुत किये। राव-कमेटी का काम तो समाप्त हो गया, परन्तु इन प्रस्तावों के सामने आने पर असेम्बली ने आदेश दिया कि कुछ अंश नहीं, सम्पूर्ण हिन्दू कोड तैयार करके उसे पेश किया जाय।

(ग) हिन्दू-कोड-बिल—सम्पूर्ण हिन्दू-कोड को तैयार करने के लिए १९४४ में राव-कमेटी को फिर पुनरुज्जीवित किया गया। इसने राव-कमेटी के 'ड्राफ्ट हिन्दू-कोड' में कुछ सुधार करके 'हिन्दू-कोड-बिल' को ११ अप्रैल १९४७ को उस समय के विधान-मंत्री डॉ० अम्बेदकर के द्वारा भारत की राज्य-व्यवस्थापिका (Constituent Assembly) सभा में रखा। इस विधेयक के राज्य-व्यवस्थापिका-सभा में रखने पर देश भर में एक खलबली मच गई। कोई कहता कि अब रोज़-रोज़ तलाक हुआ करेंगे, कोई कहता कि लड़कियों को लड़कों के बराबर सम्पत्ति का बँटवारा होगा और भाई-बहिन के झगड़े हुआ करेंगे। १९५१ में भारत-सरकार ने यह देख कर कि देश इस प्रस्ताव को ठीक इसी ढंग से लेने को तैयार नहीं दीखता, इसे वापस ले लिया, और बाद को इस विधेयक को चार खंडों में विभाजित कर दिया। इन चार खंडों में अब यह पास हो चुका है। इस विधेयक की मुख्य-मुख्य बातें हैं—विवाह तथा तलाक, उत्तराधिकार तथा अवयस्क का संरक्षण। तलाक, उत्तराधिकार आदि पर हम स्त्रियों की स्थिति पर लिखते हुए उस अध्याय में विचार करेंगे। विवाह के सम्बन्ध में जो नवीन परिवर्तन हुए हैं, उन्हीं को यहाँ लिखना प्रसंगगत होगा।

(घ) हिन्दू-विवाह-अधिनियम, १९५५—हिन्दू-कोड-बिल के परिणाम-स्वरूप १९५५ में विवाह का जो कानून बना उसके मुख्य तौर पर दो भाग हैं।

एक भाग का सम्बन्ध तलाक से तथा तलाक-जैसी बातों से है। उसकी चर्चा हम तलाक के प्रकरण में करेंगे। दूसरे भाग का सम्बन्ध विवाह से है। उसी की चर्चा हम यहाँ करेंगे। हिन्दू-विवाह-अधिनियम की मुख्य-मुख्य बातें निम्न हैं :—

[हिन्दू-विवाह की मुख्य शर्तें]

(i) विवाह के समय किसी भी पक्ष की पत्नी या पति जीवित न होने चाहिएँ।

(ii) दोनों पक्षों में से कोई भी विकृत-मस्तिष्क या पागल न होना चाहिए।

(iii) वर १८ तथा वधू १५ वर्ष पूरे कर चुके होने चाहिएँ।

(iv) दोनों पक्ष निषेधात्मक-सम्बन्धों की श्रेणी में न आते हों, अगर इन पक्षों की कोई प्रथा जिसके द्वारा ये नियंत्रित होते हों, इस प्रकार के सम्बन्ध की आज्ञा देती हो तो अपवाद हो सकता है।

(v) दोनों पक्ष एक-दूसरे के सपिंड न हों। सपिंड के विषय में स्मृतिकारों में मत-भेद रहा है। मनु पिता की ओर से ७ और माता की ओर से भी ७ पीढ़ियों में विवाह का निषेध करता है, विष्णु तथा याज्ञवल्क्य स्मृति में पिता की ७ और माता की ५ तथा वशिष्ठ स्मृति में पिता की ओर की ६ तथा माता की ओर की ४ पीढ़ियों को सपिंड कहा गया है और इनमें विवाह वर्जित है। अब जो १९५५ को हिन्दू-विवाह-अधिनियम बना उसमें पिता की ५ तथा माता की ३ पीढ़ियों को सपिंड कहा गया है और इन्हीं में विवाह वर्जित है, इसके बाहर की पीढ़ियों में नहीं।

(vi) यदि वधू की आयु पूरी १८ वर्ष नहीं है, तो विवाह के लिए उसके संरक्षक की अनुमति का होना आवश्यक है। संरक्षक कौन है—इसकी व्याख्या करते हुए कहा गया है कि पिता, माता, पितामह, नाना, सगे भाई जिनमें से सब से बड़े को प्राथमिकता होगी, वैमातक-बन्धु, चाचा, मामा आदि इस क्रम से संरक्षक माने जायेंगे।

(vii) विवाह किसी भी पक्ष के रीति-रिवाजों के अनुसार हो सकता है, परन्तु अगर विवाह में सप्तपदी की प्रथा हो तो सप्तपदी का अन्तिम पद उठा चुकने के बाद विवाह पूरा समझा जायगा।

(viii) अगर कोई अपने विवाह का कानूनी प्रमाण लेना चाहे, तो राज्य-सरकारें अपने-अपने राज्यों में इन विवाहों को रजिस्टर्ड करने की व्यवस्था कर सकती हैं। अगर कोई राज्य-सरकार अपने प्रदेश में इस प्रकार की आवश्यक व्यवस्था करना चाहे तो वह वैसा भी कर सकती है। ऐसी हालत में जो व्यक्ति विवाह को रजिस्टर्ड नहीं करायेगा उस पर २५ रुपए तक जुर्माना हो सकता है, और कुछ नहीं।

(क) हिन्दू-विवाह-अधिनियम, १९५५ का हिन्दू-समाज पर प्रभाव—अभी हमने हिन्दू-विवाह अधिनियम की रूप-रेखा दी। इस अधिनियम का यह आधा भाग ही है, अगला आधा भाग तलाक आदि से सम्बन्ध रखता है। इस अधिनियम

के परिणामों पर विचार करते हुए हमें तलाक-सम्बन्धी आधे भाग को भी ध्यान में रखना होगा। तलाक की आज्ञा किन्हीं खास अवस्थाओं में ही दी गई है, तलाक इतना आसान नहीं बना दिया गया जितना जानकारी न रखने वाले लोग कहते हैं। उदाहरणार्थ, व्यभिचार, धर्म-परिवर्त्तन, पागलपन, कुष्ठ-रोग, यौन-रोग, संन्यास, सात वर्ष तक लापता होना आदि हालतों में तलाक की व्यवस्था है। इस सारे 'हिन्दू-विवाह-कानून' का हिन्दू-समाज पर निम्न प्रभाव होगा :

[हिन्दू-विवाह-अधिनियम का प्रभाव]

(i) अन्तर्जातीय-विवाह—इस कानून में जाति या धर्म के आधार पर विवाह की व्यवस्था नहीं की गई। 'हिन्दू' की परिभाषा करते हुए बौद्ध, जैन, सिक्ख—सब को हिन्दू कहा गया है। ये सब आपस में विवाह कर सकते हैं। इस दृष्टि से यह कानून अन्तर्जातीय तथा अन्तर्धर्म विवाहों की दिशा में एक कदम है। अन्तर्धर्म में मुसलमान तथा ईसाई आदि नहीं आते, बौद्ध, जैन तथा सिक्ख ही आते हैं।

(ii) बहु-पत्नी-विवाह-निषेध तथा एक-विवाह का विधान—इस कानून के जारी होने के बाद से कोई हिन्दू दूसरी पत्नी से विवाह नहीं कर सकता, करेगा तो वह विवाह अवैध समझा जायगा। इस कानून के अनुसार अब हिन्दुओं में एक-विवाही-प्रथा का सूत्रपात होगा। जो बहु-पत्नी-विवाह करेगा वह भारतीय-दंड-विधान की धारा ४९४ तथा ४९५ के अनुसार दण्डनीय होगा।

(iii) गोत्र तथा प्रवर में विवाह—हिन्दू-सामाजिक-विधान के अनुसार गोत्र तथा प्रवर में विवाह नहीं होता था। इस कानून के बन जाने के बाद यह प्रतिबन्ध उठ जायगा।

(iv) अनुलोम तथा प्रतिलोम की समाप्ति—इस अधिनियम के अनुसार अब अनुलोम तथा प्रतिलोम विवाहों का कोई बन्धन नहीं रहेगा क्योंकि प्रत्येक हिन्दू हिन्दू-मात्र में बिना किसी रुकावट के विवाह कर सकेगा।

(v) सपिंड विवाह की सीमा—अभी तक सपिंड-विवाह के निषेध की सीमा पिता से सात तथा माता से पाँच पीढ़ियों तक की थी। इस कानून के अनुसार यह सीमा कम कर दी गई है। इस सीमा को पिता की ओर से पाँच तथा माता की ओर से तीन पीढ़ियों तक कर दिया गया है। इससे एक हिन्दू के विवाह का क्षेत्र कुछ बढ़ा है।

(vi) विशेष अवस्थाओं में तलाक—जैसा हम लिख आये हैं इस कानून के दूसरे भाग में विशेष-विशेष अवस्थाओं में तलाक की भी आज्ञा है। अगर दोनों में से कोई व्यभिचारी हो, धर्म-परिवर्त्तन कर ले, पागल हो, असाध्य कुष्ठ अथवा यौन-रोग से पीड़ित हो, गृहस्थ त्याग कर संन्यास ले ले, सात वर्ष से लापता हो, तो एसी हालतों में तलाक की आज्ञा दे दी गई है। इस आज्ञा का प्रभाव यह अवश्य होगा कि जो गृहस्थ इन संकटों में आजन्म फँसे रहने वाले थे, वे इनसे मुक्त हो सकेंगे।

१७: क्या हिन्दू-विवाह की संस्था विगठित हो रही है ?

हमने इस अध्याय में देखा कि हिन्दुओं के विवाह की जितनी प्रथाएँ थीं उन्हें दूर करने के लिए कानूनी-व्यवस्था हो रही है। अब जाति, गोत्र, प्रवर, सपिंड, अनुलोम-प्रतिलोम सब की नींवें हिल गई हैं, तलाक का भी विशेष अवस्थाओं में अधिकार दे दिया गया है। तो क्या इस सब से हिन्दू-विवाह की संस्था विगठित हो जायगी ?

इसमें कोई सन्देह नहीं कि हिन्दू-विवाह का अब तक का जो रूप था वह अब वैसे-का-वैसा बना नहीं रह सकता। इसमें वर्त्तमान-युग की नवीन विचार-धारा के अनुसार परिवर्त्तन होगा। इस परिवर्त्तन से हिन्दू-विवाह की संस्था विगठित हो जायगी—यह कहना तो भ्रमात्मक विचार होगा, हाँ, हिन्दू-विवाह के सम्बन्ध में अब पुराने दकियानूसी विचार नहीं रह सकते। अबतक हिन्दू-विवाह की निम्न विशेषताएँ थीं :

(i) विवाह को आवश्यक माना जाता था और यह समझा जाता था कि बिना विवाह के पितरों का उद्धार नहीं हो सकता, पुत्र ही माता-पिता को नरक से तार सकता है।

(ii) विवाह में गोत्र, प्रवर, पिंड, जाति—इन चार का ध्यान रखा जाता था। गोत्र, प्रवर और सपिंड में विवाह नहीं हो सकता था, जाति में ही विवाह हो सकता था।

(iii) एक पुरुष अनेक पत्नियों से विवाह कर सकता था।

(iv) विधवा-विवाह को बुरा समझा जाता था।

(v) विवाह-विच्छेद नहीं हो सकता था क्योंकि यह एक जन्म-जन्मान्तर का अटूट धार्मिक सम्बन्ध है।

इन बातों को हिन्दू-समाज में प्रथा के तौर पर, स्मृति-पुराण-शास्त्र आदि के आदेश के तौर पर, बिना ननु-नच के माना जाता था, परन्तु अब स्त्री-समाज में जो जागृति उत्पन्न हो गई है, पुरुषों में भी इन बातों के विषय में जो चिन्तन प्रारम्भ हो गया है, उसका यह नतीजा स्वाभाविक है कि अब शिक्षित स्त्री-पुरुष इन बातों को मानने के लिए तैयार नहीं हैं, और इसी कारण नये-नये कानून बन गये हैं, वे कानून जिनका हम उल्लेख कर आये हैं और आगे करेंगे।

इस नवीन विचार-धारा के दो परिणाम हिन्दू-समाज पर हो रहे हैं। पहला प्रभाव तो यह है कि विवाह को अब उतना अनिवार्य नहीं माना जा रहा जितना पहले पितरों को नरक से बचाने के लिए माना जाता था; दूसरा प्रभाव यह हो रहा है कि हिन्दू-विवाह का रूप बदलता जा रहा है, बहु-विवाह समाप्त हो रहा है, गोत्र आदि विवाह के बन्धन टूटते जा रहे हैं। इन सब से हिन्दू-विवाह की संस्था विगठित नहीं हो रही, अपितु इसका स्वरूप बदलता जा रहा है। ये दोनों बातें हिन्दू-विवाह की संस्था को किस प्रकार प्रभावित कर रही हैं ?

(क) विवाह को अब हिन्दुओं में अनिवार्य धार्मिक-कर्त्तव्य नहीं समझा जा रहा—हम पहले लिख आये हैं कि हिन्दुओं में विवाह एक अनिवार्य धार्मिक-कर्त्तव्य माना जाता रहा है। अविवाहित रहने को धर्महीनता समझा जाता रहा है। जरत्कारु को, जो आजन्म ब्रह्मचारी था, अपने पितरों का उद्धार करने के लिए विवाह करना पड़ा। कुणिगर्ग की कन्या ने बिना विवाह किये अपने तप के बल पर स्वर्ग जाना चाहा, परन्तु नारद ने उसे कहा कि अविवाहिता कन्या स्वर्ग नहीं जा सकती। इसका परिणाम यह हुआ कि उसे अपने तप का आधा अंश शृंगवान् को देकर उससे विवाह करना पड़ा, तब जाकर वह स्वर्ग की अधिकारिणी हो सकी। अब पाश्चात्य-सभ्यता के सम्पर्क तथा नवीन विचारों के प्रभाव के कारण कोई युवक पितरों को तर्पण देने की बात मानने को तैयार नहीं होता, न यह मानने को तैयार होता है कि स्वर्ग जाने के लिए विवाह करना जरूरी है। लोग स्वर्ग को ही नहीं मानते, फिर स्वर्ग के लिए विवाह की बात को क्या मानेंगे? कोई समय था जब संयुक्त-परिवार की प्रथा के कारण विवाहित दम्पती को अपना आर्थिक भार नहीं उठाना पड़ता था, परिवार ही उनकी आर्थिक-समस्या को हल करता रहता था। आज युग बदल गया है, सब को अपना-अपना बोझ उठाना पड़ता है। इन परिस्थितियों में कोई विवाह को अनिवार्य मानने को तैयार नहीं। नव-युवक जब तक अपने पैरों पर न खड़े हो जायें तब तक वे विवाह का नाम नहीं सुनना चाहते, न माता-पिता उनका विवाह करना चाहते हैं। बदली हुई परिस्थितियों का हिन्दू-विवाह-प्रथा पर यह प्रभाव पड़ रहा है।

(ख) हिन्दू-विवाह का रूप बदलता जा रहा है परन्तु विगठित नहीं हो रहा—नये युग की नई बातों के कारण हिन्दू-विवाह का रूप भी बदलता जा रहा है। जिन बातों का हम ऊपर जिक्र कर आये हैं, उनके कारण कोई हिन्दू एक से अधिक पत्नी से विवाह नहीं कर सकता, एक-पत्नी-विवाह अब बहु-पत्नी विवाह का स्थान लेता जा रहा है, धीरे-धीरे जात-पाँत से भी लोग तंग आते जा रहे हैं, जहाँ पहले कभी विवाह में और किसी बात को नहीं देखा जाता था, सिर्फ़ जाति को देखा जाता था, वहाँ अब कम-से-कम धनी-सम्पन्न वर्ग में अन्य सब बातें अनुकूल होने पर जाति को विवाह में बाधक मानने की प्रवृत्ति कम होती जा रही हैं, कानून इसमें सहायक हो रहे हैं, गोत्र आदि के झगड़े को भी समाप्त किया जा रहा है।

ऊपर जो-कुछ कहा गया है, उससे स्पष्ट है कि हिन्दू-विवाह-प्रथा अब पहले-जैसी रहने वाली नहीं है, इसमें परिवर्तन आ रहा है, परन्तु इस परिवर्तन को विगठन न कहकर विवाह की प्रथा का संशोधन कहना अधिक उपयुक्त है।

१८. हिन्दू-विवाह-संस्था को प्रेम-विवाह विगठित कर सकता है

हिन्दू-विवाह की संस्था पर दो तरफ़ से आक्रमण हुए हैं। एक आक्रमण तो प्राचीन रूढ़ियों के विरुद्ध हुआ है। जाति में ही विवाह करना, जाति से बाहर न करना, गोत्र आदि को विवाह में छोड़ देना, इन सब प्राचीन रूढ़ियों की चोटों की प्रतिक्रिया के रूप में इन प्रथाओं पर सुधारवादियों ने आक्रमण किया और इन

प्रथाओं के विरुद्ध कानून बने। इन प्रथाओं के विरुद्ध दूसरा आक्रमण सुधारवादियों ने तो नहीं किया, नव-युवकों ने किया, उन नव-युवकों ने जो विवाह का आधार-भूत तत्त्व प्रेम को मानने लगे। इन लोगों का कहना था कि विवाह का आधार स्मृतिकारों के कानून न होकर प्रेम की आवाज होनी चाहिए। प्रेम किसी प्रकार के बन्धन को नहीं मानता। जाति, धर्म, गोत्र, प्रवर, पिंड, अपिंड—ये सब तिनके प्रेम के सम्मुख हवा में उड़ जाते हैं।

जहां तक सुधारवादियों का सम्बन्ध है, वहां तक तो हिन्दू-विवाह संस्था में हितकर परिवर्त्तन ही हुआ है, उससे जड़-रूढ़ियां समाप्त हुई हैं, परन्तु जहां तक नयी हवा के प्रेम-पंथियों और प्रेम-विवाह करने वालों का सम्बन्ध है—इसमें सन्देह नहीं कि अगर उनकी बन आयी तो हिन्दू-विवाह की संस्था अवश्य विघटित होकर रहेगी।

प्रेम-विवाह विवाह की संस्था को किस प्रकार विघटित कर रहा है—इसे समझने के लिए प्रेम-विवाह के रूप को समझ लेना पर्याप्त है। प्रेम-विवाह क्या है और कैसे विवाह की संस्था को विघटित कर रहा है?

(क) प्रथम-दृष्टि में प्रेम—प्रेम-विवाह का आधार-भूत तत्त्व है 'प्रथम-दृष्टि में प्रेम'। एक युवक है, वह एक षोडश-वर्षीया युवति को देखता है, उससे उसका पहले कोई परिचय नहीं है, परन्तु उस पर आंख पड़ते ही वह अपने को खो बैठता है, उसके लिए आहें भरने लगता है, समझता है कि उसके बिना वह जिंदा नहीं रह सकता। ऐसा युवक और ऐसी युवति माता-पिता की परवाह नहीं करते, परिवार की, एक-दूसरे की स्थिति की—किसी बात की परवाह न करके, समाज के सब बन्धनों को तोड़ कर वे विवाह कर लेते हैं। विवाह करने के कुछ देर बाद वे देखने लगते हैं कि जिन आंखों के समुद्र में वे डूबते रहे थे, जिन्हें दैवीय सौन्दर्य का अथाह सागर समझते थे, वे आंखें दैवीय न होकर मानवीय हैं, उनमें गीद भी आता है, उनमें किसी प्रकार का दैवीयपना नहीं है। कुछ दिनों एक-दूसरे के साथ रह कर उन्हें अनुभव होने लगता है कि जैसे वे एक-दूसरे के बिना नहीं रह सकते थे वैसे स्वभाव-भेद के कारण वे अब एक-दूसरे के साथ नहीं रह सकते। विवाह के प्रति जितना उनका आकर्षण था उतनी ही विवाह के प्रति उनमें घृणा पैदा हो जाती है। इस प्रकार का प्रेम-विवाह विवाह की संस्था को विघटित कर रहा है, और क्योंकि हिन्दुओं में भी ऐसे प्रेम-विवाह होने लगे हैं इसलिए नवयुवक हिन्दू भी इसके दुष्परिणामों के शिकार हुए बिना रह नहीं सकते।

(ख) भावना की प्रधानता—प्रेम-विवाह में मनुष्य भावनामय जीवन बिताने लगता है। प्रेम तो है ही एक भावना का नाम। आज के युग में जब सब काम मशीनों के जरिये होने लगे हैं, समय की बचत हो रही है, मनुष्य के पास समय बहुत काफ़ी है। इस समय में हमारे युवक-युवति सिनेमा देखते हैं, उपन्यास-नाटक पढ़ते हैं, भावनामय जीवन बिताते हैं। खाली समय में भावनामय जीवन बिताने का परिणाम यह होता है कि भावना का बीज और अधिक सींचा जाता है

और भावना का जीवन प्रबलता धारण करता जाता है। परन्तु मनुष्य भावनामय जीवन कब तक बिता सकता है? रहना तो इस वास्तविक-जगत् में ही है। भावना का जीवन एक नशे का जीवन है, बेहोशी का जीवन है, परन्तु इस नशे, इस बेहोशी में तो संसार के कारोबार नहीं चल सकते। हर समय प्रेम-प्रेम की मुहारनी कब तक जपी जा सकती है। नशा चढ़ता है तो नशा उतरता भी तो है, प्रेम आता है तो जाता भी है। भावना सदा बनी नहीं रह सकती। भावना का स्वरूप ही यह है कि कभी वह उच्च शिखर पर पहुँचती है, तो कभी वह बिल्कुल नीचे आ जाती है। मनुष्य रोता ही रहे, रोता ही रहे—ऐसा तो नहीं होता। इसी प्रकार मनुष्य प्रेम में ही पगा रहे, प्रेम में ही पगा रहे—ऐसा भी नहीं हो सकता। प्रेम का नशा जब उतर जाता है, तब इस नशे में बाँधे हुए सपने भी टूट जाते हैं। इन सपनों के टूटने का परिणाम तलाक है, विवाह-विच्छेद है। हिन्दू-विवाह-व्यवस्था में प्रेम-विवाह के कारण जो प्राचीन रूढ़ियों को तोड़ने वाले हैं वे अपने जीवन में ही कुछ देर बाद अनुभव कर लेते हैं कि इस प्रकार का प्रेम-विवाह विवाह की संस्था को ही छिन्न-भिन्न कर देता है।

'प्रेम-विवाह' (Love marriage) तथा 'दाम्पत्य-प्रेम' (Conjugal Love) में भेद है। 'प्रेम-विवाह' में प्रेम की प्रधानता है, विवाह उसका परिणाम है; 'दाम्पत्य-प्रेम' में विवाह की प्रधानता है, प्रेम उसका परिणाम है। 'प्रेम-विवाह' में प्रेम न रहे तो विवाह टूट जाता है, 'दाम्पत्य' विवाह में एक-साथ रहने से प्रेम धीरे-धीरे बढ़ता है, इसमें विवाह-विच्छेद की सम्भावना कम होती है। 'प्रेम-विवाह' भावना पर टिका हुआ है, 'दाम्पत्य-प्रेम' जीवन की यथार्थता पर टिका हुआ है। इस दृष्टि से 'प्रेम-विवाह' का सहज परिणाम तलाक हो जाता है, 'दाम्पत्य-प्रेम' का सहज परिणाम विवाह की संस्था को चिरस्थायी बना देना हो जाता है।

हमारे कहने का यह अभिप्राय नहीं कि 'प्रेम-विवाह' होना ही नहीं चाहिए या हिन्दू-विवाह-व्यवस्था में प्रेम-विवाह को कोई स्थान नहीं। ऐसी बात नहीं है। हिन्दुओं की विवाह-प्रथाओं में गान्धर्व-विवाह का वर्णन हम इसी अध्याय के प्रारम्भ में कर आये हैं। गान्धर्व-विवाह प्रेम-विवाह के सिवाय क्या है? वात्स्यायन मुनि ने अपने ग्रन्थ काम-शास्त्र में गान्धर्व-विवाह को विवाह का आदर्श स्वरूप माना है। स्वयंवर-विवाह क्या है? स्वयंवर में कन्या को वर चुनने की पूरी स्वतंत्रता थी। लड़के-लड़की को एक-दूसरे को चुनने की पूरी स्वतंत्रता देनी चाहिए—प्रेम-विवाह की यह भावना हिन्दू-समाज में रूढ़िवादी युग में भी थी, आज भी है। 'विशेष-विवाह-कानून' आदि अधिनियम इसी दृष्टि से बनाये गये है। हमारा कहना यह नहीं है कि विवाह के पहले लड़के-लड़की को एक-दूसरे के सम्पर्क में आने देने से, एक-दूसरे को जानने का अवसर देने से हिन्दू-विवाह की संस्था विगठित हो जायगी। यह सब-कुछ तो आज के युग में आवश्यक है, और हिन्दू-विवाह-व्यवस्था में इसका विधान है। यह सब-कुछ माता-पिता की देख-

रेख में, उनके तत्त्वावधान में भी हो सकता है। हमारा कहना इतना ही है कि विवाह में सिर्फ़ प्रेम को एक और अखंड तत्त्व समझ कर, माता-पिता-समाज-रिवाज-प्रथा हर बात की अवहेलना करके विवाह करने की प्रवृत्ति विवाह की संस्था को अवश्य विगठित कर देगी।

इसी बात को अनुभव करके कई विचारकों का कथन है कि विवाह अलग चीज है, प्रेम अलग चीज है, पति-पत्नी अलग संस्था है, प्रेमी-प्रेमिका अलग संस्था है। अभी तक हमारे समाज में पति-पत्नी की संस्था को तो स्थान है, प्रेमी-प्रेमिका की संस्था को स्थान नहीं है। प्रेमी-प्रेमिका का आधार विवाह नहीं, प्रेम है; पति-पत्नी का आधार प्रेम नहीं विवाह है। हमारा समाज कभी प्रेमी-प्रेमिका की संस्था को अपने सामाजिक-संगठन में खपा सकेगा या नहीं—यह एक अलग विषय है।

२३

विवाह का प्राचीन भारतीय आदर्श

(IDEAL OF INDIAN MARRIAGE)

१. मनुष्य-जीवन का महत्त्व

भारत के ग्रामीण लोगों की मजलिस में बैठकर वहां की चर्चाओं को सुना जाय, तो उनमें कई रहस्यमय गुर सुनाई पड़ते हैं। वे लोग अक्सर कहा करते हैं कि मनुष्य-जीवन ८४ लाख योनियों के बाद मिलता है। एक अंधे का दृष्टान्त दिया जाता है, जो ८४ लाख दरवाजों वाले मकान के भीतर उसकी दीवार के साथ-साथ रास्ता टटोल रहा है, इनमें से केवल एक कोठरी का दरवाजा खुला है, जिसमें से बाहर निकला जा सकता है, बाक़ी सब दरवाजे बन्द हैं, परन्तु जब वह अंधा हाथ से टटोलता-टटोलता खुले दरवाजे के समीप पहुँचता है, तो उसे खुजली उठती है, और वह आगे निकल जाता है, और फिर ८४ लाख दरवाजों को खट-खटाने के फेर में पड़ जाता है। जिन लोगों ने हमारे समाज में एसे कथानकों को एक-एक झोपड़े तक पहुँचाया था, इतना अवश्य प्रतीत होता है कि उन्होंने जीवन को एक खिलवाड़ नहीं समझा था, इसे एक समस्या समझा था, और खास कर मनुष्य-जीवन को तो बड़ी विषम समस्या समझा था। उनका कहना था कि मनुष्य की योनि बड़ी दुर्लभ है, इसे पाकर उसके साथ खिलवाड़ करना मूर्खता की पराकाष्ठा है।

मनुष्य-जीवन को इतना दुर्लभ मानने वालों की दृष्टि उन लोगों की दृष्टि से अत्यन्त भिन्न होगी, जो जीवन को एक आकस्मिक घटना-मात्र समझते हैं, इसे पांच तत्त्वों के पुतले के सिवा और कुछ नहीं समझते। मनुष्य-जीवन यदि भिन्न-भिन्न जन्म-जन्मान्तरों की शृंखला में केवल एक कड़ी है, और यदि इस कड़ी की मज़बूती पर सारी जंजीर का मजबूत होना निर्भर है, तो इस जीवन के प्राप्त होते ही एक-एक क्षण अमूल्य हो जाता है। इसमें खोए हुए एक भी पल का परिणाम फिर से ८४ लाख योनियों में भटकना हो सकता है। परन्तु इसके विपरीत, यदि यह जीवन एक आकस्मिक घटना है, तो इसका मूल्य एक अद्भुत खिलौने से अधिक नहीं रहता। एक गुड़िया को देखकर हम खुश होते हैं, और ऐसे लोगों की नजरों में मनुष्य का शरीर एक चलने-फिरने-बोलने वाली ५—६ फ़ीट की गुड़िया है, और कुछ नहीं। इसी लिए जीवन पर उथला विचार करने वाला, उसे आकस्मिक घटना-मात्र समझने वाला व्यक्ति दुःख में पड़कर आत्मघात कर

लेना अनुचित नहीं समझता। युरोप में खुदकशी की तादाद दिनोंदिन बढ़ती जा रही है, परन्तु ८४ लाख योनियों के फेर में पड़ने से डरने वाला भारतवासी भूख से तड़पता हुआ, सर्दी से व्याकुल होता हुआ और बीमारी से छटपटाता हुआ भी आत्मघात करने की नहीं सोच सकता। नहीं तो इस देश की तो ऐसी अवस्था है कि ४० करोड़ में से ३० करोड़ कभी के आत्मघात कर चुके होते। 'असुर्या नाम ते लोका अन्धेन तमसावृताः। तांस्ते प्रेत्याभिगच्छन्ति ये के चात्महनो जनाः॥' (यजु० ४०।३)—आत्मघात कर इस जन्म के दुःख से बचने का प्रयत्न करने वाला अगले जन्म में इससे भी भयंकर दुःख भोगता है, यह प्राचीन ऋषियों का मन्तव्य है।

उक्त कथन का अभिप्राय केवल इतना ही ह कि प्राचीन-काल के ऋषि मनुष्य-जीवन को एक विशाल समस्या समझते थे, और उसके हल करने में उन्होंने अपने ऊँचे-से-ऊँचे विचारक लगा दिए थे। मनुष्य-जीवन की समस्या का उन्होंने जो हल किया था, उसी को आधार बनाकर यहाँ के समाज की रचना की गई थी। उन्होंने जीवन को सफल बनाने के लिए जीवन का एक आदर्श निर्धारित किया था, जिसके अनुसार इस देश में उत्पन्न हुआ प्रत्येक व्यक्ति आचरण करता था।

२. वह आदर्श क्या था ?

यदि जीवन सचमुच एक समस्या है, अचानक या आकस्मिक घटना नहीं, तो इस समस्या का हल अवश्य होना चाहिए, इसे एक खिलवाड़ की चीज नहीं समझना चाहिए। भारत के प्राचीन ऋषियों ने इस समस्या का हल जीवन को एक निश्चित आदर्श में बाँध कर किया था। वह आदर्श क्या था? यजुर्वेद (४०।६) में कहा है—"यस्तु सर्वाणि भूतान्यात्मन्येवानुपश्यति। सर्वभूतेषु चात्मानं ततो न विचिकित्सति॥"—जो व्यक्ति सब आत्माओं को अपने अन्दर देखता है, और अपने को सब मे देखता है, वह संदेहों से ऊपर उठ जाता है, निश्चयात्मक जीवन व्यतीत करता है अपन को अपने अन्दर देखने वाले तो सब हैं, परन्तु दूसरे में अपनापन अनुभव करन जीवन का एक विलक्षण, विरला, भारतीय आदर्श है। मनुष्य की अंतरात्मा का विकास इसी को कहते हैं। आज हमारे शहरों की गलियों में सैंकड़ों भूखे, नंगे, कराहते फिरते हैं, परन्तु क्या उनके दुःख को देखकर किसी के हृदय में कराहना उठती है, क्या कोई उनकी तड़पन को अनुभव करता है, क्या कोई यह अनुभव करता है कि वे भी उसी मानव-समाज के अंग हैं, जिसके हम अपने को अंग समझते हैं। यदि सचमुच किसी के हृदय में ये भाव उठते हैं, तो उसकी आत्मा विकसित है, वह अपने आदर्श की तरफ़ जा रहा है, नहीं तो धन-धान्य से समृद्ध होने पर भी हम उस पत्थर के समान हैं, जिस पर हज़ारों प्राणियों का प्रतिदिन वध होता है, परन्तु आत्मा न होने के कारण उसका एक आँसू भी नहीं निकलता! सुकरात की आत्मा विकसित थी, क्योंकि वह अपने को जहर देनेवालों पर रहम की नज़र फेंक सकता था। मसीह की आत्मा ऊँची थी, क्योंकि वह अपने समय के दीन-दुखियों के चीत्कारों को अपने हृदय में गूँजते हुए सुनता था, और उन्हीं की तरह व्याकुल

हो जाता था। गांधी की आत्मा उच्च-कोटि की थी क्योंकि वह दूसरों में अपनेपन को भूल सकता था। जो आत्मा प्राणि-मात्र के हृदय के स्पंदन को अपने भीतर अनुभव कर सकता है, वह बड़ा है, महान् है, विकसित है, और वह जीवन के भारतीय उच्च आदर्श तक पहुँच चुका है, क्योंकि यजुर्वेद (३६।१८) की घोषणा है—'मित्रस्य त्वा चक्षुषा सर्वाणि भूतानि समीक्षन्ताम्'; 'यस्मिन्त्सर्वाणि भूता-न्यात्मैवाभूद्विजानतः। तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः॥' यजु० (४०।७)। इसी भाव की गूँज हज़रत मसीह के शब्दों में पायी जाती है जब उन्होंने कहा था—"Come unto me, all ye that labour and are heavy laden, and I will give you rest." जीवन का आदर्श दूसरे के बोझ को अपने हाथों से अपने कंधों पर लेना है, दूसरे के आँसुओं को अपने आँसुओं में बहा देना है, दूसरे के घाव को अपने हृदय के मरहम से चंगा करना है। जीवन को खिलवाड़ समझने वाला व्यक्ति ऐसा नहीं कर सकता, परन्तु मनुष्य-जीवन को एक अमूल्य देन समझने वाला व्यक्ति ऐसा किये बग़ैर रह नहीं सकता। इसी में आत्मा की उन्नति है, आत्मा का विकास है, और इसी में आत्मा अपने लक्ष्य को, अपने आदर्श को पाता है।

३. आदर्श की क्रियात्मकता

प्रश्न हो सकता है कि इस आदर्श को जीवन में क्रियात्मक रूप देने के लिए भारतीय ऋषियों ने क्या उपाय सोचा था? इसका उत्तर ऋग्वेद (९।१०।१) में इस प्रकार दिया है—'चत्वार्यन्या भुवनानि निर्णिजे चारूणि चक्रे यदृतैरवर्धत।' सोम चारों भुवनों या आश्रमों को 'अन्या निर्णिजे'—'और-ही-कुछ बना देता है'—उनमें जान डाल देता है। अथर्व (१४।१।६०) में इसी प्रश्न का उत्तर यों दिया है—'भगस्ततक्ष चतुरः पादान् भगस्ततक्ष चत्वार्युष्पलानि।'—'हर
१ वस्तु को भिन्न-भिन्न भागों में विभक्त करने वाले ने जीवन को आयु के चार भागों में
विभक्त कर दिया है'। शतपथ (१४ का०) में उन चार भागों का विस्तार करते हुए कहा है—"ब्रह्मचर्याश्रमं समाप्य गृही भवेत्, गृही भूत्वा वनी भवेत्, वनी भूत्वा प्रव्रजेत्।"—'मनुष्य-जीवन के आदर्श को क्रियात्मक बनाने का तरीक़ा यह है कि पहले ब्रह्मचर्य-व्रत धारण करे, ब्रह्मचर्य के उपरान्त गृहस्थ, बाद को वानप्रस्थ और फिर संन्यास-आश्रम में प्रवेश करे'। आत्मा के अपने आदर्श तक पहुँचने का, उसके पूर्ण रूप से विकसित होने का यही उपाय है। ब्रह्मचर्यावस्था 'स्व' से प्रारम्भ होती है। यह 'स्व' या अपनी आत्मा ही तो आगामी आने वाले विकास का आधार है, इसलिए ऋषियों ने इस 'स्व' की आधार-शिला को दृढ़ बनाने के लिए ब्रह्मचर्य का विधान किया है। इस आश्रम में 'स्व' के या 'अपने' सिवा और कुछ नहीं दिखाई पड़ता। ब्रह्मचारी अपने इर्द-गिर्द घूमता है, वह अपने, शरीर की, अपने मन की और अपने आत्मा की उन्नति करता है, अपने से बाहर उसे देखने को नहीं कहा गया। परन्तु जब वह अपने 'स्व' को दृढ़ बना चुका तब उसे अपने आत्मा को अधिक विकसित करने को कहा जाता है, और वह गृहस्था-

श्रम में प्रवेश करता है। ब्रह्मचर्यावस्था में मनुष्य की दृष्टि केवल अपने तक सीमित थी, परन्तु गृहस्थावस्था में वह अपने 'स्व' के अन्दर दूसरों को शामिल करने का पाठ सीखता है। वेद का कथन है—'इमां त्वमिन्द्र मीढ्वः सुपुत्रां सुभगां कृणु। दशास्यां पुत्रानाधेहि पतिमेकादशं कृधि।' (ऋक् १०।८५।४५)—'एक समृद्ध देश में स्वस्थ माता-पिता का दस संतानों का परिवार होना चाहिए।' ब्रह्मचर्य आश्रम में मनुष्य की दृष्टि अपने ही ऊपर रहती है, परन्तु गृहस्थ आश्रम में माता-पिता अपनी दृष्टि को अपने ऊपर से उठा कर कम-से-कम अपनी संतानों तक तो विस्तृत कर ही देते हैं। वे खुद भूखे रह सकते हैं, परन्तु अपनी संतानों को भूखा नहीं देख सकते; खुद कांटों से लहूलुहान हो सकते हैं, परन्तु अपने बच्चे की उँगली में एक कांटा भी चुभता हुआ नहीं देख सकते। त्याग के जीवन की पराकाष्ठा गृहस्थ में है, परन्तु जीवन का भारतीय-आदर्श गृहस्थ तक रुक नहीं जाता। गृहस्थ तो आत्मा के 'सर्वभूतहिते रतः' के क्रमिक-विकास में एक सीढ़ी-मात्र है, एक मंजिल है, एक स्टेज है। जीवन का असली उद्देश्य तो आत्मा का ऐसा विकास है, जिसमें वह अपने को ही नहीं, अपनी पत्नी को ही नहीं, अपने बाल-बच्चों को ही नहीं, परन्तु प्राणिमात्र को अपना समझने लगता है, विश्वात्मा में अपनी आत्मा को ओत-प्रोत कर देता है, घुला-मिला देता है, 'योऽसावसौ पुरुषः सोऽहमस्मि' का अनुभव करने लगता है, दूसरों के आत्मा में अपने आत्मा का प्रत्यक्ष करता है। ऐसे विकास का, ऐसे उदय का, सीमित, छोटा रूप गृहस्थाश्रम में दिखाई देता है, जहां प्राचीन-वैदिक आदर्श के अनुसार दस पुत्रों तथा दो स्वयं—इस प्रकार बारह व्यक्तियों के कुटुम्ब में माता-पिता अपने आत्मा को बारह तक फैला देते हैं। परन्तु यहीं पर रुक जाना, यहीं पर ठहर जाना और आगे क़दम न रखना भारतीय-आदर्श के विपरीत है। तभी गृहस्थ को एक 'आश्रम' कहा गया है। आश्रम का अर्थ है—एक मंजिल, एक स्टेज। गृहस्थाश्रम आत्मिक-जीवन के विकास में एक सीढ़ी है, एक मंजिल है, और यात्री को अभी इससे बहुत आगे चलना है। अभी तो माता-पिता तथा दस सन्तानों में—कुल १२ प्राणियों के परिवार में—'स्व' की, एकता की, ममता की, अहंत्व की अनुभूति हुई है, इस छोटे-से समूह में 'एकत्वमनुपश्यतः' की भावना का उदय हुआ है, परन्तु जीवन का उद्देश्य प्राणिमात्र में एकता के सूत्र को पिरो देना है। तभी तो भारतीय-आदर्श के अनुसार—'गृही भूत्वा वनी भवेत्'—गृहस्थाश्रम में आत्मा का जितना विकास हो सकता है, उतना करके वानप्रस्थी हो जाय—यह कहा है। आज हम पैदा होते ही गृहस्थाश्रम की सोचने लगते हैं, और जब तक चार कंधों पर चढ़कर 'राम-नाम सत्य है' की गूंज में श्मशान नहीं पहुँच जाते, तब तक गृहस्थाश्रम के ही कीड़े बने रहते हैं। इससे ज्यादा गृहस्थाश्रम की दुर्गति क्या हो सकती है? प्राचीन-आदर्श के अनुसार गृहस्थाश्रम तो आत्मा के विकास के लिए एक खास हद तक, एक खास सीमा तक आवश्यक है। उसके बाद गृहस्थाश्रम में फंसे रहना आत्मा का सर्वनाश करना है। वानप्रस्थी गृहस्थाश्रम से गुज़र चुका है, उसने दूसरों को

अपना समझने का पाठ २५ साल तक सीखा है, अब वह अपने बच्चों की तरह दूसरों के बच्चों को भी अपना समझने लगता है। वह जंगल में बैठ जाता है। उसके पास गाँव के, शहर के बालक पढ़ने को आते हैं। वह सब को अपना समझ कर पढ़ाता है, और सब में अपने आत्मा को देखता है, सब में अपनापन अनुभव करता है। इस अभ्यास के बाद संन्यास-आश्रम है। संन्यास में वह सब को, प्राणिमात्र को, अपना समझने लगता है। उसका लगाव सब से एक-समान हो जाता है। जीवन का सर्वोत्तम आदर्श यही है। इसे प्राचीन-आर्य आश्रम-व्यवस्था कहा करते थे। ब्रह्मचर्याश्रम से संन्यास तक पहुँचते-पहुँचते जहाँ पहले उसकी दृष्टि अपने तक सीमित थी, वहाँ वह अपने से हट कर दूसरों तक फैलती जाती है। यहाँ तक कि चारों आश्रमों में से गुजर कर खुदी मिट जाती है, और खुदी ही बाक़ी रह जाती है। फ़र्क़ इतना है कि पहले खुदी खुद तक महदूद थी, और अब खुदी खुदा तक पहुँच जाती है। शायद इसी ऊँचे अनुभव को किसी मस्ताने ने 'अहं ब्रह्मास्मि' के उद्गार से प्रकट किया था।

४. गृहस्थाश्रम का भारतीय-आदर्श 'ब्रह्मचर्य' था

हमने विवाह के भारतीय-आदर्श पर कुछ लिखने से पहले 'जीवन के प्राचीन-आदर्श' पर शायद कुछ जरूरत से ज्यादा लिख दिया है, परन्तु गृहस्थी का आदर्श तो जीवन ही के आदर्श की पूर्ति में एक साधन-मात्र है, गृहस्थी का आदर्श जीवन के आदर्श का केवल एक-चौथाई हिस्सा ही है, इसलिए यह स्पष्ट है कि हमारे सम्मुख जीवन का आदर्श जितना स्पष्ट होगा, गृहस्थी का आदर्श उसी मात्रा में स्वयं स्पष्ट हो जायगा, इसलिए 'विवाह के आदर्श' पर विचार करते हुए हमने 'जीवन के आदर्श' पर इतना विचार किया है।

गृहस्थाश्रम में अपनेपन का केन्द्र अपने से हिल कर दूसरों में जाना प्रारम्भ करता है, स्वार्थ का अंश पर्दे की ओट में होने लगता है, और उसकी जगह परार्थ का भाव सामने आने लगता है, अतः यह बड़ी जिम्मेदारी का आश्रम है। जिसने पहले अपने केन्द्र को अपने अन्दर नहीं पहचाना, उसे अपने अन्दर दृढ़ नहीं बनाया, अपनी ही उन्नति नहीं की, वह दूसरों का क्या ख़याल कर सकता है। इसलिए गृहस्थाश्रम में प्रवेश करने से पहले, 'परार्थ' को 'स्वार्थ' बनाने से पहले, ऋषियों ने ब्रह्मचर्याश्रम का विधान किया है। इस आश्रम में अपनी पूर्ण रूप से उन्नति करना अभीष्ट है। जिस व्यक्ति ने अपने शरीर, मन तथा आत्मा की उन्नति कर ली है, वह उस उन्नति को दूसरों की उन्नति के लिए आधार बना सकता है। यही कारण है कि ऋषियों ने अब्रह्मचारी या अब्रह्मचारिणी को गृहस्थाश्रम में प्रवेश करने का अधिकार नहीं दिया। मनु (३।२) ने कहा है—'अविप्लुतब्रह्मचर्यो गृहस्थाश्रममाविशेत्'—'जिसके ब्रह्मचर्य का भंग न हुआ हो, वही गृहस्थाश्रम में प्रवेश करे'। कन्या के विषय में भी अथर्व (११।५।१८) का वचन है—'ब्रह्मचर्येण कन्या युवानं विन्दते पतिम्'। इसी भाव को (ऋक् १०।८५।४०) में यों कहा है—"सोमः प्रथमो विविदे गन्धर्वो विविद उत्तरः। तृतीयो अग्निष्टे पतिस्तुरीयस्ते मनुष्यजाः।

सोमोऽददद् गन्धर्वाय गन्धर्वोऽददग्नये । रयिं च पुत्रांश्चादादग्निर्मह्यमथो इमाम् ।" पहले कन्या 'सोम' के पास रहती है। सोम का अर्थ है—'वीरुधां पतिः' --'वनस्पतियों का राजा'। अर्थात्, फल आदि के उत्तम आहार से कन्या का शरीर पुष्ट होता है। तदनन्तर कन्या 'गंधर्व' को दे दी जाती है। गंधर्व का काम गाना-बजाना है। शरीर पुष्ट होने पर कन्या गाना-बजाना सीखती है, उसका मानसिक-विकास होता है। मानसिक-विकास हो जाने के बाद वह 'अग्नि' के सुपुर्द होती है, उसके शरीर में उष्णता उत्पन्न होती है। इसके बाद वह 'पुरुष' से विवाह दी जाती है। कैसा स्वाभाविक तथा स्पष्ट वर्णन है। यह हमारे प्राचीन ऋषियों का शारदा-ऐक्ट है। इस मंत्र का स्पष्ट अभिप्राय यह है कि कन्या का विवाह पकी हुई आयु में होना चाहिए, उससे पूर्व नहीं। हमारे देश में जो कच्ची आयु में कन्याओं का विवाह होता रहा है, वह प्राचीन-आदर्श से सर्वथा विपरीत है। प्राचीन-भारतीय-आदर्श तो यह है कि जो गृहस्थ होना चाहे, वह पहले अपने ब्रह्मचारी होने का प्रमाण-पत्र पेश करे, और जो ऐसा प्रमाण-पत्र न दे सके, उसके साथ कोई पिता अपनी पुत्री का विवाह न करे। आज अखबारों में इश्तिहार निकलते हैं—"लड़का चाहिए, जो २५०) महीना कमाता हो, विलायत से लौटा हो।" यदि वैदिक-काल में अखबार होते, और उनमें भी इश्तिहार निकलते होते, तो उनमें लिखा होता—'एक ब्रह्मचारी चाहिए', और यदि उस समय भी विलायत ऐसा ही होता, जैसा आज है, तो इश्तिहार में साफ़ लिखा होता है कि 'विलायत से लौटा हुआ नहीं होना चाहिए।' आज जो लड़का बिगड़ने लगता है, माता-पिता उसका जल्दी विवाह कर देते हैं। परन्तु प्राचीन-आदर्श के अनुसार जो लड़का बिगड़ने लगे, उसके विवाह की कोई आशा नहीं रहती, उसे विवाह का कोई अधिकार नहीं रहता। बिगड़े हुए इन्सान को अपने-जैसी बिगड़ी हुई संतानें उत्पन्न करके समाज को गंदा करने का कोई अधिकार नहीं है। जिस आदर्श के अनुसार अब्रह्मचारी चाहे २५ वर्ष का भी क्यों न हो, शादी भी नहीं कर सकता, उसके अनुसार लठिया टेककर चलने वाला बुड्ढा शादी कैसे कर सकता है? वैदिक आदर्श के अनुसार केवल ब्रह्मचारी विवाह का अधिकारी है, दूसरा नहीं।

५. विवाह में 'प्रेम'—स्वयंवर की प्रथा

विवाह पकी हुई आयु में होना चाहिए, ब्रह्मचारी का ही होना चाहिए, अब्रह्मचारी का नहीं होना चाहिए—यह हमने देख लिया। परन्तु विवाह कैसे हो? क्या विवाह के मामले में लड़के-लड़की की भी कुछ सुनी जानी चाहिए, या यह ऐसा मामूली काम है कि इसे एक अपढ़ नाई के भरोसे ही छोड़ा जा सकता है? वैदिक-साहित्य में इस विषय में दृढ़ तथा निश्चित सम्मति पायी जाती है। ऋग्वेद (७ अ०, ७ वर्ग, १७ मं०, १२ मंत्र) में लिखा है—'कियती योषा मर्यतो वधूयोः परिप्रीता पन्यसा वार्येण। भद्रा वधूर्भवति यत्सुपेशाः स्वयं सा मित्रं वनुते जने चित्।'—'वधू की इच्छा करने वाले किस पुरुष की स्त्री प्रेम करने वाली होगी?'—इस प्रश्न को स्वयं उठाकर ऋग्वेद उत्तर देता है—(सुपेशाः) सुन्दर रूप वाली वह वधू अच्छी है

जो (जनं चित्) अनेक जनों में से (मित्रं स्वयं वनुते) अपने मित्र को स्वयं चुनती है।' इस मंत्र में स्त्री के लिए अपने पति को स्वयं चुनने का विधान है, इसी को 'स्वयंवर' कहते हैं। आज हमारे समाज में लड़का अनेक लड़कियों में से एक लड़की को चुनता है, परन्तु प्राचीन भारतीय आदर्श ठीक इससे उल्टा है। चुनने का अधिकार लड़के को नहीं, लड़की को दिया गया है।

आजकल के ज्यादा-से-ज्यादा सुधरे हुए आदर्श के अनुसार भी चुनने का अधिकार लड़के को ही प्राप्त है, और कहीं-कहीं स्वीकृति लड़की से भी ले ली जाती है। परन्तु प्राचीन भारतीय-आदर्श के अनुसार चुनने का अधिकार लड़की को प्राप्त था, स्वीकृति लड़के की भी होती थी। तभी तो लड़की के घर बहुत-से विवाहेच्छु जाते थे, और उनमें से किसी एक के गले में वर-माल डाली जाती थी। दमयंती के स्वयंवर में दूर-दूर से राजकुमार आए थे, सीता के स्वयंवर में भी रामचन्द्र राजा जनक के यहाँ अपनी परीक्षा देने पहुँचे थे, द्रौपदी का स्वयवर भी ऐसा ही था। उसी का अवशेष आज भी बचा हुआ है। वर वधू के घर पर चलकर आता है, और वधू के घर पर ही विवाह-संस्कार होता है। यह प्रथा स्वयवर-प्रथा का ही टूटा-फूटा रूप है, परन्तु आज के स्वयंवर में लड़की नहीं चुनती, लड़का चुनता है। प्राचीन स्वयंवर-प्रथा की यह कैसी विडम्बना है!

प्राचीन-भारतीय-आदर्श में विवाह होने से पहले स्त्री के एक बड़े भारी अधिकार को माना गया है। स्त्री को अधिकार है कि वह किसे अपनी भावी सन्तान का पिता बनाए या किसे न बनाए। यह छोटा-मोटा अधिकार नहीं है। इस अधिकार को पाकर ही स्त्री पति की आज्ञाकारिणी हो सकती है, नहीं तो डंडे के जोर पर तो आज्ञा चलती ही है। आज माता-पिता जिस लड़के से चाहते हैं, लड़की को बाँध देते हैं। क्या इस प्रकार बँध कर पति-पत्नी प्रेम के उस एकता के सूत्र का विस्तार कर सकते हैं, जिसके लिए गृहस्थाश्रम एक साधन-मात्र है? गृहस्थाश्रम तो अपने आत्मा को विकसित करने के लिए है, परार्थ को स्वार्थ बनाने के लिए है। परन्तु जहाँ प्रारम्भ में ही ठीक चुनाव नहीं हुआ, वहाँ जीवन की धारा शान्ति से कैसे बह सकती है, उसका विकास कैसे हो सकता है? इसलिए विवाह में चुनाव एक जरूरी चीज है। वेद के आदेश के अनुसार स्त्री अपने पति को चुनती है, वरती है। यह अधिकार पति को न देकर पत्नी को क्यों दिया गया है? क्योंकि गृहस्थाश्रम का वास्तविक बोझ तो पत्नी पर ही है। संतानोत्पत्ति का महान् कष्ट पत्नी को उठाना पड़ता है, अपनी स्वतंत्र-सत्ता को पति में खो कर एक घर का केंद्र बनकर पत्नी को बैठना है। खूँटे की तरह अविचल रूप से एक जगह उसी को गड़ जाना है। जब उस पर इतनी जिम्मेदारी है, और उसके लिए उसको इतना त्याग करना है, तो चुनाव उस पर न छोड़ा जाय, तो किस पर?

६. स्त्री-पुरुष का मैत्री-भाव

जब पति-पत्नी ने एक-दूसरे को स्वयं चुना है, तो उनका पारस्परिक सम्बन्ध मित्रता के सम्बन्ध के अतिरिक्त और कौन-सा हो सकता है? दोनों एक-दूसरे के

सुख-दुःख के 'साथी' हैं। इसलिए मंत्र में 'मित्रं स्वयं वनुते' का प्रयोग हुआ है। अर्थात्, स्त्री अपने 'मित्र' को स्वयं चुनती है। आजकल कितने पुरुष हैं, जो अपनी स्त्री को 'मित्र' कह सकें। गृह्य सूत्र में लिखा है—'यदेतद् हृदयं तव तदस्तु हृदयं मम, यदिदं हृदयं मम तदस्तु हृदयं तव।'—'जो तेरा हृदय है, वह मेरा हृदय हो जाय और जो मेरा हृदय है, वह तेरा हृदय हो जाय।' विवाह-संस्कार में 'सप्तपदी' के समय—'सखे सप्तपदी भव'—यह पढ़ा जाता है, इसमें भी स्त्री को 'सखा' कहा गया है। जैसा प्रारम्भ में कहा गया था—विवाह का उद्देश्य तो जीवन के आदर्श को पूर्ण करने के लिए एक साधनमात्र है। जीवन का आदर्श संसार के सब प्राणियों में अपनापन अनुभव करना है, मित्रता अनुभव करना है। इसलिए विवाह में भी पति-पत्नी में मित्रता, सखि-भाव जरूरी है, नहीं तो विवाह का एक प्रधान उद्देश्य पूरा ही नहीं हो सकता।

संसार में ज्ञात से अज्ञात की तरफ़ जाने का प्रयत्न होता है। जो-कुछ हमारे पास है, जो-कुछ हमें प्राप्त है, उसी के आधार पर जो-कुछ हमारे पास नहीं है, हमें अप्राप्त है, उसे पाया जा सकता है। स्त्री-पुरुष में तो प्रेम स्वाभाविक है। उसके लिए कोई स्कूल पढ़ने नहीं जाता, परन्तु प्राणिमात्र के लिए प्रेम का पाठ तो सीखना ही पड़ता है, वह बैठे-बैठे नहीं आ जाता। स्त्री तथा पुरुष के इसी स्वाभाविक प्रेम को प्राणिमात्र तक ले जाने का, एक कठिन काम को आसान बनाने का प्रयत्न गृहस्थाश्रम द्वारा किया जाता है। परन्तु यदि पति-पत्नी में प्रारम्भ में ही सखि-भाव नहीं है, मैत्री नहीं है, नज़दीकी नहीं है, तो यह आशा करना कि गृहस्थाश्रम ऐसे दम्पती की आत्मा का विकास करेगा या उसमें प्राणिमात्र के लिए प्रेम उत्पन्न करेगा, मूर्खता है। इसलिए विवाह के प्राचीन भारतीय आदर्श में स्त्री-पुरुष का आपस में 'मैत्री-भाव' से खिंचे होना जरूरी है। इसी प्रेम का, इसी मैत्री-भाव का तो आगे विस्तार करना है। यह है ही नहीं, तो आगे विस्तार किस चीज का होगा? हम तो समझते हैं कि भारतीय-आदर्श की दृष्टि से वह विवाह विवाह ही नहीं, जिसमें स्त्री-पुरुष का आपस में मैत्री-भाव या सखि-भाव नहीं। विवाह में प्रेम ही तो एक तत्त्व है, जिसे संकुचित-क्षेत्र से निकाल कर हम विस्तृत-क्षेत्र में विकसित करना चाहते हैं। जिस क्षेत्र में यह बीज ही नहीं पड़ा, वहाँ संसार के प्रति मैत्री-भाव का अंकुर कैसे फूट सकता है?

७. संतानोत्पत्ति

प्राचीन-भारतीय-आदर्श दो आत्माओं के परस्पर विवाह-बंधन में जकड़ जाने पर ही समाप्त नहीं हो जाता। दो आत्मा अपने को एक सूत्र में इसलिए बाँधते हैं ताकि अन्य आत्माओं को भी इसी सूत्र में बाँध लिया जाय। इसी लिए विवाह का सबसे ऊँचा आदर्श संतानोत्पत्ति है। वेद में जहाँ भी स्त्री और पुरुष का इकट्ठा वर्णन आता है, वहाँ सन्तान का जिक्र अवश्य पाया जाता है। आजकल की सभ्यता के कई लोग तो बार-बार इस बात का वर्णन देखकर नाक-भौं सिकोड़ने लगते हैं। आजकल के लोग सन्तान-निग्रह का वर्णन बड़े चाव से पढ़ते हैं, सन्तानो-

त्पत्ति मानो उन्हें खाए-सी जाती है। विवाहित स्त्री तथा पुरुष एक-दूसरे में अपनी आत्मा को घुला-मिला देते हैं। वे—'यदस्ति हृदयं तव तदस्तु हृदयं मम'—का पाठ सीख लेते हैं। पुरुष स्त्री को बचाकर सब कष्ट अपने ऊपर झेलना चाहता है, स्त्री पति को बचाकर जीवन के कष्टों को अपने ऊपर लेना चाहती है। जब उनके सन्तान हो जाती है, तब दोनों सब कष्टों को अपने ऊपर लेकर बच्चे पर किसी तरह की आँच नहीं आने देना चाहते। एक सन्तान के बाद दूसरी सन्तान होती है, दूसरी के बाद तीसरी, तीसरी के बाद चौथी। माता-पिता एक विचित्र पाठशाला में शिक्षा पाने लगते हैं। ऐसी पाठशाला में, जिसमें बच्चा कहीं जाग न जाय, इस-लिए माता रात-भर स्वयं जागकर उसे गोदी में लिए बैठी रहती है। बच्चे को कहीं सर्दी न लग जाय, इसलिए माता अपना सूखा बिछौना उसके नीचे करके स्वयं उसके पेशाब से गीले बिस्तर पर रात काट डालती है। वैदिक-आदर्श के अनुसार आठ-दस बच्चों को इस प्रकार पालकर माता-पिता के आत्मा का ऐसा विकास हो सकता है, जिससे वे दुनिया-भर के बच्चों में अपने बच्चों की झलक देख सकते हैं, और अपने आत्मा के तंतु को प्राणिमात्र के मनकों में पिरो सकते हैं। गृहस्थाश्रम इस ऊँचे आदर्श का पाठ पढ़ाने के लिए, उसका अनुभव कराने के लिए और इस अनुभव को माता-पिता की रग-रग में रचा देने के लिए पाठशाला है। तभी (ऋ १०।११७।६) कहा है—'केवलाघो भवति केवलादी'—'जो गृहस्थ दूसरे को खिलाकर नहीं खाता, वह पाप खाता है'। वैदिक-आदर्श के अनुसार मनुष्य खाने का तभी अधिकारी है, जब खुद खाने के पहिले दूसरे को खिला सके; जीने का तभी अधिकारी है, जब दूसरे के लिए अपने जीवन को खपा सके। यही पाठ गृहस्थ को अनुभव से सीखना है, दस-बारह की टोली में इस बात का अभ्यास करना है। आज तो यह पाठ पढ़ाया जाता है कि अपने जीवन के लिए दूसरे को हज़म कर जाओ, परन्तु गृहस्थ का वैदिक-आदर्श यह है कि दूसरे के जीवन के लिए अपनी जान देने की ज़रूरत पड़े, तो उसे उठाकर फेंक दो। गृहस्थ ने इसी आदर्श को सीखने के लिए विवाह किया है, इसलिए हिन्दू-समाज में सन्तान न होने को एक महान् कष्ट समझा जाता है। गृहस्थ का वैदिक-आदर्श सन्तानोत्पत्ति है, सन्तान-निग्रह नहीं। विवाह में सप्तपदी के समय कहा जाता है, 'पुत्रान् विन्दावहै बहून्।'—'हम दोनों स्त्री-पुरुष बहुत-से पुत्र प्राप्त करें।' जिसके सन्तान नहीं, उसे मालूम नहीं कि दूसरे के लिए किस प्रकार जगा करते हैं, दूसरे के लिए किस प्रकार काँटों पर चला करते हैं, दूसरे के लिए किस प्रकार सूखे चने चबाकर और पानी पीकर गुज़ारा किया करते हैं। हाँ, जो व्यक्ति बिना गृहस्थाश्रम में प्रवेश किये यह सब-कुछ करने के लिए तैयार है, वैदिक-आदर्श के अनुसार उसके लिए विवाह का भी विधान नहीं है। उसके लिए तो ब्राह्मण ग्रन्थों में लिखा है—'यदहरेव विरजेत् तदहरेव प्रव्रजेत्'—जिस दिन उसमें ममता का भाव छूट जाय, सीमित-ममता के स्थान पर विशाल-ममता का भाव आ जाय, 'एकत्वमनुपश्यतः' का साक्षात्कार हो जाय, उसी दिन भगवा रँगवा ले। परन्तु ऐसा सब के लिए सम्भव

नहीं है। साधारण लोगों के लिए इस ऊँचे आदर्श को जीवन में सीखने का तरीक़ा गृहस्थाश्रम में प्रवेश करना ही है। वैदिक-आदर्श के अनुसार विवाह तभी सफल कहा जा सकता है, जब उसका फल सन्तान हो। पत्नी का लक्ष्य माता बनना, और पति का लक्ष्य पिता बनना है। जो पत्नी माता नहीं बनी, और जो पति पिता नहीं बना, उसने गृहस्थी का पाठ ही नहीं सीखा।

८. संतान कैसी हो ?

भारतीय-आदर्श सन्तानोत्पत्ति पर बल देता है, परन्तु सन्तान कैसी हो ? सन्तति-सुधार के विज्ञान का तो युरोप में अब प्रचार होने लगा है, परन्तु भारतीय-विचार-परम्परा इस प्रकार के विचारों से भरी पड़ी है। जिनका यहाँ की विचार-धारा से साधारण-सा भी परिचय है, वे यह देखे बग़ैर तो रह नहीं सकते कि वैदिक-साहित्य में सन्तति-सुधार (Race-betterment) का विचार जगह-जगह भरा पड़ा है। भारतीय-आदर्श के अनुसार टूटी-फूटी सन्तान उत्पन्न करने की सख़्त मनाही है। वेद में स्त्री को 'वीरसू' कहा गया है, अर्थात्, वीरों को उत्पन्न करने वाली, क़ायरों और बुज़दिलों को नहीं; युद्ध में छाती पर वार लेने वाली सन्तान को पैदा करने वाली, पीठ पर नहीं। वेद का कोई मंत्र ऐसा नहीं, जिसमें सन्तान का ज़िक्र तो हो, और उसमें यह न लिखा हो कि वह सौ साल तक जीने वाली हो, हृष्ट-पुष्ट हो, उत्तम विचारोंवाली हो, माता-पिता से कहीं आगे बढ़ी हुई हो। एक जगह कहा है—

'तं माता दशमासान् बिभर्तु स जायतां वीरतमः स्वानाम्।'

दश मास के बाद जो पुत्र हो, वह —'स्वानाम्'—अपने सब सम्बन्धियों में से—'वीरतमः जायताम्'—वीरतम हो, अर्थात् सब से अधिक वीर हो। संस्कृत से साधारण-सा परिचय रखने वाले व्यक्ति ने भी यह सूक्ति सुनी होगी—

एकेनैव सुपुत्रेण सिंही स्वपिति निर्भया।
सहैव दशभिः पुत्रैर्भारं वहति गर्दभी॥

—शेरनी एक सुपुत्र से निडर होकर आराम से सोती है, और गधी दस पुत्र होने पर भी भार ही ढोती है।

सन्तानोत्पत्ति का आदर्श कुत्ते-बिल्लियों की तरह झोल-की-झोल पैदा कर देना नहीं है। वैदिक-आदर्श यह है कि पिछली पीढ़ी शारीरिक, मानसिक तथा आत्मिक गुणों में जिस ऊँचाई पर खड़ी थी, अगली पीढ़ी उससे दस क़दम आगे बढ़ी हुई हो, और पिछलों से बहुत आगे निकल जाय। इस प्रकार हर-एक पीढ़ी पिछली पीढ़ी से बहुत आगे निकलती जाय, और हर-एक २५ साल के बाद मानव-समाज में एक आश्चर्य-जनक उन्नति दिखाई दे। आज अगली पीढ़ी पिछली से आगे बढ़ने के बजाय उससे दस क़दम पीछे हटकर जन्म लेती है, और पैदा होकर आगे बढ़ने के बजाय पीछे की तरफ़ बेतहाशा दौड़ पड़ती है। जो हमारे माता-पिता के क़द और शरीर थे, वे हमारे नहीं हैं; और, जो हमारे बाबा-परबाबा के शरीर थे, वे हमारे माता-पिता के नहीं हैं। यह दौड़ आगे को नहीं, पीछे को है। वैदिक आदर्श

ठीक इससे उल्टा है। वहां तो लिखा है—'स्वानां वीरतमः जायताम्'—अर्थात्, आने वाली सन्तान इतनी वीर हो, जितनी पिछलों में से एक भी नहीं हुई। इसी प्रकार एक और मंत्र में लिखा है—

'अनूनः पूर्णो जायताम् अश्लोणोऽपिशाचधीतः।'

—सन्तान 'अनून' हो, उसमें कोई न्यूनता न हो, कमी न हो, और 'पूर्ण' हो। इतना ही नहीं कि उसमें कोई कमी न हो, प्रत्युत वह सब बात में पूर्ण हो। साथ ही वह 'अपिशाचधीतः' हो, अर्थात् वह पिशाच (बुरे विचारों) की सन्तान न हो। वैदिक-आदर्श यह है कि ऐसे विचारों को लेकर सन्तान उत्पन्न की जाय। वेद के अनुसार विवाह का आदर्श स्त्री-पुरुषों की ऐसी श्रेणी को जन्म देना है, जो पिछलों की अपेक्षा 'वीरतम' हो, 'अनून' हो, 'पूर्ण' हो, और 'पिशाच'-विचारों से मुक्त हो; इसके विपरीत आज ऐसी सन्तानें उत्पन्न हो रही हैं, जो 'कायर-तम' हैं, 'न्यून' हैं, 'अपूर्ण' हैं और 'पिशाच'-विचारों की हैं। आज बेसमझे-बूझे में सन्तानें गले पड़ जाती हैं, ऐसी सन्तानों का भविष्य क्या हो सकता है?

९. घर में स्त्री की स्थिति

विवाह के बाद स्त्री की घर में क्या स्थिति होनी चाहिए इस पर भी वैदिक-साहित्य में प्रकाश डाला गया है। बहुत-कुछ होने पर भी आज स्त्री की घर में कोई स्थिति नहीं है। वह पर्दे में लिपटी रहती है, घर में रहती हुई भी वह मानो घर में नहीं है। परन्तु अर्वाचीन इतिहास को छोड़ दिया जाय, तो प्राचीन साहित्य में पर्दे को कोई स्थान नहीं है। जैसे पुरुष अपना मुंह खोलकर चल-फिर सकता है, वैसे स्त्री भी खुले मुंह विचरण करती है। वेद का कथन है—'सुमंगलीरियं वधूरिमां समेत पश्यत।'—'यह मंगल करने वाली वधू है, इसे आकर देखो।' पर्दे के जमाने में अगर कोई अपने मित्रों से कह बैठे कि मेरी स्त्री को आकर देखो, तो लोग उसका नाक में दम कर दें। हम इतने गंदे हो गए हैं कि वैदिक-साहित्य का यह ऊँचा भाव कि पति अपनी पत्नी का अपने मित्रों से परिचय कराए—हमारे गले के नीचे नहीं उतर सकता। वैदिक-आदर्श के अनुसार पति-पत्नी का तो विवाह से पहिले ही परिचय होना चाहिए। हमारा गंदा समाज यह समझता है कि किसी स्त्री का पति, पिता, पुत्र या भाई के सिवा किसी अन्य पुरुष से परिचय होगा, तो जरूर गिरावट की आशंका रहेगी, परन्तु भारतीय-आदर्श तो एक ऐसा समाज उत्पन्न करना चाहता है, जिसमें स्त्रियां पुरुषों से और पुरुष स्त्रियों से ऐसे ही स्वतंत्र रूप से मिल-जुल सकें, जैसे पुरुष पुरुषों से मिलते हैं, या स्त्रियां स्त्रियों से मिलती हैं। हमारी प्राचीन विचार-धारा में स्त्री को घर में लाकर कोठरी में बन्द नहीं कर दिया जाता, वह पर्दे में क़ैद नहीं रहती। वह ऐसी ही स्वतंत्र विचरती है, जैसे समाज में पुरुष और इसके साथ उसके गिरने की कोई आशंका भी नहीं रहती। हमारी प्राचीन परम्परा में ऐसे ही समाज की कल्पना की गई है जो वर्त्तमान कल्पना के अनुकूल है।

युरोप में स्त्री को पुरुष की 'उत्तमार्ध' (Better half) कहते हैं; परन्तु हमारे यहाँ उसे 'अर्धाङ्गिनी' (Equal half) कहा गया है। वहाँ उत्तमार्ध (Better half) होते हुए भी स्त्री की यह स्थिति है कि कन्यादान के समय सारा कार्य लड़की का पिता अकेला करता है। वह न हो, तो लड़की का चचा कन्यादान का अधिकारी है, परन्तु वैदिक-विवाह में कन्यादान की विधि तब तक पूर्ण नहीं समझी जाती, जब तक कन्या के पिता के साथ उसकी माता भी यज्ञ-वेदी पर नहीं बैठती। वैदिक मर्यादा का कोई यज्ञ पूर्ण नहीं समझा जाता, जब तक यजमान और यजमान-पत्नी दोनों भाग न लें। जिन लोगों की मर्यादा किसी समय इतनी ऊँची रही हो, उनके यहाँ लड़कियों की शिक्षा तक बंद कर दी गई, यह समय का ही फेर था, परन्तु इसमें सन्देह नहीं कि वैदिक-आदर्श में स्त्रियों को स्त्री होने से किसी बात की रुकावट नहीं थी। पुरुष तथा स्त्री, ऊँच तथा नीच, ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र, सब को राज्य की तरफ़ से अपनी योग्यता के विकास के लिए समान अवसर मिलना चाहिए, उन्नति का एक-जैसा तथा पूरा-पूरा मौक़ा मिलना चाहिए, यह बात भारतीय विचार-धारा की नींव में पड़ी है। यजु० (२६।२) में कहा है—

'यथेमां वाचं कल्याणीमावदानि जनेभ्यः।'

वैदिक-साहित्य के अनुसार स्त्री को शिक्षा प्राप्त करने का पूरा-पूरा अधिकार है, और उतना अधिकार है, जितना पुरुष को। इसके सिवा उसे वे सब दूसरे अधिकार भी प्राप्त हैं, जो पुरुष को हैं। वेद में स्त्री तथा पुरुष के अधिकारों में कोई भेद नहीं किया गया।

ऋग्वेद (१०।१५९) में तो यहाँ तक कहा है—

'अहं केतुरहं मूर्धा अहमुग्रा विवाचनी।'

अर्थात्, मैं समाज को मार्ग दिखाने वाली पताका हूँ, मैं समाज का सिर हूँ, मैं बड़ा अच्छा विवाद करने वाली वकील हूँ।

इसी सूक्त में आगे कहा है—

'यथाहमस्य वीरस्य विराजानि जनस्य च।'

अर्थात्, मैं इन वीरों की रानी हूँ, इस सेना की अधिनेत्री हूँ।

एक स्त्री, जो विवाहिता है, अपने विषय में कहती है—

'मम पुत्राः शत्रुहणः अथो मे दुहिता विराट्।'

(ऋग्वेद, १०।१५९।३)

अर्थात्, मेरे पुत्र शत्रुओं को मारने वाले और मेरी लड़की प्रदीप्त ज्योति-वाली हो।

इन मंत्रों में विवाहिता स्त्री के समाज का मूर्धन्य होने, उसके वकील तथा सेनापति होने का वर्णन पाया जाता है। इसका यह स्पष्ट अभिप्राय है कि हमारा प्राचीन-साहित्य स्त्री के अधिकारों को पूरा-पूरा स्वीकार करता है। यह ठीक है कि ये अधिकार उसी स्त्री को प्राप्त होने चाहिएँ, जो अपने बाल-बच्चों के प्रति

अपने कर्त्तव्य का भली प्रकार पालन कर रही हो, या जिसने बाल-बच्चों को पालने की कोई ज़िम्मेदारी अपने ऊपर न ली हो। बाल-बच्चों की देख-रेख खोकर किसी स्त्री को इन कामों में हाथ डालने का अधिकार नहीं है। आज युरोप में स्त्रियां रोटी का टुकड़ा कमाने के लिए जीवन-संग्राम में जा पड़ी हैं, इससे उनका गृहस्थ जीवन उजड़ गया है, क्योंकि गृहस्थी का चलाना और रोटी के लिए कश्मकश करना दोनों परस्पर विरोधी बातें हैं। वैदिक-आदर्श में उसी पुरुष को विवाह करने का अधिकार है, जो विवाह से पहले—'ममेयमस्तु पोष्या'—अर्थात्, मैं इसका भरण-पोषण करूँगा, इस बात का ऐलान कर सके, वह एक सभा में खड़ा होकर यह घोषणा कर सके कि वह अपनी पत्नी का और बाल-बच्चों का पालन-पोषण कर सकेगा। शायद युरोप में स्त्री को पुरुष का 'उत्तमार्ध' (Better half) इसलिए कहा जाता है, क्योंकि वह बाल-बच्चों की देख-रेख भी करती है, और पुरुष के मुक़ाबले में रोटी भी कमा लाती है। वह ख़ुद ही पुरुष से 'उत्तम' (Better) हो गई। वैदिक-आदर्श के अनुसार तो वह 'अर्धाङ्गिनी' (Equal half) है। पुरुष रोटी कमा कर लाता है, और स्त्री बाल-बच्चों की देख-रेख करती है। उन्होंने अपने काम का इस प्रकार बँटवारा कर रक्खा है। वैदिक-आदर्श के अनुसार स्त्री-पुरुष में एक-दूसरे से अच्छा-बुरा होने का कोई मौका नहीं है। दोनों का क्षेत्र अपना-अपना है। दोनों ने श्रम-विभाग के अनुसार रज़ामंदी से भिन्न-भिन्न क्षेत्र चुन लिए हैं। पुरुष के क्षेत्र में स्त्री दख़ल नहीं देती, और स्त्री के क्षेत्र में पुरुष चुप रहता है। दोनों अपने-अपने क्षेत्र में काम करें, तो वे दोनों एक-दूसरे से बढ़ कर हैं, और इसलिए एक-दूसरे के बराबर हैं।

१०. पत्नी घर की सम्राज्ञी है

हमने देख लिया कि प्राचीन भारतीय आदर्श के अनुसार स्त्री को घर में क़ैद नहीं किया जाता, वह स्वतन्त्र रहती है। उसे पर्दे में क़ैद नहीं रक्खा जाता, वह पुरुषों के साथ भी स्वतंत्रता से मिलती है, और समाज को गंदा करने के बजाय उसे गंदा होने से बचाती है। स्त्री इस प्रकार समाज की नैतिक-स्थिति (Moral tone) को ऊँचा बनाए रखती है। हमने यह भी देख लिया कि यदि वह बाल-बच्चों की परवरिश के कर्त्तव्य को पूरी तरह से निभा रही है, या इस झगड़े में ही नहीं पड़ रही, तो उसे वकालत करने, सेनापति बनने और राज्य के ऊँचे-से-ऊँचे पद तक का भी पुरुष के समान पूरा अधिकार है, परन्तु अधिकतर वह इस कश्मकश में नहीं पड़ती, यह काम पति के सुपुर्द रहता है। पति तथा पत्नी दोनों अपने-अपने क्षेत्र में राज करते हैं। अब हमें यह देखना है कि पत्नी का अपने घर में किस प्रकार का राज है?

आज हमारे घरों में स्त्री-जाति की स्थिति दासी से बढ़कर नहीं है। लड़के का विवाह होता है, नई बहू घर आती है, परन्तु उसके साथ उसकी सास का बर्ताव ऐसा होता है जैसा नौकरानी के साथ। विवाह से पहले यदि नौकरानी

होती है, तो बहू आने पर यह समझा जाता है कि अब नौकरानी की क्या जरूरत है, बहू जो आ गई, वह सारा काम-काज कर लेगी। हमारे कहने का यह अभिप्राय नहीं कि बहू को काम नहीं करना चाहिए, इस कथन का इतना ही अभिप्राय है कि बहू पर काम का बोझ उसे नौकरानी समझ कर डाला जाता है, घर की जिम्मेवार मालकिन समझकर नहीं। सास के हाथों घी का भरा कनस्तर गिर जाय, तो कुछ नहीं, परन्तु यदि बहू से एक सुई भी टूट जाय, तो सास उसके सिर हो जाती है। तभी आजकल सास और बहुओं की नहीं बनती। वैदिक आदर्श ऐसा नहीं है। वेद में कहा है—

यथा सिन्धुर्नदीनां साम्राज्यं सुषुवे वृषा।
एवा त्वं सम्राज्ञ्येधि पत्युरस्तं परेत्य। (अथर्व० १४।१।४३)

—जैसे समुद्र नदियों का राजा है, इसी प्रकार पति के घर में तू सम्राज्ञी अर्थात् महारानी होकर रह। सम्राज्ञी भी कैसी?

"सम्राज्ञ्येधि श्वशुरेषु सम्राज्ञ्युत देवृषु।
ननान्दुः सम्राज्ञ्येधि सम्राज्ञ्युत श्वश्र्वाः॥" (अथर्व० १४।१।४४)

—तुझे तेरा श्वशुर घर की महारानी समझे, तेरे देवर तुझे सम्राज्ञी समझें, तेरी ननदें तेरा शासन मानें और तेरी सास तुझे घर की महारानी माने।

भारतीय-साहित्य स्त्री को घर में यह स्थिति देना चाहता है। माता-पिता का कर्त्तव्य है कि जब उनका पुत्र विवाहित हो जाय, तो अपने हाथों से घर का राज अपने पुत्र तथा पुत्र-वधू को दे दें। अपने पुत्र को वे घर का राजा बनाएँ, और पुत्र-वधू को घर की महारानी। इसके बाद वे उस घर में न रहें, और यदि रहें, तो अपने पुत्र तथा पुत्र-वधू की प्रजा होकर रहें। सास घर के खजाने की चाबी नई बहू के हाथों में रख कर उसे घर की मालकिन बना दे। इस आदर्श को सुनकर आजकल की सासें शायद चौंक पड़ें और समझें कि इन बातों को सुनकर उनकी बहुएँ बिगड़ जायेंगी। हमें एक बुढ़िया का पता है, जो बेचारी अंधी है, चल-फिर भी ज्यादा नहीं सकती, परन्तु वह हर-एक चीज की चाबी अपने पास रखती है। जब उसके पोते पैसा माँगते हैं, तो वह अपने सिरहाने के नीचे से चाबियाँ टटोलकर उन्हें पैसे देती है। वह इस बात को बर्दाश्त नहीं कर सकती कि उसकी बहू बच्चों को पैसे दे दे। जब कभी बच्चे लड्डू माँगते हैं, तो वह सन्दूक खोल कर उन्हें लड्डू देने में घण्टा-भर लगा देती है, और शरारती लड़के यह देख कर कि दादी देख नहीं सकती, चुपके-से एक-एक लड्डू और उड़ा ले जाते हैं। यह बुढ़िया हमारी सासों का नमूना है, जो घर में बहू का राज नहीं देख सकतीं। सभा-सोसाइटियों में भी ऐसी सासों की कमी नहीं है। मंत्री-प्रधान के पदों को जो लोग जन्म-जन्मान्तरों की बपौती जायदाद समझते हैं, और नव-युवकों को आगे नहीं आने देते, वे सोसाइटियों की सासें हैं। प्राचीन भारतीय-आदर्श यह नहीं है। लड़का जब बड़ा हो जाय, तो अपना स्थान उसे दे देना अपने देश की पुरातन मर्यादा है। वैदिक-मर्यादा तो यह है कि पति-पत्नी अपने आत्मा को इतना विकसित करें

कि जब तक उनके लड़के की शादी हो, तब तक वे मोह के बंधन को घर से निकालकर घर के बाहर फैलाने लगें, परार्थ को स्वार्थ बनाने का पाठ सीखते-सीखते अपने क्षुद्र स्वार्थ से सर्वथा ऊपर उठ जांय। जिसने गृहस्थाश्रम में प्रवेश करके इसमें से निकलना नहीं सीखा, जिसने बंधनों में पड़कर उन्हें काटना नहीं सीखा, वह गृहस्थाश्रम को एक कीचड़ बना लेता है, और स्वयं उसका कीड़ा होकर उसमें रेंगने लगता है। जो पति-पत्नी इस प्रकार गृहस्थाश्रम के कीड़े हैं, वे अपनी बहू के सिर पर अपने ही हाथों से उस साम्राज्य के सेहरे को कैसे बांध सकते हैं, जो अब तक उनके सिर पर बंधा था। परन्तु नहीं, गृहस्थ का प्राचीन भारतीय-आदर्श यही है। वैदिक घर में नई बहू श्रृंगार करके प्रवेश करती थी, और उस घर में उसके सास, ससुर, ननदें और देवर उसे घर की रानी समझ कर उसे स्वीकार करते थे। यह उस आदर्श के सामने झुकना था जिस आदर्श का जीवन में क्रियात्मक पाठ सीखने के लिए इस नव-दम्पती ने गृहस्थाश्रम में प्रवेश किया है। अब तक इनके माता-पिता ने इस आश्रम में पच्चीस वर्ष तक अपने आत्मा के विकास का पाठ सीखा था, स्वार्थ की जड़ों में परार्थ का पानी सींचकर परार्थ को ही स्वार्थ बना लिया था। अब ये नौसिखिये भी उसी क्रम में से गुजर कर जीवन के लक्ष्य को अपने समीप लाने का प्रयत्न करेंगे।

११. गृहस्थ का आदर्श गृहस्थी को छोड़ना है

हमने देख लिया कि विवाह का वैदिक-आदर्श क्या है। विवाह खिलवाड़ नहीं है, यह विषय-भोग का साधन नहीं है। अथर्व-वेद में पत्नी को सम्बोधन करके कहा गया है—

पत्युरनुव्रता भूत्वा संनह्यस्व अमृताय कम्॥ (अथर्व० १४।१।४२)

—पति के पीछे चलती हुई अमृत पाने की तैयारी कर! विवाह अमृत पाने की तैयारी के लिए है! इस अमृत को अथर्व-वेद के इसी सूक्त में एक दूसरे स्थल (६४ मंत्र) पर समझाया गया है—

ब्रह्मापरं युज्यतां ब्रह्म पूर्वं ब्रह्मान्ततो मध्यतो ब्रह्म सर्वतः।
अनाव्याधां देवपुरां प्रपद्य शिवा स्योना पतिलोके विराज॥

—पत्नी के पीछे ब्रह्म हो, आगे ब्रह्म हो, आखिर तक ब्रह्म हो, बीच में ब्रह्म हो, और चारों तरफ़ ब्रह्म हो। इसी प्रकार ब्रह्म से घिरी हुई पत्नी पति-लोक में राज्य करे। ब्रह्म का अर्थ है —बड़ापन, महानता। यह महानता क्या है? हम अब्रह्म हैं, छोटे हैं, बहुत छोटे हैं, स्वार्थ में गड़े हुए हैं, अपने सिवा हमें कुछ नहीं दिखलाई देता। विवाह से पति-पत्नी ब्रह्म की तरफ़ जाते हैं, ब्रह्म का अर्थ परमात्मा नहीं परन्तु बड़ापन है, वे छोटे से बड़े होते हैं, धीरे-धीरे वे बहुत बड़े हो जाते हैं, स्वार्थ के गढ़े से निकल कर परार्थ के समीप पहुंच जाते हैं, उन्हें अपनापन भूल जाता है, और अपने सिवा सब-कुछ दिखलाई देने लगता है। गृहस्थ-आश्रम मनुष्य को जीवन के इसी आदर्श की तरफ़ ले जाता है। यदि गृहस्थाश्रम मनुष्य को जीवन के इस आदर्श की तरफ़ नहीं ले जाता, तो वह गृहस्थ गृहस्थ नहीं है, वह इस

आश्रम की खिल्ली उड़ाना है। इसी लिए गृहस्थ के जितने आदर्शों का ऊपर वर्णन किया गया है, उन सब में ऊँचा आदर्श यह है कि गृहस्थ एक खास समय पर आकर, एक खास मंजिल पर पहुँच कर, ऐसी स्थिति में पहुँच कर कि जब उसने दूसरों के स्वार्थ को अपना स्वार्थ बनाना सीख लिया है, गृहस्थाश्रम से भी ऊपर उठ जाय, इस आश्रम का भी त्याग कर दे। गृहस्थी में प्रवेश गृहस्थी में से निकलने के लिए है, उसी में बैठे रहने के लिए नहीं। यह जीवन के उद्देश्य को सफल बनाने के लिए एक साधन है, स्वयं कोई लक्ष्य नहीं; यह एक सराय है, निज का मकान नहीं; गृहस्थी को किसी ऊँचे टीले पर पहुँचना है, रास्ते में ठहरना नहीं। गृहस्थ का यह आदर्श उसके सब आदर्शों का शिरोमणि आदर्श है, क्योंकि यदि गृहस्थ इस बात को नहीं समझा, तो वह कुछ नहीं समझा।

प्राचीन-काल में गृहस्थ आश्रम का यही आदर्श समझा जाता था। 'उत्तर-राम-चरित' में एक दृश्य का वर्णन है। राम तथा लक्ष्मण मुनियों के कपड़े पहने हुए हैं, और दोनों इक्ष्वाकु-वंश के प्राचीन राजाओं के चित्र देख रहे हैं। उन चित्रों में इक्ष्वाकु-वंश के सब राजाओं का वानप्रस्थ-आश्रम का चित्र है। इसे देखकर लक्ष्मण कहते हैं—

"पुत्रसंक्रान्तलक्ष्मीकैर्यद् वृद्धेक्ष्वाकुभिर्धृतम्।
धृतं बाल्ये तदार्येण पुण्यमारण्यकव्रतम्॥"

"इक्ष्वाकु-वंश में यह प्रथा थी कि जब वे वृद्ध हो जाते थे, तो लक्ष्मी को पुत्र के हवाले कर दिया करते थे। हे राम! तुमने तो यह जंगल में विचरने का वानप्रस्थियों का बाना बचपन में ही पहन लिया।" दिलीप ने जब वृद्धावस्था आने के कारण वानप्रस्थ लिया, तो उसका वर्णन कालिदास ने इस प्रकार किया है:—

"अथ स विषयव्यावृत्तात्मा यथाविधि सूनवे;
नृपतिककुदं दत्त्वा यूने सितातपवारणम्।
मुनिवनतरुच्छायां देव्या तया सह शिश्रिये;
गलितवयसामिक्ष्वाकूणामिदं हि कुलव्रतम्।"

"विषयों से अपने मन को खींचकर दिलीप ने यथाविधि राजा के चिह्न को अपने पुत्र रघु के सुपुर्द किया, और स्वयं देवी के साथ जंगलों की छाया में चला गया। बूढ़े इक्ष्वाकुओं का तो यह कुल-व्रत है।" इसी प्रकार जब रघु बूढ़ा हो गया, और उसका लड़का अज विवाह करके घर आया, तो कालिदास कहता है:—

"प्रथमपरिगतार्थस्तं रघुः सन्निवृत्तं,
विजयिनमभिनन्द्य श्लाघ्यजायासमेतम्।
तदुपहितकुटुम्बः शान्तिमार्गोत्सुकोऽभूत्,
न हि सति कुलधुर्ये सूर्यवंश्या गृहाय॥"

"यदि कुल की धुरी, कुल का स्तम्भ—पुत्र—मौजूद हो, और माता-पिता वृद्ध हो जाँय, तो सूर्यवंशी राजाओं में घर में बैठने की प्रथा नहीं है।"

इसी प्रकार अभिज्ञान-शाकुन्तल में दुष्यन्त अपने कुल की परिपाटी का उल्लेख करता हुआ कहता है--

"भवनेषु रसाधिकेषु पूर्वं क्षितिरक्षार्थमुशन्ति ये निवासम्।
नियतैकपतिव्रतानि पश्चात् तरुमूलानि गृहीभवन्ति तेषाम्॥"

"जो लोग बड़े-बड़े भवनों में रहा करते हैं, वृद्धावस्था में आकर वे वृक्षों की जड़ों में अपना आसन जमा लेते हैं।" जिस समय शकुंतला का दुष्यंत से विवाह हुआ है, तब जैसे लड़कियां विदाई के समय अपनी मां से पूछती हैं, अब मुझे कब बुलाओगी, वैसे शकुंतला ऋषि कण्व से पूछती है, आप मुझे कब बुलाएंगे? कण्व ऋषि उत्तर देते हैं:--

"भूत्वा चिराय चतुरन्तमही-सपत्नी
दौष्यन्तिमप्रतिरथं तनयं निवेश्य।
भर्त्रा तदर्पितकुटुम्बभरेण सार्धं
शान्ते करिष्यसि पदं पुनराश्रमेऽस्मिन्॥"

"देर तक तू राज्य करती-करती जब अपने लड़के को गद्दी पर बैठा देगी, तब अपने पति के साथ वानप्रस्थिनी बनकर इस आश्रम में आना।"

प्राचीन-काल के वानप्रस्थियों के ये वर्णन हैं। उस समय गृहस्थी २५ साल के बाद घर छोड़ कर जंगल में धूनी जा रमाता था। राजा-महाराजा भी बड़ी खुशी से रेशमी कपड़े उतार कर सादे कपड़े पहन लेते थे। भारत के बड़े-बड़े शहरों के इर्द-गिर्द वानप्रस्थियों के आश्रम हुआ करते थे। इन आश्रमों से मनुष्य-समाज के लिए आध्यात्मिकता का पवित्र स्रोत बहा करता था। संसार के नाना प्रकार के झंझटों से थके हुए गृहस्थ-समाज के लिए ये वानप्रस्थियों के आश्रम शान्ति का उद्भव-स्थान हुआ करते थे। वे गृहस्थियों को उनका आदर्श चिताते रहते थे। आज वह आदर्श सर्वथा लुप्त हो गया है और इसी लिए हमारा सामाजिक जीवन अत्यन्त गंदा हो रहा है। जिन लोगों को घर छोड़ वनों में चला जाना चाहिए था, वे सभा-सोसाइटियों के मंत्री, प्रधान बनने के लिए लड़ रहे हैं, पार्टीबंदियों के चक्कर में पड़े हुए हैं, एक-दूसरे को नीचा दिखाने में, एक-दूसरे को पछाड़ने में और अपने झूठे गौरव को चार दिन तक और क़ायम रखने में दिन-रात षड्यन्त्रों में लगे हुए हैं। यदि वैदिक-आदर्शों की कोई स्टेट होती, तो इन सब को घर से निकाल कर बाहर करती, और सामाजिक-जीवन को गन्दा होने से बचा लेती। गृहस्थ का आदर्श गृहस्थाश्रम को छोड़ देने में है, इसमें पड़े रहने में नहीं। महाराज 'रघु' अपने पुत्र 'अज' को सिंहासन पर बैठा कर जंगल में जा बैठे थे, मुनि याज्ञवल्क्य अपनी सम्पत्ति का बँटवारा कर तपोवन में चले गए थे। वे दुनिया से भाग कर नहीं गये थे। वे दुनिया में से गुज़र कर गये थे, इसके सुख-दुःख का अनुभव करके गये थे। इसमें से गुज़रते हुए उन्होंने जीवन के महान् आदर्श को सीख लिया था. उनका जीवन छोटे क्षेत्र से निकल कर बड़े क्षेत्र में विचरने

लगा था; उनके आत्मा में से स्वार्थ का बीज नष्ट हो चुका था, और उसमें परार्थ का बीज जड़ पकड़ रहा था; उन्होंने अपने लिए न मर कर दूसरों के लिए मरना सीख लिया था। ऐसे महात्माओं के सम्मुख जब मृत्यु आती थी, तो उनके चरण चूमने के लिए, न कि उनके सिर पर प्रहार करने के लिए। ऐसा दृश्य फिर से देखने के लिए आज आँखें तरस रही हैं। आज उन प्राचीन तपोवनों से निकलते हुए सन्देश की तरफ़ कान लगाकर सुनने की आवश्यकता है।

भारत के प्राचीन वैदिक आदर्श के अनुसार गृहस्थाश्रम को तभी सफल कहा जा सकता है, जब आयु के एक ख़ास भाग में आकर जैसे साँप केंचुली को उतार फेंकता है, वैसे इस आश्रम को भी छोड़ दिया जाय, और अगले आश्रम में प्रवेश किया जाय। 'गृहस्थ-आश्रम का आदर्श' तो 'जीवन के आदर्श' को पूरा करने की शृंखला में एक कड़ी है। विवाह का वैदिक आदर्श तभी सफल कहा जा सकता है, और वहीं तक सफल कहा जा सकता है, जब तक और जहाँ तक वह जीवन के आदर्श को सफल बनाता है। जब गृहस्थी उस आदर्श तक पहुँच जाता है, तब अनायास उसके मुँह से निकल पड़ता है—'योऽसावसौ पुरुषः सोऽहमस्मि'।

इसी आदर्श का दूसरे शब्दों में कठोपनिषद् ने वर्णन किया है—

"मृत्योः स मृत्युमाप्नोति य इह नानेव पश्यति"।

संसार में एकता देखने में जीवन है, भिन्नता देखने में मृत्यु है। गृहस्थ मनुष्य को भिन्नता की तरफ़ से खींच कर एकता की तरफ़, जीवन की तरफ़, अमरता की तरफ़ ले जाता है—बस, यही विवाह का प्राचीन भारतीय आदर्श है।

२४

चार आश्रम—जीवन-यात्रा के चार पड़ाव

(ASHRAMS AS FOUR STAGES OF LIFE)

१. जीवन-विषयक दो दृष्टियाँ—भोग तथा त्याग

बम्बई का शहर है, सामने लम्बी सड़क है, लोगों की भारी भीड़ उमड़ी चली जा रही है, कन्धे-से-कन्धा टकराता है, कुछ आ रहे हैं, कुछ जा रहे हैं, स्त्री-पुरुष, बाल-वृद्ध-युवा सभी हैं। किसी को खड़ा करके पूछिये, क्यों भाई, क्या हुआ, इस तरह बेतहाशा किधर भागे जा रहे हो, तो वह बिना रुके, चलता-चलता जो कह जाता है उसका मतलब होता है, रोटी का फ़िक्र, आगे-पीछे का फ़िक्र नहीं, आज का और अब का फ़िक्र—इसी फ़िक्र में, वह क्या और दूसरे क्या, सभी भागे जा रहे हैं। अब हरद्वार का नजारा देखिये। गंगा का तट है, हर की पैड़ी, सैकड़ों साधु भगवा रमाये इधर-उधर टहल रहे हैं। कुछ मण्डली लगाये धर्म की चर्चा कर रहे हैं। किसी मण्डली में जाकर पूछिये, महात्मा लोगो ! आपको मालूम है, आज संसार की क्या दशा है, रोटी का प्रश्न सब को व्याकुल कर रहा है, इसी समस्या को हल करने में प्रत्येक व्यक्ति जुटा हुआ है, तो वे क्या उत्तर देते हैं? महात्माओं की मण्डली कहती है, हाँ, हमें मालूम है, परन्तु हमें इससे क्या, हम तो आत्मा के चिन्तन में लगे हुए हैं, आज की और अब की नहीं, हम आगे और पीछे की समस्या को हल करने में लगे हैं। संसार अनित्य है, घर-बार, बन्धु-बान्धव, स्त्री-पुत्र सब अनित्य हैं, इन्हें छोड़ हम नित्य आत्मा-परमात्मा की खोज में लगे हुए हैं।

जीवन के विषय में यही मोटे-मोटे दो विचार हैं। एक वर्तमान में जीना चाहता है, उसे भविष्यत् का विचार नहीं; दूसरा भविष्यत् के लिए जीना चाहता है, उसे वर्त्तमान का ख्याल नहीं। जीवन के विषय में ये दो दृष्टियाँ, जहाँ भी जीवन पर विचार हुआ, उत्पन्न हो गईं। प्राचीन ग्रीस के विचारकों में वर्तमान में जीने वाले 'एपीक्यूरिअन' (Epicureans) कहलाते थे, भविष्यत् के लिए जीने वाले 'स्टोइक' (Stoics) कहलाते थे। एपीक्यूरिअन लोगों के विषय में कहा जाता है कि वे जीवन का सम्पूर्ण आनन्द, जल्दी-से-जल्दी, जितना हो सके उतना, आज और अभी लूट लेना चाहते थे, आगे क्या होता है, क्या नहीं होता—इसका उन्हें कोई भरोसा नहीं था। स्टोइक लोग तपस्वियों का जीवन व्यतीत करते थे, आज का ख्याल न करके, आगे जो होगा उस दृष्टि से जीवन का

कार्यक्रम बनाते थे। इनमें से एक भोग-मार्ग था, दूसरा त्याग-मार्ग था। संसार के इतिहास में इन्हीं दो मार्गों में से किसी एक मार्ग पर मानव-समाज चलता आ रहा है। कुछ लोग भोग-मार्ग के उपासक रहे हैं, वर्त्तमान में डूबे रहे हैं, कुछ लोग त्याग-मार्ग के उपासक रहे हैं, भविष्यत् की चिन्ता में वर्त्तमान का तिरस्कार करते रहे हैं। इन दोनों मार्गों को मिलाने का यत्न बहुत थोड़े लोगों ने किया है। महात्मा बुद्ध ने आध्यात्मिकता के शिखर पर खड़े होकर आवाज दी, और सैकड़ों-हजारों घरानों में भिक्षु और भिक्षुणियों को उत्पन्न कर दिया; शंकराचार्य के 'ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या' के जयघोष को सुनकर घरों-के-घर भगवा डालकर खाली हो गये; मसीह के पीछे चलकर कितने ही लखपतियों के बालक साधु बन गये। इसके विपरीत संसार के जंजाल में फंसाने के लिए तो किसी बड़े उद्योग की आवश्यकता ही नहीं, इधर तो मनुष्य की प्रवृत्ति ही उसे घसीटे लिये जाती है, इसलिए जहां बुद्ध, शंकराचार्य और मसीह के पीछे इने-गिनों ने कदम बढ़ाया, वहां मनुष्य की स्वाभाविक प्रवृत्ति ने अधिकांश व्यक्तियों को सदा से संसार में बांधे रखा।

२. आर्य-संस्कृति का दृष्टिकोण—भोग तथा त्याग का समन्वय है

जीवन के इन दो मार्गों पर आर्य-संस्कृति के विचारकों ने खूब सोचा-समझा था। मनुष्य भोग का जीवन व्यतीत करे या त्याग का, दुनिया में रहे और इसका पूरा-पूरा आनन्द उठाये या इससे भागने की चिन्ता करे, वर्त्तमान में जीवन-रस के घूंट पीने में मस्त रहे या भविष्यत् की सोचे, प्रवृत्ति-मार्ग पर चले या निवृत्ति-मार्ग पर—इस प्रश्न को भारत के प्राचीन ऋषियों ने एक अनोखे तौर पर हल किया था। उन ऋषियों ने गाया था—'ईशावास्यमिदं सर्वं यत्किञ्च जगत्यां जगत्। तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा मा गृधः कस्यस्विद्धनम्॥'—हे मानव! संसार का सम्पूर्ण भोग्य-पदार्थ तेरे पिता परमात्मा का है। यह वैभव उसका है, उसका समझ कर इसका उपभोग कर, जैसे तुझे मिला है वैसे किसी दिन तुझ से छूट भी जाना है—यह समझ कर, इसे अपना न समझ कर उपभोग कर, त्यागपूर्वक उपभोग कर, निवृत्तिपूर्वक प्रवृत्ति कर, जब छोड़ने की घंटी बजे तब छोड़ने के लिए तैयार रहकर उपभोग कर।

भोग-त्याग, प्रवृत्ति-निवृत्ति, वर्त्तमान-भविष्यत्—ये दोनों विकट समस्याएँ हैं, आर्य-संस्कृति ने इन दोनों का समन्वय कर दिया था। भोग ठीक है, परन्तु भोग का अन्त त्याग में है; प्रवृत्ति ठीक है, परन्तु प्रवृत्ति का अन्त निवृत्ति में है; वर्त्तमान ठीक है, परन्तु वर्त्तमान का प्रारम्भ भूत और अन्त भविष्यत् में है; भोग और प्रवृत्ति इसलिए करे ताकि त्याग और निवृत्ति की भावना पक्की हो जाय। संसार का अन्त त्याग और निवृत्ति है, यह न हो कि जब मनुष्य त्याग की अवस्था में पहुँचे तब भोग की वासना बनी रहे, और उसे त्याग में से फिर-फिर खींच कर भोग और प्रवृत्ति की तरफ़ धकेलती रहे। त्याग की अविचल चट्टान पर खड़ा होकर मनुष्य भोग के लुभावने रूप की तरफ़ आँख उठा कर भी न देखे—यह तभी हो सकता है जब वह भोग में से गुजर आये—उसकी नश्वरता को व्याख्यानों द्वारा नहीं, अनुभव द्वारा परख आये। भोग टिकने वाला नहीं—इस बात की अमिट छाप

मस्तिष्क में बिठाने के लिए ही भोग को रचा गया है, प्रवृत्ति की तरफ़ हम फिर-फिर न लौटें—यही प्रवृत्ति का अन्तर्निहित उद्देश्य है। जितने भोग हैं वे त्याग की तरफ़ ले जाते हैं, जितनी प्रवृत्तियां हैं वे निवृत्ति की तरफ़ ले जाती हैं, जितना वर्त्तमान है वह भविष्यत् की तरफ़ ले जाता है। भोग और त्याग, प्रवृत्ति और निवृत्ति, वर्त्तमान और भविष्यत् के इस समन्वय को लेकर भारत के ऋषियों ने एक वैज्ञानिक ढंग पर जीवन का कार्य-क्रम बनाया था।

३. ब्रह्मचर्याश्रम

संसार का प्रारम्भ भोग है, अन्त त्याग है—इस व्यावहारिक सत्य को लेकर हमारे पूर्वज चले थे। प्रारम्भ भोग है, तो क्या जीवन को भोग से ही प्रारम्भ करना होगा? नहीं,—भोग भी तो बिना त्याग के नहीं भोगा जाता। जो संसार के ऐश्वर्यों में ही पला है, उसके लिए इन ऐश्वर्यों का मूल्य क्या रह जाता है? जिसने चने चबाकर जीवन का निर्वाह किया हो, उसे मोहनभोग का जो आनन्द मिलता है, वह दिन-रात मोहन-भोग में रहने वाले को कहां मिल सकता है? लकड़ी के तख्ते और कड़ी जमीन पर सोने वाले के लिए पलंग और गदेलों पर सोने का जो मज़ा है, वह बचपन से ही गदेलों पर सोनेवाले को कहां नसीब होता है? नंगे पांव और नंगे सिर कड़ी धूप में मेहनत करने वाले को जब जूता पहनने और छतरी ओढ़ने को मिलती हैं, तो वह उड़ा-उड़ा फिरता है। जिसने बचपन ही जूतों और छतरियों में काटा हो उसे खस की टट्टियों के लगे रहने पर भी गर्मी सताती है। इसी लिए भारत के प्राचीन ऋषियों ने मनुष्य-जीवन का प्रारम्भ इस व्यावहारिक सत्य को समझ कर ही किया था कि यद्यपि संसार का प्रारम्भ भोग है, परन्तु भोग भी बिना त्याग के नहीं भोगा जा सकता। जीवन की इस प्रथम साधना का नाम उन्होंने 'ब्रह्मचर्य-आश्रम' रखा था।

ब्रह्मचर्याश्रम गृहस्थाश्रम के लिए तैयारी का आश्रम था। संसार के ऐश्वर्यों का जीवन में पूरी तरह से उपभोग किया जा सके इसी लिए ब्रह्मचर्यावस्था में बालक को संसार के ऐश्वर्यों से दूर रखा जाता था। संसार को भोगने के लिए संसार के लिए भूख पैदा करने की जरूरत है। भूख पैदा हो जाय, तो भूख में ज्यादा न खाया जाय, इस समझ के पैदा करने की और भी ज्यादा जरूरत है। आज उस भूख के पैदा होने से पहले ही हमारे बालक विषयरूपी भोगों को कुतरने लगते हैं। इसी का परिणाम है कि जब वे जवानी में पहुंचते हैं, उस आयु में पहुंचते हैं जब प्रकृति उन्हें संसार का उपभोग करने की इजाजत देती है, तब उनमें उत्साह नहीं रहता, उन्हें अपना जीवन खोखला नजर आने लगता है। हमारे युवकों में कितने युवक हैं जो जवानी में आकर जवान रहते हों? भोग-विलास ही जवानी नहीं है। मनुष्य का जीवन के लिए उत्साह होना जवानी का चिह्न है, हमारे युवक बचपन में ही इस प्रकार का विलासी जीवन व्यतीत करने लगते हैं कि उनमें पच्चीस वर्ष की अवस्था में आकर जीवन के प्रति कोई उत्साह नहीं रहता। प्रकृति ने जीवन में जो उत्साह का समय बनाया है मनुष्य ने उसे निराशा का समय बना दिया है। इस

उत्साह द्वारा मनुष्य क्या-क्या नहीं कर सकता ? हिमालय के उच्चतम शिखर को मापने का उत्साह रखने वाले देश में कितने शेरपा तेनसिंग दिखाई देते हैं ? जब तक आत्मा हिमालय की चोटी के समान न हो तबतक उस चोटी पर चढ़ने का उत्साह कैसे पैदा हो सकता है ? हमारा विद्यार्थी-समाज एक ऐसे दूषित वातावरण में पल रहा है कि उसमें संसार के शुद्ध ऐश्वर्य को भोगने का साहस तथा उत्साह नहीं रहता। इन सब बातों की हम आये-दिन चर्चा सुनते हैं, परन्तु चर्चा-मात्र कर देने से तो समस्या हल नहीं हो जाती। आर्य-संस्कृति ने जीवन की इस समस्या को समस्या के तौर पर समझा था, और समझ कर इसका हल निकाला था। ब्रह्मचर्याश्रम इस समस्या का ही हल था। जब संसार के लिए भूख नहीं, तो बिना भूख के खाना कैसा ? बिना भूख के खाने से ही तो अपच हो जाता है, ऐसा अपच जिसमें भूख भी नहीं लगती और मनुष्य हर समय कुछ नोच-नोच कर खाया भी करता है। बिना ब्रह्मचर्य के संसार में पड़ जाना ऐसा ही है। ब्रह्मचारी को संसार की भूख लग गई, तो भूख में वह ज्यादा खा जाय—इससे भी तो बचाने की आवश्यकता है। तभी ब्रह्मचर्याश्रम एक लम्बा, साधना का आश्रम था, ऐसी साधना जिसमें जीवन के लिए आँख खोल दी जाती थी, ऐसी साधना जिसमें जीवन के प्रति एक खास दृष्टि-कोण बना दिया जाता था। जिस व्यक्ति ने जीवन के मर्म को समझ लिया, वह समझ लिया कि मनुष्य-देह यों ही गँवा देने के लिए नहीं, किसी प्रयोजन से मिला है, फिर वह संसार के भोगों में तो पड़ेगा, परन्तु इसलिए पड़ेगा कि संसार के भोगों को भोग डाले, इनको भोग कर इनकी वासना तक को मिटा डाले। ब्रह्मचर्य की तपोमय साधना के बिना हमारा आज का जीवन एक लालसा का जीवन है, एक प्यास का जीवन है, एक भूख का जीवन है, परन्तु ऐसी लालसा, ऐसी प्यास और ऐसी भूख जो कभी तृप्त न होगी, कभी शान्त न होगी। हम आज या तो भूख-प्यास से पहले खाना-पीना शुरू कर देते हैं, भूख-प्यास लगने ही नहीं पाती, या भूख-प्यास से ज्यादा खा-पी जाते हैं। भूख मिट जाय, इसलिए हमें खाना है, प्यास बुझ जाय, इसलिए हमें पीना है, भूखे बने रहने के लिए खाना नहीं, प्यासे बने रहने के लिए पीना नहीं, इस व्यावहारिक सत्य को क्रियात्मक रूप देने के लिए आर्य-संस्कृति ने ब्रह्मचर्याश्रम की कल्पना की थी जिसमें बालक का जीवन के प्रति उक्त दृष्टि-कोण बन जाता था।

ब्रह्मचारी का जीवन तपस्या का जीवन था। अथर्ववेद के 'ब्रह्मचर्य-सूक्त' में ब्रह्मचारी का वर्णन आता है। इस सूक्त के २६ मन्त्रों में १५ बार 'तप' शब्द को दोहराया गया है, 'स आचार्यं तपसा पिपर्ति'—'रक्षति तपसा ब्रह्मचारी'—'ब्रह्मचर्येण तपसा देवा मृत्युमपाघ्नत'—ब्रह्मचारी तप से अपने जीवन की साधना करता है। प्राचीन प्रथा तो यह थी कि विद्यार्थियों का निवास शहर से दूर जंगल में ऋषि-मुनियों के आश्रमों में होता था जहाँ शहरों का कोई प्रलोभन नहीं था। यह ठीक है कि प्रलोभनों से परे रहकर उनसे बचे रहना कोई गुण नहीं है। जो सच इसलिए बोलता है क्योंकि उसे झूठ बोलने का मौका नहीं,

सदाचारी इसलिए है क्योंकि उसके सामने गिरने का कोई अवसर नहीं, वह क्या सच्चा, और क्या सदाचारी? परन्तु यह भी ठीक है कि प्रलोभनों से बचने की शक्ति उत्पन्न करने के लिए बालक को बचपन से ही प्रलोभनों में डाल देना उसके नैतिक-बल को बढ़ाने का तरीका नहीं है। नैतिक-बल उत्पन्न करने के लिए बालक को नैतिक वातावरण में रखना जरूरी है। आर्य-संस्कृति का बालक चारों तरफ़ से प्रलोभनों से घिर कर जीवन को नहीं प्रारम्भ करता था जैसा आज के बालक को करना पड़ रहा है। माता-पिता का जीवन संसार को भोगने का जीवन है। उसे माता-पिता से अलग कर दिया जाता था। शहरों में प्रलोभन पग-पग पर फैल रहे होते हैं। उसे शहरों से भी अलग कर दिया जाता था। जंगल में उसका मन विचलित करने वाली कोई वस्तु नहीं। उसे जंगल में रख दिया जाता था। ऋषि-मुनियों के आश्रमों में उच्चतम नैतिक वातावरण सम्भव था। उसे इन्हीं आश्रमों में से किसी एक आश्रम में भर्ती कर दिया जाता था। इन आश्रमों का पारिभाषिक नाम 'गुरुकुल' था। इन आश्रमों में ब्रह्मचारी विद्या पढ़ता था, साथ ही २४ वर्ष की उम्र तक तपस्या का जीवन बिताता था, भोग-ऐश्वर्य से दूर रहता था। वेद में ब्रह्मचारी का वर्णन करते हुए लिखा है, देखो, वह ब्रह्मचारी आ रहा है, उसके सिर और दाढ़ी के बाल लम्बे लटक रहे हैं, वह तप से कृश हो रहा है, उसने सिर पर तेल तक नहीं मला। तपस्यापूर्वक विद्या की साधना के बाद जब वह संसार में पड़ कर संसार में डूबा न रहे, प्रलोभनों के आने पर उनसे डिग न सके, भोगों को भोगता हुआ उनमें लिप्त न रहे—इस बात के लिए तैयार हो जाता था, तब उसका समावर्तन-संस्कार होता था। वह जंगल छोड़ कर शहर चला आता था, ऋषि-मुनियों का आश्रम छोड़कर माता-पिता के पास पहुँच जाता था, उस समय उसका गुरु ही उसे शीशा, कंघा, छत्री, जूता देता था, उस्तरे से उसके बाल काट कर कंघी से संवारे जाते थे, और संसार में पड़ कर आत्म-तत्त्व को विकसित करने के मार्ग पर वह चल देता था। वह संसार में आता था, परन्तु तैयारी के साथ, प्रलोभनों का मुकाबिला करता था, परन्तु उनके साथ टक्कर लेने की पहले साधना कर चुका होता था। इस तैयारी का नाम ही तो 'ब्रह्मचर्याश्रम' था।

४. गृहस्थाश्रम

जैसा पहले हमने कहा, भोग भी त्याग के बिना नहीं भोगा जाता, इसलिए संसार को भोगना सीखने से पहले संसार में त्याग और तपस्या से रहना सीखने की जरूरत है। इसी लिए आर्य-संस्कृति में गृहस्थाश्रम से पहले ब्रह्मचर्याश्रम को स्थान दिया गया है। गृहस्थाश्रम संसार को भोगने का आश्रम है। जो लोग यह समझते हैं कि प्राचीन भारत में त्याग-ही-त्याग की रट लगाई जाती थी, वे उस समय की संस्कृति को नहीं समझते। मनुष्य के विकास में गृहस्थाश्रम एक आवश्यक आश्रम था। मनुष्य में संसार का उपभोग करने की, विषयों की तह तक पहुँचने की, वासना का ओर-छोर देखने की जो गहरी भावना है उसे आर्य-संस्कृति की जीवन-व्यवस्था

में पूरा स्थान था। आत्म-तत्त्व के उच्चतम विकास के लिए प्रवृत्ति, भोग और विषयों से पूरी तरह निपट लेना, इस तरह निपट लेना कि फिर बार-बार उधर खिंच कर न आना पड़े, आवश्यक समझा जाता था। आर्य-संस्कृति के अनुयायी संसार से भागने की ही बात नहीं करते थे, संसार को भोगने की बात भी करते थे; उनकी निर्धारित की हुई, जीवन की रूप-रेखा में मन्दिरों को स्थान था, तो महलों को भी स्थान था; अरण्यों को स्थान था, तो बड़े-बड़े जनपदों को भी स्थान था; त्याग और निवृत्ति को स्थान था, तो भोग और प्रवृत्ति को भी पूरा-पूरा स्थान था।

जो लोग भारत के प्राचीन-काल को इसलिए कोसते हैं क्योंकि यहाँ के ऋषि-मुनि परलोक की बातें करते थे, इस लोक की चिन्ता नहीं करते थे, वे उनकी विचार-धारा को नहीं समझते। आर्य-संस्कृति के विचारक संसार की यथार्थता को पूर्णतः स्वीकार करते थे। प्राचीन-भारत की समृद्धि, यहाँ का वैभव, यहाँ का ऐश्वर्य, यहाँ की भोग-सामग्री आजकल के किसी देश से कम न थी। आर्य-संस्कृति के विचारों में पले गृहस्थी इस लोक के जीवन का पूरा रस लेते थे क्योंकि उनमें लालसा के साथ संसार के भोगों को भोगने की शक्ति भी होती थी। हाँ, संसार का रस लेते हुए उनके सम्मुख एक बात अवश्य रहती थी। प्राचीन रोम में जब कभी कोई बड़ी दावत होती थी, नाच-रंग होता था, तो एक अलमारी में मुर्दे की खोपड़ी भी रख दी जाती थी, जिससे अगर उधर नज़र पड़ जाय, तो यह स्मरण हो आये कि इन रंग-रलियों का अन्त यही-कुछ होने वाला है। भारत के गृहस्थी जब जीवन का रस लेते थे, तब इस रस की लालसा अन्त तक न बनी रहे, इस दृष्टि से लेते थे, लालसा को नष्ट करने के लिए लालसा में हाथ डालते थे। संसार के विषयों को भोगने की शक्ति का ह्रास तो सब का होता ही है, ज्यों-ज्यों आयु बढ़ती जाती है, शक्ति क्षीण होती जाती है, फिर शक्ति-क्षीणता के साथ लालसा को क्षीण क्यों न किया जाय। शक्ति न रहे, लालसा बनी रहे—इससे बढ़ कर मनुष्य की दुर्गति क्या हो सकती है? गृहस्थ-जीवन का आदर्श यही है कि मनुष्य विषयों को भोग कर विषयों से ऊपर उठ जाये, फिर उसे विषयों का मुँह न ताकना पड़े। आर्य-संस्कृति के आदर्श के अनुसार मनुष्य को संसार के विषयों के बीच में से होकर गुज़रना है, उनमें अपने को खो नहीं देना। आजकल हम किस प्रकार का जीवन बिता रहे हैं? हम संसार के विषयों में भटकते हैं। भटकते-भटकते हमारे मनों में वासना रह जाती है, शरीर में शक्ति नहीं रहती। आर्य-संस्कृति का गृहस्थ-सम्बन्धी जो आदर्श है उसका यह स्वाभाविक परिणाम था कि विषयों में भटकते-भटकते मनुष्य में विषयों का रस लेने की शक्ति भले ही रह जाय, वासना न अटकी रहे।

आज हमारा जीवन वासनामय हो रहा है। विषयों का रस लेने की शक्ति हो, न हो, चारों तरफ़ विषयों की बाढ़ देख कर मन नहीं मानता। गृहस्थाश्रम वासना का आश्रम बन गया है। पुरुष बूढ़े हो जाते हैं, तो कुश्ते खाने लगते हैं, बाल सफ़ेद पड़ जाते हैं, तो खिज़ाब मलने लगते हैं, स्त्रियों के झुर्रियाँ पड़ जाती हैं,

तो भी पाउडर मला करती हैं, चालीस की हों तो भी तीस की बताती हैं—शक्ति नहीं रहती, वासना रह जाती है।

५. वानप्रस्थ अलगाव की भावना का नाम है

आज हम गृहस्थ-जीवन में इस प्रकार फँसे हैं कि इसमें से निकलते हुए दुःख होता है। अधिकांश लोग इसी में पड़े-पड़े अपना जीवन समाप्त कर देते हैं। जिस किसी ने 'आश्रम' शब्द का प्रयोग किया था उसने बड़े मतलब के शब्द का प्रयोग किया था। गृहस्थ एक 'आश्रम' है, एक मंजिल है, एक पड़ाव है। आर्य-काल के ऋषियों ने जीवन को एक यात्रा समझा था, और उस यात्रा के चार पड़ाव माने थे। यात्रा में ब्रह्मचर्याश्रम पहला पड़ाव समझा गया था, उसके बाद गृहस्थ की यात्रा थी, परन्तु इसके बाद एक और पड़ाव आता था, गृहस्थी गृहस्थ को छोड़ कर आगे चल देता था। आज हम 'आश्रम' शब्द के इस रहस्य को भूल गये हैं। गृहस्थ-आश्रम में प्रवेश करने के बाद इसमें से निकलने का नाम नहीं लेते। हम इस प्रकार गृहस्थाश्रम में डटते हैं मानो अनन्त काल तक हमें जीना हो। जिन्दगी का बीमा ३०–३५ साल का होता है, परन्तु हम अपने दिल में ऐसा बीमा किये बैठे हैं मानो हमें कभी मरना ही नहीं। गृहस्थ में पड़ कर हम भूल जाते हैं कि हमें इसमें से निकलना भी है। वैसे तो यहां जो आया है उसे जाना भी है, परन्तु गृहस्थ एक ऐसा व्यूह है जिसमें अभिमन्यु की तरह मनुष्य प्रवेश तो कर लेता है, इसमें से निकलना भूल जाता है। हम अन्त समय तक संसार की ही चिन्ताएँ करते रहते हैं। आर्य-संस्कृति को मानने वाले ५० साल की आयु में घर-गृहस्थी का भार बाल-बच्चों पर छोड़ कर जीवन-यात्रा में अगली राह पर चल देते थे, आज ऐसा नहीं करते। सराय का नियम होता है कि उसमें ५ या ७ दिन ठहरने की इजाज़त होती है। जो सराय में उससे अधिक दिन ठहरता है उसे सराय का मुन्शी पहले तो इशारे से समझाता है, कोई ढीठ इशारे को नहीं समझता तो उसे स्पष्ट कह देता है, और इतने पर भी कोई न माने तो उसका सामान उठवा कर बाहर फेंक देता है। जीवन एक यात्रा है, इसमें हमें आगे-आगे जाना है, भले ही हम चाहें या न चाहें। जो भलेमानस गृहस्थ के बाद स्वयं आगे चल देते हैं, उनकी मान-मर्यादा, प्रतिष्ठा बनी रहती है, जो ऐसा नहीं करते उन्हें सराय का मालिक धक्के मार कर निकाल देता है। आज जो लोग गृहस्थ में से निकल कर अगले रास्ते पर चलने की उम्र के हो गये हैं, वे अपने भीतर मुंह डाल कर देखें, उनके साथ ऐसा ही बर्त्ताव हो रहा है या नहीं। उन्हीं के अपने लड़के-बाले, उन्हीं की बहुएं उन्हें कोसती हैं, कहती हैं, बुड्ढा न जीता है न मरता है। बहुओं की अपनी सासों से क्यों नहीं बनती? इसलिए क्योंकि सास घर में इस प्रकार रहना चाहती है मानो वही बहू हो, बुढ़ापे में अपने पिता के साथ लड़के की क्यों नहीं बनती? क्योंकि पिता आखिरी दम तक पड़ा-पड़ा लड़कों को बोझ मालूम पड़ने लगता है। जिन माता-पिता ने हमें पाला, वे अगर बोझा भी हो जाँय, तो सन्तान का कर्त्तव्य है कि उनकी सेवा करें, आखिर माता-पिता के ऋण को कौन चुका सकता है, परन्तु

यह तो सन्तान का कर्त्तव्य हुआ, किसी को कहना कि तुम्हारा कर्त्तव्य हमारी सेवा करना है, किसे अच्छा लगता है? इसी लिए प्राचीन ऋषियों ने सन्तान के माता-पिता के प्रति ऋण को, जिसे वे पितृ-ऋण कहते थे, चुकाने के लिए एक दूसरा मार्ग बतलाया था। उन्होंने यह मार्ग नहीं बतलाया कि माता-पिता बूढ़े होकर घर में चौकी पर बैठ जाँय, और पुत्र उनकी पूजा करें। माता-पिता के लिए उन्होंने यही कर्त्तव्य बतलाया कि वे गृहस्थ के बाद वानप्रस्थ हो जाँय, उनकी सन्तान पितृ-ऋण को चुकाने के लिए गृहस्थाश्रम में प्रवेश करे, और अपने से उत्तम सन्तान संसार में छोड़ने का प्रयत्न करे। मनुष्य का स्वभाव है कि वह स्वतंत्रता चाहता है। अगर माता-पिता घर में बने रहें, तो उनकी सन्तान को घर में स्वतंत्रता से अपनी इच्छानुसार काम करने का मौका नहीं मिलता, और इसी लिए दुनिया में जिनकी सबसे अधिक बन सकती थी उन्हीं की इतनी बिगड़ जाती है कि आस-पास के लोग तमाशा देखने के लिए इकट्ठे हो जाते हैं। माता-पिता अपने समय में घर के मालिक रहे, अब उन्हें अपनी सन्तान को मौका देना होगा। लेकिन हुकूमत ऐसी चीज है जिसे अपने हाथ से कोई किसी दूसरे को देने को तैयार नहीं होता। कोई छीन भले ही ले, परन्तु अपने हाथ से कौन दे? इसी लिए आज चारों तरफ़ बाप-बेटे की, सास-बहू की लड़ाई दिखाई देती है। प्राचीन ऋषियों ने 'वानप्रस्थ'-आश्रम द्वारा इस समस्या का हल कर दिया था। उन्होंने कहा था कि जब अन्त में दुनिया को छोड़ना ही है, तो धक्के खाकर और बेइज्जती से छोड़ने के बजाय अब क्यों न छोड़ा जाय? वैसे तो संसार को भोगने की इच्छा हर-एक में है, इसीलिए गृहस्थ-आश्रम में उसे भोगने का मौका दिया गया है, परन्तु क्योंकि गृहस्थी अपने अनुभव से देख लेता है कि इन भोगों में कुछ नहीं पड़ा, इसलिए वह स्वयं इनसे मुड़ता है, उपराम होता है। भोग भोगने के बाद भोग का छूटना अवश्यम्भावी है। मनुष्य के मन की इसी स्वाभाविक अवस्था को प्राचीन ऋषियों ने वैज्ञानिक रूप दिया था, और इस प्रवृत्ति का नाम वानप्रस्थाश्रम रखा था। 'वानप्रस्थ' एक भावना-विशेष है। संसार के विषयों से गोंद की तरह चिपक बैठने की जगह उनका रस भी लो, और उसके बाद उन्हें छोड़ भी दो। संसार में प्रवृत्ति तथा निवृत्ति दोनों हैं, अपने-अपने स्थान पर दोनों ठीक हैं। प्रवृत्ति को शास्त्रों में 'प्रेय' कहा है, निवृत्ति को 'श्रेय' कहा है। 'प्रेय' के बाद 'श्रेय' आना चाहिए; 'प्रवृत्ति' के बाद 'निवृत्ति' आनी चाहिए; संसार को भोगने के बाद संसार को छोड़ना आना चाहिए। भोगने के बाद छोड़ना, प्रवृत्ति के बाद निवृत्ति ही 'वानप्रस्थ की भावना' है। आज हमारे समाज को वानप्रस्थ की भावना की जरूरत है, निवृत्ति की भावना की जरूरत है, चिपकने के बजाय छोड़ना सीखने की जरूरत है। हम जरा-जरा-सी बात में चिपक जाते हैं। यह जानते हुए भी कि हम ग़लत रास्ते पर हैं, हम क्योंकि हम हैं, इसलिए अपनी बात पर डट जाते हैं, और कुछ देर के बाद वह जरा-सी बात आन और शान का सवाल बन जाती है। हम किसी कुर्सी पर बैठते हैं, तो उससे चिपक जाते हैं। प्रधान की कुर्सी पर बैठने वाला प्रधान-पद के साथ

चिपक जाता है; मन्त्री की कुर्सी पर बैठने वाला मन्त्री-पद के साथ चिपक जाता है। कई लोगों को इन कुर्सियों से उठना ऐसा जान पड़ता है मानो कुर्सी उनके अंग का हिस्सा बन गई हो। लोग कहते हैं कि बीसवीं सदी में कई नयी बीमारियाँ निकली हैं। और बीमारियाँ नयी हों या न हों, यह चिपकने की बीमारी जरूर नयी है। अब तक यह बीमारी राजनीतिक क्षेत्र तक सीमित थी, अब यह धर्म के क्षेत्र में भी प्रविष्ट हो गई है। बड़े-बड़े पंडित और धर्म-धुरन्धर, जो गुण-कर्मानुसार अपने को ब्राह्मण कहते हैं, किसी सभा-सोसायटी के प्रधान या मंत्री न चुने जायँ, तो ग़श खा जाते हैं। इस बीमारी ने जिस दिन धर्म के क्षेत्र में पदार्पण किया था उसी दिन धर्म की नौका डगमगा गई थी। इस बीमारी से समाज को बचाने का केवल एक ही उपाय है, और वह है समाज में वानप्रस्थ की भावना को जागृत करना। वानप्रस्थ केवल जंगल में भाग जाने का नाम नहीं है, वानप्रस्थ 'निवृत्ति'-'त्याग'-'अपरिग्रह' का नाम है। 'परिग्रह' शब्द 'परि' तथा 'ग्रह' से बना है। 'परि' का अर्थ है, चारों तरफ़ से, 'ग्रह' का अर्थ है ग्रहण कर लेना, चिपट जाना। संसार को चारों तरफ़ से चिपट जाना, छुड़ाये भी न छोड़ना 'परिग्रह' है, और उसे समय आने पर खुद छोड़ देना 'अपरिग्रह' है। क्या फल पक जाने पर स्वयं वृक्ष से टपक नहीं पड़ता? 'वानप्रस्थ' की भावना पक जाने पर फल का डाली से अलग हो जाना है। समाज के प्रश्नों पर जितना भी विचार किया जाय एक ही परिणाम निकलता है। आज संसार को किसी सन्देश की आवश्यकता है तो वानप्रस्थ के सन्देश की, त्याग और निवृत्ति के सन्देश की। वैसे तो त्याग और निवृत्ति अवश्यम्भावी हैं, हम नहीं छोड़ेंगे तो कुदरत हमसे छुड़ा देगी, हम नहीं हटेंगे तो कुदरत हमें धक्का मारकर परे कर देगी—संसार में ऐसा होता आया है, ऐसा होता रहेगा। किसी सराय को खुद छोड़ देने और कान पकड़ कर निकाले जाने में क्या कोई फ़र्क नहीं है? बात एक ही है, नतीजा सराय छोड़ना है, लेकिन इस नतीजे को आर्य-संस्कृति ने वानप्रस्थ-आश्रम द्वारा कितना सहल बना दिया था।

'वानप्रस्थ'-आश्रम का क्या मतलब है? यह जानते हुए कि जीवन में कूच का डंका बजना ही है हमारे सामने दो रास्ते रह जाते हैं। या तो हम इस सत्तर-अस्सी साल के जीवन में किसी समय खुद बोरिया-बिस्तर बाँध कर चलने की तैयारी करें, या तब तक बैठे रहें जब तक कोई हमें घसीट कर बाहर फेंक न दे। जो आदमी इस इन्तिज़ार में बैठा रहता है कि कोई आकर उसे बाहर निकाले वह ढीठ होगा, दुराग्रही होगा, परन्तु बुद्धिमान् नहीं होगा। 'वानप्रस्थ'-आश्रम की स्थापना करने वालों ने इस बात को स्वीकार कर लिया था कि यहाँ से चलना तो है, आज नहीं तो कल, और कल नहीं तो परसों। जब चलना ही है तब यह कहाँ की अक्लमन्दी है कि कोड़ा ही लगे तब चलें, खुद-ब-खुद चलने का नाम न लें। 'वानप्रस्थ'-आश्रम मजबूर होकर दुनिया का छोड़ना नहीं, अपनी मर्ज़ी से दुनिया का छोड़ना है; किसी से डर कर दुनिया से भागना नहीं, अपनी इच्छा से जीवन-

यात्रा में आगे चल देना है; पड़ाव को घर बनाकर बैठे रहना नहीं, एक पड़ाव से दूसरे पड़ाव को चलने के लिए तैयारी करना है। जो चीज होनी ही है, वह अगर हमारी मर्जी से हो, तो इसमें कितना आनन्द है। जब दुनिया छूटनी ही है, तो वह हमारी मर्जी से क्यों न छूटे? अगर कोशिश करने पर कोई इस संसार में सदा बना रह सकता, तब तो दुनिया में चिपके रहना ही ठीक था, परन्तु जब यह नामुमकिन है, तब क्यों न वह काम खुद किया जाय, जो हर हालत में होने वाला है? 'वानप्रस्थ'-आश्रम का यही लक्ष्य है।

६. प्राचीन-काल के वानप्रस्थ-आश्रम

प्राचीन-काल में ५० साल की आयु के बाद गृहस्थी लोग वानप्रस्थाश्रम में प्रवेश करते थे। उस समय के शहर आजकल के शहरों के समान इतने बड़े-बड़े नहीं होते थे। ठीक समय आने पर गृहस्थी अपने गाँव या शहर के बाहर जंगल में अपनी कुटिया बना लेते थे, और घर-गृहस्थी की चिन्ता का भार सन्तान पर छोड़ कर अपनी जंगल की कुटिया में जा बसते थे। प्रत्येक गाँव और शहर के इर्द-गिर्द इन वानप्रस्थियों की कुटियाओं का ताँता बँधा रहता था, शहरों में बालक और युवा, और वनों में वृद्ध लोग रहा करते थे। शहर वानप्रस्थियों की कुटियाओं से इस प्रकार घिरे रहते थे जैसे कोई दोनों हाथ डाल कर किसी को समेट ले, घेर ले। वानप्रस्थी दुनिया के अनुभव में से गुजरे हुए, सब तरह से सधे हुए होते थे; युवक लोग जीवन-संग्राम में नया अनुभव प्राप्त कर रहे होते थे। समय-समय पर गृहस्थी-युवक वानप्रस्थियों के आश्रमों में जाते थे, और उनसे उपदेश सुनकर फिर अपने कामों में आ जुटते थे। जब कोई विकट समस्या आ उपस्थित होती थी, तो गृहस्थी लोग उसे अपने बुजुर्गों के सामने रखते थे, और उनके परामर्श से लाभ उठा कर अपनी समस्याओं को हल किया करते थे। जब कभी गृहस्थी लोग संसार की चिन्ताओं से उद्विग्न और खिन्न हो जाते थे, तो इन आश्रमों में जाकर आत्मिक शांति प्राप्त करते थे। आज हमारे युवक थके-माँदे सायंकाल सिनेमा और थियेटर देखने जाते हैं, और इसी प्रकार अपनी थकावट दूर करते हैं क्योंकि उनके पास दूसरा कोई साधन नहीं। प्राचीन-काल में दिनभर की थकावट के बाद उसे दूर करने के लिए युवकों की टोलियों-की-टोलियाँ वानप्रस्थियों के आश्रमों की तरफ़ सैर करने जाती हुई नजर आती थीं। आश्रम शहर से दूर जंगल में होते थे, वहाँ तक जाने में काफ़ी भ्रमण भी हो जाता था, और वहाँ जाकर जो आध्यात्मिक-प्रसाद मिलता था उससे शारीरिक-थकावट के साथ-साथ मानसिक-थकावट भी दूर हो जाती थी। आज कोई युवक जब आत्मिक-अशांति के समुद्र में गोते खाने लगता है, तो उसे बचानेवाला कौन है? वह कहाँ जाय, और किसके पास जाय? जिधर उसकी नजर दौड़ती है उसे अपने ही जैसे भटकनेवाले नजर आते हैं। अन्धा अन्धे को क्या रास्ता दिखा सकता है? प्राचीन काल का इस प्रकार का युवक इकला, शहर से दूर किसी वानप्रस्थी के आश्रम को लक्ष्य में रख कर चल देता था। वहाँ ५०–६० वर्ष का वृद्ध स्वयं उस प्रकार के अनुभवों में से कई बार गुजर

चुका होता था। उसे पता होता था कि मनुष्य-जीवन में किस प्रकार की आँधियाँ आती हैं, किस प्रकार के तूफ़ान उठते हैं। वह उस युवक को अपने पास बैठाकर उसे अपने जीवन की कथा सुनाता था, और युवक दिल का रोना सुना कर अपने बोझ को हल्का अनुभव करता था। आज का युवक किसके पास जाय, किसके पास अपना रोना रोये? आज हमारे युवकों के प्रश्नों को कौन हल करे? उस समय के वानप्रस्थियों के आश्रम आध्यात्मिकता का संचार करने के केन्द्र बने हुए थे, जैसे दीप से ज्योति चारों ओर बिखरती है वैसे उन आश्रमों से श्रेय और शांति की ज्योति चारों तरफ़ फैलती थी। आज सारा संसार विषयों की तरफ़ भागा चला जा रहा है, भोगवाद बढ़ रहा है, जीवन उथला होता जा रहा है, आध्यात्मिकता का लोप हो रहा है, इस सब को कौन रोके, कौन थामे? जो खुद भोगवाद में फँसे हुए हैं वे दूसरों को इसमें से कैसे निकालेंगे, जो खुद प्रवृत्ति-मार्ग के शिकार हैं वे दूसरों को निवृत्ति का क्या उपदेश देंगे, जो खुद दलदल में धँसे हुए हैं वे दूसरों का हाथ क्या खींचेंगे? वानप्रस्थी भोग में से निकल कर त्याग के मार्ग पर चलने लगा था, प्रवृत्ति में से निकल कर निवृत्ति के मार्ग का राही था, दलदल में से निकल कर बाहर आ खड़ा हुआ था, इसलिए वह दूसरों को त्याग का उपदेश दे सकता था, निवृत्ति का पाठ पढ़ा सकता था, दलदल में से घसीटने के लिए अपना हाथ आगे कर सकता था। इसी लिए वानप्रस्थियों का युग भोग और त्याग से निखरी हुई सच्ची आध्यात्मिकता का युग था। वानप्रस्थियों के आश्रमों का तांता प्राचीन काल में सम्पूर्ण भारतवर्ष में बिछा हुआ था। इसी का परिणाम था कि हमारा देश आध्यात्मिकता के क्षेत्र में संसार के सब देशों का मूर्धन्य था।

७. वानप्रस्थ-आश्रम तथा आर्थिक-समस्या

इस प्रकार वानप्रस्थ-आश्रम की स्थापना द्वारा आर्य-संस्कृति ने कोरे भोगवाद की जड़ हिला दी थी। वानप्रस्थ-आश्रम एक और भी समस्या का हल था। अगर किसी समाज में काम करने वालों की संख्या बढ़ती जाय, और इतनी बढ़ जाय कि पुराने काम करने वाले कम न हों, और नयों की बाढ़ आती जाय, तो उसका नतीजा इसके सिवाय क्या होगा कि किसी समय सभी भूखे मरने लगें? आज बेकारी इतनी क्यों बढ़ रही है? बेकारी इसलिए बढ़ रही है क्योंकि जिन लोगों की आयु पेंशन पाने लायक हो गई है वे पेंशन पाने के बाद फिर नये सिरे से नौकरी शुरू कर देते हैं, या कोई-न-कोई धंधा किये चलते हैं। आर्य-संस्कृति में ऐसा नहीं था। उस में सामाजिक व्यवस्था ही ऐसी थी कि ५० की आयु के सब लोग अलग छँट जाते थे, नवयुवकों के लिए जगह अपने-आप खाली हो जाती थी। आज जिन लोगों को कमाना चाहिए वे बेकार बैठे हैं, जिन्हें कमाई छोड़ कर आश्रमों में जा बैठना चाहिए, वे कमा रहे हैं। नवयुवक भी बेकार इसलिए नहीं बैठे क्योंकि वे कमा नहीं सकते। वे कमा सकते हैं, परन्तु अगर उन्हें कमाने का मौका मिले। उनके लिए कठिनाई यह है कि वे जो पेशा सीखते हैं वही भरा हुआ है। पुराने वकीलों की मौजूदगी में नये वकील कैसे काम करें, पुराने डाक्टरों की मौजूदगी में

नये डाक्टर क्या करें? पुराने दुकानदारों के होते हुए नये दुकानदार कैसे फूले-फलें? आश्रम-व्यवस्था द्वारा प्राचीन ऋषियों ने बेकारी के प्रश्न को हल कर दिया था। उन्होंने मनुष्य-जीवन को चार हिस्सों में बाँट दिया था, और उनमें से केवल एक आश्रम में अर्थोपार्जन होता था। ब्रह्मचारी, वानप्रस्थी और संन्यासी कमाई नहीं करते थे। इसका यह मतलब नहीं कि कमाई से बचने के लिए वे लोग वानप्रस्थी या संन्यासी हो जाते थे। गृहस्थ में कमाई किये बग़ैर किसी को वानप्रस्थ में आने का अधिकार नहीं था, और अधिकतर, वानप्रस्थी ही संन्यासी होता था। हर-एक आदमी कमाता था, परन्तु एक ख़ास आयु में आकर कमाना छोड़ देता था, दूसरों के लिए रास्ता खोल देता था। गृहस्थियों में भी सब नहीं कमाते थे। गृहस्थियों में भी ब्राह्मण और क्षत्रिय का समय कमाने में नहीं, अपनी-अपनी योग्यता के अनुसार समाज की सेवा करने में बीतता था। केवल वैश्य कमाते थे, और जब इतने थोड़े लोग कमाते थे, तो वे इतना अधिक कमा लेते थे कि सारे समाज को खाने-पीने के लिए काफ़ी दे देते थे। समाज के लिए धन कमाना ही उनकी समाज के प्रति सेवा थी। आज सब कमा रहे हैं। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र तो कमा ही रहे हैं, इधर विद्यार्थी, गृहस्थी, वानप्रस्थी और संन्यासी भी कमा रहे हैं। धन कमाने के लिए जो यह संग्राम मचा हुआ है उसका परिणाम है कि कुछ लोगों को ज़रूरत से ज़्यादा मिल जाता है, कुछ लोग भूखे मरते हैं। प्राचीन काल में 'वानप्रस्थ'-आश्रम के कारण यह अव्यवस्था नहीं थी। बड़े-बड़े वैद्य, व्यवसायी, शिल्पी, अध्यापक और दुकानदार ५० साल की आयु के बाद अपने-आप सब-कुछ छोड़ देते थे, उनकी जगह नये-नये युवक लेते रहते थे। ये नये लोग पुरानों के साथ अपना सम्पर्क बनाये रखते थे। अगर किसी नवयुवक वैद्य को कोई बात समझ नहीं पड़ती थी, तो वह किसी पुराने धुरन्धर वैद्य की सेवा में आश्रम में आकर उपस्थित होता था, उसके परामर्श से पूरा लाभ उठाता था। इस प्रकार पुरानों के आशीर्वाद से नये लोग तैयार होते थे और समाज दिनोंदिन उन्नति करता जाता था। कई लोग कह बैठते हैं कि अगर पुराने इस प्रकार क्षेत्र को छोड़ कर अलग जा बैठेंगे, तो समाज को नुकसान होगा, पुरानों का अनुभव समाज के लिए निकम्मा हो जायगा। यह बात ग़लत है। इस समय भी अगर कोई पुराना अनुभवी शहर में बैठा रहे, तो कोई गारंटी नहीं कर सकता कि वह संसार के अन्त तक बना रहेगा। आज नहीं तो कल, कल नहीं तो परसों वह भी चल देगा। उसका अनुभव दूसरों के लिए इसी प्रकार उपयोगी हो सकता है कि नये काम करने वाले आवश्यकता पड़ने पर उसकी सहायता लेते रहें। प्राचीन-काल में वानप्रस्थी इस प्रकार की हर समय सहायता दिया करते थे। वे अपने पेशों को नये कार्यकर्त्ताओं के लिए ख़ाली करते रहते थे, अपना बोझ स्वयं उनके कन्धों पर डालते थे, क्योंकि उन्हें जीवन की यात्रा में अगले पड़ाव के लिए चलना होता था, किसी मजबूरी से नहीं, जीवन-यात्रा की यथार्थता को सिद्ध करने के लिए आगे कदम रखे बिना उन्हें आत्म-तत्त्व का विकास नहीं दीखता था।

८. वानप्रस्थ-आश्रम तथा अनिवार्य-शिक्षा

भोगवाद तथा बेकारी के प्रश्न को हल करने के साथ-साथ वानप्रस्था-आश्रम एक और समस्या को भी हल करता था। जो लोग घर-बार छोड़ कर जंगल में जा बसे होते थे, वे वानप्रस्थ लेने से पूर्व दुनिया के सब प्रकार के धन्धे कर चुके होते थे। उनमें से कुछ-एक के छः-छः सन्तानें भी हो चुकी होती थीं। उन्हें मालूम था कि छोटे बच्चों का मानसिक-विकास किस प्रकार होता है। वे अपनी उम्र में बच्चों के साथ हँस चुके होते थे, रो चुके होते थे, खेल चुके होते थे। अब इनके वानप्रस्थ में आने के बाद गाँव के छोटे-छोटे बालक इनके पास आकर पढ़ने लगते थे। कभी-कभी किसी वानप्रस्थी के पास बीस बालक एकत्रित हो जाते थे, किसी के पास पचास, किसी के पास इससे अधिक। ये बालक अमीर भी होते थे, गरीब भी; राजाओं के भी होते थे, रंकों के भी; परन्तु वानप्रस्थियों के आश्रम में आकर इनका ऊँच-नीच का कोई भेद-भाव नहीं रहता था। उन आश्रमों में ये सब भाई-भाई थे। ऐसे ही किसी आश्रम में, सदियाँ गुज़र गईं, कृष्ण और सुदामा पढ़े थे। बालक गाँव से भिक्षा ले आते थे, और आश्रम में आकर सब मिल कर बाँट लेते थे, गुरु भी खाते थे, शिष्य भी खाते थे। कभी कोई अमीर घर का बालक किसी ग़रीब की झोंपड़ी के सामने जा खड़ा होता था, कभी कोई ग़रीब घर का बालक किसी अमीर के महल के सामने पहुँच जाता था, परन्तु अमीर घर का बालक अपने को अमीर नहीं समझता था, ग़रीब घर का बालक अपने को ग़रीब नहीं समझता था। इधर घर की देवियाँ इन बालकों के मधुकरी लेने के लिए आने की बाट जोहा करती थीं, कभी देर हो जाती, तो घर से निकल-निकल कर व्यग्रता से देखतीं कि आज बालकों की मण्डली क्यों नहीं आई? वानप्रस्थियों के इन आश्रमों को ही 'गुरुकुल' कहा जाता था। इन आश्रमों में न खाने-पीने के लिए कुछ लिया जाता था, न पढ़ाने-लिखाने के लिए। इन आश्रमों में पढ़ाने वालों को कोई वेतन नहीं मिलता था। फिर भी बिना वेतन लिये, बिना पढ़ाने की फ़ीस लिये, बिना बालकों से खाने-पीने का खर्च लिये, बिना राज्य से किसी प्रकार की सहायता लिये बालकों की शिक्षा की पूरी-पूरी व्यवस्था अपने देश में चल रही थी। इस व्यवस्था का आधार वानप्रस्थ-आश्रम था? आजकल की अवस्थाओं में निःशुल्क तथा अनिवार्य-शिक्षा के इस कार्य को पूरा करने के लिए लाखों नहीं, करोड़ों रुपये की ज़रूरत है। आर्य-संस्कृति ने इस समस्या को वानप्रस्थाश्रम द्वारा हल किया था। आज भी बर्मा में जगह-जगह पर वानप्रस्थियों के आश्रम हैं। ये आश्रम प्रत्येक शहर या गाँव के पास हैं। गाँव का प्रत्येक बालक इन आश्रमों में शिक्षा ग्रहण करने के लिए भेजा जाता है, रहता भी वहीं है। वह भिक्षा माँगता है, खुद खाता है, और गुरु को खिलाता है। बर्मा के इन आश्रमों का ही प्रताप है कि आज जहाँ भारत में कुछ ही फ़ी-सदी पढ़े-लिखे हैं वहाँ बर्मा में ९९ फ़ी सदी पढ़े-लिखे हैं। इसका यह कारण नहीं कि सरकार बर्मा में शिक्षा पर अधिक खर्च कर रही है, इसका यह कारण है कि वहाँ पर वानप्रस्थ-आश्रम अपने टूटे-फूटे रूप में आज भी विद्यमान है, और

वानप्रस्थ-आश्रमों से घिरे हुए प्राचीन शहरों का जो नक्शा हमने अभी खींचा, वह बर्मा में आज भी खिंचा हुआ है।

९. संन्यास-आश्रम

आर्य-संस्कृति को जन्म देने वाले ऋषियों ने जीवन को यात्रा कहा था, और इसे चार पड़ावों में बाँटा था। चौथा पड़ाव संन्यास-आश्रम था। वे खुली हवा में रहने को इतना पसन्द करते थे कि उनकी रूप-रेखा के अनुसार जीवन का तीन-चौथाई हिस्सा खुली हवा में बीत जाता था। ब्रह्मचारी जंगल में रहते थे, गृहस्थी शहरों में रहते थे, परन्तु वानप्रस्थ और संन्यास फिर खुली हवा के आश्रम थे। इस प्रकार जीवन के सब से अधिक भाग को खुले मैदानों और जंगलों में बिताने के कारण उस समय आयु की लम्बाई आजकल से बहुत अधिक थी। सौ बरस जीना—'जीवेम शरदः शतम्'—यह प्रत्येक नर-नारी की एक स्वाभाविक आकांक्षा थी।

आज संन्यास-आश्रम का अभिप्राय यह समझा जाता है कि मनुष्य सब काम छोड़ कर बैठ जाय। हमारा देश ऐसे संन्यासियों से भरा पड़ा है जो कुछ नहीं करते। वे समझते हैं, अगर वे कुछ करेंगे तो संन्यासी ही नहीं रहेंगे। आज हम कुछ न करने का नाम संन्यास समझते हैं। परन्तु आश्रम-व्यवस्था में जिस संन्यास की कल्पना की गई है वह ऐसा नहीं है। संन्यास चारों आश्रमों की शृंखला में एक कड़ी है, जीवन-यात्रा में आखिरी मंजिल है, अन्तिम पड़ाव है। जिस भाव का विकास पहले आश्रमों में किया जाता है, उसी की चरम सीमा संन्यास में होती है, जिस उद्देश्य को लेकर पहले आश्रम चलते हैं, वह उद्देश्य धीरे-धीरे पूरा होता हुआ संन्यास में पूर्णरूप से सिद्ध हो जाता है। संन्यास स्वतन्त्र आश्रम नहीं है, पहले तीन के साथ जुड़ा हुआ है, और जो भावना पहले तीन आश्रमों में काम करती है वही संन्यास में अपनी पूर्णता पर पहुँच जाती है। हम यह देख चुके हैं कि पहले तीन आश्रमों में क्या विचार काम कर रहे हैं।

पहले हमने देखा था कि ब्रह्मचर्य-आश्रम में त्याग तथा तपस्या का पाठ सिखाया जाता है ताकि जब भोग की आयु आये तब मनुष्य उसके लिए पूरा तैयार हो। संसार के विषयों को भोगे बिना, वे क्या हैं, कैसे हैं, यह जाने बिना मनुष्य अपने को भटकने से रोक नहीं सकता, इसी लिए गृहस्थ-आश्रम की कल्पना की गई है। परन्तु अगर गृहस्थ में पड़ कर मनुष्य गृहस्थ का ही हो गया, तब उसने गृहस्थ-आश्रम का उद्देश्य नहीं समझा। गृहस्थ में जाना गृहस्थ में से निकलने के लिए है, विषयों को भोगना विषयों से छुटकारा पाने के लिए है, संसार में लीन होना संसार की असारता को समझने के लिए है, भोगवाद का मार्ग त्यागवाद की तरफ़ ले जाने के लिए है, प्रवृत्ति निवृत्ति के लिए है। संसार में ऐसा ही होता है, और सदा से ऐसा ही चला आया है। मनुष्य के मन की रचना भी ऐसी ही है। ऋषियों ने तो केवल इस स्वाभाविक मनोवैज्ञानिक सचाई को आश्रमों के रूप में एक व्यवस्था में बाँध दिया था। गृहस्थ के बाद वैराग्य आता ही है, आज हम उस

वैराग्य का समाज को लाभ नहीं पहुँचाते, ऋषियों ने ऐसी व्यवस्था कर दी थी जिससे इस वैराग्य का समाज को भी लाभ पहुँचता था। आज भी बाबाजी घर बैठ कर अपने पोतों को कन्धे पर चढ़ा कर घूमा करते हैं, कभी उन के लिए घोड़ा बनते हैं, कभी गधा बनते हैं। ऋषियों की व्यवस्था के अनुसार अपने बाल-बच्चों के लिए ही बाबा बनने के स्थान पर अपने सारे गाँव और सारे शहर के बच्चों के लिए बाबा बनने का विधान है। अब भी तो बाबाजी को सारे गाँव के बच्चे बाबा कहने लगते हैं। भेद इतना है कि अब सब का बाबा होते हुए भी यह अपने पोतों का ख़ास बाबा है, और वानप्रस्थी अपने बच्चों का मोह त्याग देता है, गाँव भर के बालक उसके बालक हो जाते हैं, वह सब का समान बाबा हो जाता है। यह त्याग की भावना, जिसका उदय गृहस्थाश्रम से होता है, वानप्रस्थ-आश्रम में आकर पक जाती है। गृहस्थी संसार को भोगने के बाद उसे एकदम छोड़ देता है। बनी-बनाई गृहस्थी को छोड़ना आसान नहीं है। परन्तु जब एक दिन बरबस यह सब-कुछ छोड़ना पड़ेगा, रोते-धोते छोड़ना पड़ेगा, हाय-हाय की पुकार में छोड़ना पड़ेगा, हम नहीं चाहेंगे, अपनों को देख कर आँसू बहावेंगे, उन्हें चिपटेंगे, फिर भी छोड़ना पड़ेगा, तो क्यों न एक बार हँस कर, मुस्करा कर, उछलते हुए, कूदते हुए, झूमते हुए दुनिया को छोड़ने की मस्ती का मज़ा लूटें। वानप्रस्थी यह मज़ा लूटता था, परन्तु फिर भी उसमें अभी कुछ कसर बाक़ी थी। वह अपने शहर से उठ कर उसके पास के जंगल में जा बैठा था। कभी-कभी उसके बाल-बच्चे उसे मिलने आते थे और उसके भी उनके पास आने-जाने की सम्भावना बनी रहती थी। वानप्रस्थी के पास जो बालक पढ़ने आते थे, और कुछ नहीं तो उनमें ही उसका मोह हो सकता था, उन्हें ही वह अपने बच्चों की तरह ऐसा प्यार कर सकता था जो उसे बाँध ले। परन्तु वह तो गाँठ बाँधने की जगह गाँठ खोलने के रास्ते पर कदम रख चुका था। इसलिए वानप्रस्थ के बाद एक ऐसा आश्रम आता था जिसमें अगर कोई गाँठ रह भी गई हो तो वह खोल दी जाती थी, और वानप्रस्थी सच्चे अर्थों में संन्यासी हो जाता था। संन्यासी मोह की, ममता की, तेरे-मेरे की सब गाँठों को काट डालता था, और निर्द्वन्द्व होकर, किसी ख़ास को अपना न बना कर और किसी ख़ास का न बनकर, सब को अपना बनाकर और स्वयं सब का होकर घूमता था। आज संन्यासियों के बड़े-बड़े मठ हैं, जिनके नहीं हैं, वे मठ बनाने की धुन में हैं। बदन पर कपड़ा न रखने और भीख माँग कर रोटी खा लेने का नाम ही संन्यास नहीं है। संन्यास बाहर का नहीं, भीतर का चिह्न है। संन्यास घर-बार छोड़ने का नाम नहीं, राग-द्वेष, मोह-ममता छोड़ने का नाम है। संन्यास लेने के बाद घरवालों के लिए मनुष्य मर जाता था। कभी-कभी तो घरवालों को पता भी नहीं होता था कि उनके सूत्र का कर्णधार कहाँ गया। मरना सब को है। संन्यासी मृत्यु के बहुत निकट पहुँच चुका होता था। मरकर तो संसार को छोड़ना ही पड़ता है, संन्यासी जीते-जी मरने का मज़ा लूट लेता था और पल्ला झाड़ कर दुनिया से चलने के लिए हर वक्त तैयार रहता था। उसके तन पर पड़ा भगवा कपड़ा हर

समय उसे आग की उन लपटों की याद दिलाता था जिनमें पड़कर अन्त समय में सब को पाँच तत्त्वों में मिल जाना है।

१०. संन्यासी का लक्ष्य प्राणिमात्र की सेवा था

परन्तु त्याग की इस उच्च भावना का यह अभिप्राय कभी नहीं था कि संन्यासी समाज के लिए निकम्मा हो जाता था। आर्य-संस्कृति के आदर्श के अनुसार 'त्याग' का ही दूसरा नाम 'सेवा' था। आख़िर, मनुष्य किसी-न-किसी क्षेत्र में सेवा तो करता ही है। पहले वह संकुचित क्षेत्र में सेवा करता है। बाल्यकाल में तो अपनी ही सेवा करता है। छोटा बच्चा क्या करता है? उसे यह ख़्याल नहीं होता कि माता-पिता के पास भी खाने को है या नहीं। घर में खाने की जो बढ़िया-से-बढ़िया चीज़ आये, बच्चा चाहता है, और किसी को मिले या न मिले, उसे अवश्य मिले। बड़े होने के बाद गृहस्थाश्रम में यह भाव नहीं रहता। माता-पिता स्वयं भूखे रह जाते हैं परन्तु सन्तान को पहले देते हैं। गृहस्थ-जीवन का यह पाठ क्या सिखाता है? रात को बालक जब बिस्तर पर पेशाब कर देता है तो माता क्या करती है? क्या वह अपने नीचे सूखा कपड़ा, और बच्चे के नीचे गीला कपड़ा कर देती है? नहीं, वह खुद गीले में पड़ी रहती है, बालक के नीचे फ़ौरन सूखा कपड़ा डाल देती है। बालक को जब नींद नहीं आती, तो माँ क्या खुद सोती रहती है और बालक को रोने देती है? नहीं, वह खुद जाग जाती है, आवश्यकता होती है तो रात भर उसे गोद में लिए थपकी देती रहती है, खुद नहीं सोती, उसे सुला देती है। गृहस्थ-जीवन त्याग का पाठ सिखाता है, परन्तु किस चीज़ का त्याग? अपने सुख का त्याग, अपने आराम का त्याग, अपने ऐश्वर्य तथा उपभोग का त्याग ताकि सन्तान को सुख मिल सके, आराम मिल सके। त्याग के भाव के साथ-साथ सेवा का भाव बढ़ता जाता है, यहाँ तक कि सन्तान की सेवा के लिए माता-पिता अपना सब-कुछ त्याग करने के लिए तैयार हो जाते हैं। गृहस्थ में सेवा का पाठ पढ़ कर जब स्त्री-पुरुष वानप्रस्थ-आश्रम में प्रवेश करते हैं तब समाज-सेवा का भाव और अधिक उग्र हो जाता है। गृहस्थ-आश्रम में वे लोग अपने बाल-बच्चों की सेवा करते थे, परन्तु वानप्रस्थ में आकर वे अपने बाल-बच्चों को छोड़ देते हैं और समाज के बाल-बच्चों की सेवा करने लगते हैं। यहाँ पर भी त्याग की भावना मनुष्य को सेवा के मार्ग पर ही आगे-आगे बढ़ाती जाती है। वानप्रस्थी त्याग करता है, परन्तु त्याग इसलिए करता है ताकि वह अपने सेवा के क्षेत्र को विस्तृत कर सके, वह त्याग इसलिए नहीं करता कि जंगल में निकम्मा बैठ सके। प्राचीन-काल के वानप्रस्थियों के सहारे सम्पूर्ण भारतवर्ष में बिना कौड़ी खर्च किये निःशुल्क तथा अनिवार्य शिक्षा का देश के एक कोने से दूसरे कोने तक प्रचार था—क्या इससे भी बढ़ कर सेवा-भाव का कोई दूसरा दृष्टान्त मिल सकता है? वानप्रस्थी भी अपने गाँव या अपने शहर की ही सेवा करता था। कुछ देर बाद उसे इस परिमित क्षेत्र का त्याग कर और अधिक विस्तृत क्षेत्र में आना होता था, और अपने ही देश की नहीं, अपनी ही जाति की नहीं, अपने ही लोगों की नहीं, संसार की सेवा करना

उसका कर्त्तव्य हो जाता था। फिर वह किसी एक देश का नागरिक न होकर विश्व का नागरिक हो जाता था, उसका काम किसी एक देश या एक जाति की भलाई सोचना न होकर सम्पूर्ण संसार की भलाई सोचना होता था। जो लोग संन्यास-आश्रम को खाली बैठे रहने का आश्रम समझते हैं वे ऋषियों के विचार की थाह को नहीं पहुँच पाते। आर्य-संस्कृति की मर्यादा के अनुसार संन्यासी और सब-कुछ कर सकता है, परन्तु खाली, निकम्मा नहीं बैठ सकता। वह तो विश्व का नागरिक है। जिन लोगों पर जिला-बोर्डों की चिन्ता होती है उनकी अपेक्षा विधान-परिषद् के सदस्यों का दृष्टिकोण विशाल होता है, उनकी अपेक्षा पार्लियामेंट के सदस्यों का दृष्टिकोण और अधिक विशाल होता है, परन्तु संयुक्त-राष्ट्र-संघ के सदस्यों का दृष्टिकोण तो सबसे अधिक विशाल होना चाहिए। चाहिए इसलिए क्योंकि होता नहीं है। संन्यासी की दृष्टि संयुक्त-राष्ट्र-संघ की दृष्टि है। आज संसार को सच्चे संन्यासियों की आवश्यकता है, ऐसे संन्यासियों की जिन्हें विश्व का नागरिक कहा जा सके। आज विश्व ने संयुक्त-राष्ट्र-संघ की इमारतें खड़ी कर ली हैं, उन इमारतों में बढ़िया-से-बढ़िया फ़र्नीचर भी जुटा लिया है, परन्तु वह इन भवनों में बैठने योग्य मानव तैयार नहीं कर सका, ऐसे 'विश्व के नागरिक' नहीं पैदा कर सका जो अपने देश की ही नहीं, संसार के प्राणिमात्र की सेवा का व्रत ले बैठें। आज यह दरिद्र भारत विश्व को क्या दे सकता है ? परन्तु भारत तो सदियों से देता रहा है, और इस दरिद्रावस्था में भी दे सकता है। आज भारत विश्व को 'विश्व के नागरिकों' का सन्देश दे सकता है, संयुक्त-राष्ट्र-संघ में बैठने योग्य इन्सान पैदा करने का सन्देश दे सकता है, और दे सकता है विश्व को एकसूत्र में बाँधने वाले, संसार के हित के लिए सब-कुछ कुर्बान कर देने वाले, प्राणिमात्र की सेवा में अपने को भूल जाने वाले त्यागी, तपस्वी, संन्यासियों को ढूंढ-ढूंढ कर विश्व का मूर्धन्य बनाने का सन्देश।

अक्सर लोग कह बैठते हैं कि भारतीय दृष्टिकोण स्वार्थ का, खुद-ग़र्ज़ी का दृष्टिकोण है। इस देश में लोग अपनी उन्नति के लिए जंगल में निकल जाते थे। यह विचार ग़लत है। आश्रम-प्रणाली इस बात का प्रमाण है कि इस देश में स्वार्थ को कम करते-करते धीरे-धीरे इतना कम कर दिया जाता था कि स्वार्थ सिफ़र में तब्दील हो जाता था, और उसकी जगह परार्थ आ जाता था। ब्रह्मचर्य-आश्रम में बालक की दृष्टि अपने पर होती है, वह अपने सिवा किसी को कुछ नहीं समझता। वह पढ़ता है, लिखता है, खाता है, पीता है, सोता है, वर्जिश करता है और अपने आत्मा, मन, शरीर को बनाता है। उसे किसी की कोई चिन्ता नहीं, संसार के धन्धों से उसे कोई सरोकार नहीं। वह एक दृष्टि से 'स्वार्थ' का नमूना है। परन्तु उसे इसी जगह तो टिकना नहीं होता। ब्रह्मचर्य के बाद गृहस्थ-आश्रम आता है। अब वही व्यक्ति जिसे किसी का फ़िक्र नहीं था, चिन्ता नहीं थी, खुद पीछे खाता है, अपने बच्चों को पहले खिलाता है। वह अगर बाजार से अंगूर लाता है तो ताजे अंगूर बच्चे को देता है, दाग़ी दाने खुद खा लेता है। गृहस्थाश्रम में आकर वह

स्वार्थ का पाठ भूल रहा है, परार्थ का पाठ सीख रहा है; स्वार्थ से दूर होता जा रहा है, परार्थ के निकट पहुँच रहा है। आठ-दस बच्चों का बाप हो जाने के बाद वह बिल्कुल स्वार्थ-हीन हो जाता है। उसकी कोई अपनी इच्छा नहीं रहती, अपना स्वार्थ नहीं रहता, अपने बच्चों की इच्छाएँ, उनकी जरूरतें ही उसकी इच्छाएँ और उसकी जरूरतें बन जाती हैं। गृहस्थाश्रम में वह दूसरों के स्वार्थ को अपना स्वार्थ बनाने का सबक़ सीख जाता है, परन्तु अब भी वह इसमें दक्ष नहीं हो पाता। इसमें दक्षता प्राप्त करने के लिए उसे वानप्रस्थ होना पड़ता है। अब उसे यह भूल जाना होता है कि उसके अपने बच्चे ही उसके बच्चे हैं, उसके अपने सगे-सम्बन्धी ही उसके निकट के हैं। अब उसे गाँव और शहर के सब बच्चों को अपना बच्चा समझने का सबक़ सीखना है, स्वार्थ या खुदग़र्ज़ी को और कम करना है। वानप्रस्थ-आश्रम में वह दूसरों को अपना समझने का पाठ पढ़ता है, और यह पाठ संन्यास-आश्रम में पूर्ण हो जाता है। संन्यासी के लिए खास तौर पर अपना कोई नहीं रहता, क्योंकि सब एक-समान उसके अपने हो जाते हैं। ऋषियों ने आश्रम-व्यवस्था को ऐसा बनाया था कि एक आश्रम के बाद दूसरे आश्रम में प्रवेश करता हुआ व्यक्ति स्वार्थ की एक-एक तह को उतारता जाता था, यहाँ तक कि अन्तिम आश्रम में पहुँचते-पहुँचते उस पर स्वार्थ की एक तह भी बाकी नहीं रह जाती थी, भीतर से शुद्ध निःस्वार्थ-भाव सूर्य के प्रचण्ड प्रकाश की तरह चमक उठता था। संन्यासी कौन होता था? संन्यासी वह था जो कोढ़ियों और अपाहिजों को देखकर अपने बदन के कपड़े से उनकी मरहम-पट्टी करता था, संन्यासी वह था जो रोती-कलपती विधवाओं के साथ बैठ कर उनके आँसुओं में अपने आँसू बहाता था, संन्यासी वह था जो लूलों और लंगड़ों को देख कर उन्हें अपने हाथ का सहारा देता था। संसार के बोझ को अपना बोझ, संसार के दुःख को अपना दुःख समझ कर चिन्ता करने वाले संन्यासी आज नहीं रहे, तो भी संन्यास-आश्रम का आदर्श यही था, इस आश्रम की मर्यादा यही थी।

२५

सोलह संस्कार—नव-मानव का निर्माण

(SANSKARS AS A SCHEME OF RACE BETTERMENT)

१. आर्य-संस्कृति की योजनाओं का केन्द्र मानव का निर्माण था

आज हमारा वातावरण योजनाओं से भरा पड़ा है। जो देश उन्नति करने लगता है वह योजनाओं का एक तांता-सा बांध देता है। कोई पांच वर्ष की योजनाएँ बनाता है, कोई दस वर्ष की। इन योजनाओं में क्या होता है? हम बांध बनायेंगे, नहरें खोदेंगे, पुल बांधेंगे, रेलें बिछायेंगे। ये सब योजनाएँ क्यों बनायेंगे? क्योंकि मानव का सब से बड़ा प्रश्न रोटी का प्रश्न है। हम हजारों और लाखों को इन निर्माण-कार्यों में लगाकर बेकारी की समस्या को हल कर देंगे, और इन योजनाओं के पूरा होने पर लोगों को सब-कुछ मिलने लगेगा, बेकारी की समस्या खुद ही न रहेगी। मानव की भूख मिटाने का यह सारा उद्योग प्रशंसनीय है, परन्तु इन सब योजनाओं में हम मानव को कितना तुच्छ, कितना क्षुद्र समझे हुए हैं। हम समझे हुए हैं कि मानव भूख और प्यास का पुतला है—इसके सिवा कुछ नहीं। आर्य-संस्कृति मानव को शरीर-मात्र नहीं समझती, भूख और प्यास का ही पुतला नहीं समझती। आर्य-संस्कृति बांध और पुल बांधने, नहरें, रेलें और सड़क बनाने से मना नहीं करती, शरीर की भूख और प्यास की समस्या को हल करने से भी मना नहीं करती। परन्तु आर्य-संस्कृति के कार्य-क्रम में ये योजनाएँ अत्यन्त प्रारम्भिक योजनाएँ हैं, उसके कार्य-क्रम का क-ख-ग भी नहीं हैं। आर्य-संस्कृति की असली योजना, वह योजना जिस के लिए इस संस्कृति ने जन्म लिया, 'मानव का निर्माण' है। आज हम बांध बांध रहे हैं, नहरें खोद रहे हैं, रेलें बिछा रहे हैं, सड़कें बना रहे हैं, परन्तु वह मानव जिसके लिए यह सब-कुछ हो रहा है, वह कहां है, उसके लिए, उसके 'आत्म-तत्त्व' के विकास के लिए, हमने पांच वर्ष की, दस वर्ष की, बीस वर्ष की कौन-सी योजना बनाई है? रेलों का तांता बिछ जाय, मोटरें घर-घर चलने लगें, जमीन के चप्पे-चप्पे पर नहरों का पानी पहुँच जाय, भूमि का कोई हिस्सा बंजर न रहे, परन्तु इन सब का उपभोग करने वाला मानव अगर सच्चा न हो, ईमानदार न हो, दूसरे के दुःख में दुःखी और सुख में सुखी होने वाला न हो, अगर वह सब तरह से दुराचारी और भ्रष्टाचारी हो, तो ये रेल-मोटर, ये नहरें और बांध किस काम आयेंगे? और, क्या ऐसा हो नहीं रहा? क्या चारों तरफ़ चका-चौंध कर देने वाले वैभव की बढ़ती के साथ-

साथ मानव का—उस मानव का जिसके लिए यह सम्पूर्ण वैभव और ऐश्वर्य खड़ा किया जा रहा है, दिनोंदिन पतन नहीं हो रहा ? मानव कहाँ है ? कहाँ है वह मानव जिसमें मानवीयता के गुण हों ? वह मानव जो प्रलोभनों के प्रचण्ड बवण्डर के उठ खड़े होने पर उसे तिनकों की तरह परे फेंक दे ? आर्य-संस्कृति की सब से बड़ी योजना, उसकी सब योजनाओं का केन्द्र 'मानव का निर्माण' था। आज हम यह तो सोचते हैं, दिनोंदिन बढ़ती जन-संख्या को किस तरह कम किया जाय। माता-पिता क्या करें जिससे कम-से-कम बच्चे पैदा हों, क्योंकि हमारे सामने रोटी-कपड़े के सिवा मानव की कोई दूसरी समस्या है ही नहीं। यह कोई नहीं सोचता कि जो बच्चे पैदा हो रहे हैं, उनको मनुष्य बनाने के लिए क्या किया जाय। असली समस्या उनकी है जो पैदा हो चुके हैं। जो पैदा हो चुके हैं, उनकी समस्या सिर्फ़ रोटी-कपड़े-मकान ही नहीं है। इसमें सन्देह नहीं कि रोटी-कपड़ा न मिलने पर मनुष्य झूठा-बेईमान-दुराचारी-भ्रष्टाचारी हो सकता है, परन्तु इनके भरपूर मिलने पर भी वह वैसा ही रहता है—इस समस्या का क्या हल है ? आज संसार में भ्रष्टाचार उन लोगों से नहीं फैल रहा जो भूखे-नंगे हैं, उन लोगों से फैल रहा है जिनके पास खाने को ज्यादा, पहनने को ज्यादा, रहने को ज्यादा, सब-चीज़ सब तरह से सब से ज्यादा हैं। आर्य-संस्कृति ने अपने विचार का केन्द्र इस समस्या को बनाया था।

हमें मानव का निर्माण करना है। वह कैसा मूर्ख होगा जो ऐसा महल खड़ा कर रहा हो जिसमें रहने वाला उसे उड़ा देने के मनसूबे बाँध रहा हो। आज हम एक महान् सभ्यता को जन्म दे रहे हैं, विज्ञान के बड़े-बड़े आविष्कार हो रहे हैं, मनुष्य पाँवों से चलने के स्थान पर उड़ने लगा है, परन्तु जिस विशाल वैभव को वह उत्पन्न कर रहा है उसके सर्वनाश के बीज वह साथ ही बखेरता चला जा रहा है। शान्ति का हम नाम लेते हैं, अशान्ति बढ़ती जाती है, प्रेम की माला जपते हैं, द्वेष और घृणा फूलते-फलते हैं। क्या यह सब इसलिए नहीं है क्योंकि शान्ति के स्रोत, प्रेम के उद्गम-स्थान 'आत्म-तत्त्व' को हम भुलाये बैठे हैं। हम सब-कुछ बना रहे हैं, चारों तरफ़ हमारी योजनाएँ चल रही हैं, हम सिर्फ़ उस योजना की तरफ़ से अन्धे हैं जिस पर हमारी सब योजनाओं का आधार है, जो योजनाओं की योजना है, जिसके लिए सब योजनाएँ हैं, और जिसके बिना सब योजनाएँ बेकार हैं।

२. 'मानव-निर्माण' का आधार संस्कार-प्रणाली

आर्य-संस्कृति ने मानव के निर्माण की योजना को तैयार किया था। इसी योजना को सफल बनाने के लिए संस्कारों की पद्धति को प्रचलित किया था। संस्कारों से ही तो मनुष्य बनता है। आत्म-तत्त्व जन्म-जन्मान्तरों में किस प्रक्रिया में से गुज़रा है ? हर जन्म में इस पर संस्कार पड़ते हैं, अच्छे या बुरे—यही तो इस जन्म की, पिछले जन्मों की, और अगले जन्मों की कहानी है। इस संस्कृति में मनुष्य-जन्म का उद्देश्य शुभ-संस्कारों द्वारा 'आत्म-तत्त्व' के मैल को धोना है, उसे निखारते जाना है। पिछला मैल कैसे धोया जाय, और नया रंग कैसे

चढ़ाया जाय ? यह सब-कुछ इस जन्म के संस्कारों द्वारा ही तो हो सकता है। इस जन्म में बँध कर ही तो आत्म-तत्त्व पकड़ में आता है। बर्तन हाथ से पकड़ कर मँजता है, आत्मा की शरीर में बँध कर मैल धुलती है, शरीर में बँध कर ही उस पर शुभ-संस्कारों का नया रंग चढ़ता है। जिस समय, जिस क्षण आत्मा शरीर के बन्धन में पड़ा, उसी समय से, उसी क्षण से आर्य-संस्कृति उस पर उत्तम संस्कार डालना शुरू कर देती है, और उस क्षण तक डालती चली जाती है जब तक 'आत्म-तत्त्व' शरीर को छोड़ कर फिर तिरोहित नहीं हो जाता। आत्मा जब-जब शरीर में आता है, तब-तब आर्य-संस्कृति की व्यवस्था में संस्कारों की शृंखला से ऐसा घेर दिया जाता है जिससे उस पर कोई अशुभ संस्कार पड़ने ही नहीं पाता। संस्कार तो पड़ने ही हैं, कोई व्यवस्था नहीं होगी, तो अच्छों के स्थान में बुरे संस्कार ज्यादा पड़ते जायेंगे, मानव का निर्माण होने के स्थान में, मानव का बिगाड़ होता चला जायगा; व्यवस्था होगी, संस्कारों का नियमन होगा, अच्छे संस्कार पड़ें, इस बात का नियन्त्रण होगा, तो मनुष्य लगातार मनुष्य बनता जायगा, स्वयं उठता जायगा, समाज को उठाता जायगा। आर्य-संस्कृति की जो विचार-धारा है, उसके अनुसार, यह जन्म, पिछले जन्म, अगले जन्म—यह सब संस्कारों द्वारा आत्म-शोध का एक सिलसिला है, संस्कारों की लगातार चोट से 'आत्म-तत्त्व' पर पड़े मैल को हटाने का प्रयत्न है।

अगर अगला-पिछला जन्म न मानें, इसी जन्म को मानें, तब तो संस्कारों को नियंत्रित करके मानव का निर्माण अत्यन्त आसान हो जाता है। मनुष्य जो-कुछ है, 'वंशानुसंक्रमण' (Heredity) तथा 'पर्यावरण' (Environment) का ही परिणाम है। 'वंश-परम्परा' से माता-पिता जो शारीरिक या मानसिक संस्कार देकर हमें पैदा कर देते हैं और 'पर्यावरण' से जो संस्कार हम पर पड़ते जाते हैं, इन दोनों के मिश्रण से मनुष्य बनता है। जो पूर्व-जन्मों को मानते हैं, उनके लिए, इस जन्म में आत्मा के अपने 'निजी संस्कार', माता-पिता द्वारा 'वंश-परम्परा' के प्राप्त संस्कार, और 'पर्यावरण' से पड़ने वाले संस्कार—इन तीनों का मुकाबिला करना एक कठिन समस्या बन जाता है; जो पूर्वजन्म को नहीं मानते उनकी समस्या 'वंश-परम्परा' तथा 'पर्यावरण'—इन दो प्रकार के संस्कारों तक सीमित रह जाती है। अगला-पिछला जन्म न मानने, अर्थात् केवल इस जन्म को मानने वालों के लिए तो मानव का निर्माण अत्यन्त सुगम है। इसमें तो आत्मा के अपने पूर्व-जन्मों के संचित संस्कारों का प्रश्न ही नहीं उठता। हम जो संस्कार बालक पर डाल देंगे बड़ा होकर वह वही बनेगा—यह सत्य भौतिकवादी वर्तमान सभ्यता की दृष्टि में जितना सरल और सहल है उतना अध्यात्मवादी आर्य-संस्कृति में नहीं, परन्तु फिर भी वर्तमान सभ्यता का ध्यान मानव के निर्माण की तरफ़ नहीं जा रहा। हम चूहों और खरगोशों पर परीक्षण करते हैं, घोड़ों, बैलों और गायों की नसलों को सुधारने का प्रयत्न कर रहे हैं, परन्तु मानव के निर्माण के लिए हम कुछ नहीं कर रहे। आर्य-संस्कृति ने संस्कारों द्वारा मानव के

निर्माण को अपने सम्पूर्ण कार्य-क्रम में इतना बड़ा स्थान दिया था, शायद इसका कारण यह था कि वह आत्मा की सत्ता को मानती थी, आत्मा के पूर्व-जन्मों को मानती थी, शरीर के मुकाबिले में आत्मा को ही यथार्थ-सत्ता मानती थी, शरीर को आत्मा का साधन मानती थी, इस जन्म को, शरीर का नहीं किन्तु आत्मा का प्रश्न मानती थी, और आत्मा के उन्नति के मार्ग पर चलने को इतनी महान् समस्या मानती थी कि इस जन्म में इसके हल करने में जान न लड़ा दी तो सब-कुछ खोया गया, जीना-न-जीना एक-सा हो गया—ऐसा मानती थी। उपनिषद् के ऋषि ने कहा था—'इह चेदवेदीत् अथ सत्यमस्ति, न चेदवेदीत् महती विनष्टिः'—यहाँ, इस जन्म में अगर आत्म-तत्त्व को पा लिया, तो ठीक, जन्म सार्थक हो गया, न पाया तो नाश, महानाश हो गया। आत्मा पर जन्म-जन्मान्तर के संस्कारों का इतना भारी बोझ था कि उसे उतारने का मौका इस जन्म में चूक जाना एक अनर्थ के सिवा क्या हो सकता था? आत्मा के संस्कारों के बोझ को कैसे हलका किया जाय, उसके संस्कार कैसे बदले जाँय? आर्य-संस्कृति का कहना था कि माता-पिता द्वारा, उन माता-पिता द्वारा जिन्हें माध्यम बना कर आत्मा इस जन्म को धारण करता है, संस्कारों की चोट देकर, और पर्यावरण द्वारा पड़ने वाले संस्कारों को नियन्त्रित करके आत्मा के पुराने संस्कार हटाये जा सकते हैं, उस पर नये संस्कार डाले जा सकते हैं। अगर आत्मा पुराने संस्कारों को लेकर आता है, तो वे भी तो किसी जन्म में माता-पिता तथा अन्य पर्यावरण द्वारा नये सिरे से पड़ रहे थे। जैसे उस समय नये सिरे से पड़ रहे थे, वैसे इस जन्म में भी नये संस्कार नये सिरे से पड़ सकते हैं। आर्य-संस्कृति निरी भाग्यवादी संस्कृति नहीं है। जो-कुछ है वह पीछे से ही आता है, नया कुछ नहीं होता—यह आर्य-संस्कृति का विचार नहीं है। न ही आर्य-संस्कृति यह मानती है कि जो-कुछ है, नया ही है, पीछे से कुछ नहीं आता। पीछे से बहुत-कुछ आता है, आगे भी बहुत-कुछ नया बनता है, भाग्य भी है, पुरुषार्थ भी है, जो पीछे से बना-बनाया आता है वह किसी समय बन रहा था, जो भाग्य है वह किसी समय पुरुषार्थ था। पुरुषार्थ तो पुरुषार्थ है ही, भाग्य भी इस दृष्टि से पिछले जन्म का पुरुषार्थ है। आत्मा जिन संस्कारों को लेकर आता है वे किसी समय पड़ रहे थे। जैसे किसी जन्म में वे संस्कार बन रहे थे, आत्मा पर पड़ रहे थे, उसके जीवन की दिशा को बना रहे थे, वैसे इस जन्म में इच्छित संस्कारों को आत्मा पर डाल कर हम उसके जीवन की नवीन दिशा का निर्धारण कर सकते हैं। पीछे जो-कुछ हो गया, हो गया, वह हमारे बस की बात नहीं रही, इस जन्म में सब-कुछ अपने हाथ में है, अपने बस में है, इसलिए इस मौके को चूक जाना 'महती विनष्टिः'—महा अनर्थ—नहीं तो क्या है? यह दृष्टि थी जिसने आर्य-संस्कृति ने संस्कारों की प्रथा को जन्म दिया था।

३. पिछले जन्मों के 'कर्म' तथा इस जन्म के 'संस्कार'

परन्तु इस एक छोटे-से जन्म के संस्कार जन्म-जन्मान्तरों के कर्मों का मुकाबिला कैसे करेंगे? हमने न जाने कितने कर्म किये, अच्छे

किए, बुरे किये, उन सब को एक-एक करके भोगे बिना केवल इस जन्म के संस्कार क्या कर सकेंगे ? क्या ये एक जन्म के संस्कार पिछले इकट्ठे हुए अनन्त जन्मों के कर्मों के बोझ को, उन कर्मों के पड़े हुए संस्कारों को हल्का कर सकेंगे ?

कर्म के विषय में मानव-समाज ने भिन्न-भिन्न विचारों को जन्म दिया है। कोई कहता है, मनुष्य की पीठ पर दो फ़रिश्ते हर समय हर काम को दो बहियों में लिखते रहते हैं। कोई कहता है, चित्रगुप्त की बही में एक-एक काम, अच्छा हो, बुरा हो, दर्ज किया जाता है। हर काम की पड़ताल होती है, हर कर्म का फल मिलता है, जब तक एक-एक कर्म का फल नहीं मिल जाता, कर्म बैठा रहता है। इन सब विचारों का आधार-भूत विचार एक ही है। संसार में कार्य-कारण का नियम चल रहा है। कोई कार्य बिना कारण के नहीं होता, और हर कारण का कार्य अवश्य होता है। जिसे हम कारण कहते हैं वह पिछले कारण का 'कार्य' हो सकता है, जिसे हम कार्य कहते हैं वह किसी अगले कार्य का 'कारण' हो सकता है। इस प्रकार कारण-कार्य की व्यवस्था से कर्मों की शृंखला चलती चली जाती है। कर्मों की इस कारण-कार्य-शृंखला का रूप क्या है ? कर्म किसी रजिस्टर में नहीं लिखे जाते, चित्रगुप्त की बही में भी नहीं दर्ज होते। कर्म तो अपनी निशानी लगाते जाते हैं, लकीर छोड़ते जाते हैं, रेखा खींचते जाते हैं। यह निशानी, यह लकीर, यह रेखा तो मस्तिष्क पर पड़ती है। मस्तिष्क, अर्थात् स्नायु-मण्डल तो भौतिक-वस्तु है, अतः उस पर रेखा पड़ सकती है। आत्म-तत्त्व पर कर्म की कौन-सी निशानी पड़ती है, कौन-सी रेखा खिंचती है ? कर्म की आत्म-तत्त्व पर पड़ी निशानी, उसकी लकीर, उसकी रेखा का नाम ही 'संस्कार' है। आत्म-तत्त्व पर एक-एक कर्म नहीं लिखा जाता, उन कर्मों के कारण आत्मा के जो संस्कार बनते जाते हैं, आत्मा की रुचि, उसकी प्रवृत्ति, उसकी गति की दिशा, एक रास्ता सहल, दूसरा आसान—इसी प्रकार के संस्कारों का बनते जाना कर्मों की शृंखला का लिखा जाना है। जैसे हम भोजन खाते हैं, यह भोजन शरीर में बैठा नहीं रहता, यह पचकर शरीर बन जाता है, अच्छे भोजन से स्वस्थ शरीर, बुरे भोजन से अस्वस्थ शरीर, वैसे जब हम कर्म करते हैं, तो वे कर्म उनका फल भोग जाने के समय तक बैठे नहीं रहते, उन कर्मों से तत्काल, उसी समय उनका फल—'संस्कार'—बनते जाते हैं। जैसे भोजन के फलस्वरूप शरीर बन जाता है वैसे कर्म, जो मानसिक भोजन हैं, उनके फल-स्वरूप संस्कार बन जाते हैं। शरीर बन जाने के बाद उस भोजन से हमें नहीं उलझना पड़ता जो हमने खाया था, शरीर से उलझना पड़ता है, इसी प्रकार संस्कार बन जाने के बाद उन भिन्न-भिन्न कर्मों से हमें नहीं उलझना पड़ता, जो हमने किये थे, हमें संस्कारों से ही उलझना पड़ता है। ये संस्कार ही कर्मों का लेखा हैं। इन सब कर्मों को एक-एक करके भोगना नहीं पड़ता। ये संस्कार ही कर्मों के भोग हैं, एक-एक कर्म के भोग, क्योंकि कोई कर्म संस्कार छोड़े बगैर नहीं रहता। अच्छे कर्मों का या तो तुरन्त अच्छा फल मिल जाता है, या अच्छे

कर्मों से अच्छा संस्कार पड़ गया, अच्छी रुचि बन गई, अच्छी दिशा की तरफ़ आत्मा चल पड़ा। यह शुभ संस्कार, शुभ रुचि, शुभ प्रवृत्ति भी अच्छे कर्मों का भोग है, फल है, परिणाम है—अब सब कर्मों को अपनी-अपनी बारी तक बैठे रहने की जरूरत नहीं रहती। बुरे कर्मों का भी या तो तुरन्त बुरा फल मिल जाता है, या बुरा संस्कार पड़ गया, बुरी रुचि बन गई, बुरी दिशा की तरफ़ आत्मा चल पड़ा। कर्मों के लेख के रूप में बने ये संस्कार स्वयं कार्य हैं, फल हैं, परिणाम हैं। आत्मा इस जन्म से चलता हुआ भिन्न-भिन्न कर्मों की गठड़ी को बाँध कर नहीं ले जाता। जैसे वृक्ष बीज में समा जाता है, वृक्ष बीज का ही फैलाव है, विस्तार है, वैसे कर्म—अनन्त-कर्म—बीज-रूप में, संस्कार में समा जाते हैं; कर्म, संस्कार का ही फैलाव है, विस्तार है, अनन्त-कर्म सिमिट कर संस्कार में आ बैठते हैं। संस्कार आत्मा के साथ रहते हैं, उसे छोड़ते नहीं। जब संस्कार आत्मा के साथ आ गये, तब इस बात के जानने की आवश्यकता नहीं रहती कि अमुक जो कर्म हमने किया था, उसका क्या हुआ, क्या नहीं हुआ। जिन कर्मों का तत्काल फल मिल गया वह तो मिल गया, जिनका नहीं मिला वे कर्म अपना संस्कार छोड़ जाते हैं, वैसे-के-वैसे नहीं बने रहते। संस्कारों का सिद्धान्त ही यह है कि एक-एक कर्म से हमारा वास्ता नहीं रह जाता, हमारा वास्ता संस्कारों से, आत्मा की रुचि से, प्रवृत्ति से रह जाता है, कर्मों का प्रश्न संस्कारों के बन जाने पर समाप्त हो जाता है, और इसके बाद हमारी असली समस्या भिन्न-भिन्न कर्म नहीं रहते, संस्कार हो जाते हैं। संस्कारों के इस पुंज को ही ऋषि-मुनियों ने आत्मा के 'सूक्ष्म-शरीर', 'कारण-शरीर' का नाम दिया था। कर्मों के निचोड़ को संस्कार कहते हैं, और संस्कारों के निचोड़ को 'कारण-शरीर' कहते हैं। 'कारण-शरीर' कहने से संस्कार और कर्म सब कुछ आ जाता है। 'कारण-शरीर' इसलिए कहा क्योंकि आगे जो-कुछ बनना है उसका ये संस्कार ही कारण हैं। आर्य-संस्कृति का कहना था कि आत्मा के इस 'कारण-शरीर' में, संस्कारों के शरीर में, जन्म धारण कर लेने के बाद तो संस्कार डाले ही जा सकते हैं, जन्म लेने से पहले भी नये संस्कार डाले जा सकते हैं। 'कारण-शरीर' में नवीन संस्कारों का पड़ जाना—यही संस्कारों की पद्धति का रहस्य है। 'कारण-शरीर' में जो संस्कार पड़ जायेंगे, चाहे पुराने हों, चाहे नये हों, वे ही इस जन्म में फूटेंगे। संस्कारों द्वारा ही संस्कारों को बदला जा सकता है। तब आत्मा के एक-एक कर्म के पड़ताल करने की आवश्यकता नहीं रहती। जन्म-जन्मान्तरों के कर्मों का निचोड़ ही तो संस्कार है। वृक्ष की टहनियों तक रस पहुँचाने के लिए एक-एक टहनी में रस डालने की आवश्यकता नहीं, उसकी जड़ में रस डालने से एक-एक टहनी में रस पहुँच जाता है। संस्कारों को पकड़ने से कर्म-रूपी वृक्ष की एक-एक टहनी हाथ आ जाती है। एक-एक कर्म से उलझने की आवश्यकता नहीं रहती, एक-एक टहनी को पकड़ने की आवश्यकता नहीं रहती। इस प्रकार कर्मों की जटिल समस्या को संस्कारों द्वारा हल करने का आर्य-संस्कृति ने प्रयत्न किया था और मानव के नव-निर्माण के विचार को जन्म दिया था।

४. नये संस्कारों द्वारा पुराने संस्कारों को बदलना

जो आत्मा नया शरीर धारण करने वाला है, वह कुछ संस्कारों को लेकर आने वाला है। ये संस्कार उसका 'कारण-शरीर' हैं, ऐसा शरीर हैं जो उसके इस जन्म के मन और स्थूल शरीर को बनाने में कारण बनने वाले हैं। अगर इसमें बुरे संस्कार हैं और हम वहीं, उसके स्थूल रूप में आने से पहले ही, उन सूक्ष्म संस्कारों पर चोट नहीं करते, उन्हें बदलने का यत्न नहीं करते, तो ये संस्कार जैसे हैं वैसा ही तो मानव उत्पन्न होगा। मानव के उत्पन्न होने से पहले उसके संस्कारों के शरीर में, उस शरीर में जो इस जन्म का कारण है, जिसे 'सूक्ष्म-शरीर', 'कारण-शरीर' आदि नामों से कहा गया है, नवीन आत्मा को जन्म देने वाले स्त्री-पुरुष अपने विचारों के वेग से, बल से, उनकी उग्रता से नवीन संस्कार डालने का यत्न करते हैं। नव-मानव की उत्पत्ति माता-पिता के रज-वीर्य से ही तो होती है। यह रज-वीर्य ही नव-मानव के 'सूक्ष्म-शरीर', 'कारण-शरीर' का भौतिक आधार बनने वाला है। माता-पिता जैसे होंगे वैसा उनका रज-वीर्य होगा। शुद्ध विचारों से शुद्ध रज-वीर्य, अशुद्ध-विचारों से अशुद्ध रज-वीर्य बनेगा। शुद्ध विचारों से बने रज-वीर्य की तरफ़ नया जन्म लेने वाले आत्मा का जो संस्कारों का शरीर, सूक्ष्म-शरीर या कारण-शरीर खिंचेगा, उसमें जन्म लेने से पूर्व ही पुराने बुरे संस्कारों, रुचियों और प्रवृत्तियों पर माता-पिता द्वारा अपने रज-वीर्य के माध्यम से दिये हुए संस्कारों की एक ऐसी चोट लग जायगी जिससे जन्म लेने के बाद मानव के जीवन की दिशा बदल जायगी, और वह पुराने संस्कारों के होते हुए भी, नये संस्कारों के कारण, नयी दिशा की तरफ़ चल पड़ेगा। क्या विचारों में इतना सामर्थ्य है कि वह रज-वीर्य पर पड़ सके, रज-वीर्य पर पड़ कर आत्मा के पुराने संस्कारों को, उसके 'कारण-शरीर' को भी बदल सके? आर्य-संस्कृति के लोग तो ऐसा मानते थे। वे मानते थे कि जैसे बीज के भीतर, उसकी रचना में ऐसा परिवर्त्तन किया जा सकता है जिससे उत्कृष्टतर पौधा उत्पन्न हो, वैसे आत्मा के जन्म लेने से पूर्व, उसके 'सूक्ष्म-शरीर', 'कारण-शरीर', 'संस्कारों के शरीर' में माता-पिता के सशक्त, वेगवान् विचारों के द्वारा, रज-वीर्य के माध्यम से, जिस माता के पेट में उसे नौ मास रहना है, जिसके अंग-अंग से उसे रस लेना है, जिसके हृदय से इसका हृदय, जिसके मस्तिष्क से इसका मस्तिष्क बनना है, उस माता के माध्यम से ऐसा परिवर्त्तन किया जा सकता है जिससे पुराने संस्कारों को बिलकुल बदला जा सके, उन्हें सामर्थ्यहीन बनाया जा सके, और एक नव-मानव का निर्माण किया जा सके। तभी तो जो संस्कृति चारों तरफ़ से कर्मों के जाल से जकड़ी हुई थी उसी संस्कृति का कथन था कि संस्कारों द्वारा आत्मा को बिलकुल बदला जा सकता है, उसे नये संस्कारों से प्रभावित किया जा सकता है, संसार में मनुष्यों की एक नयी ही जाति को उत्पन्न किया जा सकता है। अगर कर्मों की दीवार को आर्य-संस्कृति एक दुर्भेद्य दीवार समझती, यह समझती कि एक-एक कर्म को जबतक भोग नहीं लिया जाता तबतक आगे कदम नहीं रखा जा सकता, तो संस्कारों की प्रणाली को कभी जन्म न देती। कर्म भोगे

जाते हैं, परन्तु संस्कारों के रूप में, और इसलिए संस्कारों द्वारा इन्हें बदला भी जा सकता है। जिन संस्कारों को हम बदलते हैं वे उस आत्मा के होते हैं, जिसे जन्म लेना है, जिन संस्कारों द्वारा बदलते हैं वे माता-पिता के होते हैं, उन आत्माओं के होते हैं जिन्होंने जन्म देना है। माता-पिता के संस्कार भी कर्मों के एक लम्बे-चौड़े चक्र में पड़ कर बने होते हैं। उन्होंने अनेक कर्म किये, अच्छे किये, बुरे किये, उन सब से उनके संस्कार बने, उनकी रुचि बनी, प्रवृत्ति बनी, जीवन की दिशा बनी। आर्य-संस्कृति में माता-पिता से यह आशा की जाती है कि वे अपने संस्कार ऐसे बनायें, प्रबल और सशक्त बनायें जिससे वे अपनी सन्तति के संस्कारों को प्रभावित कर सकें। एक व्यक्ति अपनी प्रवृत्ति से दूसरे की प्रवृत्ति को, अपनी रुचि से दूसरे की रुचि को, अपनी दिशा से दूसरे की दिशा को, अपने संस्कारों से दूसरे के संस्कारों को बदल सकता है। इस बात को मानने में संस्कारों को न मानने वालों को भी कोई कठिनाई नहीं हो सकती। इसी में संस्कार-पद्धति द्वारा नव-निर्माण का रहस्य छिपा हुआ है।

जो लोग आत्मा के जन्म-जन्मान्तर नहीं मानते, कर्मों का बखेड़ा नहीं मानते, सिर्फ़ इसी जन्म को मानते हैं, उनके लिए यह सारी समस्या बड़ी सरल है। उनके लिए समस्या 'वंश-परम्परा' और 'पर्यावरण' तक सीमित रह जाती है। जैसे माता-पिता होंगे, जैसी पर्यावरण में बच्चे रखे जायेंगे, वैसे वे बनते जायेंगे। इन लोगों के लिए यह समस्या इतनी सरल है कि इस सरलता के कारण ही इनका नव-मानव के निर्माण की तरफ़ कोई ध्यान नहीं। कर्म तथा जन्म-जन्मान्तर मानने वाली आर्य-संस्कृति के लिए तो एक विकट समस्या थी। कर्म एक इतनी बड़ी रुकावट थी जिससे मानव-समाज एक क़दम भी आगे नहीं बढ़ सकता था। इस रुकावट को देख कर आर्य-संस्कृति की चेतना ने मानव के निर्माण के एक बिलकुल नये विचार को जन्म दिया, और संस्कारों की एक ऐसी प्रथा को प्रचलित किया जिसका उद्देश्य ही मनुष्य-समाज को लगातार बदल कर ऊँचे-ऊँचे ले जाना था। नये समाज के लिए *नया मनुष्य* बनाना होगा, मनुष्य-समाज तब बदलेगा जब एक-एक मनुष्य बदलेगा, एक-एक मनुष्य तब बदलेगा जब उसके निर्माण के समय पहले नक्शा खींच कर, नक्शा सामने रख कर उसका निर्माण होगा। जैसे मकान बनाया जाता है, मकान बनाने से पहले उसकी रूप-रेखा खींची जाती है, एक-एक ईंट, एक-एक पत्थर उस रूप-रेखा के अनुसार चिना जाता है, ऐसे ही जब मानव के निर्माण की पहले रूप-रेखा बनेगी, उस रूप-रेखा के अनुसार ही जब उसकी रचना होगी, तब यह संसार एक नया संसार होगा, ये मनुष्य नये मनुष्य होंगे। आर्य-संस्कृति के संस्थापकों का संस्कारों की प्रणाली को प्रचलित करने में मनुष्य को रूपान्तरित करने का यह स्वप्न था।

५. सोलह संस्कार (जन्म लेने से पहले के संस्कार)

मनुष्य को बिलकुल बदल देने, आमूलचूल उसमें परिवर्तन कर देने का जो प्रयास आर्य-संस्कृति में किया गया था उसमें दो-चार नहीं, सोलह संस्कार थे।

संस्कार आत्मा के जन्म धारण करने से पहले शुरू हो जाते थे। कुछ जन्म ग्रहण करने से पूर्व के संस्कार थे, कुछ जन्म लेने के बाद के। सब से पहला संस्कार 'गर्भाधान' संस्कार था, वह संस्कार जिसे आज का जड़वादी जगत् विषय-तृप्ति का साधनमात्र समझता है। इस संस्कार को आर्य-संस्कृति नवीन आत्मा के आवाहन का एक पवित्र यज्ञ समझती थी। जीवन की साधना एक उद्देश्य से थी। किस प्रकार अपने से ऊँचे, अपने से श्रेष्ठ आत्मा को जीवन में निमन्त्रित किया जाय, ऐसे आत्मा को जो संसार को पहले से आगे ले जाये। फिर जब दूसरे-तीसरे महीने यह पता चल जाता था कि गर्भ रह गया है, तब 'पुंसवन' संस्कार होता था। पुंसवन संस्कार के समय माता को सम्बोधन करके कहा जाता था—'आ वीरो जायतां पुत्रस्ते दशमास्यः'—दस मास तेरी कोख में रह कर तेरा पुत्र वीर उत्पन्न हो। जीवन के प्रारम्भ से ही माता अपने प्रबल, सशक्त विचारों से, अपनी वेगवती संस्कारों की धारा से अपने पुत्र को जीवन की दिशा देने लगती थी। पुंसवन-संस्कार तब होता था जब बालक के भौतिक-शरीर का निर्माण होने लगता था। जब उसके मानसिक-शरीर का निर्माण प्रारम्भ होता था तब 'सीमन्तोन्नयन' संस्कार किया जाता था। माता के बाल संवारे जाते थे, उसे अपने सिर का, मस्तिष्क का विशेष ध्यान रखने को कहा जाता था। माता के सम्मुख घी का कटोरा रखकर पिता पूछता था—'किं पश्यसि'—इस कटोरे में क्या देखती हो? माता कहती थी—'प्रजां पश्यामि'—मैं इसमें अपनी सन्तान को देखती हूँ। दिन-रात अपनी सन्तान के निर्माण में माता लीन रहती थी। इन नौ-दस महीनों को माता एक ही ध्यान में बिताती थी। उसे एक ऐसी सन्तान को जन्म देना है जिसे वह जो चाहे बना सकती है। उसके गर्भ में वह जो-कुछ बन गया फिर उसे बदलना असम्भव हो जायगा। इस समय वह एक ऐसी मशीन में पड़ गया है जिसमें उसके 'कारण-शरीर' को पकड़ कर, अपने संस्कारों के ढाँचे में उसके संस्कारों को ढाला जा सकता है। आत्मा का 'कारण-शरीर' में बँध जाना, 'कारण-शरीर' का माता-पिता के रज-वीर्य में बँध जाना, माता-पिता के अंग-अंग से ही आत्मा का इस जन्म में आ सकना, इसके बिना न आ सकना—ये सब बातें माता-पिता के हाथ में एक ऐसा साधन दे देती हैं जिससे वे सन्तान को जो चाहें बना सकते हैं। अमेरिका के प्रेसीडेंट गारफ़ील्ड का घातक गीटू जब पेट में था तब उसकी माता गर्भपात की औषधियाँ खाकर उसे गिराना चाहती थी, वह न गिरा परन्तु माता के संस्कारों ने उसे हत्यारा बना दिया। नैपोलियन की माता जब गर्भवती थी तब नित्य फ़ौजों की कवायद देखने जाती थी। सैनिकों के जोशीले गीतों को सुन कर उसके हृदय में जो प्रबल लहरें उठी थीं उन्होंने नैपोलियन को नैपोलियन बना दिया। प्रिंस बिस्मार्क जिस माता के गर्भ में था वह अपने घर के द्वार पर लगे हुए नैपोलियन की सेना के तलवारों के चिह्नों को जब देखा करती थी, उस समय उसके हृदय में फ्रांस से बदला लेने की इच्छा प्रबल हो उठती थी। इन संस्कारों के वेग ने फ्रांस से बदला लेने वाला बिस्मार्क पैदा कर दिया। गर्भावस्था की दस महीने की

मशीन इतनी जबर्दस्त है, इस समय बालक पर डाले गये संस्कार इतना वेग रखते हैं कि जन्म-जन्मान्तर के संस्कार उसके सम्मुख ढीले पड़ जाते हैं। तभी कहा गया है कि मनुष्य-जन्म एक दुर्लभ जन्म है। जीवन का काँटा इस समय बदल गया तो बदल गया, नहीं तो कहने वाले कहते थे कि फिर चौरासी लाख योनियों का चक्कर काटना पड़ेगा। इसका यह मतलब नहीं कि कोई गिनी-गिनाई चौरासी लाख योनियाँ हैं। इसका अभिप्राय इतना ही है कि मनुष्य-जीवन यों ही हाथ से खो देने की चीज नहीं। यह मिला है, तो किसी काम के लिए, जीवन का निर्माण करने के लिए। नव-जीवन के निर्माण का काम गर्भ में आते ही शुरू हो जाता है। उस समय माता का हाथ विश्वकर्मा का हाथ है। वह जो चाहे कर सकती है। जन्म लेने से पूर्व, जब तक बालक माता के पेट में रहता है, तब तक वह संस्कारों की पूरी चोट देती रहे, पुराने संस्कारों को बदल कर, उनका वेग कम करके, नय सजीव संस्कारों का वेग बढ़ा दे, बालक के 'कारण-शरीर' में, जो माता-पिता के भौतिक-शरीर में से गुजर रहा है, अपनी ऐसी पुट चढ़ा दे, ऐसी जाग लगा दे कि बालक कुछ-का-कुछ बन जाय---यह उद्देश्य है 'गर्भाधान', 'पुंसवन' तथा 'सीमन्तोन्नयन' संस्कारों का---उन तीन संस्कारों का जो तब किये जाते हैं, जब सन्तान ने जन्म नहीं लिया होता, अभी वह माता-पिता के शरीर का ही अंग होती है, उन्हीं का हिस्सा होती है, एक अर्थ में वही होती है। नव-मानव के निर्माण का यही समय है। संसार की माताएँ इस रहस्य को समझ जायँ तो एक नया मानव नहीं, एक नया समाज उत्पन्न हो जाय।

६. सोलह संस्कार (जन्म लेने के बाद के संस्कार)

इसके बाद वे संस्कार आते हैं जो जन्म लेने के बाद के हैं। बच्चे के जन्म लेते ही सोने की शलाका से उसकी जीभ पर 'ओ३म्' लिखा जाता है, कान में 'वेदोऽसि' कहा जाता है, 'अश्मा भव---परशुर्भव' आदि मन्त्र उच्चारण किये जाते हैं। यह 'जात-कर्म' संस्कार है। उत्पन्न होते ही उसे ऐसे संस्कारों से घेर दिया जाता है जो उसके 'व्यक्तित्व' के निर्माण के लिये आवश्यक हैं। इन सब क्रियाओं का मुख्य अभिप्राय यही है कि जिन माता-पिता के हाथ में अब बालक के व्यक्तित्व के निर्माण का कार्य है उन्हें हर समय अपने कर्त्तव्य का ध्यान रखना है। जन्म के ११वें या १०१वें दिन 'नाम-करण' संस्कार का समय है। यह नाम यों ही पुकारने मात्र के लिए नहीं रखा जाता। 'जात-कर्म' के समय माता-पिता ने एक संकल्प किया था। यह सोचा था कि उनके ऊपर एक महान् उत्तरदायित्व आ पड़ा है। जो आत्मा उनके घर आया है उसके व्यक्तित्व-निर्माण में उन्होंने कोई कोर-कसर नहीं रख छोड़नी है। अब 'नामकरण'-संस्कार के समय वे उस संकल्प को स्थूल-रूप देते हैं, बालक के सामने जीवन में जैसा लक्ष्य रखना चाहते हैं वैसा नाम उसे देते हैं। नाम रख देने का अभिप्राय है जीवन में सदा के लिए, जाने-अनजाने, एक विशेष प्रकार का संस्कार डालते रहना। 'सत्य-स्वरूप' नाम वाला अगर झूठ बोले तो अपने नाम से उसे स्वयं शर्म आये, 'प्रेम-सागर' कहाने वाला अगर लड़े-

झगड़े तो उसका नाम ही उसे झिड़क दे। इन दो संस्कारों के बाद चौथे मास में 'निष्क्रमण', छठे मास में 'अन्न-प्राशन', तीसरे वर्ष में 'चूड़ाकर्म', पाँचवें वर्ष में 'कर्णवेध' संस्कार किये जाते हैं। ये सब स्वास्थ्य की दृष्टि से किये जाते हैं ताकि शुरू-शुरू में माता-पिता का बालक के शरीर की तरफ़ ध्यान रहे। जब बालक की पढ़ने-लिखने की उम्र हो जाये, तब 'उपनयन'-संस्कार किया जाता है। 'उप' का अर्थ है, समीप, 'नयन' का अर्थ है, ले जाना—तब बालक को गुरु के समीप ले जाते हैं। आर्य-संस्कृति में प्रत्येक बालक का उपनयन-संस्कार आवश्यक है, इस संस्कृति में गुरु-शिष्य का प्रगाढ़ सम्बन्ध हो जाना जीवन के कार्य-क्रम का आवश्यक हिस्सा है। शिष्य गुरु को कहता है—'ब्रह्मचर्यमागाम् उप मा नयस्व'—मैं ब्रह्मचर्य धारण करने के लिए आपके पास आया हूँ, मुझे अपने निकट रखिये! आर्य-संस्कृति में बालक गुरु के पास रहता था, दिन-रात उसी के आश्रम में जीवन बिताता था, और उसका इन दिनों का मुख्य लक्ष्य ब्रह्मचर्यपूर्वक विद्याध्ययन था। 'उपनयन'—अर्थात् बालक को शिक्षक के बिलकुल नजदीक ले आना, गुरु-शिष्य का निकट-तम सम्बन्ध, पिता-पुत्र का-सा सम्बन्ध संस्कारों की पद्धति का आवश्यक हिस्सा था। जैसे माता नौ मास तक बच्चे को गर्भ में धारण करती है, दिन-रात उसके निर्माण में लगी रहती है, वैसे आचार्य बालक को विद्या-माता के गर्भ में धारण करता है, दिन-रात उसके निर्माण में लगा रहता है। इसी आशय को अथर्ववेद में कहा है—'आचार्य उपनयमानो ब्रह्मचारिणं कृणुते गर्भमन्तः। तं रात्रीस्तिस्र उदरे बिभर्ति तं जातं द्रष्टुम् अभि सं यन्ति देवाः।' आज हम भिन्न-भिन्न शिक्षा-प्रणालियों को जन्म दे रहे हैं, परन्तु सब प्रणालियों की आधार-भूत शिक्षा-प्रणाली सिर्फ़ एक है—और वह है गुरु तथा शिष्य का पिता-पुत्र का-सा सम्बन्ध। इस सम्बन्ध का नाम ही आर्य-संस्कृति में 'गुरुकुल-शिक्षा-प्रणाली' था। 'गुरुकुल'—शब्द का आधारभूत तत्त्व है 'कुल'। गुरु तथा शिष्य में 'कुल' की भावना, पिता-पुत्र के-से सम्बन्ध को जगाना—यही सब शिक्षा-प्रणालियों का आधार-भूत तत्त्व है। यह सम्बन्ध नहीं तो नवीन-से-नवीन शिक्षा-प्रणाली बेकार है, यह सम्बन्ध है तो पुरानी-से-पुरानी बेकार शिक्षा-प्रणाली भी बहुत भारी काम दे जाती है। 'उपनयन' और 'गुरुकुल' एक खास भावना के प्रतीक हैं। गुरु कैसा हो? जैसे माता-पिता पुत्र को बनाने में लगे रहते हैं, उनका पुत्र से निकट-से-निकट का सम्बन्ध होता है, वैसे गुरु शिष्य को अपना पुत्र समझ कर उससे निकट-से-निकट का सम्बन्ध स्थापित करे—यही 'उपनयन' और 'गुरु-कुल' इन शब्दों के एक-एक अक्षर का अर्थ है। आर्य-संस्कृति की शिक्षा के इस आधार-भूत तत्त्व को आजकल की किस शिक्षा-पद्धति में स्थान दिया गया है? 'उपनयन-संस्कार' के साथ-साथ एक दूसरा संस्कार होता था जिसका नाम 'वेदारंभ' था। वेदारंभ का अर्थ है, वेदाध्ययन के प्रारम्भ करने का संस्कार। इस संस्कार के समय बालक को कहा जाता था—"आज से तू ब्रह्मचारी है। शुद्ध रहने के लिए जल का भरपूर सेवन करते रहना। कभी ठाली मत बैठना, काम में लगे रहना। आलसी मत होना, दिन को मत सोना।

आचार्य के आधीन रह कर विद्याभ्यास करना, आज्ञा का उल्लंघन न करना। एक-एक वेद का बारह वर्ष पर्यन्त अभ्यास करते हुए ४८ वर्ष तक विद्याभ्यास करने को अपना लक्ष्य बनाना। आचार्य भी अगर बुरी बात कहे तो मत मानना। क्रोध और अनृत को त्याग देना। अष्ट-प्रकार के मैथुन की तरफ़ ध्यान न जाने देना। कठोर भूमि पर शयन करना। गाना-बजाना, तेल लगाना—ये सब तेरे लिए वर्जित हैं। किसी बात में अति न करना—अति स्नान, अति भोजन, अधिक निद्रा, अधिक जागरण, निन्दा, लोभ, मोह, भय, शोक को छोड़ देना। रात के चौथे पहर में जाग कर, शौच से निवृत्त होकर, दातुन करना, फिर स्नान, सन्ध्या, ईश्वर-स्तुति, प्रार्थना और योगाभ्यास करना। हजामत मत करना। मांस, रूखा भोजन और मद्य-पान न करना। बैल, घोड़ा, हाथी, ऊँट की सवारी न करना। शहर में मत रहना, जूता और छत्री मत धारण करना। बिना इच्छा से या इच्छापूर्वक कभी वीर्य-स्खलन न होने देना, वीर्य की रक्षा करके ऊर्ध्वरेता बनना। तेल मलना, उबटन लगाना, अति खट्टा, अति तीखा, कसैला, क्षार, लवण और रेचक पदार्थों का सेवन न करना। आहार-विहार की सीमा में रहते हुए नित्य विद्या-ग्रहण में यत्नवान् रहना। सुशील बनना, थोड़ा बोलना, सभ्यता सीखना। मेखला और दण्ड का धारण, भिक्षाचरण, अग्निहोत्र, स्नान, सन्ध्योपासन, आचार्य का प्रियाचरण, सायं-प्रातः आचार्य को नमस्कार, विद्या-संचय, इन्द्रियों का संयम—ये तेरे नित्य के काम हैं।'' यह उपदेश क्या है, आर्य-संस्कृति का निचोड़ है। जिस प्रकार आज हमारे विद्यार्थियों के जीवन में विलासिता बढ़ रही है, और उस विलासिता का जो दण्ड हमारा समाज भोग रहा है, उसे देखते हुए उन ऋषियों के चरणों में बरबस सिर झुक जाता है जिन्होंने विद्यार्थी के सामने विद्याध्ययन करने के दिन ही ये उच्च आदर्श रखे थे। आज का बालक गली-मोहल्लेवाले दूसरे साथियों से आचार की शिक्षा-दीक्षा लेता है, आर्य-संस्कृति में गुरु का काम सिर्फ़ विद्या पढ़ा देना ही नहीं था, एक सदाचारी व्यक्ति तैयार कर देना था। गुरु के आश्रम में तपस्या का जीवन व्यतीत करने के बाद 'समावर्तन'-संस्कार होता था। इस समय स्नातक को पगड़ी-दुपट्टा पहनाया जाता था, उसकी हजामत होती थी, शीशा-कंघी, तेल दिया जाता था। तपश्चर्या के बाद सांसारिक जीवन व्यतीत करने की आज्ञा दी जाती थी, और गृहस्थाश्रम में प्रवेश के समय 'विवाह'-संस्कार होता था। विवाह के समय मधुपर्क, गोदान, शिलारोहण, सप्तपदी, ध्रुव-दर्शन—ऐसी-ऐसी क्रियाएँ होती थीं जो गृहस्थी को आत्म-विकास के लक्ष्य के साथ बाँधे रखती थीं। गृहस्थाश्रम में भी टिकने की आज्ञा नहीं थी। 'गृहस्थस्तु यदा पश्येद् वलीपलितमात्मनः। अपत्यस्यैव चापत्यं तदारण्यं समाश्रयेत्॥'—जब गृहस्थ देख लेता था कि उसकी चलाई हुई गाड़ी चल पड़ी है, तब वह आगे चल देता था, उसका 'वानप्रस्थ'-संस्कार होता था। जीवन के इस विकासोन्मुखी कार्य-क्रम में यात्रा का अन्तिम पड़ाव 'संन्यासाश्रम' था, यह जीवन का अन्तिम संस्कार था। 'वनेषु विहृत्यैवं तृतीयं भागमायुषः। चतुर्थमायुषो भागं त्यक्त्वा संगान् परिव्रजेत्॥'—जीवन का

तीसरा हिस्सा वानप्रस्थ में बिताकर, चौथे हिस्से को, सब संग छोड़ कर, संन्यासी होकर बिताये। उस समय संन्यासी कहता था—'पुत्रैषणा वित्तैषणा लोकैषणा मया परित्यक्ता। मत्तः सर्वभूतेभ्यः अभयमस्तु'—मैंने सब एषणायें छोड़ दीं, न मुझे पुत्र की कामना है, न वित्त की, न मान-प्रतिष्ठा की। इन एषणाओं में पड़ कर ही तो मनुष्य मनुष्य का शत्रु बनता है। अब मुझ से किसी को भय खाने की जरूरत नहीं। मैं सब का, सब मेरे—यही भावना मेरे जीवन का आधार बन गई है। इस प्रकार दिन-रात विश्व के कल्याण में आयु के बचे हुए, एक-चौथाई हिस्से को बिता कर जब जीवन समाप्त हो जाता था तब अन्तिम संस्कार—'अन्त्येष्टि'-क्रिया होती थी, और तब जाकर यह आत्मा संस्कारों की उस जकड़न में से छूटता था जिसमें आर्य-संस्कृति ने इसे इस जन्म में बाँध रखा था।

उन लोगों का जीवन के प्रति कितना व्यापक, गहरा और गम्भीर दृष्टिकोण था जिन्होंने मनुष्य-जीवन को सोलह संस्कारों में बाँधा हुआ था। इन सोलह संस्कारों में तेरह संस्कार उस आयु में होते थे जिस समय संस्कारों द्वारा मनुष्य ढल सकता है। आज हम दो संस्कार करते हैं—विवाह-संस्कार जीते समय, अन्त्येष्टि संस्कार मरते समय। आर्य-संस्कृति मनुष्य-जीवन को एक महान् अवसर समझ कर चली थी, और इस अवसर का लाभ उठा कर संस्कारों की प्रक्रिया द्वारा नव-मानव के निर्माण का स्वप्न लेती थी। आज के युग में भी यह स्वप्न मानव-समाज को उतनी ही प्रेरणा और स्फूर्ति दे सकता है जितनी यह किसी समय प्राचीन भारत के भाग्य का निर्माण करने वालों को देता था, सिर्फ़ उस दृष्टि के खुल जाने की आवश्यकता है जिस दृष्टि से ऋषि-मुनियों ने जीवन की समस्या में दिनोंदिन विकास के मार्ग पर आगे-आगे बढ़ते हुए 'आत्म-तत्त्व' को देख कर नव-मानव के निर्माण की महान् योजना को जन्म दिया था।

२६

हिन्दू-विवाह-सम्बन्धी समस्याएँ—तलाक

(PROBLEMS CONNECTED WITH HINDU MARRIAGE—DIVORCE)

१. तलाक (विवाह-विच्छेद) की परिभाषा

विवाह का उद्देश्य परिवार को एक सफल संस्था बनाना है, परन्तु अगर कोई स्त्री-पुरुष, जो विवाहित हो चुके हैं, यह अनुभव करें कि उनका विवाह असफल रहा, तो वे क्या करें ? इसका रास्ता यही है कि वे अलग हो जायें। अलग हो जाना दो तरह का हो सकता है—'परित्याग' (Desertion) तथा 'पृथक्ता' (Separation)। 'परित्याग' का अर्थ है—एक-दूसरे को छोड़ देना। इसमें कानून की जरूरत नहीं पड़ती। पत्नी ने पति को या पति ने पत्नी को छोड़ दिया—बस, 'परित्याग' हो गया। ग़रीब लोगों में यही प्रथा चलती है। 'परित्याग' में विवाह बना रहता है, वह कानून की दृष्टि से नहीं टूटता। 'पृथक्ता' का अर्थ है—विवाह-सम्बन्ध को कानूनी तौर पर तोड़ देना। जिस लड़के-लड़की का विवाह हुआ है, उस विवाह-सम्बन्ध में कहीं कोई भारी ग़लती हो रही है, अब यह अपने उद्देश्य को पूर्ण नहीं कर रहा, यह समझ कर उस ग़लती को कानूनी तौर पर इस प्रकार दूर कर देना जिससे चाहें तो दूसरा विवाह कर सकें—इस प्रक्रिया का नाम 'पृथक्ता' है। पति-पत्नी का वैध रूप में पृथक्करण 'पृथक्ता' कहलाता है। इसके द्वारा विवाह के सम्बन्ध समाप्त हो जाते हैं। 'पृथक्ता' के तीन रूप हैं—'अदालती अलहदगी' (Judicial separation), 'विवाह का रद्द घोषित किया जाना' (Nullity of Marriage) तथा 'विवाह-विच्छेद' या तलाक (Divorce)। हम इन तीनों पर इस अध्याय में यथास्थान प्रकाश डालेंगे।

२. तलाक तथा धर्म

विवाह दो व्यक्तियों के कानूनी तौर पर मिलने तथा तलाक उनके कानूनी तौर पर जुदा होने का नाम है, इसलिए विवाह के साथ तलाक का विचार भी जुड़ा हुआ है। जहाँ विवाह होगा वहाँ तलाक भी हो सकेगा, परन्तु ध्यान रखने की बात यह है कि हर विवाह-प्रथा के साथ तलाक की प्रथा जुड़ी हुई नहीं पायी जाती। तो क्या होता है ? जो विवाह 'स्थिर-धार्मिक-सम्बन्ध' या 'धार्मिक-संस्कार' (Sacrament) माना जाता है, उसमें तलाक नहीं हो सकता, जो विवाह 'धार्मिक-

संस्कार' न माना जाकर एक 'ठेका', एक 'साझेदारी' (Contract or Partnership) माना जाता है, उसमें तलाक हो सकता है। इस बात को कुछ अधिक समझाने की जरूरत है।

(क) विवाह अगर धार्मिक-संस्कार है तो उसमें तलाक नहीं हो सकता—धर्मशास्त्रियों की विवाह के सम्बन्ध में धारणा यह है कि यह एक धार्मिक-संस्कार है, इसे तोड़ा नहीं जा सकता। रोमन कैथोलिक ईसाई यह मानते हैं कि पति-पत्नी का सम्बन्ध परमात्मा की तरफ़ से जोड़ा जाता है। जिस सम्बन्ध को परमात्मा ने बनाया उसे मनुष्य कैसे तोड़ सकता है? हिन्दू-धर्म में भी पति-पत्नी का सम्बन्ध जन्म-जन्मान्तर का सम्बन्ध माना जाता है, इसलिए इस सम्बन्ध को तोड़ना अधार्मिक समझा जाता है। विवाह कोई लौकिक बात नहीं है, पारलौकिक, धार्मिक कृत्य है, इसलिए इस धार्मिक-सम्बन्ध में विच्छेद नहीं हो सकता। विवाह के सम्बन्ध में धार्मिक-दृष्टि से विचार करने वालों का कहना है कि व्यावहारिक-दृष्टि से भी तलाक उचित नहीं है क्योंकि विवाह विच्छेद कर देने से सन्तान के प्रति किसी की जिम्मेदारी नहीं रहती। क्योंकि हिन्दू-विवाह एक धार्मिक-संस्कार है इसलिए इसमें तलाक को स्थान नहीं है।

(ख) विवाह अगर एक प्रकार का ठेका या साझेदारी है तो उसमें तलाक हो सकता है—विवाह के सम्बन्ध में दूसरा विचार यह है कि यह स्त्री-पुरुष का एक ऐसा ठेका या एक ऐसी साझेदारी है जिसमें स्त्री अपने ऊपर बालक की परवरिश की, और पुरुष अपने ऊपर दोनों की भूख-प्यास-संरक्षा आदि की जिम्मेवारी लेता है। भूख-प्यास-संरक्षा आदि मनुष्य की आधार-भूत एषणाएँ (Basic needs) हैं। एक-दूसरे की इन 'एषणाओं' को पूर्ण करने के लिए स्त्री-पुरुष मानो एक प्रकार का सौदा करते हैं। ठेके के साथ ठेके के टूटने का भाव भी जुड़ा रहता है। अगर वे एक-दूसरे की 'आधारभूत-एषणाओं' को पूर्ण नहीं कर सकते, तो वे जुदा हो सकते हैं। तभी जिस कानून में विवाह को ठेके-जैसा समझा जाता है, उसमें विवाह-विच्छेद का, तलाक का भी स्थान रहता है। क्योंकि हिन्दू-विवाह एक धार्मिक-संस्कार है, ठेका या साझेदारी नहीं, इसलिए इसमें तलाक को स्थान नहीं है।

३. तलाक तथा हिन्दू-धर्मशास्त्र

हिन्दुओं में विवाह एक धार्मिक-संस्कार रहा है, यह जन्म-जन्मान्तर का सम्बन्ध है, इसलिए साधारण तौर पर हिन्दू-शास्त्रों में तलाक का स्थान नहीं है। परन्तु स्मृतिकार समय-समय की आवश्यकता को देख कर नियम बदलते रहे हैं, और जिस समय उन्होंने यह देखा कि विवाह मानव-जीवन में सुख की जगह दुःख का कारण बनने लगा है उस समय उन्होंने विशेष-विशेष परिस्थिति में से पति-पत्नी को निकालने के लिए नियोग तथा विवाह-विच्छेद का विधान किया। असल में, जैसा हम पहले भी लिख आये हैं, स्मृतियों में दोनों प्रकार की बातें पायी जाती हैं, और क्योंकि स्मृतियों का समय संक्रान्ति-काल या संधि-काल था,

इसलिए दो परस्पर-विरोधी विचारों का उस समय होना स्वाभाविक था। विवाह-विच्छेद का न होना तो इसी बात से स्पष्ट है कि स्मृतियों में पत्नी के लिए पति को ईश्वर मान कर पूजने का आदेश दिया गया है। यहाँ की परम्परा इस बात को सिद्ध करती है कि पति कैसा ही क्यों न हो उसका त्याग धर्म-विरुद्ध है।

परन्तु यह समझना कि हिन्दू-धर्मशास्त्र या यहाँ की परम्परा किसी भी परिस्थिति में विवाह-विच्छेद की आज्ञा नहीं देती थी, ग़लत है। किन्हीं-किन्हीं अवस्थाओं में विवाह-विच्छेद होता था और इन्हें आपत्काल की अवस्था समझा जाता था। उदाहरणार्थ, महाभारत तथा पुराण काल में नियोग की प्रथा का उल्लेख पाया जाता है। 'नियोग' का अर्थ है—पति के जीवित रहते उसके देर तक विदेश में रहने या पुत्रोत्पादन में असमर्थ रहने पर अन्य पुरुष से सन्तान उत्पन्न करना। शुरू-शुरू में विवाह का उद्देश्य सन्तान उत्पन्न करना ही था, इसलिए था क्योंकि उस समय जन-संख्या थोड़ी थी, हर गृहस्थ को अपना हाथ बँटाने के लिए पुत्र-पौत्रों की आवश्यकता पड़ती थी। राजा को राजगद्दी आगे चलाने के लिए, साधारण-गृहस्थ को अपनी गृहस्थी का काम-काज चलाने के लिए सन्तान की आवश्यकता प्रतीत होती थी। इसलिए जिन पति-पत्नी के सन्तान नहीं होती थी उनके लिए 'नियोग' की संस्था को हिन्दू-समाज ने जन्म दिया, इसलिए जन्म दिया ताकि सन्तान भी हो जाय और पति-पत्नी का जन्म-जन्मान्तर का धार्मिक-सम्बन्ध भी बना रहे। आखिर, प्रत्येक सामाजिक-संस्था समाज की किसी-न-किसी समस्या को हल करने के लिए बनाई जाती है। उस समय की समस्या ही सन्तान की थी इसलिए उस समय ऐसी संस्था का ही आविष्कार किया गया जिसका उद्देश्य सन्तान था। 'नियोग' का उद्देश्य सन्तानहीन पति-पत्नी को सन्तान देने के सिवाय अन्य कुछ नहीं था। यह सम्भव है कि आगे चलकर जब 'नियोग' की प्रथा को ठीक न समझा जाने लगा तब 'विवाह-विच्छेद' की प्रथा का प्रचलन हुआ। पति जीता हो और स्त्री अन्य किसी से सन्तान पैदा करे—यह अच्छा भी तो नहीं लगता। इस काल में यह उचित समझा गया कि जब दूसरे व्यक्ति से सन्तान पैदा करनी है तब उसी को पति क्यों न बनाया जाय। इस दृष्टि से हम महाभारत तथा पुराण काल को पूर्व-कालीन-धर्मशास्त्र तथा स्मृति-ग्रन्थों को उत्तर-कालीन-धर्मशास्त्र कहेंगे। हमारा कथन यह है कि पूर्व-कालीन-धर्मशास्त्रों में 'नियोग' तथा उत्तर-कालीन-धर्मशास्त्रों में 'विवाह-विच्छेद' की हिन्दू-शास्त्रों में अनुमति दी गई है।

(क) पूर्वकालीन-धर्मशास्त्रों में 'नियोग' की आज्ञा—महाभारत (अनुशासन पर्व, अध्याय ४४) में लिखा है कि पति के मर जाने पर स्त्री अगर ब्रह्मचर्य-पूर्वक न रह सके तो वह देवर से सन्तानोत्पत्ति कर सकती है। महाभारत (आदि-पर्व, अध्याय १०३) में लिखा है कि सत्यवती ने अपने पुत्र विचित्रवीर्य की बिना सन्तान मृत्यु हो जाने पर उसके भाई भीष्म को विचित्रवीर्य की स्त्रियों से 'नियोग' करने का आदेश दिया, परन्तु क्योंकि भीष्म प्रतिज्ञा कर चुका था कि वह विवाह नहीं करेगा ताकि उसकी कोई सन्तान न हो इसलिए उसने नियोग करने से मना कर

दिया। जब भीष्म ने विचित्रवीर्य की स्त्रियों से नियोग करने से इन्कार कर दिया तब महर्षि व्यास के साथ उन्होंने नियोग किया जिससे पांडु आदि पुत्र हुए। महाभारत में[1] (आदिपर्व, अध्याय १०४) लिखा है कि जामदग्न्य परशुराम क्षत्रियों का कत्ले-आम कर रहे थे परन्तु क्षत्रिय नष्ट नहीं हुए क्योंकि क्षत्रिय-पत्नियां ब्राह्मणों से नियोग करके क्षत्रिय-सन्तानों को उत्पन्न करती रहती थीं।

(ख) उत्तरकालीन-धर्मशास्त्रों में 'विवाह-विच्छेद' की आज्ञा—महाभारत में तो 'नियोग' का विधान है, इसके दृष्टान्त भी वहां दिये गये हैं, परन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि आपत्काल की इस विधि को उत्तर-काल के धर्मशास्त्रों ने कुछ अच्छा न समझा और इसके स्थान में विशेष-विशेष आपत्कालीन अवस्थाओं में सीधे विवाह-विच्छेद की आज्ञा दे दी। हिन्दू-परम्परा के अनुसार कलियुग में पराशर-स्मृति प्रामाणिक मानी जाती है—'कलौ पाराशरी स्मृतिः'—और इस तथा मनुस्मृति[2] में विधवा-विवाह का ही विधान नहीं है, अपितु पति के जीवित रहते अगर वह गुम हो गया है, उसका देर से कोई समाचार नहीं मिलता, अगर उसने संन्यास ले लिया है, नपुंसक है या पतित है, तब भी उसके साथ हुए विवाह को समाप्त समझ कर उसकी पत्नी दूसरा विवाह कर सकती है। अग्नि-पुराण (अध्याय १५४) में भी यह श्लोक ऐसे-का-ऐसा पाया जाता है।

नारदीय मनुसंहिता (१२–३२) में 'विवाह-विच्छेद' का अधिकार पति-पत्नी दोनों को दिया गया है। वहां लिखा है कि यदि कन्या के दोष को छिपा कर वर को कन्या दी जाय, तो वर कन्या को त्याग देवे और वर के दोष को छिपा कर कन्या से विवाह किया जाय तो कन्या वर को त्याग देवे—इसमें कोई अपराध न होगा।[3] मनुस्मृति (९–७९) में लिखा है कि यदि स्त्री ऐसे पति से द्वेष करती है जो पागल है, धर्म का त्याग कर के पतित हो गया है, नपुंसक है, कोढ़ आदि भयंकर रोग से ग्रस्त है, तो उस स्त्री को दोष या दण्ड नहीं दिया जा सकता और उसकी सम्पत्ति भी छीनी नहीं जा सकती।[4]

१. एवं निःक्षत्रिये लोके कृते तेन महर्षिणा।
उत्पादितान्यपत्यानि ब्राह्मणैः वेदपारगैः॥
(आदिपर्व, अ० १०४, श्लोक ५)

२. नष्टे मृते प्रव्रजिते क्लीवे च पतिते पतौ।
पञ्चस्वापत्सु नारीणां पतिरन्यो विधीयते॥ (पराशर, ४,३०)
पत्यौ प्रव्रजिते नष्टे क्लीवेऽथ पतिते मृते।
पञ्चस्वापत्सु नारीणां पतिरन्यो विधीयते। (मनु०, १२-९९)

३. यस्तु दोषवतीं कन्याम् अनाख्याय प्रयच्छति।
दोषे तु सति नागः स्याद् अन्योन्यं त्यजतोस्तयोः॥
(नारदीय मनुसंहिता, १२-३२)

४. उन्मत्तं पतितं क्लीवम् अबीजं पापरोगिणम्।
न त्यागोऽस्ति द्विषन्त्याश्च न च दायापवर्तनम्॥ (मनु०, ९-७९)

कौटिल्य-अर्थशास्त्र में विवाह-विच्छेद के लिए 'मोक्ष'-शब्द का प्रयोग किया गया है। इस अर्थ-शास्त्र के धर्मस्थीय अधिकरण (३।४।१९) में लिखा है--'परस्परं द्वेषान्मोक्षः'--अर्थात् अगर पति-पत्नी एक-दूसरे के प्रति द्वेष-भाव रखते हों तो उन्हें एक-दूसरे से मुक्त किया जा सकता है। कौटिल्य-अर्थशास्त्र में विवाह-विच्छेद के लिए व्यवस्था देते हुए लिखा है--'यदि कोई पति नीच आचार का है, परदेश गया हुआ है, राज्य का द्वेषी है, खूनी है, पतित है, नपुंसक है, तो स्त्री उसका त्याग कर सकती है।'[1]

४. तलाक के सम्बन्ध में तीन दृष्टियाँ अथवा तीन युक्तियाँ

हमने देखा कि यद्यपि हिन्दू-धर्म की आत्मा तलाक के विचार को स्वीकार नहीं करती, विवाह को एक धार्मिक-संस्कार समझती है, जन्म-जन्मान्तर का अटूट सम्बन्ध मानती है, तो भी परिस्थितियों को देख कर, आपत्काल के धर्म के रूप में इसे स्वीकार भी करती रही है। पाश्चात्य-देशों में भी इसे आपत्काल का धर्म ही समझा जाता है। सब जगह आवश्यकता पड़ने पर ही तलाक की आज्ञा दी जाती है, विवाह आदि की तरह इसका विधान नहीं किया जाता। भारत में भी तलाक के विषय में देर से इस बात की चर्चा रही है कि तलाक की आपद्धर्म के तौर पर आज्ञा दी जानी चाहिए या नहीं। आखिर, विवाह, नियोग, तलाक आदि क्या हैं? समाज की समय-समय पर समस्याएँ उत्पन्न होती रहती हैं, उन समस्याओं का समाज की तरफ़ से कभी हल 'नियोग' कहा जाता है, कभी 'विवाह-विच्छेद' कहा जाता है, कभी कुछ और कहा जाता है। 'तलाक' समाज की किसी-न-किसी समय की किसी समस्या का हल ही तो है। जब एक हल ठीक नहीं जँचता तब समाज दूसरा हल ढूंढता है। स्मृतिकारों ने 'विवाह-विच्छेद' को समाज की विवाह के असामंजस्य की समस्या का हल समझा था। धर्मशास्त्रों के अलावा तलाक पर अन्य दृष्टियों से भी विचार किया जा सकता है।

'तलाक' उचित है या नहीं--इस पर तीन दृष्टियों से विचार किया जा सकता है--धार्मिक-दृष्टि, व्यावहारिक-दृष्टि तथा लौकिक-दृष्टि। इन तीनों पर हम संक्षेप से विचार करेंगे :

(१) धार्मिक-दृष्टि--धार्मिक-दृष्टि के अनुसार, जैसा पूर्व कहा जा चुका है, विवाह में आत्माओं का सम्बन्ध परमात्मा का जोड़ा हुआ है, इसलिए इसे कोई दुनिया का कानून तोड़ नहीं सकता। हिन्दू तो यह मानते हैं कि विवाह इस जन्म का नहीं, जन्म-जन्मान्तरों का सम्बन्ध है, अतः इसे तोड़ना ईश्वरीय-विधान में हस्त-क्षेप करना है। यह दृष्टि कहाँ तक ठीक है? यह मानना पड़ेगा कि इस दृष्टि को केवल धार्मिक व्यक्ति ही मान सकता है, दूसरा नहीं। सचाई तो वह होती है, जिसे कोई माने-न-माने, वह अपने-आप में सत्य हो। आग जलाती है,

---

१. नीचत्वं परदेशं वा प्रस्थितो राजकिल्विषी।
प्राणाभिहन्ता पतितः त्याज्यः क्लीवोऽथवा पतिः।
(कौटिल्य अर्थशास्त्र, धर्मस्थीय अधिकरण, ३-२)

यह सचाई है, कोई माने-न-माने आग जलायेगी ही। अगर विवाह एक ऐसा सम्बन्ध है, जिसे परमात्मा ने बनाया है, जो जन्म-जन्मान्तरों का है, तो इसे किसी समाज के लिए तोड़ सकना असम्भव होना चाहिए। परन्तु ऐसा नहीं होता। इस सम्बन्ध को नित-नित तोड़ा जाता है, इसे तोड़ने के लिए कानून बनते हैं, समाज इस सम्बन्ध को उलटता-पुलटता रहता है, तब कैसे माना जाय कि यह ईश्वरीय विधान है? इसलिए यह कहना कि ईश्वरीय विधान होने के कारण विवाह का विच्छेद नहीं हो सकता, ग़लत है।

(२) व्यावहारिक-दृष्टि—व्यावहारिक-दृष्टि यह है कि विवाह समाज की उत्पन्न की हुई एक संस्था है। इसका उद्देश्य पति-पत्नी का एक-दूसरे की सहायता करना तथा उत्तम सन्तान उत्पन्न करना है। अगर किसी विवाह में पति-पत्नी विवाह के उद्देश्य को पूरा न करते हों, व्यभिचारी हों, असाध्य रोगों से पीड़ित हों, नपुंसक हों, अत्यन्त दीर्घ काल तक एक-दूसरे से अलग विदेश में हों, तो वह विवाह-सम्बन्ध व्यावहारिक-दृष्टि से अपने काम को पूरा नहीं कर रहा, इसलिए उसका भंग किया जा सकना सम्भव होना चाहिए। आज युरोप में प्रायः सब देशों में यही विधान है। भारत के प्राचीन स्मृतिकारों ने कहा था—'नष्टे मृते प्रव्रजिते क्लीबे च पतिते पतौ। पंचस्वापत्सु नारीणां पतिरन्यो विधीयते॥'—अगर पति का देर तक पता न चले, मर जाय, संन्यासी हो जाय, नपुंसक हो, पतित हो गया हो, तो स्त्री को अधिकार है कि वह दूसरा विवाह कर ले। यह तलाक के अधिकार की ही स्वीकृति है जो हिन्दू-शास्त्रकारों की व्यावहारिकता को सूचित करती है।

(३) लौकिक-दृष्टि—लौकिक-दृष्टि यह है कि सिर्फ़ नष्ट, मृत, प्रव्रजित, क्लीव, पतित होने पर ही नहीं, जब भी पति-पत्नी का स्वभाव न मिलता हो, उन्हें तलाक का अधिकार होना चाहिए। इस सिद्धान्त को मानने वालों का कहना है कि 'विवाह' तो एक प्रकार का इकरार है, ठेका है, एक-दूसरे के साथ रहने की स्वीकृति है, रज़ामन्दी है। जब तक दोनों साथ रहने के लिए तैयार हैं, तब तक उन्हें साथ रहना चाहिए, जब वे अनुभव करें कि अब वे साथ नहीं रह सकते, तब उन्हें अलग हो जाने की छूट होनी चाहिए। आज कल जो दिनों-दिन बढ़ता 'व्यक्तिवाद' (Individualism) है, व्यक्ति की स्वतंत्रता की दुहाई चारों तरफ़ सुनाई दे रही है, उसकी यह स्वाभाविक माँग है। यही माँग अमरीका में 'साथी-विवाह' (Companionate marriage) का रूप धारण कर रही है। 'साथी-विवाह' के पृष्ठ-पोषकों का कहना है कि जब तक बच्चे न हो जायँ, तब तक पति-पत्नी को साथ रहने की छूट देनी चाहिए, उससे पहले वे अलग होना चाहें, तो बिना कानून के झमेले में पड़े अलग हो सकें।

५. पाश्चात्य-सम्पर्क से पहले तलाक के सम्बन्ध में हिन्दुओं के विचार

हमने देखा कि हिन्दुओं की मूल-विचारधारा तलाक के पक्ष में नहीं है, परन्तु फिर भी हिन्दू-धर्मशास्त्र, महाभारत, मनुस्मृति, कौटिल्य-अर्थशास्त्र परिस्थितियों से विवश होकर आपत्काल में तलाक की आज्ञा देते रहे हैं। हमने यह

भी देखा कि धार्मिक-दृष्टि से तलाक का विरोध करना संगत नहीं है क्योंकि धार्मिक-दृष्टि का अभिप्राय यह है कि विवाह-सम्बन्ध ईश्वर का बनाया हुआ है, और अगर यह ईश्वर का ही बनाया होता तब तो कोई कानून इसका विच्छेद कर ही न सकता। कानूनों से विवाह का सम्बन्ध तोड़ा जा सकता है इसका यही अर्थ हो सकता है कि यह सम्बन्ध मनुष्य का बनाया हुआ है, समाज का बनाया हुआ है, तभी तो समाज इसे बदल सकता है। धार्मिक के अलावा व्यावहारिक तथा लौकिक दृष्टि से भी हमने देखा कि विवाह-विच्छेद युक्ति-संगत है, उचित है। यह सब-कुछ होते हुए भी, शास्त्रों तथा युक्तियों के अनुकूल होते हुए भी तलाक के सम्बन्ध में, हिन्दुओं में स्थिति क्या है? स्थिति यह है कि हिन्दू-समाज इस विचार को अपने गले के नीचे नहीं उतार सकता। जब कहा जाता है कि शास्त्र इसकी आज्ञा देते हैं तब इसका उत्तर यह दिया जाता है कि शास्त्र ही तो आज्ञा नहीं देते। अगर शास्त्र आज्ञा देते, तो विवाह का सम्बन्ध जन्म-जन्मान्तर का कैसे माना जाता। जब कहा जाता है कि युक्तियाँ इसके पक्ष में हैं तब इसका उत्तर यह दिया जाता है कि ये युक्तियाँ उन लोगों की हैं जो विवाह को भोग-विलास का साधन समझते हैं, आत्मिक-विकास का नहीं। कहने का अभिप्राय यह है कि शास्त्रों के बावजूद, युक्तियों के बावजूद हिन्दू-समाज की मूल विचारधारा, वह विचारधारा जिसके अनुसार पति-पत्नी का सम्बन्ध जन्म-जन्मान्तर का माना जाता है, प्रबल दीखता है। वह विचार प्रबल दीखता रहे तब भी किसी को कोई आपत्ति नहीं हो सकती, परन्तु उस विचार की प्रबलता के साथ-साथ हिन्दू-समाज में यह विचार भी प्रबल है कि पुरुष जो-कुछ चाहे करे, स्त्री को मारे-पीटे, स्वयं दुराचार-व्यभिचार करे, वह स्त्री के लिए ईश्वर है, देवता है, स्त्री का काम उसकी पूजा करना है, इस दिशा से विमुख होना अपने जन्म को बिगाड़ लेना है। हम लोग सकड़ों वर्षों के इतिहास में से गुजर आये हैं, इस इतिहास में स्त्री को पुरुष के समान अधिकार देने का भी समय आया, परन्तु हर युग में तान इसी बात पर ही टूटी कि पुरुष जो-कुछ चाहे कर सकता है, स्त्री की स्थिति पुरुष की दासी के रूप में ही है, अन्य किसी रूप में नहीं। अंग्रेजों के भारत में आने से पहले शास्त्रों तथा युक्तियों के बावजूद हिन्दू-समाज की विचार-धारा इसी दिशा में बह रही थी और 'तलाक' जैसी चीज का हिन्दू-सामाजिक-व्यवस्था में कोई स्थान नहीं था। स्त्री को कहा जाता था कि पति कितना ही दुःशील क्यों न हो वह स्त्री के लिए देवता-तुल्य है। शंख-स्मृति में लिखा है—'न भर्तारं द्विष्यात् यद्यपि अष्ठीवलः स्यात् पतितः अंगहीनः व्याधितो वा, पतिर्हि देवता स्त्रीणाम्'—पति कोढ़ी हो, पतित हो, अंगहीन हो, बीमार हो, स्त्री के लिए वह देवता है। मनु० (९–१५४, १५५) ने भी शंख का अनुमोदन किया था। शंख-स्मृति मिलती तो नहीं है, परन्तु इसके अन्य स्मृतियों में उद्धरण मिलते हैं।

६. तलाक-सम्बन्धी विचारों पर पाश्चात्य-प्रभाव

अंग्रेजों के भारत आने तक हिन्दू-समाज 'स्थिरता की दशा' (Static condition) में था। जो-कुछ है, चला आ रहा है, परम्परा है, सब ठीक है,

परिवर्त्तन की जरूरत नहीं। अंग्रेजों के आने के बाद अपना देश नवीन सभ्यता के, नये विचारों के, नये सामाजिक-मूल्यों के सम्पर्क में आया। समाज की स्थिरता का भंग हुआ, उसमें 'गतिशीलता' (Dynamic condition) उत्पन्न हुई, पुराने और नये का संघर्ष हुआ। इस संघर्ष का परिणाम यह हुआ कि हमारी चिर-निद्रा टूटी और हमने, विशेष तौर पर शिक्षित वर्ग के पुरुषों तथा स्त्रियों ने पुरानी सामाजिक-संस्थाओं के उचित-अनुचितपन पर सोचना शुरू किया। यह चिन्तन अंग्रेज भारत में न आते तब भी होता, इसलिए होता क्योंकि ये विचार अंग्रेजों के नहीं थे, पाश्चात्य-जगत् के थे, और पाश्चात्य-सभ्यता के सम्पर्क में हम किसी तरह भी आते, अंग्रेजों के द्वारा आते या किसी अन्य तरह आते, ये विचार हमें प्रभावित किये बग़ैर न रहते। पाश्चात्य सभ्यता तथा संस्कृति के सम्पर्क ने हमारे स्थिर तथा जड़ समाज को गतिशील बना दिया। गतिशीलता में से अनेक आन्दोलनों ने जन्म लिया। उन्हीं आन्दोलनों में से एक आन्दोलन 'तलाक' है। पाश्चात्य-सम्पर्क से 'तलाक' के विचार ने कैसे जन्म लिया?

(क) शिक्षित पुरुष-वर्ग में आन्दोलन—जहाँ अन्य क्षेत्रों में हम पाश्चात्य-विचारों से प्रभावित हुए वहाँ स्त्री की स्थिति के सम्बन्ध में भी हमने पाश्चात्य-दृष्टिकोण से सोचना शुरू किया। हमारे हिन्दू-समाज में तो सभी अधिकार पुरुष को थे, पाश्चात्य-समाज में स्त्री और पुरुष को समान अधिकार थे। जो पुरुष पढ़ गये, जिन्होंने पाश्चात्य-ग्रन्थों को पढ़ा, जो पाश्चात्य-विचारों के सम्पर्क में आये, उन्होंने सोचना शुरू किया कि क्या स्त्री के साथ उस प्रकार का बर्त्ताव जैसा हिन्दू-समाज कर रहा था, उचित था? अब तक तो हम सोचते ही न थे, इसलिए उचित-अनुचित का प्रश्न ही नहीं उठता था। अब जब सोचने लगे तब इस प्रश्न का उत्तर इसके सिवाय क्या हो सकता था कि हमें स्त्रियों के साथ वही बर्त्ताव करना होगा जो पुरुषों के साथ किया जा रहा है। बंगाल में राजा राममोहन राय तथा ईश्वरचन्द्र विद्यासागर ने इस दिशा में समाज-सुधार का आन्दोलन खड़ा कर दिया। इन्हीं विचारों को लेकर दक्षिण-भारत में जस्टिस रानाडे ने आन्दोलन किया। ये सुधारक तो पाश्चात्य-विचारधारा से प्रभावित हुए थे, परन्तु आर्यसमाज के संस्थापक ऋषि दयानन्द ने सुधार की इसी लहर को एक भिन्न दिशा दी। उन्होंने कहा कि ये सुधार इसलिए ग्राह्य नहीं हैं क्योंकि पश्चिम के लोग ऐसा करते हैं, अपने ग्रन्थों में भी स्त्री-पुरुष को समान अधिकार ही दिये गये हैं। हम पहले महाभारत, मनु-स्मृति, पराशर-स्मृति, कौटिल्य-अर्थशास्त्र आदि का उद्धरण दे आये हैं जिनमें स्त्री तथा पुरुष को समान अधिकार दिये जाने का वर्णन है। ऋषि दयानन्द ने इन सब ग्रन्थों के हवाले देना शुरू किया। इसमें सन्देह नहीं कि सुधार की लहर समय-समय पर अपने देश में उठती रही थी, अंग्रेजों के आने से पहले भी उठी थी, उसी के चिह्न धर्म-शास्त्रों से ढूंढ-ढूंढ कर ऋषि दयानन्द पेश कर रहे थे, परन्तु इसमें भी सन्देह नहीं कि वर्त्तमान-युग में सुधार की इस लहर ने पाश्चात्य-सभ्यता के सम्पर्क में आकर उग्र रूप धारण कर लिया और शिक्षित

पुरुषों की तरफ़ से स्त्री तथा पुरुषों को समान अधिकार देने की माँग उठ खड़ी हुई।

(ख) शिक्षित महिला-वर्ग में आन्दोलन—शिक्षित पुरुष-वर्ग की स्त्री-पुरुषों के समान अधिकारों की इस माँग को शिक्षित महिला-वर्ग ने पकड़ लिया। अब तक अपने देश में स्त्रियों को शिक्षा नहीं दी जाती थी। अब धीरे-धीरे लड़कियाँ लड़कों के समान शिक्षा ग्रहण करने लगीं। शिक्षिता होकर उन्होंने स्त्रियों की स्थिति पर सोचना शुरू किया। अब तक तो उन्हें शिक्षा ही नहीं दी जाती थी, वे सोचतीं क्या? उन्हें अपने चारों तरफ़ का वातावरण अनुकूल दिखाई दिया। इस सब चिन्तन के परिणाम-स्वरूप महिलाओं के अधिकारों का आन्दोलन उठ खड़ा हुआ। महिलाओं ने स्त्री तथा पुरुषों के लिए समान अधिकारों की माँग खड़ी की। यह माँग भिन्न-भिन्न क्षेत्रों में थी। स्त्रियों को पुरुषों के समान शिक्षा देनी चाहिए, स्त्रियों को पुरुषों के समान आर्थिक-क्षेत्र में प्रवेश करने का एक-सा अधिकार होना चाहिए, पुरुष स्त्री को छोड़ सकता है तो स्त्री को भी पुरुष को छोड़ने का अधिकार होना चाहिए। शिक्षित महिला-वर्ग ने भिन्न-भिन्न क्षेत्रों में स्त्री-पुरुष के समान अधिकारों का जो आन्दोलन किया उसी का एक रूप 'तलाक' का अधिकार है।

(ग) उद्योगीकरण तथा नगरीकरण—तलाक के आन्दोलन को उद्योगीकरण तथा नगरीकरण की प्रक्रिया से भी बल मिला। जो लोग छोटे-छोटे गाँवों में रहते हैं, खेती-बाड़ी करते हैं, उनकी पारिवारिक-समस्याएँ भी जटिल नहीं होतीं। इन छोटे समुदायों में रहने वाले स्त्री-पुरुष पहले तो झगड़ते नहीं, झगड़ते हैं तो इनके झगड़े बहुत नहीं उलझते, जल्दी सुलझ जाते हैं। अंग्रेज़ों ने यहाँ आकर बड़े-बड़े शहरों में मिलें लगानी शुरू कर दीं, बड़े-बड़े उद्योग खड़े कर दिये, गाँव के लोग शहरों में आकर बसने लगे। शहरों की समस्याएँ जटिल होती हैं, स्थान कम होता है, परिवार के लिए नयी-नयी समस्याएँ उठ खड़ी होती हैं, स्त्री-पुरुष के झगड़े विकट रूप धारण कर लेते हैं। जब स्त्री-पुरुष के झगड़े बहुत उलझनों में पड़ने लगें तब प्रश्न पैदा होता है कि इन उलझनों को कैसे सुलझाया जाय? सरल आर्थिक-व्यवस्था में पारिवारिक उलझनें ही इतनी नहीं होतीं कि उन्हें सुलझाने के लिए 'तलाक' जैसी तेज़ छुरी चलाई जाय, उद्योगीकरण तथा नगरीकरण की विषम आर्थिक-व्यवस्था में ही पारिवारिक उलझनें इतनी विषम हो जाती हैं, गाँठें इतनी बँध जाती हैं कि उन्हें 'तलाक' की तेज़ छुरी से ही काटा जा सकता है। तलाक के वर्तमान-युग में उग्र समस्या का रूप धारण कर लेने का एक यह भी कारण है। उद्योगीकरण तथा नगरीकरण के कारण अपने देश में ऐसी परिस्थितियाँ उत्पन्न हो रही हैं जिनके कारण पति-पत्नी को चिर-काल तक एक-दूसरे से जुदा रहना पड़ता है, इन परिस्थितियों से कई उलझनें भी पैदा हो जाती हैं, इसलिए भी तलाक की समस्या वर्तमान-युग की एक उग्र समस्या बन गई है।

७. हिन्दू-विवाह-अधिनियम—१९५५
(Hindu Marriage Act, 1955)

विवाह, एक-पत्नी-विवाह, बहु-पत्नी-विवाह, मातृ-सत्ताक-परिवार, पितृ-सत्ताक-परिवार, नियोग, तलाक—ये सब क्या हैं? ये सब समय-समय पर उत्पन्न होने वाली समाज की समस्याओं के अपने समय के हल हैं। जब इनमें से कोई हल आगे चलकर समस्या का समाधान नहीं कर सकता तब अगतिशील, स्थिर, जड़, सोया हुआ समाज तो उस हल के साथ चिपका रहता है, तब यह हल रूढ़ि कहलाने लगता है, परन्तु गतिशील, चेतन, जागृत समाज उस हल को छोड़ कर उस समस्या या नवीन समस्या का नया हल ढूंढता है। नया हल ढूंढते हुए समाज के अग्रणी लोग एक बात का ध्यान रखते हैं। वह बात क्या है? वह बात यह है कि समाज की आधारभूत तथा मौलिक अन्तरात्मा उस हल से उत्पीड़ित न होने लगे। उदाहरणार्थ, हिन्दू-समाज की आधार-भूत तथा मौलिक अन्तरात्मा की आवाज है कि विवाह एक जन्म-जन्मान्तर का सम्बन्ध है। विवाह की संस्था में समय-समय पर पति-पत्नी के बीच जो असामञ्जस्य उत्पन्न हो जाता है उसे दूर करने के लिए विवाह-विच्छेद की भी आवाज उठती रही है। इस असामञ्जस्य की समस्या का समाधान कभी नियोग, कभी सम्बन्ध-विच्छेद, कभी पुनर्विवाह आदि ढूंढा गया, परन्तु इन सब हलों को ढूंढते हुए हिन्दू-समाज के सम्मुख अपनी संस्कृति का आधारभूत विचार सदा बना रहा, यह विचार कि विवाह तो एक पवित्र, धार्मिक, सनातन, जन्म-जन्मान्तर का सम्बन्ध है। इन दोनों परस्पर-विरोधी विचार-धाराओं के समन्वय के रूप में १९५५ में 'हिन्दू-विवाह तथा तलाक अधिनियम' पारित किया गया। इस अधिनियम को बनाते हुए इस बात का ध्यान रखा गया कि कहीं तलाक हिन्दू-विवाह की पवित्रता को नष्ट न कर दे, इसे आपद्धर्म का ही रूप दिया गया, इसका विधान न करके किन्हीं संकट की अवस्थाओं में इसकी आज्ञा दी गई।

इस अधिनियम का नाम 'हिन्दू-विवाह-अधिनियम' है। इसके दो भाग हैं। एक भाग का सम्बन्ध तो 'विवाह' से है। उसके विषय में हमें यहाँ नहीं लिखना। दूसरे भाग का सम्बन्ध विवाह के भंग तथा 'तलाक' से है। उसके विषय में हमें यहाँ लिखना है और इस 'अधिनियम' के विवाह-भंग तथा 'तलाक'-सम्बन्धी हिस्से की ही हम यहाँ चर्चा करेंगे।

पति-पत्नी के एक-दूसरे से जुदा होने को इस अधिनियम में तीन भागों में बांटा है—अदालती अलहदगी या न्यायिक-पृथक्करण (Judicial separation), विवाह का रद्द किया जाना या विवाह-खंडता (Nullity of marriage) तथा तलाक या विवाह-विच्छेद (Divorce)।

[अदालती अलहदगी—Judicial separation]

इस कानून की धारा १० के अनुसार विवाह के दोनों पक्षों में से कोई भी व्यक्ति चाहे, ऐसा विवाह इस अधिनियम के लागू होने के पहले हुआ हो या पीछे,

ज़िला-अदालत को निम्न आधारों पर एक-दूसरे से अलहदा होने के लिए प्रार्थना-पत्र दे सकता है कि दूसरा पक्ष—

(क) प्रार्थी को प्रार्थना-पत्र देने के समय से, जिसकी निरन्तर अवधि दो वर्ष से कम नहीं है, छोड़ चुका है, अथवा

(ख) ऐसे ज़ुल्म या अत्याचार का दोषी हो चुका है कि जिसके फलस्वरूप प्रार्थी उक्त पक्ष के साथ रहने के लिए भयभीत है, अथवा

(ग) प्रार्थना-पत्र प्रस्तुत करने के एक वर्ष पहले से भयानक प्रकार के कुष्ठ-रोग से पीड़ित है, अथवा

(घ) प्रार्थना-पत्र प्रस्तुत करने के ठीक पहले तक यौन-रोगों से पीड़ित है, ऐसे यौन-रोग जो दूसरे को लग सकते हैं, और ये रोग दूसरे पक्ष को प्रार्थी से नहीं लगे, अथवा

(ङ) प्रार्थना-पत्र प्रस्तुत करने के दो वर्ष पहले से लगातार दो वर्ष से लगातार विक्षिप्त चित्त का है, अथवा

(च) विवाह होने के बाद किसी दूसरे व्यक्ति से यौन-सम्बन्ध करता है।

जब अदालत की तरफ़ से किसी पक्ष के हक में अलहदगी का फ़ैसला हो जाय तब प्रार्थी को दूसरा पक्ष यौन-सम्बन्ध के लिए बाधित नहीं कर सकेगा। अगर परिस्थितियाँ बदल जायें और दोनों पक्ष फिर से वैवाहिक-सम्बन्ध करना चाहें, तो अदालत में प्रार्थना-पत्र देकर अपने पहले के-से सम्बन्धों को जारी कर सकते हैं।

अदालती-अलहदगी के विषय में हमने जो-कुछ लिखा उससे स्पष्ट है कि अदालती-अहलदगी का अर्थ तलाक नहीं है। अदालती-अलहदगी से विवाह-सम्बन्ध नहीं टूटता, विवाह बना रहता है। यह एक प्रकार से दोनों पक्षों को सारी स्थिति पर एक-दूसरे से स्वतंत्र होकर अपने वैवाहिक-जीवन पर विचार करने का समय देना है। अगर दो वर्ष तक अदालती-अलहदगी बनी रहे, उसके बाद भी पति-पत्नी एक-दूसरे के साथ यौन-सम्बन्ध करने को उद्यत न हों, तब वे तलाक के लिए अदालत को प्रार्थना-पत्र दे सकते हैं। तलाक हो जाने के बाद तो फिर उनका परस्पर का किसी प्रकार का सम्बन्ध हो नहीं सकता, तब तो विवाह ही टूट जाता है, अदालती-अलहदगी में विवाह नहीं टूटता।

[विवाह का रद्द किया जाना—Nullity of Marriage]

इस कानून की धारा ११ के अनुसार इस अधिनियम के लागू होने के बाद अगर कोई ऐसा विवाह होता है जिसमें विवाह के समय पत्नी का दूसरा पति या पति की दूसरी पत्नी जीवित है, अगर दोनों पक्षों में से कोई पक्ष निषिद्ध रिश्ते की कोटि का है (भाई-बहन, चाचा-भतीजी, फूफी-भतीजा, भाइयों तथा बहनों की सन्तान आदि), अगर विवाह करने वालों का आपस में सपिंड रिश्ता है (पिता की पाँच और माता की तीन पीढ़ियों का रिश्ता इस कानून में सपिंड रिश्ता माना

गया है), तो दोनों पक्षों में से किसी एक के अदालत में प्रार्थना-पत्र प्रस्तुत करने पर वह विवाह खंडित, निस्सत्व, अर्थात् हुआ ही नहीं--यह घोषित कर दिया जायगा।

इस कानून की धारा १२ के अनुसार कोई भी विवाह चाहे वह इस अधिनियम से पहले हुआ हो या बाद में हुआ है, विवाह नहीं समझा जायगा, रद्द समझा जायगा, खंडित या निस्सत्व (Void) घोषित कर दिया जायगा, अगर सिद्ध हो जाय कि—

(क) विवाह के समय दूसरा पक्ष नपुंसक था और प्रार्थना-पत्र प्रस्तुत करने के समय तक नपुंसक है, अथवा

(ख) दोनों पक्षों में से कोई विकृत मस्तिष्क वाला अथवा पागल है, अथवा

(ग) प्रार्थना-पत्र देने वाले पक्ष की विवाह के लिए स्वीकृति जबर्दस्ती ली गई है, या अगर विवाह के लिए अभिभावक की स्वीकृति की जरूरत थी तो वह जबर्दस्ती या धोखे से ली गई है, अथवा

(घ) विवाह के समय स्त्री किसी अन्य व्यक्ति से पहले से ही गर्भवती थी।

अदालती अलहदगी, विवाह का रद्द किया जाना तथा तलाक में भेद है। अदालती अलहदगी तथा तलाक दोनों को विवाह माना जाता है, विवाह के रद्द किये जाने को तो विवाह ही नहीं माना जाता। यह विवाह धोखे से होता है, इसलिए कानून इसे विवाह ही नहीं मानता। इतना अवश्य है कि इसे विवाह न समझा जाय—इस बात के लिए अदालत की शरण जरूर लेनी पड़ती है नहीं तो पति तथा उसके रिश्तेदार पत्नी का पीछा नहीं छोड़ते।

[तलाक या विवाह-विच्छेद–Divorce]

अब हम उस चीज पर आते हैं जिसे शुद्ध अर्थों में 'तलाक' कहा जाता है। 'तलाक' का वर्णन इस अधिनियम की १३वीं धारा में है। कोई भी विवाह, चाहे वह इस अधिनियम से पहले हुआ हो या बाद में हुआ हो, पति या पत्नी में से किसी के भी अदालत में प्रार्थना-पत्र प्रस्तुत करने पर निम्न कारणों से भंग कर दिया जायगा :—

(क) दोनों में से कोई एक पक्ष पर-पुरुष या पर-स्त्री गामी है, अथवा

(ख) दोनों में से कोई एक पक्ष धर्म-परिवर्तन के कारण हिन्दू नहीं रहा, अथवा

(ग) दोनों में से कोई एक पक्ष प्रार्थना-पत्र देने के तीन वर्ष पूर्व से ऐसा विक्षिप्त-चित्त है कि उसका कोई इलाज ही नहीं हो सकता, अथवा

(घ) दोनों में से कोई एक पक्ष प्रार्थना-पत्र प्रस्तुत करने के कम-से-कम तीन वर्ष पूर्व से ऐसे विषाक्त कुष्ठ-रोग से पीड़ित है जिसका कोई इलाज नहीं हो सकता, अथवा

(ङ) दोनों में से कोई एक पक्ष प्रार्थना-पत्र प्रस्तुत करने के कम-से-कम तीन वर्ष पूर्व से संक्रामक यौन-रोगों से पीड़ित है, अथवा

(च) दोनों में से किसी एक पक्ष ने सांसारिक-जीवन त्याग कर संन्यास ले लिया है, अथवा

(छ) दोनों में से किसी एक पक्ष के विषय में सात वर्ष से उसके जीवित होने का कोई समाचार उन लोगों को प्राप्त नहीं है जिन्हें उसके जीवित होने का समाचार मिलना चाहिए था, अथवा

(ज) दोनों में से जिस पक्ष के विरुद्ध 'अदालती-अलहदगी' (Judicial separation) का हुक्म हुआ था उसने उस हुक्म के दो वर्ष बीत जाने पर भी सहवास नहीं प्रारम्भ किया, अथवा

(झ) वैवाहिक-अधिकारों के 'पुनः प्रतिष्ठान' (Restitution of conjugal rights) के अदालती हुक्म के बावजूद दूसरे पक्ष ने दो वर्ष बीत जाने पर भी इस हुक्म का पालन कर सहवास नहीं शुरू किया,

(ञ) अगर इस अधिनियम के लागू होने के पूर्व पति ने दूसरा विवाह कर लिया हो, तो उसकी स्त्री तलाक के लिए प्रार्थना-पत्र प्रस्तुत कर सकती है,

(ट) अगर इस अधिनियम के लागू होने से पूर्व पति ने जब दूसरा विवाह किया तब उसकी पत्नी जीवित थी, अब भले ही न रही हो, तब भी उसकी स्त्री चाहे तो तलाक के लिए प्रार्थना-पत्र प्रस्तुत कर सकती है, अथवा

(ठ) अगर विवाह के उपरान्त पति बलात्कार, गुदा-मैथुन या पशु-मैथुन का अपराधी हो, तब भी उसकी पत्नी उससे तलाक ले सकती है।

'तलाक' के विषय में यह बात ध्यान देने की है कि 'विवाह' के तीन वर्ष के अन्दर-अन्दर 'तलाक' के लिए कोई प्रार्थना-पत्र नहीं दिया जा सकता। अगर दोनों पक्षों में से कोई पक्ष हाई कोर्ट को विश्वास करा दे कि उसके साथ अत्यन्त भयंकर अत्याचार हो रहा है, तो हाई कोर्ट के आदेश पर ऐसे प्रार्थना-पत्र पर विचार हो सकता है। एक बार विवाह-विच्छेद हो जाने पर दोनों पक्ष फिर विवाह तभी कर सकते हैं जब कि विवाह-विच्छेद की आज्ञा दिये जाने के बाद कम-से-कम एक वर्ष बीत गया हो।

८. तलाक की प्रथा का निम्न हिन्दू-समाज में चलन

जैसे हम विधवा-विवाह के विषय में लिख आये हैं कि इस प्रथा का उच्च-हिन्दुओं में चलन नहीं है, लेकिन हिन्दुओं की निम्न-जातियों में इसका चलन है, वैसे तलाक का भी उच्च-जातियों में तो चलन नहीं है, परन्तु विधवा-विवाह की तरह इसका भी हिन्दुओं की निम्न-जातियों में चलन है।

हिन्दू-ला के लेखक श्री मेन ने लिखा है कि गुजरात की निम्न-जातियों में तलाक की प्रथा है, इसे उनमें नातर्क कहा जाता है। इसी प्रकार महाराष्ट्र की निम्न-जातियों में भी तलाक प्रचलित है। महाराष्ट्र की निम्न जातियों में प्रचलित तलाक को वे लोग 'फाट' कहते हैं। 'ला ऑफ़ कास्ट्स एण्ड ट्राइब्स इन डेक्कन' के लेखक श्री स्ट्रीट ने लिखा है कि दक्षिण-भारत में पति के नपुंसक होने, पति-पत्नी में

लगातार झगड़ा रहने, विवाह ठीक ढंग का न होने, पति के बारह वर्ष तक परदेस में रहने, पारस्परिक सहमति से पति द्वारा पत्नी का गले का मंगलसूत्र तोड़ देने तथा पत्नी को 'छोड़-चिट्ठी' (तलाकनामा) देने से विवाह-विच्छेद हो जाता है। 'पंजाब कस्टमरी लॉ' में लिखा है कि पंजाब के जाटों में तलाक की प्रथा प्रचलित है। दक्षिण में कनाड़ा लोग हैं जिनमें एक सम्प्रदाय लिंगायतों का है। इनमें भी तलाक होता है और तलाक के बाद पुनर्विवाह हो जाता है। अगर कहा जाय कि हिन्दू-समाज में उच्च-वर्णों में तो तलाक नहीं होता, नीच-वर्णों में, ख़ास कर शूद्र-वर्ग में तलाक होता है, तो अनुचित न होगा।

९. तलाक के पक्ष में युक्तियाँ

तलाक हिन्दू-समाज की अन्तरात्मा के विरुद्ध है, परन्तु फिर भी इसके लिए माँग है। हिन्दू-समाज ने विवाह के अटूटपन को स्वीकार करते हुए इस अटूटपन से वैवाहिक-जीवन में कभी-कभी जो संकट उत्पन्न हो जाते हैं, उन्हें दूर करने का प्रयत्न किया है। विवाह-विच्छेद को पराशर आदि स्मृतियों द्वारा विशेष-विशेष अवस्थाओं में स्वीकृति देकर प्राचीन-काल में भी किया है, विशेष अवस्थाओं में ही तलाक का 'हिन्दू-विवाह-अधिनियम' में अधिकार देकर वर्त्तमान-काल में भी किया है। यह अधिकार आपत्काल का अधिकार है, संकट की स्थिति का अधिकार है, सामान्य अधिकार नहीं---इसे ध्यान में रखते हुए हमें तलाक के पक्ष की युक्तियों पर विचार करना होगा।

(क) जीवन की संकटमय स्थिति का अन्त---तलाक का सबसे बड़ा लाभ यह है कि इससे उन व्यक्तियों के जीवन की संकटमय स्थिति का अन्त हो जाता है, जो माता-पिता की या अपनी ग़लती से विवाह-बंधन में बाँध दिये जाते हैं, परन्तु जिनका विवाह किसी हालत में भी सुखमय नहीं हो सकता। आख़िर, विवाह का अभिप्राय सन्तान उत्पन्न करना है। अगर पति नपुंसक है, सन्तान उत्पन्न कर ही नहीं सकता, तो क्यों यह सम्बन्ध आजन्म बना रहना चाहिए? अगर पति लापता है, बरसों बीत जाने पर भी उसका कुछ पता नहीं चलता, तो क्यों उसकी पत्नी को तपस्या करते बैठे रहना चाहिये।

(ख) जागृत महिला-वर्ग की माँग की पूर्ति---तलाक का दूसरा लाभ यह है कि इसकी स्वीकृति देने से समाज के एक प्रभावशाली वर्ग की माँग की पूर्त्ति हो जाती है। समाज में पुरुष हैं, स्त्रियाँ हैं। स्त्रियों की संख्या लगभग पुरुषों के बराबर है। स्त्रियों में शिक्षित-वर्ग की स्त्रियाँ ही अपनी अशिक्षित बहनों का मार्ग-प्रदर्शन कर सकती हैं। शिक्षित महिला-वर्ग जो-कुछ कहता है वह, हमें मानना होगा कि भारत की स्त्रियों की माँग है क्योंकि अशिक्षित महिला-वर्ग शिक्षित महिला-वर्ग के द्वारा ही अपनी माँग रख सकता है, स्वयं तो अशिक्षित होने के कारण स्वतंत्र रूप से कुछ समझ ही नहीं सकता। महिला-वर्ग की इस माँग को ठुकराना लगभग हिन्दू-समाज के आधे समाज की माँग को ठुकराना है। इससे समाज में जो

अशान्ति तथा असन्तोष पैदा हो सकता है उसे दूर करने के लिए भी तलाक को स्वीकार करना उचित ही है।

(ग) तलाक की माँग पुरुष-जाति के स्त्री-जाति के साथ व्यवहार का आवश्यक परिणाम है—अबतक पुरुष-जाति ने स्त्री-जाति के साथ जो व्यवहार किया है, उसका आवश्यक तथा युक्तियुक्त परिणाम तलाक की माँग है। पुरुष जब चाहे स्त्री को मायके छोड़ दे, बुलाने का नाम न ले, जितनी चाहे शादियाँ कर ले, रोगी हो, नपुँसक हो, अपने लिए किसी बंधन को न माने, स्त्री के लिए हर बन्धन को धर्म और पवित्रता के नाम पर दुहाई देने लगे—यह सब-कुछ कब तक बर्दाश्त किया जा सकता था ? स्त्री-जाति के साथ सदियों से किये जाने वाले इस दुर्व्यवहार का परिणाम 'तलाक' की माँग है जो सर्वथा युक्तियुक्त है। वर्त्तमान-युग में जब स्त्री-पुरुष की समानता का विचार बढ़ता जा रहा है। स्त्री-जाति का यह कहना कि उसे दासी की तरह जन्मभर के लिए अत्याचारी, व्यभिचारी, रोगी, कोढ़ी पति के साथ न बाँध दिया जाय, समझ में आने वाली बात है। अगर पुरुष ऐसी स्त्री के साथ नहीं बँधा रहना चाहता, उसे जब चाहे छोड़ देता है, तो स्त्री ऐसा क्यों न कर सके ?

१०. तलाक के विपक्ष में युक्तियाँ

जैसे तलाक के पक्ष में युक्तियाँ दी जाती हैं, वैसे इसके विपक्ष में भी युक्तियाँ दी जाती हैं। तलाक के विपक्ष में युक्तियाँ क्या हैं ?

(क) तलाक वाली स्त्री बुरी ही समझी जायगी—अभी हिन्दू-समाज की ऐसी स्थिति है कि कानून भले ही बन जाय जो स्त्री तलाक लेगी या जिसे तलाक दिया जायगा उसे समाज में प्रतिष्ठा की नजर से नहीं देखा जायगा। कानून अधिक-से-अधिक क्या कर सकता है ? तलाक का अधिकार दे सकता है। कानून किसी को तलाक वाली स्त्री को प्रतिष्ठा की दृष्टि से देखने के लिए बाधित तो नहीं कर सकता। विधवा-विवाह का कानून देर से बना हुआ है, परन्तु हिन्दू-समाज में कितने विधवा-विवाह होते हैं ? क्यों नहीं होते ? इसलिए क्योंकि हिन्दू-समाज की परम्परा इसकी आज्ञा नहीं देती। यही बात तलाक के साथ है। जो स्त्री तलाक लेगी या जिसे दिया जायगा, उसके माथे पर मानो एक कलंक का टीका लग जायगा। यह ठीक है कि कभी-कभी वैवाहिक-जीवन का दुःख इस कलंक के टीके से भी अधिक दुःखमय होता है, और उस स्थिति में व्यक्ति दुःख से निकलने के लिए इस कलंक की परवाह नहीं करता, और ऐसी स्थिति हिन्दू-समाज में भी बनी रहेगी।

(ख) तलाक वाली स्त्री का पुनर्विवाह कठिन रहेगा—तलाक वाली स्त्री को समाज में पुनर्वासित करना, उसे फिर से घर-बार वाली बनाना एक समस्या हो जायगा। तलाक लेना इतना कठिन नहीं होगा, जितना तलाक लेने के बाद पुनर्विवाह करना। हर-कोई उस पर अंगुली उठायेगा, कहेगा—इसने अपना पति छोड़ दिया था। जिसने पति छोड़ दिया हो उसके साथ उच्च-वर्ग में विवाह करने

के लिए कम लोग तैयार होंगे। इसका यह अभिप्राय नहीं कि उसका पुर्नविवाह हो ही नहीं सकेगा। ऐसे पुरुष भी मिलेंगे जिनका स्वयं तलाक हुआ होगा। ऐसे लोगों का जोड़ा मिल सकेगा, परन्तु तलाक लेने के बाद पुर्नविवाह कठिन अवश्य हो जायगा—इसमें सन्देह नहीं।

(ग) तलाक के बाद स्त्री की स्थिति असुरक्षित हो जायगी—विवाह अशिक्षित हिन्दू-स्त्री के लिए सुरक्षा का काम करता है, उसकी आर्थिक-समस्या को हल करता है। तलाक के बाद अगर उसका पुर्नविवाह नहीं होता तो वह अपनी आर्थिक-समस्या को कैसे हल करे—यह उसकी समस्या बना रहेगा। यही कारण है कि आज की बदल रही परिस्थितियों में माता-पिता अपनी लड़की को उच्च-शिक्षा देने लगे हैं, उन्हें हर समय भय बना रहता है कि न-जाने लड़की पर क्या आफ़त आ गिरे, उसे अपने पैरों पर खड़े होने लायक तो बने ही रहना चाहिए। तलाक के बाद जबतक स्त्री शिक्षिता ही नहीं है उसे एकदम आर्थिक-संकट का सामना करना पड़ेगा।

(घ) सन्तान के विकास पर प्रभाव पड़ेगा—तलाक के समय अगर कोई सन्तान नहीं है तब तो सन्तान-सम्बन्धी कोई समस्या नहीं खड़ी होगी, परन्तु अगर पति-पत्नी के सन्तान है, तब इस सन्तान का क्या होगा? अगर सन्तान पिता के पास रहती है और वह विवाह कर लेता है, तब विमाता के साथ रहने से सन्तान के मानसिक-विकास में सीधी 'विमाता-ग्रन्थि' (Step-mother complex) पड़ जायेगी, अगर सन्तान माता के साथ रहती है, तब माता के विवाह कर लेने के बाद नये पिता से उन्हें पहले का प्रेम नहीं मिलेगा। हर हालत में तलाक के ये बच्चे अन्य बच्चों से विकास में भिन्न होंगे और इनकी मानसिक-भूमि अपराध करने की उपजाऊ भूमि होगी। सन्तान के मानसिक-विकास के अतिरिक्त आर्थिक-दृष्टि से भी तलाक की सन्तान का उचित पालन-पोषण नहीं हो सकेगा। माता-पिता अपनी नयी सन्तान को पालेंगे या उस सन्तान को जो दोनों में से सिर्फ़ एक की सन्तान है?

(ङ) परिवार की संस्था हिल जायगी—इस समय हिन्दू-परिवार एक धार्मिक संस्था है, अटूट है, पवित्रता की भावनाएँ इसके साथ जुड़ी हुई हैं। 'तलाक' प्रारम्भ होने के बाद यह संस्था जड़ से हिल जायेगी, इसका अटूटपन, इसकी पवित्रता नष्ट हो जायेगी। सदियों से दृढ़ नींव पर टिकी हुई इस संस्था का भवन इस प्रकार डगमगा जाय—यह बात न परिवार के लिए हितकर है, न विवाह के लिए, न स्त्री-पुरुष के लिए, न बच्चों के लिए। जो भवन डिगता दीख पड़े, जिसमें तरेड़ नजर आ जाय, उसके प्रति लोगों की आस्था नहीं रहती, और डिगते को लोग डिगाने लगते हैं। तलाक की आज्ञा देना ही तलाक के लिए प्रेरणा देने के समान हो सकता है, और इससे तलाक देना सम्भव न भी हो तो भी तलाक देने की मनोवृत्ति बढ़ सकती है। जब कोई रास्ता खुला हो तब उस रास्ते का इस्तेमाल करने का प्रलोभन भी उठ खड़ा हो सकता है।

(च) अपने को एक-दूसरे के अनुकूल बनाने का प्रयत्न लुप्त हो जायगा—जहाँ लोग मिलते हैं, वहाँ आपस में झगड़े भी होते हैं, वैमनस्य भी होता है, परन्तु अगर उन्हें साथ-साथ ही रहना है तो झगड़ों और वैमनस्यों के बाद सुलह-सफ़ाई भी होती है। हिन्दू-स्त्री को पता है कि उसका पति के साथ जन्म-जन्मान्तर का सम्बन्ध है, इसलिए जब मेल नहीं बैठता तब भी वह अपने को परिस्थितियों के अनुकूल बना लेती है। जितनी सहनशीलता हिन्दू-स्त्री में है उतनी अन्य किसी में नहीं पायी जाती। पति-पत्नी का इस प्रकार अनुकूलन, इस प्रकार की सहनशीलता तलाक के बाद नहीं रह सकती। झगड़े तो अब भी होते हैं, तब भी होंगे, परन्तु अब इन झगड़ों के बाद इन्हें परस्पर बैठ कर प्रेम से निपटा लिया जाता है, झगड़े के बाद वह उग्र रूप धारण करता जायगा और एक-दूसरे के साथ मिल कर सफ़ाई करने के स्थान में पति-पत्नी वकीलों से सलाह लिया करेंगे।

११. तलाक के कानून का प्रभाव क्या होगा?

तलाक के पक्ष-विपक्ष की युक्तियों का अभिप्राय यह नहीं है कि हमने जो-कुछ लिखा है, वैसा ही होगा। यह तो सिर्फ़ पक्ष-विपक्ष में जो-कुछ कहा जा सकता है, वह हमने लिखा। परन्तु प्रश्न यह है कि तलाक के सम्बन्ध में जो कानून स्वीकृत हुआ है, उसका हिन्दू-सामाजिक-संगठन पर क्या प्रभाव पड़ेगा। यह प्रश्न इसलिए उठ खड़ा होता है क्योंकि कई लोगों का कथन है कि तलाक के कानूनी रूप धारण कर लेने के बाद हिन्दू-परिवार की संस्था नष्ट हो जायेगी, रोज-रोज छोटी-छोटी बात पर विवाह-विच्छेद हुआ करेगा, परिवार न बचेगा। हमें देखना है कि क्या ये भय ठीक हैं या निराधार हैं। हमारा कहना यह है कि तलाक के कानून का रूप धारण कर लेने पर भी तलाक बहुत कम होंगे, हिन्दू-परिवार की संस्था को कोई धक्का नहीं लगेगा। हमारे यह कहने के निम्न कारण हैं:

(क) तीन वर्ष तक विवाह-विच्छेद नहीं हो सकेगा—तलाक के कानून की १४ धारा के अनुसार विवाह-विच्छेद का प्रार्थना-पत्र विवाह की तिथि के तीन वर्ष के बाद ही प्रस्तुत किया जा सकेगा, पहले नहीं। इसका अर्थ यह है कि तीन वर्ष तक तो तलाक हो ही नहीं सकेगा।

(ख) विवाह-विच्छेद के लिए समय पाँच-छः वर्ष से कम नहीं लगेगा—विवाह के तीन वर्ष बाद तलाक के लिए प्रार्थना-पत्र दिया जा सकता है, और अदालत से तलाक की स्वीकृति मिलने के एक वर्ष बाद दूसरा विवाह किया जा सकता है। अगर अदालत प्रार्थना-पत्र देने के दिन ही तलाक की स्वीकृति दे दे तब पहले विवाह के चार वर्ष बाद दूसरा विवाह किया जा सकेगा। परन्तु यह तो तब है जब प्रार्थना-पत्र देते ही, उसी दिन तलाक की स्वीकृति मिल जाय। यह भला कब हो सकता है? तलाक मिलने के कारण बताने होते हैं, सबूत देना होता है। इस सब में भी एक-दो साल लग जाने की सम्भावना है। इसका अर्थ यह हुआ कि अगर तलाक मिले तो पहले विवाह के ५–६ साल बाद दूसरा विवाह हो

सकता है, पहले नहीं। इस सारी मुसीबत को उठाने के लिए कौन तैयार होगा? अगर कोई तैयार होगा तो वही होगा जो अत्यन्त दुःख में है, और अगर कोई वास्तव में विवाह द्वारा इतना कष्ट उठा रहा है कि उसे इसके मुकाबिले का दूसरा कष्ट नहीं प्रतीत होता, तो उसे तलाक मिलना ही चाहिए। परन्तु इस प्रकार के लोग कितने होंगे?

(ग) विवाह-विच्छेद की शर्तें अत्यन्त कठिन हैं—विवाह-विच्छेद का कानून इतना आसान नहीं जितना कई लोग समझते हैं। आम धारणा यह है कि पति-पत्नी की नहीं बनी, वकील किया, फ़ीस दी और तलाक मिल गया। यह ग़लत धारणा है। तलाक लेने के लिए सिद्ध करना होगा कि पति पर-स्त्रीगामी है या असाध्य यौन-रोग से या कुष्ठ रोग से तीन साल से पीड़ित है, घर छोड़ कर सात वर्ष से लापता है, संन्यासी हो गया है, अप्राकृतिक व्यभिचार करता है—आदि। ऐसी शर्तें क्या हर पति-पत्नी के साथ पूरी हो जाती हैं? अगर नहीं होतीं, तब कैसे कहा जाय कि इस कानून के बनने से रोज़-रोज़ तलाक होने लगेंगे? और, अगर कोई परिवार ऐसा है जिसमें ऐसी घटनाएँ होती हैं, तो उसके भंग कर दिये जाने में क्यों आपत्ति होनी चाहिए?

(घ) आर्थिक-कठिनाइयों से भी विवाह-विच्छेद कम होंगे—विवाह-विच्छेद के कानून बन जाने के बावजूद उक्त कारणों से इस कानून का प्रयोग कम किया जायगा, साथ ही हिन्दू-स्त्री की आर्थिक-स्थिति के कारण भी तलाक कम होंगे। भारतीय नारी अभी आर्थिक-दृष्टि से अपने पाँवों पर खड़ी होने योग्य नहीं हुई। तलाक का अर्थ है स्त्री का आर्थिक-दृष्टि से निस्सहाय हो जाना। इस आर्थिक-संकट को देख कर स्त्री तलाक के लिए तभी कदम उठायेगी जब उसके लिए विवाह का जीवन अत्यन्त संकटमय हो जायगा, अन्यथा नहीं।

(ङ) बच्चों के कारण भी विवाह-विच्छेद कम होंगे—स्त्री की अपनी आर्थिक-स्थिति के अलावा बच्चे की समस्या और अधिक न उलझ जाय इसलिए भी स्त्री तलाक का विचार बहुत सोच-विचार के बाद ही मन में लायगी। माता के लिए बच्चा ही उसका सर्वस्व होता है, वह बच्चे के लिए सब-कुछ करने को तैयार रहती है, अपने को दुःख में गला तक सकती है। बच्चे का भविष्य कहीं संकट में न पड़ जाय इसलिए भी तलाक की तरफ़ कदम बढ़ाते हुए भारतीय नारी सकुचायेगी।

(च) भावात्मक कारणों से भी विवाह-विच्छेद कम होगा—विवाह-विच्छेद का कानून मुख्यतया स्त्री की समस्या का हल करना है, पुरुष तो अपनी समस्या हल करता ही रहता है। विवाह-विच्छेद का प्रभाव पुरुष के लिए उतना गम्भीर नहीं जितना स्त्री के लिए है क्योंकि पुरुष तो अपने काम-धंधे में लगे रहने के कारण अपने को भूल सकता है, स्त्री के लिए मानसिक-चोटों को भूलना कठिन है। इसलिए भी स्त्री इस सबसे गहरी मानसिक चोट से बचने का प्रयत्न करेगी।

(छ) कानून का परिणाम उच्च-वर्ग में तलाक बढ़ना तथा निम्न-वर्ग में तलाक घटना होगा—जैसा हम पहले दर्शा आये हैं इस समय अवस्था यह है कि उच्च-वर्ग के हिन्दुओं में तलाक की प्रथा नहीं है, निम्न-वर्ग के हिन्दुओं में यह प्रथा है। अब क्योंकि तलाक का कानून बन गया है इसका परिणाम यह होगा कि उच्च-वर्ग के हिन्दू-परिवारों में जहाँ स्त्रियाँ प्रतिकूल परिस्थितियों में संकटमय जीवन बिता रही थीं, वे इस संकट में से निकलने का प्रयत्न करेंगी, इसलिए उनमें तलाक कुछ-कुछ शुरू हो जायेंगे, परन्तु निम्न-वर्ग के हिन्दुओं में तो छोटी-छोटी बातों पर तलाक हो जाता था, उनमें अब नियन्त्रण हो जायगा, वे उन्हीं दशाओं में तलाक कर सकेंगे, जिनमें तलाक का कानून आज्ञा देता है, हर दशा में नहीं। इसका परिणाम यह होगा कि इन निम्न वर्गों में तलाक के कानून की कड़ी शर्त्तों के कारण तलाक की संख्या घट जायगी।

२७

हिन्दू-विवाह-सम्बन्धी समस्याएँ—बाल-विवाह

(PROBLEMS CONNECTED WITH HINDU MARRIAGE —EARLY MARRIAGE)

१. बाल, किशोर तथा युवा विवाह में भेद

विवाह की आयु को तीन भागों में बाँटा जा सकता है—'बाल-विवाह', 'किशोर-विवाह', तथा 'युवा-विवाह'। 'बाल-विवाह' का अभिप्राय 'किशोरावस्था' से पहले का विवाह है। 'किशोरावस्था' से हमारा क्या अभिप्राय है? बालक में 'किशोरावस्था' तब शुरू होती है जब उसमें वीर्य बनना शुरू हो जाता है, जब उसके वीर्य से सन्तान उत्पन्न हो सकती है। बालिका में 'किशोरी-अवस्था' तब शुरू होती है जब उसे मासिक-धर्म होने लगता है। इस दृष्टि से 'बाल-विवाह' की अवस्था वह अवस्था है जिसमें 'प्राणि-शास्त्र' की दृष्टि से प्रजनन नहीं हो सकता, 'किशोरावस्था' वह अवस्था है जिसमें 'प्राणि-शास्त्र' की दृष्टि से प्रजनन हो सकता है। 'किशोरावस्था' एक तरह से 'प्राणि-शास्त्रीय-अवस्था' (Biological age) है, 'बाल्यावस्था' इस प्रकार की 'प्राणि-शास्त्रीय-अवस्था' नहीं है। इस 'किशोरावस्था' के बाद एक तीसरी अवस्था आती है जिसे 'युवावस्था' कहते हैं। किशोरी-किशोर के रज-वीर्य से सन्तान तो उत्पन्न हो सकती है, परन्तु क्या वह हृष्ट-पुष्ट होगी, तन्दुरुस्त होगी? अभी किशोर-किशोरी का केवल शारीरिक विकास हुआ है, वह विकास भी अभी प्रारम्भ ही हुआ है, अभी उनकी परिपक्वावस्था नहीं आयी, मानसिक-विकास तो अभी बहुत होना बाकी है। ऐसी अवस्था में, किशोरावस्था में विवाह करना उचित है या नहीं—यह समस्या है। 'किशोरावस्था' तो 'प्राणि-शास्त्रीय-अवस्था' (Biological age) है; 'युवावस्था' में शरीर पक जाता है, विचार बन चुके होते हैं, अतः 'युवावस्था' इस दृष्टि से 'सांस्कृतिक-अवस्था' (Cultural age) है। 'किशोरावस्था' में विवाह हो या 'युवावस्था' में विवाह हो—इस प्रश्न का वैज्ञानिक रूप यह है कि 'प्राणि-शास्त्रीय-आयु' (Biological age) में विवाह हो, या 'सांस्कृतिक-आयु' (Cultural age) में विवाह हो? विवाह की आयु के विषय में समाज-शास्त्र का मुख्य प्रश्न यही है।

२. बाल-विवाह

इससे पहले कि हम अपने मुख्य विषय पर आयें, 'बाल-विवाह' (Child marriage) पर कुछ लिख देना अप्रासंगिक न होगा। अपने देश में बाल-विवाह बहुत देर तक प्रचलित रहा है, और अब भी अनेक स्थानों पर प्रचलित है।

दूध पीते बच्चे-बच्चियों के यहाँ विवाह होते रहे हैं। परन्तु यह समझना कि अपने देश के इतिहास में शुरू से ही यह प्रथा रही है, ग़लत है। मोटे तौर पर किसी देश का इतिहास तीन भागों में बाँटा जा सकता है—आदि-युग, मध्य-युग तथा वर्तमान-युग। भारत का आदि-युग वैदिक-युग था, मध्य-युग मनु आदि स्मृतिकारों का युग था, और वर्त्तमान-युग हम सब का—जो आज हैं उनका—युग है। वैदिक-युग में बाल-विवाह की प्रथा नहीं थी, मध्य-युग में यह प्रथा चली, वर्त्तमान-युग में मौजूद है, परन्तु शिक्षा के विस्तार तथा नवीन कानूनों के कारण इस प्रथा का अब लोप होता जा रहा है, इसके स्थान में 'किशोर-विवाह' तथा 'युवा-विवाह' का प्रचार बढ़ता जा रहा है।

(क) वैदिक-युग में बाल-विवाह नहीं था—वैदिक-युग में बाल-विवाह नहीं था, इसके अनेक प्रमाण हैं। वेद में लिखा है—'ब्रह्मचर्येण कन्या युवानं विन्दते पतिम्'—कन्या ब्रह्मचर्य धारण करने के बाद 'युवा' पति को प्राप्त होती है। यहाँ 'युवा'-शब्द का प्रयोग सिद्ध करता है कि वैदिक-युग में 'बाल-विवाह' तथा 'किशोर-विवाह' न होकर 'युवा-विवाह' होता था। वेद में एक दूसरे स्थल में आता है—'सोमः प्रथमो विविदे गन्धर्वो विविद उत्तरः। तृतीयो अग्निष्टे पतिस्तुरीयस्ते मनुष्यजाः'—अर्थात्, कन्या का सबसे पहले 'सोम' से सम्पर्क होता है, फिर 'गन्धर्व' से, फिर 'अग्नि' से, उसके बाद 'पुरुष' से। 'सोम' का अर्थ है 'शारीरिक-विकास'। पहले-पहल कन्या का शारीरिक-विकास होता है। उसके बाद उसका सम्बन्ध 'गन्धर्व' से होता है। 'गन्धर्व' का अर्थ है—सौन्दर्य का स्वामी। इसका अभिप्राय यह है कि शारीरिक-विकास के बाद कन्या का सौन्दर्य निखरने लगता है, उसमें ललित-कलाओं का विकास होने लगता है। इसके बाद कन्या के विकास में तीसरी अवस्था आती है जिसे यहाँ 'अग्नि' कहा है। 'अग्नि' को अंग्रेजी में (Heat) कहते हैं। जैसे जीव-जन्तुओं में मासिक-धर्म को गर्म होने का समय कहा जाता है—इसी तृतीय-अवस्था को यहाँ अग्नि-काल कहा है। इसके बाद कन्या 'पुरुष' को दी जाती है, उसका विवाह होता है। इस मन्त्र से भी स्पष्ट है कि वैदिक-काल में कन्या का विवाह बाल्य-काल में न होकर मासिक-धर्म हो चुकने के बाद होता था जिसे मंत्र में 'अग्नि'-काल कहा है।

(ख) मध्य-युग में बाल-विवाह शुरू हुआ—वैदिक-काल के बाद मध्य-युग आया। यह गृह्य-सूत्रों तथा स्मृतिकारों का युग था। गृह्य-सूत्रों में लिखा है कि 'नग्निका'-कन्या का विवाह करना चाहिए। 'नग्निका' का अर्थ है जब वह नंगी फिरती हो, उसे अपने नग्न होने का भी ज्ञान न हो। बाल-विवाह का यह श्रीगणेश कहा जाता है, परन्तु महाभारत में १६ वर्ष की लड़की को 'नग्निका' कहा गया है और उसी के विवाह का विधान है। इसका अर्थ यह हुआ कि गृह्य-सूत्रों के समय तक बाल-विवाह प्रारम्भ नहीं हुआ था, स्मृतिकारों के समय इसका प्रारम्भ हुआ। स्मृतियों के युग को इस देश का मध्य-युग कहा जा सकता है। 'नग्निका'-शब्द से बाल-विवाह का आभास अवश्य मिलता है।

इस मध्य-युग में भारत की राजनतिक अवस्था अस्थिर हो गई थी। विदेशी लोग जहाँ-तहाँ से आक्रमण करने लगे थे। परिवार की रचना 'संयुक्त-परिवार' का रूप धारण किये हुए थी। जिस बालिका ने दूसरे घर जाना है, वहाँ जाकर सास-ससुर आदि संयुक्त-परिवार के भिन्न-भिन्न व्यक्तियों के बीच रह कर हर-एक से किस प्रकार बरतना होगा यह-सब सीखना है, उसे जितनी जल्दी-से-जल्दी घर से विदा कर दिया जाय जिससे उस घर की बातों को वह जल्दी सीख जाये—यह भावना घर करने लगी और बाल-विवाह का श्री-गणेश हुआ। इन दिनों सती-प्रथा भी प्रचलित थी। पति के मर जाने पर स्त्री चिता पर चढ़ कर अपना अन्त कर देती थी। ऐसी सामाजिक-परिस्थिति में, जब पिता के मर जाने और माता के सती हो जाने पर लड़की का कोई अभिभावक न बच रहे, लड़की की जल्दी शादी कर देना मनोवैज्ञानिक दृष्टि से माता-पिता के बोझ को हलका करने का साधन था। कई लोग कहते हैं कि मुसलमानों के यहाँ आने से बाल-विवाह चला। उनका कहना यह है कि ये आक्रान्ता लोग बाहर से सैनिकों के रूप में यहाँ आये थे, इनके बाल-बच्चे नहीं थे, ये इकले थे, इनको स्त्रियों की जरूरत थी। इनके धर्म-ग्रन्थों में लिखा था कि दूसरे की विवाहिता स्त्री तुम्हारे लिए हराम है, परन्तु अविवाहिता को तुम ले सकते हो। इन लोगों से अपनी कन्याओं की रक्षा करने के लिए मध्य-युग में हिन्दुओं ने छोटे-छोटे बालकों-बालिकाओं का विवाह करना शुरू कर दिया। जो-कुछ भी हो, यह स्पष्ट है कि बाल-विवाह की प्रथा वैदिक-काल में न होकर मध्य-काल में प्रारम्भ हुई। इस समय भी विवाह के दो भेद रखे गये। एक तो संस्कार, दूसरा द्विरागमन, गौना, डोली आदि। इसका अभिप्राय यह था कि राजनैतिक (Political)—अवस्थाओं को देख कर तो बाल-विवाह को प्रचलित किया गया, परन्तु 'प्राणि-शास्त्रीय' (Biological) तथा 'सांस्कृतिक' (Cultural) दृष्टिकोण को भी भुलाया नहीं गया। इसी लिए तो असली विवाह द्विरागमन, गौना, डोली आदि के बाद समझा गया। इस समय मन्त्र तो वही पढ़े जाते थे जिनमें युवावस्था के विवाह का विधान था, परन्तु मन्त्रों के अर्थ की तरफ़ कोई ध्यान नहीं देता था, युवावस्था के मन्त्रों से ही बाल्यावस्था का विवाह कराया जाता था। वैदिक-युग में जो मन्त्र कन्या के देर के विवाह के लिए समझे गये थे उन्हीं को तोड़-मरोड़ कर कन्या का छोटी आयु में विवाह किया जाने लगा। इसमें स्मृतिकारों ने रास्ता साफ़ कर दिया। पुराणों ने भी इसी प्रकार की रागिनी अलापी। कहाँ तो वेद-मन्त्रों में सोम-गन्धर्व-अग्नि-मनुष्य का अभिप्राय, जैसा हम अभी दर्शा आये हैं, कन्या के शारीरिक-विकास से था, कहाँ यह कहा जाने लगा—

> 'रोमकाले तु संप्राप्ते सोमो भुंक्ते तु कन्यकाम्।
> रजःकाले तु गन्धर्वो वह्निस्तु कुचदर्शने॥
> तस्मादुद्वाहयेत् कन्यां यावन्नर्तुमती भवेत्'—

रोम निकलते ही सोम कन्या का भोग करता है, रजोदर्शन होते ही गन्धर्व, स्तन प्रकट होने पर अग्नि—इसलिए ऋतुमती होने से पहले ही उसका विवाह

कर दे। वेदमन्त्रों के सोम, गन्धर्व तथा अग्नि का यह विकृत अर्थ किया गया, परन्तु इस प्रकार का विकृत अर्थ करने का उद्देश्य उस समय की सामाजिक-परिस्थिति के अनुसार बाल-विवाह के अनुकूल लोक-मत तैयार करना प्रतीत होता है।

इस समय जो विचार-धारा चल पड़ी उसका नग्न रूप उस श्लोक में दिखाई देता है जिसमें कहा गया है—'आठ वर्ष की लड़की गौरी होती है, नौ वर्ष की रोहिणी, दस वर्ष की कन्या कहलाती है, इसके बाद वह रजस्वला हो जाती है। लड़की के दस वर्ष की हो जाने के बाद जो पिता लड़की का विवाह नहीं करता वह हर मास उसका रुधिर पीता है'[1]। मुग़ल-काल में बाल-विवाह खूब अच्छी तरह प्रचलित था। देल्ला वाल नामक एक यात्री ने दो बालकों के विवाह का वर्णन किया है जिन्हें घोड़े पर सहारा देकर बैठाया गया था और बरात में भी जिन्हें सहारा देकर घोड़े पर ले जाया गया था। अकबर ने बाल-विवाह की प्रथा बन्द करने का प्रयत्न किया परन्तु वह निष्फल रहा।[2]

(ग) वर्तमान-युग में बाल-विवाह—मध्य-युग के बाद वर्त्तमान युग आया। इस युग में बाल-विवाह की प्रथा अपने शिखर पर जा पहुँची। माताएँ दुधमुँही बच्चियों के फेरे उन्हें अपनी गोद में उठाये देने लगीं। इस प्रथा के विरुद्ध आर्य-समाज तथा ब्राह्मो-समाज न आवाज उठाई। अंग्रेज लोग यही कहते रहे कि वे किसी के धर्म में हस्तक्षेप करके किसी धर्म के लोगों को नाराज नहीं करना चाहते। १८९० में बंगाल में फूलमणि नाम की एक लड़की का जो ११ वर्ष की थी, पति के सहवास द्वारा प्राणांत हो गया। उस पर जब अभियोग लगाया गया, तो उसने भारतीय दण्ड-विधान की वह धारा पेश की जिसके अनुसार सहवास के लिए १० वर्ष की आयु मानी गई थी। इस प्रकार की घटनाओं से सरकार ने बालिका के विवाह की आयु १० से १२ वर्ष करने का प्रस्ताव किया परन्तु इसका यहाँ की जनता की तरफ़ से घोर विरोध हुआ। इस विरोध के बावजूद आयु १० से १२ वर्ष कर दी गई। १८९१ में १० से १२ वर्ष आयु बढ़ाते हुए इस बिल के प्रस्तावक श्री एन्ड्रयू स्कोबल ने कहा कि राष्ट्र का अधिकार है कि जहाँ प्रजा के किसी वर्ग की रक्षा का प्रश्न उपस्थित हो वहाँ हस्तक्षेप करे। पहले तो यह समझा गया कि इस प्रस्ताव के पास हो जाने के बाद बाल-विवाह की प्रथा में बहुत-कुछ सुधार हो जायगा, परन्तु कुछ न हुआ, यह प्रस्ताव काग़ज पर ही लिखा रह गया, बाल-विवाह उसी तेजी से होते रहे। १९२५ में यह आयु बढ़ा कर १२ से १३ वर्ष कर दी गई, तब भी कुछ इने-गिने वकीलों को छोड़ कर इसका किसी को पता न चला, ख़ास कर गाँवों

१. अष्ट-वर्षा भवेद् गौरी नव-वर्षा तु रोहिणी।
दश-वर्षा भवेत् कन्या अत ऊर्ध्वं रजस्वला॥
प्राप्ते तु दशमे वर्षे यस्तु कन्यां न यच्छति।
मासि-मासि रजस्तस्याः पिता पिबति शोणितम्। (बृहद्यम स्मृति)

२. भारतीय-संस्कृति और उसका इतिहास, पृ० ५५२—डा० सत्यकेतु विद्यालंकार।

में उसी रफ्तार से बाल-विवाह होते रहे। ब्रिटिश-भारत में तो यह अवस्था रही, परन्तु देशी राज्यों में से बड़ौदा-राज्य ने इस दिशा में विशेष प्रगति दिखलाई। वहाँ १९०१ में एक कानून द्वारा बाल-विवाह का निषेध कर के लड़कों की आयु १६ और लड़कियों की १२ वर्ष कर दी गई। बहुत सालों बाद १९२९ में श्री हर-विलास शारदा के उद्योग से ब्रिटिश-भारत की केन्द्रीय-विधान-सभा में 'बाल-विवाह-निषेधक'-विधेयक पेश हुआ जिसके अनुसार विवाह के लिए लड़के की कम-से-कम आयु १८ वर्ष तथा लड़की की १४ वर्ष निश्चित की गई। १ अप्रैल १९३० से यह कानून सारे भारत में लागू हो गया। जिस समय यह विधेयक स्वीकृत होकर अधिनियम बना उस समय देश में सत्याग्रह-आन्दोलन का भी प्रारंभ हुआ। सरकार सत्याग्रह-आन्दोलन को दबाने में इतनी लग गई कि उसका शारदा-कानून की तरफ़ ध्यान ही नहीं जा सका, और इसी लिए इस क़ानून के बावजूद छोटे लड़के-लड़कियों की शादी जारी रही।

३. बाल-विवाह के कारण

बाल-विवाह हिन्दू-समाज में वैदिक-काल में नहीं था, पीछे के युग में यह क्यों शुरू हुआ--यह एक समस्या है। बाल-विवाह के निम्न कारण कहे जा सकते हैं:--

(क) न्यून जन-संख्या का हल--वैदिक-काल में जो भी हालत थी यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि उस समय बाल-विवाह नहीं था। 'ब्रह्मचर्येण कन्या युवानं विन्दते पतिम्' का अर्थ है--ब्रह्मचर्य पूरा करके कन्या युवा पति के साथ विवाह करती है। ब्रह्मचर्य पूरा करने के लिए कन्या का पूरी आयु का होना जरूरी है। युवा या युवति होने पर विवाह करने से सन्तान उत्पन्न करने का समय बहुत थोड़ा रह जाता है, इससे सन्तान कम उत्पन्न हो सकती हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि जब हिन्दुओं ने देखा कि उन्हें अधिक सन्तानों की जरूरत है, देश की जन-संख्या कम है, तब उन्होंने सन्तान उत्पन्न करने का समय बढ़ा देने के लिए बाल-विवाह का प्रारम्भ किया। कृषि-युग में ऐसा करना स्वाभाविक भी है। कृषि के लिए जितने काम करने वाले हों, उतना अच्छा। अगर लड़के-लड़की की छोटी आयु में शादी हो जाती है तो उन्हें जीवन-काल में अधिक सन्तान उत्पन्न करने का मौका मिलता है। बड़ी उम्र में शादी करने से अगर पाँच सन्तानें होंगी, तो छोटी उम्र में शादी करने से सात-आठ हो जायेंगी, इसलिए हो जायेंगी क्योंकि सन्तान उत्पन्न करने का समय अधिक रहेगा। सम्भव है, स्मृतिकारों ने अपने समय की अधिक सन्तान उत्पन्न करने की आवश्यकता को देख कर बाल-विवाह की व्यवस्था की हो।

(ख) संयुक्त-परिवार प्रथा ने बाल-विवाह को प्रोत्साहन दिया--अपने देश में संयुक्त-परिवार की प्रथा रही है। संयुक्त-परिवार में हर व्यक्ति का लालन-पालन परिवार का काम होता है, व्यक्ति का नहीं। अगर वैयक्तिक-परिवार हो, व्यक्ति को अपनी आमदनी से परिवार का--स्त्री का, बच्चों का--पालन करना

हो, तब तो व्यक्ति जब तक कमाने लायक न हो जाय, तब तक विवाह न करे, परन्तु संयुक्त-परिवार-प्रथा में तो व्यक्ति पर व्यक्तिरूप से कोई बोझ नहीं होता। हिन्दू-व्यवस्था में विवाह करना आवश्यक है, यह धर्म का अंग है। ऐसी हालत में जब किसी पर वैयक्तिक रूप में कोई बोझ नहीं पड़ता, इस धर्म-कार्य को जल्दी-से-जल्दी क्यों न कर डाला जाय? यह मनोवृत्ति बाल-विवाह के लिए अत्यन्त सहायक रही है। घर में अगर जल्दी बहू आ जायगी तो वह घर के इतने आदमियों के काम निबटाने में हाथ ही बँटायगी। फिर जितनी जल्दी आयगी उतना अच्छा, बच्ची को तो जिस किसी काम पर जोता जा सकता है, वह चूं-चरा नहीं करती, बड़ी तो अकड़ भी सकती है।

(ग) मुगल-काल में बाल-विवाह आवश्यक हो गया—मुसलमान विजेता बन कर भारत आये थे। वे अपने साथ बीबी-बच्चे तो लाये नहीं थे। विजेता भी ऐसे जो हजारों की संख्या में इसी देश में बस गये। उनके लिए स्त्रियाँ कहाँ से आतीं? इसी देश की स्त्रियों से तो वे विवाह कर सकते थे। उन्हें इस देश की स्त्रियों को लेने से कोई परहेज भी नहीं था, परन्तु हिन्दू अपनी स्त्रियों को उन्हें देने को तैयार नहीं थे। मुसलमानों के धर्म में लिखा है कि दूसरे की विवाहिता स्त्री तुम्हारे लिए हराम है। हिन्दुओं की लड़कियाँ मुसलमानों के यहाँ न चली जायें इसलिए हिन्दुओं ने अपनी लड़कियों का छोटी उम्र में ही विवाह करना शुरू कर दिया। इस प्रकार विवाह कर देने से वे विवाहिता मानी जाती थीं और उन्हें धार्मिक-बाधा के कारण मुसलमान ले जाना उचित नहीं समझते थे। यह कारण बाल-विवाह प्रारम्भ होने के लिए तो कारण के रूप में नहीं कहा जा सकता, परन्तु इस कारण से मुग़ल-काल में हिन्दुओं के लिए बाल-विवाह एक आवश्यक प्रथा का रूप धारण कर गया।

(घ) अन्तर्जातीय-विवाहों के प्रतिबन्धक के तौर पर इसे अपनाया गया—हिन्दुओं में अन्तर्जातीय-विवाह का निषेध है। ब्राह्मण ब्राह्मणों में शादी कर सकता है, दूसरी जाति में नहीं। दूसरी जाति में विवाह को अन्तर्जातीय-विवाह कहा जाता है, अन्तर्जातीय-विवाह का हिन्दू-प्रथा में निषेध है। अगर विवाह बड़ी उम्र में किया जाय, तो लड़के-लड़की अपनी मर्ज़ी से ब्याह-शादी करने लगेंगे, जहाँ चाहेंगे करेंगे, जाति तोड़ कर भी करेंगे, और अगर जाति तोड़ कर करने लगें, तो माता-पिता के लिए धर्म-संकट उपस्थित हो जायगा। इस संकट को काटने के लिए भी बाल-विवाह एक उपयुक्त व्यवस्था जान पड़ी क्योंकि इस व्यवस्था के अनुसार बच्चों का ऐसी उम्र में विवाह कर दिया जाता था जब वे जानते ही नहीं थे कि यह क्या बला है। अन्तर्जातीय-विवाहों की सम्भावना को रोकने के लिए बाल-विवाह ने सिद्धास्त्र का काम दिया।

(ङ) स्मृतिकारों की व्यवस्था तथा रूढ़िवाद—स्मृतिकारों के पास अपनी युक्तियाँ होंगी जिनके कारण उन्होंने बाल-विवाह का समर्थन किया, परन्तु इसमें सन्देह नहीं कि स्मृतियों में बाल-विवाह का विधान है। यह प्रायः सभी स्मृतियाँ

कहती हैं कि रजोदर्शन से पूर्व ही कन्या का विवाह हो जाना चाहिए। हम बृहद्यम-स्मृति का उल्लेख कर आये हैं जिसमें लिखा है कि जो पिता दश वर्ष के बाद कन्या का विवाह करता है वह उसके रजोदर्शन के हर मास के रज का पान करता है। ऐसी प्रबल व्यवस्था देने के उनके अपने कारण होंगे, परन्तु यह निश्चित है कि रजोदर्शन के बाद कन्या का अविवाहिता रहना स्मृतिकारों की दृष्टि में कलंक समझा गया है। गौतम ने यह व्यवस्था दी है कि रजोदर्शन से पहले कन्या का विवाह कर देना चाहिए। उसने लिखा (१८।२२) है---'प्रदानं प्रागृतोः'---अर्थात् ऋतु-काल से पहले ही कन्या का विवाह कर दे। इसी सिलसिले में गौतम धर्मसूत्र (१८।२४) में लिखा है---'प्राग्वाससः प्रतिपत्तिरित्येके'---शरीर को कपड़े से ढाँप कर रखने की बुद्धि पैदा होने से पहले ही कन्या की शादी कर दे। इसी को 'नग्निका' कहा गया है---जब कन्या नंगी फिरती हो, उसे यह ज्ञान ही न हो कि वह नंगी है, तब उसकी शादी कर दे। वैदिककाल में तो युवा होने पर शादी होती थी, लड़कियों का उपनयन भी होता था, फिर अगर छोटी उम्र में शादी कर दी गई तो उपनयन का क्या होगा? इसका समाधान भी स्मृतिकारों ने कर दिया। हारीत ने यह व्यवस्था दी कि छोटी उम्र में लड़की का विवाह कर देना चाहिए, परन्तु विवाह से पहले नाममात्र को उसका उपनयन-संस्कार भी कर देना चाहिए। ऐसे विवाहों के लिए स्मृतिकारों ने 'सद्योवधू'-शब्द की रचना की जिसका अर्थ है---उपनयन होते ही वह वधू बन गई। मनु आदि स्मृतिकारों ने कहा कि लड़की के लिए पढ़ना-लिखना क्या, विवाह ही उनके लिए एकमात्र संस्कार है, इस संस्कार में उनके सब संस्कार आ जाते हैं।[1] जैसे उपनयन में ब्रह्म-चारी अपने पिता के कुल के गुरु के कुल में चला जाता है, वैसे विवाह के समय कन्या पितृ-कुल से श्वशुर-कुल में चली जाती है, जैसे ब्रह्मचारी गुरु के कुल में अग्निहोत्र के लिए समिधा लाता है, वैसे कन्या श्वशुर-कुल में रसोई-घर में अग्नि पर खाना बनाती है। इसलिए कन्या के लिए विवाह करना ही मानो उपनयन करना या वेदाध्ययन करना है।

स्मृतिकारों की इन व्यवस्थाओं का रूढ़िवादी हिन्दू-समाज पर यह प्रभाव पड़ा कि बाल-विवाह यहाँ की सामाजिक-व्यवस्था का वह अंग हो गया और हिन्दुओं के मस्तिष्क पर यह अमिट प्रभाव पड़ गया कि उन्हें बचपन में ही लड़के-लड़की का विवाह कर देना चाहिए।

(च) दहेज की प्रथा भी बाल-विवाह का कारण है---प्रथाओं के विषय में यह बात ध्यान रखने की है कि एक प्रथा दूसरी प्रथा से बँधी रहती है। दहेज और बाल-विवाह की प्रथा का भी गठ-बंधन है। दहेज लड़के या लड़की के मूल्य के तौर पर दिया जाता है। ज्यों-ज्यों लड़का बड़ा होता जाता है त्यों-त्यों

१. वैवाहिको विधिः स्त्रीणां संस्कारो वैदिकः स्मृतः।
पति-सेवा गुरौ वासः गृहार्थोऽग्निपरिक्रिया॥ (मनु० २।६७)

उसकी अपनी हैसियत भी बढ़ती जाती है। हैसियत बढ़ने के साथ-साथ दहेज की मात्रा भी बढ़ती जाती है। दहेज की मात्रा अपनी शक्ति से बाहर न चली जाय। इसलिए भी लड़की के माँ-बाप लड़की की जल्दी ही शादी कर देने की फ़िक्र में रहते हैं। कहीं ऐसा न हो कि लड़का इतनी हैसियत का शादी से पहले ही हो जाय कि उसकी हैसियत के मुताबिक दाम ही न चुकाया जा सके।

(छ) कौमार्य भंग होने की आशंका भी बाल-विवाह का एक कारण है---ऊपर बाल-विवाह के जो कारण कहे गये हैं, उनमें एक कारण यह भी कहा जा सकता है कि माँ-बाप को लड़की के कौमार्य के विषय में अत्यन्त सतर्क रहना पड़ता है। कौमार्य हिन्दू-विवाह की आधारभूत शर्त्त है। अगर यह पता लग जाय कि अमुक कन्या का कौमार्य भंग हो चुका है तो उससे कोई विवाह करन को तैयार नहीं होता। ज्यों-ज्यों आयु बड़ी होती जाती है, त्यों-त्यों लड़की पर निगरानी बढ़ती जाती है, और कौमार्य भंग होने की आशंका होने लगती है। स्मृतिकारों के समय कहा जाता था कि स्त्री में पुरुष की अपेक्षा काम कई गुणा होता है। होता है या नहीं होता---यह तो स्मृतिकार जानें, परन्तु उनका कथन यही था। सम्भव है इसी कारण वे समझते थे कि काम की अधिकता के कारण कन्याओं के कौमार्य-भंग की आशंका बनी रहती है इसलिए उनका शीघ्र-से-शीघ्र विवाह कर देना चाहिए।

(ज) गौने का रिवाज़---बाल-विवाह के सम्बन्ध में जितने आक्षेप किये जाते हैं उन सब का प्रतिकार करने के लिए हिन्दुओं में द्विरागमन का रिवाज है जिसे गौना या मुकलावा कहते हैं। विवाह तो बाल्यावस्था में कर दिया जाता है, परन्तु विवाह के बाद लड़की अपने माता-पिता के घर ही रहती है, पति के घर नहीं जाती, पति के घर तो तभी जाती है जब उसकी उम्र बड़ी हो जाती है। सम्भव है, यह गौने, मुकलावे या द्विरागमन की प्रथा बाल-विवाह के गुणों का लाभ तथा अवगुणों का प्रतीकार करने के लिए चलाई गई हो। बाल-विवाह का यह गुण था कि विवाहिता स्त्री को कोई मुसलमान अपने धर्म के कारण हाथ नहीं लगा सकता था, बाल-विवाह से दहेज का दाम चढ़ा हुआ नहीं होता था। इसमें अवगुण यह था कि छोटी उम्र में ही विषय-भोग से शक्ति का ह्रास होता था। गौने द्वारा इस दोष को दूर कर दिया गया---इसलिए बाल-विवाह के जो लोग विरोधी थे वे भी इसके विरोध में कुछ न कह सके और बाल-विवाह अपने समाज में निर्बाध गति से चलता रहा।

४. बाल-विवाह के लाभ

बाल-विवाह का लाभ कभी रहा होगा, शायद वह लाभ जिसका हमने मुसलमानों से, जिस समय वे आक्रमण कर रहे थे, तब अपनी बहू-बेटियों की रक्षा करने के रूप में वर्णन किया, परन्तु जब मुसलमान यहाँ बस गये, युद्ध की परिस्थिति न रही, राज्य-व्यवस्था कायम हो गई, तब तो किसी की बहू-बेटी को वे भी यूँ ही नहीं छेड़ सकते थे। यह आपत्कालीन-व्यवस्था के रूप में रहा होगा,

परन्तु उसके बाद जब आपत्कालीन अवस्था बीत गई तब बाल-विवाह सिर्फ़ प्रथा के रूप में रह सकता था, अन्य इसका कोई लाभ नहीं दीखता।

हम पहले लिख आये हैं कि विवाह की आयु को तीन भागों में बाँटा जा सकता है---बाल-विवाह, किशोर-विवाह तथा युवा-विवाह। किशोर-विवाह उस आयु का विवाह है जिसमें बालक-बालिका के शरीर में वीर्य तथा रज उत्पन्न होने लगता है, परन्तु अभी उनका मानसिक-विकास नहीं हुआ होता। इस आयु को 'प्राणि-शास्त्रीय-अवस्था' (Biological age) तो कहा जा सकता है, 'मानसिक-परिपक्वता' की आयु, युवावस्था की आयु या ऐसी आयु जिसमें मनुष्य का सांस्कृतिक-विकास हो जाता हो---'सांस्कृतिक-आयु' (Cultural age) नहीं कहा जा सकता। इन दोनों अवस्थाओं से पहले की आयु में विवाह 'बाल-विवाह' कहलाता है। यह तो विचार का विषय हो सकता है कि 'किशोरावस्था' (Biological age) में विवाह लाभप्रद है या 'युवावस्था' (Cutural age) में, परन्तु इस विषय पर तो कोई विचार हो नहीं हो सकता कि 'बाल्या-वस्था' (Child age) में विवाह का क्या लाभ है? बाल्यावस्था में विवाह से हानि के अतिरिक्त और कोई दूसरी बात हो ही नहीं सकती। किशोरावस्था के विवाह को बाल-विवाह नहीं कहा जा सकता, परन्तु अगर शब्दों के हेर-फेर में न पड़ा जाय, और कुछ देर के लिए किशोरावस्था के विवाह को बाल-विवाह कह दिया जाय, उस अवस्था के विवाह को जिसमें शरीर तो प्रजनन के योग्य हो चुका होता है, परन्तु मनुष्य का मानसिक-विकास अभी अधूरा होता है, आयु के साथ उसका परिपाक होना होता है, तब बाल-विवाह के लाभ अवश्य हैं, परन्तु तब बाल-विवाह के जो लाभ हैं उन्हें किशोरावस्था के विवाह के लाभ कहा जा सकता है, बाल-विवाह के लाभ नहीं। किशोरावस्था के विवाह के लाभों पर हम किशोरावस्था पर लिखते हुए प्रकाश डालेंगे। बाल-विवाह की तो हानियाँ ही हानियाँ हैं, इनका लाभ कोई नहीं है। बाल-विवाह की हानियाँ क्या हैं?

५. बाल-विवाह की हानियां

बाल-विवाह तथा किशोर-विवाह की लगभग एक-सी हानियाँ हैं। यह हम जगह-जगह स्पष्ट कर आये हैं कि बाल-विवाह से हमारा अभिप्राय अपरिपक्व शरीर वाले व्यक्तियों के विवाह से है, किशोरावस्था के विवाह से हमारा अभिप्राय उस अवस्था के विवाह से है जब रज-वीर्य प्रकट होने लगते हैं परन्तु मनुष्य अभी मानसिक दृष्टि से अविकसित होता है। किशोरावस्था तथा उससे पहले के विवाह ---दोनों को बाल-विवाह कहा जा सकता है। इसकी हानियाँ निम्न हैं :---

(क) वर-वधू के स्वास्थ्य का नाश---मानव-शरीर को अन्य किसी कार्य से इतनी थकावट नहीं आती जितनी मैथुन से आती है। अधपके लड़के-लड़कियाँ जब अल्पायु में विवाह कर के मैथुन में प्रवृत्त होते हैं तब उनके शरीर, जो जीवन की उमंग से भरे रहने चाहिएँ, बचपन में ही थकावट की मार से मरे-से दिखाई देते हैं। इनके चेहरे युवावस्था में ही बुढ़ापे की झुर्रियों से मुरझा जाते हैं। बाल्यावस्था का

विवाह स्वास्थ्य का सर्वथा नाश कर देता है। अगर द्विरागमन, गौना या मुकलावे की प्रथा न होती तब तो हर युवा-युवति, जिनका बाल-विवाह हुआ है, शारीरिक-दृष्टि से तबाह हुआ पाया जाता, परन्तु द्विरागमन की वजह से बाल-विवाह का उतना दुष्परिणाम नहीं दिखाई देता जितना होना चाहिए। द्विरागमन के लिए कोई आयु निश्चित नहीं है। विवाह के कभी चार, कभी छः, कभी दस साल बाद द्विरागमन होता है, परन्तु अनेक अवस्थाओं में वह बचपन में ही हो जाता है। जिनका गौना बचपन में ही हो जाता है उन पर बाल-विवाह के दुष्परिणाम शीघ्र अपना फल लाने लगते हैं।

(ख) निर्बल सन्तान—बाल्यावस्था में लड़के-लड़कियाँ पूर्णतया शारीरिक तौर पर भी विकसित नहीं हो पाते, मानसिक-विकास तो उनका अभी हुआ ही नहीं होता। ऐसे माता-पिता जो स्वयं बच्चे हैं किस तरह के बच्चे उत्पन्न करेंगे? इन अविकसित शरीर तथा अविकसित मन के बच्चों के बच्चे तो उनसे भी निर्बल होंगे, इसलिए बाल-विवाह की सब से बड़ी हानि यह है कि इससे देश निर्बल व्यक्तियों से भर जाता है। हमारे देश के लोगों के अन्य देशों के मुकाबिले में न कद हैं, न शरीर का भराव है। इसका यही कारण है कि इस देश की सन्तान युवा पुरुषों तथा स्त्रियों की सन्तान न होकर बच्चों की सन्तान है।

(ग) स्त्रियों की अल्पायु में मृत्यु—सन्तान उत्पन्न करने का सारा बोझ स्त्री पर होता है। अगर उसके प्रजनन के अवयव, गर्भाशय आदि पूर्णतया विकसित नहीं हुए, तो वह बच्चा कैसे पैदा करेगी? यही कारण है कि अधिकांश बच्चियों के जब बच्चे होते हैं, तब वे सन्तान के प्रसव को सहन नहीं कर सकतीं और छोटी ही आयु में चल बसती हैं। बाल-विवाह इस देश की स्त्रियों की मृत्यु-संख्या बढ़ाने का एक बड़ा कारण है।

(घ) बाल-विधवा होना—जैसे बाल-विवाह के परिणामस्वरूप स्त्रियों की मृत्यु हो जाती है, वैसे ही बाल-विवाह के परिणामस्वरूप अति विषय-भोग करने के कारण पुरुष की आयु क्षीण होती है और वह जल्दी ही बुड्ढा हो जाता है, उसे रोग आ घेरते हैं, और अपनी पूर्ण आयु भोगने के स्थान में कूच का डंका बहुत शीघ्र बोल देता है। जब इस देश में बाल-विवाह नहीं होते थे तब 'जीवेम शरदः शतम्'—हम सौ बरस तक जीयें—यह घोषणा की जाती थी, आज इस कुप्रथा का शिकार हो जाने पर इस देश में १९५१ की जन-गणना के अनुसार औसत आयु केवल ३९ वर्ष रह गई है। हमारे युवक अपने घरों को शीघ्र सूना कर देते हैं जिसका परिणाम विधवाओं की संख्या का अधिक होना है। कुप्रथाओं की एक विशेषता यह है कि वे एक-दूसरी कुप्रथा के साथ कारण-कार्य की शृंखला में बँधी रहती हैं। बाल-विवाह के साथ विधवाओं का होना भी इसी का एक उदाहरण है।

(ङ) अनमेल जोड़ों का होना—बाल-विवाह में पति-पत्नी को एक-दूसरे को चुनने का मौका तो होता नहीं। माता-पिता ने जो जोड़ी बचपन में

मिला दी। बड़े होकर इनका विकास किस दिशा में होगा--इसे कोई नहीं जानता। परिणाम यह होता है कि बाल-विवाह के परिणामस्वरूप ऐसे बेमेल जोड़े दिखाई पड़ते हैं जिन्हें देख कर आश्चर्य होता है कि इनकी कैसे निभती होगी। हिन्दू-परिवार में ही, जिसमें यह समझा जाता है कि विवाह तो ईश्वराधीन है, इसमें मनुष्य का अपना कोई बस नहीं, इस प्रकार के जोड़े दिखाई देते हैं, और प्रथा के वशीभूत होकर ही ऐसे जोड़ों के स्त्री-पुरुष एक-दूसरे को बर्दाश्त करते हैं। इस प्रकार के जोड़ों का जीवन परस्पर कलह में बीतता है, या ये लोग प्रथा के रूप में पति-पत्नी का जीवन व्यतीत करते हैं, नहीं तो इनकी प्राइवेट-लाइफ़ और होती है, पब्लिक-लाइफ़ और होती है। ये दोनों शब्द ऐसे ही लोगों के लिए घड़े गये प्रतीत होते हैं।

(च) अधिक सन्तान का होना--बाल-विवाह हो जाने के कारण पुरुष-स्त्री को सन्तान उत्पन्न करने का समय अधिक मिल जाता है। इस देश की समस्या अधिक जन-संख्या पर नियन्त्रण करने की है, बाल-विवाह के कारण तो जन-संख्या के बढ़ने का ही अन्देशा रहता है। अगर यह बढ़ती हुई जन-संख्या स्वस्थ हो, हृष्ट-पुष्ट हो, तब भी यह देश के किसी काम आये, बाल-विवाह से जन-संख्या भी बढ़ती है, साथ ही वह निर्बल तथा निकम्मी होती है।

(छ) वैयक्तिक-विकास का न हो सकना--जीवन अभी शुरू किया नहीं और बच्चों के सिर पर अपने बच्चों की देख-रेख की ज़िम्मेवारी आ पड़ी तो ऐसे माता-पिता का अपना विकास क्या हो सकेगा? बाल-विवाह में अपनी तरफ़ ध्यान देने का तो समय ही नहीं मिलता। जब तक बच्चे अपने को संभालने लायक होते हैं, तब तक इनके सामने दूसरों को--अपने बच्चों को--संभालने की समस्या आ खड़ी होती है।

(ज) शिक्षा में बाधा--बाल-विवाह के कारण लड़के-लड़कियों की शिक्षा अधूरी रह जाती है। जब लड़का स्कूल-कालेज में पढ़ रहा हो तभी उसकी शादी कर दी जाय तो वह पढ़ना-लिखना एकदम छोड़ बैठता है। शिक्षा चलते-फिरते, खेल-तमाशा करते तो आ नहीं जाती। प्राचीन-काल में विद्या ग्रहण करने के समय को ब्रह्मचर्य-काल कहा जाता था। इस काल में पूरे संयम से रहना एक शर्त होती थी। यही कारण था कि वे लोग २४ वर्ष तक विद्याभ्यास करते थे। आज कच्ची उम्र में विवाह कर देने से बच्चे पढ़ना-लिखना छोड़ कर घर बैठ जाते हैं। इसमें आश्चर्य की कोई बात नहीं, यह स्वाभाविक है।

(झ) आर्थिक क्षीणता--आर्थिक-दृष्टि से बाल-विवाह मनुष्य को दीन-हीन बना देता है। संयुक्त-परिवार में तो बच्चों के पालन का बोझ माता-पिता पर होता है, परन्तु आज के युग में जब परिवार की दिशा वैयक्तिक-परिवार की तरफ़ जा रही है, छोटी आयु में विवाह करने पर लड़का अभी अपने पाँवों पर तो खड़ा होने लायक हुआ नहीं होता, बच्चे पैदा कर लेता है। इसका स्वाभाविक परिणाम यह होता है कि उसका जीवन का स्तर गिरता जाता है, और आर्थिक-

दृष्टि से वह दबा रहता है। यही कारण है कि आज के युग में जबकि आर्थिक जद्दोजहद बढ़ती जा रही है, बाल-विवाह अपने-आप कम होते जा रहे हैं। बाल-विवाह वहीं होते हैं जहाँ संयुक्त-परिवार हों या जहाँ माता-पिता इतने सम्पन्न हों कि बच्चों को आर्थिक-समस्या का सामना न करना पड़े।

६. बाल-विवाह का प्रतिरोध

बाल-विवाह के दुष्परिणामों को देश में देर से अनुभव किया जाता रहा है। जितने सुधारक हुए सब ने इस कुप्रथा के विरुद्ध आवाज़ उठाई। राजा राम-मोहन राय, ईश्वरचन्द्र विद्यासागर, ऋषि दयानन्द—इन सब ने इस कुप्रथा को हटाने के लिए आन्दोलनों द्वारा जन-मत तैयार किया। बाल-विवाह के विरुद्ध आन्दोलन को दो समयों में बाँटा जा सकता है। एक तो १९२९ का 'बाल-विवाह-निरोधक अधिनियम' है जिसे 'शारदा-एक्ट' भी कहा जाता है—एक तो इससे पहले का समय, दूसरा इस अधिनियम के स्वीकृत हो जाने के बाद का समय।

(क) शारदा-एक्ट से पहले का समय—१९वीं शताब्दी के प्रारम्भ में राजा राममोहन राय तथा ईश्वरचन्द्र विद्यासागर ने जहाँ सती-प्रथा के विरुद्ध तथा विधवा-विवाह के अनुकूल आन्दोलन किया वहाँ बाल-विवाह के विरुद्ध भी इन सुधारकों ने आवाज़ उठाई। उत्तरी-भारत में ऋषि दयानन्द ने इस दिशा में जन-मत को जागृत किया। इस समय बाल-विवाह अपने जघन्य रूप में चला हुआ था। किसी भी आयु में विवाह हो सकता था और किसी भी आयु में विवाहित पति-पत्नी का यौन-सम्बन्ध हो सकता था। इन सब आन्दोलनों का परिणाम यह हुआ कि १८६० में जो भारतीय-दण्ड-विधान बना उसमें यह कानून बना दिया गया कि १० वर्ष से कम आयु की पत्नी के साथ मैथुन करना बलात्कार समझा जायगा और उसके लिए दण्ड दिया जा सकेगा।

(i) लड़की की विवाह की आयु १० वर्ष—१० वर्ष की आयु क्यों निर्धा-रित की गई? इसका कारण सम्भवतः स्मृतिकारों के वचन थे, उनके आधार पर ही अंग्रेज़ी सरकार ने कम-से-कम १० वर्ष कन्या के विवाह की आयु स्वीकार की, परन्तु यह आयु भी बहुत न्यून थी। यह सब देख कर पारसी-सुधारक बहरामजी मलाबारी ने १८८४ में एक प्रार्थना-पत्र सरकार के पास भेज कर अनुरोध किया कि इस आयु में परिवर्तन करना अभीष्ट है क्योंकि सन्तानोत्पत्ति के लिए यह आयु अत्यन्त स्वल्प है। मलाबारी का पत्र प्रान्तीय-सरकारों के पास सम्मति के लिए भेजा गया, इस पर काफ़ी बहस हुई, परन्तु अंग्रेज़ी सरकार ने वाद-विवाद के बाद यह तय किया कि हिन्दुओं के आन्तरिक मामलों में उन्हें हस्त-क्षेप नहीं करना चाहिए। मलाबारी का प्रयत्न एक समाज-सुधारक का प्रयत्न था, परन्तु उसका परिणाम कुछ न निकला।

(ii) लड़की की विवाह की आयु १२ वर्ष—इस बीच १८९० में एक घटना घटी। एक बंगाली लड़की थी फूलमणि दासी। उसका ११ वर्ष की आयु में पति के साथ सहवास से देहान्त हो गया। पति पर पत्नी-हत्या का अभियोग

चलाया गया। उसने 'भारतीय-दण्ड-विधान' (Indian Penal Code) की वह धारा पेश की जिसमें पति-पत्नी के सहवास की आयु १० वर्ष स्वीकार की गई थी। इस समय मलाबारी आदि के प्रयत्न से इस विषय पर फिर विचार हुआ और पति-पत्नी के सहवास की आयु १० वर्ष से बढ़ा कर १२ वर्ष कर दी गई। इस कानून को 'सहवास-स्वीकृति-कानून' (Consent Act) कहा गया। पत्नी की विवाह के समय आयु कम-से-कम १२ वर्ष होनी चाहिए—यह कानून १८९१ में बना।

(iii) लड़की की विवाह की आयु १४ वर्ष—कन्या के विवाह की आयु १२ वर्ष भी बहुत थोड़ी थी, इसलिए १९२४ में सर हरिसिंह गौड़ ने इस आयु को १४ वर्ष तक करने का केन्द्रीय-विधान-सभा में बिल रखा। यह बिल बहुत आगे नहीं बढ़ सका। फिर १९२७ में सर हरिसिंह गौड़ ने दुबारा इस आशय का बिल पेश किया जिसके अनुसार एक कमेटी बनाई गई जिसका नाम 'एज ऑफ़ कनसेंट कमेटी' (Age of Consent Committee) था। इस कमेटी ने यह मत दिया कि विवाह के लिए कन्या की १२ वर्ष की आयु हानिप्रद है, यह आयु कम-से-कम १४ वर्ष की होनी चाहिए।

(iv) लड़की की विवाह की आयु १५ वर्ष—शारदा-एक्ट में तो लड़की की विवाह की आयु १४ वर्ष ही दी गई है, परन्तु बाद के संशोधनों के अनुसार यह आयु अब १५ वर्ष कर दी गई है।

(ख) शारदा-एक्ट के बाद का समय—उक्त कमेटी की सिफ़ारिशों के बाद श्री हरविलास शारदा का 'बाल-विवाह-निषेधक-कानून' (Child Marriage Restraint Act) केन्द्रीय-विधान-सभा में १९२९ में स्वीकृत हुआ जिसके अनुसार विवाह के समय लड़के की आयु कम-से-कम १८ तथा लड़की की आयु कम-से-कम १४ वर्ष होनी चाहिए। क्योंकि यह बिल हरविलास शारदा ने पेश किया था इसलिए इसे 'शारदा-एक्ट' कहा जाता है। इस कानून की मुख्य बातें निम्न थीं :—

[बाल-विवाह-निषेधक-अधिनियम, १९२९]

(क) विवाह की आयु—इस कानून के अनुसार विवाह के समय लड़के की आयु १८ तथा लड़की की आयु १४ वर्ष[1] से अधिक होनी चाहिए। इस आयु से कम आयु वालों को बाल समझा जायगा और उस आयु में जो विवाह होगा उसे बाल-विवाह कहा जायगा।

(ख) बाल-विवाह के लिए दण्ड की व्यवस्था—बाल-विवाह के लिए इस अधिनियम में भिन्न-भिन्न व्यक्तियों को जो बाल-विवाह के अपराधी हैं, भिन्न-भिन्न दण्ड देने की व्यवस्था की गई है, जो निम्न है :

१. लड़की के विवाह की आयु १९४९ में १४ से १५ वर्ष कर दी गई।

(i) १८ वर्ष से ऊपर तथा २१ वर्ष से नीचे की आयु वाले को बाल-विवाह के लिए दण्ड—अगर कोई लड़का जिसकी आयु १८ वर्ष से ऊँची और २१ वर्ष से नीची है, अगर वह १४ वर्ष से कम आयु की कन्या से विवाह करेगा तो उसे १५ दिन का साधारण कारावास या एक हजार रु० तक का जुर्माना या दोनों दण्ड एक-साथ दिये जा सकते हैं।

(ii) २१ वर्ष से ऊपर वाले को बाल-विवाह के लिए दण्ड—अगर कोई व्यक्ति जिसकी आयु २१ वर्ष से ऊँची होगी १४ वर्ष से कम उम्र की कन्या से विवाह करेगा, तो उसे तीन मास तक की साधारण कैद तथा जुर्माना किया जा सकता है।

(iii) बाल-विवाह के कराने में सहायकों को दण्ड—जो व्यक्ति बाल-विवाह कराने, करने या इसमें सहायक होगा उसे तीन मास तक की साधारण कैद तथा जुर्माना किया जा सकता है।

(iv) बाल-विवाह कराने वाले माता-पिता को दण्ड—जो माता-पिता या संरक्षक ऐसे विवाह होने देंगे उन्हें ऐसा बाल-विवाह होने पर तीन मास तक की साधारण कैद तथा जुर्माना हो सकता है। यह जरूरी नहीं कि इस प्रकार के विवाह के लिए वे स्वयं उत्तरदायी हों। ऐसे विवाह की स्वीकृति देना, हो जाने देना या उनकी असावधानी से ऐसा विवाह हो जाना अपराध कहलाने के लिए पर्याप्त है।

(v) स्त्री को दण्ड नहीं मिलेगा—इस नियम के अन्तर्गत किसी स्त्री को कैद का दण्ड नहीं दिया जा सकेगा।

(vi) प्रेज़ीडेंसी मैजिस्ट्रेट या प्रथम श्रेणी का मैजिस्टेट जाँच करेगा—इस अधिनियम के अन्तर्गत जो शिकायत होगी उसकी जाँच तथा उसके सम्बन्ध का मुकदमा प्रेज़ीडेंसी मैजिस्ट्रेट या प्रथम श्रेणी के मैजिस्ट्रेट की अदालत में ही चल सकेगा, निचली अदालत में नहीं।

(ग) बाल-विवाह हो जाने पर वह त्याज्य (Void) नहीं होगा—अगर बाल-विवाह हो गया है तो कानून द्वारा उसे त्याज्य, अर्थात् विवाह सम्पन्न ही नहीं हुआ, ऐसा घोषित नहीं किया जा सकेगा। विवाह तो वह माना जायगा, परन्तु उस विवाह के लिए दण्ड दिया जायेगा।

(घ) बाल-विवाह 'ज्ञापनीय' (अप्रसंज्ञेय—Non-cognizable) अपराध है—इस अधिनियम के अन्तर्गत बाल-विवाह ऐसा अपराध है जो 'ज्ञातव्य' (प्रसंज्ञेय—Cognizable) अपराध नहीं, अपितु 'ज्ञापनीय' (Non-cognizable) अपराध है। इसकी सूचना अगर कोई व्यक्ति पुलिस को देगा तभी इस पर कार्यवाही हो सकेगी, पुलिस अपने-आप इस अपराध पर कार्यवाही नहीं करेगी।

(ङ) एक वर्ष बाद कोई शिकायत नहीं हो सकती—इस कानून के अन्तर्गत जो भी शिकायत हो, वह एक साल के अन्दर-अन्दर ही हो सकती हैं, एक साल के बाद कोई शिकायत नहीं सुनी जा सकती।

नोट—१९२९ के अधिनियम के बाद इस अधिनियम में संशोधन होते रहे हैं तथा १९४९ के संशोधनों के अनुसार लड़के की विवाह-योग्य आयु तो १८ रही, परन्तु लड़की की विवाह-योग्य आयु १५ कर दी गई है। अब लड़की की विवाह की आयु १४ के स्थान में १५ वर्ष हो गई है।

[बाल-विवाह-निषेधक-अधिनियम की आलोचना]

बाल-विवाह के निषेध का कानून तो १९२९ में पास हो गया, परन्तु १९५१ की जन-गणना रिपोर्ट के अनुसार भारत में ५ से १४ वर्ष की आयु के विवाहित पुरुषों की संख्या २८ लाख ३३ हजार थी, इस आयु की विवाहिता स्त्रियों की संख्या ६१ लाख १८ हजार थी, इस आयु के विधुर पुरुषों की संख्या ६६ हजार तथा विधवाओं की संख्या १ लाख ३४ हजार थी। इसका अर्थ यह हुआ कि इस अधिनियम के पास होने पर भी बाल-विवाहों की संख्या पर्याप्त थी। इसका अर्थ यह नहीं कि बाल-विवाहों पर इस कानून का कोई प्रभाव नहीं पड़ा। इस कानून के बनने के बाद से बाल-विवाह कम जरूर होने लगे। पिछले दस वर्षों में १५ साल तक की विवाहिता स्त्रियों का अनुपात कुल विवाहिता स्त्रियों के अनुपात की तुलना में गिर गया है। उदाहरणार्थ, १९४१ में यह अनुपात ९.६ प्रतिशत था, १९५१ में यह गिर कर ७.४ प्रतिशत हो गया। इसका अर्थ यह हुआ कि इन दस सालों में स्त्रियों की विवाह की आयु ऊँची हो गई, अर्थात् बाल-विवाह कुछ कम हो गया। परन्तु फिर भी बाल-विवाह की जो संख्या हमने दी है वह सिद्ध करती है कि अभी इस दिशा में हमें सफलता नहीं मिल रही। सफलता न मिलने का कारण उक्त अधिनियम का दोषपूर्ण होना है। उक्त अधिनियम में निम्न दोष हैं:—

(क) इस अधिनियम के अनुसार बाल-विवाह त्याज्य नहीं है—जैसा हम ऊपर लिख आये हैं, इस अधिनियम के अनुसार बाल-विवाह को सिर्फ़ अपराध घोषित किया गया है। यह घोषित नहीं किया गया कि विवाह हो जाने पर उसे विवाह माना ही नहीं जायगा। अगर कानून में ऐसी व्यवस्था होती कि बाल-विवाह हो जाने पर भी वह विवाह नहीं माना जायगा, 'त्याज्य' (Void) समझा जायगा, तब इस विवाह से लोग हट जाते। बाल-विवाह को सर्वथा रोकने के लिए इसे अपराध घोषित करना ही काफ़ी नहीं है, इसे 'त्याज्य' घोषित कर देना भी जरूरी है जिससे यह विवाह विवाह ही न माना जाय।

(ख) बाल-विवाह 'ज्ञातव्य' अपराध नहीं है—बाल-विवाह इसलिए भी नहीं रुकता क्योंकि यह 'ज्ञातव्य' (Cognizable) अपराध नहीं है। 'ज्ञातव्य' अर्थात् जिसकी पुलिस अपनी तरफ़ से निगरानी रखे। अगर यह अपराध पुलिस के दफ्तर में होता है और इसकी कोई शिकायत नहीं करता, तो यह अपराध अपराध नहीं है। अब भला किसे पड़ी है जो बाल-विवाहों की खोज करके उनकी शिकायत कर दुश्मनी मोल लेता फिरे। कुछ समाज-सुधारक संस्थाएँ समाज-सुधार के ख्याल से ऐसा कर सकती हैं, परन्तु उनके पास भी कचहरी भुगतने के लिए समय

कहाँ है ? ऐसी हालत में इसको सर्वथा रोकने के लिए इस अपराध को जबतक 'ज्ञातव्य' (Cognizable) अपराध नहीं घोषित कर दिया जाता, तबतक यह अपराध रुकता नहीं दीखता।

(ग) एक वर्ष बाद इस पर कोई कार्यवाही नहीं हो सकती—इस कानून में तीसरा दोष यह है कि विवाह हो जाने के एक बर्ष के अन्दर-ही-अन्दर इसके विरुद्ध कार्यवाही हो सकती हैं, बाद को नहीं। एक वर्ष तक कार्यवाही न होने देना कोई कठिन बात नहीं है, बाद को तो हो ही नहीं सकती।

(घ) बाल-विवाह के लिए दण्ड बहुत साधारण है— बाल-विवाह इसलिए भी एकदम नहीं रुकते कि इसके लिए दण्ड-व्यवस्था में कुल १५ दिन का साधारण कारावास दिया जा सकता है। असल में, इतना दण्ड भी कोई नहीं देता, इससे दण्ड का भय किसी को नहीं है।

७. किशोरावस्था का विवाह

बाल-विवाह हिन्दू-समाज के शरीर में रोग के समान है, यह किसी आवश्यकता को पूरा करने के स्थान में हिन्दू-समाज का अभिशाप बना हुआ है। विवाह के विषय में सिर्फ़ दो आयुओं को सम्मुख रखकर सोचा जा सकता है—'किशोरावस्था' जिसे हम 'प्राणि-शास्त्रीय-अवस्था' (Biological age) कह आये हैं तथा 'युवावस्था' जिसे हम 'सांस्कृतिक-अवस्था' (Cultural age) कह आये हैं। बाल-विवाह न तो 'प्राणि-शास्त्रीय-आवश्यकता' (Biological need) को पूरा करता है क्योंकि इस समय सन्तानोत्पत्ति के लिए शरीर का विकास नहीं हुआ होता, न यह 'सांस्कृतिक-आवश्यकता' (Cultural need) को पूरा करता है क्योंकि इस समय मानसिक-विकास भी नहीं हुआ होता। विवाह के सम्बन्ध में विकल्प केवल 'किशोरावस्था' तथा 'युवावस्था' के विवाह में रह जाता है जिनमें से पहली 'प्राणि-शास्त्रीय-अवस्था' है, दूसरी 'सांस्कृतिक-अवस्था' है। इन दोनों अवस्थाओं में किस में विवाह करना उचित है, और इन दोनों में से जिसमें भी विवाह करना उचित है, उसमें विवाह के क्या लाभ हैं, क्या हानियाँ हैं ? इसी प्रश्न को दूसरे शब्दों में यों कह सकते हैं कि विवाह जल्दी करना चाहिये या देर में, 'किशोरावस्था' में या 'युवावस्था' में, 'प्राणि-शास्त्रीय-आयु' में या 'सांस्कृतिक-आयु' में, १८–२० वर्ष की उम्र में या ३०–३५ वर्ष की उम्र में ? इस प्रकरण में पहले हम 'किशोरावस्था' के विवाह के लाभ तथा हानियों पर, फिर 'युवावस्था' के विवाह के लाभ तथा हानियों पर विचार करेंगे।

[किशोरावस्था के विवाह के लाभ]

(क) स्वभाव अनुकूल बनाया जा सकता है—'किशोरावस्था' वह अवस्था है जिसमें लड़का-लड़की परिपक्व आयु के कहे जा सकते हैं, जिसे हमने 'प्राणि-शास्त्रीय-अवस्था' कहा है, जिसमें वे दोनों सन्तान उत्पन्न करने के योग्य तो होते हैं, परन्तु अभी उनका मानसिक-विकास पूरा नहीं हुआ होता। शारदा-एक्ट में स्वीकार की गई लड़के की १८ तथा लड़की की १५ वर्ष की आयु को किशोरावस्था

कहा जा सकता है। इस आयु में विवाह करने का लाभ यह है कि इस आयु में लड़के-लड़की की आदतें, उनका स्वभाव बन रहा होता है, पूरा बन चुका नहीं होता। लड़का-लड़की इस आयु में एक-दूसरे के साथ रह कर एक-दूसरे के अनुरूप बन सकते हैं। बड़ी आयु में तो मनुष्य का अपना-अपना स्वभाव दृढ़ हो चुका होता है, उसमें वे अपने को एक-दूसरे के अनुकूल नहीं बना सकते, थोड़ी-थोड़ी बात में झगड़ पड़ते हैं। लड़के-लड़की को आपस में ही अनुकूलता पर्याप्त नहीं है, लड़की ने तो ससुराल में जाकर बिलकुल नवीन परिवार के साथ मेल बनाना होता है। १५-१६ वर्ष की आयु में लड़की अपनी सुसराल जाकर वहाँ के रीति-रिवाज तथा चलन के साथ आसानी से अपने को ढाल सकती है।

(ख) देश को युवा पुरुष अधिक मिल जाते हैं—इसके अतिरिक्त इस आयु में विवाह करने का दूसरा लाभ यह है कि क्योंकि इससे सन्तानोत्पत्ति जल्दी शुरू हो जाती है, इसलिए देर से विवाह करने की अपेक्षा इस आयु में विवाह करने से सन्तानें अधिक होती हैं। अधिक सन्तान होने का अर्थ है देश में युवा पुरुषों तथा स्त्रियों की संख्या का अधिक होना। जिस घर में बालक-बालिका अधिक होंगे, वहाँ बच्चों को बच्चों के साथ खेलने का अवसर अधिक मिलेगा। बच्चे बच्चों के साथ रह कर ही खुश रहते हैं। युवावस्था में शादी होने से सन्तानोत्पत्ति का समय कम रह जाता है, इससे सन्तानों की संख्या अपने आप कम हो जाती है, देश में बालक-बालिका कम होने से युवा पुरुषों तथा स्त्रियों की संख्या भी कम रहती है। बालक-बालिकाओं को बच्चों के साथ समय बिताने के स्थान में बड़ी उम्र के लोगों के साथ समय बिताना पड़ता है। अगर माता-पिता बहुत सुशिक्षित हों, तब तो ठीक, नहीं तो बच्चों का बड़ों के साथ रहना विकास के लिए उचित नहीं बैठता। बड़ी आयु के विवाह में माता-पिता की जिम्मेदारी बहुत बढ़ जाती है, उन्हें अपने को इस योग्य बनाना पड़ता है कि वे सन्तान के खेल-कूद में साथ दे सकें, उनके साथी हो सकें। किशोरावस्था की शादी में क्योंकि देश में बच्चों की संख्या बढ़ने की सम्भावना है, इसलिए देश में युवक स्वतः बढ़ जाते हैं, देश का वातावरण युवकों का वातावरण बन जाता है, आशा का वातावरण, उत्साह तथा उमंग का वातावरण।

(ग) अनैतिकता नहीं फैलती—लड़कों की १८-२० के आस-पास शादी कर देने से अनैतिकता पर भी प्रतिबन्ध लग जाता है। इस आयु में लड़के-लड़की के शरीर में कुछ प्राकृतिक-परिवर्तन होने लगते हैं; काम-वासना का उदय होने लगता है, लैंगिक आकर्षण युवक तथा युवति को एक-दूसरे की तरफ़ खींचता है। इस अवस्था में अगर उन्हें वैध उपायों से अपनी मनोकामना को पूरा करने का अवसर मिल जाय, तो वे अप्राकृतिक उपायों का अवलम्बन नहीं करते, अन्यथा वे अनैतिक उपायों का अवलम्बन करने लगते हैं और व्यभिचार की मनोवृत्ति उत्पन्न हो जाती है।

(घ) जिम्मेदारी की भावना—इस आयु में व्यक्ति प्रायः उच्छृंखल होता है, किसी जिम्मेदारी को निभाना नहीं चाहता। यही कारण है कि इस आयु में लोग काम करना नहीं चाहते, काम मिल भी जाय तो निठल्लापन ज्यादा पसन्द करते हैं। इस आयु में अगर विवाह हो जाय, तो विवाह होते ही जिम्मेदारी का बोझ सिर पर आ पड़ता है, बच्चे होने लगें तब तो जिम्मेदारी और अधिक बढ़ जाती है। अपने-आप को इस प्रकार जब मनुष्य जिम्मेदारियों से घिरा पाता है तो कुछ-न-कुछ काम करता है, हाथ-पैर पटकता है, और इस करने तथा हाथ-पैर पटकने में ही कई लोग जीवन में बड़ी सफलता प्राप्त कर लेते हैं। काम करना सफलता पाने की कुंजी है।

[किशोरावस्था के विवाह के दोष]

(क) बलिष्ठ सन्तान का न होना—किशोरावस्था में 'प्राणि-शास्त्र' की दृष्टि से सन्तान तो हो सकती है, परन्तु इस आयु में किशोर-किशोरी का शारीरिक-विकास भी उतना नहीं हुआ होता कि इनको सन्तान हृष्ट-पुष्ट हो। डा० कोवन अपनी पुस्तक 'साइन्स ऑफ़ न्यू लाइफ़' में लिखते हैं :—"विवाह-योग्य आयु निश्चित करने में सब से बड़ी ग़लती यह की जाती है कि किशोरावस्था को विवाह-योग्य अवस्था समझ लिया जाता है। यह ग़लत धारणा है। विवाह उन स्त्री-पुरुषों का होना चाहिए जो शारीरिक-दृष्टि से पूर्ण परिपक्व हों। पूर्ण-परिपक्वता का अभिप्राय यह है कि मानव-शरीर के प्रत्येक अंग का पूर्ण विकास हो चुका हो। जब किशोरावस्था आती है, तब शरीर की अस्थियों की परिपक्वता पूर्ण नहीं हो चुकी होती। अस्थियाँ ही तो शरीर के सब संस्थानों की आधार हैं—मांस-पेशियाँ, तन्तु-संस्थान, रुधिर-संस्थान, पाचन-संस्थान—सभी तो अस्थियों के आधार पर खड़े हैं। जब अस्थियों का पूर्ण परिपाक नहीं हुआ, तो प्रजननांगों का भी पूर्ण परिपाक नहीं हुआ। किशोरावस्था में प्रजनन के अंगों में जो परिपक्वता दृष्टि-गोचर होती है वह परिपाक का प्रारम्भ है, और इसके प्रारम्भ होते ही प्रजनन प्रारम्भ कर देना उचित नहीं। शारीरिक-परिपाक पूर्ण न होने के कारण किशोरावस्था का विवाह उचित नहीं है।"

(ख) शिक्षा में रुकावट—आजकल लड़के १८–२० वर्ष तथा लड़कियाँ १५–१६ वर्ष की आयु में शिक्षा ग्रहण कर रही होती हैं, कालेज में पढ़ रही होती हैं। इस आयु में विवाह कर देने से उनकी शिक्षा में बाधा पड़ जाती है। आज के आर्थिक-संघर्ष के युग में, और आगे क्या आर्थिक-रचना होने वाली है—पूंजी-वादी, समाजवादी या अन्य-कोई वादी—ऐसे युग में सम्पन्न से सम्पन्न परिवार को अपनी लड़की को इतनी शिक्षा दे ही देनी चाहिए जिससे वह अपने पाँवों पर खड़े होने योग्य हो जाय, ऐसे युग में शिक्षा को बन्द करके विवाह कर देना सर्वथा अनुचित प्रतीत होता है। किशोरावस्था में विवाह कर देने से शिक्षा रुक जाती है। ऐसे लोग हैं जो विवाह कर लेने के बाद भी शिक्षा को जारी रखते हैं, परन्तु उनकी

संख्या कम है। कम-से-कम विवाह के बाद शिक्षा को जारी रख सकना कई दृष्टियों से कठिन अवश्य हो जाता है।

(ग) जन-संख्या की वृद्धि—जैसा हम पहले लिख आये हैं किशोरावस्था में विवाह करने से सन्तान उत्पन्न करने का समय अधिक मिल जाता है, इसका परिणाम जन-संख्या का बढ़ जाना है। आज तो अपने देश में जन-संख्या एक समस्या बनी हुई है, जो लोग मौजूद हैं उन्हें ही खाने को नहीं मिल रहा, और बढ़ेंगे तो क्या हाल होगा? इसी दृष्टि से परिवार-नियोजन आदि के कार्य-क्रम चलाये जा रहे हैं। ऐसी हालत में किशोर-विवाह जन-संख्या को बढ़ा कर देश के लिए एक समस्या बन सकता है।

८. युवावस्था का विवाह

'किशोरावस्था' के बाद 'युवावस्था' आती है। पुरुष २५ वर्ष तथा स्त्री १८–२० वर्ष के बाद युवावस्था में प्रवेश करती हैं। इस अवस्था में विवाह करने के लाभ तथा हानियाँ क्या हैं?

[युवावस्था में विवाह के लाभ]

(क) ये विवाह अपनी पूरी जिम्मेदारी को समझ कर होते हैं—२५ या इससे ऊँची आयु के युवक तथा १८–२० वर्ष की युवति के विवाह का यह लाभ है कि ऐसे विवाह खूब देख-भाल कर होते हैं, पुरुष तथा स्त्री की रजामन्दी से होते हैं, इसलिए इनकी जिम्मेवारी पति-पत्नी पर आ पड़ती है, माता-पिता पर नहीं आती। अगर इन लोगों की आगे जाकर नहीं बनती, तो वे किसी दूसरे को दोषी नहीं ठहरा सकते।

(ख) शारीरिक-परिपाक की अवस्था—इस अवस्था में पुरुष तथा स्त्री के अपने शरीर की जितनी वृद्धि होनी होती है हो चुकती है, इसलिए इस आयु का विवाह मनुष्य के अपने शारीरिक-विकास में बाधा नहीं पहुँचाता। इस परिपक्व शरीर से जो सन्तान होती है वह हृष्ट-पुष्ट होती है, तन्दुरुस्त होती है। कच्चे शरीर से कच्ची सन्तान और परिपक्व शरीर से परिपक्व सन्तान होना लाजमी है।

(ग) जन-संख्या पर नियन्त्रण—इस आयु में सन्तान उत्पन्न करने का समय थोड़ा रह जाता है, इसलिए सन्तान उतनी नहीं हो सकतीं जितनी बाल-विवाह या किशोर-विवाह में हो जाती हैं। आजकल परिवार-नियोजन के युग में यह लाभ की बात है।

[युवावस्था में विवाह की हानियाँ]

(क) देर तक झंझट में फँसे रहना—युवावस्था के विवाह की हानि यह है कि क्योंकि ऐसे दम्पती की सन्तान देर में होती है, इसलिए उन्हें देर तक दुनिया के झंझटों में फँसे रहना पड़ता है। २६–२७ वर्ष में जिसकी पहली सन्तान होगी, वह अपनी पहली सन्तान को ५० साल की आयु से पहले काम-धंधे में लगा हुआ नहीं देख सकता। दो-चार और सन्तानें हो गईं तो छोटे बच्चों को छोड़ कर ही दुनिया से कूच करना पड़ता है।

(ख) बच्चों का समुचित-विकास नहीं हो पाता—प्रायः बड़ी उम्र की शादी के बाद सन्तानें भी कम ही होती हैं जिसका नतीजा यह होता है, कि इनके बच्चों को, खेल-कूद के लिए, बच्चों के साथ जीवन बिताने का मौका नहीं मिलता। इनकी सन्तान माता-पिता के साथ ही दिन बिताती है। छोटे बच्चे और बड़ी उम्र के साथी—इसका इन बच्चों के विकास पर बहुत अच्छा असर नहीं पड़ता। माता-पिता का स्तर बहुत ऊँचा हो, वे मनोविज्ञान के रहस्यों को समझते हों, तभी इनकी सन्तान को जीवन की ठीक दिशा मिल सकती है।

(ग) समाज में वृद्धों की संख्या में वृद्धि—बड़ी उम्र के माता-पिता की सन्तान क्योंकि कम होती हैं, अतः समाज में नव-युवकों की संख्या अपेक्षाकृत कम हो जाती है जिसके परिणामस्वरूप समाज में वृद्ध-पुरुषों के गम्भीर विचारों का आधिक्य हो जाता है। ऐसे समाज में नव-युवकों को आमोद-प्रमोद की अपेक्षा चारों तरफ़ वृद्ध-पुरुषों की संजीदगी-ही-संजीदगी दिखाई देती है।

(घ) पति-पत्नी के सामंजस्य में कठिनता—इस आयु में जिनका विवाह होता है उनकी आदतें, उनका स्वभाव बन चुका होता है, पक चुका होता है। ऐसे पति-पत्नी की भिन्न-भिन्न रुचियां तथा भिन्न-भिन्न स्वभाव होते हैं। जबतक एक ही स्वभाव के लोग न मिलें तब तक ऐसे विवाहों में स्वभाव-भेद के कारण पारस्परिक-संघर्ष अधिक हो सकता है। यह दूसरी बात है कि क्योंकि इस आयु में विवाह करने वाले विवाह करने की अपनी जिम्मेदारी को समझते हैं इसलिए वे समझौता भी करने के लिए तैयार रहते हैं, परन्तु इनका संघर्ष रहने की सम्भावना अधिक रहती है।

९. किस आयु में विवाह करना चाहिये?

ऊपर हमने जो-कुछ लिखा उससे स्पष्ट है कि बाल-विवाह तो हर हालत में अनुचित है, किशोरावस्था के विवाह के कुछ हानि-लाभ हैं, युवावस्था के विवाह के भी कुछ हानि-लाभ हैं, परन्तु इन दोनों की तुलना में किशोरावस्था तथा युवावस्था के बीच के विवाह अधिक उपयुक्त हैं। जो लोग विवाह करने में उतावली करते हैं वे भी पछताते हैं, जो ठीक जीवन-साथी मिलने की इन्तिजार में ही बैठे रहते हैं वे भी पछताते हैं। विवाह का ठीक आयु में हो जाना ही लाभकर है।

२८

हिन्दू-विवाह-सम्बन्धी समस्याएँ—विधवा की स्थिति

(PROBLEMS CONNECTED WITH HINDU MARRIAGE —WIDOW MARRIAGE)

१. विधवा-शब्द की परिभाषा

हिन्दू-समाज में स्त्री की स्थिति पर विचार करते हुए विधवा की स्थिति पर विचार करना आवश्यक है क्योंकि स्त्री को जो भी कष्ट होते हैं उनमें सब से भयंकर कष्ट उसका वैधव्य-जीवन का है। 'विधवा'-शब्द का क्या अर्थ है? संस्कृत में 'धव' पति को कहते हैं, 'वि' का अर्थ है—विगत। जिसका पति विगत हो जाय, समाप्त हो जाय, वह 'विधवा' कहलाती है। परन्तु पति के विगत हो जाने मात्र से कोई स्त्री विधवा बनी ही रहे—यह बात नहीं। अगर वह पति के मरने के बाद फिर विवाह कर लेती है, तो वह विधवा नहीं रहती, सधवा हो जाती है। 'विधवा' कहलाने के लिए पति के मरने के बाद विवाह न कराना आवश्यक है। चिर-काल से हिन्दुओं में पति के मर जाने पर स्त्री के विवाह न करने की प्रथा चली हुई है और 'वैधव्य' की यह संस्था स्त्री-जाति के अनेक कष्टों का कारण बनी हुई है।

२. वैदिक-काल में विधवाओं की स्थिति

आज हिन्दू-समाज में विधवा-विवाह नहीं होता, परन्तु वैदिक-काल में ऐसा नहीं था। ऋग्वेद १०.१८.८ में लिखा है—"ऐ लम्बे बालों वाली! उठ, तू उसका अवलम्ब लिये बैठी है जिसका जीवन चला गया है, मृत-जगत् को छोड़ कर जीवित-जगत् की तरफ़ आ। अपने पति को छोड़ कर उस व्यक्ति की पत्नी बन जो तेरा हाथ ग्रहण करने के लिए तैयार है।" अथर्ववेद[1] में १२.२.३९ में लिखा है—"जब स्त्री का पति मर जाता है तब उसे फिर दूसरा घर बसाना पड़ता है। इसी वेद के ९.५.२७वें[2] मंत्र में लिखा है—"जब स्त्री का पहला पति मर जाता है और उसे दूसरा पति करना पड़ता है, तब अगर वह पञ्चौदन-यज्ञ करती है तो

---

१. प्राह्याः गृहाः सं सृज्यन्ते स्त्रिया यन्म्रियते पतिः।
ब्रह्मैव विद्वानेष्यो३ यः क्रव्यादं निरादधत्॥ (अथर्व० १२-२-३९)

२. यः पूर्वं पतिं वित्त्वाथान्यं विन्दतेऽपरम्।
पञ्चौदनं च तावजं ददातो न वि योषतः॥ (अथर्व० ९-५-२७)

वह पति से वियुक्त नहीं होती।" अथर्ववेद[1] के ९.५.२८ में लिखा है—"दूसरा पति विधवा स्त्री के साथ पञ्चौदन-यज्ञ द्वारा विवाह कर के अपनी जाति म समानता से स्थान पाता है।" वैदिक-साहित्य का 'देवर'-शब्द सिद्ध करता है कि इस काल में विधवा को पति के मर जाने पर उसके भाई से विवाह करने का विधान था। 'देवर' का अर्थ है—'द्वितीयो वरः इति देवरः'—जो दूसरा वर हो। पति के मर जाने पर उसका भाई दूसरा वर माना जाता है।

इन वेद-मंत्रों से स्पष्ट है कि इस देश के अति-प्राचीन-काल में, जिसे वैदिक-काल कहा जाता है, विधवाओं के विवाह पर कोई प्रतिबन्ध नहीं था, पत्नी के मरने पर जैसे पति को विवाह करने का अधिकार था वैसे ही स्त्री को भी पति के मरने पर विवाह करने का वैसा ही अधिकार था। विधवा-विवाह करने वाली स्त्री को वैदिक-भाषा में 'पुनर्भूः' कहा गया है।

वैदिक-काल के बाद महाभारत-काल तक विधवा-विवाह पर कोई रोक-टोक नहीं थी। उदाहरणार्थ, अर्जुन ने एक विधवा से विवाह किया था और उस विवाह की सन्तान का नाम था—'इरावान्'—जो वैध संतान मानी गई अवैध नहीं।

३. मध्य-युग में विधवाओं की स्थिति

स्मृतियों का युग अपने देश के इतिहास का मध्य-युग है। इस युग में स्मृतियाँ लिखी गईं। स्मृतियों में कोई एक बात निश्चित रूप में नहीं पायी जाती। इस युग में विधवा-विवाह के पक्ष और विपक्ष में दोनों प्रकार की बातें पायी जाती हैं। क्योंकि इस युग से पहले के युग में विधवा-विवाह प्रचलित था इसलिए यही युक्ति-युक्त प्रतीत होता है कि इस युग में जन-मत धीरे-धीरे विधवा-विवाह के विरोध में हो रहा था और इसलिए किसी स्मृति में तो पुरानी चली आ रही बात का जिक्र है, किसी में इस युग की नवीन विचार-धारा का जिक्र है और यही कारण है कि स्मृतियों में दोनों प्रकार के विचार पाये जाते हैं। मनु-स्मृति[2] ९ अध्याय, १७६ श्लोक में लिखा है—"यदि स्त्री अक्षतयोनि हो, उसका पूर्व-पुरुष से यौन-सम्बन्ध न हुआ हो तो उसका पौनर्भव पति से फिर विवाह-संस्कार हो सकता है।" मनु-स्मृति ३ अध्याय, १६६ श्लोक में पुनर्विवाह करने वाली स्त्रियों के अनेक पतियों का जिक्र किया गया है और इसी अध्याय के १५५, १८१ श्लोकों में इन पुनर्विवाही स्त्रियों की सन्तानों का जिक्र है। वसिष्ठ संहिता[3] में लिखा है—"अगर पति की मृत्यु के समय स्त्री का केवल मन्त्रों के उच्चारण से विवाह हुआ है और

१. समानलोको भवति पुनर्भुवापरः पतिः।
   योऽजं पञ्चौदनं दक्षिणाज्योतिषं ददाति॥ (अथर्व० ९-५-२८)
२. सा चेदक्षतयोनिः स्याद् गतप्रत्यागतापि वा।
   पौनर्भवेन भर्त्रा सा पुनः संस्कारमर्हति। (मनु० ९-१७६)
३. Sacred Books of the East, Vol. XIV, p. 92.

उसका पति से संयोग न हुआ हो तो उसका फिर से विवाह हो सकता है।" मध्य-युग में चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य ने अपने बड़े भाई के मर जाने पर उसकी विधवा पत्नी से ब्याह किया।

वसिष्ठ तथा पराशर स्मृति[1] में लिखा है कि यदि पति गुम हो जाय, मर जाय, साधु बन जाय, नपुंसक हो या पतित हो जाय, तो उसका दूसरा पति किया जा सकता है। इस प्रकरण में मर जाने पर पुनर्विवाह का वर्णन स्पष्ट तौर पर पाया जाता है। मरने पर ही नहीं, जीवित रहते हुए भी अगर वह नपुंसक हो, घर छोड़ जाय, संन्यासी बन जाय तब भी स्त्री को इस स्मृति में पुनर्विवाह का अधिकार दिया गया है।

परन्तु जिस मनु-स्मृति का हमने अभी वर्णन किया उसी मनु-स्मृति के अध्याय ५ तथा श्लोक १५७–१५८ में लिखा है--"विधवा को अपना शरीर सुखा देना चाहिए, उसे केवल फल-फूल-कन्द का सेवन करना चाहिए, उसे पति के मरने पर दूसरे पुरुष का नाम भी मुख पर नहीं आने देना चाहिए और जिस प्रकार एक पति के प्रति निष्ठा वाली स्त्रियाँ तपस्या से जीवन व्यतीत करती हैं, वैसे विधवा को भी अपने मृत-पति की निष्ठा में तपस्यामय जीवन बिता देना चाहिए।" मध्य-युग में वात्स्यायन ने लिखा है कि विधवा अगर विवाह करती है तो वह भोगिन है और कोई पुरुष विधवा से संसर्ग स्थापित करता है तो एक तरह से एक वेश्या से सम्बन्ध करता है। इस समय के स्मृति-ग्रन्थों में पुनर्विवाह करने वाली विधवा को पूर्व-पति की सम्पत्ति में अधिकार नहीं दिया गया।

मध्य-युग की विचार-धारा अनिश्चित विचार-धारा थी। इस समय विधवाओं की स्थिति बिगड़ने की तरफ़ चल पड़ी थी यद्यपि निश्चित रूप में बिगड़ नहीं गई थी। विधवाओं के विषय में जो पुराने वैदिक-विचार थे वे अभी तक मौजूद थे, लुप्त नहीं हुए थे, परन्तु लुप्त होने की तरफ़ बढ़ रहे थे। यही कारण है कि इसे हम संक्रान्ति-काल कह सकते हैं, संधि-काल कह सकते हैं। संक्रान्ति या संधि में पुरानी आवाज शान्त नहीं होती, नई आवाज इतनी उग्र नहीं होती, इसलिए दोनों प्रकार की बातें चलती हैं।

४. मध्य-युग के बाद विधवाओं की स्थिति

वैदिक-युग में विधवाओं को विवाह की आज्ञा थी, मध्य-युग में दुविधा की अवस्था पैदा हो गई, परन्तु १०–११वीं शताब्दी से तो इस देश में उच्च-जाति के हिन्दुओं में विधवा-विवाह का सर्वथा निषेध किया जाने लगा। ११वीं शताब्दी के भारत में विधवाओं के विवाह की स्थिति क्या थी, यह अलबूनी के लेख से स्पष्ट होता है। अलबूनी ने लिखा है---'अगर किसी स्त्री के पति का देहान्त हो जाय तो

---

१. नष्टे मृते प्रव्रजिते क्लीवे च पतिते पतौ।
पंचस्वापत्सु नारीणां पतिरन्यो विधीयते॥

---पराशर स्मृति, अ० २, श्लोक ३०।

वह दोबारा शादी नहीं कर सकती। उसके सम्मुख केवल दो मार्ग हैं—या तो वह आजीवन विधवा रहे, विवाह न करे, या पति के साथ चिता में भस्म हो जाय।"

मध्य-युग के बाद से विधवाओं की स्थिति दिनोंदिन बिगड़ती चली गई। इस काल से लेकर सती-प्रथा के काल तक विधवाओं की जो दुर्दशा रही उसे विधवाएँ ही जानती हैं। १८९२ में एक सामाजिक-कान्फरेंस हुई जिसमें बम्बई के किन्हीं काशीनाथ गोविंदनाथ ने अपने प्रान्त में विधवाओं के साथ किये जाने वाले बर्त्ताव का वर्णन करते हुए कहा—"विधवा होते ही उसके सिर के बाल नाई उस्तरे से मूंड डालता है। वह बेचारी रोती है, चिल्लाती है, परन्तु सब बेकार। एक साल तक लज्जा के मारे वह घर से बाहर नहीं निकल सकती। उसे अपशकुन का कारण समझा जाता है। यह समझा जाता है कि विधवा अपने किसी दुष्कर्म के कारण परमात्मा के कोप का शिकार हुई है। अगर आप कहीं बाहर जाने लगे हैं और विधवा सामने दीख पड़ी, तो कुछ देर ठहर कर लोग काम पर जाते हैं, ताकि इस बुरे शकुन का प्रभाव न पड़े। विधवा के लिए ऐसी स्थिति बना दी गई है कि उसके हृदय में सदा एक ही विचार घर कर लेता है, यह विचार कि कब वह बनारस जाकर गंगा जी में डूब कर अपने प्राण त्याग दे। विधवा को जीवित रहते हुए जिन यन्त्रणाओं को सहन करना पड़ता है वे उसके सती हो जाने से कहीं ज्यादा हैं।"

५. उन्नीसवीं शताब्दी में विधवाओं की स्थिति—'सती-प्रथा' तथा 'विधवा-विवाह'

(क) सती-प्रथा—मध्य-युग में विधवा को विवाह न करने देने की जो विचार-धारा चल पड़ी उसका अन्त सती-प्रथा में हुआ। अलबूनी का उल्लेख हम अभी कर आये हैं। सती-प्रथा अलबूनी से भी पहले चल पड़ी होगी। इस काल के स्मृतिकारों ने यहाँ तक लिखा कि अगर स्त्री पति के साथ मर जाती है, तो उसका स्थान स्वर्ग में होगा और वह अपने पति तथा पिता के कुल की तीन पीढ़ियों को तरा देगी। कुछ इस शास्त्रीय विचार से तथा कुछ लोग विधवा की सम्पत्ति को हड़प लेने के विचार से सती-प्रथा का समर्थन करने लगे। स्त्रियों में स्वभाव से त्याग की भावना प्रबल होती है, अतः बहुत बार तो वे स्वयं सती हो जाती थीं, बहुत बार उन्हें जबर्दस्ती भी सती किया जाता था। अफ़ीम खिला कर विधवा को बेसुध कर दिया जाता था, और चिता में आग दे देने के बाद अगर वह लपटों से भाग निकलना चाहती थी, तो लम्बे-लम्बे बाँसों से उसे चिता में धकेला जाता था। मुसलमान बादशाहों ने, विशेष कर मुहम्मद तुग़लक और अकबर ने इस प्रथा को बन्द करने का प्रयत्न किया, परन्तु उन्हें सफलता नहीं मिली। अंग्रेजों के राज में यह प्रश्न बड़े जोरों से उठा। उस समय के गवर्नर-जनरल लॉर्ड बेंटिक ने ८ नवम्बर १८२९ के अपने एक नोट में लिखा—"हर साल सैंकड़ों निरपराध अबलाओं को आग की लपटों की भेंट होते देखना, और ऐसा तब होना, जब हम

इस प्रथा को कानून से बन्द कर सकते हैं, मेरी अन्तरात्मा को दारुण व्यथा पहुँचाता है; परन्तु यहाँ के लोग कहते हैं कि अगर इस प्रथा को बन्द करने में राज्य ने हस्तक्षेप किया, तो विद्रोह हो जायगा, ब्रिटिश-शासन की जड़ें हिल जायेंगी। यह सोच कर इस प्रथा को कानून द्वारा बन्द कर देने की भी हिम्मत नहीं होती।" लॉर्ड बेंटिक का कहना था कि सिर्फ़ उसके शासन-काल में केवल बंगाल में ८०० सती हुई। इस सम्बन्ध में राजा राममोहन राय ने बड़ा आन्दोलन किया। १८११ में उनकी भाभी को जबर्दस्ती सती किया गया था। इसका दारुण दृश्य हर समय उनकी आँखों के सामने नाचा करता था। अन्त में उन्होंने प्रण कर लिया कि वे इस प्रथा का अन्त करा कर छोड़ेंगे। सती-प्रथा को बन्द न करने के लिए कट्टर-पन्थियों ने बहुत-से हस्ताक्षर कराकर एक आवेदन-पत्र भेजा, राजा राममोहन राय ने इन कट्टरपन्थियों का जबर्दस्त उत्तर लिखा और सिद्ध किया कि सती-प्रथा शास्त्रों के अनुसार कोई धार्मिक-प्रथा न होकर बर्बरतापूर्ण नर-हत्या है। अन्त में, ४ दिसम्बर १८२९ को रेग्यूलेशन १७ के अनुसार लॉर्ड बेंटिक ने विधवा को सती करना या विधवा का सती होना कानून द्वारा दण्डनीय घोषित कर दिया। तब से सती-प्रथा बन्द है।

(ख) विधवा-विवाह--सती-प्रथा का अन्त होने के बाद भी विधवा की स्थिति में कोई विशेष परिवर्त्तन न हुआ। पहले वह आग में जीवित जल जाती थी, अब वह समाज में जीती रहती हुई जलती रहती थी। यह जीवन पहले जीवन से भी बदतर था। भस्म हो जाने पर उसकी यंत्रणाएँ समाप्त हो जाती थीं, जीवित रहने पर उसकी यंत्रणाओं का अन्त नहीं होता था, क्योंकि उसे विवाह का कोई अधिकार न था। उसका जीवन एक दासता का जीवन था, वह घर में जीवित-जागृत अपशकुन के तौर पर जिन्दा थी। जैसे सती-प्रथा के विरुद्ध राजा राममोहन राय ने आन्दोलन उठाया वैसे विधवा-विवाह के पक्ष में ईश्वरचन्द्र विद्यासागर ने आन्दोलन खड़ा किया। ईश्वरचन्द्र विद्यासागर ने कई आवेदन-पत्रों पर हस्ताक्षर करवा कर उन्हें सरकार के पास भिजवाया। पक्ष में २५ आवेदन-पत्र आये जिन पर ५,००० हस्ताक्षर थे, जिनमें विधवा-विवाह को कानून का रूप देने की माँग थी, तो विपक्ष में ४० आवेदन-पत्र आये जिन पर ६० हजार हस्ताक्षर थे। फिर भी सर जे० पी० ग्रान्ट के उद्योग से विधवा-विवाह का कानून २५ जुलाई, १८५६ में बन गया जिससे विधवा को विवाह करने की आज्ञा दे दी गई। इसमें सन्देह नहीं कि कानून बन जाने पर भी अभी तक हिन्दू-समाज में विधवा का विवाह करना अनुचित ही समझा जाता है।

इस युग में विधवा-विवाह के सम्बन्ध में जो वाद-विवाद उठा उसमें जनता ने बहुत दिलचस्पी दिखलाई। कट्टर-पन्थियों के अनुसार कलियुग में पराशर-स्मृति को प्रामाणिक माना जाता है--"कलौ पाराशरी स्मृतिः"--और इसी स्मृति में विधवा-विवाह का बहुत बड़े शब्दों में समर्थन किया गया है। ईश्वरचन्द्र विद्यासागर ने १८५५ में पराशर स्मृति तथा अन्य शास्त्रों के प्रमाणों के आधार पर

'विधवा-विवाह' पर एक पुस्तिका प्रकाशित की जिसमें सिद्ध किया कि विधवा-विवाह शास्त्रों के अनुकूल है। इस पुस्तक ने हिन्दू-जगत् में सनसनी मचा दी। एक सप्ताह में पुस्तक की दो हजार प्रतियाँ बिक गईं। दूसरे संस्करण की ३ हजार और तीसरे संस्करण की १० हजार प्रतियाँ हाथों हाथ निकल गईं। उस समय पढ़े-लिखे लोग कितने कम थे इसे देखते हुए इस विषय की इतनी प्रतियाँ बिक जाना इस बात का द्योतक है कि इस प्रश्न पर हिन्दू-जनता में कितनी जागरूकता उत्पन्न हो गई थी। सती-प्रथा के आन्दोलन में तो ब्रिटिश शासकों का भी हाथ था, परन्तु विधवा-विवाह आन्दोलन में तो सिर्फ़ भारतीय-जनता का हाथ था। इस समय विधवा-विवाह-कानून क्या बना—उसकी रूप-रेखा यहाँ देना अप्रासंगिक न होगा। विधवा-विवाह-कानून निम्न था:—

६. विधवा-विवाह-कानून (२५ जुलाई, १८५६)

"क्योंकि ईस्ट इण्डिया कम्पनी के आधीन क्षेत्रों की दीवानी अदालतों के कानूनों के अनुसार हिन्दू-विधवा क्योंकि वह पहले एक विवाह कर चुकी थी, इसलिए दूसरा विवाह कानून के अनुसार नहीं कर सकती और अगर कर ले तो उसकी इस विवाह से उत्पन्न सन्तान अवैध मानी जाती है और ऐसी सन्तान पैतृक-सम्पत्ति को पाने की अधिकारिणी नहीं होती, और क्योंकि कई हिन्दुओं का विश्वास है कि यद्यपि यह बात प्रथा के अनुकूल तो है परन्तु धर्म-शास्त्रों के अनुकूल नहीं है और वे चाहते हैं कि जो लोग प्रथा के विपरीत हिन्दू धर्म-शास्त्रों के अनुकूल अन्तरात्मा से निर्दिष्ट विधवा-विवाह के इस मार्ग को अपनाना चाहें, उन्हें किसी प्रकार की कानूनी बाधा का सामना न करना पड़े, और क्योंकि यह न्यायसंगत है कि इस विचार के हिन्दुओं को ऐसी कानूनी बाधा से जिसकी वे शिकायत करते हैं, मुक्त कर दिया जाय, और क्योंकि इस बाधा के हटाने से समाज में नैतिकता बढ़ने की आशा है और समाज के कल्याण की सम्भावना है, इसलिए यह कानून बनाया जाता है:

"कि हिन्दू-कानून या हिन्दू-कानून की किसी प्रथा के बावजूद अगर कोई हिन्दू-स्त्री विवाहित होने या मंगनी होने के बाद पति के मर जाने पर विवाह करती है, तो, न तो उसका दूसरा विवाह और न इस दूसरे विवाह से उत्पन्न सन्तान ग़ैर-कानूनी मानी जायगी।

"कि विधवा को अपने पूर्व पति की सम्पत्ति में से गुजारा पाने, वसीयत से या अन्य किसी प्रकार से उसकी सम्पत्ति में हिस्सा पाने के सब अधिकार उसके दुबारा विवाह करने पर समाप्त हो जायेंगे, बशर्ते कि मृत-पति ने स्वयं उसे स्पष्ट रूप में दुबारा शादी करने का अधिकार न दे दिया हो। वह पहले पति की सम्पत्ति में हिस्सा पाने की दृष्टि से मृत समझी जायगी और मृत पति की सम्पत्ति विधवा स्त्री के जीवित रहते उन व्यक्तियों को मिल जायगी जो मृत-व्यक्ति के उत्तराधिकारी होंगे।

"कि अगर हिन्दू-विधवा विवाह कर ले, और अगर मृत-पति ने अपनी वसीयत द्वारा अपनी विधवा स्त्री या किसी अन्य व्यक्ति को अपने बच्चों का गार्डियन निश्चित नहीं किया, तो मृत-व्यक्ति का पिता, पितामह या मृत-व्यक्ति की माता या दादी या मृत-व्यक्ति के वंश का कोई पुरुष हाईकोर्ट में प्रार्थना-पत्र दे सकता है, कि उसे इन बच्चों का गार्डियन बनाया जाय और कोर्ट उसे इन बच्चों का उनकी बालकपन की अवस्था में न्यायानुकूल गार्डियन बना सकेगी। अगर इन बच्चों के नाम ऐसी कोई जायदाद नहीं होगी जिससे इनका भरण-पोषण तथा शिक्षा चल सके तो गार्डियन बनने के इच्छुक को या तो इन बच्चों के भरण-पोषण तथा शिक्षा चला सकने की जमानत देनी पड़ेगी या बच्चों की विधवा माता की इच्छानुसार गार्डियन निश्चित किया जायगा।

"कि उक्त विधवा को पति के अतिरिक्त किसी अन्य स्रोत से अगर कोई जायदाद मिल सकती है तो विवाह करने पर उस जायदाद के मिलने में कोई बाधा नहीं पड़ेगी।

"कि विधवा के विवाह-संस्कार को कानूनी मानने के लिए वह सब विधि मान्य होगी जो ऐसी लड़की के विवाह के समय मान्य होती है जिसका पहला ही विवाह होता है, विधवा-विवाह के लिए अन्य किसी प्रकार के संस्कार की आवश्यकता नहीं होगी।

"कि अगर पुनर्विवाह करने वाली विधवा नाबालिग़ होगी जिसका द्विरागमन नहीं हुआ, तो उसे अपने पिता की आज्ञा के बिना विवाह करने का अधिकार नहीं होगा और अगर उसका पिता जीवित नहीं है तो उसे दादा की आज्ञा लेनी होगी, वह भी जीवित नहीं है तो माता की, वह भी नहीं है तो बड़े भाई की, वह भी नहीं है तो निकटतम किसी जीवित पुरुष-सम्बन्धी की आज्ञा लेनी होगी।"

७. बहरामजी मलाबारी का नोट

'विधवा-विवाह-कानून' तो बन गया, परन्तु प्रथा के विरुद्ध चलने की लोगों की हिम्मत नहीं हुई। ईश्वरचन्द्र विद्यासागर ने इस दिशा में उत्साह से कार्य करना प्रारम्भ किया। उनके उद्योग से ७ दिसम्बर १८५६ को पहला विधवा-विवाह किया गया। उन्होंने इस दिशा में जन-मत तैयार करने तथा जनता को मार्ग दर्शाने के लिए अपने पुत्र का विवाह भी एक विधवा से किया। बम्बई में डा० भंडारकर ने अपनी विधवा पुत्री का विवाह किया, परन्तु इन विवाहों से जनता में कोई उत्साह नहीं पैदा हुआ। शंकराचार्य ने सारस्वत-ब्राह्मणों को प्रेरित किया कि वे डा० भंडारकर का बहिष्कार कर दें। यह सब अवस्था देख कर बम्बई के बहरामजी मलाबारी ने एक नोट लिखा जिसमें हिन्दू-विधवा की दयनीय दशा की तरफ़ सरकार का ध्यान आकर्षित किया।

सती-प्रथा के निरोध के २७ वर्ष बाद विधवा-विवाह-कानून पास हुआ, इस कानून के पास होने के २८ साल बाद मलाबारी ने १५ अगस्त १८८४ को अपना

नोट लिखा जिसका शीर्षक था 'बाधित-वैधव्य' (Enforced Widowhood)। मलाबारी ने इस नोट में कहा :—

"यह आश्चर्यजनक प्रतीत होता है कि दुनिया को हिन्दू-विधवा के साथ किये गये सामाजिक-विषमता के व्यवहार का पता नहीं चलता। मेरा विचार है कि इसका कारण यह है कि इस विषम व्यवहार की शिकार स्त्री है। स्त्री का स्वभाव ही ऐसा नहीं कि अपने पर किये गये अत्याचारों की दुहाई दे, भले ही वे अत्याचार कितने भीषण हों। हिन्दू-स्त्री शिकायत करना जानती ही नहीं, करती भी है तो न के बराबर, परन्तु जो उसकी इस न के बराबर शिकायत को जानते हैं, उन्हें पता है कि असल में यह शिकायत कितनी बड़ी है...हिन्दू माता-पिता के लिए नव-यौवना पुत्री के विधवा हो जाने के समान कोई दुर्भाग्य ही नहीं हो सकता, परन्तु ऐसे दुर्भाग्य का रोना अनेक घरानों में देखा जाता है। इस प्रकार जब बाधित तौर पर किसी स्त्री को विधवा का जीवन व्यतीत करना पड़ता है, तब उसके परिणाम भी भयंकर होते हैं। इन परिणामों को देख कर सिर लज्जा से झुकाना पड़ता है। हर गाँव और हर शहर में ऐसी लज्जापूर्ण घटनाएँ होती हैं, होती नहीं तो उनके होने की सम्भावना बनी रहती है। ऐसी घटनाओं के होने पर क्या किया जाय? समाज इन्हें दबा देता है, छिपा लेता है, और जब कभी कोई ऐसी घटना पुलिस के हाथ पड़ जाती है, तब पुलिस को अपनी कामुकता का खुला खेल खेलने या रिश्वतखोरी का अच्छा मौका मिल जाता है। भ्रूण-हत्याएँ भी इसी अवस्था का परिणाम हैं। जो घटनाएँ आँखों के सामने आ जाती हैं उनकी अपेक्षा छिपी घटनाएँ बीसियों गुणा अधिक हैं। कहा जाता है कि विधवापन की अवस्था को आवश्यक बुराई के तौर पर समाज को स्वीकार कर लेना होगा। परन्तु प्रश्न यह है कि क्या हिन्दू-समाज ने इस बुराई को आवश्यक बुराई के तौर पर स्वीकार कर लिया है? मेरा कहना है कि शिक्षित हिन्दू-समाज ने इसे स्वीकार नहीं किया। शिक्षित-हिन्दू-समाज के व्यक्ति अपने समाज में इस कलंक को सहन नहीं कर सकते, वे चाहते हैं कि विधवा को विवाह की पूरी स्वतंत्रता हो, उनके समाज की नैतिक-रक्षा इसी से हो सकती है। परन्तु फिर हिन्दू-समाज इस बुराई को दूर क्यों नहीं कर सकता? इसका मुख्य कारण यह है कि हिन्दू-समाज जात-पाँत के बन्धनों से इस प्रकार जकड़ा हुआ है कि वह इन बंधनों को झटका देकर तोड़ नहीं सकता। जो लोग किसी भी हिन्दू-प्रथा को तोड़ते हैं उन्हें जाति-बहिष्कृत कर दिया जाता है, बिरादरी से अलग कर दिया जाता है। जाति-च्युत होने तथा बिरादरी से निकाले जाने को वे मृत्यु से भी भयंकर समझते हैं। मेरा प्रश्न यह है—क्या जात-बिरादरी को अधिकार है कि वह व्यक्ति को ऐसे कार्य के लिए बहिष्कार आदि का दंड दे सके जिस कार्य को सरकारी तौर पर कानूनी घोषित किया जा चुका है? सरकारी कानून ने विधवा को अग्नि-ज्वालाओं में से निकाल कर, उसकी रक्षा करके उसे विवाह करने का अधिकार दिया। क्या जात-बिरादरी इस अधिकार को विधवा से छीन सकती है? शास्त्रों

में विधवा को विवाह करने का अधिकार दिया गया है। स्पष्ट शब्दों में समस्या का रूप यह है: सरकार विधवा को विवाह करने की आज्ञा देती है, जात-बिरादरी आज्ञा नहीं देती, सरकार और जात-बिरादरी की टक्कर है, हमें यह निर्णय करना होगा कि सरकार प्रबल है या जात-बिरादरी प्रबल है। इस सम्बन्ध में सरकार को निर्णय करना होगा : (१) कि कोई हिन्दू लड़की जो नाबालिग़ है अपनी इच्छा के विरुद्ध विधवा रहने के लिए बाधित नहीं की जा सकेगी, (२) जिन अवस्थाओं में सन्देह दीखता हो, उनमें सरकार की तरफ़ से इस बात को जानने का प्रबन्ध किया जायेगा कि वह विधवा अपनी इच्छा से वैधव्य का जीवन बिता रही है या जात-बिरादरी के डर से वह विवाह नहीं करती, (३) प्रत्येक विधवा को, चाहे वह किसी आयु की हो, अधिकार हो कि वह सरकारी अधिकारियों से जाति-बहिष्कार आदि सामाजिक अत्याचारों की शिकायत कर सके और जरूरत पड़े तो उसे सरकारी वकील देने, कोर्ट-फ़ीस माफ़ करने, अदालत में पेश न होने आदि की सुविधाएँ दी जायें, तथा (४) पंडित-पुरोहितों को विधवा-विवाह करने वाले किसी व्यक्ति के बहिष्कार करने का फ़तवा देने का अधिकार न हो।"

मलाबारी के नोट पर ब्रिटिश सरकार ने विचार-विमर्श किया और वह इस परिणाम पर पहुँची कि वह जात-बिरादरी की बातों में हस्त-क्षेप नहीं कर सकती और मलाबारी का नोट एक नोट के तौर से समाप्त हो गया। इसमें सन्देह नहीं कि बहरामजी मलाबारी ने विधवा की स्थिति सुधारने के लिए जो परामर्श दिये थे वे बहुमूल्य थे और उनके अनुसार चलने से विधवा की स्थिति में पर्याप्त सुधार हो सकता था।

८. वर्तमान हिन्दू-समाज में विधवा की स्थिति

इसमें सन्देह नहीं कि विधवा अब सती नहीं होतीं, कहीं-कहीं विधवा-विवाह भी उक्त कानून के अधीन होने लगे हैं, फिर भी हिन्दू-समाज में विधवा की स्थिति शोचनीय है। विधवा की पारिवारिक, सामाजिक, धार्मिक तथा आर्थिक स्थिति क्या है—इस सब पर विचार करने से विधवा की हिन्दू-समाज में यथार्थ-स्थिति का ज्ञान हो जाता है।

(क) विधवा की परिवार में स्थिति—जिस स्त्री को परिवार के सब लोग विवाह होने के बाद सिर पर उठा लेते हैं, उसी के विधवा होते ही सब लोग उसे सिर से पटक देते हैं। जो घर की रानी बन कर आती है वह विधवा होते ही घर की दासी से भी बदतर हो जाती है। एक ही व्यक्ति की उसी परिवार में इतनी विपरीत स्थिति विधवा के अतिरिक्त अन्य किसी की नहीं होती। पहले परिवार के सब लोग जिसे फूलों की तरह हाथों-हाथ उठाते थे, उसी को विधवा होते ही नागिन कहने लगते हैं। विधवा होने के बाद स्त्री परिवार के किसी शुभ-कार्य में भाग नहीं ले सकती, वह एक तरह से परिवार का अंग नहीं रहती। अगर वह परिवार का

अंग रहती भी है तो उसका काम बर्त्तन साफ़ करना और रसोई बनाना रह जाता है।

(ख) विधवा की समाज में स्थिति---हिन्दू-समाज में स्त्री की जो भी स्थिति है, अपने पति के कारण है, स्वतंत्र रूप से उसकी कोई स्थिति नहीं। यह विचार हिन्दू-समाज में स्त्री के हर पहलू को, उसकी हर प्रकार की स्थिति को प्रभावित करता है। विधवा की भी क्या सामाजिक-स्थिति है? पति की समाज में जो स्थिति थी वही तो उसकी स्त्री की भी समाज में स्थिति थी? पति न रहा तो उसकी पत्नी की भी सामाजिक-स्थिति कैसे रह सकती है? यह विचार विधवा की सामाजिक-स्थिति का आधार है। तभी सामाजिक उत्सवों, त्यौहारों में विधवा को इन सामाजिक-कार्यों से अलग रखा जाता है। वह खेल-कूद नहीं सकती, हँस कर बात नहीं कर सकती, आभूषण नहीं पहन सकती, अच्छा कपड़ा नहीं ओढ़ सकती, काजल, बिन्दी, चूड़ियाँ उसे हटा देनी होती हैं क्योंकि समाज इन सब बातों को बुरा मानता है। बंगाल तथा मद्रास में तो विधवा को उस्तरे से बाल मुंडवा देने होते हैं। शुभ-कार्यों में विधवा का सामाजिक-कार्यों से दूर रहना ही उचित समझा जाता है।

(ग) विधवा की धार्मिक-स्थिति---धार्मिक-दृष्टि से विधवा का काम संसार के धंधों को छोड़ कर धर्म-कार्य में ही लगे रहना समझा जाता है। वह जप करे, तप करे, उपवास करे, अपने तन को क्षीण करे, किसी सांसारिक-प्रलोभन को पास न आने दे---यही विधवा के लिए उचित समझा गया है। इसीलिए हिन्दुओं के धर्म-क्षेत्रों में विधवाओं की संख्या अधिक पायी जाती है।

(घ) विधवा की आर्थिक स्थिति---आर्थिक-दृष्टि से हिन्दू-विधवा अत्यन्त असहाय अवस्था में होती है। आजकल हर-एक माता-पिता अपनी लड़की को बी० ए०, एम० ए० कराना चाहता है---इसका मुख्य कारण यही है कि वे अपनी लड़की को दुर्घटना हो जाने पर अपने पाँवों पर खड़े होने लायक बना देना चाहते हैं। अगर विधवा अशिक्षित हो और विवाह न करे, तो उसके सामने घर के अन्य सदस्यों की दासी बन कर जीवन बिता देने के सिवाय कोई रास्ता नहीं रहता। जो लोग नौकरानी की तलाश में रहते हैं, वे चाहते हैं कि उन्हें कोई विधवा मिल जाय जिसका आगा-पीछा न हो, जो जन्मभर उनकी सेवा करती रहे। हिन्दू-समाज में विधवाएँ आटा-दाल पीस कर, दूसरों की रसोई बना कर या इसी प्रकार की अन्य कोई सेवा कर के अपना निर्वाह करती हैं।

९. विधवाओं की संख्या

हिन्दू-विधवाओं की संख्या इतनी अधिक है कि उसे देखते हुए अपने देश के कल्याणकारी-राज्य के लिए इसे एक समस्या समझना आवश्यक है। १८९१ तथा १९५१ में अपने देश में विधवाओं की जो संख्या थी वह निम्न तालिका से स्पष्ट हो जायगी। इस तालिका के महत्त्व को समझते हुए ध्यान रखना होगा कि इन दोनों सालों में यहाँ की जन-संख्या में पर्याप्त भेद है:---

१८९१ तथा १९५१ में आयु-क्रम से विधवाओं की संख्या

आयु	१८९१	१९५१
५ वर्ष से नीचे	१०,१६५	—
५ से १४ वर्ष तक	१,९२,६१०	१,३४,०००
१५ से २४ ,,	८,२६,३४७	८,२७,०००
२५ से ३४ ,,	२३,९७,१३८	२१,२९,०००
३५ से ४४ ,,	३८,५५,७८४	३८,७९,०००
४५ से ५४ ,,	४१,९८,१२४	५४,१२,०००
५५ से ऊपर	५८,४२,९६३	९४,३०,०००

विधवाओं की ऊपर जो संख्याएँ दी गई हैं उनमें ५ से १४ वर्ष की विधवाओं की संख्याएँ विशेष महत्त्व की हैं। ५ वर्ष से कम आयु में विधवा हो जाना तो इस देश की ही खासियत है। १४ वर्ष तक अन्य देशों में विवाह नहीं होता, इस देश में १४ वर्ष तक विधवाएँ भी हो जाती हैं। नीचे १९३१ की जन-गणना के अनुसार १ वर्ष की, २ वर्ष की, ३ वर्ष की, ४ वर्ष की, ५ वर्ष की और इसी प्रकार आगे की आयु की विधवाओं की संख्या दी गई है जिससे इस देश की विधवाओं की समस्या पर पर्याप्त प्रकाश पड़ता है। १९३१ में विधवाओं की संख्या निम्न थी:—

१९३१ में विधवाओं की संख्या

आयु	विधवाओं की संख्या
०–१ वर्ष	१,५१५
१–२ ,,	१,७८५
२–३ ,,	३,४८५
३–४ ,,	९,०७६
४–५ ,,	१५,०१८
५–१० ,,	१,०५,४४९
१०–१५ ,,	१,८३,९९८
१५–२० ,,	५,१४,३९४
२०–२५ ,,	८,४६,९५९

विवाह की असली आयु २०–२५ वर्ष के लगभग होती है, परन्तु इस आयु तक अपने देश में लड़कियाँ विवाह कर के विधवा भी हो जाती हैं। इस स्थिति को बदलने की जरूरत है।

१०. विधवाओं की इतनी संख्या होने का कारण

अपने देश में विधवाओं की, और विशेष कर के बाल-विधवाओं की, इतनी भारी संख्या होने के तीन कारण प्रमुख हैं—बाल-विवाह का होना, वृद्ध-विवाह का होना तथा विधवा-विवाह का न होना।

(क) बाल-विवाह का होना—इस देश में बाल-विवाह के कारण छोटी आयु में लड़के-लड़कियों की शादी हो जाती रही है। ईसा से ४००–५०० वर्ष बाद का समय स्मृतिकारों का समय कहा जाता है। तब से बाल-विवाह का प्रचलन शुरू हुआ और अब तक बाल-विवाह की संस्था हिन्दू-समाज में बनी हुई है। स्मृतिकारों के कथनानुसार 'प्राप्ते तु दशम वर्षे यस्तु कन्यां न यच्छति। मासि मासि रजस्तस्याः पिता पिबति शोणितम् ॥'—'जो पिता कन्या की दस वर्ष की आयु के होने पर उसका विवाह नहीं करता वह उसके हर मास होने वाले रजोधर्म के रुधिर का पान करता है'। दस वर्ष क्यों कहा—इस सम्बन्ध में भी स्मृति में लिखा है—'अष्टवर्षा भवेद् गौरी नववर्षा तु रोहिणी। दशवर्षा भवेत्कन्या अत ऊर्ध्वं रजस्वला ॥'—'आठ वर्ष की लड़की को गौरी कहते हैं, नौ वर्ष की लड़की को रोहिणी कहते हैं, दस वर्ष की लड़की को कन्या कहते हैं, दस वर्ष के बाद कन्या रजस्वला हो जाती है।' रजस्वला होते ही उसका विवाह कर देना चाहिए। इस प्रकार विवाह कर देने का परिणाम था कि अगर उनका पति कारणवश मर जाता था तो वे बच्चियाँ विधवा कहलाने लगती थीं और इसी लिए १८९१ की जन-गणना के अनुसार ५ वर्ष से भी कम आयु की १०,१६५ एवं ५ से १४ वर्ष के बीच की आयु की १,९२,६१० विधवाएँ थीं।

(ख) वृद्ध-विवाह का होना—विधवाओं की हिन्दू-समाज में इतनी भारी संख्या होने का दूसरा कारण अनमेल-विवाह है। अपने देश में बुड्ढे जिनका एक पैर कब्र में है, शादी का स्वाँग रचते देखे गये हैं। इसमें दकियानूसी ग्रन्थों का उन्हें सहारा मिल गया। महाभारत[1] में भीष्म ने व्यवस्था दी है कि ३० वर्ष के पुरुष के साथ १० वर्ष की तथा २१ वर्ष के पुरुष के साथ ७ वर्ष की कन्या की शादी करनी चाहिए। इस प्रकार के विवाहों का परिणाम यह होता है कि पति बुड्ढा होने के कारण जल्दी चल देता है और पत्नी अपने कर्मों को रोती हुई विधवा का जीवन बिताती है।

(ग) विधवा-विवाह का न होना—विधवाओं की संख्या इसलिए भी अपने समाज में इतनी बढ़ी हुई है क्योंकि हिन्दू-समाज में विधवा-विवाह का निषेध है। यह निषेध भी स्मृति-काल से चला है। हम पहले दर्शा आये हैं कि वैदिक-काल में विधवा-विवाह होता था, परन्तु जब से स्मृति-काल में इसका निषेध जारी हुआ तब से विधवाओं की संख्या दिनोंदिन बढ़ने लगी। यह हो सकता है कि किसी युग में विधवा-विवाह का निषेध जन-संख्या के नियन्त्रण के लिए जारी किया गया हो, परन्तु आज के युग में जन-संख्या के नियन्त्रण के नवीन साधनों के निकल आने तथा विधवाओं को बाधित-वैधव्य बिताने के परिणामस्वरूप अनेक

१. त्रिंशद्वर्षो दशवर्षां भार्यां विन्देत् अनग्निकाम् ।
एकविंशतिवर्षो वा सप्तवर्षाम् अवाप्नुयात् ॥
(महाभारत, अनुशासन पर्व, अ० ४४)

नवीन समस्याओं के उठ खड़े होने के कारण अब विधवा-विवाह-निषेध स्वयं एक भयंकर सामाजिक समस्या बन गया है। विधवाओं को विवाह न करने देने से विधवाओं की संख्या बढ़ती जा रही है और उनकी संख्या बढ़ने के कारण समाज में गुप्त-व्यभिचार, अनैतिकता, भ्रूण-हत्या आदि बढ़ते जा रहे हैं।

११. विधवा-विवाह के पक्ष में युक्तियाँ

हमने अभी कहा कि विधवा अपने देश की एक जीती-जागती समस्या है। इस समस्या का कारण देश की विचार-धारा का विधवा-विवाह के विरुद्ध होना है। इस विचार-धारा को बदल कर ही इस समस्या का मुकाबिला किया जा सकता है। विचार-धारा को बदलने का तरीका यही है कि विधवा-विवाह के पक्ष में वातावरण तय्यार किया जाय और इसके पक्ष में युक्तियाँ दी जायें। विधवा-विवाह के पक्ष में युक्तियाँ क्या हैं?

(क) धर्मशास्त्र विधवा-विवाह के पक्ष में हैं---विधवा-विवाह के विरुद्ध वातावरण होने का सबसे बड़ा कारण यह है कि हम समझते हैं कि धर्मशास्त्र इसके विरुद्ध हैं। ईश्वरचन्द विद्यासागर ने शास्त्रों का मन्थन करके सिद्ध किया था कि शास्त्र इसकी आज्ञा देते हैं। इसमें सन्देह नहीं कि मध्य-युग के स्मृति-ग्रन्थों में इसका विरोध है, परन्तु जैसा हम पहले दर्शा आये हैं वेदों में विवाह करने वाली विधवा को 'पुनर्भू:' कहा गया है और उनमें विधवा-विवाह का विरोध नहीं है। स्मृति-ग्रन्थों में भी दोनों प्रकार की विचार-धारा पायी जाती है, किन्तु कलियुग में जिस स्मृति को प्रामाणिक माना जाता है उस पराशर-स्मृति में तो विधवा-विवाह को ठीक ही कहा गया है। पराशर-स्मृति (अ० ४, श्लोक ३०) का उद्धरण तो हम पहले दे ही आये हैं, मनुस्मृति[१] (अ० १२, श्लोक ९९) में भी लगभग पराशर-स्मृति के शब्दों को ही दोहराया गया है। अग्नि-पुराण के १४४वें अध्याय में भी यह श्लोक ऐसा ही पाया जाता है।

(ख) पुरुषों तथा स्त्रियों के लिए अलग-अलग माप-दंड होना युक्ति-संगत नहीं है---पुनर्विवाह के सम्बन्ध में हिन्दू-समाज में पुरुष के लिए तो पहली पत्नी के मर जाने पर पुनर्विवाह की आज्ञा है, किन्तु स्त्री के लिए पति के मर जाने पर पुनर्विवाह की आज्ञा नहीं है। पुरुष तथा स्त्री के प्रति इस प्रकार का दोहरा माप-दंड किसी प्रकार भी युक्तिसंगत नहीं हो सकता। अगर पुरुष के लिए पत्नी की मृत्यु के बाद विवाह की आज्ञा है, तो साधारण-सी बुद्धि रखने वाला भी कहेगा कि ऐसी ही अवस्थाओं में स्त्री को भी वैसी आज्ञा होनी चाहिए।

(ग) विधवाओं को विवाह की अनुमति न देना उनके आधारभूत मानवीय-अधिकार का अपहरण है---भारत ने, २६ नवम्बर १९४९ को अपने संविधान में

१. पत्यौ प्रव्रजिते नष्टे क्लीबेऽथ पतिते मृते।
पंचस्वापत्सु नारीणां पतिरन्यो विधीयते॥ मनु० १२-९९

'संयुक्त-राष्ट्र-संघ' (U.N.O.) द्वारा घोषित 'आधारभूत मानवीय-अधिकारों' को अपने 'संविधान' का अंग माना है। इन आधार-भूत अधिकारों में वैयक्तिक-स्वतंत्रता का अधिकार प्रत्येक स्त्री-पुरुष को दिया गया है। ऐसी अवस्था में विधवाओं को विवाह की अनुमति न देना उनके आधारभूत मानवीय-अधिकार पर कुठाराघात करना है।

(घ) बाल-विधवाओं के लिए विवाह एक प्राणिशास्त्रीय आवश्यकता है—जैसे मनुष्य को खाना-पीना 'प्राणि-शास्त्रीय-आवश्यकताएँ' (Biological needs) हैं, वैसे यौन-सम्बन्ध भी स्त्री तथा पुरुष दोनों के लिए 'प्राणिशास्त्रीय-आवश्यकता' है। यह इच्छा मनुष्य की अपनी पैदा की हुई नहीं, प्रकृति की दी हुई है। जो लड़की बचपन में विधवा हो जाती है उसकी यह आवश्यकता पूरी हो नहीं सकती। समाज में इस आवश्यकता को पूरा करने का उचित साधन विवाह ही है, अन्य कोई साधन नहीं है। जब विधवा को विवश होकर इस साधन से वंचित किया जाता है तब प्रकृति अन्य साधनों का प्रयोग करने लगती है, और तभी गुप्त-व्यभिचार चल पड़ता है। हमारे कहने का यह अभिप्राय नहीं कि विधवा-विवाह न होने से ही गुप्त-व्यभिचार चलता है, कहने का इतना ही अर्थ है कि यह प्रथा गुप्त-व्यभिचार का एक बड़ा कारण है। जो लोग विधवा को संयम का पाठ पढ़ाना चाहते हैं, वे अपने भीतर झाँक कर नहीं देखते। आत्म-संयम उचित है, परन्तु बाधित-आत्म-संयम अनुचित ही नहीं, अव्यवहार्य है। यह उस बाढ़ के समान है जिसके सामने के बाँध में उसे रोकने की शक्ति नहीं। जो लोग नैतिक-दृष्टि से विधवा-विवाह का निषेध करते हैं अगर उन्हें कहा जाय कि विधवा-विवाह का निषेध उसके परिणामों को देख कर अनैतिक है, तो कोई अत्युक्ति न होगी।

१२. विधवा-विवाह-निषेध के दुष्परिणाम

विधवा-विवाह के पक्ष में हमने जो युक्तियाँ दीं उनमें सब से बड़ी युक्ति यह है कि विधवा-विवाह के निषेध से समाज को भयंकर दुष्परिणामों का सामना करना पड़ रहा है। विधवा-विवाह-निषेध के भयंकर दुष्परिणाम निम्न हैं:—

(क) हिन्दुओं की संख्या घट रही है—विधवा-विवाह के निषेध का एक परिणाम तो यह दीख रहा है कि जहाँ मुसलमानों की जन-संख्या बढ़ रही है, वहाँ हिन्दुओं की जन-संख्या घट रही है। १८८१ से १९११ तक मुसलमानों की जन-संख्या में २६.४ प्रतिशत बढ़ती हुई, और हिन्दुओं की जन-संख्या में कुल १५.१ प्रतिशत बढ़ती हुई। इसका परिणाम यह हुआ कि इतनी तेजी से बढ़ जाने के कारण मुसलमानों ने देश के विभाजन की आवाज को सफल बना लिया। बंगाल में विधवाओं की संख्या बहुत अधिक है। वहाँ विभाजन से पहले सन्तान उत्पन्न करने में समर्थ विधवाओं की संख्या वहाँ की कुल स्त्रियों की संख्या का एक-चौथाई थी। ये एक-चौथाई स्त्रियाँ सन्तान नहीं उत्पन्न कर सकती थीं क्योंकि ये विधवा थीं। इसका वहाँ की जन-संख्या पर प्रभाव पड़ना आवश्यक है।

(ख) हिन्दू-विधवाएँ मुसलमान या ईसाई हो जाती हैं---विधवा-विवाह-निषेध का हिन्दू-समाज पर एक प्रभाव तो यह पड़ता है कि मुसलमानों की जन-संख्या बढ़ती जाती है, हिन्दुओं की उनके मुकाबिले में घटती जाती है। दूसरा प्रभाव यह पड़ता है कि जो विधवाएँ विवाह करना चाहती हैं वे मुसलमान या ईसाई हो जाती हैं। हिन्दू रहते हुए जिस किसी विधवा का किसी हिन्दू-युवक से प्रेम हो जाय उसका भेद खुलने पर उनके सामने एक ही रास्ता रह जाता है और वह रास्ता है हिन्दू-धर्म छोड़ कर मुसलमान या ईसाई हो जाना क्योंकि इस प्रकार वे अपने प्रेम को निभा सकते हैं।

(ग) इसमें गुप्त-व्यभिचार बढ़ता है---बाल-विधवाओं को संयम का जीवन बिताने के लिए बाधित करने का यह परिणाम होता है कि उनमें से अनेक छिपे-छिपे गुप्त-व्यभिचार का जीवन बिताने लगती हैं। हमारा समाज उन्हें संयमपूर्वक रहने भी नहीं देता। ऐसे दुष्ट लोगों की कमी नहीं है जो किसी भी असहाय विधवा को फुसला कर उसे अपने अनैतिक जीवन का शिकार बनाने में हिचकना नहीं जानते। यौवन की उमंग में अगर विधवा भी फिसल जाय तो उसका कोई दोष नहीं, समाज का और समाज की इन संस्थाओं का ही दोष है जिनके कारण उन्हें अप्राकृतिक-जीवन बिताने को बाधित होना पड़ता है।

(घ) इससे वेश्यावृत्ति भी बढ़ती है---गुप्त-व्यभिचार के अलावा विधवा-विवाह के निषेध से प्रकट-व्यभिचार भी बढ़ता है। वेश्यावृत्ति के लिए अधिकतर स्त्रियाँ विधवाओं से भर्ती की जाती हैं। विधवा के लिए संस्कृत में 'रंडा' तथा हिन्दी में 'राँड' शब्द है और वेश्या के लिए 'रंडी' शब्द का प्रयोग होता है। इसका अर्थ यह है कि जिन लोगों ने इन शब्दों को घड़ा उनके दृष्टि-कोण में विधवा तथा वेश्या का एक-सा अर्थ है। विधवा के प्रति हिन्दू-समाज का दृष्टि-कोण शब्दों की इस समानता से स्पष्ट हो जाता है। विधवा को वेश्या के समान समझने का समाज का यह दृष्टि-कोण क्यों पैदा हो गया? यह इसलिए पैदा हो गया क्योंकि विधवा को विवाह तो करने नहीं दिया जाता, उसका समाज में कहीं गुप्त-सम्बन्ध हो जाता है, इस सम्बन्ध से जब कुछ हो जाता है, पाप छिपता नहीं, तब उसे घर से निकाल दिया जाता है और निकलने के बाद उसके पास वेश्याओं के चकले में जा बैठने के सिवाय कोई चारा नहीं रहता। इसके अतिरिक्त विधवाओं के वेश्या बन जाने का आर्थिक कारण भी है। विधवा का समाज में कोई सहारा नहीं रहता। वह अपना पेट पालने के लिए वेश्या-वृत्ति को ही एकमात्र अवलम्ब समझ कर इस मार्ग को अपना लेती है।

(ङ) इससे अपराध बढ़ते हैं---विधवा-विवाह-निषेध का एक दुष्परिणाम भ्रूण-हत्याओं के अपराधों का बढ़ना है। जब गुप्त-व्यभिचार से किसी विधवा के गर्भ ठहर जाता है तो वह समाज के क्रूर प्रहारों से बचने के लिए गर्भपात कराने के उपायों को सोचने लगती है। उसका साथ देने वाले भी इस मार्ग का अवलम्बन

करते हैं, गर्भपात की दवाइयों को खोजते फिरते हैं। कभी-कभी जब कोई उपाय नहीं सूझता तब ये समाज-पीड़ित विधवाएँ आत्मघात तक कर बैठती हैं।

१३. विधवा-विवाह के निषेध का प्रचलन

वैसे तो समझा जाता है कि हिन्दू-समाज में विधवा-विवाह सर्वथा वर्जित है, इसका हर-स्तर के हिन्दू-समाज में निषेध है, परन्तु ऐसी बात नहीं है। इसमें सन्देह नहीं कि उच्च-वर्ग के हिन्दू-समाज में विधवा-विवाह का प्रचलन नहीं है। इसमें भी सन्देह नहीं कि निम्न-वर्ग का हिन्दू-समाज जो उच्च-वर्ग का अनुकरण करता है उसमें भी विधवा-विवाह को बुरी नजर से देखा जाता है। परन्तु यह बात ध्यान देने की है कि निम्न-वर्ग के हिन्दू-समाज में विधवा-विवाह का पूरी तरह से प्रचलन है, और इसे बुरा नहीं माना जाता। क्रुक महोदय ने उत्तर-प्रदेश के विषय में लिखा था कि इस प्रदेश की ७६ प्रतिशत जातियों में विधवा-विवाह प्रचलित है, सिर्फ़ २४ प्रतिशत जातियों में इस विवाह का निषेध है। जाटों में चद्दर देने की प्रथा है। इस प्रथा का अभिप्राय यह है कि पति के मरने पर उसका भाई विधवा का पति बन जाता है। गूजर, अहीर, गडरिया, कुरमी जातियों में विधवा-विवाह प्रचलित है। दक्षिण-भारत की निम्न-जातियों में विधवा विवाह कर लेती है। बंगाल में नाम-शूद्र और बिहार में बनिये इसे बुरा नहीं मानते।

अविभक्त-पंजाब में सर गंगाराम ट्रस्ट की तरफ़ से भारत के हर प्रान्त में एक 'विधवा-विवाह-सहायक-सभा' बनी हुई थी। इस सभा के हर जगह कार्यालय थे और इनके कार्यकर्त्ता जगह-जगह विधवा-विवाह करवाते थे। यह दुःख की बात है कि अब इस संस्था का कार्य बन्द हो गया है। किन्तु फिर भी इस संस्था ने विधवा-विवाह करवाने में उच्च-जाति के हिन्दुओं में भी काफ़ी प्रेरणा उत्पन्न की है। इस संस्था की तरह ब्राह्मो-समाज तथा आर्य-समाज ने भी उच्च-वर्ग में विधवा-विवाह के लिए पर्याप्त प्रेरणा उत्पन्न की है। फिर भी इसमें सन्देह नहीं कि अभी तक स्थिति यह है कि देश की अधिकांश निम्न-जातियाँ विधवा-विवाह करती हैं, और उच्च-जातियाँ नहीं करतीं।

१४. विधवाओं की समस्या का हल कैसे हो ?

विधवाओं की समस्या का हल पहले सती-प्रथा द्वारा किया गया, फिर विधवा-विवाह-कानून बनाकर किया गया, परन्तु समस्या का हल न हुआ। सती-प्रथा-निषेध से विधवा मरने से बच गई, परन्तु जीवित रहते हुए मरे से बुरी हालत में रही। विधवा-विवाह-कानून बना किन्तु हिन्दुओं की प्रथा और परम्परा ने उसे कागज का कानून बना दिया। विधवाओं की समस्या आज भी वैसी ही उग्र है जैसी पहले थी। इस समस्या का क्या हल निकाला जाय ?

समस्या के हल के दो रूप हैं। एक रूप तो यह है कि ऐसे उपाय बर्ते जायें जिनसे समाज में विधवाओं की संख्या घटे, विधवाएँ ही न होने पायें; दूसरा रूप

यह है कि विधवा-विवाह के अनुकूल वातावरण उत्पन्न किया जाय। विधवाओं की संख्या कैसे घटे और विधवा-विवाह के अनुकूल वातावरण कैसे उत्पन्न किया जाय ?

(क) विधवाओं की संख्या घटाने का पहला उपाय बाल-विवाह-निरोध है—अपने देश में विधवाओं की संख्या इतनी अधिक क्यों है—इसका विवेचन करते हुए हम लिख आये हैं कि बचपन में शादी हो जाने के कारण हिन्दुओं में विधवाओं की संख्या इतनी बढ़ी हुई है। जब ५–१० वर्ष में लड़के-लड़की की शादी हो जायगी तब क्या आश्चर्य है कि जिस देश में पहले ही मृत्यु-संख्या अधिक है लड़के छोटी ही आयु में विधुर तथा लड़कियाँ विधवा हो जाती हों। ऐसी अवस्था में लड़के-लड़कियों की बड़ी आयु में शादी करने से अपने-आप विधवाओं की संख्या कम हो जायगी।

(ख) विधवाओं की संख्या घटाने का दूसरा उपाय वृद्ध-विवाह-निरोध है—हमारे देश में जहाँ बच्चों की शादी होती हैं वहाँ बूढ़ों की शादी भी होती है। बूढ़े लोग विवाह तीन कारणों से करते हैं। एक तो बूढ़ा आदमी जब इकला रह जाता है तब उसकी देख-रेख करने वाला कोई नहीं होता, उसके विवाह का उद्देश्य एक प्रकार की नर्स प्राप्त करना होता है। ऐसे व्यक्तियों को किसी बूढ़ी विधवा से विवाह करना चाहिए, किसी युवति के भाग्य को नहीं बिगाड़ना चाहिए। दूसरे बूढ़ा आदमी अत्यन्त कामी होने के कारण भी युवति से विवाह करता है। ऐसे कामी वृद्ध व्यक्तियों का कानून द्वारा कान पकड़ना चाहिए। इस प्रकार का कानून श्री दीवानचन्द शर्मा ने ९ अप्रैल १९५४ को पार्लियामेंट में रखा था जिसका नाम 'दीर्घायु-विवाह-निरोधक-अधिनियम' (Advanced Age Marriage Restraint Bill) था। परन्तु ऐसा कानून सरकार की तरफ़ से आना चाहिए। तीसरे, बूढ़े आदमी सन्तानोत्पत्ति के लिए भी युवति-कन्या से विवाह करते हैं। बूढ़े होने के कारण स्वयं तो स्वर्ग सिधार जाते हैं, अपनी विधवा पत्नी को पीछे रोने के लिए छोड़ जाते हैं। इन्हें पुत्र की लालसा दो कारणों से होती है। या तो इनके पीछे इनका श्राद्ध करने वाला और श्राद्ध करके इन्हें स्वर्ग भेजने वाला कोई हो, या इनकी सम्पत्ति का अधिकारी कोई पीछे रहे। इस जन्म में ये लोग नरक जाने के सब काम करते हैं और सिर्फ़ श्राद्ध द्वारा स्वर्ग जाना चाहते हैं। अगर ये इस प्रकार स्वर्ग जा सकते हैं तो जायें, इसमें किसी को कोई आपत्ति नहीं, परन्तु किसी युवति का जन्म न ख़राब करें। ऐसे लोगों को अपनी आयु के बराबर किसी विधवा से विवाह करना चाहिए और इसके लिए कानून बनना चाहिए। बाकी रही सम्पत्ति की बात। ऐसे लोगों को सोचना चाहिए कि अगर अब तक सन्तान नहीं हुई तो क्या गारन्टी है कि इतना बुढ़ापा आ जाने के बाद आगे होगी। और अगर शादी कर लेने के बाद भी सन्तान न हुई तो उनकी सम्पत्ति का क्या होगा ? ऐसे लोगों को समाज-सेवा के किसी कार्य में अपनी सम्पत्ति दान दे देनी चाहिए या उसका ट्रस्ट बना देना चाहिए।

(ग) विधवाओं की संख्या घटाने का तीसरा उपाय विधवा-विवाह करना है—विधवाओं की संख्या घटाने का तीसरा उपाय विधवाओं का विवाह कर देना है। विधवा-विवाह का कानून तो बन चुका है, फिर भी ये विवाह नहीं होते। इसका कारण यही है कि इस प्रकार के विवाहों के रास्ते में कुछ रुकावटें हैं। हमें उन रुकावटों को दूर करना होगा और विधवा-विवाहों को प्रोत्साहित करना होगा।

(i) विधवा-विवाह में रुकावटें दूर करना—हम बहरामजी मलाबारी के नोट का इसी अध्याय में पहले उल्लेख कर आये हैं। उन्होंने लिखा है कि हिन्दुओं की जाति-प्रथा विधवा-विवाह में बड़ी भारी रुकावट है। जो विधवा-विवाह करता है उसका जाति से बहिष्कार कर दिया जाता है। कानून बना कर इस प्रकार की रुकावटों को दूर करना होगा। जो बाल-विधवाएँ विवाह करना चाहें उन्हें सरकारी तथा ग़ैर-सरकारी संस्थाओं द्वारा सहायता देनी होगी और उनके रास्ते की हर रुकावट को दूर करना होगा।

(ii) विधवा-विवाह को प्रोत्साहित करना—विधवा-विवाह के मार्ग में से रुकावटें दूर करना निषेधात्मक (Negative) उपाय है। इस उपाय के अतिरिक्त विधवा-विवाह के लिए लोगों को प्रेरणा देना विध्यात्मक (Positive) उपाय है। विधवा-विवाह के लिए लोगों को प्रेरणा देने के लिए जगह-जगह सभाएँ होनी चाहिएँ, व्याख्यान होने चाहिएँ, जन-मत तैयार करना चाहिए, एक प्रकार का विधवा-विवाह-आन्दोलन खड़ा करना चाहिए, जिस प्रकार की सर गंगाराम की विधवा-विवाह-सहायक-सभा थी, जो अब बन्द हो गई है, उस प्रकार की संस्थाओं की स्थापना होनी चाहिए, सरकार द्वारा इन संस्थाओं को सहायता मिलनी चाहिए।

अगर उक्त दिशा में कार्य किया जाय, तो विधवाओं की दुर्गति का अभिशाप हिन्दू-समाज में से मिट सकता है।

२९

हिन्दू-विवाह-सम्बन्धी समस्याएँ—दहेज़, वर-मूल्य तथा कन्या-मूल्य

(PROBLEMS CONNECTED WITH HINDU MARRIAGE—DOWRY, BRIDEGROOM AND BRIDE PRICE))

१. दहेज, वर-मूल्य तथा कन्या-मूल्य का अर्थ

हिन्दू-विवाह की संस्था के सम्बन्ध में जिन समस्याओं पर हम विचार कर रहे हैं उनमें से एक समस्या 'दहेज' (Dowry) की है। 'दहेज' पर विचार करते हुए हमें दो अन्य शब्दों पर भी विचार करना है। वे शब्द हैं—'वर-मूल्य' (Bridegroom price) तथा 'कन्या-मूल्य' (Bride price)।

(क) दहेज़ (Dowry)—दहेज उस धन को, या उस सम्पत्ति को कहते हैं जो कन्या-पक्ष की ओर से वर-पक्ष को दी जाती है। हम हिन्दू-विवाह पर लिखते हुए लिख आये हैं कि हिन्दू-स्मृतिकारों ने आठ प्रकार के विवाह गिनाये हैं जिनमें से चार उत्तम विवाह हैं। ये चार हैं—ब्राह्म, दैव, आर्ष तथा प्राजापत्य। चार निकृष्ट विवाह हैं। ये चार हैं—आसुर, गान्धर्व, राक्षस तथा पैशाच। इन चारों में महत्त्वपूर्ण बात यह है कि पहले चार में पिता वर को कन्या-दान करता है, अगले चार में कन्या-दान नहीं होता, कन्या को भगाया जाता है या उसके माता-पिता को पैसा देकर उसे मोल लिया जाता है। हिन्दुओं की उत्तम विवाह-पद्धति में कन्या-दान ही किया जाता है। कन्या-दान करते हुए कन्या का पिता वर-पक्ष को कन्या के साथ वस्त्र-अलंकार आदि भी देता है। जैसे कन्या का दान किया जाता है, वैसे कन्या के साथ वस्त्र, अलंकार आदि का भी दान किया जाता है। कन्या का देना कन्या-दान तथा वस्त्र आदि का देना 'दहेज' कहलाता है। हिन्दू-संस्कार में गोदान की विधि भी आती है। यह गोदान 'दहेज' ही है। इस प्रकार का दहेज विवाह-संस्कार का अंग है। प्राचीन-काल में ब्रह्मचारी तपस्या का जीवन व्यतीत किया करते थे। विवाह के समय उनकी साधारण-सी गृहस्थी कन्या का पिता जुटा देता था। कन्या-दान के साथ-साथ गो-दान तथा गो-दान की रस्म बढ़ती-बढ़ती दहेज का रूप धारण कर गई।

(ख) वर-मूल्य (Bridegroom price)—'दहेज' कन्या-पक्ष की तरफ़ से वह साधारण-सा दान था जो कन्या-दान के साथ दिया जाता था। इसका उद्देश्य वर को गृहस्थी चलाने का सामान देना था। अबतक क्योंकि कन्या का

बोझ उसके माता-पिता पर था, अब वे उसके विवाह के बाद अपना बोझ हल्का कर रहे होते थे और वर का बोझ बढ़ा रहे होते थे, इसलिए वर का जो बोझ बढ़ रहा था उसे हल्का करने के लिए गृहस्थी का कुछ सामान दे देते थे। यहाँ तक तो ठीक था और यहाँ तक देना ही 'दहेज' था। परन्तु यह बात यहीं तक सीमित न रही। वर-पक्ष की तरफ़ से इस सीमा से भी अधिक की माँग होने लगी। उस सीमा तक तो कन्या-पक्ष के लोग इच्छा-पूर्वक, प्रेम से देते थे, अपनी लड़की के लिए देते थे; उस सीमा से अधिक जो वे देने लगे वह इच्छा-पूर्वक नहीं, प्रेम से नहीं, वर-पक्ष की तरफ़ से बाधित किये जाने के कारण देने लगे। इसको भी 'दहेज' ही कहा जाने लगा, इसलिए क्योंकि यह भी कन्या-दान की तरह कन्या-पक्ष की तरफ़ से गो-दान की तरह का ही दान था, परन्तु शुद्ध अर्थों में इसे 'दान' या 'दहेज' न कहकर 'वर-मूल्य' कहना अधिक उपयुक्त है क्योंकि यह 'दान' नहीं था, यह वर का मूल्य डालना था। 'दहेज' की प्रथा कुत्सित होकर 'वर-मूल्य' का रूप धारण कर गई। आज जिस प्रथा ने हिन्दू-समाज के संगठन को जर्जरित कर दिया है वह असली अर्थों में 'दहेज' की प्रथा न होकर 'वर-मूल्य' की प्रथा है, यद्यपि उसे प्रचलित भाषा में 'दहेज' ही कहा जाता है।

(ग) कन्या-मूल्य (Bride price)—जैसे कुछ लोगों में कन्या-पक्ष वाले वर के माता-पिता को पैसा देते हैं, इसे 'वर-मूल्य' न कहकर 'दहेज' कहते हैं, वैसे कई लोगों में वर-पक्ष के लोग कन्या के माता-पिता को पैसा देते हैं, एक तरह से कन्या के माता-पिता अपनी लड़की को बेचते हैं। इस प्रथा को 'कन्या-मूल्य' देकर विवाह करना कहा जा सकता है। आसुर-विवाह में वर कन्या के माता-पिता को पैसा देकर उससे विवाह करता है—ऐसा स्मृतियों में लिखा है।

हम पहले 'दहेज' या 'वर-मूल्य' पर और फिर 'कन्या-मूल्य' पर विचार करेंगे।

२. वैदिक, मध्य, मध्योत्तर तथा वर्त्तमान काल में दहेज

(क) वैदिक-काल में दहेज—वैदिक-काल में दहेज का जो रूप था वह आजकल के रूप से भिन्न था। विवाह में कन्या-दान करते हुए उसके साथ जो वस्त्र तथा अलंकार आदि दिये जाते थे वही दहेज कहलाता था। इसके लिए वैदिक-परिभाषा में 'वहतु'-शब्द का प्रयोग किया गया है। ऋग्वेद (१०।८५।१३) तथा अथर्व० (१४।१।१३) में लिखा है कि सूर्या को उसके पिता ने जो वहतु (दहेज) दिया वह उसके श्वशुरालय में पहुँचने से पहले ही वहाँ पहुँच गया।[१] ऋग्वेद (१०।८५।३८) तथा अथर्ववेद (१४।२।२१) तथा पारस्कर गृह्य सूत्र (१।७।३) में लिखा है कि हे सूर्या! तुझे वहतु (दहेज) के साथ विवाह में दिया।[२] अथर्ववेद

१. सूर्याया वहतुः प्रागात् सविता यम् अवासृजत्।
२. तुभ्यम् अग्रे पर्यवहन् सूर्यां वहतुना सह।

(३।३१।५) में त्वष्टा द्वारा लड़की के लिए वहतु (दहेज) के जोड़ने का वर्णन।[1] है 'वहतु'-शब्द का ऋग्वेद के ३।३१।५ के मंत्र में अर्थ करते हुए वेद-भाष्यकार सायण ने लिखा है कि लड़की के साथ प्रेमपूर्वक जो वस्त्र, अलंकार आदि द्रव्य दिया जाता है वह 'वहतु' कहलाता है।[2] ऋग्वेद (१०।८५।१३) में जहाँ लिखा है कि सूर्या को उसके पिता ने 'वहतु' दिया—इसमें 'वहतु' शब्द की व्याख्या करते हुए सायण ने लिखा है कि कन्या को खुश करने के लिए विवाह के समय गौ आदि जो दान दिया जाता है वह 'वहतु' है।[3] विवाह के समय गो-दान की विधि की जाती है जिसका पारस्कर गृह्य-सूत्र में उल्लेख है। वहाँ विवाह करते हुए कन्या का पिता वर को कहता है---'गौः गौः गौः प्रतिगृह्यताम्'---लीजिये, यह गौ लीजिये। ऐसा प्रतीत होता है कि विवाह के समय कन्या के माता-पिता कन्या को वस्त्र, अलंकार, आदि देते थे, साथ दूध आदि पीने के लिए गाय आदि भी देते थे। यही सब 'वहतु' कहलाता था। इसी को आगे चलकर स्मृतिकारों ने 'स्त्री-धन' का नाम दिया। 'वहतु' या 'स्त्री-धन' माता-पिता अपनी बेटी को देते थे, वर को या उसके माता-पिता को नहीं देते थे। आजकल का दहेज तो कन्या को देने के बजाय वर के माता-पिता को दिया जाता है। वैदिक-काल के दहेज और आजकल के दहेज में यही भेद है। प्रचलित-प्रथा के अनुसार दहेज स्त्री-धन ही है, वैदिक-काल में तो यह था ही स्त्री-धन, परन्तु आज के युग में यह नाम को स्त्री-धन है, परन्तु इस पर कब्जा उसके पति या सास-ससुर कर लेते हैं। अगर यह स्त्री-धन स्त्री का ही धन बना रहे, इस पर यथार्थ रूप में उसी का अधिकार रहे तो दहेज पर क्या आपत्ति हो सकती है?

(ख) मध्य-काल में दहेज---हमने देखा कि वैदिक-काल में दहेज वह वस्त्र, अलंकार तथा धन आदि था जो विवाह के समय वर को या वर के माता-पिता को नहीं परन्तु लड़की को मिलता था। इसे 'वहतु' इसलिए कहते थे क्योंकि वह इसका 'वहन' करती थी, इसको अपने पास रखती थी। यह उसका स्त्री-धन था, उसकी सम्पत्ति थी। यही बात मध्य-काल के पूर्वार्ध में रही। इस समय जो स्मृतिकार हुए उन्होंने स्त्री-धन पर विशेष चर्चा की। स्त्री-धन की व्याख्या करते हुए मनु (९।१९४)[4] ने लिखा कि स्त्री-धन छः प्रकार का होता है। वे छः प्रकार हैं---अध्यग्नि, अध्यावाहनिक, प्रीतिदत्त, भ्रातृदत्त, मातृदत्त तथा पितृदत्त। इनमें 'अध्यग्नि' स्त्री-धन वह है जो विवाह-संस्कार के समय यज्ञ की अग्नि के

---

१. त्वष्टा दुहित्रे वहतुं युनक्ति।

२. दुहित्रा सह प्रीत्या प्रस्थापनीयं वस्त्रालंकारादि द्रव्यं वहतु-शब्देन विवक्षितम्।

३. कन्याप्रियार्थं दातव्यो गवादिपदार्थो वहतुः।

४. अध्यग्नि अध्यावाहनिकं दत्तं च प्रीति-कर्मणि।
भ्रातृ-मातृ-पितृप्राप्तं षड्विधं स्त्री-धनं स्मृतम्॥

सम्मुख दिया जाता है; 'अध्यावाहनिक' स्त्री-धन वह है जो पितृकुल से पतिकुल में लाते समय दिया जाता है, इस समय जो भेंटें दी जाती हैं उन्हें 'अध्यावाहनिक' कहा गया है; 'प्रीतिदत्त' स्त्री-धन वह है जो किसी भी समय खुश होकर माता-पिता या बन्धु-बान्धव उसे देते हैं; 'भ्रातृदत्त' स्त्री-धन वह है जो भाई देता है; 'मातृ-दत्त' स्त्री-धन वह है जो माँ देती है, 'पितृ-दत्त' स्त्री-धन वह है जो पिता समय-समय पर देता रहता है। यह सब स्त्री का अपना धन है। वैदिक-काल में जिस धन को 'वहतु' का नाम दिया गया है, वही धन स्मृति-काल में 'स्त्री-धन' कहा गया है। 'वहतु' वेदों का शब्द है, 'स्त्री-धन' स्मृतियों का शब्द है, परन्तु दोनों कालों की परम्परा यही रही है कि यह धन स्त्री का अपना है, इस पर पति का या सास-ससुर का अधिकार नहीं है।

(ग) मध्योत्तर-काल में दहेज़—स्मृतियों के बाद के काल को हम मध्योत्तर-काल कह सकते हैं। इस काल में दहेज की प्रथा में तब्दीली आने लगी। इस काल में स्त्री की स्थिति गिरने लगी। न तो उसे शिक्षा दी जाती थी, न उसके कोई अधिकार रहे थे, वह तुलसीदास के शब्दों में 'ढोर गँवार शूद्र पशु नारी, ये सब ताड़न के अधिकारी'। की स्थिति में पहुँच गई थी। इस काल में जहाँ स्त्री की स्थिति हीन हो गई वहाँ उसे स्त्री-धन से भी वंचित होना पड़ा। इस समय स्त्री-धन के रूप में जो-कुछ प्राप्त होता था वह स्त्री का न रहकर पति का या वर-पक्ष का, वर के माता-पिता का समझा जाने लगा। असल में, दहेज ने कुप्रथा का रूप इसी समय से ग्रहण किया।

इस समय स्त्री की स्थिति गिरने लगी, उसके साथ-साथ उस धन पर जो उसी के लिए दिया जाता था, पति ने तथा उसके सास-ससुर ने कब्जा करना शुरू कर दिया, तब कन्या के माता-पिता के लिए स्थिति बहुत विकट हो गई। क्यों विकट हो गई? इसलिए क्योंकि कन्या पहले ही उनके घर को छोड़ कर पराये घर चली जाती थी, इसलिए उनके हृदय को तोड़ कर ही जाती थी, जिस बेटी को इतने साल पाल-पोस कर बड़ा किया उसे पराये हाथों देते दुःख होता था, परन्तु अब जब कि उसको दिया धन उसका नहीं रहा, उसके घर वालों का हो गया, तब उन घर वालों की माँग बढ़ने लगी। लड़की तो माँ-बाप से किसी तरह की माँग नहीं करती थी। जो उन्होंने दे दिया, दे दिया, परन्तु लड़के के लालची माँ-बाप तो माँग पर माँग करने लगे, उन्हें पैसा माँगने से कौन रोक सकता था? जब कन्या-पक्ष को लड़की के लिए पैसा देने के स्थान में लड़के के लिए पैसा देना पड़ा, जब यह प्रथा चल पड़ी, तब आजकल की दहेज प्रथा ने जन्म लिया। मध्य-युग के उत्तर-काल में लड़के के माता-पिता बिना पैसा लिये विवाह ही नहीं करते थे, लड़की वालों के लिए लड़की का बिना पैसे के विवाह करना ही एक समस्या बन गया। मुग़ल-काल में राजपूतों तथा हिन्दुओं के अनेक वर्गों में दहेज-प्रथा ने इतना ज़ोर पकड़ा कि लड़की का जन्म होना उनके लिए बबाल हो गया। इस समय दहेज़-प्रथा के परिणामस्वरूप कन्या का वध भी शुरू हो गया। लड़की

कया पैदा होती थी मुसीबत पैदा हो जाती थी, इसलिए लोग कन्या को उत्पन्न होते ही गला घोट कर, अफ़ीम देकर, भूखा रखकर, बरफ़ पड़ती सर्दी में डाल कर मारने लगे। ऐसे ही लोगों को श्री गुरु गोविन्द सिंह ने 'कुड़ीमार' कहा है। यह सब-कुछ इसलिए किया जाता था क्योंकि लड़की के माता-पिता के पास दहेज़ देने की सामर्थ्य नहीं होती थी।

(घ) उन्नीसवीं तथा बीसवीं सदी (वर्तमान काल) में दहेज़ की प्रथा ने वर-मूल्य का रूप धारण कर लिया—१९वीं तथा २०वीं शताब्दी में दहेज़ की प्रथा ने उग्र रूप धारण कर लिया। इस काल में कन्याओं का बिना दहेज़ के विवाह होना कठिन हो गया। इस समय दहेज़ की प्रथा ने जो रूप धारण किया उसे 'वर-मूल्य' (Bridegroom price) कहना अधिक उपयुक्त होगा। कई जातियों में लड़कियाँ बिकती हैं, परन्तु दहेज़ की प्रथा ने इस समय जो रूप धारण किया उसे लड़के बिकना कहा जाय, तो अत्युक्ति न होगी। लड़की का बाप होना एक संकट में पड़ जाना था। इस संकट से बचने के दो ही उपाय थे—या तो दहेज़ प्रथा को हटा दिया जाय, या जिसके लिए दहेज़ दिया जाता है उसी को मार्ग से हटा दिया जाय, न रहे बाँस न बजे बाँसुरी। इस समय दोनों प्रयत्न होते रहे—दहेज़-प्रथा पर प्रतिबन्ध लगाने का भी प्रयत्न होता रहा, लड़कियों को मारा भी जाता रहा। पंजाब के खत्रियों तथा अन्य बिरादरियों ने प्रयत्न किया कि दहेज़ की राशि निश्चित कर दी जाय, यह भी नियम बनाया गया कि विवाह के समय जो 'दिखावा' दिखाया जाता है उसे बन्द कर दिया जाय, परन्तु यह सब निष्फल रहा। पंजाब की १९११ की जन-गणना की रिपोर्ट (खंड १, पृ० २५०) में एक लोक-कथा दी है कि बसोली का राजकुमार काँगड़े की राज-कन्या को ब्याह कर खूब दहेज़ लेकर जब लौटा तो तंबू गाड़ने वालों को हथौड़ों की कमी महसूस हुई। उन्होंने काँगड़े के राजा को कोसना शुरू किया कि उसने हथौड़े भी नहीं दिये। इस पर काँगड़े के राजा ने अपमान तो सह लिया परन्तु अपने राज्य में कन्या-वध की आज्ञा प्रचलित कर दी। उसका कहना यह था कि जिस कन्या के लिए दहेज़ देने के कारण माता-पिता को इतना अपमानित होना पड़ता है उसका जन्मते ही गला घोट देना ठीक है। दहेज़ के कारण कन्या-वध का इतना प्रचार हो गया कि पंजाब पर जब अंग्रेज़ों ने अधिकार किया तब सर जॉन्स लॉरेन्स ने तीन आज्ञाएँ प्रचलित कीं जिनमें से एक थी—बेटी को मत मारो। १८७० में बालिका-वध को रोकने के लिए सरकार को कानून बनाना पड़ा। इस कानून के बनने पर भी बालिकाओं का मारना समाप्त नहीं हुआ। १९३० की जन-गणना की रिपोर्ट के अनुसार ग्वालियर के भादुरिया तथा तंवर राजपूतों में एक हज़ार पुरुषों के पीछे स्त्रियों की संख्या क्रमशः ६३४ और ६२२ थी। जयपुर राज्य की शेखावाटी के कछवाहों में प्रति सहस्र पुरुषों के पीछे स्त्रियाँ केवल ५३० थीं। पुरुषों तथा स्त्रियों की संख्या में इस विषमता का कारण गुप्त रूप से कन्या-वध का प्रचलन था, और कन्या का वध इसलिए किया जाता था क्योंकि वह माता-पिता के

लिए दहेज की प्रथा के कारण आर्थिक-दृष्टि से जीवन भर दुःख का स्रोत बनी रहती थी।[1]

इस काल में लड़कियों ने आत्मघात करना भी शुरू किया। माता-पिता को जब लड़कियों ने अपने विवाह के लिए चिंतित देखा, अपने लिए ऋण में डूबा हुआ पाया, दहेज देने का सामर्थ्य उनमें नहीं देखा, तब वे इस जंजाल में से खुद निकलने और अपने माता-पिता को निकालने के लिए आत्मघात तक करने लगीं। अब ज्यों-ज्यों समय सुधरता जा रहा है, माता-पिता दहेज देने के बजाय लड़कियों को पढ़ा-लिखा कर अपने पांवों खड़े होने योग्य बनाते जा रहे] हैं, जिससे यह समस्या सुलझती जा रही है।

३. दहेज-प्रथा के कारण

जैसा हमने ऊपर लिखा, अब तो 'दहेज'-प्रथा ने 'वर-मूल्य'-प्रथा का रूप धारण कर लिया है और हिन्दू-समाज 'दहेज'-प्रथा से इतना दुःखी नहीं है जितना 'वर-मूल्य'-प्रथा से दुःखी है। हम भी इस प्रकरण में जब 'दहेज'-शब्द का प्रयोग करते हैं तब हमारा अभिप्राय 'वर-मल्य' से ही होता है। यह प्रथा क्यों उत्पन्न हुई और क्यों पनपती गई इसके अनेक कारण हैं। उन कारणों की विवेचना करना आवश्यक है।

(क) प्रीतिपूर्वक कन्या को वस्त्रालंकार दान के रूप में देना दहेज-प्रथा का सबसे पहला कारण है—'दहेज' या 'वर-मूल्य' प्रथा का मूल-कारण तो यह है कि जब माता-पिता अपनी लड़की को विवाह में किसी दूसरे को सौंपते हैं, तब वे यह भी चाहते हैं कि लड़की की सुख-सुविधा बनी रहे, वह आराम से रहे। लड़के-लड़की ने मिल कर एक नवीन गृहस्थी की नींव डालनी होती है। अब तक लड़की अपने मां-बाप के यहां रहती थी, अब उन्हें छोड़ कर वह दूसरे का घर बसाने जाती है। घर पर लड़की पर मां-बाप खर्च करते थे, अब उनकी लड़की का खर्च दूसरे परिवार पर पड़ने जा रहा था। ऐसे समय में जहां वे कन्या-दान करते थे, वहां उसके साथ गृहस्थी चलाने का सामान भी दान के रूप में देते थे। इस सामान को 'पारिणाह्य' अर्थात् घर की सामग्री कहा जाता था। वैदिक-काल में इसे 'वहतु' कहते थे, स्मृति-काल में इसे 'स्त्री-धन' कहते थे। मौर्य-युग में कन्या-पक्ष के लोग वर-पक्ष को गृहस्थी का सामान आदि देते थे। कौटिलीय अर्थशास्त्र में इस प्रकार के द्रव्य की चर्चा है। प्राचीन-काल में गृहस्थी शुरू करने का सामान दिया जाता था, इससे अधिक कुछ नहीं दिया जाता था, और यह सब जो-कुछ दिया जाता था स्त्री-धन कहलाता था, यह स्त्री की सम्पत्ति होता था। यह तो दहेज की प्रथा की शुरूआत थी, परन्तु धीरे-धीरे यह स्त्री-धन स्त्री का न रह कर पुरुष का हो गया, और स्त्री के जब सब अधिकार जाते रहे तब उसकी सम्पत्ति के इस अधिकार ने भी 'दहेज' का रूप धारण कर लिया। 'दहेज' की प्रथा ने ही 'वर-मूल्य' की प्रथा को जन्म दिया और अब 'दहेज' तथा 'वर-मूल्य' का एक ही अर्थ हो गया है।

१. हिन्दू-परिवार-मीमांसा (पृ० २४७,२४८) श्री हरिदत्त वेदालंकार

(ख) दहेज़-प्रथा का कारण जाति-प्रथा है---जाति-प्रथा का अर्थ है अपनी जाति के भीतर ही विवाह करना, जाति के बाहर नहीं करना। इसे हम 'अन्त-र्विवाही-प्रथा' (Endogamy) कह आये हैं। इस अन्तर्विवाही-प्रथा में इतना ही नहीं कि एक हिन्दू अपनी जाति के भीतर विवाह करता है, वह विवाह करते हुए उप-जाति को भी देखता है। ब्राह्मण एक जाति है, परन्तु ब्राह्मण हर किसी ब्राह्मण-परिवार के साथ विवाह-संबंध के लिए तैयार नहीं, ब्राह्मणों में वह ब्राह्मणों की अपनी उपजाति---सारस्वत, गौड़, कान्यकुब्ज आदि---को ढूँढता है। इसका परिणाम यह हो जाता है कि उसका विवाह का क्षेत्र अत्यन्त सीमित हो जाता है। हर-एक व्यक्ति जब अपनी ही जाति-उपजाति में विवाह करना चाहेगा, और उसमें योग्य वर नहीं मिलेंगे, मिलेंगे तो इने-गिने ही मिलेंगे, तब ये इने-गिने वर मुँह-माँगा दाम भी चाहेंगे। 'माँग और पूर्त्ति' (Demand and Supply) के नियम के अनुसार जब माँग ज्यादा हो, पूर्त्ति कम हो, तब वस्तु का दाम चढ़ जाता है, यही हाल विवाह की मार्केट में होता है। जाति में विवाह करना हुआ, जाति के बाहर जाना न हुआ, फिर योग्य वर का दाम ज्यादा देना ही पड़ता है। यही दहेज है। अगर लोग अन्तर्जातीय-विवाह करने लगें, तो दहेज की प्रथा अपने-आप लुप्त हो जाय।

(ग) दहेज़-प्रथा का कारण अनुलोम-विवाह की प्रथा है---हिन्दुओं की विवाह-व्यवस्था का संचालन अनुलोम-विवाह की प्रथा से होता है। अनुलोम-विवाह का अर्थ यह है कि हिन्दुओं में उच्च-वर्ण का पुरुष अपने से नीचे वर्ण की कन्या से विवाह कर सकता है, नीचे वर्ण का पुरुष अपने से ऊँचे वर्ण की कन्या से विवाह नहीं कर सकता। इसका अर्थ यह हुआ कि ऊँचे वर्ण के पुरुष का विवाह का क्षेत्र बहुत विस्तृत है। ब्राह्मण ब्राह्मण-परिवार में तो विवाह कर ही सकता है, वह क्षत्रिय-वैश्य-शूद्र कन्या से भी विवाह कर सकता है। इसी प्रकार क्षत्रिय क्षत्रिय-परिवार में तो विवाह कर ही सकता है, वह वैश्य तथा शूद्र कन्या से भी विवाह कर सकता है। इसका परिणाम यह होता है कि उच्च-वर्ण के पुरुष को हर-कोई अपनी कन्या देना चाहता है। इस प्रतिस्पर्धा में जो सब से ज्यादा रुपया दे सकता है वह जीत जाता है, जो ज्यादा रुपया नहीं दे सकता वह हार जाता है। इसी का नाम दहेज की प्रथा है।

हम पहले लिख आये हैं कि बंगाल में कुलीनवाद की एक प्रथा थी। कुलीन-ब्राह्मण वहाँ सब से ऊँचे माने जाते थे, और प्रत्येक ब्राह्मण-परिवार कुलीन नामक ब्राह्मणों में अपनी कन्या का विवाह करना चाहता था। इस होड़ का यह परिणाम था कि कुलीन लोग ५०-६०-१०० तक विवाह करते थे और हर-एक से रुपया ऐंठते थे। दहेज का यह रूप इतना कुत्सित रूप धारण कर गया कि कुलीन-ब्राह्मणों का व्यवसाय ही विवाह करके अपने श्वसुर-परिवारों से रुपया इकठ्ठा करना हो गया। अपने से ऊँचे परिवार में लड़की का विवाह करना---यह अनुलोम-विवाह की प्रथा उत्तर-प्रदेश में एक भिन्न रूप में पायी जाती है। वहाँ ब्राह्मण जाति कई

भागों में बँटी हुई है, और इन भागों में से हर भाग को 'बिस्वा' कहते हैं। १६ बिस्वे का ब्राह्मण अपनी कन्या को १७ बिस्वे में, १७ बिस्वे वाला १८ बिस्वे में, १८ बिस्वे वाला १९ बिस्वे में देना चाहता है। इस प्रकार ऊँचे स्तर में कन्या देने की होड़ में वर का मूल्य चढ़ता जाता है, और लड़के के माँ-बाप बरसों तक इस इन्तजार में बैठे रहते हैं कि उनके लड़के का मूल्य ज्यादा-से-ज्यादा चढ़ जाय।

(घ) दहेज-प्रथा का कारण धन के महत्त्व का बढ़ जाना है—आज का युग धन का युग है। पहले कभी जब धन का मुद्रा के रूप में आविष्कार नहीं हुआ था, लड़की के माता-पिता वर-पक्ष को क्या-कुछ दे सकते थे? उस समय मुद्रा का आविष्कार नहीं हुआ था, वस्तुओं का आदान-प्रदान-विनिमय मात्र हो सकता था। उस समय अगर कोई अपनी लड़की को कुछ देता तो वस्त्र, आभूषण, बर्त्तन, पलंग—यही-कुछ तो दे सकता था। उस समय दिया भी यही-कुछ जाता था। परन्तु जब से मुद्रा का आविष्कार हुआ है तब से धन का महत्त्व बहुत बढ़ गया है। धन से सब-कुछ खरीदा जा सकता है, धन से मान-मर्यादा-प्रतिष्ठा तक खरीदी जा सकती है। ऐसी हालत में जाति के बन्धनों से जकड़े हुए, अनुलोम-प्रतिलोम के पचड़े में पड़े हुए हिन्दू के लिए अपनी कन्या के विवाह का जब प्रश्न उपस्थित होता है, तब वरपक्ष के देव-गणों की धन-रूपी पुष्पों से पूजा करके ही वह अपनी भटकती आत्मा को सान्त्वना दे सकता है। धन एक ऐसी वस्तु इस युग में उत्पन्न हो गई है जो कठिन-से-कठिन समस्या को भी सुलझा देती है। इसी का नाम दहेज है।

(ङ) दहेज-प्रथा का कारण योग्य वरों के पता लगने की कठिनाई है—जब से नगरीकरण तथा उद्योगीकरण बढ़ा है तब से लोग अपने जन्म-स्थानों को छोड़ बड़े-बड़े शहरों में जा बसे हैं। वहाँ रहते उन्हें बरसों बीत जाते हैं, उनका अपनी जात-बिरादरी से सम्बन्ध टूट जाता है। अगर वे अपनी जात-बिरादरी में बने रहें तब तो उन्हें पता रहे कि अपनी जाति का कौन-सा लड़का और कौन-सी लड़की विवाह के योग्य है। जब उनका बिरादरी से सम्पर्क ही टूट जाता है तब उन्हें इस सब का पता कैसे लगे? आजकल समाचार-पत्रों में विवाह के विज्ञापन देकर इस समस्या को हल करने का प्रयत्न किया जाता है, परन्तु समाचार-पत्रों से ठीक तरह के परिवार नहीं मिलते, इनमें बहुतों में धोखा रहता है, बहुतों का अता-पता चलना कठिन होता है। ऐसी हालत में लोग जिन थोड़े-बहुत परिवारों को जानते होते हैं उन्हीं में दहेज देकर लड़के प्राप्त करने का प्रयत्न करते हैं। यह अवस्था इसलिए उत्पन्न हो जाती है क्योंकि जाति, अनुलोम, गोत्र, प्रवर आदि अन्तर्विवाही तथा बहिर्विवाही बन्धनों से पहले ही जकड़े होने के कारण हिन्दू का विवाह का क्षेत्र सीमित होता है, अब नगरीकरण तथा उद्योगीकरण के कारण जात-बिरादरी से टूट जाने से उसका विवाह का क्षेत्र और अधिक संकुचित हो जाता है। क्षेत्र के इस संकुचितपन को तोड़ने की एकमात्र कुंजी दहेज रह जाता है। दहेज देने से जान-पहचान के थोड़े-बहुत परिवारों में कोई लड़का मिल जाता है।

(च) दहेज़-प्रथा के कारण अविवाह योग्य कन्याओं का भी विवाह हो जाता है—दहेज प्रथा इसलिए भी चलती है कि कभी-कभी यह माता-पिता की एक गम्भीर समस्या को हल कर देती है। लड़की कुरूपा हो, विकलांगी हो, काणी हो, लंगड़ी हो, परन्तु पैसे के लोभ में ऐसी कन्याओं को भी वर मिल जाते हैं। यह दूसरी बात है कि ऐसी कन्याओं से विवाह करके ये लोभी परिवार उस कन्या का जीवन फिर भी दुःखी ही रखते हैं, कभी-कभी ऐसी भी अवस्था होती है कि अगर वह विवाह न करती तो अधिक अच्छी रहती, परन्तु सामयिक तौर पर माता-पिता की समस्या का हल दहेज से हो जाता है।

४. दहेज-प्रथा के दुष्परिणाम

दहेज़-प्रथा ने हिन्दू-समाज में जो रूप धारण कर लिया है उससे अपने देश की सामाजिक-व्यवस्था जर्जरित हो गई है। इस प्रथा के अनेक दुष्परिणाम हैं जिनमें से कुछ निम्न हैं:

(क) कन्या-वध—दहेज की कुप्रथा का सब से भयंकर परिणाम कन्या-वध है। राजपूताने में इस प्रथा का प्रचार था। पंजाब के खत्रियों, जाटों, राजपूतों और मुहियालों में भी कन्या के पैदा होने पर उसका गला घोट दिया जाता था या अफ़ीम खिला कर उसे सदा के लिए सुला दिया जाता था। गुरु गोविन्द सिंह ने लड़की को मार देने वालों को 'कुड़ीमार' कह कर उनकी निन्दा की है। जब से दहेज-प्रथा चली तब से कन्या को आर्थिक-बोझ समझ कर उसका पालन-पोषण करना ही आफ़त सिर मोल लेना था। भारत में कन्या का वध १८७० में अंग्रेज़-सरकार को कानून द्वारा बन्द करना पड़ा। कन्या के प्रति यह दारुण-भाव भारत ही नहीं अन्य देशों में भी पाया जाता है जिसका मुख्य कारण कन्या का आर्थिक-दृष्टि से बोझ होना है। चीनी लोग तो लड़की को तड़पा-तड़पा कर मारते थे ताकि अगले जन्म में वह लड़का बनकर आये। अरब लोगों में लड़की को ज़िन्दा गाड़ देने की प्रथा थी। कहते हैं हजरत उस्मान की आँखों से पहली बार आँसू छलक आये जब उन्होंने अपनी भोली लड़की को ज़िन्दा गाड़ा। यूनानियों में अपनी कन्याओं को जंगल में फेंक देने की प्रथा थी। कन्याओं के आर्थिक-दृष्टि से बोझ होने के कारण ही उनका वध किया जाता है, और दहेज इसका एक सब से बड़ा कारण है क्योंकि दहेज के बराबर माता-पिता के लिए दूसरा कोई आर्थिक-बोझ नहीं, इसका प्रमाण यह है कि जिन जातियों में लड़के परिवार पर बोझ होते हैं, उनमें लड़के मार दिये जाते हैं। उदाहरणार्थ, पैरागुए के अबीपोज लोगों में पत्नी के दाम देकर उसे ख़रीदने की प्रथा है, इस प्रथा के कारण लड़कों के विवाह के लिए पैसे खर्च करने पड़ते हैं, इसलिए इनमें लड़कों को मार देने की पद्धति प्रचलित है।[1]

(ख) ऋण-ग्रस्तता—दहेज के कारण लड़की के पिता को साहूकारों से ऋण लेना पड़ता है और उस ऋण को चुकाने के लिए वे मानो अपने को ही गिरवी रख

१. हिन्दू-परिवार-मीमांसा, पृ० २४८—श्री हरिदत्त वेदालंकार

देते हैं। अगर उनके पास कोई मकान हो तो उसे गिरवी रखते हैं, तनख्वाह से गुजारा हो तो ऋण चुकाने के लिए तनख्वाह में से पेट काट कर साहूकार का कर्जा अदा करते रहते हैं। लड़की की चिन्ता दहेज देकर दूर करते हैं, परन्तु एक चिन्ता दूर कर साहूकार के कर्ज की दूसरी चिन्ता सिर मोल ले लेते हैं।

(ग) चिन्ता-ग्रस्तता से मानसिक रोग—चिन्ता सिर मोल ले लेने से माता-पिता दोनों हर समय चिन्ता में पड़े-पड़े घुलते रहते हैं। पहले लड़की को ब्याहने की चिन्ता, फिर दहेज जुटाने की चिन्ता, फिर दहेज के कारण ऋण सिर पर लेने की चिन्ता। इन चिन्ताओं से कभी-कभी उन्हें मानसिक रोग हो जाता है।

(घ) जीवन-स्तर का गिर जाना—जिसके सिर पर हर समय ऋण का बोझ लदा हो वह न अच्छी तरह से खा-पी सकता है, न पहन सकता है, न किसी अन्य आवश्यक कार्य पर व्यय कर सकता है। उसके परिवार का सारा आर्थिक स्तर गिर जाता है, अपनी तथा अपने परिवार की दवा-दारू, बच्चों की शिक्षा आदि सब दिशाओं में उसका स्तर गिरता जाता है।

(ङ) अपराध—कभी-कभी इस प्रकार ऋण से दबा हुआ व्यक्ति अपराध कर बैठता है। अगर वह किसी बैंक में खजान्ची है, तो ग़बन कर डालता है, अगर व्यापारी है तो काला-बाजार करता है। दहेज देने के कारण मनुष्य को जिस आर्थिक-संकट का सामना करना पड़ता है उससे निकलने के लिए वह जिस-किसी सम्भव उपाय को करने के लिए तैयार हो जाता है, भले ही वह अनैतिक हो।

(च) कन्याओं का अविवाहिता रह जाना—ऐसा भी होता है कि पिता के पास दहेज देने को रुपया नहीं है, कर्ज उठाने का उसका बूता नहीं है या उसे कर्ज मिल नहीं सकता, या जितना दहेज उससे माँगा जा रहा है उसका वह प्रबन्ध नहीं कर सकता—ऐसी हालत में दहेज न दे सकने के कारण कन्याएँ बड़ी हो जाती हैं, बड़ी होने पर उनके बड़ी आयु का होने की वजह से उनसे कोई विवाह नहीं करता। इस प्रकार दहेज प्रथा के कारण कन्याएँ आजन्म कुँवारी भी रह जाती हैं।

(छ) अनैतिकता—जो कन्याएँ आजन्म कुँवारी रहेंगी उनसे यह आशा करना कि वे ब्रह्मचारिणी ही रहेंगी, दुराशा मात्र है। मनुष्य की मौलिक-इच्छाएँ मनुष्य पर हावी होती रहती हैं और अगर कुछ अपने को नियन्त्रित रख सकते हैं, तो अधिकांश तो इन आवेगों के प्रवाह में बह ही जाते हैं। इस सब का परिणाम समाज में अनैतिकता का फैल जाना है।

(ज) आत्मघात—अनेक कन्याएँ यह देखकर कि वे अपने माता-पिता के लिए चिन्ता का विषय हैं, आत्मघात कर बैठती हैं। दहेज न जुटा सकने के कारण माता-पिता की चिन्ता दूर करने के लिए आत्मघात करने वाली कन्याओं की घटनाएँ समय-समय पर समाचार-पत्रों में प्रकाशित होती रहती हैं।

(झ) बाल-विवाह—दहेज की प्रथा के कारण बाल-विवाह को भी प्रोत्साहन मिलता है। ज्यों-ज्यों लड़का बड़ा होता जायगा त्यों-त्यों उसकी योग्यता बढ़ती जायगी, और ज्यों-ज्यों योग्यता बढ़ती जायगी, त्यों-त्यों उसका दाम भी

बढ़ता जायगा, इस दृष्टि से कई लोग छोटी आयु में ही बच्चों का थोड़ा-बहुत, अपनी सामर्थ्य के अनुसार दहेज़ देकर विवाह कर देते हैं।

(ञ) अनमेल तथा वृद्ध विवाह—जब माता-पिता दहेज नहीं जुटा सकते तब वे जरूरतमन्दों को लड़कियाँ ब्याह देते हैं। पैसे वाला कितना ही निकम्मा क्यों न हो, लड़की का उससे भले ही कोई मेल न बैठता हो, बूढ़ा हो, रोगी हो, क्योंकि उसे पैसा नहीं देना पड़ता, इसलिए ग़रीब माता-पिता लड़की को आग में झोंक देते हैं। इस तरह के अनमेल-विवाह दहेज-प्रथा का ही परिणाम हैं।

५. दहेज-प्रथा के लाभ

दहेज-प्रथा के दुष्परिणाम तो अनेक हैं ही, इसके कुछ लाभ भी कहे जा सकते हैं। ये लाभ यही सूचित करते हैं कि हर वस्तु के लाभ तथा हानियाँ होती हैं; समाज को यह निश्चय करना होता है कि लाभ अधिक हैं या हानियाँ अधिक हैं। हानियाँ अधिक हों, तो उस प्रथा को त्यागना ही उचित है। दहेज-प्रथा के लाभ निम्न कहे जा सकते हैं:—

(क) बाल-विवाह पर प्रतिबन्ध—हम पहले कह आये हैं कि दहेज-प्रथा से बाल-विवाह हो जाते हैं, परन्तु यह भी कहा जा सकता है कि दहेज-प्रथा के कारण बाल-विवाह रुक भी जाते हैं। पहले की-सी अवस्थाओं में दहेज-प्रथा के कारण बाल-विवाह होते थे, आजकल की-सी अवस्थाओं में दहेज-प्रथा के कारण बाल-विवाहों पर प्रतिबन्ध पड़ जाता है। दहेज न जुटा सकने के कारण माता-पिता लड़की का विवाह शीघ्र नहीं कर पाते, इसलिए बाल-विवाह अपने-आप रुक जाता है।

(ख) लड़कियों में शिक्षा का प्रचार—दहेज-प्रथा के कारण जब लड़कियों का देर तक विवाह नहीं होता, तो माता-पिता उन्हें घर बैठाये रखने की जगह उन्हें पढ़ाने-लिखाने लगते हैं। पढ़-लिख जाने के कारण उनकी अर्थोपार्जन की योग्यता भी बढ़ जाती है इसलिए उनके विवाह में उतनी कठिनाई नहीं रहती। इस दृष्टि से दहेज की प्रथा लड़कियों में शिक्षा-प्रचार के लिए सहायक हो जाती है।

(ग) नया घर बनाने में सहायता—अगर दहेज-प्रथा अपने कुत्सित रूप को न धारण करे, तो दहेज देने का यह लाभ होता है कि लड़का-लड़की जब नयी गृहस्थी जुटाने लगते हैं, तब उन्हें शुरू-शुरू में सब आवश्यक सामान बना-बनाया मिल जाता है, इसके लिए उन्हें परेशान नहीं होना पड़ता। पलंग, बर्त्तन, कपड़े—यही-कुछ तो दहेज में पहले कभी दिया जाता था। इस सब की गृहस्थी शुरू करने के लिए आवश्यकता थी।

अगर गहराई से विचार किया जाय, तो दहेज की हानियाँ अधिक हैं, लाभ बहुत थोड़े हैं। थोड़े ही नहीं, इन लाभों को लाभ कहना भी व्यर्थ है क्योंकि इन सब बातों की तरफ़ इस युग में अपने-आप सब का ध्यान जा रहा है। दहेज हो न हो, बाल-विवाह रुक ही गये हैं; शिक्षा का प्रचार शुरू ही हो गया है, नयी गृहस्थी बनाने के लिए जितने सामान की जरूरत है उतना तो सब बिना दहेज के

कीचड़ में फँसे भी देते ही हैं, इतना देने में, कुछ हानि भी नहीं है, इतना देने को वर का मूल्य चुकाना भी नहीं कहा जा सकता।

६. दहेज-प्रथा को समाप्त करने के उपाय

दहेज-प्रथा हिन्दू-समाज की विवाह के क्षेत्र में एक बड़ी भारी समस्या है। इस समस्या का हल क्या है? इस समस्या का हल दो दिशाओं से सोचा जा सकता है। एक दिशा समाज-सुधारकों की है, दूसरी दिशा कानून-निर्माताओं की है। समाज-सुधारकों का कहना है कि जब तक जन-मत तैयार नहीं होगा, तब तक कितने भी कानून बन जायें यह प्रथा हटने वाली नहीं है; कानून-निर्माताओं का कथन है कि बिना कानून द्वारा इस प्रथा को अवैध घोषित किये यह प्रथा जाने वाली नहीं है। असल में, समाज-सुधारकों के दहेज-विरोधी आन्दोलन तथा कानून-निर्माताओं के कानून बनाने से, दोनों दिशाओं से इस कुप्रथा पर चोट करने से ही यह प्रथा समाप्त की जा सकती है। जन-मत तैयार हो और कानून इसमें सहायक हो—इसी प्रकार दहेज की होड़ हट सकती है।

कानून के सम्बन्ध में तो हम पीछे लिखेंगे, पहले समाज-सुधारकों के प्रयत्न पर विचार कर लेना उचित है। समाज-सुधारक तीन दिशाओं में काम कर सकते हैं—दहेज-विरोधी-प्रचार द्वारा, शिक्षा के प्रसार द्वारा तथा अन्तर्जातीय-विवाहों के प्रोत्साहन द्वारा।

(क) दहेज-विरोधी-प्रचार—जब तक दहेज के विरोध में जन-मत तैयार नहीं हो जाता, तब तक इस कुप्रथा की जड़ उखाड़ना कठिन है। सभा-सोसाइटियों द्वारा, नवयुवकों में इस प्रथा के दुष्परिणामों के प्रचार द्वारा मैदान तैयार करने की आवश्यकता है। इस दिशा में आर्य-समाज आदि सुधारक-संस्थाओं ने बड़ा कार्य किया है, और कर सकती हैं। नवयुवकों के स्वतंत्र संगठन भी इस प्रथा के विरोध के लिए बनने चाहिएँ।

(ख) शिक्षा का प्रसार—ज्यों-ज्यों शिक्षा का प्रसार होता जा रहा है, त्यों-त्यों समाज की कुप्रथाओं की तरफ़ नवयुवकों का ध्यान अपने-आप जा रहा है। यह कहना तो कठिन है कि प्रत्येक शिक्षित-युवक दहेज-प्रथा का विरोधी है, शिक्षित-युवक भी अपनी जाति की प्रथाओं के कारण और पैसे के लोभ के कारण दहेज माँग बैठते हैं, मोटर माँगते हैं, विलायत में जाकर शिक्षा पाने का खर्च माँगते हैं, परन्तु जिस बेहयाई से अशिक्षित लोग दहेज माँगते हैं, उस बेहयाई से शिक्षित व्यक्ति नहीं माँग सकते। शिक्षा का कुछ तो पर्दा उन्हें रखना ही होता है। आशा यही करनी चाहिए कि शिक्षा के प्रचार के साथ-साथ दहेज के प्रति लोगों में अश्रद्धा उत्पन्न होगी।

(ग) अन्तर्जातीय-विवाह—दहेज-प्रथा को समाप्त करने का सब से उत्तम उपाय अन्तर्जातीय-विवाहों को प्रोत्साहन देना है। अन्तर्जातीय-विवाह प्रायः युवक-युवति अपने-आप करते हैं। उनके माता-पिता तो जाति के बन्धनों से बँधे होते हैं, परन्तु युवक-युवति जब एक-साथ पढ़ते, एक-साथ मिलते-जुलते

हैं, तब उनमें प्रेम-भाव पैदा हो ही जाता है, और वे जाति के बंधनों को तोड़ कर विवाह के बन्धन में बँध जाते हैं। उनकी माँग प्रेम होता है, पैसा नहीं। इस प्रकार के विवाह ज्यों-ज्यों बढ़ते जायेंगे, त्यों-त्यों दहेज-प्रथा का स्वयं अन्त होता जायगा।

(घ) कानून द्वारा दहेज़ का अन्त—समाज-सुधारकों के साथ-साथ कानून-निर्माताओं का कथन है कि जागृत जन-मत को सहारा देने के लिए दहेज-विरोधी-कानून बनने की जरूरत है। दिसम्बर १९५९ में 'दहेज-निरोधक-विधेयक' (Dowry Prohibition Bill) पार्लियामेंट में पेश किया गया। इससे समाज-सुधारकों को भी बल मिलेगा। यह विधेयक शीघ्र ही अधिनियम बन जायगा। यह विधेयक क्या है?

७. दहेज-निरोधक-विधेयक—१९५९[1]
(Dowry Prohibition Bill, 1959)

२४ अप्रैल १९५९ को लोक-सभा में 'दहेज-निरोधक-विधेयक' प्रस्तुत हुआ। इस बिल पर विचार करने के लिए श्रीमती रेणु चक्रवर्ती की अध्यक्षता में लोक-सभा के ३० तथा राज्य-सभा के १५ सदस्यों की एक कमेटी बनी। इस कमेटी ने बिल में जो सुधार किये उनके आधार पर दिसम्बर १९५९ में इस आशय का बिल संसद् में पेश हुआ जिसकी मुख्य-मुख्य बातें निम्न हैं:

[दहेज-निरोधक-विधेयक—१९५९]

(क) दहेज़ की परिभाषा में वर-मूल्य तथा कन्या-मूल्य दोनों आ जाते हैं—इस विधेयक में 'दहेज' का अर्थ उस सम्पत्ति या मूल्यवान् वस्तुओं से है जो सीधे या हेर-फेर के तरीके से विवाह में एक पक्ष या उस पक्ष के किसी व्यक्ति द्वारा दूसरे पक्ष या दूसरे पक्ष के किसी व्यक्ति को दी जाती हैं या जिनके दिये जाने की एक-दूसरे के साथ रज़ामन्दी होती है। यह सम्पत्ति या मूल्यवान् वस्तुएँ चाहे विवाह के समय दी जायें, चाहे विवाह से पहले दी जायें, चाहे विवाह के बाद दी जायें, अगर इनका दिया जाना सगाई या विवाह के लिए एक शर्त है, तो यह दहेज कहलायेगा। 'दहेज'-शब्द में मुसलमानों का 'महर' नहीं गिना जायगा[2]।

---

१. पुस्तक के छपने तक यह बिल लोक-सभा में पारित होकर राज्य-सभा और राज्य-सभा से फिर लोक-सभा में लौटा था। यहां पर तब तक की रूप-रेखा दी गई है।

२. "In this Bill, 'dowry' means any property or valuable security given or agreed to be given, whether directly or indirectly, to one party to a marriage or to any other person on behalf of such party by the other party to the marriage or by any other person on behalf of such other party, either at the marriage or before or after the marriage, as consideration for the betrothal or marriage of the said parties, but does not include dower or *mahar* in the case of persons to whom the Muslim Personal Law (*Shariat*) applies." —*Definition of dowry given in the Dowry Prohibition Bill.*

(ख) दहेज़ देने या लेने के लिये छ: मास की कैद और ५,००० रुपये का जुर्माना—इस विधेयक के अनुसार इसके लागू होने के बाद अगर कोई व्यक्ति दहेज देता है या लेता है या लेने-देने में सहायक होता है, तो उसे छः महीने तक की सजा अथवा ५,००० रुपए तक का जुर्माना किया जा सकता है। यहाँ जेल तथा जुर्माना दोनों किये जाने की व्यवस्था है।

(ग) दहेज़ माँगने के लिए छ: मास की कैद और ५,००० रुपये का जुर्माना —दहेज देने और लेने के लिए तो कैद और जुर्माने की व्यवस्था कर दी गई, परन्तु अगर कोई दहेज माँगे तो क्या व्यवस्था की गई है ? अगर कोई कन्या-पक्ष से अथवा वर-पक्ष से सीधे तौर से या हेर-फेर से दहेज माँगता है तो उसे छः महीने की सजा अथवा ५,००० रुपए का जुर्माना अथवा दोनों प्रकार के दण्ड एक-साथ हो सकते हैं। यहाँ जेल अथवा जुर्माना अलग-अलग और अगर मैजिस्ट्रेट चाहे तो दोनों के किये जाने की व्यवस्था है।[1]

(घ) दहेज़ लेने तथा देने का इकरारनामा समाप्त समझा जाय—अगर किन्हीं पक्षों में विवाह के लिए दहेज देने या लेने का कोई समझौता या इकरार हुआ है, तो वह इस कानून से समाप्त समझा जायगा। दहेज देने या लेने के किसी समझौते या इकरार को स्वीकार नहीं किया जायगा।

(ङ) अगर दहेज़ दिया गया है तो वह पत्नी की सम्पत्ति समझा जाय—उक्त कानून के बावजूद अगर यह पता चल जाय कि विवाह में दहेज दिया गया है, तब दहेज देने का जो दण्ड दिया जाना चाहिए वह तो दिया ही जायगा, परन्तु साथ ही इस विधेयक में यह व्यवस्था की गई है कि वह दहेज का रुपया लड़की की निजी सम्पत्ति होगा। अगर विवाह से पहले दहेज लिया गया था तो विवाह के एक साल के अन्दर-अन्दर वह रुपया लड़की को मिल जाना चाहिए, अगर विवाह के समय या विवाह के बाद लिया गया है तो दहेज लेने की तारीख से एक साल के अन्दर-अन्दर वह रुपया लड़की को मिल जाना चाहिए, अगर दहेज तब लिया गया जब लड़की नाबालिग थी तब १८ वर्ष की आयु के बाद एक वर्ष के भीतर वह रुपया लड़की को मिल जाना चाहिए। अगर कोई इस धन को ठीक समय पर लड़की को नहीं लौटायेगा तो उसे छः मास की कैद या ५,००० रुपए तक जुर्माना या दोनों एक-साथ हो सकते हैं। इस जुर्माने के होने का यह अर्थ नहीं है कि वह दहेज के रुपए को अपने-पास रख सकेगा, वह तो उसे हर हालत में लड़की को लौटाना ही होगा। अगर इस बीच वह लड़की जिसके लिए दहेज दिया गया था मर जाय तो

१. राज्य-सभा में लोक-सभा द्वारा स्वीकृत विधेयक के इस अंश को हटा दिया गया है। राज्य-सभा का कहना है कि इस प्रकार तो कोई भी पक्ष जिसका विवाह का प्रस्ताव स्वीकृत नहीं हुआ, कह सकता है कि मुझ से तो दहेज माँगा गया था। राज्य-सभा के इस संशोधन के कारण ही यह बिल फिर से लोक-सभा की सम्मति के लिये भेजा गया है।

उसके वारिस दहेज के धन के अधिकारी समझे जायेंगे। इस धारा का यह अर्थ नहीं है कि दहेज को इस धारा में वैध मान लिया गया है। रहेगा तो यह अवैध ही, परन्तु अवैध होने पर भी तो लोग दहेज देते रहेंगे। ऐसे दहेज का जब पता चल जाय तब उसके विषय में उक्त व्यवस्था रहेगी। दहेज-निरोधक-विधेयक की यह सब से क्रांतिकारी धारा है। अगर दहेज दिया गया है, तो इस धारा के अनुसार पत्नी अदालती कार्यवाही कर के दहेज के धन को अपने नाम पर करवा सकती है, इस धारा के अनुसार दहेज में दिया गया धन वास्तविक रूप में स्त्री-धन हो जाता है, मुसलमानों की परिभाषा में 'महर' हो जाता है क्योंकि 'महर' तथा 'स्त्री-धन' --इन दोनों शब्दों का एक ही अर्थ है।

(च) दहेज़ का कानून 'ज्ञापनीय' (Non-cognizable) अपराध होगा--अपराध दो तरह के होते हैं--'ज्ञातव्य' (Cognizable) तथा 'ज्ञापनीय' (Non-cognizable)। 'ज्ञातव्य'-अपराध में पुलिस तथा राज्य के अधिकारी किन्हीं अपराधों के होने पर स्वयं उनका पता लगाते हैं। उन अपराधों का जानना उनकी अपनी जिम्मेवारी है, उनकी खोज-बीन वे करते हैं, 'ज्ञापनीय' अपराध में पुलिस तथा राज्य के अधिकारी तब तक कोई कार्यवाही नहीं करते जब तक कोई व्यक्ति अपराधी के विरुद्ध प्रार्थना-पत्र, अपराध का ज्ञापन या जानकारी नहीं देता और प्रार्थना-पत्र देने के बाद भी जब तक कोई मैजिस्ट्रेट उस बात की जाँच के लिए आज्ञा नहीं देता। ऐसे अपराध ज्ञापनीय हैं, अर्थात् उनका पुलिस को ज्ञान कराना पड़ता है। दहेज के विरुद्ध कानून 'ज्ञापनीय'-कानून है, अर्थात् पुलिस तथा राज्य के अधिकारी स्वयं इस विषय में कोई कार्यवाही तब तक नहीं कर सकते जब तक उन्हें कोई व्यक्ति इस अपराध का शिकायत करके ज्ञान नहीं कराता और उस शिकायत को सुन कर मैजिस्ट्रेट इस विषय में कार्यवाही करने को नहीं कहता। एक साल बाद भी इस विषय में कोई कार्यवाही नहीं हो सकती। ऐसी हालत में इस अपराध का भय बहुत थोड़ा रह जाता है।

[दहेज-निरोधक-विधेयक की आलोचना]

इस विधेयक का प्रभाव क्या होगा--यह कह सकना कठिन है, फिर भी समालोचकों का कहना है कि दो-तीन बातें इस विधेयक में ऐसी हैं जिनके कारण इसका प्रभाव जो होना चाहिए वह नहीं होगा। वे बातें क्या हैं?

(क) इस कानून का 'ज्ञापनीय' होना--इस कानून के अन्तर्गत जब तक कोई व्यक्ति शिकायत नहीं करेगा तब तक पुलिस कोई कार्यवाही नहीं कर सकेगी। प्रश्न यह है कि शिकायत कौन करेगा? प्रायः कन्या-पक्ष से दहेज माँगा जाता है। कन्या के माता-पिता, जो दहेज देने के लिए रजामन्द हों, वे अपने ही दामाद के खिलाफ पुलिस में शिकायत क्यों करेंगे? अगर वे शिकायत नहीं करते, तो और किसी को क्या पड़ा है कि वह इन लोगों से शत्रुता मोल ले। इसके अतिरिक्त हमारी कचहरियों का जो हाल है, जिस तरह लोगों को कचहरियों में परेशान होना पड़ता है, उस सब को देख कर कौन किसी की शिकायत करके मुसीबत को अपने

सिर लेगा। बाल-विवाह कानून में भी यही पख लगी हुई है। बाल-विवाह भी 'ज्ञापनीय' (Non-cognizable) अपराध है, जब तक कोई शिकायत न करे तब तक पुलिस इसके विरुद्ध कोई कार्यवाही नहीं कर सकती। इसीलिए अपराध घोषित किये जाने पर भी बाल-विवाह धड़ाधड़ होते हैं। अगर दहेज को अपराध घोषित करना हो तो इसे 'ज्ञापनीय' से 'ज्ञातव्य' अपराध घोषित करना होगा। परन्तु कठिनाई यह है कि ऐसा भी क्यों कर किया जाय? आखिर, यह तो एक प्रथा है, कुछ सीमा के भीतर रहने से यह अपराध नहीं बनता। फिर, अगर इसे 'ज्ञातव्य' (Cognizable) अपराध घोषित कर दिया जाय, तो पहले तो इतनी पुलिस ही नहीं जो इस झमेले को भी अपने सिर पर ले, अगर ले भी तो पुलिस घर के मामलों में इतना हस्त-क्षेप करने लगेगी कि जीवन दूभर हो जायगा। इस दृष्टि से कई लोगों का कहना है कि इसे 'ज्ञातव्य'-अपराध तो घोषित कर दिया जाय, परन्तु अगर इसके विषय में जाँच-पड़ताल करनी हो, तो सुपरिण्टेण्डेण्ट पुलिस के तबके का आदमी जाँच-पड़ताल करे जिससे नाहक लोगों को तंग न किया जा सके।

(ख) कानून में 'शर्त'-शब्द का होना—दहेज की व्याख्या करते हुए कहा गया है कि अगर कोई सम्पत्ति सगाई अथवा विवाह की 'शर्त्त' (Consideration) के तौर पर दी जायगी तो वह दहेज कहलाएगी। इसका अर्थ यह हुआ कि अगर कोई कहे कि मैं शर्त्त के तौर पर नहीं, परन्तु अपनी कन्या के प्रेम के कारण या अपने दामाद के प्रेम के कारण यह रुपया दे रहा हूँ, तब वह दहेज नहीं कहलायेगा। इस सब का नतीजा यह होगा कि लोग सीधे तौर पर दहेज देने के स्थान में हेर-फेर से दहेज देंगे। लोक-सभा में यह माँग भी हुई थी कि जो लोग अपनी लड़की को प्रेम-वश या प्रथा-वश कुछ देना चाहें वे कुछ भी न दे सकें—यह ज्यादती होगी। इसी माँग को पूरा करने के लिए इस कानून में एक व्याख्या जोड़ दी गई थी जिसमें कहा गया था कि प्रथा के अनुसार अथवा प्रेम-वश लड़की के माता-पिता जो देंगे वह दहेज नहीं समझा जायगा। राज्य-सभा के सदस्यों ने इस 'व्याख्या' (Explanation) को कानून में जोड़ना स्वीकार नहीं किया और कहा कि इससे तो लोग इसी की आड़ में दहेज देने लगेंगे। विधि-मंत्री ने इस 'व्याख्या' को कानून में से हटाना तो स्वीकार कर लिया परन्तु साथ ही कहा कि यह 'व्याख्या' कानून में जोड़ी जाय या न जाय, प्रथा अथवा प्रेम के कारण जो-कुछ दिया जायगा वह इस कानून के अनुसार भी दहेज नहीं माना जा सकता, दहेज वही होगा जो विवाह की 'शर्त' के तौर पर दिया जायगा।

(ग) दहेज को बिल्कुल बन्द कर देना भी अनुचित है—कुछ लोग तो यह कहते हैं कि दहेज को रोकने के लिये उसे 'ज्ञातव्य' (Cognizable)-अपराध घोषित कर देना चाहिए, और 'शर्त' (Consideration)-शब्द को उड़ा देना चाहिये, कुछ लोगों का कहना है कि दहेज एक धार्मिक-प्रथा है, इसके दुष्परिणामों को रोकना उचित है, परन्तु दहेज को कानून द्वारा बिल्कुल बन्द कर

देना उचित नहीं है। दहेज से नव-दम्पती का घर बसता है, उन्हें गृहस्थी प्रारम्भ करने के थोड़े-बहुत सामान से अपनी गाड़ी चलाने की सुविधा होती है, इसलिए २,००० रुपये तक अगर दहेज दिया जाय तो वह अनुचित नहीं है, उसकी आज्ञा होनी चाहिए। 'दहेज-निरोधक-विधेयक' जब पहले-पहल अपने प्रारंभिक रूप में प्रस्तुत किया गया था तब इसमें यह भी लिखा गया था कि २,००० रुपये तक दहेज दिया जा सकता है, उसके बाद प्रवर-समिति ने २००० रुपये की सीमा को हटा दिया और अब तो इसका जो रूप है उसमें एक रुपया भी 'शर्त' (Consideration) के रूप में देना अवैध है। इस अधिनियम के समालोचकों को इस प्रकार का प्रतिबन्ध लगाना एक ज्यादती लगती है।

८. कन्या-मूल्य (Bride Price)

भारतीय-कानून के अनुसार वधू-पक्ष का वर-पक्ष को और वर-पक्ष का वधू-पक्ष को विवाह के लिए पैसा देना दहेज कहलायेगा। इस दृष्टि से वर-मूल्य तथा वधू-मूल्य दोनों ही दहेज की परिभाषा में आ जाते हैं। वर-मूल्य की प्रथा उच्च घरानों में पायी जाती है, ब्राह्मण-क्षत्रिय-वैश्यों में, और वधू-मूल्य की प्रथा निम्न जातियों में पायी जाती है।

लड़की के पिता को पैसा देकर लड़की खरीदना--यह प्रथा हिन्दुओं में किसी समय थी। जो दामाद लड़की को खरीदता था उसे 'विजामाता' कहा जाता था। इस शब्द का अर्थ है--बुरा जमाई। हिन्दुओं में प्रचलित आठ प्रकार के विवाहों में एक विवाह 'राक्षस'-विवाह था। 'राक्षस'-विवाह वह विवाह कहलाता था जिसमें कन्या-क्रय करके विवाह होता था। 'राक्षस'-विवाह को, 'कन्या-क्रय' को बुरा माना जाता था, परन्तु यह होता जरूर था। मनुस्मृति (३।५१) में लिखा है कि कन्या का विद्वान् पिता वर से थोड़ा-सा भी 'शुल्क' न ले, जो लोभ से कन्या के लिए थोड़ा-सा भी 'शुल्क' लेता है, वह सन्तान का बेचने वाला कहलाता है'। इसका अर्थ यही हो सकता है कि कन्या को बेचने वाले उस समय थे जरूर। कन्या को बेचने से जो पैसा आता था उसे 'शुल्क' कहते थे। वर-मूल्य के रूप में प्राप्त धन 'दहेज' तथा कन्या-मूल्य के रूप में प्राप्त धन 'शुल्क' कहलाता था।

विवाह में कन्या-मूल्य क्यों दिया जाता था, और अब भी क्यों दिया जाता है? इसके कारण निम्न हैं:--

१. न कन्यायाः पिता विद्वान् गृह्णीयाच्छुल्कमण्वपि।
गृह्णञ्छुल्कं हि लोभेन स्यान्नरोऽपत्यविक्रयी॥ (मनु०)
शुल्केन ये प्रयच्छन्ति स्व-सुतां लोभमोहिताः।
पतन्ति नरके घोरे घ्नन्ति चासप्तमात्कुलम्॥ (बौधायन)

(क) अनुलोम-प्रतिलोम विवाह—हिन्दुओं की अनुलोम-प्रतिलोम विवाह-प्रथा का वर्णन हम कर आये हैं। उच्च वर्ण का पुरुष नीच वर्ण की कन्या से विवाह कर सकता है, यह अनुलोम-विवाह का विधान है, नीच वर्ण का पुरुष उच्च वर्ण की कन्या से विवाह नहीं कर सकता, यह प्रतिलोम-विवाह का निषेध है। उच्च-वर्ण का पुरुष जब अपने से सब नीचे के वर्णों की कन्याओं से विवाह कर सकेगा तो उसका विवाह का क्षेत्र विस्तृत हो जायगा, उच्च-वर्ण की कन्या का विवाह का क्षेत्र संकुचित हो जायगा। कन्या ने तो उच्च-वर्ण में ही जाना है, वह नीच वर्ण में जा नहीं सकती, इसलिए उच्च-वर को जो सब से ज्यादा पैसा देगा, उसी से वह शादी करेगा। इस प्रकार अनुलोम-विवाह-प्रथा से दहेज की प्रथा का सूत्रपात हुआ। इसके विपरीत नीच वर्ण का पुरुष उच्च-वर्ण की कन्या से विवाह नहीं कर सकता, अपने वर्ण की कन्या से ही विवाह कर सकता है, किन्तु उसके वर्ण की कन्या अपने से ऊपर हर वर्ण में जा सकती है। इसका परिणाम यह हुआ कि निम्न वर्णों में स्त्री का विवाह का क्षेत्र तो विस्तृत हो गया, पुरुष का विवाह का क्षेत्र संकुचित हो गया। अब निम्न जाति का पुरुष क्या करे? उसे कन्या कठिनता से मिलने लगी इसलिए उसने कन्या का मूल्य देना शुरू किया, इसी से निम्न-जातियों में कन्या-क्रय की प्रथा चल पड़ी। कन्या-क्रय की प्रथा का मुख्य आधार यही है कि निम्न-जातियों की लड़कियाँ सब जातियों में जा सकती हैं इसलिए उनकी अपनी जाति वालों के लिए लड़कियाँ कम रह जाती हैं, उन्हें फिर कन्या का मूल्य देकर उसे खरीदना पड़ता है। राजस्थान के कंजर, साँसी, मीना आदि जातियों के लोग कन्या को खरीद कर ही विवाह करते हैं।

(ख) बाल-विवाह तथा बेमेल-विवाह—कन्या-क्रय का दूसरा कारण बाल-विवाह तथा बेमेल-विवाह हैं। कन्या छोटी होती है, वह कुछ जानती-समझती नहीं, इसलिए उसके माता-पिता जो चाहें कर देते हैं। पहाड़ों में कन्याओं को दूसरों के हाथों बेच दिया जाता है, परन्तु यह सौदा इसीलिए हो सकता है क्योंकि बाल-विवाह के कारण कन्याओं को पता नहीं होता कि क्या हो रहा है। बाल-विवाह की तरह बेमेल-विवाह में भी कन्याओं को खरीद कर ही विवाह होता है। बुड्ढे को कौन अपनी लड़की देगा अगर वह इसके लिए पैसा न दे। बेमेल-विवाहों का लुका-छिपा आधार कन्या-मूल्य होता है।

हमने देखा कि किस प्रकार दहेज-प्रथा हिन्दू-समाज को खोखला कर रही है। अगर हिन्दू-समाज प्रगति के मार्ग में कदम बढ़ाना चाहता है, तो इसे इस प्रथा से छुटकारा पाना होगा।

३०

भारतीय नारी की स्थिति—भूत तथा मध्य काल

(POSITION OF INDIAN WOMAN—PAST AND MIDDLE PERIOD)

१. वैदिक अथवा प्राचीन काल

आज हम पाश्चात्य-सभ्यता में स्त्री तथा पुरुष की समान स्थिति देख कर कहने लगते हैं कि पाश्चात्य देशों में स्त्री की स्थिति बहुत ऊँची है, परन्तु अगर वैदिक-सभ्यता का अवलोकन किया जाय, तो वहाँ स्त्री की उच्च-से-उच्च सभ्यता की-सी स्थिति दिखलाई देती है, पाश्चात्य-सभ्यता से किसी प्रकार कम नहीं दिखलाई देती।

(क) स्त्री तथा पुरुष की आदर्श रूप में समान स्थिति—वैदिक अथवा प्राचीन काल में स्त्रियों की स्थिति किसी अंश में भी पुरुषों से कम न थी। वे पुरुषों के बराबर समझी जाती थीं, स्त्री पुरुष का आधा अंग मानी जाती थी। यह भाव 'अर्धाङ्गिनी'-शब्द से भली-भाँति व्यक्त हो जाता है। 'दम्पती'-शब्द एक है, परन्तु इस एक शब्द का अर्थ है—'पति तथा पत्नी'। 'दम्पती'-शब्द एक होता हुआ भी संस्कृत में द्विवचनान्त है। 'दम्पती'-शब्द से स्पष्ट रूप से प्रकट होता है कि स्त्री और पुरुष दोनों समान रूप से घर के स्वामी माने जाते थे। 'दम'-शब्द वेदों में 'घर' के लिए प्रयुक्त होता है। उसके वे दोनों मालिक समझे गए थे, इसी लिए वे 'दम' अर्थात् 'घर' के 'पति' कहे गये। घर अगर सम्पत्ति माना जाय, तो इस शब्द से यह भी स्पष्ट है कि पति तथा पत्नी दोनों सम्पत्ति में समान अधिकारी थे। वैदिक-साहित्य में स्त्री तथा पुरुष की उत्पत्ति की कथा भी इस बात को पुष्ट करती है कि उन दोनों की स्थिति समानता की थी। शतपथ, १४,४,२,१,५ में लिखा है—

"आत्मैवेदमग्र आसीत् पुरुषविधः। सोऽहमस्मि इत्यग्रे व्याहरत्। ततः अहं नामाभवत्। स वै न रेमे। तस्मादेकाकी न रमते। द्वितीयमैच्छत्। स हैतावानास यथा स्त्रीपुमांसौ संपरिष्वक्तौ। स इममात्मानं द्वेधापातयत्। ततः पतिश्च पत्नी चाभवताम्।"

"सृष्टि के प्रारम्भ में 'आत्मा' ही था, उसी का नाम 'पुरुष' था। वह इकला था, उसके अतिरिक्त दूसरा न था। उसने कहा—'मैं हूँ'—इसलिए उसका नाम 'अहम्' हो गया। वह अकेला रमण नहीं कर सकता था। उसने दूसरे

की इच्छा की। वह इतना था, जैसे स्त्री-पुरुष मिले होते हैं। उसके दो टुकड़े कर दिये गये, और वे पति-पत्नी कहलाए।'' इस कथा का यही अभिप्राय है कि स्त्री-पुरुष एकाकार थे, उस एकाकार अवस्था के दो टुकड़े हो गए। समानता के भाव को प्रकट करने के लिए इससे अच्छा दूसरा क्या अलंकार हो सकता है। यही वैदिक कथानक बाइबिल में भी पहुँचा प्रतीत होता है, क्योंकि वहाँ भी यही लिखा है कि सृष्टि के प्रारम्भ में 'आदम' को पैदा किया गया। वह अकेला था, इसलिए उसका जी नहीं लगता था। उसी के दो हिस्से किये गये, और 'आदम' की पसली को निकाल कर उसकी स्त्री बना दी गई जिससे 'आदम' तथा 'हौवा' ये दो बन गए। वैदिक-ऐतिह्य का यह अलंकार, जो दूसरे देश के कथानकों में भी चला गया, वैदिक-काल में 'स्त्री की स्थिति' पर पर्याप्त प्रकाश डालता है।

प्राचीन-भारत में स्त्रियों की स्थिति बहुत ऊँची थी। भारतवासियों के सब आदर्श स्त्री-रूप में पाये जाते हैं। विद्या का आदर्श 'सरस्वती' में, धन का 'लक्ष्मी' में, पराक्रम का 'महामाया' या 'दुर्गा' में, सौन्दर्य का 'रति' में, पवित्रता का 'गंगा' में। यहाँ तक कि भारतवासियों ने परम शक्तिशाली भगवान् को भी 'जगज्जननी' के रूप में देखा है। इससे यह स्पष्ट प्रमाणित होता है कि प्राचीन वैदिक-युग में स्त्रियों को किन पवित्रतम उच्च तथा सम्मान-पूर्ण भावों के साथ देखा जाता था। आज भी भारतवर्ष के अन्दर जगह-जगह 'देवी' के मन्दिर बने हुं, और हजारों नर-नारी 'देवी' की पूजा करने मन्दिरों में जाते हैं। 'देवी' की पूजा और 'स्त्री' को 'देवी'-शब्द से पुकारा जाना स्त्री की स्थिति पर पर्याप्त प्रकाश डालता है।

(ख) स्त्री तथा पुरुष की व्यवहार रूप में भी समान स्थिति—भावना में ही स्त्री को ऊँचा स्थान दे दिया गया हो, व्यावहारिक रूप में स्त्री को वह स्थान प्राप्त न हो, यह बात नहीं। वैदिक-काल में स्त्री का परिवार में बहुत ऊँचा स्थान था। परिवार में ही तो व्यावहारिक दृष्टि-कोण परखा जा सकता है। विवाह-संस्कार के समय कुल-वधू को सम्बोधन करके कहा जाता था (अथर्व १४।१४)—

''सम्राज्ञ्येधि श्वशुरेषु सम्राज्ञ्युत देवृषु।
ननान्दुः सम्राज्ञ्येधि सम्राज्ञ्युत श्वश्र्वाः।''

'हे नववधू! तू जिस नवीन घर में जाने लगी है, वहाँ की तू सम्राज्ञी है। वह राज तेरा है। तेरे श्वसुर, देवर, ननद और सास तुझे सम्राज्ञी समझते हुए तेरे राज में आनन्दित रहें।' वेद में स्त्री को घर की रानी कहा गया है—इसी से उस समय में परिवार के अन्दर स्त्री की ऊँची स्थिति का अनुमान किया जा सकता है।

(ग) पर्दे की प्रथा का अभाव—वैदिक समय की स्त्रियों में पर्दे की प्रथा भी न थी। विवाह के उत्तरार्द्ध के समय जो मंत्र पढ़ा जाता था, वह इस बात का स्पष्ट प्रमाण है। वेद (अथर्व १४।२६) में लिखा है—

''सुमङ्गलीरियं वधूरिमां समेत पश्यत।''

"इस सौभाग्यशालिनी वधू को सब लोग आकर देखो।" इस वेद-मंत्र से यह स्पष्ट है कि उस समय पर्दा न था। सम्पूर्ण वैदिक साहित्य का अवलोकन करने पर भी कहीं पर्दे का जिक्र नहीं मिलता। बृहदारण्यक (२।१) में गार्गी की कथा आती है। वहां लिखा है कि राजा जनक ने यह जानने के लिए कि उस समय का सब से बड़ा विद्वान् कौन है, एक भारी सभा की। एक हजार गौओं को, जिनके सींग सोने से मढ़े हुए थे, एक जगह खड़ा कर दिया, और यह घोषणा कर दी गई कि जो सब से अधिक विद्वान् हो, वह इन गौओं को हाँक ले जाय। ऋषि याज्ञवल्क्य ने अपने एक शिष्य को गौएँ हाँक ले जाने का आदेश दिया। उस समय गार्गी वाचक्नवी ने भरी सभा में खड़े होकर याज्ञवल्क्य की विद्वत्ता की परीक्षा करने के लिए बहुत-से प्रश्न किए। गार्गी के इस व्यवहार से जहां उसकी विद्वत्ता तथा साहस का प्रमाण मिलता है, वहां यह भी सिद्ध होता है कि उस समय स्त्रियों में पर्दे का रिवाज न था। यदि होता, तो गार्गी का भरी सभा में उपस्थित होना तथा पुरुषों के बीच में खड़े होकर वाद-विवाद करना कभी सम्भव न होता। पर्दा तो भारतवर्ष में महाभारत-काल तक भी नहीं आया था। महाभारत में लिखा है कि दुर्योधन को श्रीकृष्ण से युद्ध न करने के लिए भीष्म पितामह, द्रोणाचार्य आदि ने बहुत समझाया। जब वे कृतकार्य न हुए, तो उसे समझाने के लिए माता गान्धारी को राजसभा में बुलाया गया। इससे यही प्रकट होता है कि उस समय स्त्रियों के राज-दरबार में आने तथा राज्य-कार्यों में परामर्श देने की प्रथा विद्यमान थी।

(घ) स्त्रियों का सम्पत्ति में अधिकार--वैदिक-काल में स्त्रियों का सम्पत्ति में पति के समान अधिकार था, इसका उल्लेख हम 'दम्पती'-शब्द में देख आये हैं। 'दम' का अर्थ है--घर, 'पति' का अर्थ है--स्वामी। 'दम्पती'-शब्द पति-पत्नी दोनों के लिए प्रयुक्त होता है, दोनों घर के मालिक हैं। स्त्री के लिए 'सम्राज्ञी'-शब्द भी उसके मालकिन होने का सूचक है। विवाह के मंत्रों में स्त्री को 'सम्राज्ञी' कहा गया है। तैत्तिरीय-संहिता में स्त्री को 'पारिणाह्य' कहा गया है। 'परिणय' का अर्थ है विवाह। 'पारिणाह्य' का अर्थ है विवाह के समय स्त्री को मिला सामान। पत्नी को विवाह के समय जो सामान दिया जाता है उसके कारण उसे भी 'पारिणाह्य' कहा गया है। हिन्दू-परम्परा के अनुसार स्त्री-धन उसका होता है--यह सब-कोई जानते हैं। शतपथ-ब्राह्मण में लिखा है कि याज्ञवल्क्य संन्यास लेने लगे तो उन्होंने अपनी दोनों पत्नियों--मैत्रेयी तथा कात्यायनी--को बुला कर कहा, मैं तो संन्यास लेने लगा हूँ, आओ तुम्हारा सम्पत्ति का आपस में बँटवारा कर दूं। इस सब से सूचित होता है कि वैदिक-काल में स्त्रियों का सम्पत्ति में अधिकार था।

(ङ) स्त्रियों को उच्च-शिक्षा--वैदिक अथवा भारत के प्राचीन काल में स्त्रियाँ ऊँची-से-ऊँची शिक्षा ग्रहण करती थीं। यजु० (१४।४) में स्त्री को 'स्तोम-पृष्ठा' कहा है, जिसका अभिप्राय यह है कि वह वेद-मंत्रों के विषय में जिज्ञासा करती रहती है। प्राचीन इतिहास में 'सुलभा' का नाम प्रसिद्ध है। सुलभा का

संकल्प था कि जो कोई उसे शास्त्रार्थ में परास्त कर देगा, उसी से विवाह करेगी। सुलभा का यह निश्चय उसके अगाध पाण्डित्य का द्योतक है। स्त्रियों का मानसिक विकास चारों दिशाओं में हुआ था, इसका उदाहरण प्रत्यक्ष वेदों में ही मिलता है। वेदों के विषय में जिन्हें थोड़ा-सा भी ज्ञान है, वे जानते हैं कि वेद-मंत्रों के अर्थों को स्पष्ट करने वालों को 'ऋषि' कहा जाता है। भिन्न-भिन्न मंत्रों के अर्थ भिन्न-भिन्न ऋषियों ने खोले हैं। कई वेद-मंत्रों को खोलने वाली 'स्त्री-ऋषिकाएँ' भी हुई हैं। लोपामुद्रा, श्रद्धा, सरमा, रोमशा, विश्ववारा, अपाला, यमी, घोषा आदि स्त्री-ऋषिकाएँ हैं, जिन्होंने वेदों के गूढ़ रहस्यों का साक्षात्कार किया था। वैदिक-काल में शिक्षा देने के काल को 'उपनयन'-काल कहा जाता था, इस समय यज्ञोपवीत दिया जाता था। पीछे के काल में कन्याओं को शिक्षा न देने के कारण उनका यज्ञोपवीत बन्द हो गया, परन्तु वैदिक-काल में बालकों की तरह बालिकाएँ भी ब्रह्मचर्य व्रत धारण करती थीं, उनका यज्ञोपवीत होता था। तभी कहा है—'ब्रह्मचर्येण कन्या युवानं विन्दते पतिम्'—ब्रह्मचर्य धारण करने के बाद कन्या युवा पति को प्राप्त होती है। ब्रह्मचर्य-काल में ही यज्ञोपवीत संस्कार होता था। इसके अतिरिक्त आचार्य हारीत के कथनानुसार ब्रह्मचर्य धारण करने वाली कन्याओं के दो भाग थे—ब्रह्मवादिनी तथा सद्यो-वधू। 'ब्रह्मवादिनी' वे थीं जो आजन्म ब्रह्मचारिणी रहती थीं, विवाह नहीं करती थीं, पढ़ने-पढ़ाने में ही जीवन बिता देती थीं; सद्योवधू वे थीं जो १५–१६ वर्ष की आयु तक पढ़-लिख कर विवाह कर लेती थीं। कन्याओं का उपनयन होता था—इसके लिए यह श्लोक प्रसिद्ध है—'पुराकल्पे तु नारीणां मौंजी-बन्धनमिष्यते। अध्यापनं च वेदानां सावित्री-वाचनं तथा।'—अर्थात् प्राचीन-काल में स्त्रियों का उपनयन होता था, वे वेदादि शास्त्रों का अध्ययन भी करती थीं।

(च) बाल-विवाह का अभाव—वैदिक-काल में बाल-विवाह नहीं था, और कन्याओं को पूर्ण शिक्षा दी जाती थी। अथर्व (११।५।१८) में लिखा है, "ब्रह्मचर्येण कन्या युवानं विन्दते पतिम्।"—पूर्ण ब्रह्मचर्य-व्रत लेकर कन्या शिक्षा ग्रहण करती हुई विवाह करे। इस वेद-मंत्र से ज्ञात होता है कि उस समय बालिकाओं के लिए शिक्षा ग्रहण करना उतना ही आवश्यक माना जाता था, जितना कि बालकों के लिए। ब्रह्मचर्याश्रम के सब नियमों को, जिनमें शिक्षा प्राप्त करना प्रधान था, पूरा करके ही कन्या को विवाह करने का अधिकार था। दुधमुँही बच्चियों का विवाह करना वैदिक-काल की प्रथा न थी। उस समय पूर्ण युवति होने पर ही कन्या का विवाह होता था। यह भाव निम्नलिखित मंत्र से भली-भाँति स्पष्ट हो जाता है—

"सोमः प्रथमो विविदे गन्धर्वो विविद उत्तरः।
तृतीयो अग्निष्टे पतिस्तुरीयस्ते मनुष्यजाः॥"

(ऋ० १०, ८५, ४०)

इस मंत्र में लिखा है कि कन्या के चार पति होते हैं। पहला सोम, दूसरा गन्धर्व, तीसरा अग्नि और चौथा मनुष्य। 'सोम' से अभिप्राय वनस्पति से है। पहले कन्या की शारीरिक-वृद्धि होनी चाहिए। इस कथन को वेद ने इस प्रकार कहा है कि उसका पहला पति 'सोम' है। 'सोम' वनस्पति का नाम है, और वनस्पति से शारीरिक-वृद्धि होती है। शारीरिक-वृद्धि के बाद कन्या का मानसिक विकास होना चाहिए। इसी भाव को विशद करने के लिए वेद ने कहा है कि कन्या का दूसरा पति 'गन्धर्व' है। 'गंधर्व' का काम ललित कलाओं का ज्ञान देना है। शारीरिक-वृद्धि के अनन्तर कन्या को सामाजिक व्यवहार, मिलना-जुलना, गाना-बजाना आदि आना चाहिए। इसके बाद कन्या का तीसरा पति 'अग्नि' है। 'अग्नि' का अभिप्राय स्पष्ट है। कन्या की शारीरिक तथा मानसिक वृद्धि के बाद उसमें मनोभाव (Emotions) भी उत्पन्न हो जाते हैं--प्रेम की 'अग्नि' प्रदीप्त हो जाती है। इसके बाद कन्या का विवाह मनुष्य से किया जाय--यह वेद का आदेश है। इस आदेश में कन्या की कोई खास आयु निश्चित नहीं की गई। जिस समय उसकी आयु परिपक्व अवस्था पर पहुँचे, उस समय उसका विवाह हो। गर्म देशों में कन्याएँ शीघ्र विवाह के योग्य हो जाती हैं। सर्द देशों में २० वर्ष की आयु का विवाह भी बाल-विवाह समझा जाता है। इसी लिए वेद ने आयु की कोई सीमा नहीं बाँधी, परन्तु एक नियम का विधान कर दिया है। वह नियम जिस समाज में लागू होगा, उसमें बाल-विवाह की प्रथा नहीं रह सकती।

(छ) स्त्रियों का आध्यात्मिक-विकास--वैदिक-काल में आत्मिक-विकास की दृष्टि से भी स्त्रियाँ पुरुषों के साथ एक ही क्षेत्र में विचरण करती थीं। बृहदारण्यक (२।४) में याज्ञवल्क्य तथा मैत्रेयी का सम्वाद आता है। याज्ञवल्क्य अपनी सम्पत्ति तथा घर आदि छोड़ कर स्वयं जंगल में जाकर अध्यात्म-विद्या में अपना समय देना चाहते हैं, वे मैत्रेयी से अपना विचार कहते हैं। 'मैत्रेयी'-शब्द का भी यही अर्थ प्रतीत होता है कि वह याज्ञवल्क्य की 'मित्र' थी, उसकी दासी न थी। मैत्रेयी कहती है--यदि संसार का सारा धन एकत्रित करके उसको दे दिया जाय, तब भी वह घर रहने को तैयार न होगी। उसका यह विचार जानकर याज्ञवल्क्य मैत्रेयी को अपने साथ ले जाने से पूर्व आध्यात्मिक उपदेश देते हैं। इस ऊँचे उपदेश को जिस सरलता के साथ मैत्रेयी हृदयंगम कर लेती है, उससे मैत्रेयी के मानसिक और आत्मिक विकास की ऊँची अवस्था पर पर्याप्त प्रकाश पड़ता है। ऐतरेय ब्राह्मण (३३।१) में स्त्री को सखा कहा गया है--'सखा ह जाया'--इससे स्पष्ट है कि स्त्री के साथ बराबरी का, मित्र का-सा व्यवहार होता था और उनका पुरुषों का-सा विकास होता था क्योंकि मित्र का अर्थ ही यह है कि जिस के साथ अपना मानसिक-विकास, मानसिक-स्तर एक-सा हो।

(ज) धार्मिक-क्षेत्र में स्त्री-पुरुष की समानता--आध्यात्मिक ज्ञान रखने के साथ-ही-साथ धार्मिक क्षेत्र में भी स्त्री का पुरुष के बराबर ही स्थान था। कोई यज्ञ स्त्री के भाग लेने के बिना पूरा न समझा जाता था। रामचन्द्र जी के राज्याभिषेक

पर, सीता के परित्याग के पश्चात्, जब राजसूय-यज्ञ होने लगा, तो सीता जी का यज्ञ में होना अत्यावश्यक समझा गया। उस समय सीताजी की स्वर्ण-मूर्त्ति को उनके स्थान पर रखकर यज्ञ की पूर्त्ति की गई थी। प्राचीन-काल में राजा के अभिषेक के साथ उसकी रानी का भी राज्याभिषेक करने की प्रथा रही है। विवाह के समय माता-पिता दोनों मिलकर कन्या-दान करते थे। यह प्रथा आज तक अविकल रूप से चली आ रही है। हिंदू-धर्मशास्त्रों के अनुसार अब भी कन्या-दान के लिए माता का रहना आवश्यक होता है। अकेले पिता को कन्या-दान का अधिकार नहीं। वेदों का तथा उसके बाद प्राचीन भारत का युग स्वतंत्रता का युग था। उसमें कोई किसी से न ऊँचा था, न नीचा; स्त्री-पुरुष समान थे। स्त्रियों को चारों दिशाओं में उन्नति करने का पूरा अवसर मिलता था, इसलिए जिस क्षत्र में भी स्त्रियाँ कदम बढ़ाती थीं, उसी को वे अपनी अपूर्व प्रतिभा के तेज से आलोकित कर देती थीं। जिस वस्तु को भी वे हाथ लगाती थीं, उसी पर वे अपने विलक्षण व्यक्तित्व की गहरी छाप छोड़ देती थीं। उनके अन्दर जहाँ विद्वत्ता, प्रतिभा, विचार-शक्ति तथा आत्मबल था, वहाँ उनके सारे व्यवहार में एक प्रभावशाली व्यक्तित्व की विद्यमानता का अनुभव होता है। जब तक स्वतंत्रता तथा समानता का वायु-मंडल रहा, जब तक स्त्रियों की ईश्वर-प्रदत्त प्रतिभा को फलने-फूलने का अवसर मिलता रहा, तभी तक स्त्रियाँ समाज तथा देश के साहित्य पर अपने व्यक्तित्व का प्रभाव डालती रहीं, तभी तक वे अपने आत्म-बल तथा सतीत्व के द्वारा देश के आदर्शों को ऊँचा उठाती रहीं, और तभी तक व अपनी विचित्र-संजीवनी-शक्ति से जाति के अन्दर जीवन-संचार करती रहीं।

वैदिक-काल की स्त्रियों की स्थिति को देख कर श्री अलतेकर का तो कहना है कि अन्य देशों के इतिहास में जितना हम पीछे की ओर जाते हैं, उतनी उन देशों की स्त्रियों की स्थिति नीचे की तरफ़ जाती है, पाश्चात्य देशों में भी वही हाल है, परन्तु भारत के इतिहास में जितना हम पीछे की ओर जाते हैं, उतनी ही स्त्रियों की स्थिति उच्च दिखाई देती है। यह आश्चर्य की बात है।

वैदिक-काल की स्त्रियों की स्थिति को देख कर यह स्पष्ट कहा जा सकता है कि उस समय पर्दा, अशिक्षा, बाल-विवाह सती-प्रथा, बाधित वैधव्य, वृद्ध-विवाह आदि कोई उत्तरकालीन कुप्रथा नहीं थी।

२. मध्य-काल का पूर्वार्ध

(क) दृष्टिकोण बदल गया—स्त्रियों की वैदिक तथा प्राचीन समय में जो स्थिति थी, वह बहुत देर तक कायम न रक्खी जा सकी। वैदिक तथा प्राचीन काल में स्त्री को जिन उच्च, पवित्रतम भावों से देखा जाता था, वे धीरे-धीरे शिथिल पड़ने लगे। उस समय स्त्री 'देवी' थी, 'सम्राज्ञी' थी, पुरुष की योग्य सहचरी थी, पथ-प्रदर्शिका थी, जाति के भविष्य की निर्मात्री थी। पहले पुरुषों की दृष्टि में स्त्री यह सब-कुछ थी, किन्तु स्त्री-सम्बन्धी यह उच्च आदर्शवादिता, स्त्री के सम्बन्ध में विचारों की यह ऊँची उड़ान, देर तक जारी न रह सकी।

पुरुष की स्त्री के प्रति वह दृष्टि, जिसका परिणाम देश तथा समाज के लिए कल्याण-कारी हुआ था, अब धीरे-धीरे विपरीत दिशा में बदलने लगी। समय के व्यतीत होते-होते ऊँची विचार-धारा और पवित्र आदर्श इतने बदले कि इन्होंने युग ही बदल दिया। भारतवर्ष अब धीरे-धीरे मध्य-युग की ओर कदम बढ़ा रहा था। नया युग था, नया दृष्टिकोण था। स्त्री अब भी दिव्य गुणों से युक्त थी, किन्तु जो कमज़ोरियाँ पहले स्त्री के आभूषण तथा गुण बने हुए थे, अब उसके अवगुण बन गए। उसकी स्वाभाविक तथा शारीरिक दुर्बलताएँ जो पहले उसकी सरलता, शोभा, लालित्य तथा सौन्दर्य को बढ़ाने वाली थीं, अब उसकी बहुत बड़ी कमज़ोरी के रूप में सामने आने लगीं। स्त्री शरीर में पुरुष की अपेक्षा कमज़ोर थी, पुरुष बलवान् था; इसलिए पहले तो वह स्त्री की रक्षा करना अपना गौरव समझता था, परन्तु पीछे उसकी शारीरिक निर्बलता पुरुष को अपने ऊपर एक बोझ-सी प्रतीत होने लगी। कुछ दिनों बाद नया दृष्टिकोण उत्पन्न हो गया। पुरुष स्त्री की रक्षा करता है, इसलिए उसके पुरस्कार-स्वरूप बदले में स्वयं ही उसने स्त्री के अधिकारों पर कब्ज़ा जमाना शुरू कर दिया। पुरुष को आर्थिक दृष्टि से भी स्त्री अपने ऊपर आश्रित दिखलाई देने लगी। पुरुष धन का उपार्जन करके लाता था, स्त्री घर में रहकर सन्तान का पालन तथा गृह-प्रबन्ध करती थी। दोनों के कार्य-क्षेत्र भिन्न होते हुए भी एक-दूसरे से कम महत्त्व के नहीं थे। किन्तु पुरुष का स्त्री के प्रति पहले का दृष्टि-बिन्दु अब बदल चुका था। अतः वही स्त्री, जो उसके लिए पहले 'सम्राज्ञी' थी, अब एक साधारण-सी आश्रिता पत्नी प्रतीत होने लगी। गृह-लक्ष्मी पाचिका के रूप में नज़र आने लगी, माता सेविका बन गई, जीवन और शक्तिप्रदायिनी देवी अब निर्बलताओं की खान बन गई। स्त्री, जो किसी समय अपने प्रबल व्यक्तित्व के द्वारा देश के साहित्य तथा समाज के आदर्शों को प्रभावित करती थी, अब परतंत्र, पराधीन, निस्सहाय, निर्बल बन चुकी थी। वैदिक-युग का दृष्टिकोण, जो स्त्री के प्रति दिव्य कल्पनाओं तथा पुनीत भावनाओं से परिवेष्टित था, अब पूर्णतया बदल चुका था। असाधारण साधारण बन चुका था, अलौकिक लौकिक! आध्यात्मिकता का माप ही नीचे गिर रहा था। अन्य ऊँचे आदर्शों का भी अधःपतन शुरू हो चुका था। इस अधःपतन के युग के प्रारम्भ में ही स्त्री की स्थिति काफ़ी बदल चुकी थी। स्त्री को न अब वैसी स्वतंत्रता थी, और न पहले-से अधिकार। पुरुष ने स्त्री को शारीरिक तथा धार्मिक दृष्टि से अपने ऊपर आश्रित पाकर उसके कई अधिकारों को छीन लिया था। स्त्री की कमज़ोरी पुरुष के उच्छृंखल होने का साधन बन गई थी। जब कोई जाति किसी आदर्श से एक बार गिर जाती है, तो वह गिरती ही जाती है। शक्ति का लोभ और अधिक बढ़ता गया, और यहाँ तक बढ़ा कि एक समय आया, जब स्त्री के ऊपर पुरुष का पूरा अधिकार हो गया। उसकी स्वतंत्र विचार-शक्ति, उसका व्यक्तित्व—सब-कुछ लोप हो गया। उसके लिए पुरुष ने नये आदर्श तथा नयी मर्यादाओं का निर्माण किया, जिनसे स्त्री की सामाजिक तथा पारिवारिक दशा बहुत ख़राब हो गई।

स्त्री की स्थिति मध्ययुग के पूर्वार्द्ध में जो-कुछ रही, उसका प्रतिबिम्ब मनुस्मृति (९।२-३) में स्पष्ट दिखाई पड़ता है। वहाँ लिखा है—

"अस्वतन्त्राः स्त्रियः कार्याः पुरुषैः स्वैर्दिवानिशम् ।
विषयेषु च सज्जन्त्यः संस्थाप्याः आत्मनो वशे ।।
पिता रक्षति कौमारे भर्ता रक्षति यौवने ।
रक्षन्ति स्थविरे पुत्रा न स्त्री स्वातन्त्र्यमर्हति ।।"

—"स्त्रियों को परतंत्र रखना चाहिए। पुरुषों का कर्त्तव्य है कि स्त्रियों को रात-दिन अपने वश में रक्खें। कुमार अवस्था में स्त्री की पिता रक्षा करता है, युवावस्था में पति, वृद्धावस्था में पुत्र—स्त्री कभी स्वतंत्र रहने योग्य नहीं होती।"

(ख) स्त्री का इस युग में कोई अधिकार न रहा—मध्य-युग का प्रारम्भ सब प्रकार से स्त्रियों की गिरावट का प्रारम्भ था। स्त्रियों को अविश्वास की दृष्टि से देखा जाने लगा। उनकी स्वतंत्रता का अपहरण कर लिया गया। उन्हें पुरुषों के समान अधिकारों का उपभोग करने में अयोग्य समझा गया। उनके मानसिक तथा आत्मिक विकास के द्वारों पर ताला ठोक दिया गया। उनकी साहित्यिक उन्नति के मार्ग पर अनेकों प्रतिबंध लगा दिये गये। उपनयन के संस्कार से स्त्री को वंचित रख कर उसको सदियों के लिए अविद्या तथा अन्धकार के गढ़े में ढकेल दिया गया। जो स्त्रियाँ वैदिक तथा प्राचीन काल में धर्म की प्राण थीं, उन्हीं स्त्रियों को श्रुति का पाठ तक करने के अयोग्य घोषित कर दिया गया। 'स्त्रीशूद्रौ नाधीयाताम्'—जैसे मनगढ़ंत वाक्यों की रचना करके स्त्रियों को मानवता के क्षेत्र से निकाल फेंका गया। स्त्रियों के लिए संस्कारों की भी कोई आवश्यकता न समझी गई। मनु (५।१५५) ने घोषणा कर दी कि स्त्री के लिए विवाह ही एक-मात्र संस्कार है। स्त्री को विवाह-संस्कार के अतिरिक्त और किसी संस्कार की जरूरत नहीं—"वैवाहिको विधिः स्त्रीणां संस्कारो वैदिकः स्मृतः।" मनु के आठ प्रकार के विवाहों में आसुर, राक्षस तथा पैशाच विवाह भी गिने गये हैं। इनके अनुसार, यदि कोई पुरुष किसी स्त्री को चुरा कर भी ले जाय, तब भी वह उसका पति-रूप में ग्रहण करे, चाहे वह स्त्री उस व्यक्ति को घृणा की दृष्टि से ही क्यों न देखती हो। विवाहों के इस प्रकार के वर्गीकरण से यही प्रतीत होता है कि उस समय स्त्री की स्थिति बड़ी अस्थिर तथा नीची बना दी गई थी। बौद्ध धर्म-पुस्तकों से भी उस समय की स्त्रियों की सामाजिक-स्थिति पर पर्याप्त प्रकाश पड़ता है। बौद्ध-संघों में पहले तो स्त्रियों को लेने की मनाही थी। पीछे जब स्त्रियों को भिक्षुणी बनाया भी जाने लगा तब भी उनके लिए भिक्षुओं से कहीं अधिक कड़े नियमों का निर्माण किया गया। बौद्ध-पुस्तक चूल-वग्ग में लिखा है कि बुद्ध की माता महा प्रजापति गौतमी ने तीन बार संघ में प्रवेश किए जाने की आज्ञा माँगी, किन्तु तीनों बार उसे इन्कार कर दिया गया। बहुत-कुछ कहने-सुनने के उपरान्त जब उसे प्रविष्ट होने की आज्ञा मिली, तब कड़े-कड़े आठ नियम स्त्रियों के प्रवेश के लिए बनाये गये। उनमें से एक यह भी था कि वृद्धा-से-वृद्धा १००

वर्ष की आयु वाली भिक्षुणी को भी उसी दिन के नव-दीक्षित भिक्षु के सामने अभिवादन तथा प्रत्युत्थान करना चाहिए। एक दूसरा नियम यह था कि भिक्षुणी किसी प्रकार भी भिक्षु को गाली न दे, और न कोई भिक्षुणी किसी भिक्षु से बात करे। यद्यपि महात्मा बुद्ध ने स्त्रियों को भी भिक्षु-जीवन स्वीकृत करने की अनुमति दे दी थी, किन्तु वे इसको अच्छा न समझते थे। स्त्रियों के संघ में प्रवेश करने का क्या परिणाम होगा, इस सम्बन्ध में उन्होंने स्वयं अपने शिष्य आनन्द से इस प्रकार कहा था—"हे आनन्द! यदि तथागत द्वारा प्रतिपादित धर्म-विषय में स्त्रियाँ प्रव्रज्या न पातीं, तो यह धर्म चिरस्थायी होता; सद्धर्म सहस्र वर्ष तक ठहरता। लेकिन क्योंकि, आनन्द, स्त्रियाँ प्रव्रजित हुईं, अतः अब यह धर्म चिरस्थायी न होगा। सद्धर्म ५०० वर्ष तक ही टिक सकेगा।" आगे चलकर बुद्ध ने स्त्री-भिक्षुणियों को रोग से उपमा दी है। इस सब से यह स्पष्टतया प्रकट होता है कि स्त्री की स्थिति इस समय काफ़ी गिर चुकी थी। इस समय के साहित्य के अवलोकन से ज्ञात होता है कि इस समय तक वैदिक-काल का एक-पत्नी-व्रत का आदर्श लुप्त हो चुका था, उसके स्थान में बहु-विवाह का खुल्लमखुल्ला प्रचार हो गया था। बहु-विवाह के बहुत-से दृष्टान्त बौद्ध-साहित्य में उपलब्ध होते हैं। महावंश के अनुसार शुद्धोदन का विवाह माया और महामाया नाम की दो बहनों से हुआ था। राजा बिम्बसार की सोलह हज़ार रानियों का जातक-कथाओं में ज़िक्र आता है। उदयन की भी अनेक रानियाँ थीं।

(ग) स्त्री का कार्य-क्षेत्र संकुचित हो गया—वैदिक-युग में स्त्रियाँ खुले, स्वतंत्र, ऊँचे, पवित्र वायु-मंडल में विचरती थीं। उस वायु-मंडल में न तो ऊँच-नीच का भेद-भाव था, और न सन्देह तथा अविश्वास के निकृष्ट विचार। किन्तु मध्य-युग का वातावरण तंग, घुटा हुआ, विषमता के विष से भरा हुआ, अविश्वास-पूर्ण तथा संकुचित दृष्टिकोण से दूषित था। इस युग में जो सबसे बड़ा परिवर्त्तन स्त्री की स्थिति में हुआ, वह उसके कार्य-क्षेत्र का सीमित हो जाना था। स्त्री की शारीरिक, मानसिक तथा आत्मिक—सब प्रकार की उन्नति को रोक कर उसकी स्थिति घर में परिमित कर दी गई। पति की सेवा करना उसके जीवन का एक-मात्र लक्ष्य निर्धारित कर दिया गया। "पतिसेवा गुरौ वासो गृहार्थोऽग्निपरिक्रिया"—पति सेवा ही स्त्री के लिए मानो गुरु के घर में रहकर शिक्षा प्राप्त करना है, और उसका काम-धंधा करना ही उसका मानो यज्ञ या अग्निहोत्र है—ऐसे विचारों ने इस समय जन्म ले लिया।

(घ) फिर भी अभी स्त्री की स्थिति बिल्कुल नहीं गिरी थी—किन्तु काले मेघों के अन्दर भी विद्युत्-रेखा झिलमिला जाती है। मध्य-युग की गिरावट के बीच में भी हमें पुराने, उच्च, पवित्र आदर्शों की झलक कहीं-कहीं दिखलाई पड़ जाती है। तभी तो जिस मनुस्मृति में यह लिखा है कि स्त्रियाँ विश्वास करने योग्य नहीं, स्वतन्त्र रहने लायक नहीं, उसी मनुस्मृति में स्त्री को पूज्य-बुद्धि से, आदर वा सम्मान की दृष्टि से देखने का वर्णन भी मिलता है। मनु (३।५६) का कहना है—

"यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते रमन्ते तत्र देवताः।"—जहाँ स्त्रियों का सम्मान होता है, उस स्थान में देवता वास करते हैं। मनु के इस वाक्य में उसी पुराने वैदिक आदर्श की झलक है, जिसे सामने रखकर एक समय भारतवर्ष, स्त्री को 'देवी', 'सम्राज्ञी' के रूप में देखता था। मध्य-युग की गिरावट के समय में भी अर्ध-नारीश्वर का भाव पाया जाता है। शिव तथा पार्वती का जोड़ा स्त्री की स्थिति को लक्ष्य में रख कर ही बनाया गया था। परन्तु इस समय की धार्मिक कल्पना में वैदिक विचार का प्रतिबिम्ब-मात्र ही शेष रह गया था, असली विचार लुप्त हो रहा था।

बौद्ध-काल की पुस्तकों को गम्भीर दृष्टि से देखने से भी यही निष्कर्ष निकलता है कि मध्य-युग के पूर्वार्ध में स्त्रियों की स्थिति यद्यपि वैदिक-युग की अपेक्षा बहुत अधिक गिर चुकी थी, किन्तु फिर भी इतनी गिरावट नहीं हुई थी, जो उस युग के उत्तरार्ध में दिखाई देती है। इस समय तक यद्यपि स्त्रियों की विद्वत्ता, पाण्डित्य तथा स्वतन्त्र विचार-शक्ति का पर्याप्त मात्रा में ह्रास हो चुका था, तथापि उनमें अलौकिक श्रद्धा, आत्मबल तथा स्वतंत्र व्यक्तित्व का अभी तक कुछ अंश बचा हुआ था। उसी श्रद्धा, बल और प्रभाव के द्वारा उस समय की स्त्रियाँ महात्मा बुद्ध-जैसे महान् व्यक्ति को बाधित कर सकी थीं कि उनको धर्म-संघों में प्रविष्ट होने की आज्ञा मिले। संघ में ५०० के लगभग स्त्रियों ने स्थान प्राप्त कर लिया था। और, जिस योग्यता के साथ उनमें से कुछ ने संघ के नियमों को पूरा किया, और संघ के उद्देश्यों का समस्त देश में प्रचार किया, इससे उनकी शिक्षा तथा उच्च कोटि की योग्यता का पर्याप्त परिचय मिलता है। बौद्ध-ग्रन्थों में अनेकों विदुषी स्त्रियों का उल्लेख है, जो बुद्धिमती, सुशिक्षिता और प्रतिष्ठा-युक्त थीं। संयुक्त-निकाय में सुक्का नाम की एक महिला का नाम आता है, जिसकी वक्तृत्व-शक्ति अपने समय में अद्वितीय समझी जाती थी। जिस समय वह राजगृह में व्याख्यान देने गई, तो सम्पूर्ण नगर-निवासियों को उसके व्याख्यान की सूचना इस प्रकार दी गई—"सुक्का अमृत-वर्षा कर रही है। जो लोग बुद्धिमान् हैं, वे जावें और अमृत-रस का पान करें।" भद्रा, खेमा, विशाखा आदि कई विदुषी महिलाओं का परिचय भी बौद्ध-ग्रन्थों में मिलता है। मण्डन मिश्र की स्त्री विद्याधरी का शंकराचार्य-जैसे विद्वान् के सम्मुख मध्यस्थ बनना और फिर उनसे शास्त्रार्थ करना भी सिद्ध करता है कि मध्य-युग में स्त्रियों ने अपने सब अधिकारों को नहीं छोड़ा था।

(ङ) राजपूत-काल तक स्त्री-जाति अपनी स्थिति को सम्भाल रही थी—बौद्ध-काल के अनन्तर जब हम राजपूतों के समय की तरफ़ आते हैं, तब भी हम इसी परिणाम पर पहुँचते हैं कि स्त्री-जाति का भाग्य-सूर्य वहाँ भी अभी पूर्णतया अन्तर्हित नहीं हो गया था। अब भी प्रकाश की अंतिम रश्मियाँ राजपूताने की मरु-भूमि को अपने तेज से आलोकित कर रही थीं। यद्यपि सूर्यास्त समीप आ रहा था, तथापि इस गोधूलि की टिमटिमाहट में स्त्री-जाति का भाग्य-सूर्य अन्तिम बार चमक उठा था। राजपूत-नारियों के देश-प्रेम, श्रद्धा-भक्ति तथा वीरता ने अस्ताचल की

ओर जाते भाग्य-सूर्य में एक बार पुनः ज्योति का संचार किया था। रानी दुर्गावती का दृष्टान्त किससे छिपा है। वह गढ़-प्रदेश की छोटी-सी रानी थी। उसके पुत्र पर अकबर ने आक्रमण कर दिया। अपने छोटे-से शिशु की रक्षा करने के लिए रानी दुर्गावती ने अपनी सेना तैयार की, और स्वयं उसकी सेनापति बनी। यद्यपि वह युद्ध में परास्त हो गई, तथापि उसका भारत के सम्राट् के साथ युद्ध करने के लिए उद्यत हो जाना, उस गिरावट के समय भी, स्त्री-जाति के अदम्य साहस पर पर्याप्त प्रकाश डालता है। जिस समय उसने देख लिया कि वह जीत न सकेगी, उस समय अपने को शत्रुओं के हाथ में छोड़ने की अपेक्षा उसका आत्मघात कर लेना सिद्ध करता है कि स्त्रियों में आत्म-बलिदान का भाव किस उच्च कोटि में वर्त्तमान था। इसी प्रकार थानेसर-युद्ध में, चित्तौड़गढ़ की लड़ाई में जिस समय राजपूत-देवियों को किले के गिरने के समाचार मिले, उस समय किस आत्म-बलिदान के भाव से चार-पाँच सौ राजपूतनियाँ केसरिया पहनकर जलती चिताओं में जा बैठी थीं। परास्त होते हुए सिपाहियों को उत्साहित करना, भागते हुओं को फिर से वापस कर देश के लिए मर-मिटने की ललकार देना, पुत्र को, पति को, भारत माता के शुभ्र मस्तक पर कलंक का टीका न लगने देने का आदेश करना उस समय की वीरांगनाओं का सहज स्वभाव था। ये कथाएँ भारत के मेघाच्छन्न मध्यकाल में—उस काल में, जब स्त्री-जाति अपने ऊँचे पद से गिराई जा रही थी, जब उसके अधिकार चारों तरफ़ से छीने जा रहे थे—विद्युत् की रेखाओं का काम कर रही हैं। स्त्रियों की स्थिति गिर रही थी, शायद बहुत तेज़ी से गिर रही थी, किन्तु वैदिक-आदर्शों के वर्त्तमान युग की अपेक्षा कुछ अधिक नज़दीक होने के कारण उस समय की झलक इस युग में साफ़ तौर पर नज़र आ रही थी। सनातन वैदिक-युग के उच्च, सुदृढ़ आदर्शों की इमारत करीब-करीब ढह चुकी थी, फिर भी उसका टूटा-फूटा ढाँचा, उसके खंडहर अब भी मौजूद थे।

३. मध्य-काल का उत्तरार्ध

(क) स्त्री-जाति का काला युग—किन्तु खंडहर आखिर खंडहर ही थे। समय की कड़ी चपेट को वे कब तक सहन कर सकते थे। शीघ्र ही वह समय आया, जब कि ऊँचे आदर्शों के बचे हुए भग्नावशेष भी धराशायी हो गए। स्त्री-जाति का भाग्य-सितारा बढ़ते हुए अन्धकार में छिप गया, स्त्री-जाति की अधोगति चरम सीमा तक पहुँच गई। उनके इस वर्त्तमान ने उनका भविष्य भी अंधकार में ढक लिया। ऐतिहासिक-दृष्टि से यह युग मध्य-युग का उत्तरार्ध कहा जा सकता है। मध्य-युग के उत्तरार्ध को ऐतिहासिक-दृष्टि से काला-युग कहना चाहिए। स्त्रियों पर समाज के अत्याचार और अन्याय ने इस युग को इतना काला कर दिया कि इस समय के इतिहास के पन्ने समाज की स्वेच्छाचारिता की कालिमा से सदा काले रहेंगे। इस समय भारतीय स्त्री को मनुष्य की कोटि में नहीं गिना जाता था। उसके सब अधिकार छीन लिये गए थे। उसका स्वतंत्र व्यक्तित्व सब प्रकार से नष्ट हो चुका था।

(ख) स्त्री की स्थिति शून्य हो गई—समाज में तो उसकी स्थिति रही ही नहीं, परिवार में भी उसकी स्थिति शून्य हो गई। एक स्त्री के होते पति इस युग में अनेकों शादियाँ कर सकता था। स्त्रियाँ पैर की जूती के समान समझी जाती थीं। जिस प्रकार पैर की जूती पुरानी होने पर बदलने योग्य हो जाती है, इसी प्रकार एक स्त्री के पुराना हो जाने पर दूसरी को उसका स्थान मिल जाता था। कहाँ यह निकृष्ट कोटि की विचार-धारा, और कहाँ वैदिक-काल की वह उच्च श्रेणी की विचार-धारा, जिसमें स्त्री में 'देवी' तथा 'सम्राज्ञी' का स्वरूप देखा गया था। दोनों में ज़मीन-आसमान का अंतर था। इस समय घर के अन्दर स्त्री की स्थिति पतन की चरम सीमा तक पहुँच चुकी थी। स्त्री मनुष्य है, यह लोगों ने समझना ही छोड़ दिया था। स्त्री पुरुष के लिए ही थी, वह उसकी भोग्य वस्तु थी; विनोद की सामग्री थी; पशु के तुल्य पराधीन थी। उस समय के विद्वान् तथा भावुक कवि तुलसीदास के निम्न-लिखित कुवाक्यों से उस काल के स्त्री-जाति के प्रति प्रचलित विचारों का दिग्दर्शन भली-भाँति हो जाता है। तुलसीदास जी लिखते हैं—"ढोल, गँवार, शूद्र, पशु, नारी; ये सब ताड़न के अधिकारी।"

(ग) इस युग में स्त्री सब कुरीतियों का शिकार हो गई—इस युग में शिक्षा तो स्त्रियों में लुप्त हो ही चुकी थी, क्योंकि "स्त्री-शूद्रौ नाधीयाताम्" का पूरे वेग के साथ प्रचार हो रहा था, साथ ही बाल-विवाह भी पूरी तरह फैल चुका था। "अष्ट-वर्षा भवेद् गौरी नव-वर्षा तु रोहिणी। दश-वर्षा भवेत् कन्या अत ऊर्ध्वं रजस्वला॥"—के नाद से भारत का कोना-कोना गूँज उठा था। छोटी-से-छोटी कन्या का विवाह कर देना माता-पिता के लिए सम्मान-रक्षा का प्रश्न हो गया था। दुध-मुँही बच्चियों के विवाह प्रतिदिन रचे जाते थे। जब एक-दो वर्ष की बालिका वधू बनने लगे, तो आठ-दस वर्ष वाली बाल-विधवाओं की भी कमी न रही। पहले जब भारतीय रमणी सुशिक्षिता थी, तब वह उच्च पातिव्रत्य के आदर्श को समझती थी। जब अनेकों उच्च कुल की स्त्रियाँ पति के मरने पर जीवित रहने की अपेक्षा मृत्यु को अच्छा समझती हुई अपने को जीवित ही जला देने लगीं। पहले सती-प्रथा का आधार स्वेच्छा थी, पीछे बाधित होकर सती हो जाने की प्रथा चल पड़ी। अनेकों अबोध बालिकाओं को पति के साथ जीवित जलाया जाने लगा। एक ओर भारत की दुधमुँही बच्चियों का विवाह-बंधन, पर्दे की बेड़ियाँ तथा अविद्या का अंधकार समाज को रसातल की ओर खींच रहे थे, दूसरी ओर विधवाओं के रुदन तथा चिता पर बैठी अबोध बालिकाओं की तीव्र चीत्कार से भारत का कोना-कोना व्याकुल हो उठा। स्वेच्छाचारिता तथा अमानुषिकता की पराकाष्ठा हो गई। स्वार्थ, अन्याय तथा अत्याचार जब अन्तिम सीमा पर पहुँच जाते हैं, तो इनके विरुद्ध प्रतिक्रिया प्रारम्भ होती है। मानव-समाज की इन अमानुषिक प्रवृत्तियों के खिलाफ़ भी शीघ्र प्रतिक्रिया का प्रारम्भ हो गया, परन्तु अभी भारतीय-नारी संकट के बीच में से निकलने की प्रक्रिया में तो पड़ गई थी, संकट में से निकली नहीं थी। संकट के बीच में से निकलने की प्रक्रिया १९वीं शताब्दी से प्रारम्भ हो गई, और इस शताब्दी से ही वर्त्तमान-काल की गति-विधियों का प्रारम्भ होता है।

३१

भारतीय नारी की स्थिति—वर्त्तमान तथा भविष्य

(POSITION OF INDIAN WOMAN—PRESENT AND FUTURE)

हमारे देश के प्राचीन तथा मध्य-काल में भारतीय नारी की क्या स्थिति थी—यह देखने के बाद अब हमें देखना है कि वर्त्तमान-काल में भारतीय नारी की क्या स्थिति है, और भविष्य में इस स्थिति का क्या रूप होने जा रहा है। वर्त्तमान-काल को हम दो भागों में बाँट सकते हैं—१९वीं शताब्दी तथा २०वीं शताब्दी। मध्य-काल में भारतीय नारी की स्थिति का जो रूप था उसका प्रगाढ़ चित्र हमें १९वीं शताब्दी के प्रारम्भ में दिखाई देता है, और क्योंकि जब कोई वस्तु अपनी चरम सीमा पर पहुँच जाती है तभी से उसकी प्रतिक्रिया प्रारम्भ होती है, इसलिए १९वीं शताब्दी से ही स्त्री-जाति की जागृति के वर्त्तमान-युग का सूत्रपात समझना चाहिए। १९वीं शताब्दी में जागृति का सूत्रपात हुआ था, परन्तु स्त्री-जाति के नभोमंडल में अन्धकार अपनी चरम सीमा पर था। जो जागरण १९वीं शताब्दी में स्त्री-जाति के करवट बदलने के रूप में शुरू हुआ वह २०वीं शताब्दी में स्त्री-जाति के पूर्ण जागरण का रूप धारण कर गया। हम इस अध्याय में भारतीय नारी की १९वीं तथा २०वीं शताब्दी की स्थिति पर विचार करेंगे और उसके भविष्य के बारे में भी कुछ चर्चा करेंगे।

१. उन्नीसवीं शताब्दी में भारतीय नारी

मध्य-युग में भारतीय नारी की जो स्थिति रही उसकी देन १९वीं शताब्दी को मिली, परन्तु इस शताब्दी की विशेषता यह है कि इस काल में स्त्री की स्थिति ने पलटा खाया। इस काल को भारतीय नारी की स्थिति का संक्रान्ति-काल कहा जा सकता है। इस समय स्त्री की स्थिति क्या थी ?

(क) शिक्षा के क्षेत्र में स्त्री की स्थिति—१८वीं शताब्दी के अन्त तक तथा १९वीं शताब्दी के प्रारम्भ में भारत में स्त्री-शिक्षा की क्या स्थिति थी—इस पर मुनरो ने प्रकाश डाला है। मुनरो का कहना है कि १८२२ में मद्रास में देसी प्राथमिक पाठशालाओं में १,७८,६३० लड़के शिक्षा पा रहे थे किन्तु लड़कियाँ कुल ५,४८० ही शिक्षा ग्रहण कर रही थीं, बम्बई में १८२४–२९ में किसी स्कूल में कोई लड़की नहीं पढ़ रही थी। एडम के कथनानुसार बंगाल में १८३५ में यह किसी के दिमाग में ही नहीं आता था कि लड़कियों को भी पढ़ाना चाहिए। हिन्दू-

परिवार में यह विचार प्रचलित था कि जो लड़की पढ़ना-लिखना सीख जायेगी वह विवाह होते ही विधवा हो जायेगी। जमींदार लोग अपनी लड़कियों को थोड़ा-बहुत पढ़ा-लिखा देते थे परन्तु वे भी यह मानने को तैयार नहीं होते थे कि लड़की पढ़-लिख सकती है। श्री अलतेकर के कथनानुसार १९वीं शताब्दी के प्रारम्भ में पढ़ने-लिखने का काम सिर्फ़ वेश्याओं का रह गया। ललित-कलाओं का भी उच्च-घराने की स्त्री से कोई वास्ता न रहा, यह काम भी वेश्याओं का ही समझा जाने लगा।

१८१३ में ईस्ट इंडिया कम्पनी को ब्रिटेन की पार्लियामेंट की तरफ़ से आदेश हुआ कि भारतीयों को शिक्षा देना भी उसकी जिम्मेदारी है। इस आदेश को कम्पनी के अधिकारियों ने पुरुषों की शिक्षा तक ही सीमित रखा। उनका कहना था कि इस देश में स्त्रियों को शिक्षा देना ठीक नहीं समझा जाता, अगर स्त्रियों को शिक्षा दी जाने लगेगी तो यहाँ के लोग विद्रोह कर देंगे। स्त्रियों को शिक्षा देनी चाहिए या नहीं देनी चाहिए—इस विवाद में कोई क्यों पड़े? पुरुषों को हम शिक्षा दे देते हैं, अगर पुरुष चाहेंगे तो स्त्रियों को स्वयं शिक्षा देने लगेंगे। सरकार की इस मनोवृत्ति का परिणाम यह हुआ कि स्त्रियों के लिए शिक्षा का क्षेत्र बन्द रहा। इस समय ईसाई मिशनरी उन लड़कियों के लिए जो ईसाई-धर्म ग्रहण कर लेती थीं शिक्षा-केन्द्र खोलते थे, स्त्रियों को शिक्षा देने के लिए अन्य कोई प्रयत्न नहीं होता था। १८२० में कलकत्ता में डेविड हेयर ने और १८४८ में बम्बई में एल्फ़िन्स्टन कालेज के प्रो० पैट्टन ने लड़कियों को शिक्षा देने की संस्थाएँ खोलीं, परन्तु ये शिक्षा-संस्थाएँ इनी-गिनी थीं, इनसे स्त्री-शिक्षा का क्षेत्र अत्यन्त सीमित रूप में खुला। १८५४ तक[1] राज्य की तरफ़ से स्त्री-शिक्षा के लिए कुछ नहीं किया गया। इस अर्से में जो-कुछ हुआ निजी उद्योग से, उदार व्यक्तियों के प्रयत्न से या मिशनरियों के उद्योग से हुआ। १८५४ तक मद्रास में लड़कियों के २५६ स्कूल खुल चुके थे, जिनमें ८,००० छात्राएँ विद्या ग्रहण कर रही थीं। इनमें १,११० बोर्डिंग स्कूलों में थीं। बम्बई में लड़कियों के ६५ स्कूल खुल चुके थे जिन में ६,५०० लड़कियाँ पढ़ रही थीं। बंगाल में लड़कियों के २८८ स्कूल खुल चुके थे जिनमें ६८६९ लड़कियाँ पढ़ रही थीं। परन्तु ये सब शिक्षा-संस्थाएँ मिशनरियों द्वारा चलाई जा रही थीं, इनमें राज्य का कोई हाथ नहीं था।

१८५४ में स्त्रियों की शिक्षा में कुछ न करने की राज्य की नीति में परिवर्तन हुआ। जैसे १८१३ में पार्लियामेंट की तरफ़ से कम्पनी को आदेश हुआ था कि भारतीयों की शिक्षा की तरफ़ ध्यान दे, और कम्पनी ने पुरुषों तथा स्त्रियों दोनों की शिक्षा की तरफ़ ध्यान देने की जगह सिर्फ़ पुरुषों की शिक्षा को अपना उत्तर-दायित्व समझा था, वैसे अब १८५४ में ईस्ट इण्डिया कम्पनी के बोर्ड ऑफ़ कन्ट्रोल

---

१. Report of the National Committee on Women's Education (May 1958 to January 1959) published by the Ministry of Education.

के मुखिया सर चार्ल्स वुड ने एक 'ख़रीता' (Despatch) लिखा जिसमें स्त्रियों की शिक्षा की तरफ़ विशेष ध्यान देने का आग्रह किया। इसे 'वुड-डिस्पैच' कहा जाता है, और इसमें स्त्री-शिक्षा को अंग्रेज़ी-शासन का एक आवश्यक अंग कहा गया। इस बीच १८५७ का ग़दर हो गया और स्त्री-शिक्षा की तरफ़ से फिर ध्यान हट गया। १८८१ के समय स्त्री-शिक्षा की स्थिति यह थी कि स्कूलों में अगर १,००० लड़के शिक्षा ग्रहण कर रहे थे तो शिक्षा ग्रहण करने वाली लड़कियों की संख्या कुल ४६ थी, और अगर १६ पुरुषों में एक पुरुष पढ़-लिख सकता था तो ४३४ स्त्रियों में एक स्त्री पढ़-लिख सकती थी।

१९वीं शताब्दी में भारतीय-नारी की शिक्षा की यह अवस्था थी। इस काल में स्त्री-शिक्षा की तरफ़ धीरे-धीरे ध्यान दिया जाने लगा, परन्तु इधर विशेष ध्यान २०वीं शताब्दी से देना शुरू हुआ।

(ख) बाल-विवाह तथा स्त्री की स्थिति---मध्य-युग की बाल-विवाह की प्रथा १९वीं शताब्दी को दायभाग में मिली थी। दूध-पीती बच्चियों का विवाह कर दिया जाता था। १८८४ में श्री बहरामजी मलाबारी ने एक नोट लिखा जो सब प्रान्तीय-सरकारों के पास भेजा गया। इस नोट में कहा गया था कि राज्य की तरफ़ से बाल-विवाह पर प्रतिबन्ध लगना चाहिए। इस बात पर तो सब सहमत थे कि बाल-विवाह रुकना चाहिए, परन्तु राज्य को इसमें हस्तक्षेप करना चाहिए--इस बात को मानने के लिए सब लोग तैयार नहीं होते थे। प्रान्तीय-सरकारों ने इस विषय पर सोच-विचार करने के बाद तय किया कि इसमें हस्तक्षेप उचित नहीं है, समय के ऊपर इस बात को छोड़ देना चाहिए। १८९० में एक बंगाली लड़की फूलमणि दासी का ११ वर्ष की अवस्था में पति के साथ सहवास से देहान्त हो गया। उस पर हत्या का अभियोग चला। उसने अपनी सफ़ाई में 'भारतीय-दण्ड-विधान' की वह धारा पेश की जिसके अनुसार विवाह में लड़की की न्यूनतम आयु १० वर्ष मानी गई थी। इससे समाज-सुधारकों का ध्यान बाल-विवाह तथा सहवास के ऐसे कानूनों को बदलने की तरफ़ गया। जब सहवास की आयु १० से १२ वर्ष की गई तब पुरानी लकीर पीटने वालों ने इसका घोर विरोध किया, परन्तु फिर भी १८९१ में 'सहवास-कानून' (Consent Act) के अनुसार यह आयु १२ वर्ष कर दी गई।

१९वीं शताब्दी में भारतीय-नारी की विवाह के सम्बन्ध में यह अवस्था थी। इस काल में धीरे-धीरे इस बात की तरफ़ ध्यान जाने लगा कि विवाह के लिए आयु का विवाह-योग्य होना आवश्यक है।

(ग) वृद्ध-विवाह तथा स्त्री की स्थिति---बाल-विवाह के साथ-साथ १९वीं शताब्दी में वृद्धों के विवाह पर कोई प्रतिबन्ध नहीं था, अब भी नहीं है। महाभारत में भीष्म ने कहा है कि ३० वर्ष के पुरुष की १२ वर्ष की तथा २१ वर्ष के पुरुष की ७ वर्ष की कन्या से शादी होनी चाहिए। इस प्रकार के विषम-आयु के विवाहों का परिणाम यह स्वाभाविक था कि बुड्ढे छोटी आयु की कन्याओं से विवाह करने लगें। बुड्ढों के ऐसे विवाह आज तक होते हैं, उन पर कोई रोक-टोक नहीं। बुड्ढों से कोई

शादी करने को तैयार नहीं होता, परन्तु बुड्ढा युवति से विवाह करने को लालायित रहता है। भारतीय-नारी को पत्नी के रूप में बुड्ढे के सुपुर्द किया जा सकता है—यह भारतीय-नारी की स्थिति पर पर्याप्त प्रकाश डालता है। अब इस स्थिति के विरोध में जन-मत उठ खड़ा हुआ है, परन्तु १९वीं शताब्दी में ऐसे विवाहों का कोई विरोध भी नहीं करता था।

(घ) सती-प्रथा तथा स्त्री की स्थिति—हिन्दू-समाज में सती-प्रथा का इकतरफ़ा आदर्श मध्य-युग की उपज है। वैदिक-काल में पत्नी की पति के लिए जितनी ज़िम्मेदारी थी पति को पत्नी के लिए उतनी ही ज़िम्मेदारी थी, परन्तु मध्य-युग में स्थिति बदल गई। इस युग में पति को सब अधिकार थे, पत्नी को कोई अधिकार नहीं था। पत्नी का काम पति की सेवामात्र रह गया था। इस युग में पति के मर जाने पर पत्नी के लिए चितारोहण का आदेश था। वह पति के साथ भस्म हो जाती थी। इसी को सती-प्रथा कहा जाता है। १९वीं शताब्दी में सती-प्रथा अपने चरम यौवन पर थी। १८१५ से १८२८ तक सती होने वाली देवियों की संख्या निम्न थी :—

सन्[1]	कलकत्ता प्रदेश	ढाका	मुर्शिदाबाद	पटना	बनारस	बरेली
१८१५	२५३	३१	११	२०	४८	१५
१८१६	२८९	२४	२२	२९	६५	१३
१८१७	४४२	५२	४२	४९	१०३	१९
१८१८	५४४	५८	३०	५७	१३७	१३
१८१९	४२१	५५	२५	४०	९२	१७
१८२०	३७०	५१	२१	६२	१०३	२०
१८२१	३७२	५२	१२	६९	११४	१५
१८२२	३२८	४५	२२	७०	१०२	१६
१८२३	३४०	४०	१३	४९	१२१	१२
१८२४	३७३	४०	१४	४२	९३	१०
१८२५	३९८	१०१	२१	४७	५५	१७
१८२६	३२४	६५	८	६५	४८	८
१८२७	३३७	४९	२	५५	४९	१८
१८२८	३०९	४७	१०	५५	३३	१०

सती-प्रथा के विषय में यह विचार प्रचलित था कि जो स्त्री सती हो जाती है वह स्वयं स्वर्ग जाती है, पिता तथा पितृ-कुल की तीन पीढ़ियों को तार देती है। इसका परिणाम यह था कि सगे-सम्बन्धी भी स्त्री को पति के मर जाने पर सती होने के लिए बाधित करते थे। मध्य-युग में मुहम्मद तुग़लक तथा अकबर ने इस

१. A History of British India by Mill and Wilson (1858 Edition), Vol. IX, page 189.

निर्दयतापूर्ण-प्रथा को बन्द करने का प्रयत्न किया, परन्तु वे सफल नहीं हुए। १८२९ में राजा राममोहन राय तथा लार्ड बेंटिंक के प्रयत्न से सती-प्रथा को ग़ैर-कानूनी करार दे दिया गया। १९वीं शताब्दी तक चली आ रही यह मध्य-युगीन रोम-हर्षक कुप्रथा उस समय की स्त्री की स्थिति पर पर्याप्त प्रकाश डालती है।

(ङ) बाधित-वैधव्य तथा स्त्री की स्थिति—१९वीं शताब्दी में यद्यपि कानूनी तौर पर स्त्री का पति के साथ भस्म हो जाना रोक दिया गया तथापि स्त्री के लिए आजन्म विधवा के तौर पर जीवन बिताना हिन्दू-समाज में धर्म समझा जाता रहा। १८८४ में विधवाओं की दुर्दशा पर बहरामजी मालाबारी ने सरकार का ध्यान खींचा तो हिन्दू-समाज उन पर बिगड़ उठा। पूना के एक श्री चिपलूनकर महोदय ने सरकार को लिखा : "मैं जानता हूँ कि बहरामजी मलाबारी के बाधित-वैधव्य पर लिखे नोट को हिन्दुओं में प्रसारित करने में मलाबारी तथा सरकार का उद्देश्य हिन्दुओं को अपमानित करना नहीं है, परन्तु इसका परिणाम इसके अतिरिक्त कुछ नहीं हुआ कि हिन्दू-समाज को मलाबारी ने कलंकित किया है। मलाबारी को एक सज्जन के तौर पर हिन्दुओं को कलंकित करने वाले अपने नोट को क्षमा-याचनापूर्वक वापस लेना चाहिए, ख़ास कर जब कि यह नोट सरकार के तत्त्वावधान में प्रसारित किया गया है। अगर सरकार को पता होता कि इस नोट के प्रसारित करने से हिन्दू-समाज अपने को कितना कलंकित हुआ अनुभव करता तो सरकार ऐसे नोट को कभी प्रसारित न करती।" कहने का अभिप्राय यह है कि विधवा के साथ किये जा रहे बर्त्ताव को दूर करने के प्रयत्न को भी १९वीं शताब्दी में हिन्दू-समाज सहन करने को तैयार नहीं था।

(च) बहु-विवाह तथा स्त्री की दासी-रूप में स्थिति—स्त्री को जहाँ पति मर जाने पर उसकी चिता के साथ भस्म हो जाने के लिए प्रेरणा की जाती थी वहाँ पुरुष पहली स्त्री के जीवित रहते दूसरी, तीसरी, जितनी चाहे स्त्रियों से विवाह कर सकता था। स्त्री को दासी के सिवाय कुछ नहीं समझा जाता था। एक स्त्री अपने साथ दूसरी स्त्री को कैसे बर्दाश्त कर सकती है—यह विचार हिन्दू-समाज के मस्तिष्क में आता तक न था। विवाह होने पर सास-ससुर यह समझते थे कि चौका-बर्तन करने के लिए एक नौकरानी आ गई है। मध्य-युग से इस काल तक स्त्री के लिए पति की सेवा तथा पातिव्रत्य के आदर्श को खूब सराहा गया है। यह कहा गया है कि पति कैसा भी हो, कोढ़ी हो, रोगी हो, व्यभिचारी हो, स्त्री के लिए वह देवता है, पूजनीय है। स्त्री भी इस आदर्श को अपने सिर-माथे पर धारण करती रही है और सदियों से संकटमय जीवन व्यतीत करती रही है। इस आदर्श पर अडिग रहने के कारण उसकी हिन्दू-समाज सराहना करता रहा है, ठीक ऐसे जैसे कोई ग़ुलाम जब अपने मालिक के संकट को अपने पर ले लेता है तब उसकी सराहना होती है।

(छ) बालिका-वध तथा स्त्रियों की स्थिति—हिन्दू-समाज में लड़के के पैदा होने पर ख़ुशियाँ मनाई जाती हैं, लड़की के पैदा होने पर ग़मी मनाई जाती

है। लड़की का होना किसी-किसी हिन्दू-जाति में इतना बुरा माना जाता है कि १८०० से पहले तक लड़कियों को पैदा होते ही गला घोंट कर या अफ़ीम देकर मार दिया जाता था। मध्य तथा पश्चिमी भारत के राजपूतों, जाटों तथा मेवातियों में कन्या का जन्म अशुभ माना जाता था, उसे जीने नहीं दिया जाता था, इस कारण नहीं दिया जाता था क्योंकि उसके विवाह पर दहेज देने के लिए वे समर्थ नहीं होते थे। १८०२ में एक कानून द्वारा इस प्रथा को रोका गया।

(ज) पर्दा तथा स्त्रियों की स्थिति—स्त्री की स्वतंत्र सत्ता नहीं, वह पुरुष की अन्य सम्पत्ति के समान एक जीवित-जागृत चल सम्पत्ति है, उसकी यत्न से रक्षा करनी चाहिए, जैसे हमारी अन्य सम्पत्ति को चोर चुरा ले जा सकते हैं वैसे इस सम्पत्ति को भी चुरा सकते हैं—यह भावना पर्दे के रूप में साकार होकर स्त्री-जाति की समाज में स्थिति को प्रभावित करती रही है। पर्दे की प्रथा भारतीय-प्रथा नहीं है। वेदों में लिखा है—"सुमंगलीरियं वधूः इमां समेत पश्यत'—यह मंगल करने वाली बहू आयी है इसे आकर देखो। कहाँ तो यह भावना और कहाँ स्त्री को पर्दे में छिपा कर रखने की भावना। यह प्रथा हिन्दुओं में मुसलमानों के सम्पर्क से आयी और १९वीं शताब्दी में उच्च घराने की कोई स्त्री बिना पर्दे के घर के बाहर नहीं निकल सकती थी। पर्दा इतना बड़ा बनाया जाता था कि अगर स्त्री ने घर से बाहर कहीं सगे-सम्बन्धियों से मिलने जाना होता था तो वह अच्छा-खासा चलता-फिरता तम्बू बन जाती थी। बड़े घराने की स्त्रियों के लिए प्रसिद्ध था—'असूर्यम्पश्या राजदाराः'—अर्थात् राजाओं की स्त्रियाँ इतने पर्दे में ढकी रहती हैं कि वे सूर्य के भी दर्शन नहीं कर पातीं।

२. उन्नीसवीं शताब्दी की भारतीय-नारी की अधोगति के कारण

भारतीय-नारी की इस अधोगति के कारण क्या थे—इस पर विचार करना आवश्यक प्रतीत होता है। वैसे तो इस अधःपतन के अनेक कारण कहे जा सकते हैं, परन्तु उनमें मुख्य कारण निम्न थे :—

(क) संयुक्त-परिवार में नारी की सत्ता को स्वीकार न करना—व्यक्तिगत परिवार तो अब बनने लगे हैं, परन्तु पहले परिवार का रूप संयुक्त-परिवार का था। संयुक्त-परिवार का आधारभूत भाव परिवार के सब सदस्यों की सम्पत्ति का सम्मिलित रूप में होना है। इस सम्पत्ति में अगर स्त्रियों को भी हिस्सा दिया जाय, तो सम्पत्ति बिखर जाय, संभली, एक जगह न रहे, इसलिए न रहे क्योंकि लड़की तो विवाह के बाद दूसरी जगह चली जाती है, अगर वह सम्पत्ति में हिस्सेदार हो तो वह पिता की सम्पत्ति में अपने हिस्से को या तो बेचे या कोई दूसरा प्रबन्ध करे। लड़की का क्योंकि दूसरी जगह विवाह हो जाना है, और विवाह के बाद पिता की सम्पत्ति में अपने हिस्से का वह प्रबन्ध नहीं कर सकती, करे तो सम्पत्ति के टुकड़े-टुकड़े हो जायें, वह संभली न रहे, इसलिए संयुक्त-परिवार में स्त्री को कोई हिस्सा नहीं दिया गया। विवाह होने के बाद वह जिस परिवार में जाती थी वह भी संयुक्त-परिवार होता था। उस परिवार की सम्मिलित-सम्पत्ति का

ढाँचा भी बना हुआ होता था, उसे अगर उस सम्पत्ति में हिस्सा दिया जाता, तो उस ढाँचे को छिन्न-भिन्न करना पड़ता, इसलिए उसे पति के परिवार की सम्पत्ति में भी हिस्सा नहीं दिया गया। विधवा होने पर नये सिरे से कौन संयुक्त-परिवार की सम्पत्ति को सिर्फ़ विधवा के लिए छिन्न-भिन्न करता, उसे अपने गुज़ारे की ही तो ज़रूरत थी, वह परिवार की तरफ़ से उसे दिया जाता था। स्त्री की तीन ही अवस्थाएँ हो सकती हैं--पुत्री के रूप में, पत्नी के रूप में, विधवा के रूप में। इन तीनों रूपों में हिन्दू-परिवार-प्रथा को अक्षुण्ण बनाये रखने के लिए हिन्दू-सामाजिक-संगठन ने पुत्री, पत्नी तथा विधवा की सत्ता को ही स्वीकार नहीं किया। किसी व्यक्ति की सत्ता सम्पत्ति में उसके अधिकार या हिस्से से मानी जाती है, जब पुत्री, पत्नी तथा विधवा का सम्पत्ति में अधिकार न माना गया तब इनकी सत्ता ही समाप्त हो गई। जिनकी सत्ता ही नहीं मानी गई उनका अधःपतन स्वाभाविक था। ऐसे को बेच दिया जाय, गुलाम की तरह रख लिया जाय, एक की जगह अनेक गुलाम रख लिये जायें, जला दिया जाय--ऐसे के साथ जो-कुछ किया जाय थोड़ा है। इस दृष्टि से भारतीय नारी की अधोगति का मुख्य कारण संयुक्त-परिवार-प्रथा था। आज के युग में जब संयुक्त से वैयक्तिक परिवार बन रहे हैं, उसमें नारी को पुत्री, पत्नी तथा विधवा के रूप में सम्पत्ति में अधिकार भी मिल रहे हैं, पुरानी संहिताएँ बदल रही हैं, धर्म की आड़ में छिपी रूढ़ि तथा परम्परा समाप्त हो रही हैं, स्त्री की स्थिति में परिवर्त्तन आ रहा है, नारी की पृथक् सत्ता को स्वीकार किया जा रहा है, और इस पृथक् सत्ता को स्वीकार करने के साथ-साथ नारी की १९वीं सदी की स्थिति बदलती जा रही है। यह विचार पणिक्कर का है।

(ख) अनुलोम तथा प्रतिलोम विवाहों की प्रथा--हिन्दू-स्त्री के अधःपतन का दूसरा कारण अनुलोम-विवाहों की स्वीकृति तथा प्रतिलोम-विवाहों का निषेध है। अनुलोम-विवाह में उच्च-वर्ण का पुरुष नीचे वर्ण की कन्या से विवाह कर सकता है, नीचे वर्ण का पुरुष उच्च-वर्ण की कन्या से विवाह नहीं कर सकता। इसका परिणाम यह होता है कि ब्राह्मण पुरुष तो ब्राह्मणी से, क्षत्रियाणी से, वैश्य तथा शूद्र कन्या से विवाह कर सकता है, ब्राह्मण कन्या क्षत्रिय-वैश्य-शूद्र पुरुष से विवाह नहीं कर सकती। इस सब का नतीजा क्या होता है? इसका नतीजा यह होता है कि ब्राह्मण-बालक का विवाह का क्षेत्र ब्राह्मण-कन्या के विवाह के क्षेत्र से बहुत अधिक बढ़ जाता है। ब्राह्मण-बालक को अगर दस कन्याएँ मिल सकती हैं, तो ब्राह्मण-कन्या को एक-आध बालक ही कठिनता से मिल सकता है। नतीजा यह होता है कि लड़की का तो कोई मूल्य नहीं रहता, उसे कोई पूछता नहीं, उसका विवाह का क्षेत्र संकुचित हो जाता है, लड़के का मूल्य बढ़ जाता है, उसका विवाह का क्षेत्र विस्तृत हो जाता है, उसी की पूछ होती है। उच्च-जातियों में लड़के-लड़कियों के इस वैवाहिक-असन्तुलन का परिणाम यह है कि इनमें कन्या का होना एक मुसीबत का सामना करना है। अब रही निम्न-जातियों की बात। उनमें निम्न-जाति की स्त्री प्रतिलोम-विवाह की प्रथा के कारण सब जातियों में

जा सकती है, परन्तु निम्न-जाति के पुरुष को अपनी निम्न-जाति में ही विवाह करने को बाधित होना पड़ता है, इसलिए इनमें स्त्री का मूल्य बढ़ जाता है, पुरुष का मूल्य घट जाता है। इसका परिणाम यह है कि उच्च-वर्ग में स्त्री की स्थिति हीन है, तो निम्न-वर्ग में हीन नहीं है, पुरुष से ऊँची नहीं तो पुरुष से नीची भी नहीं है। असल में, स्त्री की नीची-स्थिति का प्रश्न मुख्य तौर पर हिन्दुओं की उच्च-जातियों का प्रश्न है, निम्न-जातियों का प्रश्न नहीं है। निम्न-जातियों में तो पुरुष तथा स्त्री एक-समान कार्य करते हैं, एक-दूसरे के साथ कन्धे-से-कन्धा मिला कर जीविकोपार्जन करते हैं, उनमें दोनों की स्थिति एक-समान है, उच्च-जातियों में स्त्री की स्थिति हीन है, और उसका एक कारण जैसा हमने अभी कहा अनुलोम-विवाहों का होना और प्रतिलोम विवाहों का न होना है। यह विचार डा० मजूमदार का है।

(ग) स्त्री का आर्थिक-उत्पादन में भाग न लेना——एक विचार यह है कि किसी समय स्त्री पुरुष के समान जीविकोपार्जन में पुरुष का हाथ बँटाती थी। जब तक कोई व्यक्ति अर्थोपार्जन में सहयोग देता है, तब तक उसे सब लोग मान-प्रतिष्ठा से देखते हैं, उसका आदर-सत्कार करते हैं। जब कोई व्यक्ति निखट्टू हो जाता है, तब उसे सब घृणा की दृष्टि से देखने लगते हैं। स्त्री जब तक जीविकोपार्जन में पुरुष का हाथ बँटाती रही तब तक उसकी स्थिति पुरुष के समान मानी जाती रही। वैदिक-काल में ऐसा ही था। पीछे जाकर जब स्त्री का कार्य-क्षेत्र सिर्फ़ बच्चों की परवरिश हो गया, अर्थोपार्जन करना सिर्फ़ पुरुष का काम हो गया, तब स्त्री की स्थिति भी नीचे गिर गई। १९वीं शताब्दी में भारत की कोई नारी अर्थोपार्जन के क्षेत्र में नहीं आती थी। उस समय पर्दे का बोलबाला था, अर्थोपार्जन के क्षेत्र में वह कैसे आती? स्त्री के १९वीं शताब्दी के अधःपतन का यही कारण है। कार्ल-मार्क्स ने भारत की स्त्रियों के बारे में तो नहीं लिखा परन्तु भारतीय-नारी के अधःपतन का इसे मार्क्सवादी दृष्टि-कोण कहा जा सकता है। इस दृष्टि-कोण का स्वाभाविक परिणाम यह है कि अगर स्त्री अर्थोपार्जन करने लगे तो उसकी स्थिति अपने-आप ऊँची उठ जाय।

(घ) पितृ-सत्ताक-परिवारों का होना——स्त्री की स्थिति का पुरुष से नीचा होना परिवार की पितृ-सत्ताक रचना के कारण भी कहा जाता है। कोई समय था जब भारत में मातृ-सत्ताक परिवार थे, माता की परिवार में प्रधानता थी। इस समय भी भारत के अनेक स्थानों में मातृ-सत्ताक परिवार पाये जाते हैं। इस विचार के मानने वालों का कहना है कि वैदिक-काल में स्त्रियों की ऊँची स्थिति होने का कारण भी यह है क्योंकि उस समय परिवार की रचना मातृ-सत्ताक आधार पर थी। जब मातृ-सत्ताक के स्थान पर पितृ-सत्ताक-परिवार बनने लगे, तब स्त्री की स्थिति भी गिरने लगी, पिता परिवार का प्रधान माना जाने लगा, पिता के बाद पुत्र को स्थान मिला। पिता ने परिवार में जो निरंकुश स्थान ग्रहण कर लिया उसका परिणाम यह हुआ कि स्त्री को परिवार में अकिंचन बना दिया गया। यह विशेषता कोई १९वीं सदी की ही नहीं है, यह बात तो अब भी पायी जाती

है, परन्तु स्त्री की स्थिति के गिरने में परिवार की पितृ-सत्ता‍क-रचना कारण अवश्य रही होगी और रही है---इसमें सन्देह नहीं प्रतीत होता।

३. बीसवीं शताब्दी में प्रतिक्रिया का प्रारम्भ--बाह्य तथा आभ्यन्तर प्रभाव

बीसवीं शताब्दी में स्त्री की स्थिति में एकदम परिवर्त्तन का युग आया। इस परिवर्त्तन के दो कारण थे। एक कारण तो था भारत का पाश्चात्य-संस्कृति के साथ सम्पर्क---यह बाह्य-कारण था; दूसरा कारण था भारत में समाज-सुधारकों का आन्दोलन---यह आन्तरिक कारण था। इन दोनों कारणों ने स्त्री की स्थिति को किस रूप में नयी दिशा दी ?

(क) भारत का पाश्चात्य-संस्कृति के साथ सम्पर्क (बाह्य-प्रभाव)---भारत की तरह युरोप के इतिहास का मध्य-काल भी अन्धकार-युग कहलाता है। इस समय युरोप में शिक्षा का प्रचार न के बराबर था। वहाँ १५वीं तथा १६वीं शताब्दी में 'पुनर्जागरण का युग' (Age of Renaissance) आया। इस युग में शिक्षा का प्रचार हुआ, नये-नये आविष्कार होने लगे। जब शिक्षा के द्वारा किसी देश में जागृति होती है, तब मनुष्य पुरानी रूढ़ियों, परम्पराओं का दास नहीं रहना चाहता, पुराने के स्थान में नये का निर्माण करना चाहता है। 'पुनर्जागरण' के प्रभाव से शिक्षित-मनुष्य की इस नव-निर्माण की इच्छा ने युरोप में सामाजिक-क्षेत्र में 'सुधार-युग' (Age of Reformation) तथा राजनीतिक-क्षेत्र में 'क्रांति-युग' (Age of Revolution) को जन्म दिया। मानव-समाज इस 'पुनर्जागरण' के फलस्वरूप समाज के सब क्षेत्रों में सुधार करने पर आमादा हो गया, सब रूढ़ियों, प्रथाओं को परखने लगा, जिन रूढ़ियों में जान नहीं थी, जो समाज का भला करने के स्थान में उसका बुरा कर रही थीं, उन्हें बदलने लगा; राजनीतिक-क्षेत्र में भी राजा-महाराजाओं की मट्टी पलीत होने लगी, अधिकारों की माँग उठ खड़ी हुई, 'स्वतंत्रता-भ्रातृत्व-समानता' (Liberty, Fraternity, Equality) की आवाज से आसमान गूँज उठा।

'सुधार-युग' तथा 'क्रांति-युग'---दोनों का युरोप की स्त्री की स्थिति पर भी प्रभाव पड़े बिना न रहा। इस समय तक युरोप में भी स्त्री की स्थिति भारतीय नारी की मध्य-युग की स्थिति से किसी प्रकार अच्छी नहीं थी। ईसाइयत के अनुसार पुरुष में तो आत्मा है, स्त्री में आत्मा नहीं है। ईसाइयत का कथन है कि पुरुष का अधिकार शासन करना तथा स्त्री का कर्त्तव्य शासित होना है। 'सुधार' तथा क्रांति के स्वतंत्रता-समानता के नारे का परिणाम यह हुआ कि युरोप की नारी जाग उठी। वहाँ स्त्री-जाति ने स्त्रियों के अधिकारों के लिए आन्दोलन खड़ा किया। इस आन्दोलन का नाम था 'सफ्रेजिस्ट मूवमेंट'। १७९२ में वोल्टन क्रैफ़्ट नामक देवी ने 'Vindication of the Rights of Women'-पुस्तक लिख कर स्त्रियों के अधिकारों की माँग को उग्र रूप दिया। इसके लगभग ५० साल बाद

जेम्स स्टुअर्ट मिल ने 'Subjection of Women'-ग्रन्थ लिखा जिसमें स्त्रियों के अधिकारों की मांग को दार्शनिक-आधार दिया।

इस समय ऐतिहासिक पृष्ठ-भूमि को लेकर जब पाश्चात्य-सभ्यता ने अंग्रेजी राज के साथ भारत में प्रवेश किया तब यहाँ के शिक्षित-समुदाय के सम्मुख भारत की स्त्री की स्थिति ने चैलेंज का रूप धारण कर लिया। क्या युरोप के स्त्री-आन्दोलन को देखते हुए, वहाँ की नारी को एकता-समानता का नारा लगाते सुनते हुए भारत का शिक्षित-समुदाय हाथ-पर-हाथ धरे बैठा रहेगा ?

(ख) समाज-सुधारकों का आन्दोलन (आभ्यन्तर-प्रभाव)—युरोप की स्त्री-जाति में १८वीं तथा १९वीं शताब्दी में जो जागृति हो रही थी उसकी झलक भारत में १९वीं शताब्दी के अन्त तथा २०वीं शताब्दी के प्रारम्भ में दिखलाई दी। इस समय इस देश में कई समाज-सुधारक हुए जिन्होंने स्त्री की स्थिति सुधारने की तरफ़ जनता का ध्यान आकर्षित किया। इनके आन्दोलन के फलस्वरूप इस बात को अनुभव किया जाने लगा कि कन्याओं को शिक्षा देनी चाहिए, पर्दा, बाल-विवाह, वृद्ध-विवाह हटना चाहिए, स्त्री के पुरुष के समान अधिकार होने चाहिएँ। इन समाज-सुधारकों में मुख्य-मुख्य नाम निम्न हैं :—

(i) राजा राममोहन रॉय (१७७२-१८३३)—राजा राममोहन रॉय १९वीं शताब्दी के सबसे प्रथम समाज-सुधारक थे जिनके प्रयत्नों से बीसवीं सदी के समाज का निर्माण हो रहा है। इन्होंने ब्राह्म-समाज की १८२८ को स्थापना की। इन्हें भारतीय समाज-सुधार का पिता कहा जा सकता है। स्त्रियों-सम्बन्धी इनके आन्दोलनों में सब से प्रबल आन्दोलन सती-प्रथा के विरुद्ध था। इनके प्रयत्नों से ४ दिसम्बर १८२९ को सती-प्रथा को कानून द्वारा बन्द कर दिया गया। राजा राममोहन रॉय ने स्त्रियों के अधिकारों के लिए विशेष आन्दोलन किया। स्त्री को सम्पत्ति में अधिकार न मिलने को वे सामाजिक-बुराइयों की जड़ मानते थे, इसलिए इस दिशा में उन्होंने जबर्दस्त आन्दोलन किया। उस समय निर्धन माता-पिता अपनी कन्याओं को विवाह में बेच डालते थे, बाल-विवाह उस समय की प्रचलित प्रथा थी, बाल-विवाह के परिणामस्वरूप विधवाओं की संख्या दिनोंदिन बढ़ रही थी। इन सब कुप्रथाओं के विरुद्ध उन्होंने आवाज उठाई। वैसे तो उन्होंने शिक्षा आदि के क्षेत्र में भी काम किया, परन्तु स्त्रियों की स्थिति सुधारने में उन्हें समाज-सुधारकों का अग्रणी कहा जा सकता है।

(ii) महर्षि दयानन्द सरस्वती (१८२४–१८८३)—राजा राममोहन रॉय पाश्चात्य-सभ्यता तथा शिक्षा से प्रभावित हुए थे, इसलिए ब्राह्म-समाज में पाश्चात्य-संस्कृति का पुट है, परन्तु महर्षि दयानन्द शुद्ध भारतीय संस्कृति की उपज थे। भारतीय रंग के साथ-साथ हर प्रकार के सामाजिक-सुधार को पाश्चात्य-शिक्षा पाये हुए लोगों से भी अधिक उत्साह से करने वाला अगर कोई था, तो वह ऋषि दयानन्द था। वे एक ऐसे समाज का निर्माण करना चाहते थे जिसमें पूर्व तथा पश्चिम दोनों के दोष न हों, दोनों के गुण मौजूद हों। उन्होंने १८७५ में

बम्बई में आर्यसमाज की स्थापना की। स्त्री-शिक्षा की तरफ़ उत्तर-भारत में काम करने वाली संस्था आर्यसमाज ही थी। आर्यसमाज ने स्त्री-शिक्षा के साथ-साथ पर्दे का विरोध किया, जगह-जगह पुत्री पाठशालाएँ तथा कन्या-गुरुकुल खोले और स्त्री को वैदिक-युग की स्थिति में लाने का प्रयत्न किया।

(iii) श्री केशवचन्द्र सेन (१८३६–१८८४)—राजा राममोहन रॉय की मृत्यु के बाद ब्राह्म-समाज के संगठन का काम श्री रवीन्द्रनाथ ठाकुर के पिता श्री देवेन्द्रनाथ ठाकुर ने सम्भाला। वे इसके प्रधान बने। उन्होंने ब्राह्म-समाज के संगठन को दृढ़ किया। इस समय १८५७ में ब्राह्म-समाज में श्री केशवचन्द्र सेन ने प्रवेश किया। अभी तक ब्राह्म-समाज पाश्चात्य-शिक्षा के प्रभाव से इतना मंत्र-मुग्ध नहीं हुआ था, परन्तु केशवचन्द्र सेन ने तो १८६० में यज्ञोपवीत तक को तोड़ डाला। उनका कथन था कि इन रूढ़ियों के दास होने के कारण ही हम लोग पिछड़े हुए हैं। अभी लोग हिन्दू-धर्म के साथ इस प्रकार खुल्लमखुल्ला विद्रोह करने के लिए तैयार नहीं थे, इसलिए इनके अत्यन्त उग्र विचारों के कारण ब्राह्म-समाज में दो दल हो गये। एक दल के नेता श्री देवेन्द्रनाथ ठाकुर थे, दूसरे दल के नेता श्री केशवचन्द्र सेन थे, परन्तु दोनों स्त्रियों के सम्बन्ध में एक-समान विचार रखते थे। केशवचन्द्र सेन के प्रयत्न से १८७२ में 'विशेष-विवाह-कानून' (Special Marriage Act) पास हो गया। इस कानून के अनुसार जो अन्तर्जातीय-विवाह करना चाहें उन्हें जात-पाँत तोड़ कर विवाह करने की आज्ञा दे दी गई। इस प्रकार के विवाह के लिए यह आवश्यक हो गया कि जो स्त्री-पुरुष इस प्रकार का विवाह करना चाहें, उनमें से कोई विवाहित न हो, अर्थात् एक-पत्नीव्रत और एक-पतिव्रत इस विवाह का अभिन्न-अंग हो गया।

श्री केशवचन्द्र सेन ने १८६४ में पूना-बम्बई आदि जाकर भी अपने विचारों का प्रचार किया। इनके प्रचार के परिणामस्वरूप बम्बई में १८६७ में 'प्रार्थना-समाज' की स्थापना हुई जिसके मुख्य संचालक श्री भंडारकर तथा जस्टिस्स गोविंद रानाडे थे। 'प्रार्थना-समाज' ब्राह्म-समाज का ही एक दूसरा रूप था। स्त्री-शिक्षा तथा स्त्रियों के अधिकारों के लिए आन्दोलन का जो काम बंगाल में ब्राह्म-समाज कर रहा था वही काम बम्बई-प्रान्त में 'प्रार्थना-समाज' ने किया। ऋषि दयानन्द तथा श्री केशवचन्द्र सेन सम-कालीन थे और दोनों में समाज-सुधार की समस्याओं पर विचार-विनिमय होता रहता था, परन्तु ऋषि दयानन्द के विचारों की जड़ हिन्दू-धर्म था, श्री केशवचन्द्र के विचारों की जड़ हिन्दू-धर्म में नहीं थी, पाश्चात्य-सभ्यता में थी, इसलिए अपने कार्य में ऋषि दयानन्द को जो सफलता मिली वह श्री केशवचन्द्र को नहीं मिली।

(iv) श्री ईश्वरचन्द्र विद्यासागर (१८२०–१८९१)—ऋषि दयानन्द, श्री केशवचन्द्र आदि के सम-कालीन एक अन्य समाज-सुधारक हुए जिन्होंने उक्त-सुधारकों की तरह किसी संस्था की स्थापना तो नहीं की, परन्तु जो स्त्रियों की

समस्याओं को सुलझाने में अग्रणी का काम करते रहे। वे थे श्री ईश्वरचन्द्र विद्यासागर।

ईश्वरचन्द्र विद्यासागर ने स्त्रियों की समस्याओं के सम्बन्ध में तीन काम किये——विधवा-विवाह का आन्दोलन, बहु-विवाह का विरोध तथा स्त्री-शिक्षा का प्रचार। विधवा-विवाह के क्षेत्र में उन्होंने अक्तूबर १८५५ में एक मसविदा तैयार करके सरकार को पेश किया जिसमें विधवा-विवाह् कानून की माँग थी। परिणाम यह हुआ कि २५ जुलाई १८५६ को 'विधवा-विवाह-कानून' इम्पीरियल लैजिस्लेटिव कौंसिल में श्री जे० पी० ग्रान्ट के उद्योग से स्वीकृत हो गया। इस कानून का विस्तार से हम विधवा-विवाह के प्रकरण में वर्णन कर आये हैं। ईश्वरचन्द्र विद्यासागर ने शास्त्रों के प्रमाणों से विधवा-विवाह पर एक पुस्तक भी लिखी जिसका जनता ने बड़ा स्वागत किया। इन्होंने अपने बड़े पुत्र की एक विधवा से शादी भी की। ये विधवा-विवाह करवाते थे और अगर पति-पत्नी निर्धन होते थे, तो उन्हें विवाह के लिए ही नहीं आजीविका के लिए भी अपनी तरफ़ से बरसों तक खर्च देते थे। स्त्री-समस्याओं के क्षेत्र में इनका दूसरा काम बहु-विवाह का विरोध था। १८५५ में उन्होंने सरकार को एक प्रार्थना-पत्र दिया जिस पर २५,००० व्यक्तियों के हस्ताक्षर थे। इस प्रार्थना-पत्र में बहु-विवाह को कानून द्वारा बंद किये जाने की माँग थी। बंगाल में बहु-विवाह की प्रथा 'कुलीन-विवाह' के रूप में पायी जाती थी। 'कुलीन-विवाह' का अर्थ यह था कि कुलीन-ब्राह्मण अनगिनत शादियाँ कर सकता था। श्री ईश्वरचन्द्र ने कुलीन-विवाहों का सर्वेक्षण किया। एक ब्राह्मण की ८० पत्नियाँ थीं। 'कुलीन-विवाह' के विरोध में ईश्वरचन्द्र विद्यासागर का आन्दोलन सफल तो नहीं हुआ, परन्तु इससे इस प्रथा के विरुद्ध जन-मत अवश्य तैयार हुआ। इनका तीसरा काम स्त्री-शिक्षा का प्रचार था। १८४१ में वे फ़ोर्ट विलियम कालेज के मुख्य-पण्डित नियुक्त हुए। इस समय उन्हें विद्यासागर की उपाधि दी गई। इस समय ही वे 'बंगाल कौंसिल ऑफ़ एज्यूकेशन' के प्रधान श्री बैथ्यून के सम्पर्क में आये। तभी से श्री ईश्वरचन्द्र ने स्त्री-शिक्षा के लिए आन्दोलन करना प्रारम्भ कर दिया। श्री बैथ्यून की सहायता से इन्होंने कलकत्ता में स्त्री-शिक्षा के लिए बैथ्यून-विद्यालय खोला जो पीछे जाकर एक विशाल कालेज का रूप धारण कर गया। इसका व्यय ये अपने पास से चलाते थे। १८५५ से १८५८ के बीच उन्होंने चालीस कन्या-विद्यालय खोले। स्त्रियों-सम्बन्धी आन्दोलन में ईश्वरचन्द्र विद्यासागर का नाम अमर रहेगा।

(v) महात्मा गांधी (१८६९-१९४८)—वैसे तो १९वीं शताब्दी के सुधारकों की श्रृंखला में अनेक सुधारकों का नाम लिया जा सकता है, परन्तु हमने इस श्रृंखला में उन महान् विभूतियों का ही वर्णन किया है जिनके बिना स्त्री-समस्या का विषय बिलकुल अधूरा रह जाता है। इसी श्रृंखला में वर्त्तमान-युग की महान् विभूति महात्मा गांधी हैं। राजा राममोहन रॉय के समय से भारत में सामाजिक-सुधार की जिस चेतना ने स्पन्दन करना शुरू किया था, जो चेतना ऋषि दयानन्द,

केशवचन्द्र सेन, ईश्वरचन्द्र विद्यासागर के समय जाग उठी थी, उसी चेतना का चहुँमुखा विकास महात्मा गांधी के समय उनके प्रयत्नों का परिणाम था। महात्मा गांधी ने देश की सब समस्याओं को अपने कार्य-क्रम में लपेट लिया। उनके विशाल कार्य-क्रम में जहाँ राजनीति थी, धर्म था, वहाँ समाज-सुधार भी था। समाज-सुधार में भी उन्होंने समाज-सुधार की किसी समस्या को नहीं छोड़ा, और जब किसी समस्या को नहीं छोड़ा तब वे स्त्रियों की समस्याओं को कैसे छोड़ सकते थे ?

गांधी जी का असहयोग-आन्दोलन भारत की मृत-प्राय स्त्री-जाति के लिए संजीवनी बन कर आया। इससे पूर्व भारतीय-स्त्री समाज-सुधारकों के प्रयत्नों के बावजूद घर की चहारदीवारी के अन्दर बन्द थी। उसका घर ही उसकी दुनिया थी, वही उसका कार्य-क्षेत्र था। घर से बाहर क्या हो रहा है, इसका उसे पता तक न था। घर के अन्दर उसकी स्थिति एक रसोइये या बच्चों को पालने वाली आया से बढ़ कर न थी। स्त्री अपनी स्थिति से स्वयं अनभिज्ञ थी, मानो गहरी निद्रा में सोई पड़ी हो। १९१९-२० का असहयोग का आन्दोलन प्रारम्भ हुआ, और एक झटके में, सोई हुई नारी को जगा कर बैठा कर गया। इससे भी ज़ोर का झटका १९३०-३१ के आन्दोलन के रूप में आया। इस आन्दोलन में स्त्री परदा चीर कर बाहर आ खड़ी हुई। उसने कपड़े की दुकानों पर पिकेटिंग किया; शराबख़ानों पर धरना दिया; बड़े-बड़े जुलूसों की नायिका बनी; बड़ी-बड़ी सभाओं की अधिनायकता की; घर की ममता और बच्चों का मोह छोड़ कर, घर की परिधि को लाँघ कर वह प्रसन्नता से देश की आज़ादी की ख़ातिर जेल के सींखचों के पीछे बन्द होती देखी गई; उसने पुलिस की लाठियों के प्रहार सहे; जेल के कठोर जीवन की यातनाएँ सहीं; जेल के अन्दर जाकर बान बटे। सदियों की दासता के कारण स्त्री के अन्दर अपने-आप को दीन-हीन समझने की जो भावना पैदा हो गई थी, वह आन्दोलनों के बावजूद स्त्री को ऊँचा उठने नहीं देती थी। स्त्री स्त्री है, कमज़ोर है, अबला है, पुरुष के आश्रय के बिना रह नहीं सकती--यह भावना महात्मा गांधी के आन्दोलन से समाप्त हो गई। महात्मा गांधी ने स्त्रियों के सुधार के लिए सीधा कोई आन्दोलन नहीं किया, परन्तु उनके आन्दोलन का परिणाम सीधे आन्दोलन से भी ज्यादा प्रभावशाली हुआ क्योंकि स्वतंत्रता-संग्राम में भाग लेकर पुरुष ने भी देखा, स्त्री ने भी देखा कि वह किसी से कम नहीं है। अब तक के आन्दोलनों से स्त्री की अन्तरात्मा नहीं चेती थी, इस आन्दोलन से स्त्री की आत्मा चेत गई।

४. बीसवीं शताब्दी के महिला-आन्दोलन

हमने देखा कि १९वीं शताब्दी के समाज-सुधारकों के आन्दोलनों के फलस्वरूप भारतीय-महिला अपनी दीर्घ-निद्रा को छोड़ कर जाग उठी और स्त्रियों की स्थिति में परिवर्त्तन आने लगा। ज्यों-ज्यों स्त्रियों में जागृति होती गई त्यों-त्यों महिलाओं द्वारा भी संगठित आन्दोलन होने लगे। इन आन्दोलनों को करने वाले मुख्य-मुख्य संगठन निम्न हैं :--

(क) अखिल भारतीय महिला-सम्मेलन (All India Women's Conference)—इस संस्था को १९२९ में रजिस्टर्ड कराया गया। इसके उद्देश्य हैं—प्रत्येक सम्भव उपाय से स्त्रियों तथा बच्चों की कल्याण-योजनाओं को करना, नागरिकता की भावना को जागृत करना तथा समाज-सुधार करना। इस संस्था के कार्य हैं—प्रति वर्ष सम्मेलन का एक अखिल-भारतीय-स्तर पर किसी मुख्य स्थान पर अधिवेशन करना, परिवार-नियोजन के केन्द्र खोलना, स्त्रियों के लिए सहकारी-समितियाँ तथा व्यावसायिक-शिक्षा के केन्द्र स्थापित करना, बाधितों की रक्षा, वेश्यावृत्ति तथा बच्चों के अनैतिक व्यापार का दमन करना। सम्मेलन की तरफ़ से मातृ-सदन, शिशु-गृह, दुग्ध-केन्द्र, सहकारी-समितियाँ आदि भी संगठित की जाती हैं। कन्याओं को गृह-कार्य की शिक्षा देने के लिए दिल्ली के लेडी इरविन कालेज की स्थापना भी इसी संस्था ने की थी। भारत में १९५१ की रिपोर्ट के अनुसार संस्था की ३६ मुख्य-मुख्य तथा २०० अवान्तर शाखाएँ काम कर रही थीं। अखिल-भारतीय-स्तर पर महिलाओं की सब से मुख्य संस्था यही समझी जाती है। इसका प्रधान कार्यालय ८ थियेटर कम्यूनिकेशन बिल्डिंग, कनाट प्लेस, नई दिल्ली में है।

(ख) भारतीय महिला-राष्ट्रीय-समिति (National Council of Women in India)—इस संस्था को १८७५ में रजिस्टर्ड कराया गया। इसके उद्देश्य हैं—भारत की सब समुदायों की महिलाओं को स्त्रियों तथा बच्चों के सामाजिक, नागरिक, नैतिक तथा शिक्षा-सम्बन्धी कल्याण-कार्यों के लिए संगठित करना, भारतीय नारी की कानूनी, आर्थिक तथा सामाजिक निर्योग्यताओं को दूर करना तथा ऐसी परिस्थितियाँ उत्पन्न करना जिससे बच्चों तथा स्त्रियों को अपना सम-विकास करने का अवसर प्राप्त हो सके। इस संस्था के कार्य हैं—बाल-कल्याण-योजनाएँ, ग्राम-सुधार-योजनाएँ, सामाजिक-शिक्षा, संकटापन्न स्त्रियों को सहायता तथा उसका पुनर्वास। इस संस्था की १२ शाखाएँ हैं। इसका प्रधान कार्यालय 'सी'-ब्लॉक, वेस्टर्न हाउस, कर्ज़न रोड, नई दिल्ली में है।

(ग) विश्व-विद्यालय महिला-संघ (Federation of University Women)—इस संघ की स्थापना १९४९ में हुई। इसके उद्देश्य हैं—विश्व विद्यालय में शिक्षा प्राप्त करने वाली स्त्रियों में सांस्कृतिक क्षेत्र में रुचि उत्पन्न करना तथा विश्व की विश्व-विद्यालय-शिक्षा-प्राप्त महिलाओं में पारस्परिक सहयोग तथा सद्भावना का पैदा करना। इसके कार्य हैं—बच्चों तथा युवाओं के लिए रात्रि-पाठशालाएँ तथा योग्य छात्राओं को विदेशों में छात्रवृत्ति देकर भेजना। बच्चों के आमोद-प्रमोद के केन्द्र भी इस संघ की तरफ़ से खोले जाते हैं। इसकी सदस्य विश्व-विद्यालय-शिक्षा-प्राप्त महिलाएँ होती हैं। इसका कार्यालय ११२/११३ पटौदी हाउस, कैनिंग रोड, नई दिल्ली में है।

(घ) भारतीय ईसाई-महिला-मंडल (Young Women's Christian Association of India)—इस संस्था की रजिस्ट्री १८७५ में हुई थी।

इसके उद्देश्य हैं—स्त्रियों तथा कन्याओं को संसारव्यापी संगठन के सूत्र में बाँधना, उनमें मैत्री उत्पन्न करना तथा हजरत मसीह की शिक्षा का स्त्री-जाति में क्रियात्मक रूप में प्रचार करना। यह संस्था स्वतंत्र रूप में कोई कार्य नहीं करती, परन्तु इसके आधीन जो संस्थाएँ शिक्षा आदि का कार्य करती हैं, उनकी यह संस्था देख-रेख करती है। इसके आधीन कार्य करने वाली संस्थाओं का काम स्त्री-शिक्षा, समाज-सेवा आदि है। इसे छोटे नाम से वाई० डब्ल्यू० सी० ए० (Y.W.C.A.) कहा जाता है। यू०एन०ओ० के स्त्री-विभाग के साथ इस संस्था का विशेष सम्पर्क है। इस संस्था की भारत में ४९ शाखाएँ काम कर रही हैं और इसका प्रधान कार्यालय पार्लियामेंट स्ट्रीट, नई दिल्ली में है।

(ङ) कस्तूरबा गांधी राष्ट्रीय स्मारक निधि (Kasturba Gandhi National Memorial Trust)—इस संस्था की स्थापना महात्मा गांधी की पत्नी कस्तूरबा गांधी की यादगार में १९४५ में की गई थी। इसके उद्देश्य हैं—भारत के ग्रामीण प्रदेशों में जरूरतमन्द स्त्रियों तथा बच्चों के कल्याण के लिए उनकी आर्थिक सहायता करना, उनके लिए कल्याण-केन्द्र खोलना, उन्हें कल्याण-कार्यों के लिए प्रशिक्षित करना। इसके कार्य हैं—ग्राम-सेविकाएँ तैयार करना, ग्राम-सुधार-केन्द्र खोलना, बाल-मंदिर, बेसिक शिक्षा-केन्द्र, मातृ-सदन, ग्राम-चिकित्सालय तथा कुष्ठ-निवारक-केन्द्र खोलना, विस्थापित स्त्रियों तथा बच्चों को आर्थिक-सहायता देना। कस्तूरबा के नाम से १ करोड़ रुपया इकट्ठा हुआ था जिसके सूद से इस संस्था का कार्य चलता है। निधि की तरफ़ से १५ केन्द्रों में कार्य चल रहा है। इसका प्रधान कार्यालय है—पोस्ट आफ़िस, कस्तूरबा ग्राम, जि० इन्दौर, मध्य-भारत।

(च) अखिल भारतीय शिक्षा फण्ड संस्था (All-India Women's Education Fund Association)—इस संस्था की स्थापना १९२९ में हुई। इसके उद्देश्य हैं—भारत में स्त्रियों तथा कन्याओं की शिक्षा को प्रोत्साहित करना, प्रशिक्षित अध्यापिकाओं की संख्या को बढ़ाने का प्रयत्न करना तथा देसी भाषाओं में पाठ्य-पुस्तकों के प्रकाशन में सहायता देना। इसके कार्य हैं—लेडी इरविन कालेज, दिल्ली का संचालन और इस कालेज में शिक्षिकाओं के प्रशिक्षण, होम-साइन्स तथा सिलाई-बिनाई का प्रबन्ध।

५. बीसवीं शताब्दी की महिलाओं की माँगें तथा उन माँगों के आधार पर बने कानून

१९वीं तथा २०वीं शताब्दी में भारतीय-नारी की स्थिति में जो परिवर्तन आया उसका उल्लेख हमने किया। इस सारे काल में महिलाओं की मुख्य माँग एक ही थी, और वह यह कि उनके साथ असमानता का व्यवहार नहीं होना चाहिए। उनकी अन्य जो भी शिकायतें थीं, वे सब इसी एक शिकायत की शाखा-प्रशाखाएँ थीं। जब नवम्बर १९४९ में भारतीय-संविधान बना तब स्त्रियों को पुरुषों के समान अधिकार दिया गया, उसके बाद विवाह तथा सम्पत्ति सम्बन्धी

महिलाओं की माँगों को भिन्न-भिन्न कानूनों द्वारा स्वीकृत किया गया। अब स्थिति यह है कि कानूनी दृष्टि से भारतीय नारी के सम्मुख कोई निर्योग्यता नहीं है। कानूनी तौर पर इन निर्योग्यताओं का निवारण कैसे हुआ ?

[संविधान में समानता]

(क) संविधान में स्त्री-पुरुष की समान स्थिति की माँग—भारतीय-संविधान के अनुच्छेद १५, विभाग १ में लिखा है कि राज्य किसी नागरिक के विरुद्ध केवल धर्म, नस्ल, जाति, लिंग, जन्म-स्थान अथवा इनमें से किसी के आधार पर कोई भेद नहीं करेगा। इस के अतिरिक्त संविधान के अनुच्छेद ४४ के अनुसार राज्य भारत के समस्त नागरिकों के लिए एक-समान व्यवहार प्राप्त करने का प्रबन्ध करेगा, कोई किसी से लिंग आदि के आधार पर भेद-भाव का बर्त्ताव नहीं कर सकेगा। संविधान के इन शब्दों से भारतीय-नारी की सब से बड़ी निर्योग्यता को समाप्त कर दिया गया, उसे हर क्षेत्र में पुरुषों के समान अधिकार दे दिया गया।

(ख) स्त्री की मताधिकार की माँग—स्त्री को पुरुष के समान स्थिति मिलने का सब से बड़ा क्षेत्र मताधिकार का है। आज के जन-तंत्र के युग में व्यक्ति के पास अगर कोई शक्ति का हथियार है तो मत-दान का हथियार है। पहले युगों में तोपों-तलवारों से राज्य बदला करते थे, आज के युग में मत-दान से राज्य बदलते हैं। पहले लड़ाई युद्ध के मैदान में होती थी, आज लड़ाई बैलट-बॉक्स में होती है। इस अधिकार को पाने के लिए अन्य देशों में नारी ने विकट आन्दोलन किये, भारत में भी इसके लिए आन्दोलन हुआ, परन्तु स्त्री को राजनैतिक मताधिकार अन्य देशों की महिलाओं के मुकाबिले में बहुत आसानी से मिल गया। भारत में १९२६ तक विधान-सभाओं में सदस्या होने का अधिकार स्त्रियों को नहीं था। १९२६ में सरकार ने स्त्रियों को विधान-सभाओं में मनोनीत करने का अधिकार अपने हाथ में रखा। १९३५ में जब भारत में नया विधान बना तब महिला-संस्थाओं ने प्रौढ़ स्त्रियों को मतदान देने के अधिकार की माँग की। यह माँग उस समय स्वीकृत नहीं हुई, परन्तु उनके लिए विभिन्न प्रान्तीय सभाओं में ४१ सीटें सुरक्षित कर दी गईं।

भारत के स्वतंत्र हो जाने के बाद १९४९ में जो संविधान बना उसमें प्रत्येक प्रौढ़ महिला को मतदान देने का अधिकार मिल गया। १९५२ के चुनाव में लोक-सभा में २३ तथा राज्य-सभा में १९ स्त्रियाँ चुनी गईं। १९५७ के चुनाव में लोक-सभा में २७ तथा राज्य-सभा में २३ स्त्रियाँ आयीं। चुनाव के लिए खड़ी होने वाली स्त्रियों की संख्या भी कम नहीं थी। अनेक स्त्रियों को उच्च राजकीय पदों पर भी नियुक्त किया गया। श्रीमती सरोजनी नायडू उत्तर-प्रदेश की राज्य-पाल रहीं, अब उनकी पुत्री पद्मजा नायडू पश्चिमी बंगाल की राज्यपाल हैं। राजकुमारी अमृतकौर केन्द्रीय-मंत्रिमंडल में स्वास्थ्य-मन्त्री रहीं, विजयलक्ष्मी पंडित रूस, अमरीका, इंग्लैण्ड में राजदूत का काम करती रहीं।

परन्तु यह सब-कुछ भारत की साधारण नारी के लिए अर्थहीन था। साधारण-स्त्री की समस्याएँ मताधिकार, लोक-सभा, राज्य-सभा, दूतावास आदि न

होकर बाल-विवाह, वृद्ध-विवाह, विधवा-विवाह, बाधित-वैधव्य आदि थीं। पति उसका त्याग कर सकता था, वह पति का त्याग नहीं कर सकती थी, पैतृक-सम्पत्ति में उसका कोई अधिकार नहीं था। इन सब शिकायतों को दो भागों में बाँटा जा सकता है—विवाह-सम्बन्धी निर्योग्यता तथा सम्पत्ति-सम्बन्धी निर्योग्यता। संविधान बन चुकने के बाद भारतीय-संसद् में भारतीय-नारी की इन निर्योग्यताओं का भी कानूनों द्वारा निवारण कर दिया गया। पहले हम विवाह-सम्बन्धी-निर्योग्यता के निवारण करने वाले कानूनों का ज़िक्र करेंगे फिर सम्पत्ति-सम्बन्धी-निर्योग्यता के निवारण करने वाले कानूनों की चर्चा करेंगे। १८२९ में सती-प्रथा बन्द करने तथा १८५६ में विधवा-विवाह के कानून बनने की चर्चा हम यहाँ नहीं करेंगे क्योंकि इन दोनों के विषय में कानून १९वीं शताब्दी में बन चुके थे।

[बाल-विवाह-निषेधक कानून, १९३०]

(ग) बाल विवाह के निषेध की माँग—बाल-विवाह का सम्बन्ध केवल स्त्री से नहीं है, स्त्री-पुरुष दोनों से है, परन्तु इसका दुष्परिणाम मुख्य तौर पर स्त्री को भुगतना पड़ता है। छोटी आयु में विवाह हो जाने से शिक्षा का क्षेत्र उसके लिए बन्द हो जाता है, बच्चे होने से बचपन में ही उसे बुढ़ापा आ घेरता है, कभी-कभी प्रसव के कारण वह इस असार संसार से संसार को देखने से पहले ही चल देती है। बाल-विवाह के दुष्परिणामों को भारतीय-संविधान बनाने से पहले ही पूरे तौर से अनुभव किया जा चुका था और इसलिए १९३० में ही श्री हरविलास शारदा के उद्योग से 'बाल-विवाह-निषेधक-कानून' स्वीकृत हो चुका था जिसे 'शारदा-एक्ट' कहा जाता है। १९४९ में इस कानून की विवाह-योग्य आयु लड़की की १४ वर्ष से १५ वर्ष कर दी गई, लड़के की पहले भी १८ वर्ष थी, अब भी १८ वर्ष ही रही।

[हिन्दू-विवाह-कानून, १९५५]

(घ) बहु-विवाह के निषेध की माँग—बाल-विवाह तो १९४९ के संविधान बनने से पहले ही निषिद्ध घोषित किया जा चुका था, परन्तु बहु-विवाह जारी था। एक पुरुष अनेक पत्नियों से विवाह कर सकता था। बहु-विवाह का मुख्य तौर पर प्रभाव स्त्री पर था क्योंकि एक पत्नी के रहते दूसरी पत्नी बनने का अपमान उसी को सहना होता था। स्त्रियों की माँग थी कि यह कुप्रथा दूर होनी चाहिए। अगर एक-पति-व्रत स्त्री के लिए धर्म है, तो एक-पत्नीव्रत होना पुरुष के लिए भी धर्म है। पति-पत्नी के लिए पृथक् माप-दंड होने के स्थान में दोनों के लिए एक माप-दंड होना चाहिए। १९५५ में 'हिन्दू-विवाह-कानून' (Hindu Marriage Act, 1955) स्वीकृत हुआ जिसके अनुसार 'एक-विवाह' का नियम पुरुष तथा स्त्री दोनों पर लागू कर दिया गया। भारतीय इतिहास में सभ्य-समाज के 'एक-विवाही' नियम की प्रतिष्ठा करने का यह सब से प्रथम उद्योग था। इस नियम की धारा १७ के अनुसार बहु-विवाह को दण्डनीय घोषित कर दिया गया। अगर किसी का पूर्व-विवाह हो चुका है, और उसे छिपा कर उसने दूसरा विवाह किया है, तो उसे १० वर्ष का कारावास, अनिश्चित जुर्माना अथवा दोनों हो सकते हैं,

अगर उसे बिना छिपाये, बताकर दूसरा विवाह किया है, तो उसे ७ वर्ष का कारावास, अनिश्चित जुर्माना अथवा दोनों हो सकते हैं।

(ङ) तलाक देने के अधिकार की माँग—विवाह एक अटूट सम्बन्ध है, यह विचार हमारे समाज में बहुत देर से परम्परा से चला आ रहा है, किन्तु अपने समाज में इस सिद्धान्त का पालन गत कई शताब्दियों से एक पक्ष की ओर से हुआ है, दूसरा पक्ष निरन्तर इसका उल्लंघन करता रहा है। इस एकपक्षीय आदर्श-वादिता के परिणामस्वरूप स्त्री-जाति की तरफ़ से तलाक की माँग खड़ी हुई और १९५५ के 'हिन्दू-विवाह-कानून' (Hindu Marriage Act, 1955) में किन्हीं-किन्हीं परिस्थितियों में तलाक के अधिकार को स्वीकार कर लिया गया। 'हिन्दू-विवाह-अधिनियम' के दो भाग हैं—एक भाग का सम्बन्ध 'विवाह' से है दूसरे का 'तलाक' से है। अगर विवाहित व्यक्तियों में कोई पक्ष व्यभिचारी हो, धर्म-परिवर्तन कर ले, तीन वर्ष से पागल, कोढ़ी, यौन रोग से पीड़ित हो, संन्यास ले ले, सात वर्षों से लापता हो, दो वर्ष तक यौन-सम्बन्ध छोड़ चुका हो, इस अधिनियम से पहले दूसरा विवाह कर चुका हो या प्रार्थी के विवाह के समय उसकी दूसरी पत्नी मौजूद हो, विवाह के उपरान्त बलात्कार, गुदा-मैथुन, या पशु-मैथुन का अपराधी हो, तो तलाक के लिए प्रार्थना-पत्र दिया जा सकता है, परन्तु विवाह के तीन वर्ष के बाद ही ऐसा प्रार्थना-पत्र दिया जा सकता है। उससे पहले प्रार्थना-पत्र देना हो तो हाई-कोर्ट में प्रार्थना-पत्र देना होगा और सिद्ध करना होगा कि प्रार्थी का जीवन इसके बिना अत्यन्त संकट की स्थिति में है।

विवाह के सम्बन्ध में भारतीय-नारी की प्रायः सभी माँगों को स्वीकार किया जा चुका है, सिर्फ़ एक माँग रह गई है, और वह है 'वृद्ध-विवाह' का निषेध। अभी तक बूढ़ा व्यक्ति युवति से विवाह कर सकता है। ऐसे कानून के बनने की आवश्यकता है जिससे कोई बूढ़ा युवति से विवाह न कर सके। पालियामेंट के कुछ सदस्यों ने इस आशय के प्रस्ताव रखने का प्रयत्न किया है, परन्तु अभी तक उन्हें सफलता नहीं मिली।

[हिन्दू-उत्तराधिकार-अधिनियम, १९५६]

विवाह की विषमताओं को दूर करने के लिए स्त्री की जो माँगें थीं उनके अलावा सम्पत्ति में स्त्री के अधिकार की माँग भी प्रबल थी। आज के युग में जिस व्यक्ति का सम्पत्ति पर कोई अधिकार नहीं, उसकी सत्ता को भी कोई स्वीकार करने को तैयार नहीं होता। स्त्री को न पिता के यहाँ सम्पत्ति में अधिकार था, न पति के यहाँ, इसलिए उसकी व्यक्ति रूप से स्वतंत्र सत्ता न पिता के यहाँ मानी जाती थी, न पति के यहाँ। इस स्थिति को दूर करने के लिए स्त्री को पत्नी के रूप में, माता के रूप में, पुत्री के रूप में १९५६ के 'हिन्दू-उत्तराधिकार-अधिनियम' (Hindu Succession Act, 1956) में कुछ अधिकार दिये गये।

(च) पत्नी या विधवा के रूप में सम्पत्ति में अधिकार की माँग—पत्नी के रूप में स्त्री को सम्पत्ति में अधिकार देने की माँग बहुत पुरानी है। भारत में कानून

की दो व्यवस्थाएँ प्रचलित रही हैं—दायभाग तथा मिताक्षरा। 'दायभाग' बंगाल में तथा 'मिताक्षरा' दक्षिण-भारत के कुछ हिस्सों को छोड़ कर प्रायः शेष सम्पूर्ण भारत में प्रचलित है। भारत के दक्षिण हिस्से ट्रावनकोर-कोचीन में 'मरुमकटय्यम'-प्रणाली प्रचलित है। जिसमें स्त्री को सम्पत्ति में किसी प्रकार का अधिकार देने की व्यवस्था है। 'दायभाग' तथा 'मिताक्षरा' प्रणालियों में १८७४ से पहले स्त्री का केवल स्त्री-धन पर अधिकार माना जाता था, अन्य किसी प्रकार की सम्पत्ति पर उसका अधिकार नहीं था। स्त्री-धन का क्या अर्थ है? वैदिक-काल में विवाह के समय कन्या को दहेज के तौर पर वस्त्र, आभूषण, सामग्री (पारिणाह्य) आदि जो-कुछ दिया जाता था वह स्त्री-धन माना जाता था और इस पर स्त्री का निजी स्वत्व होता था। कौटिल्य अर्थशास्त्र के समय (४थी शताब्दी ई० पू०) स्त्री-धन की व्याख्या कुछ विस्तृत कर दी गई थी और इसमें वृत्ति अर्थात् जीवन-निर्वाह के साधन (भूमि आदि) तथा आभूषण आदि दोनों मान लिये गये थे। स्मृतियों के समय स्त्री-धन का क्षेत्र और विस्तृत होने लगा। कुछ स्मृतियों के अनुसार अध्यग्नि (विवाह के समय अग्नि के सम्मुख दिया गया धन), अध्यावाहनिक (पतिगृह से लाते समय दिया गया धन), भर्तृदाय (पति द्वारा दिया गया धन), भाई-बहन द्वारा दिया गया धन, प्रेमकर्म (प्रेमपूर्वक किसी सम्बन्धी द्वारा दिया हुआ धन) आदि को स्त्री-धन माना है। जो-कुछ हो, इस सब से स्त्री-धन का क्षेत्र बहुत अधिक विस्तृत नहीं होता।

वर्त्तमान-युग में सब से पहले १८७४ में 'विवाहित-महिला-सम्पत्ति-अधिनियम' (Married Women's Property Act, 1874) बना जिसके अनुसार (i) स्त्री द्वारा अर्जित धन जो वह किसी व्यवसाय या नौकरी द्वारा कमाये, (ii) साहित्यिक, कलात्मक या कुशलता से कमाया हुआ धन, (iii) उसका अपना बचाया हुआ धन या इस धन से उसका कमाया हुआ धन तथा (iv) उसके अपने नाम के बीमे से प्राप्त होनेवाला धन उसकी निजी सम्पत्ति माने गये। इस कानून के बन जाने से जहाँ पहले सिर्फ़ उसका स्त्री-धन पर अधिकार था वहाँ उसका अधिकार अन्य प्रकार की सम्पत्ति पर भी माना जाने लगा, परन्तु यह सब सम्पत्ति इस प्रकार की थी जिसे उसने खुद कमाया था, अभी तक सम्पत्ति पर के उसके अधिकार में उत्तराधिकार द्वारा प्राप्त किसी प्रकार की सम्पत्ति के मिलने की बात नहीं थी।

स्त्री को उसके पति की सम्पत्ति में अधिकार देने का पहला कानून १९३७ में बना जिसका नाम था 'हिन्दू स्त्री का सम्पत्ति पर अधिकार अधिनियम' (Hindu Women's Right to Property Act, 1937)। इसके अनुसार पति की मृत्यु के पश्चात् उसके पुत्र के साथ उसकी विधवा स्त्री को भी बराबर का हिस्सा मिलता था, किन्तु इस कानून के अनुसार विधवा का अपने हिस्से पर पूर्ण स्वत्व नहीं था। वह इस प्रकार प्राप्त की हुई अपनी जायदाद को अपनी इच्छानुसार नहीं बरत सकती थी। दान में या उपहार में नहीं दे सकती थी, इस सम्पत्ति को बेचने का भी इस कानून के अनुसार उसे अधिकार नहीं था।

अब १९५६ में जो 'हिन्दू उत्तराधिकार अधिनियम' (Hindu Succession Act, 1956) स्वीकार हुआ है इस कानून के अनुसार विधवा स्त्री को अपनी जायदाद पर सीमित नहीं पूर्ण अधिकार दे दिया गया है। अब वह जिस प्रकार चाहेगी अपने हिस्से की जायदाद का उपयोग कर सकेगी। सन्तान न होने की दशा में वह सम्पूर्ण जायदाद की मालिक होगी। अगर वह पुनर्विवाह कर लेगी, तो वह सम्पत्ति उसकी न रहकर यदि सम्पत्ति पति से मिली थी तो पति के परिवार को और अगर पिता से मिली थी तो पिता के परिवार को लौट जायगी।

(छ) पुत्री के रूप में सम्पत्ति में अधिकार की माँग—जैसा हमने पहले लिखा, भारत में मुख्यतया बंगाल में 'दायभाग' तथा शेष भाग में 'मिताक्षरा' प्रणाली प्रचलित है। इन दोनों प्रणालियों में पिता की सम्पत्ति में पुत्री का भाग नहीं माना जाता। दक्षिण-भारत में 'मरुमकटय्यम' नाम का कानून प्रचलित है, इसलिए ट्रावनकोर-कोचीन में पिता की जायदाद में पुत्री को पुत्र के बराबर हिस्सा मिलता है। अब १९५६ में, जो 'हिन्दू उत्तराधिकार अधिनियम' (Hindu Succession Act, 1956) स्वीकृत हुआ है उसके अनुसार मिताक्षरा तथा दायभाग दोनों प्रणालियों के क्षेत्रों में पुत्री को पिता की 'पुश्तैनी' तथा 'स्वार्जित' दोनों प्रकार की सम्पत्ति में हिस्सा मिलेगा। 'दायभाग'-प्रणाली में पिता की 'पुश्तैनी' सम्पत्ति में पिता के मरने पर ही पुत्र का हिस्सा माना जाता है, 'मिताक्षरा'-प्रणाली में पिता की 'पुश्तनी' सम्पत्ति में पुत्र के जन्म लेते ही उसका हिस्सा माना जाता है। इस दृष्टि को सम्मुख रख कर दाय-भाग तथा मिताक्षरा प्रणाली में पुत्री को, पुत्रों को, माता को जो हिस्सा 'हिन्दू उत्तराधिकार अधिनियम' के अनुसार मिलेगा वह दोनों प्रकार के कानूनों में अलग-अलग होगा। अलग-अलग क्या होगा—इसकी चर्चा हम इसी अध्याय में आगे करेंगे। यहाँ इतना लिख देना पर्याप्त है कि इस कानून के अनुसार जहाँ मिताक्षरा-प्रणाली प्रचलित है, वहाँ कुल मिलाकर पैतक-सम्पत्ति में लड़की को लड़के की अपेक्षा बहुत कम हिस्सा मिलेगा, परन्तु जहाँ दायभाग-प्रणाली प्रचलित है वहाँ लड़की को लड़के के बराबर हिस्सा मिलेगा। इस स्थान पर इस बात को ध्यान में रखना चाहिए कि देश के अधिक भाग में मिताक्षरा-प्रणाली ही प्रचलित है, मुश्किल से देश के एक-चौथाई भाग में दायभाग-प्रणाली प्रचलित है। दूसरी बात इस प्रकरण में ध्यान रखने की यह है कि पुत्री को पैतृक-सम्पत्ति में इस कानून से जो अधिकार मिला है वह केवल उस सम्पत्ति में मिला है जिसे उसका पिता बिना वसीयत के छोड़ गया है। पिता वसीयत द्वारा पुत्री को कुछ भी हिस्सा न दे—यह पिता का अधिकार है।

(ज) विधवा माता के रूप में सम्पत्ति में अधिकार की माँग—भारत के दक्षिण में प्रचलित 'मरुमकटय्यम'-कानून को छोड़ कर देश के अन्य किसी भाग में माता का पुत्र की सम्पत्ति में अबतक कोई भाग नहीं था। पुत्र की मृत्यु के बाद विधवा-माता को अपनी पुत्र-वधू की दया पर आश्रित रहना पड़ता था। सास-बहू के सम्बन्ध थोड़े ही परिवारों में स्नेहपूर्ण होते हैं। ऐसी परिस्थिति में उसका

जीवन बहुधा दुःखमय बन जाता है। माता को पुत्र-वधू और पौत्र-पौत्रियों की दृष्टि में एक प्रतिष्ठित स्थान प्रदान करने की दृष्टि से माता को भी मृत-पुत्र की सम्पत्ति में उसके पुत्र-पुत्रियों तथा पत्नी के समान एक भाग १९५६ के इस 'हिन्दू-उत्तराधिकार अधिनियम' के द्वारा दिया गया है।

[हिन्दू-उत्तराधिकार अधिनियम में किस-किस को कितना-कितना मिलता है]

१९५६ के 'हिन्दू-उत्तराधिकार अधिनियम' के अनुसार मिताक्षरा तथा दायभाग प्रणाली के अन्तर्गत लड़के, लड़कियां, विधवा-पत्नी तथा माता को किस प्रकार हिस्सा मिलेगा, यह नीचे के उदाहरण से स्पष्ट हो जायगा।

(i) मिताक्षरा के अनुसार--मान लीजिये कि 'क' कुल २०,०००) की सम्पत्ति छोड़ कर मरता हैं। इसमें १५०००) की पैतृक (पुश्तैनी) सम्पत्ति है, और ५,०००) की उसकी अपनी कमाई हुई (स्वार्जित) सम्पत्ति है। उसके दो पुत्र 'ख' और 'ग' हैं, एक पुत्री 'च' है, जीवित विधवा पत्नी 'प' है, और जीवित माता 'म' है। अब मृत-व्यक्ति 'क' की जो अपनी कमाई हुई स्वार्जित-सम्पत्ति ५,०००) है, वह तो 'ख', 'ग', 'च', 'प' और 'म' पाँचों में बराबर बँट जायेगी, और दोनों लड़कों, लड़की, विधवा तथा माता में प्रत्येक को १०००) मिल जायेगा, लेकिन मृत व्यक्ति 'क' की पैतृक (पुश्तैनी) जायदाद में ऐसा नहीं होगा। १५,०००) की जो पुश्तैनी जायदाद है, वह पहिले केवल लड़कों और पिता में बँटेगी, अर्थात् उसके तीन हिस्से होंगे क्योंकि अपने अलावा उसके दो पुत्र हैं। इस प्रकार 'क' 'ख' 'ग' में से हरेक को ५,०००) मिलेगा। अब, मृत-पिता 'क' के हिस्से जो ५,०००) पड़ा उसमें लड़की, उसकी पत्नी और उसकी माता को हिस्सा मिलेगा। परन्तु स्मरण रखने की बात यह है कि उसके दोनों लड़कों को, यदि वे पिता से अलग नहीं हो चुके हैं, तो पिता के इस ५,०००) में से दूसरों के बराबर का हिस्सा इन्हें और मिलेगा। इस प्रकार इस पुश्तैनी १५,०००) में से दोनों पुत्रों 'ख' और 'ग' प्रत्येक को ६०००), पुत्री 'च' को १०००), जीवित विधवा 'प' को १०००) तथा जीवित माता 'म' को १०००) मिलेगा। यह भी ध्यान रखने की बात है कि यदि 'ख' या 'ग' पिता से अलग हो चुका है, तो विभक्त हुए 'ख' या 'ग' को मृतक पिता 'क' के हिस्से में से दुबारा कोई भाग न मिलेगा।

(ii) दायभाग के अनुसार--दायभाग में, जहाँ पैतृक और स्वार्जित सम्पत्ति दोनों में एक ही नियम लगता है, मृतक पिता 'क' की १५,०००) पुश्तैनी तथा ५,०००) स्वार्जित जायदाद को एक साथ मिलाकर 'ख', 'ग', 'च', 'प' तथा 'म' में बराबर बाँट दिया जायेगा। अर्थात्, दायभाग में लड़के, लड़की, विधवा और माँ सब को बराबर-बराबर ४,०००) मिलेगा।

सम्पत्ति के तो नहीं, परन्तु सम्पत्ति से मिलती-जुलती वस्तु आजीविका के सम्बन्ध में भी दो कानून बने हैं जिनसे स्त्रियों की संकटकालीन स्थिति में

निर्वाह की माँग को स्वीकार किया गया है। इन दोनों कानूनों का भी यहाँ जिक्र करना आवश्यक है।

[हिन्दू-विवाहित-स्त्रियों के पृथक्-निवास और निर्वाह-व्यय का कानून, १९४६]

(अ) पृथक-निवास और निर्वाह-व्यय की माँग—जबतक हिन्दू पति को पहली पत्नी के जीवित रहते दूसरी स्त्री से विवाह का अधिकार था, जो अब 'हिन्दू-विवाह-कानून-१९५५' से समाप्त हो गया है, तब तक उसे अपनी सौत के साथ रह कर अपमानपूर्ण जीवन बिताना पड़ता था। अगर पति किसी घृणित रोग से पीड़ित होता तब भी पत्नी को उसके साथ ही रहना होता था क्योंकि अलग रह कर उसकी आजीविका के निर्वाह का कोई उपाय नहीं था। अप्रैल १९४६ में 'हिन्दू-विवाहिता-स्त्रियों के पृथक्-निवास और निर्वाह-व्यय का कानून' (Hindu Married Women's Rights to Separate Residence and Maintenance Act, 1946) स्वीकृत हुआ जिसके अनुसार निम्न कारणों से पत्नी पति से गुज़ारा माँग सकती है: (i) अगर पति किसी ऐसे घृणित रोग से पीड़ित हो जो उसे पत्नी से न लगा हो, (ii) अगर पति पत्नी के प्रति क्रूर व्यवहार करता हो, ऐसा क्रूर व्यवहार जिससे पत्नी का पति के साथ रहना ख़तरनाक हो, (iii) अगर पति ने पत्नी को उसकी इच्छा के विरुद्ध छोड़ दिया हो, (iv) अगर पति ने दूसरा विवाह कर लिया हो, (v) अगर पति ने हिन्दू-धर्म का परित्याग कर दिया हो, (vi) अगर पति ने रखैल रखी हुई हो, (vii) अगर अन्य कोई ऐसा कारण हो जो माकूल समझा जा सके।

अगर पत्नी व्यभिचारिणी हो या वह धर्म-परिवर्तन कर ले तब उसे पृथक्-निवास या निर्वाह-व्यय नहीं दिया जा सकेगा। १९४६ के इस कानून की बातों को अब १९५६ के 'हिन्दू दत्तक-पुत्र-ग्रहण तथा निर्वाह-व्यय कानून' (Hindu Adoption and Maintenance Act, 1956) में ले लिया गया है, और उसमें परित्यक्ता पत्नियों, विधवाओं, असमर्थ वृद्धों तथा निराश्रित कुटुम्बियों की उचित व्यवस्था की गई है। इस कानून से स्त्री को पति से पृथक् निवास तथा निर्वाह-व्यय मिल जाने के कारण उसकी स्थिति में पर्याप्त सुधार हुआ है। जो स्त्री चाहे इन कारणों से तलाक की भी माँग कर सकती है, परन्तु उस हालत में उसे निर्वाह-व्यय नहीं मिलता।

[हिन्दू-दत्तक-पुत्र-ग्रहण तथा निर्वाह-व्यय का कानून, १९५६]

(आ) स्त्री की दत्तक-पुत्र ले सकने तथा विशेष अवस्थाओं में निर्वाह-व्यय ले सकने की माँग—अब तक व्यवस्था यह थी कि पति अपनी इच्छा से और पत्नी की इच्छा के विरुद्ध भी दत्तक-पुत्र ले सकता था। इसके अतिरिक्त पति ही दत्तक-पुत्र ले सकता था, पत्नी नहीं ले सकती थी। यह व्यवस्था परिवार के लिए सुखद नहीं कही जा सकती। पुत्र में जितनी दिलचस्पी पिता की है उतनी ही माता की है, इसलिए दोनों की सहमति से ही दत्तक-पुत्र लिया जाना चाहिए—

स्त्री की यह माँग स्वाभाविक थी। दूसरी बात यह है कि केवल पुरुष दत्तक-पुत्र ले सके, स्त्री विधवावस्था में जब उसे किसी सहारे की जरूरत है, दत्तक न ले सके—यह व्यवस्था भी ठीक नहीं, इसलिए स्त्री के लिए दत्तक-पुत्र ले सकने की माँग भी उचित ही थी। स्त्री की इन दोनों माँगों को १९५६ के 'हिन्दू-दत्तक-पुत्र-ग्रहण तथा निर्वाह-व्यय का कानून' (Hindu Adoption and Maintenance Act, 1956) में स्वीकार कर लिया गया है। इस कानून के दो भाग हैं—दत्तक-पुत्र-सम्बन्धी तथा निर्वाह-व्यय-सम्बन्धी।

'दत्तक-पुत्र' लेने के सम्बन्ध में इस कानून में निम्न व्यवस्था है—(i) प्रत्येक मानसिक दृष्टि से स्वस्थ विधवा को दूसरे का पुत्र गोद लेने तथा अपना पुत्र गोद देने का अधिकार होगा, (ii) प्रत्येक मानसिक दृष्टि से स्वस्थ पुरुष को दूसरे का पुत्र गोद लेने और अपना पुत्र गोद देने का अधिकार होगा, परन्तु उसे अपनी पत्नी की सहमति लेनी आवश्यक होगी, (iii) अविवाहिता स्त्री भी दूसरे के पुत्र को गोद ले सकेगी, (iv) जिसे गोद लिया जाय उसकी आयु १५ वर्ष से कम होनी चाहिए, सामान्यतः वह अविवाहित होना चाहिए, (v) लड़की भी गोद ली जा सकेगी। अभी तक लड़का ही गोद लिया जा सकता था, लड़की गोद नहीं ली जा सकती थी। इस कानून में यह भी व्यवस्था है कि अगर अविवाहित या विधुर पुरुष किसी पुत्री को गोद लेता है तो पुत्री से वह कम-से-कम २१ वर्ष बड़ा होना चाहिए, और अगर कोई विधवा स्त्री पुत्र को गोद लेती है तो पुत्र से वह कम-से-कम २१ वर्ष बड़ी होनी चाहिए ताकि गोद लेने का परिणाम बुरा न हो।

'निर्वाह-व्यय' के सम्बन्ध में इस कानून में निम्न व्यवस्था है—(i) हिन्दू-पत्नी अपने जीवन-काल में पति द्वारा भरण-पोषण की अधिकारिणी होगी; (ii) पति-परित्यक्ता या कुछ विशेष अवस्थाओं में पति से अलग रहने की इच्छा रखने वाली पत्नी को गुजारा मिल सकेगा, और वे विशेष अवस्थाएँ होंगी—पति द्वारा रखैल रखना, धर्म-परिवर्त्तन, पाशविक-व्यवहार, कुष्ठ या यौन-रोगों से पीड़ित होना; (iii) विधवा पुत्र-वधू तथा विधवा पौत्र-वधू श्वसुर से भरण-व्यय प्राप्त कर सकेंगी, (iv) विधवा-कन्या तथा अविवाहिता-कन्या पिता द्वारा भरण-व्यय प्राप्त कर सकेंगी, (v) असमर्थ तथा वृद्ध माता-पिता पुत्र द्वारा भरण-व्यय प्राप्त कर सकेंगे, (vi) नाबालिग बच्चे चाहे वे नाजायज ही क्यों न हों, अपनी नाबालगी की हालत तक माता-पिता द्वारा भरण-व्यय प्राप्त कर सकेंगे। निर्वाह-व्यय ले सकने की माँग पहले १९४६ के कानून में स्वीकृत की गई थी जिसका क्षेत्र १९५६ के कानून में अधिक विस्तृत कर दिया गया। इस कानून से उन स्त्रियों की समस्या का समाधान हुआ जो दुराचारी, बहु-विवाही, पाशविक-व्यवहार वाले, कुष्ठ तथा यौन-रोग से पीड़ित पति से जुदा रहना चाहती थीं। इससे विधवा पुत्र-वधू, विधवा पौत्र-वधू, विधवा अथवा आजीवन अविवाहिता कन्या तथा नाजायज सन्तान की समस्या का भी हल हुआ जिनकी अपनी सामाजिक-परिस्थिति के सम्बन्ध में अपनी कोई जिम्मेवारी नहीं थी।

[हिन्दू अल्पवयस्कता तथा अभिभावकता कानून, १९५६]

(ट) अपने नाबालिग़ बच्चे पर कानूनी अधिकार की माँग—अब तक व्यवस्था यह थी कि कानूनी तौर पर बालक का 'स्वाभाविक-अभिभावक' (Natural guardian) पिता को माना जाता था, पति-पत्नी के जुदा हो जाने पर चाचा, ताऊ या बालक का बड़ा भाई उसके अभिभावक माने जाते थे, बच्चे की नाबालग़ी में माता को बच्चे पर कोई कानूनी अधिकार नहीं था। अगर पति-पत्नी एक दूसरे से जुदा हो जायें, तलाक हो जाये, कानूनी अलहदगी हो जाय, तो बच्चा किस को दिया जाय—यह झगड़ा प्रायः होता है, और इसमें माता को कोई अधिकार नहीं था। स्त्रियों का यह कहना था कि बच्चे की ममता जितनी माता को होती है, उतनी पिता को नहीं होती, और जितनी उसकी देख-रेख माता कर सकती है उतनी पिता नहीं कर सकता, इसलिए पति-पत्नी के जुदा होने पर अभिभावकता का अधिकार माता को मिलना चाहिए।

भारतीय-नारी की इस माँग को १९५६ के 'हिन्दू अल्पवयस्कता तथा अभिभावकता कानून' (Hindu Minority and Guardianship Act, 1956) में स्वीकार कर लिया गया है। इस कानून में निम्न व्यवस्था है—(i) प्रथम पाँच वर्ष तक कानूनी तौर पर बालक की स्वाभाविक अभिभावक माता ही होगी, पिता नहीं, इसके बाद पिता कानूनी तौर पर बालक का अभिभावक बन सकेगा, (ii) विवाहिता कन्या का स्वाभाविक अभिभावक उसका पति होगा, (iii) नाजायज़ बच्चे की स्वाभाविक अभिभावक माता होगी, (iv) स्वाभाविक-अभिभावक को ऐसे सब कार्य करने का अधिकार होगा जो नाबालिग़ के हित में उचित तथा आवश्यक हैं। वह ऐसा कोई काम नहीं करेगा जो उसके हित के प्रतिकूल हो। नाबालिग़ की सम्पत्ति के किसी भाग को बेचने, गिरवी रखने, खर्च करने या दान देने का उसे अधिकार नहीं होगा, (v) नाबालग़ी की आयु १८ वर्ष से कम मानी जायगी, १८ वर्ष का होते ही बच्चा नाबालिग़ नहीं रहेगा।

६. सुधार-कानूनों का स्त्री की स्थिति पर प्रभाव

हमने देखा कि किस प्रकार १९वीं शताब्दी में स्त्रियों के साथ किये गये असमानता के व्यवहार की प्रतिक्रिया उत्पन्न हुई, किस प्रकार यह प्रतिक्रिया उग्र रूप धारण करती-करती २०वीं शताब्दी में स्वतंत्रता-प्राप्ति के बाद भिन्न-भिन्न कानूनों का रूप धारण कर गई। इन सब कानूनों का स्त्री की स्थिति पर क्या प्रभाव होगा ?

(क) स्त्री-पुरुष की समान स्थिति—इन सब कानूनों का सब से पहला प्रभाव तो यह होगा कि अबतक स्त्री तथा पुरुष में सदियों से जो असमान-स्थिति रही है, उसका अन्त हो जायगा। अब तक के कानून पुरुष के कानून थे, इकतरफ़ा कानून थे। पुरुष जो-कुछ चाहे करे, स्त्री कुछ करे तो जहन्नुम में। यह स्थिति अब नहीं रह सकती। संविधान में ही स्त्री-पुरुष की स्थिति समान नहीं मानी गई

है, इस प्रकार के कानून बना दिये गये हैं जिनके आधार पर स्त्री की स्त्री होने की हर निर्योग्यता को समाप्त कर दिया गया है।

(ख) पुरुष के देवता तथा स्त्री के दासी-भाव की समाप्ति—इन कानूनों का दूसरा प्रभाव यह होगा कि अबतक पुरुष अपने को देवता समझता रहा है, स्त्री भी परम्परागत संस्कारों के कारण पति को देवता ही मानती रही है, दुराचारी-व्यभिचारी पति की भी पूजा करती रही है, स्त्री को पुरुष अपनी दासी समझता रहा है, पैरों की जूती समझता रहा है, स्त्री भी अपने को दासी ही मानती रही है, परन्तु अब यह अवस्था रहने वाली नहीं है। अब जो कानून बने हैं उन्होंने मनु और याज्ञवल्क्य की स्मार्त्त-व्यवस्था को बदल दिया है, नवीन-स्मृति का निर्माण किया है, और बीसवीं सदी की इस नवीन व्यवस्था में पुरुष को देवता का सिंहासन छोड़ना होगा, और स्त्री को गढ़े में से निकल कर बाहर आना होगा।

(ग) स्त्री का आर्थिक-क्षेत्र में प्रवेश—इन कानूनों का तीसरा प्रभाव स्त्री का आर्थिक-क्षेत्र में प्रवेश करना होगा। बाल-विवाह आदि के कारण स्त्री पढ़-लिख नहीं सकती थी, छोटी आयु में ही उस पर गृहस्थी का बोझ पड़ जाता था। अब लड़की देर तक घर में बैठी क्या करेगी? विवाह की आयु बढ़ा देने का आवश्यक परिणाम यह होगा, और हो रहा है कि माता-पिता लड़कियों को उच्च-शिक्षा देने लगे हैं। इसके साथ लड़कियों में समानता के अधिकार का उपयोग करने की भावना भी जड़ पकड़ती जा रही है। उच्च-शिक्षा प्राप्त करने तथा समानता की भावना को हृदयंगम करने के बाद नारी पुरुष के साथ आर्थिक-क्षेत्र में प्रवेश करने के सिवाय क्या करेगी। अब कानूनों ने स्त्री के लिए सब क्षेत्र खोल दिये हैं, स्त्री-पुरुष का भेद-भाव मिटा दिया है, इसलिए नवीन विधानों के परिणामस्वरूप स्त्री आर्थिक-क्षेत्र में पुरुष के समान प्रवेश करेगी और पुरुष की आर्थिक-समस्या को कुछ कम करेगी।

(घ) संकटकालीन अवस्था में तलाक—इन कानूनों का चौथा प्रभाव यह होगा कि जब कभी कोई स्त्री ऐसे पति के साथ भूल से विवाह-बंधन में बँध जायगी जो उसके जीवन को संकटमय बना रहा होगा वह सम्बन्ध-विच्छेद की दर्खास्त देकर इस संकट से मुक्त हो सकेगी। किन-किन अवस्थाओं में उसे तलाक़ मिल सकेगा इसका विस्तृत विवेचन हम इस पुस्तक में विवाह-विच्छेद-प्रकरण में कर आये हैं।

(ङ) पति से बाधित तौर पर पृथक् रहने की अवस्था में निर्वाह-व्यय मिलेगा—इन कानूनों का पाँचवाँ प्रभाव यह होगा कि अगर कोई पुरुष अपनी पत्नी को छोड़ देता है, तो उसे अपनी पत्नी को निर्वाह-व्यय देना होगा, और अगर पुरुष दुराचारी-व्यभिचारी-अत्याचारी है, असाध्य रोग से पीड़ित है और पत्नी उसे छोड़ देती है, उसे पत्नी के भरण-पोषण का व्यय देना होगा। इस प्रकार स्त्री पराश्रित न रहेगी, अपने भाग्य को ही जन्मभर न रोती रहेगी।

(च) स्त्री अबला न रहेगी---इन कानूनों का छठा प्रभाव यह होगा कि स्त्री जो अबतक अपने को अबला समझती रही है अपने को सबला समझने लगेगी। पुत्री को, विधवा को सम्पत्ति में अधिकार मिलने के कारण उसके रोम-रोम में अब तक का कूट-कूट कर भरा हुआ दैन्य तथा अबलापन का भाव मिट जायगा।

(छ) एक-विवाह---इन कानूनों का सातवाँ प्रभाव यह होगा कि स्त्री का सौतों के साथ जीवन बिताने का अमानुषीय-जीवन समाप्त हो जायगा। अबतक पुरुष जितने चाहता विवाह कर सकता था। स्त्री इस स्थिति को हाथ-पर-हाथ धर कर देखती थी, परन्तु जीभ नहीं हिला सकती थी। अब कानून उसका साथ देगा और कोई पुरुष एक स्त्री के अतिरिक्त दूसरी स्त्री से विवाह नहीं कर सकेगा।

इन सब बातों से स्त्री की स्थिति सुधरेगी, उसमें आत्म-बल आयगा, वह अपने पाँओं पर खड़ा होना सीखेगी---इसमें सन्देह नहीं।

७. बीसवीं सदी में भी अधिकांश महिला-समाज मध्य-युग में ही है

इसमें सन्देह नहीं कि वर्त्तमान-युग जागृति का युग है। स्त्री की स्थिति सुधारने के लिए बीसियों कानून बन गये हैं, देश के कोने-कोने में समाज-सुधारकों के दल-के-दल उमड़े पड़ते हैं। परन्तु क्या कानून बना देने से, प्लेट-फ़ार्मों पर लेक्चर झाड़ देने से स्त्री की दशा बदल जायगी? बाल-विवाह-निषेध का कानून बना हुआ है, परन्तु क्या बाल-विवाह नहीं होते? १९५१ की जन-गणना के अनुसार ५ से १४ वर्ष की आयु के २८,३३,००० लड़के तथा ६,१८,००० लड़कियाँ विवाहित थीं। बाल-विवाह कानून के होते हुए इतनी भारी संख्या बाल-विवाह की अपने देश में है। विधवा-विवाह करने के लिए कानून बना हुआ है, परन्तु कितने विधवा-विवाह इस देश में होते हैं? १९५१ की जन-गणना के अनुसार अपने देश में ५ से १४ वर्ष की १,३४,००० बाल-विधवाएँ थीं। विधवा-विवाह-कानून के होते हुए भी इनका विवाह नहीं हुआ।

शिक्षा के क्षेत्र में यद्यपि सरकार द्वारा काफ़ी प्रयत्न हो रहा है तो भी १९५१ की जन-गणना के अनुसार १० वर्ष से ऊपर की आयु वाली स्त्रियों में केवल ९.३ प्रतिशत स्त्रियाँ शिक्षित थीं। यदि १० वर्ष से नीचे की लड़कियों को भी स्त्रियों की गणना में शामिल कर लिया जाय तो शिक्षित स्त्रियों की संख्या कुल ७.९ प्रतिशत रह जाती है। अगर पुरुषों की गणना को मिला कर स्त्री-शिक्षा के प्रश्न पर विचार किया जाय तो सम्पूर्ण जन-संख्या के हिसाब से स्त्री-शिक्षा २.६१ प्रतिशत रह जाती है। इसका अर्थ यह हुआ कि अगर केवल स्त्रियों की संख्या ली जाय तो स्त्रियों में ९०.७ या ९२.१ प्रतिशत तथा स्त्री-पुरुष मिला कर देश की सम्पूर्ण जन-संख्या के हिसाब से ९७.३९ प्रतिशत संख्या अशिक्षित है। स्त्रियों के वर्त्तमान-युग में भी मध्य-युग का होने में फिर क्या सन्देह रह जाता है? क्योंकि स्त्रियों की कुछ थोड़ी-बहुत संख्या पढ़-लिख गई है इससे स्त्री-जाति का भविष्य भले ही उज्ज्वल दीखता हो, वर्त्तमान तो अभी वैसे-का-वैसा ही है। शिक्षा प्राप्त कर रहे लड़कों के मुकाबिले में

शिक्षा पाने वाली लड़कियों की संख्या अभी बहुत कम है। यह तो समझ ही लेना चाहिए कि देश में लड़के तथा लड़कियाँ लगभग बराबर हैं। १९५६–५७ में शिक्षा प्राप्त करने वाले लड़कों की संख्या २.४४ करोड़ थी, परन्तु शिक्षा प्राप्त करने वाली लड़कियों की संख्या कुल ८८ लाख थी। इससे स्पष्ट है कि लड़कों की शिक्षा जिस तेज़ी से बढ़ रही है, लड़कियों की शिक्षा उस तेज़ी से नहीं बढ़ रही। इसके अतिरिक्त लड़कों के मुकाबिले में जिस धीमी गति से लड़कियों की शिक्षा चल रही है अगर वह उसी चाल से चलती रही तो लड़के-लड़कियों की शिक्षा के एक स्तर पर आने में १५० साल से कम नहीं लगेंगे। १९४९–५० में १०० लड़कों के पीछे ३३ लड़कियाँ शिक्षा प्राप्त कर रही थीं, १९५६–५७ में १०० लड़कों के पीछे ३६ लड़कियाँ शिक्षा प्राप्त कर रही थीं। छः-सात साल में कुल ३ प्रतिशत संख्या बढ़ी तो क्या बढ़ी, और इस प्रकार कितने समय में लड़कियाँ शिक्षा के क्षेत्र में लड़कों के बराबर पहुँचेंगी ? भारत सरकार ने १९५८ में श्रीमती दुर्गाबाई देशमुख की अध्यक्षता में स्त्री-शिक्षा की प्रगति पर विचार करने के लिए एक राष्ट्रीय-समिति (National Committee on Women's Education) बनाई थी। उसका कहना तो यह है कि भारतीय सामाजिक-जीवन को स्वस्थ बनाने के लिए लड़कियों की शिक्षा को लड़कों के स्तर पर लाना होगा और इसके लिए अगर उन प्रान्तों को जिनमें लड़कियों की शिक्षा लड़कों से बहुत अधिक पिछड़ी हुई है, दूसरे प्रान्तों से अधिक आर्थिक-सहायता देने की आवश्यकता पड़े, तो वह भी देनी होगी, भले ही दूसरे प्रान्त इसके लिए ननु-नच करते रहें।

कोई समय था जब कन्या का उत्पन्न होना माता-पिता के लिए संकट का कारण था। १९वीं शताब्दी में पंजाब और राजपूताने में खत्री, वेदी, जाट, राजपूत और मुहियाल कन्या को जन्म लेते ही मार देते थे। गुरु गोविन्द सिंह ने कन्या का वध कर देने वालों को 'कुड़ीमार' कहा है, उनकी निन्दा की है। १८७० में अंग्रेजी सरकार को बालिका-वध-निषेध का कानून बनाना पड़ा। इसमें सन्देह नहीं कि अब बालिका का वध तो कोई नहीं करता परन्तु बालिका के प्रति उपेक्षा-वृत्ति अभी तक चली आ रही है। घर में लड़के के साथ जो लाड़-प्यार होता है लड़की के साथ वैसा नहीं होता। अच्छा खाना, अच्छा कपड़ा लड़के को मिलता है, लड़की को बासी रोटी से माँ टरका देती है। शादी के समय जैसे-कैसे के साथ उसे अब भी बाँध दिया जाता है, बुड्ढे के साथ ब्याह दिया जाता है। विवाह के बाद जिस परिवार में वह जाती है वहाँ सास, ससुर, ननद समझती हैं कि एक नौकरानी आ गई। वह सब को खिला कर खाती है, सब को सुला कर सोती है, रसोई बनाती, चौका-बरतन करती, सब की घुड़कियाँ खाती, दासी का-सा जीवन व्यतीत करती है। कानून तो बन गये हैं, सरकार भी स्त्री की दशा सुधारने के लिए प्रयत्नशील है, नेता लोग भी इस दिशा में हाथ-पैर मारते हैं, परन्तु अभी जनता का रवय्या बदला नहीं, परन्तु दिशा अवश्य स्त्री की स्थिति सुधरने की तरफ़ है।

८. उच्च-शिक्षा का भारतीय नारी पर प्रभाव

भारतीय-नारी को मध्य-युग के अन्धकारमय-जीवन में से निकालने का सब से बड़ा साधन शिक्षा है। स्त्री-शिक्षा की तरफ़ सरकार काफ़ी ध्यान दे रही है। स्त्री-शिक्षा से स्त्री की कुछ समस्याओं का हल हो रहा है, कुछ उसकी नवीन समस्याएँ पैदा होती जा रही हैं। स्त्री-शिक्षा का भारतीय-नारी पर क्या प्रभाव पड़ रहा है—इस पर समाज-शास्त्रीय दृष्टिकोण से विचार करना आवश्यक है।

(क) विवाह की आयु ऊँची हो रही है—स्त्रियों को उच्च-शिक्षा देने का पहला प्रभाव तो यह हो रहा है कि उच्च-शिक्षा प्राप्त स्त्रियों में विवाह की आयु ऊँची होती जा रही है। जबतक कन्याओं को शिक्षा नहीं दी जाती थी तभी तक यह सम्भव था कि छोटी आयु में उनका विवाह कर दिया जाय। अगर शिक्षा देनी है, तो छोटी आयु में विवाह कैसे हो सकता है ? या तो विवाह ही कर लें या शिक्षा ही प्राप्त कर लें। विवाह तो स्वयं एक चौबीस घंटे का काम है, उसमें पड़ी हुई स्त्री शिक्षा के लिए समय नहीं निकाल सकती। सब देशों का यह अनुभव है कि जब स्त्रियाँ उच्च-शिक्षा प्राप्त करने लगती हैं तब बाल-विवाह-निषेधक कानून हो या न हो, बाल-विवाह अपने-आप रुक जाते हैं, विवाह की आयु स्वयं ऊँची हो जाती है। भारत में बाल-विवाह-निषेधक कानून तो बना, परन्तु इस कानून से बाल-विवाह इतने नहीं रुके जितने स्त्रियों में उच्च-शिक्षा प्राप्त करने की इच्छा से रुके।

(ख) उच्च-शिक्षा-प्राप्त स्त्रियों की विवाह की समस्या जटिल हो रही है—उच्च-शिक्षा प्राप्त कर लेने पर लड़की का जीवन का स्तर ऊँचा हो जाता है, स्वाभाविक तौर पर वह अपने स्तर की शिक्षा वाले, अपने स्तर की आर्थिक योग्यता वाले व्यक्ति से विवाह करना चाहती है। लड़का सुन्दर हो, धनी हो, सब गुण उसमें हों, तब कहीं शिक्षित लड़की विवाह करने को तैयार होती है। ऐसे लड़के कम मिलते हैं इसलिए शिक्षित लड़की के विवाह की समस्या अशिक्षित लड़की की विवाह की समस्या से अधिक जटिल हो जाती है।

(ग) उच्च-शिक्षा-प्राप्त लड़कियों से विवाह करने वाले कम मिलते हैं--उच्च-शिक्षा-प्राप्त लड़की की माँगें तरह-तरह की होंगी, उसके ख़र्चे भारी होंगे, इस डर से लड़के भी ऐसी लड़कियों से शादी करना कम पसन्द करते हैं। उच्च-शिक्षा प्राप्त करने वाली लड़कियों का विवाह का क्षेत्र सीमित हो जाता है।

(घ) उच्च-शिक्षा-प्राप्त लड़कियों में अविवाहिताओं की संख्या बढ़ रही है—उच्च-शिक्षा-प्राप्त लड़कियों के अपने स्वतंत्र व्यक्तित्व का विकास हो जाता है। वे किसी के आधीन रहना पसन्द नहीं करतीं। विवाह को वे एक बन्धन समझने लगती हैं। इस सब का परिणाम यह होता है कि विवाह करें-न-करें इस उधेड़-बुन में उनकी आयु का बहुत-सा भाग बीत जाता है और वे अविवाहिता ही रह जाती हैं।

(ङ) उच्च-शिक्षा-प्राप्त लड़कियाँ आर्थिक-स्वतंत्रता को बनाये रखने के लिए वैवाहिक जीवन को पसन्द नहीं करतीं—जो स्त्री डाक्टर है, वकील है,

अध्यापिका है, या अन्य कोई स्वतंत्र कार्य करती है, वह आर्थिक-दृष्टि से स्वतंत्र है। भारतीय-नारी के लिए विवाह एक प्रकार का आजीविका का साधन बना हुआ है। आर्थिक-दृष्टि से स्वतंत्र नारी आजीविका की समस्या को हल करने के लिए तो विवाह करती नहीं। उसे यह भी दीखने लगता है कि विवाह करने के बाद सम्भवतः वह आर्थिक-परतंत्रता के बंधन में पड़ जाय। विवाह के बाद उसकी कमाई का बहुत बड़ा हिस्सा उसके काम में आने के बजाय परिवार के काम में आने लगेगा। युरोप की नारी तो इसी दृष्टि-कोण से विचार करती है, भारतीय-नारी भी ज्यों-ज्यों उच्च-शिक्षा द्वारा आजीविकोपार्जन करती जायगी वह भी इसी दिशा में सोचने लगेगी—इसमें सन्देह नहीं। मेरिल ने लिखा है कि अमरीका में विवाह से पहले स्वतंत्र रूप से अर्थोपार्जन करने वाली स्त्रियों में ८० प्रतिशत विवाह के उपरान्त अनुभव करने लगती हैं कि उनका जीवन-स्तर गिर गया है, इसलिए वे विवाह के बन्धन से मुक्त होने का प्रयत्न करती हैं।

(च) उच्च-शिक्षा-प्राप्त लड़कियाँ विवाह के लिये माता-पिता से नहीं पूछतीं—जब लड़कियाँ बहुत पढ़ी-लिखी नहीं होतीं तब वे माता-पिता के कहने में चलती हैं और वे ही उसका विवाह-सम्बन्ध तय करते हैं। पढ़ने-लिखने के बाद लड़कियाँ स्वयं पति चुनना चाहती हैं। प्राचीन-काल में स्वयंवर-प्रथा थी। स्वयंवर-प्रथा वहीं चल सकती है जहाँ स्त्री-शिक्षा हो, जहाँ स्त्री-शिक्षा न होगी वहाँ स्वयंवर-प्रथा भी नहीं होगी। शिक्षा का अर्थ किताबी-शिक्षा से नहीं है, शिक्षा का अर्थ है सुसंस्कृत होना।

(छ) उच्च-शिक्षा-प्राप्त लड़कियाँ वैवाहिक-जीवन को प्रभावित करती हैं—जो लड़की पढ़ी-लिखी नहीं वह परिवार के जीवन को क्या प्रभावित करेगी। इलियट तथा मेरिल ने लिखा है कि जो लड़की पति के समान शिक्षित हो जाती है वह अशिक्षित पत्नी से सर्वथा भिन्न होती है, वह पारिवारिक समस्याओं के समाधान में पति के साथ सहयोग देती है। अशिक्षित पत्नी तथा शिक्षित पत्नी के परिवार का नक्शा ही भिन्न-भिन्न होता है।

(ज) उच्च-शिक्षा-प्राप्त लड़कियाँ बेमेल विवाह कर बैठती हैं—जब विवाह की आयु करें-न-करें की उधेड़-बुन में निकल जाती है, तब कभी-कभी उच्च-शिक्षा पायी हुई लड़कियाँ जिस-किसी से ही शादी कर बैठती हैं। पहले इन्तजारी में नहीं करतीं, बाद को उतावली में कर डालती हैं, इसलिए इनके ऐसे विवाह देखे गये हैं जिनमें समझदारी नहीं पायी जाती। इसका कारण यह है कि विवाह में प्रतिबन्धक आर्थिक आदि कारण कुछ देर तक तो इन्हें विवाह से रोकते हैं, परन्तु क्योंकि मनुष्य भावना का बना हुआ है इसलिए जब भावना उमड़ने लगती है तब विचार, आदर्श, आर्थिक-स्तर आदि सब ताक में धरे रह जाते हैं और बेमेल विवाह हो जाते हैं। पढ़ी-लिखी स्त्री, बे-पढ़ा आदमी; खूबसूरत स्त्री, बदसूरत आदमी; बड़ी उम्र की स्त्री, छोटी उम्र का आदमी—इस प्रकार के विवाह उच्च-

शिक्षा-प्राप्त स्त्रियाँ भी करती पायी गई हैं जिसका कारण उचित आयु में विवाह न करना है।

इस प्रकार हमने देखा कि उच्च स्त्री-शिक्षा से जहाँ अनेक सामाजिक-समस्याओं का हल होता है, वहाँ इससे अनेक नवीन सामाजिक-समस्याएँ उठ भी खड़ी होती हैं। हर हालत में स्त्रियों को शिक्षा देना समाज के लिए लाभकर ही है, आज के युग में इसे रोका भी नहीं जा सकता। स्त्री-शिक्षा से जो नवीन वैवाहिक-समस्याएँ उठ रही हैं, उन्हें समाज जैसे अन्य समस्याओं को हल करता रहा है वैसे इन समस्याओं को भी हल कर ही लेगा।

९. हिन्दू तथा मुस्लिम समाज में स्त्री की तुलनात्मक-स्थिति

(क) हिन्दू-स्त्री की स्थिति—हिन्दू-स्त्री के विषय में हम पहले लिख आये हैं कि वैदिक-काल में उसकी स्थिति आजकल की उसकी स्थिति से ऊँची थी। वैदिक-काल में वह पुरुष के बराबर समझी जाती थी, उसे 'अर्धाङ्गिनी' कहा जाता था। सम्पत्ति में स्त्री पुरुष के समान अधिकारिणी थी—इसी लिए 'दम्पती'-शब्द का अर्थ गृह का स्वामी है, और गृह के स्वामी के साथ-साथ इस शब्द का अर्थ पति तथा पत्नी ये दोनों है। उस समय पर्दे की प्रथा नहीं थी, 'इमां समेत पश्यत' का उस समय बोलबाला था, उसे उच्च-शिक्षा दी जाती थी, वह वेद-मंत्रों का अर्थ करने के कारण 'ऋषिका' कहलाती थी। बाल-विवाह आदि की कुप्रथाएँ भी वैदिक-काल में नहीं थीं। वैदिक-काल के बाद मध्य-युग आया जिसमें स्त्री की स्थिति गिर गई। उस काल में स्त्री के प्रति दृष्टि-कोण ही बदल गया। बाल-विवाह, शिक्षा का अभाव, पर्दा आदि सब कुप्रथाओं ने इस काल में स्त्री को अत्यन्त नीचे गिरा दिया। १९वीं तथा २०वीं शताब्दी में स्त्री की इस स्थिति के विरुद्ध प्रतिक्रिया हुई और वर्त्तमान-काल में स्त्री से सम्बन्ध रखने वाले अनेक कानून बने। इन कानूनों के अनुसार बाल-विवाह को निषिद्ध कर दिया गया, विधवा-विवाह की आज्ञा दे दी गई, भिन्न-भिन्न परिस्थितियों में तलाक की सुविधा दी गई, बहु-विवाह को रोक दिया गया, सम्पत्ति में उसे अधिकार दे दिया गया। पर्दा इस काल में अपने-आप समाप्त हो गया। इस समय हिन्दू-स्त्री की यह स्थिति है।

(ख) मुस्लिम-स्त्री की स्थिति—मुसलमानों में स्त्री के लिए पर्दे का होना आवश्यक है। यह समझा जाता है कि स्त्री के सतीत्व की रक्षा के लिए पर्दा सहायक है। पर्दे के कारण स्त्री के लिए शिक्षा प्राप्त करना भी कठिन है। इस्लाम में तलाक का अधिकार दिया गया है। स्त्री को तलाक बिना किसी कारण के, पुरुष की सनक पर ही दिया जा सकता है। तीन बार तलाक-तलाक कह देना तलाक देने के लिए पर्याप्त है। स्त्री ने अगर तलाक देना हो तो उसके लिए काजी के पास प्रार्थना-पत्र लेकर जाना जरूरी है। इस्लाम में स्त्री का दर्जा पुरुष से हीन माना गया है। इसका कारण यह बतलाया जाता है कि क्योंकि शादी के समय पति 'महर' देकर स्त्री को प्राप्त करता है इसलिए स्त्री पुरुष से नीची है। पति को

आज्ञा न मानने पर स्त्री को पीटने आदि का अधिकार है। इस्लाम में बहु-विवाह की इजाज़त है। पुरुष चार स्त्रियों तक शादी कर सकता है, परन्तु कहा गया है कि अगर तुम समझो कि तुम सब के साथ समान बर्त्ताव नहीं कर सकोगे, तो एक ही स्त्री से शादी करो। इस्लाम में स्त्री को सम्पत्ति का अधिकार दिया गया है।

(ग) हिन्दू तथा मुस्लिम स्त्री की स्थिति की तुलना—ऊपर हमने जो-कुछ लिखा उससे स्पष्ट है कि (i) हिन्दुओं में पर्दे की प्रथा धार्मिक-प्रथा नहीं है। वैदिक-काल में तो यह प्रथा थी ही नहीं। पीछे के काल में यह प्रथा हिन्दू-समाज में आयी और इसके आने का कारण भी हिन्दुओं का मुसलमानों के साथ सम्पर्क था। यही कारण है कि अब परिस्थितियाँ बदल जाने पर यह प्रथा लुप्त होती जा रही है। मुसलमानों में तो यह धार्मिक-प्रथा है। टर्की में जब राजनैतिक क्रान्ति हुई तब मुस्लिम-महिलाओं ने पर्दे को उतार फेंका। इससे सारे इस्लाम-जगत् में हाहाकार मच गया। अकबर इलाहाबादी मुसलमान कवि हुए हैं। उन पर इस्लाम के कारण पर्दे का रंग चढ़ा हुआ था। उन्होंने लिखा—'हसरत बहुत तरक्किए-दुख्तर की थी उन्हें, पर्दा जो उठ गया तो वो आख़िर निकल गई'—पर्दे के विषय में यह ख़्याल कि पर्दा हटा तो लड़की घर से ही निकल जाती है—यह एक इस्लामी विचार है। इस दृष्टि से हिन्दू-महिला की स्थिति अपनी मुस्लिम-बहन से बहुत ऊँची है। (ii) जब तक १९५५ का 'हिन्दू-विवाह-अधिनियम' नहीं पास हुआ था तब तक हिन्दू-पति जितने विवाह चाहता कर सकता था, उस पर किसी प्रकार की रोक-टोक नहीं थी, परन्तु मुसलमान चार से ज्यादा स्त्रियों से विवाह नहीं कर सकता था। इस दृष्टि से १९५५ से पहले हिन्दू-स्त्री की अपेक्षा मुसलमान-स्त्री की स्थिति अच्छी थी, परन्तु १९५५ के बाद से जब से 'हिन्दू-विवाह-अधिनियम' स्वीकृत हुआ है, हिन्दू स्त्री की स्थिति अपनी मुसलमान बहन से अच्छी हो गई है। अब हिन्दू तो सिर्फ़ एक विवाह कर सकता है, मुसलमानों के लिए अब भी चार स्त्रियों से विवाह करने की छूट है। (iii) जहाँ तक तलाक का सम्बन्ध है, १९५५ के 'हिन्दू-विवाह-अधिनियम' से पहले हिन्दू-स्त्री तलाक नहीं दे सकती थी, मुस्लिम स्त्री को तलाक का पति के अपव्ययी, व्यभिचारी, घर का ख़र्च न चला सकने या सच्चा मुसलमान न होने पर काजी द्वारा अधिकार मिल जाता था। परन्तु १९५५ के कानून के पास होने के बाद ख़ास-ख़ास परिस्थितियों में हिन्दू-स्त्री को तलाक का अधिकार मिल गया है। इस अधिकार के मिलने पर हिन्दू-स्त्री की स्थिति मुसलमान-स्त्री से निस्सन्देह ऊँची हो गई है, ख़ास कर तब जब कि हम देखते हैं कि मुसलमान-पति अब भी अपनी पसन्द से जब चाहे अपनी पत्नी को तलाक दे सकता है। (iv) जहाँ तक सम्पत्ति में स्त्री के अधिकार का सम्बन्ध है, १९५६ के 'हिन्दू-उत्तराधिकार-अधिनियम' से पहले हिन्दू-स्त्री को सम्पत्ति पाने के अधिकार नहीं के बराबर थे, थे तो बहुत कम थे, परन्तु मुस्लिम-समाज में लड़की को लड़के से आधा हिस्सा मिलता था, विधवा को बच्चे न होने पर पति की सम्पत्ति का चौथा भाग मिलता था, बच्चे होने पर आठवाँ भाग मिलता था।

१९५६ के अधिनियम के स्वीकृत होजा ने के बाद हिन्दू-स्त्री के सम्पत्ति-सम्बन्धी अधिकारों को स्वीकृत कर लिया गया है, और इस क्षेत्र में भी हिन्दू-स्त्री की स्थिति अपनी मुस्लिम-बहिन से ऊँची उठ गई है।

१०. भविष्य

स्वतंत्रता की भावनाएँ किसी भी जाति के लिए उसकी अमूल्य निधि हैं। स्वतंत्र वायुमंडल में साँस लिए बग़ैर कोई जाति पनप नहीं सकती। सच्ची स्वतन्त्रता से ही समाज के अन्दर व्यवस्था, सुख तथा शान्ति की स्थापना हो सकती है। कई लोगों का कहना है कि आजकल की स्वतंत्रता की मनोवृत्ति अनुचित प्रतिक्रिया की भावना का परिणाम है। यदि वास्तव में यह ठीक है, तो भी यह स्वाभाविक है, और इस कारण स्त्री-जगत् की स्वतंत्र होने की भावनाएँ दूषित नहीं कही जा सकतीं। स्वतन्त्रता अपने-आप में कोई दोष नहीं है, किन्तु यदि यह स्वतंत्रता की लहर पश्चिमी ढंग पर ही बहती रही, तो अवश्य यह भारतीय-संस्कृति के लिए घातक सिद्ध हो सकती है। स्वतंत्रता के पूर्वीय और पश्चिमी आदर्शों में बहुत भेद है। पश्चिम में स्वतंत्रता अमर्यादित, अनियंत्रित तथा ऊँचे आदर्शों से रहित है। वहाँ की स्वतन्त्रता एक आँधी के समान है, जिसमें स्त्रियों के स्वाभाविक गुण—धर्म, लज्जा, विनय, आत्मत्याग—बहे जा रहे हैं। वहाँ जो स्त्री स्वेच्छा से आज अपना पति चुनती है, वह कल उसे तलाक़ देने की सोच सकती है। आत्मिक-सौन्दर्य को ठुकरा कर शारीरिक-सौन्दर्य का प्रदर्शन ही उनके जीवन का एकमात्र लक्ष्य है। यह स्वतंत्रता नहीं, उच्छृंखलता है। भारत में भी उच्च-शिक्षित स्त्री-समाज की एक अच्छी संख्या इसी ढंग की स्वतंत्रता की अनुगामिनी बन रही है। वे पश्चिम के आदर्शों पर अंध-विश्वास रख कर उनका अनुसरण कर रही हैं। इसी अनुकरण-प्रियता के जोश में अनेक बहनों ने पश्चिमी ढंग की ही वेश-भूषा शुरू कर दी है। पश्चिमी ढंग पर उन्होंने अपनी स्वतंत्रता को विलासप्रियता के बढ़ाने में लगाया है। जो स्वतंत्रता मर्यादा के भीतर रहने की अपेक्षा अमर्यादित होना सिखाती है, जो स्वतंत्रता आत्मोन्नति से विमुख करके विलास-प्रियता सिखाती है, जो स्वतंत्रता अपनी संस्कृति तथा अपने आदर्शों को ठुकरा कर दूसरों का अंधे होकर अनुकरण करना सिखाती है, वह वास्तविक स्वतंत्रता नहीं, स्वतंत्रता की छाया है, स्पष्ट शब्दों में उच्छृंखलता है। ऐसी स्वतंत्रता भारतीय उच्च आदर्शों के विपरीत है।

युरोप में समाज का संगठन ऐसा है कि वहाँ कुमारी लड़की को पिता, भाई तथा अन्य सम्बन्धियों के होते हुए भी अपनी आजीविका की चिन्ता शुरू कर देनी पड़ती है। इस कारण वहाँ की उच्च-शिक्षा का उद्देश्य अधिकतर धनोपार्जन हो गया है। इस उद्देश्य को सामने रख कर स्त्रियाँ आजीविका के क्षेत्र में भी पुरुषों के मुक़ाबिले में घुस पड़ी हैं। जिस समाज में स्त्री और पुरुष प्रतिस्पर्धी के रूप में हों, वहाँ उन दोनों के आदर्शों का एकीकरण कैसे हो सकता है? इसी कारण

वहाँ के कुटम्ब तथा समाज में शांति और सुख दोनों का अभाव है। पुरुष और स्त्री की स्पर्धा ने दोनों में ही स्वार्थ को उग्र रूप में प्रगट कर दिया है। न पत्नी पति के लिए स्वार्थ-त्याग कर सकती है, न पति पत्नी के लिए। माता तथा पुत्र तक में स्वार्थ की दीवार उठ खड़ी हुई है। यह माना कि युरोप की स्त्रियाँ आर्थिक दृष्टि से स्वतंत्र हैं, किन्तु आर्थिक स्वतंत्रता पाकर जीवन को सरस बनाने वाले आत्म-समर्पण के भाव को खो देना गृहस्थ को कहाँ तक सुखी बना सकता है? स्त्री की सामाजिक-स्वतंत्रता ने भी वहाँ ऐसा रास्ता पकड़ लिया है, जिससे पारिवारिक सुख और शान्ति दूर होती जा रही है। स्त्री की स्वतंत्रता ने युरोप के समाज में मृदुता के स्थान में कटुता, शांति के स्थान में अव्यवस्था फैला दी है। वहाँ के समाज में शांति तथा व्यवस्था की किस प्रकार स्थापना की जाय---युरोप के विचारकों के सामने यह एक प्रश्न है, जिसे हल करने में वे अपनी सम्पूर्ण शक्तियाँ खर्च कर रहे हैं। वहाँ की सामाजिक अवस्थाओं के विरुद्ध युरोप में प्रतिक्रिया का प्रादुर्भाव हो चला है। ऐसी अवस्था में क्या भारत का शिक्षित स्त्री-समाज पाश्चात्य बहनों के जीवन का अनुकरण ही करेगा, या जीवन-संग्राम में किसी नवीन मार्ग का निर्माण करेगा?

अभी तक तो यही दिखलाई पड़ रहा है कि भारत में स्त्री-शिक्षा पश्चिमीय आदर्शों की तरफ़ ही जायगी, और कोरे आर्थिक दृष्टिकोण से जीवन में जो निस्सारता तथा कर्कशता आ सकती है, वह यहाँ के जीवन में भी आएगी। सम्भवतः स्त्री के शिक्षित होकर आर्थिक दृष्टि से स्वतंत्र हो जाने पर उसका जीवन वर्त्तमान जीवन से तो बेहतर हो जायगा, परन्तु उस जीवन में भी स्त्री को सुख तथा शांति प्राप्त नहीं होगी। स्त्री के आर्थिक दृष्टि से स्वतंत्र होने के साथ-साथ उसका दृष्टिकोण स्वार्थमय न हो जाय, वह जीवन के गहरे तथा असली रूप को न भूल जाय, वह आत्म-समर्पण की उच्च भावनाओं के अयोग्य न हो जाय, इसका हमें भरसक प्रयत्न करना होगा। हम लोग इस बात को तो अनुभव करने लगे हैं कि स्त्री-जाति की मुसीबतों का एकमात्र कारण उसका आर्थिक दृष्टि से परतंत्र होना है, परन्तु शायद हम इसके साथ-साथ इस बात को अभी नहीं अनुभव कर रहे हैं कि स्त्री के प्रतिस्पर्धा के क्षेत्र में घुस पड़ने से उसके दृष्टिकोण के इतना अधिक स्वार्थमय हो जाने की सम्भावना है कि वह उन चीज़ों को भी आर्थिक दृष्टि से ही देखने लगेगी, जिन्हें अब तक वह केवल स्त्री की दृष्टि से ही देखती रही है। स्त्री स्वार्थ-त्याग, आत्म-समर्पण तथा प्रेम की प्रतिमा है। इन भावों के सम्मुख आर्थिक स्वतंत्रता एक बहुत तुच्छ वस्तु है। अगर आर्थिक स्वतंत्रता पाकर जीवन की इन निधियों को खो दिया, तो कुछ नहीं पाया। इन आदर्शों को जीवन में पाकर जो सुख तथा शांति मिल सकती है, वह संसार की कशमकश में पड़कर और बहुत-सा रुपया कमा कर नहीं मिल सकती। स्त्री-जाति का दृष्टिकोण वर्त्तमान सभ्यता के प्रभाव से बदलता जा रहा है। प्रकृतिवाद के जाल में फँस कर रुपए-पैसे को ही सब-कुछ समझा जा रहा है। यह पुरुषों की बीमारी स्त्रियों में भी फैलती जा रही है। स्त्री-

जाति को इससे बचाने की आवश्यकता है। जीवन के हर-एक पहलू को आर्थिक दृष्टि से देखने के बजाय प्रेम, त्याग, सेवा, निःस्वार्थ-भाव तथा आत्मोत्सर्ग की दृष्टि से जितना स्त्री-जाति देख सकती है, उतना पुरुष-जाति नहीं। स्त्री की इस विशेषता को खो देना एक अपूर्व सम्पत्ति को लुटा देना है। स्त्री को आर्थिक दृष्टि से स्वतंत्र कर देना बहुत अच्छा है, परन्तु स्त्री-जाति का भविष्य उसके आजीविका की दृष्टि से स्वतंत्र हो जाने में ही नहीं है, उसका भविष्य आर्थिक स्वतंत्रता प्राप्त करने के बाद भी स्त्री-जाति के उन स्वाभाविक उच्च आदर्शों को बनाए रखने में है, जो आदर्श जीवन को जीवन का रूप दे सकते हैं, और जिन आदर्शों को क्रियात्मक रूप देने में स्त्री-जाति स्वाभाविक तौर पर अत्यधिक योग्य है।

३२

भारतीय-नारी तथा समाज-कल्याण

(INDIAN WOMAN AND SOCIAL WELFARE)

अनुसूचित-जातियों तथा अनुसूचित आदिम जन-जातियों के प्रकरण में हम सरकार द्वारा की गई समाज-कल्याण-योजनाओं पर प्रकाश डाल आये हैं। अपने देश का ध्येय क्योंकि 'कल्याण-राज्य' (Welfare State) की स्थापना करना है, इसलिए हर पीड़ित तथा दलित वर्ग के कल्याण को सम्मुख रख कर कोई-न-कोई कार्य-क्रम चलाया जा रहा है। उन वर्गों की तरह जिन्हें अब तक मानवता के अधिकारों से वंचित रखा गया, भारत का नारी-समुदाय भी अधिकार-शून्य वर्ग रहा है। इस तरफ़ भी भारत-सरकार का ध्यान शुरू से गया है।

जिस प्रकार अनुसूचित-जातियों तथा आदिम-जातियों की समाज-कल्याण-सम्बन्धी समस्याओं की तरफ़ विशेष ध्यान देने के लिए इन वर्गों के आयुक्त (कमिश्नर) की नियुक्ति की गई है, उसी प्रकार स्त्रियों, बच्चों तथा अपंगों की समाज-कल्याण-सम्बन्धी समस्याओं की तरफ़ विशेष ध्यान देने के लिए 'केन्द्रीय-समाज-कल्याण-पटल' (Central Social Welfare Board) की नियुक्ति की गई है। इसका काम स्त्रियों की समस्याओं, बच्चों की समस्याओं तथा अपंग व्यक्तियों—लूले, लंगड़े, अन्धे आदि—की समस्याओं की तरफ़ ध्यान देना है। क्योंकि हम इस अध्याय में नारी-समाज की कल्याण-योजनाओं पर लिख रहे हैं, इसलिए हम उन्हीं के सम्बन्ध में विशेष रूप से इस पटल की योजनाओं पर प्रकाश डालेंगे, वैसे इसका काम स्त्रियों, बच्चों, अपंगों—तीनों की समाज-कल्याण-सम्बन्धी योजनाओं को चलाना है।

१. प्रशासकीय-व्यवस्था—'केन्द्रीय-समाज-कल्याण-पटल'

(क) वर्तमान-व्यवस्था—'योजना-आयोग' (प्लैनिंग कमीशन) ने अपनी प्रथम पंच-वर्षीय-योजना की रिपोर्ट में सिफ़ारिश की थी कि स्त्रियों, बच्चों, अपंगों की समस्याओं की तरफ़ विशेष रूप से ध्यान देने के लिए एक विशेष बोर्ड बनना चाहिए। इस सिफ़ारिश के अनुसार १५ अगस्त १९५३ में एक 'केन्द्रीय-समाज-कल्याण-पटल' बना दिया गया जिसकी अध्यक्षा श्रीमती दुर्गाबाई देशमुख नियुक्त की गईं। इस बोर्ड का निर्माण दो दृष्टियों से महत्त्वपूर्ण था। अबतक देश के नेताओं का ध्यान स्वतंत्रता प्राप्ति पर ही लगा रहा था, अब पहली बार इस बात की तरफ़ ध्यान गया कि स्वतंत्रता प्राप्त करना ही पर्याप्त नहीं है, पिछड़े

वर्गों को उन्नत किये बिना हम स्वतंत्रता का यथार्थ लाभ नहीं प्राप्त कर सकते। इस बोर्ड के बनने में दूसरी महत्त्वपूर्ण बात यह थी कि अब पहली बार इस बात को भी अनुभव किया गया कि राज्य के हस्त-क्षेप के बिना उस वर्ग का उद्धार नहीं हो सकता जो सदियों से अब तक मानवता के भी अधिकारों से वंचित रहा है।

यह बोर्ड शिक्षा-मंत्रालय की साधारण देख-रेख में स्वायत्त-संस्था के तौर पर काम कर रहा है और इसके निर्माण में अधिक संख्या स्त्रियों की ही है। क्योंकि बोर्ड को शिक्षा, स्वास्थ्य, धन-विनियोग, सामुदायिक-विकास तथा प्लैनिंग को ध्यान में रखना होता है, इसलिए इन मंत्रालयों के एक-एक व्यक्ति—कुल पांच—बोर्ड में सदस्य के रूप में बैठते हैं। इसमें एक महिला-सदस्या लोक-सभा तथा एक राज्य-सभा से ली जाती है, पांच महिला-सदस्याएँ तथा एक महिला सरकार द्वारा मनोनीत की जाती है। इस प्रकार इसकी सदस्य-संख्या १३ है।

'केन्द्रीय-समाज-कल्याण-पटल' के अतिरिक्त १९५४ में राज्यों में 'समाज-कल्याण-सलाहकार-पटलों (Social Welfare Advisory Boards) का निर्माण कर दिया गया। इनमें भी अधिक संख्या स्त्रियों की ही रहती है क्योंकि इनका भी काम मुख्यतया स्त्रियों, बच्चों तथा अपंगों की समस्याओं का समाधान करना है। 'केन्द्रीय-समाज-कल्याण-पटल' का काम स्त्रियों, बच्चों, अपंगों की अब तक चल रही योजनाओं को आर्थिक-सहयोग देना, उन्हें सुदृढ़ बनाना, उनकी देख-रेख करना तथा इस प्रकार की नवीन योजनाओं को चलाना है। पहले तो 'केन्द्रीय-बोर्ड' इन योजनाओं को सीधे आर्थिक-सहायता दे देता था, परन्तु अब यह व्यवस्था की गई है कि राज्य-सरकारों के 'समाज-कल्याण-सलाहकार-पटल' अपने-अपने प्रान्तों की संस्थाओं का निरीक्षण करके उनकी आवश्यकताओं पर सिफ़ारिशें करें और उन सिफ़ारिशों के आधार पर 'केन्द्रीय-पटल' आर्थिक सहायता दे।

राज्यों के 'समाज-कल्याण-सलाहकार-पटलों' के आधे सदस्य केन्द्रीय-पटल की अध्यक्षा मनोनीत करती हैं, बाकी आधे राज्यों के मुख्य मंत्री मनोनीत करते हैं। इनकी अध्यक्षा सदस्यगण स्वयं नियुक्त करते हैं। अब राज्यों के बोर्डों के निर्माण के सम्बन्ध में यह प्रस्ताव हैं कि केन्द्रीय-पटल की अध्यक्षा राज्य-सरकार के परामर्श से ५ सदस्य मनोनीत करे, ३ सदस्य विधान-सभाओं की तरफ़ से निर्वाचित हों, ३ सदस्य राज्य की समाज-कल्याण का कार्य कर रही सरकारी मान्यता प्राप्त संस्थाओं में से सरकार चुने, ३ सदस्य प्लैनिंग इम्प्लिमेंटिंग कमेटियों के अध्यक्षों में से नामजद किये जायें, बाकी सदस्य राज्य-सरकार के समाज-कल्याण विभागों में से लिये जायें। इन बोर्डों को 'राज्य-समाज-कल्याण-सलाहकार-पटल' (State Social Welfare Advisory Boards) कहने के स्थान में 'राज्य-समाज-कल्याण-पटल' (State Social Welfare Board) कहा जाय, इन का काम सिर्फ़ सलाह देना ही न रहे, ये स्वयं अपने अधिकार से अपने-अपने राज्यों में स्त्रियों, बच्चों तथा अपंगों की समस्याओं को हल करने का काम कर सकें।

(ख) प्रस्तावित-व्यवस्था—जैसा हमने कहा, अभी तक तो समाज-कल्याण का कार्य 'शिक्षा-मंत्रालय' के आधीन चल रहा है, परन्तु काम इतना बड़ा है और इतना बढ़ता जा रहा है कि समाज-कल्याण के लिए एक पृथक् मंत्रालय की माँग उठ रही है। स्त्रियों की संख्या भारत की कुल जन-संख्या की लगभग आधी है, बच्चे भी कम नहीं हैं। यह सब देख कर अगर इनकी समस्याओं को हल करने के लिए एक पृथक् मंत्रालय बना दिया जाय तो इन समस्याओं पर और अधिक ध्यान दिया जा सकता है।

२. गाँवों में समाज-कल्याण विस्तार-योजनाएँ (Rural Welfare Extension Projects)

भारत की अधिकांश जनता गाँवों में रहती है। पुरुषों की गाँवों में अधिक संख्या है, तो स्त्रियों तथा बच्चों की संख्या भी गाँवों में वैसी ही अधिक है। इस सब को ध्यान में रख कर २ अक्तूबर १९५४ में 'केन्द्रीय-समाज-कल्याण-पटल' ने गाँव की स्त्रियों तथा बच्चों में कार्य करने के लिए 'समाज-कल्याण विस्तार-योजनाएँ' (Welfare Extension Projects) जारी करने का आयोजन प्रारंभ किया। वैसे यह कार्य सामुदायिक-विकास-योजनाओं द्वारा भी हो रहा था, परन्तु केन्द्रीय-पटल ने यह काम स्वतंत्र रूप से वहाँ जारी किया जहाँ सामुदायिक-विकास-योजनाएँ नहीं चल रही थीं।

(क) केन्द्रीय-पटल का स्वतंत्र रूप से स्त्रियों के लिये गाँवों में विकास-कार्य—इस आयोजन का क्या अभिप्राय था? गाँव की स्त्रियाँ अधिकतर अशिक्षित होती हैं। वे गंदे झोंपड़ों में रहती हैं जिनमें दिन-रात धुंआ भरा रहता है। उनका अधिकांश समय घुटे वातावरण में बीतता है। अगर उन्हें अवसर दिया जाय तो वे अपने समय को थोड़ा-बहुत पढ़ने-लिखने में, शुद्ध हवा में बिता सकती हैं। उनके लिए अगर सुविधाएँ पैदा की जायें तो सन्तान उत्पन्न करने में उन्हें जो प्रसव-पीड़ा होती है, उससे वे बच सकती हैं, प्रसव के बाद उनकी देख-रेख की जाय तो उनका स्वास्थ्य संभल सकता है, यह सब-कुछ न करने से गाँवों में प्रसूता स्त्रियों की मृत्यु-संख्या भी बहुत अधिक है। इस सब को ध्यान में रख कर केन्द्रीय-पटल ने जो योजना गाँवों में चलाने का उपक्रम किया उसका स्थूल रूप यह था कि २० से २५ गाँवों को जिनकी जन-संख्या २५ हजार के लगभग हो, 'योजना' (Project) का आधार बनाया जाय। इस 'योजना' (Project) के अन्तर्गत पाँच-पाँच गाँवों को मिला कर उनमें एक-एक 'केन्द्र' (Centre) खोला जाय और इसे 'योजना-केन्द्र' (Project Centre) का नाम दिया जाय। इस 'योजना-केन्द्र' में एक 'ग्राम-सेविका', एक 'दाई' तथा एक 'हस्त-कला-शिक्षिका' रखी जाय। ग्राम-सेविका का काम अपने को गाँव की स्त्रियों के सम्पर्क में रखना होगा, उनकी समय-समय पर उपस्थित होने वाली समस्याओं को हल करना होगा; दाई का काम स्त्रियों को प्रसव के समय सहायता देना होगा; हस्त-कला शिक्षिका का काम गाँव में आवश्यकतानुसार हस्त-कला के केन्द्र खोलना होगा जिससे जरूरतमन्द

स्त्रियां अर्थोपार्जन का कोई कार्य सीख सकें। इस प्रकार २५ गाँवों की एक 'योजना' में अगर ५ केन्द्र हों, तो ५ ग्राम-सेविकाओं, ५ दाइयों तथा ५ हस्त-कला-शिक्षिकाओं की आवश्यकता होगी। यह हिसाब लगाया गया है कि एक-एक योजना चलाने के लिए २५,००० रुपए वार्षिक का व्यय होगा। इस व्यय की क्या व्यवस्था की गई है? इन योजनाओं को चलाने के लिए हर 'योजना-क्षेत्र' में एक 'योजना-संचालिका-समिति' (Project Implementing Committee) का निर्माण किया गया है। यह समिति योजना की देख-रेख करती है और इस योजना को चलाने के लिए धन का प्रबन्ध भी करती है। २५,००० में से आधा रुपया तो केन्द्रीय-पटल देता है, बाकी आधे का प्रबन्ध राज्य-सरकार से, स्थानीय-निकायों से तथा जनता से करना होता है। केन्द्रीय-पटल की तरफ़ से 'योजना-संचालिका-समिति' को एक जीप दी जाती है जिससे समिति योजना के अन्तर्गत सभी केन्द्रों के साथ सम्पर्क बनाये रखती है।

केन्द्रीय-समाज-कल्याण-पटल का लक्ष्य यह था कि प्रथम-योजना काल में भारत के कुल ३३० जिलों में से हर जिले में कम-से-कम एक योजना अवश्य चलायी जाय। जिन जिलों में योजना अच्छी चल रही हो उन्हें एक और योजना चालू करने की सुविधा दी जाय। इस प्रकार प्रथम पंच-वर्षीय-योजना के अन्त में कम-से-कम ३५२ योजनाएँ चल रही हों। इस कार्य-क्रम में पटल को सफलता नहीं मिली। अब द्वितीय-पंच-वर्षीय योजना-काल में पटल का लक्ष्य यह है कि हर जिले में एक योजना तो चालू होनी ही चाहिए, उस एक के अलावा तीन योजनाएँ और भी चालू हो जानी चाहिएँ। इस प्रकार द्वितीय-योजना के अन्त में भारत के हर जिले में चार समाज-कल्याण-योजनाएँ चलनी चाहिएँ जिनका काम गाँवों की स्त्रियों की, बच्चों की, अपंगों की समस्याओं को हल करना हो। यह काम बहुत बड़ा है, इसके लिए ग्राम-सेविकाओं, दाइयों तथा हस्त-कला-शिक्षिकाओं की भारी संख्या में आवश्यकता है, इसलिए केन्द्रीय-पटल ने लगातार कुछ वर्षों में ८,००० ग्राम-सेविकाएँ, १,६०० मिड-वाइफ़ तथा ६,००० दाइयाँ प्रशिक्षित करने का आयोजन प्रारम्भ किया है क्योंकि इनके बिना योजना चल ही नहीं सकती।

(ख) केन्द्रीय समाज-कल्याण-पटल का सामुदायिक-विकास-योजनाओं के सहयोग से स्त्रियों के लिये गाँवों में विकास-कार्य—अब तक तो 'केन्द्रीय-समाज-कल्याण-पटल' की तरफ़ से उन गाँवों में समाज-कल्याण-विस्तार-योजनाएँ (Welfare Extension Projects) चलाई जा रही थीं, जिनमें सामुदायिक-विकास योजनाएँ नहीं चल रही थीं, किन्तु क्योंकि द्वितीय पंच-वर्षीय-योजना-काल के अन्त तक देश का सम्पूर्ण भाग सामुदायिक-विकास के अन्तर्गत आ जायगा, इसलिए केन्द्रीय-पटल अपनी योजनाओं को सामुदायिक-विकास की योजनाओं से अलग नहीं रख सकेगा। ऐसी हालत में अब १ अप्रेल १९५७ से 'केन्द्रीय-पटल' तथा 'सामुदायिक-विकास-क्षेत्र' की योजनाओं को मिला दिया गया है, और सामुदायिक-विकास-क्षेत्र में स्त्रियों, बच्चों आदि को दृष्टि में रख कर जो

योजनाएँ चलाई जा रही थीं वे 'केन्द्रीय-समाज-कल्याण-पटल' की देख-रेख में चलाई जायेंगी। इससे लाभ यह होगा कि सामुदायिक-विकास-योजनाओं में अन्य अनेक काम चल रहे थे और उनके साथ-साथ स्त्रियों के आर्थिक-स्तर को उन्नत करने के लिए भी उपाय किये जाते थे, परन्तु केन्द्रीय-समाज-कल्याण-पटल की योजनाओं का क्षेत्र अन्य कोई काम नहीं होगा, सिर्फ़ स्त्रियों, बच्चों, अपंगों की समस्याओं का हल करना होगा, और इसमें भी स्त्रियों की सिर्फ़ आर्थिक-समस्या का हल करना न होकर उनकी हर प्रकार की समस्या का हल करना होगा। जैसा हम ऊपर लिख आये हैं, केन्द्रीय-समाज-कल्याण-पटल के कार्य-क्रम के अनुसार हर जिले में कम-से-कम चार योजनाएँ चलाई जायेंगी। इन योजनाओं में ग्राम-सेविकाएँ, दाइयाँ तथा हस्त-कला-शिक्षिकाएँ नियुक्त होंगी। ये गाँवों में बाल-वाड़ी चलायेंगी, स्त्रियों के आमोद-प्रमोद के साधन जुटायेंगी, उनके लिए सांस्कृतिक कार्य-क्रमों का आयोजन करेंगी, उन्हें पढ़ना-लिखना सिखायेंगे, प्रसूति का, स्वास्थ्य-रक्षा का प्रबन्ध करेंगी, दस्तकारी के केन्द्र गाँवों में खोल कर उन्हें अर्थोपार्जन में भी सहायता देंगी।

३. शहरों में परिवार-कल्याण-योजनाएँ
(Urban Family Welfare Projects)

जिस प्रकार गाँवों में स्त्रियों के सामाजिक-कल्याण की योजनाएँ केन्द्रीय-समाज-कल्याण-पटल द्वारा चलाई जा रही हैं, उसी प्रकार इसी पटल द्वारा शहरों में ग़रीब परिवारों की स्त्रियों के लिए कल्याण-योजनाओं का उपक्रम शुरू किया गया। इस योजना के आधीन कुछ चुने हुए क्षेत्रों में 'दस्तकारी सहकारी-समितियाँ' (Industrial Co-operatives) का निर्माण हो रहा है जिनमें स्त्रियों को दस्तकारी की शिक्षा दी जाती है। इस योजना का लक्ष्य यह है कि अपने घरों में रहते हुए स्त्रियाँ १ या १½ रुपया प्रतिदिन कमा सकें।

नवम्बर १९५४ में पहले-पहल उक्त उद्देश्यों को सम्मुख रखते हुए दिल्ली में एक 'फ़ैमिली वेलफ़ेयर को-आपरेटिव इण्डस्ट्रियल सोसायटी लिमिटेड' (Family Welfare Co-operative Industrial Society Ltd.) की रजिस्ट्री हुई। इस सोसायटी के सदस्य बनाये गये और एक दियासलाई बनाने का छोटा कारखाना दिल्ली में खोला गया जिसमें स्त्रियों को दियासलाई बनाने की शिक्षा के साथ-साथ उस कारखाने में उन्हें काम दिया गया जिससे दिल्ली की वेस्ट पटेल नगर, रमेश नगर, मोती नगर आदि की स्त्रियों को काम भी मिल गया। दियासलाई के कारखाने को खोलने का यह लाभ था कि इस सम्बन्ध के अनेक काम स्त्रियाँ अपने घरों में भी आसानी से कर सकती थीं और इससे परिवार की आमदनी बढ़ाने में अपना सहयोग दे सकती थीं। इस कारख़ाने से ५०० स्त्रियों को काम मिल रहा है।

दिल्ली में उक्त 'परिवार-कल्याण-योजना' की सफलता को देख कर पूना, विजयवाड़ा तथा हैदराबाद में भी इसी प्रकार के दियासलाई के कारख़ाने लगाये

गये हैं जिनमें स्त्रियों को अपनी आर्थिक-स्थिति उन्नत करने का अवसर मिलता है। 'केन्द्रीय-समाज-कल्याण-पटल' को इन कार्यों में व्यापार-मंत्रालय की तरफ़ से पर्याप्त सहायता मिलती है। बोर्ड की तरफ़ से जो सहकारी-समितियाँ इन कार्यों के लिए बनती हैं, उन्हें व्यापार-मंत्रालय ऋण के रूप में पुष्कल धन-राशि दे देता है।

अब यह निश्चय किया गया है कि आगे से जो कार्य होंगे उनमें केवल दिया-सलाई के कारखाने ही नहीं खुलेंगे, उनमें इस तरह के वर्कशाने खोले जायेंगे जिनमें स्त्रियों को कपड़े सीने का काम मिले, कसीदा काढ़ने के उद्योग, टोकरियाँ, फ़र्नीचर, नोट-बुक, पेंसिलें, चाय के प्याले, आचार-चटनी, खिलौने आदि बनाने के भी छोटे-छोटे कारखाने खोल दिये जायेंगे जिनमें स्त्रियाँ काम करेंगी और अपनी आमदनी बढ़ाने का प्रयत्न करेंगी।

'केन्द्रीय-समाज-कल्याण-पटल' का 'परिवार-कल्याण-योजना' के सिलसिले में यह विचार है कि द्वितीय पंच-वर्षीय-योजना-काल में प्रत्येक राज्य में कम-से-कम एक योजना उस रूप की हो जानी चाहिए जिसमें स्त्रियाँ ही काम करें, उनकी आमदनी बढ़ सके। इस कार्य में व्यापार-मंत्रालय से उसे पूरी सहायता मिलेगी।

४. कन्याओं तथा महिलाओं की शिक्षा के लिये राष्ट्रीय-कौंसिल (National Council for the Education of Girls and Women)

योजना-आयोग की शिक्षा के सम्बन्ध में जो कमेटी बनी थी उसने जुलाई १९५७ की अपनी पूना की बैठक में यह सिफ़ारिश की कि कन्याओं की प्रारम्भिक, माध्यमिक तथा उच्च शिक्षा के प्रश्न पर पूर्ण रूप से विचार करने के लिए एक कमेटी बननी चाहिए जो स्त्री-शिक्षा की समस्या के हर पहलू को देख-भाल कर सुझाव दे कि किस प्रकार हमारा महिला-समाज सुशिक्षित होकर अपना जीवन सुखी बना सकता है। सितम्बर १९५७ में यह प्रस्ताव राज्य-सरकारों के शिक्षा-मंत्रियों की बैठक में रखा गया और १९ मई १९५८ को शिक्षा-मंत्रालय ने श्रीमती दुर्गाबाई देशमुख की अध्यक्षता में एक कमेटी का निर्माण किया जिसका नाम था 'नेशनल कमिटी आन विमेन्स एज्यूकेशन' (National Committee on Women's Education)। इस कमेटी ने मई १९५८ से जनवरी १९५९ तक भारत भर में भ्रमण करके अपनी रिपोर्ट तैयार की। इस रिपोर्ट में जो सिफ़ारिशें की गई उनमें एक सिफ़ारिश यह थी कि लड़कियों तथा स्त्रियों की शिक्षा पर विशेष ध्यान देने के लिए एक कौंसिल बनायी जाय। इस कौंसिल का नाम हो—'कन्याओं तथा महिलाओं की शिक्षा के लिए राष्ट्रीय कौंसिल' (National Council for the Education of Girls and Women)। उक्त कमेटी की सिफ़ारिशों के अनुसार स्त्रियों की शिक्षा पर एक 'नेशनल-कौंसिल' बना दी गई जिसकी पहली बैठक १० अक्तूबर १९५८ को हुई। कौंसिल में जो कुछ विचार हुआ उसकी मुख्य-मुख्य बातें निम्न हैं :—

(क) लड़के-लड़कियों की शिक्षा में आनुपातिक-भिन्नता—१९५१ की जन-गणना के अनुसार भारत में स्त्री-पुरुषों को मिला कर साक्षरता कुल १६.६ प्रतिशत है। पुरुषों में साक्षरता २४.९ प्रतिशत है, स्त्रियों में ७.९ प्रतिशत है। अपने देश में शिक्षा का अभाव वैसे ही एक समस्या बना हुआ है, परन्तु जो थोड़ी-बहुत शिक्षा प्राप्त कर गये हैं, उनमें पुरुषों तथा स्त्रियों की शिक्षा का पारस्परिक-अनुपात ३ और १ का है। अगर तीन पुरुष शिक्षित हैं, तो उनके मुकाबिले में एक स्त्री शिक्षिता है। इस अनुपात को कम करने तथा पुरुषों एवं स्त्रियों की शिक्षा की इस खाई को पाटने के लिए स्त्री-शिक्षा को प्राथमिकता देकर उस पर अधिक व्यय करना होगा, नहीं तो यह खाई दो पीढ़ियों में भी नहीं पटेगी। इस समय यह खाई दस साल में ५ प्रतिशत के हिसाब से पट रही है। अगर यही रफ़्तार रही तो इसे १५० साल में कठिनता से पाटा जा सकेगा।

(ख) कम शिक्षा वाले क्षेत्रों को अधिक शिक्षा वाले क्षेत्रों की अपेक्षा धन की सहायता ज़्यादा देनी होगी—कौंसिल ने यह भी सुझाव दिया है कि जिन प्रान्तों में स्त्री-शिक्षा की अन्य प्रान्तों से कमी है उन्हें दूसरे प्रान्तों की अपेक्षा अधिक आर्थिक सहायता देनी होगी। उदाहरणार्थ, साक्षर स्त्रियों की संख्या तो अपने देश में १२ प्रतिशत है, परन्तु उत्तर-प्रदेश में यह संख्या कुल ८.४ प्रतिशत, मध्य-प्रदेश में ९.२ प्रतिशत ही है। केरल में यह संख्या ९० प्रतिशत है। इसका अर्थ यह है कि उत्तर-प्रदेश, मध्य-प्रदेश आदि को केरल की अपेक्षा स्त्री-शिक्षा पर व्यय करने के लिए अधिक धन-राशि देनी होगी।

(ग) ग़ैर-सरकारी सभी संस्थाओं को सहायता देने की शर्तों को ढीला करना होगा—सरकार की तरफ़ से सहायता देने के लिए जो शर्तें रखी जाती हैं, वे इतनी कड़ी होती हैं कि स्त्रियों की विरली ही शिक्षा-संस्थाएँ उनसे लाभ उठा सकती हैं। वैसे तो शिक्षा देने का काम सरकार का है, जनता का नहीं। अगर सरकार इस सारे बोझ को उठाने लगे, तो उससे यह नहीं उठ सकता। ऐसी हालत में जो लोग अपने उद्योगों से स्त्री-शिक्षा के क्षेत्र में सरकार का हाथ बँटा रहे हैं उन पर तरह-तरह के प्रतिबन्ध लगाना उचित नहीं है। आधा रुपया तुम ख़र्च करो, आधा हम देंगे—इस प्रकार की शर्तों से भी काम नहीं चल सकता। कौंसिल की अध्यक्षा का कहना है कि स्त्री-संस्थाओं को सरकार की तरफ़ से दिल खोल कर सहायता मिलनी चाहिए।

५. भिन्न-भिन्न श्रम-व्यवसायों में स्त्रियाँ तथा समाज-कल्याण

अपने देश में भिन्न-भिन्न श्रमिक-व्यवसायों में स्त्रियाँ काम करने लगी हैं। इस दृष्टि को सम्मुख रख कर देश में अनेक श्रम-कानून बनाये गये हैं जिनमें स्त्रियों-सम्बन्धी समाज-कल्याण-योजनाओं को प्रचलित किया गया है। १९१९ में विश्व के श्रमियों की समस्याओं को हल करने के लिए 'अन्तर्राष्ट्रीय श्रम-संघ' (International Labour Organisation—I.L.O.) की स्थापना हुई। भारत भी १९१९ से ही इस संघ का सदस्य है। इस संघ ने श्रम-कानून

बनाने की जो सिफ़ारिशें कीं उनमें स्त्रियों के कार्य करने के घंटों को ही नियत करने की तरफ़ निर्देश नहीं किया, उनके स्वास्थ्य, उनकी सुरक्षा आदि को ध्यान में रख कर भी अनेक निर्देश दिये।

(क) कारख़ानों में स्त्रियों की दृष्टि से समाज-कल्याण की योजनाएँ—स्त्रियों की अधिक संख्या कल-कारख़ानों में काम कर रही है। कारख़ानों में काम करने वाले २७,७४,५५७ युवा व्यक्तियों में से ३,४२१,४८ अर्थात् १२.३ प्रतिशत स्त्रियां हैं।[१] मद्रास के कारख़ानों में ८६,८१० स्त्रियां काम कर रही हैं, बम्बई में ८१,५३३ स्त्रियां काम कर रही हैं। बम्बई में केवल कपड़े की मिलों में काम करने वाली स्त्रियों की संख्या इन मिलों में काम करने वाले कुल मज़दूरों की ८१,५३३ संख्या में से ३६,७०६ थी। यह संख्या अब और अधिक हो गई होगी। मज़दूरों पर '१९४८ का फ़ैक्टरी-एक्ट' लगा हुआ है, और इस कानून के अनुसार जहां मज़दूरों के कल्याण के लिए अनेक नियम बनाये गये हैं, वहां स्त्री-मज़दूरों के साथ समाज-कल्याण-सम्बन्धी कुछ विशेष रियायतें की गई हैं। उदाहरणार्थ, स्वास्थ्य के सम्बन्ध में 'फ़ैक्टरी-एक्ट' में यह व्यवस्था की गई है कि हर फ़ैक्टरी में स्त्री-मज़दूरों के लिए पृथक् स्नान तथा टट्टी आदि का प्रबन्ध होना चाहिए। अधिक भार उठाने से स्त्री-मज़दूरों के स्वास्थ्य पर प्रभाव न पड़े, इसलिए यह भी निश्चित किया गया है कि फ़ैक्टरियों तथा खानों में उनसे ज्यादा-से-ज्यादा कितना बोझ उठवाया जा सकता है। ६ वर्ष से कम आयु के बच्चों के लिए शिशु-गृहों की व्यवस्था करने का आदेश है। इन स्त्रियों को 'मातृत्व-लाभ' (Maternity benefits) देने का भी प्रबन्ध किया गया है। बच्चा होने के पहले और पीछे इन्हें कितनी वेतन सहित छुट्टी मिलनी चाहिए, चिकित्सा तथा दूध आदि मुफ़्त देने का प्रबन्ध होना चाहिए—इन सब बातों को दृष्टि में रख कर हर राज्य में 'मातृत्व-लाभ-कानून' (Maternity Benefit Laws) बने हुए हैं। इनका वर्णन हम अभी इसी प्रकरण में करेंगे।

(ख) बाग़ान में स्त्रियों की दृष्टि से समाज-कल्याण की योजनाएँ—असम, बंगाल, मैसूर तथा मद्रास आदि प्रान्तों में स्त्रियां बहुत अधिक संख्या में चाय तथा रबर के बग़ीचों में काम करती हैं। १९४९ में इन बग़ीचों में प्रतिदिन ११,४१,६४७ मज़दूर काम कर रहे थे। इनमें से सब से अधिक मज़दूर १९४९-५० में असम के चाय-बग़ीचों में काम कर रहे थे। इस अर्से में इन चाय तथा रबर के बग़ीचों में काम करने वाली स्त्रियों की संख्या ५,३२,४०६ अर्थात् इन बग़ीचों में काम करने वाले मज़दूरों की संख्या का ४६.६ प्रतिशत थी जिसे लगभग आधा कहा जा सकता है। बाग़ान में काम करने वाली स्त्रियों के लिए विशेष तौर पर समाज-कल्याण-योजनाओं की व्यवस्था की गई है। उदाहरणार्थ, कानूनन बग़ीचों में १२ घंटे काम लिया जा सकता है, परन्तु स्त्रियों के लिए यह कानून है

१. Social Welfare in India: Government of India Publication.

कि उनसे ७-८ घंटे से ज्यादा काम नहीं लिया जा सकता, दोपहर को १ घंटा उन्हें आराम के लिए छुट्टी देनी पड़ती है। साल में सब मजदूरों को सवेतन अवकाश दिया जाता है, परन्तु स्त्रियों को इस अवकाश के अतिरिक्त 'मातृत्व' के कारण भी छुट्टी दी जाती है। स्त्रियों को पुरुषों की अपेक्षा हल्के काम पर लगाया जाता है। बाग़ान के कानूनों के अनुसार जहाँ ५० से अधिक स्त्रियाँ काम कर रही हों, वहाँ शिशु-गृह बनाना लाज़मी है। 'मातृत्व-लाभ' के लिए भी बाग़ान-कानून में व्यवस्था की गई है।

(ग) खानों में स्त्रियों की दृष्टि से समाज-कल्याण की योजनाएँ—खानों में जितने मजदूर काम करते हैं, उनमें लगभग पाँचवाँ हिस्सा स्त्रियों का है। १९५० में खानों में ४,७१,७६१ मजदूर काम कर रहे थे जिनमें से ९६,५०६ अर्थात् २०.५ प्रतिशत स्त्रियाँ थीं। खानों में काम करने वाली स्त्रियों में अधिक संख्या कोयले की खानों में काम करती है। उदाहरणार्थ, खानों में काम करने वाली स्त्रियों में से ५९.५ प्रतिशत कोयले की खानों में काम कर रही हैं। इनके कल्याण के सम्बन्ध में भी योजनाएँ बनी हुई हैं। इन्हें ज़मीन से नीचे काम करने को नहीं दिया जा सकता। स्त्रियों से सप्ताह में ५४ घंटे से अधिक काम नहीं लिया जा सकता। खानों के कानून के अनुसार स्त्रियों से सायंकाल ७ से लेकर प्रातःकाल ६ बजे के बीच काम करवाने पर प्रतिबंध है। ख़तरनाक कामों पर स्त्रियों को लगाना मना है। इनके स्नान आदि की व्यवस्था पृथक्-से करनी होती है, शिशु-गृह बनाने पड़ते हैं, स्त्रियों के लिए प्रसव आदि की व्यवस्था करने के लिए अस्पताल खोलने पड़ते हैं, इनमें प्रसव-शय्या का प्रबन्ध करना पड़ता है, स्त्री-स्वास्थ्य-रक्षिका भी रखनी पड़ती है, प्रसव के समय उनकी पूरी देख-रेख करनी पड़ती है, 'मातृत्व-लाभ-कानून' के अनुसार दाई का प्रबन्ध आदि उनकी सब आवश्यकताएँ पूरी करनी पड़ती हैं।

[मातृत्व-लाभ अधिनियम—Maternity Benefit Acts]

हमने अभी कहा कि भिन्न-भिन्न श्रम-विभागों में जिनमें स्त्रियाँ काम कर रही हैं, उनके कल्याण के लिए 'मातृत्व-लाभ' के कानून बनाये गये हैं। हर राज्य के ये नियम अलग-अलग हैं। सब से पहले १९२९ में बम्बई में यह नियम बना, फिर १९३० में मध्य-प्रदेश में बना। मद्रास में १९३४ में, उत्तर-प्रदेश में १९३८ में, बंगाल में १९३९ में, पंजाब में १९४३ में, आसाम में १९४४ में तथा बिहार में १९४५ में ये कानून बना दिये गये। इन कानूनों की आधारभूत बातें निम्न हैं:

(क) क्षेत्र—बम्बई, मध्य-प्रदेश, आसाम, मैसूर, हैदराबाद में फ़ैक्टरी की परिभाषा में आने वाले कारखानों में काम करने वाली स्त्रियाँ इस कानून के अन्दर आ जाती हैं। बम्बई में किन्हीं निश्चित ज़िलों तथा शहरों पर ही यह कानून लागू है, सब जगह नहीं। आसाम में बाग़ान में काम करने वाली स्त्रियों पर ही यह कानून लागू होता था, परन्तु १९४८ में पश्चिमी-बंगाल के चाय-बाग़ानों पर भी यह कानून लागू कर दिया गया। १९५० में इस कानून में एक संशोधन हुआ

जिसके अनुसार प्रसव के ६ सप्ताह बाद तक प्रसूता-स्त्री को काम से छुट्टी की सुविधा दी गई।

(ख) योग्यता-काल—आसाम में १२ मास में १५० दिन काम करने पर इस कानून का लाभ मिल जाता है। जो स्त्रियाँ काम पर लगने के समय गर्भवती थीं, उन पर १५० दिन की शर्त लागू नहीं होती, उन्हें बिना १५० दिन काम करने पर भी छुट्टी मिल जाती है। बिहार और उत्तर-प्रदेश में ६ मास, मद्रास में २४० दिन और बम्बई, मध्य-प्रदेश, हैदराबाद, मैसूर, ट्रावनकोर में ९ मास तक कार्य करने पर मातृत्व-लाभ के अधिकार मिल जाते हैं।

(ग) मातृत्व-लाभ के दिन—प्रसव के लिए प्रायः सभी प्रान्तों में ८ सप्ताह की छुट्टी मिलती है, ४ सप्ताह प्रसव से पहले, ४ सप्ताह बाद। मद्रास में मातृत्व-लाभ का समय ८ सप्ताह की जगह ७ सप्ताह, पंजाब में ६० दिन, हैदराबाद में तथा पश्चिमी-बंगाल में यह समय १२ सप्ताह है।

(घ) मातृत्व-लाभ की दर—आसाम में १५० दिन काम करने पर ८ सप्ताह छुट्टी तथा ११।। आना प्रतिदिन, बिहार में ६ मास काम करने पर ८ सप्ताह छुट्टी तथा ८ आना प्रतिदिन, बम्बई में ९ मास कार्य करने पर ८ सप्ताह छुट्टी तथा ८ आना प्रतिदिन, मध्य-प्रदेश में ९ मास कार्य करने पर ८ सप्ताह छुट्टी तथा ८ आना प्रतिदिन, मद्रास में २४० दिन कार्य करने पर ७ सप्ताह छुट्टी तथा ८ आना प्रतिदिन, पंजाब में ९ सप्ताह काम करने पर ६० दिन तथा १२ आना प्रतिदिन, उत्तर-प्रदेश में ६ मास काम करने पर ८ सप्ताह छुट्टी तथा ८ आना प्रतिदिन लाभ की दर दी जाती है। अन्य प्रान्तों में भी लगभग ऐसी ही व्यवस्था है।

(ङ) अतिरिक्त-लाभ—मातृत्व-लाभ के अतिरिक्त डाक्टरी-चिकित्सा, शिशु-गृहों की व्यवस्था, बच्चों की देख-भाल के लिए चिकित्सक का प्रबन्ध, गर्भपात की हालत में ३ सप्ताह की छुट्टी आदि अन्य लाभों की भी इन कानूनों में स्त्रियों के लिए व्यवस्था की गई है।

६. परिवार-नियोजन-योजनाएँ
(Family Planning Welfare Schemes)

भारतीय-नारी की समाज-कल्याण-योजनाओं में परिवार-नियोजन का स्थान किसी अन्य कल्याण-योजना से कम नहीं है। स्त्रियों का स्वास्थ्य अधिक बच्चे पैदा करने के कारण दिनोंदिन गिरता जा रहा है। अपने देश में १९५१ में जन-संख्या ३६ करोड़ के लगभग थी। १९२१ से १९५१ के बीच तीस साल में हमारी जन-संख्या ११ करोड़ बढ़ गई। अब जिस रफ़्तार से हमारी वृद्धि हो रही है, उसके अनुसार अन्दाज किया जा रहा है कि १९६१ में यह संख्या ४१ करोड़, १९७१ में ४६ करोड़ और १९८१ में ५२ करोड़ हो जायगी। जन-संख्या के इतना बढ़ जाने से दूसरी जो समस्याएँ उत्पन्न होंगी वे तो होंगी ही, परन्तु इस जन-संख्या को उत्पन्न करने वाली स्त्री का स्वास्थ्य कैसे बच रहेगा? यही सब सोच कर 'योजना-आयोग' ने प्रथम तथा द्वितीय पंच-वर्षीय-योजनाओं में परिवार-

नियोजन पर विशेष बल दिया है। इससे अन्य जो समस्याएँ हल होंगी वे तो होंगी, परन्तु देश की स्त्रियों का स्वास्थ्य सर्वथा नष्ट होने से बच जायगा।

परिवार-नियोजन के कार्य को सम्मुख रख कर स्वास्थ्य-मंत्रालय के आधीन एक 'परिवार-नियोजन-पटल' (Family Planning Board) बनाया गया है। जम्मू तथा काश्मीर को छोड़ कर भिन्न-भिन्न राज्यों में भी अपने-अपने 'परिवार-नियोजन-पटल' बने हुए हैं। आन्ध्र, बम्बई, केरल, मद्रास, मैसूर, पंजाब, राजस्थान तथा उत्तर-प्रदेश में 'परिवार-नियोजन-अधिकारी' (Family Planning Officers) भी नियुक्त हैं। बम्बई में इन अधिकारियों को परिवार-नियोजन की शिक्षा देने के लिए एक केन्द्र भी खोला गया है, मैसूर में रामनगरम में भी इस बात के प्रशिक्षण का एक केन्द्र है। परिवार-नियोजन के क्षेत्रीय-केन्द्र खोलने के लिए सरकार आर्थिक सहायता भी देती है।

प्रथम-योजना-काल में केन्द्र की तरफ़ से शहरों में १२६ तथा गाँवों में २१ परिवार-नियोजन-केन्द्र खोले गये हैं। इसी काल में भिन्न-भिन्न राज्य-सरकारों ने अपनी तरफ़ से २०५ केन्द्र खोले थे। द्वितीय-योजना-काल में शहरों में ५०० तथा गाँवों में २००० केन्द्र खोलने की व्यवस्था की गई है। द्वितीय-योजना-काल में परिवार-नियोजन के भिन्न-भिन्न कार्यों पर केन्द्रीय-सरकार की तरफ़ से ४०० लाख तथा राज्य-सरकारों की तरफ़ से ९७ लाख—इस प्रकार ४९७ लाख रुपया व्यय किया जा रहा है।

परिवार-नियोजन का यह सारा कार्य स्त्रियों के स्वास्थ्य को सम्भालने में तथा देश की बेतहाशा बढ़ रही जन-संख्या को नियन्त्रित करने में सहायक सिद्ध होगा।

७. स्त्रियों का पुनर्वास
(Rehabilitation of Women)

(क) कानून द्वारा अनैतिक-व्यापार रोकना—स्त्री-जाति के साथ मानव ने जो दुर्व्यवहार किया है उसका जीता-जागता नमूना स्त्रियों तथा लड़कियों का अनैतिक-व्यापार है। व्यभिचार के अड्डे मनुष्यता पर कलंक के टीके हैं। नारी-जाति के कल्याण की दिशा में जो भी कदम उठाये जायें उनमें अगर स्त्रियों-सम्बन्धी अनैतिक-व्यापार को न रोका जाय, तो उनका कल्याण अधूरा रह जाता है। इसी बात को दृष्टि में रख कर 'केन्द्रीय-समाज-कल्याण-बोर्ड' (Central Social Welfare Board) ने २४ दिसम्बर १९५४ को एक 'सामाजिक तथा नैतिक स्वास्थ्य-रक्षा सलाहकार समिति' (Social and Moral Hygiene Committee) बनाई। इस कमेटी ने सारे देश में भ्रमण कर के स्त्रियों तथा कन्याओं के अनैतिक-व्यापार को रोकने के लिए कानून बनाने की सिफ़ारिश की। इस कमेटी की सिफ़ारिशों के अनुसार भारत-सरकार ने १९५६ में इस प्रकार के व्यापार को रोकने के लिए कानून बना दिया और १ मई १९५८ से इस कानून को सारे भारत पर लागू कर दिया। इस कानून की मुख्य-मुख्य बातें निम्न हैं:—

[स्त्रियों तथा कन्याओं का अनैतिक-व्यापार-निरोधक-कानून, १९५६]

(i) संपूर्ण देश पर लागू—स्त्रियों तथा कन्याओं के अनैतिक-व्यापार को रोकने के कानून भिन्न-भिन्न प्रान्तों में बने हुए थे, परन्तु सब जगह नहीं थे, और एक-से नहीं थे। यह कानून एकदम सारे देश पर लागू कर दिया गया जिससे कानून के भीतर विविधता न रहे, एकता आ जाय।

(ii) वेश्यालय की परिभाषा—वेश्यालय की परिभाषा में कहा गया है कि कोई भी मकान, कमरा, स्थान या इनका कोई भी हिस्सा जिसे दो या दो से अधिक वेश्याएँ अपने लाभ या किसी दूसरे के लाभ के लिए इस्तेमाल करें या जिसे वेश्यावृत्ति के काम में किसी के लाभ के लिए प्रयोग में लाया जाय 'वेश्यालय' कहलायगा, और 'वेश्यालय' रखने वाले को प्रथम अपराध पर १ से ३ और द्वितीय अपराध पर २ से ५ साल तक का कारावास तथा २ हज़ार रुपए तक का जुर्माना किया जा सकता है।

(iii) वेश्या की परिभाषा—कोई भी स्त्री जो धन या वस्तु के बदले में अवैध यौन-सम्बन्ध के लिए अपने शरीर को अर्पण करती है वह 'वेश्या' है, और अपने शरीर को इस प्रकार यौन-सम्बन्ध के लिए अर्पण करना 'वेश्यावृत्ति' है।

(iv) लड़की की परिभाषा—लड़की की परिभाषा करते हुए कहा गया है कि कोई भी स्त्री जो २१ वर्ष से कम आयु की है, इस कानून में 'लड़की' कहलायगी। इस परिभाषा के अनुसार १ मई १९५८ के बाद वेश्यालयों की तलाशियाँ ली गईं और अनेक लड़कियाँ जो २१ वर्ष से कम आयु की थीं, पकड़ कर 'सुरक्षा-गृहों' (Shelter Homes) में भेज दी गईं।

(v) वेश्यालयों के एग्रीमेन्ट रद्द—इस कानून में यह भी कहा गया है कि इसके बनने से पहले अगर किन्हीं मकानों के एग्रीमेंट वेश्यालयों के लिए हो चुके थे, तो वे एकदम रद्द समझे जायेंगे, और उन एग्रीमेंटों के अनुसार मकान को किराये पर रखने के सम्बन्ध में, कोई कानूनी कार्यवाही न हो सकेगी। इसका परिणाम यह हुआ कि १ मई १९५८ को अनेक शहरों के वेश्यालय एकदम खाली हो गये।

(vi) वेश्या की कमाई पर रहने वाले के लिये दण्ड—इस कानून में यह भी कहा गया कि किसी वेश्या के अपने लड़के या लड़की को छोड़ कर अगर कोई १८ वर्ष से अधिक आयु का व्यक्ति पूर्णतः या अंशतः उसकी आय पर निर्भर करता है, तो उसे २ वर्ष की सजा या १ हज़ार रुपए तक का जुर्माना किया जा सकता है। अगर यह सिद्ध हो जाय कि कोई व्यक्ति निरन्तर किसी वेश्या के साथ रहता है, उस पर नियन्त्रण रखता है, उसकी गति-विधि का इस प्रकार नियमन करता है, जिससे प्रतीत हो कि वह वेश्यावृत्ति में सहायक हो रहा है या उस स्त्री को इस कार्य के लिए बाधित कर रहा है या उस वेश्या के लिए ग्राहकों को जुटाने का कार्य करता है, तो जब तक वह सिद्ध न कर दे कि उसका वेश्यावृत्ति से कोई सरोकार नहीं, यही समझा जायगा कि वह इस घृणित-कार्य में सहायक है और उसे २ वर्ष की सजा और १ हज़ार रुपए तक का जुर्माना किया जा सकेगा।

(vii) वेश्यावृत्ति कराने वाले को दण्ड—इस कानून में यह भी कहा गया है कि अगर कोई व्यक्ति किसी स्त्री या लड़की को उसकी इच्छा या अनिच्छा से वेश्यावृत्ति के लिए लाता या लाने का यत्न करता है, उसे किसी एक स्थान से दूसरे स्थान में वेश्यावृत्ति के लिए जाने को प्रेरित करता है, या ले जाता है, उससे वेश्यावृत्ति करवाता या इसके लिए प्रेरित करता है, उसे प्रथम अपराध पर १ से २ साल की सज़ा और २ हज़ार रुपए तक जुर्माना तथा द्वितीय अपराध पर २ से ५ साल तक कठोर कारावास तथा २ हज़ार रुपए तक जुर्माना हो सकता है।

(viii) अश्लील व्यवहार के लिये दण्ड—इस कानून में यह भी कहा गया है कि जो-कोई व्यक्ति किसी सार्वजनिक स्थान पर या ऐसे स्थान पर जहाँ से सार्वजनिक तौर पर देखा जा सके या किसी मकान के भीतर से या बाहर से या खिड़की में बैठ कर या मकान के किसी हिस्से से शब्दों द्वारा, इंगितों द्वारा या अपने किसी अंग के प्रदर्शन से लोगों का ध्यान अपनी तरफ़ वेश्यावृत्ति के लिए आकर्षित करता है, या सार्वजनिक-स्थान पर वेश्यावृत्ति के लिए इस प्रकार घूमता-फिरता है जिससे अश्लीलता या बेहूदगी प्रकट हो, तो उसे प्रथम अपराध पर ६ मास तक की सज़ा या ५०० रुपए तक जुर्माना या दोनों तथा द्वितीय तथा तदनन्तर अपराधों पर १ साल की सज़ा और ५०० रुपए तक का जुर्माना किया जा सकता है।

(ख) स्त्रियों का पुनर्वास—हमने देखा कि स्त्रियों के अनैतिक-व्यापार को रोकने के लिए किस प्रकार कानूनी-व्यवस्था की गई। परन्तु इतनी व्यवस्था कर देने से ही तो उनकी समस्या का समाधान नहीं हो जाता। जिन लड़कियों को वेश्यालयों से बचाया जाता है या जो स्त्रियाँ वेश्या का कार्य छोड़ कर नैतिक-जीवन व्यतीत करना चाहती हैं, या वेश्यालय समाप्त कर देने से जो स्त्रियाँ अर्थोपार्जन के लिए अपने को असहाय पाती हैं, उनके पुनर्वास की व्यवस्था का प्रश्न भी महान् प्रश्न है। नारी के सामाजिक-कल्याण की योजनाओं में ऐसे सदन खोलना आवश्यक है जिनमें वेश्यालयों से बचाई हुई स्त्रियों तथा कन्याओं को रखा जा सके, उन्हें दस्तकारी के काम सिखा कर अर्थोपार्जन के योग्य बनाया जा सके। इस प्रकार के अनेक सदन भिन्न-भिन्न राज्यों में बन गये हैं और बनते जा रहे हैं:—

(i) मद्रास का 'स्त्री-सदन' तथा 'विजिलेंस होम'—मद्रास में 'स्त्री-सदन' नाम से एक संस्था है जिसमें वेश्यालयों से बचाई हुई १८ वर्ष से कम आयु की कन्याओं को लाकर रखा जाता है, उन्हें दस्तकारी की शिक्षा दी जाती है, उनकी आदतों को सुधारा जाता है, और समाज में गृहस्थी का जीवन बिता सकने योग्य बना दिया जाता है। १९५१ में सदन में ८१ स्त्रियाँ प्रविष्ट हुईं जिनमें से ६८ का या तो विवाह कर दिया गया या वे रसोई बनाने, शिक्षिका के तौर पर काम करने आदि के व्यवसाय करने लगीं। इस संस्था में सीना, बुनना आदि कार्य भी सिखाये जाते हैं। 'स्त्री-सदन' की तरह मद्रास में एक 'विजिलेंस होम' भी है जिसमें ३० साल से कम आयु की ऐसी स्त्रियाँ जो बाज़ारों-गलियों में आवारागर्दी करती हुई, घूमती-फिरती पायी जाती हैं, प्रविष्ट कर ली जाती हैं। १९५१ में इस होम में १०३ स्त्रियाँ

प्रविष्ट की गईं जिनमें से ७२ का विवाह कर दिया गया या किसी अन्य काम पर लगा दिया गया।

(ii) बम्बई का रैस्क्यू-होम, श्रद्धानन्द अनाथ वनिताश्रम आदि—बम्बई में एक तो बौम्बे-प्रेज़ीडेन्सी-विमेन्स-कौंसिल रैस्क्यू-होम है, दूसरा श्रद्धानन्द अनाथ वनिताश्रम है। इन संस्थाओं में कुल स्त्रियों तथा लड़कियों की संख्या ३००० के लगभग है। इन्हें इन संस्थाओं में तब तक आश्रय दिया जाता है जब तक या तो इनके परिवार इन्हें नहीं ले जाते या ये अपने को समाज में नैतिक-जीवन बिताने के लिए तैयार करके विवाह आदि नहीं कर लेतीं।

(iii) दिल्ली का नारी-निकेतन—१९५० में दिल्ली में विमेन्स प्रोटेक्शन लीग स्थापित हुई जिसकी तरफ़ से 'नारी-निकेतन' नाम की संस्था चल रही है। १९५४ तक इसमें ६०७ लड़कियाँ प्रविष्ट हुई थीं और तब तक ३०२ तो अपने माता-पिता या अभिभावकों के सुपुर्द कर दी गई थीं, ४५ का विवाह कर दिया गया था, ६६ शिक्षा प्राप्त कर रही थीं, १२८ को छोड़ दिया गया था और ३३ भाग गई थीं।

इसी प्रकार इन स्त्रियों तथा लड़कियों के पुनर्वास का कार्य अन्य प्रान्तों में भी चल रहा है और प्रयत्न किया जा रहा है जिससे नारी-कल्याण की यह समस्या भी हल हो जाय।

३३

मुस्लिम विवाह तथा तलाक
(MUSLIM MARRIAGE AND DIVORCE)

१. मुसलमानों में विवाह एक ठेका (संविदा) है

हिन्दुओं में विवाह एक 'धार्मिक-संस्कार' (Sacrament) है, मुसलमानों में निकाह दो व्यक्तियों का एक 'ठेका', एक 'समझौता' (संविदा—Contract) है। धार्मिक-संस्कार तथा ठेका—इन दोनों के उद्देश्य अलग-अलग होते हैं। धार्मिक-संस्कार का उद्देश्य लौकिक न होकर पारलौकिक होता है, ठेके या समझौते का उद्देश्य पारलौकिक न होकर लौकिक होता है। इस दृष्टि से जहाँ हिन्दुओं के विवाह का उद्देश्य तर्पण तथा पिंड-दान के लिए पुत्र उत्पन्न करना है, ऐसा पुत्र जो माता-पिता के मरने पर उनका श्राद्ध करके उन्हें स्वर्ग पहुँचा सके, वहाँ मुसलमानों के विवाह का उद्देश्य यौन-सुख प्राप्त करना तथा बच्चे पैदा करना है, इसमें पारलौकिकता की बात कहीं नहीं आती। इसके साथ ही धार्मिक-संस्कार में कोई शर्त नहीं होती, वह तो परमात्मा की तरफ़ से दो व्यक्तियों का मेल है, ठेके में कुछ शर्तें हुआ करती हैं, वे शर्तें पूरी हों तब तो ठेका रह सकता है, न पूरी हों तो वह टूट जाता है। यही कारण है कि हिन्दुओं की विवाह के सम्बन्ध में जो अब तक व्यवस्था रही है, उसमें विवाह अटूट माना जाता रहा है, परन्तु मुसलमानों में यह बात नहीं है, मुसलमानों में विवाह शर्तों के पूरा न होने पर टूट सकता है, तलाक हो सकता है। इसका अर्थ यह हुआ कि मुसलमानों के विवाह पर कानूनी दृष्टि-कोण से विचार किया जा सकता है, हिन्दुओं के विवाह पर कानूनी दृष्टि-कोण से विचार नहीं किया जा सकता। कानूनी दृष्टि-कोण का क्या अर्थ है? कानूनी दृष्टि-कोण का यह अर्थ है कि जैसे 'ठेके' (Contract) की कुछ 'शर्तें' (Considerations or Conditions) होती हैं, वैसे क्योंकि विवाह भी एक 'ठेका' है, इसलिए इसकी भी कुछ शर्तें हैं, वे शर्तें पूरी हों तब तो विवाह जायज है, वे शर्तें पूरी न हों तो कानूनी तौर पर उस विवाह को नाजायज करार दिया जा सकता है। मुसलमानों में ऐसा ही है। तो वे शर्तें क्या हैं?

२. मुसलमानों में विवाह की शर्तें

(क) काज़ी द्वारा विवाह का प्रस्ताव तथा स्वीकृति—मुसलमानों में विवाह काजी द्वारा कराया जाता है, जिसे निकाह पढ़ना कहते हैं। काज़ी दो पुरुषों के सामने, दो पुरुष न मिलें तो एक पुरुष तथा दो स्त्रियों के सामने, उन्हें

साक्षी रख कर पहले लड़के से पूछता है कि ऐ अमुक आदमी के पुत्र, तुम्हारे साथ अमुक व्यक्ति की पुत्री का विवाह होने जा रहा है। इस विवाह में इतनी धन-राशि 'महर' के तौर पर ठहराई गई है। क्या तुम्हें यह विवाह तथा यह 'महर' मंजूर है ? लड़का जब हाँ कहता है, तब काज़ी लड़की को सम्बोधित करके पूछता है कि तुम्हारी शादी अमुक व्यक्ति के साथ इतने महर देने की शर्त्त पर तय पायी है। क्या तुम्हें यह विवाह मंजूर है ? लड़की हाँ कह देती है, तब विवाह पक्का समझा जाता है। विवाह का प्रस्ताव तथा स्वीकृति एक-साथ, एक ही समय में होना जरूरी है। जब दोनों की तरफ़ से मंजूरी दे दी जाती है तब काज़ी अपने रजिस्टर में इस विवाह को दर्ज कर लेता है, और लड़के-लड़की के हस्ताक्षर करा लेता है। यह एक प्रकार का विवाह को रजिस्टर्ड कराना है। इस विवाह में मुख्य बात दो हैं—एक तो लड़के-लड़की की स्वीकृति, दूसरा 'महर' की रकम की घोषणा। लड़के-लड़की की स्वीकृति का यह अर्थ है कि विवाह के समय दोनों को बालिग़ होना चाहिए, नाबालिग़ तो स्वीकृति दे ही नहीं सकते। इसके साथ लड़की की स्वीकृति के बग़ैर मुसलमानों में विवाह नहीं हो सकता। इसका अर्थ यह है कि मुसलमानों में बाल-विवाह वर्जित है। यद्यपि मुसलमानों में बाल-विवाह वर्जित है और हिन्दुओं में इसकी प्रथा है, तो भी अब स्थिति यह देखी जाती है कि मुसलमानों में नीच-जातियों में—जुलाहों, कसाइयों आदि में बाल-विवाह की प्रथा अपने उच्च-शिखर पर है, और हिन्दुओं में बाल-विवाह हटता चला जा रहा है।

(ख) स्वस्थ मस्तिष्क का होना तथा बालिग़पना—दूसरी शर्त्त यह है कि जिनका विवाह होना है उनका मस्तिष्क सही होना चाहिए और वे बालिग़ होने चाहिएँ। जिसका मस्तिष्क ठीक नहीं है, या जो बालिग़ नहीं है, वह किसी प्रकार का ठेका या समझौता नहीं कर सकता, और क्योंकि मुस्लिम-विवाह एक प्रकार का दो पक्षों का ठेका है इसलिए मस्तिष्क सही होना तथा बालिग़ होना जरूरी शर्त्त है। पागल अथवा नाबालिग़ का विवाह ग़ैर-कानूनी है। विकृत मस्तिष्क वालों तथा नाबालिग़ का विवाह उनके संरक्षकों द्वारा सम्पन्न किया जा सकता है।

(ग) विवाह की बाधाओं का न होना—मुस्लिम-विवाह-विधान के अनुसार जहाँ विवाह निषिद्ध हो वहाँ विवाह कर लिया जाय तो वह ग़ैर-कानूनी माना जाता है। जहाँ-जहाँ विवाह का निषेध है, वहाँ-वहाँ विवाह करने में कोई बाधा, विवाह में कोई रुकावट ही तो है। विवाह के ये निषेध, विवाह की ये रुकावटें दो तरह की मानी जाती हैं—बातिल तथा फ़ासिद। बातिल का अर्थ है—निःसत्त्व (Void) तथा फ़ासिद का अर्थ है—अनियमित (Irregular)। बातिल-निकाह वे हैं जो कानूनी-दृष्टि से विवाह माने ही नहीं जा सकते, फ़ासिद-निकाह वे हैं जो अनियमित हैं, परन्तु उन अनियमितताओं को दूर कर दिया जाय, तो वे कानूनी हो जाते हैं, जब तक वे अनियमितताएँ बनी रहें तब तक वे ग़ैर-कानूनी ही बने रहते हैं। जो विवाह 'फ़ासिद' या 'बातिल' नहीं है, वह 'सही' कहा जाता है।

[बातिल-निकाह अथवा निःसत्व-विवाह—Void Marriages]

(i) बहु-पति-विवाह (Polyandry)—जब तक कोई स्त्री विवाहिता है, उसका पति जीवित है, उससे तलाक नहीं लिया, तब तक वह स्त्री दूसरे पति के साथ विवाह नहीं कर सकती, अगर करती है तो दूसरा विवाह बातिल है। पुरुष के लिए ऐसी रुकावट नहीं है, वह चार स्त्रियों तक विवाह कर सकता है। हिन्दुओं में इस प्रकार की कोई रुकावट नहीं है, कई इलाकों में ऐसे विवाह पाये जाते हैं, जो वैध हैं, उनमें एक स्त्री के अनेक पति हो सकते हैं।

(ii) रक्त-सम्बन्ध में विवाह (Consanguinity)—अत्यन्त निकट के रक्त-सम्बन्ध में भी विवाह वर्जित है। प्रथम-श्रेणी के रक्त-सम्बन्धी सीधे पूर्वज तथा सीधे अनुवंशज माने जाते हैं। प्रथम-श्रेणी के इन रक्त-सम्बन्धियों में विवाह नहीं हो सकता। उदाहरणार्थ, प्रथम-श्रेणी के पूर्वज रक्त-सम्बन्धियों में माता या दादी चाहे जितने भी दूर के रिश्ते की हों—इनमें विवाह वर्जित है, प्रथम-श्रेणी के अनुवंशज रक्त-सम्बन्धियों में पुत्री, दोहती चाहे जितने भी दूर के रिश्ते में हों—इनमें विवाह वर्जित हैं। द्वितीय-श्रेणी के सम्बन्धी भाई-बहन हैं। भाई-बहनों तथा उनके वंशजों में भी विवाह नहीं हो सकता। तृतीय-श्रेणी के रक्त-सम्बन्धी पैतृक तथा मातृक चाचा-चाचियाँ हैं। ये चाहे जितनी दूर की हों, इनमें भी रक्त-सम्बन्ध के कारण विवाह वर्जित है।

(iii) विवाह द्वारा सम्बन्धित व्यक्तियों में विवाह (Affinity)—कुछ ऐसे सम्बन्धी भी हैं जिनका रक्त-सम्बन्ध तो नहीं होता, परन्तु विवाह द्वारा उनका सम्बन्ध ऐसा होता है कि उनमें विवाह करना भी वर्जित किया गया है। उदाहरणार्थ, अपनी पत्नी की माता या दादी चाहे जितनी दूर की भी हो, अपनी पत्नी की पहले पति से लड़की या दोहती, पिता की वह पत्नी जो अपनी माँ न हो या किसी अन्य पूर्वज की पत्नी, अपने पुत्र, पोते या दोहते की पत्नी—इनसे अत्यन्त निकटता का विवाह-सम्बन्ध होने के कारण विवाह नहीं किया जा सकता।

(iv) दूध का दोष—अगर किन्हीं बच्चों ने एक ही माँ का दूध पिया हो, वे भाई-बहन न भी हों, तो भी उनका एक-दूसरे के साथ विवाह करना मुसलमानों में दोष समझा जाता है।

ऊपर जो चार प्रकार के विवाह कहे गये हैं, वे 'बातिल' हैं, निःसत्त्व हैं, उन्हें 'सही' किया ही नहीं जा सकता, इसलिए मुसलमानों में सर्वथा त्याज्य हैं, निषिद्ध हैं।

मुसलमानों की अपेक्षा हिन्दुओं में विवाह में वर्जित रिश्ते बहुत अधिक हैं। हिन्दुओं में पिता की सात तथा माता की पाँच पीढ़ियों तक विवाह नहीं हो सकता था। इसे सपिंड-विवाह कहा जाता है। सपिंड के अतिरिक्त सगोत्र-विवाह का भी निषेध है। इन दोनों की चर्चा हम पुस्तक में अन्यत्र कर आये हैं। अब सपिंड-विवाह-निषेध की सीमा पिता से चार और माता से तीन पीढ़ियों तक कर दी गई है। सगोत्र-विवाह निषेध को तो हटा ही दिया गया है। श्री ब्लंट ने

उत्तर-प्रदेश की १९११ की जन-गणना-रिपोर्ट में लिखा है कि इस निषेध का परिणाम यह हो रहा है कि हिन्दुओं में २१२१ रिश्तों में विवाह हो ही नहीं सकता, कहीं सपिंडता आ टपकती है, कहीं सगोत्रता। मुसलमानों में हिन्दुओं की अपेक्षा नजदीकी रिश्तों में शादियाँ अधिक हो सकती हैं, इसलिए उनमें विवाह की समस्या उतनी विकट नहीं है जितनी हिन्दुओं में है।

[फ़ासिद-निकाह अथवा अनियमित-विवाह—Irregular Marriages]

ऊपर हमने जिन विवाहों का वर्णन किया वे विवाह तो हो ही नहीं सकते। कई विवाह हो सकते हैं, परन्तु वे तब तक अनियमित समझे जाते हैं, जब तक उन्हें शर्त्त के अनुसार नियमित नहीं कर लिया जाता। इस प्रकार के विवाह फ़ासिद कहलाते हैं। फ़ासिद विवाह चार प्रकार के हैं :—

(i) चार पत्नियों के होते हुए पाँचवीं से विवाह करना[1]—मुसलमानों में चार पत्नियों से विवाह करने की आज्ञा है, चार के बाद नहीं। अगर कोई चार

१. इलाहाबाद उच्च-न्यायालय के न्यायमूर्ति श्री धवन ने १८ जनवरी १९६० को निर्णय दिया कि भारत की वर्तमान सामाजिक परिस्थितियों में किसी मुसलमान पति के लिए प्रथम विवाह के कायम रहते दूसरी शादी करना प्रथम पत्नी के प्रति क्रूरता का सूचक होगा और दूसरी पत्नी लाने वाले व्यक्ति पर ही यह ज़िम्मेदारी होगी कि अपने कार्य का औचित्य सिद्ध करे और यह बताए कि उसके व्यवहार का अभिप्राय प्रथम पत्नी के प्रति क्रूरता या अपमान नहीं है।

उन्होंने कहा कि भारत में प्रचलित मुस्लिम-कानून बहु-विवाह के रिवाज को सह्य बेशक समझता है किन्तु वह बहु-विवाह को प्रोत्साहित हरगिज नहीं करता। कुरान में बहुविवाह की अनुमति एक नियंत्रणात्मक आदेश है, जिसमें एक समय में पत्नियों की संख्या घटा कर चार की गई है और इस प्रकार बड़ी संख्या में पत्नियाँ रखने वाले पुरुषों के लिए अधिकतम सीमा निर्धारित की गई है। कुरान ने पति को ऐसा कोई बुनियादी अधिकार नहीं दिया कि वह पहली पत्नी को सभी हालात में दूसरी पत्नी के साथ रहने को बाध्य कर सके। एक मुसलमान पति को कानूनन यह हक है कि वह पहली पत्नी के रहते भी दूसरी शादी कर ले, किन्तु यदि वह ऐसा करता है और सिविल कोर्ट से यह माँग करता है कि प्रथम पत्नी को उसकी इच्छा के विरुद्ध बन्दिनी का कष्ट भोगने के लिए उसके साथ ही रखा जाए तब उस पहली पत्नी को यह प्रश्न उठाने का पूरा अधिकार है कि न्याय का दम भरने वाला न्यायालय ऐसे पति के साथ उसे यौन-संबंध कायम रखने के लिए बाधित कर सकता है या नहीं। प्रथम पत्नी के साथ क्रूरता का निर्णय उन हालात से होगा जिनमें पति ने दूसरी शादी की है।

श्री धवन ने कहा : मुस्लिम न्यायशास्त्र ने इस्लामी कानूनों को लागू करते हुए सदा बदलती हुई सामाजिक परिस्थितियों का ध्यान रखा है। मुस्लिम समाज

पत्नियाँ होते हुए पाँचवीं से शादी कर लेता है, तो वह विवाह फ़ासिद (अनियमित) कहलाता है। अनियमित को नियमित किया जा सकता है अगर पहली चार में से किसी एक को नियमानुकूल तलाक दे दिया जाय। इस प्रकार यह 'फ़ासिद'-विवाह 'सही' हो जाता है। हिन्दुओं में चार-पाँच का कोई नियम न था, जो चाहे जितनी स्त्रियों से विवाह कर सकता था, परन्तु अब 'हिन्दू-विवाह-कानून, १९५५' के अनुसार एक-विवाह का कानून बना दिया गया है, मुसलमानों पर एक-विवाह का यह कानून लागू नहीं है।

(ii) साक्षियों का अभाव—मुस्लिम-विवाह की यह शर्त है कि विवाह का प्रस्ताव तथा स्वीकृति दो पुरुषों के सामने एक ही समय पर होनी चाहिए। अगर इस प्रकार की साक्षी के बिना विवाह हुआ है तो वह विवाह अनियमित है। विवाह के समय भी साक्षियों की जरूरत है। अगर साक्षियों के अभाव में विवाह-सम्बन्धी कुछ कार्य भी हुआ है, जो अनियमित है, उसे पीछे से साक्षी द्वारा नियमित किया जा सकता है, सिर्फ़ इतने से विवाह निःसत्त्व नहीं कहा जा सकता, शर्त्तों को ठीक करके 'फ़ासिद' को 'सही' किया जा सकता है।

(iii) धर्म की भिन्नता—मुसलमानों में कुछ लोग सुन्नी होते हैं, कुछ शिया। शिया-सम्प्रदाय के अनुसार वर-वधू दोनों को मुसलमान होना चाहिए, यदि एक पक्ष अमुस्लिम है तो विवाह अवैध समझा जाता है। सुन्नी-सम्प्रदाय के अनुसार भी वर-वधू को मुसलमान होना चाहिए, परन्तु यदि एक पक्ष अमुस्लिम है,

कभी जड़ और गतिशून्य नहीं रहा। इसमें उल्टी बात मानने का मतलब होगा मुस्लिम सभ्यता की उपलब्धियों से इन्कार करना।

उन्होंने कहा कि मुस्लिम समाज में परिवर्तन का सबसे बड़ा सबूत मुस्लिम विवाह ऐक्ट १९३९ को स्वीकृत करना है जो मुसलमान पत्नी को यह अधिकार देता है कि वह उन अनेक कारणों से भी, जो पहले उपलब्ध नहीं थे, तलाक का दावा कर सकती है।

उन्होंने कहा कि आज मुस्लिम महिलाएँ समाज में आती जाती हैं और किसी भी भारतीय पति के लिए यह असम्भव है कि वह अपनी कई-कई पत्नियों के साथ विविध सामाजिक कार्य-कलाप में हिस्सा ले सके। उसे सामाजिक जीवन में साथ देने के लिए किसी एक पत्नी को चुनना होगा, और इस प्रकार मौजूदा हालात में अनेक पत्नियों के साथ निष्पक्ष व्यवहार करना असम्भव है। पहले, कोई भी मुसलमान पति ऐसा कर सकता था कि वह दूसरी पत्नी को अपने घर में रख ले और उसका यह कार्य पहली पत्नी के लिए अपमानजनक न भी हो। बहुत बार प्रथम पत्नी की सहमति और सुझाव से ही दूसरा विवाह होता था। परन्तु भारत के मुसलमानों के भी सामाजिक हालात में लगातार परिवर्तन होता जा रहा है। आजकल घर में दूसरी पत्नी लाने का सामान्य अर्थ प्रथम पत्नी के प्रति अपमान और क्रूरता है।

तो विवाह 'अवैध' न होकर 'अनियमित' है, और विवाह के बाद भी दूसरे पक्ष को मुसलमान बना कर विवाह को नियमित किया जा सकता है।

शिया तथा सुन्नी दोनों अग्नि-पूजक पारसियों तथा किताबियों के साथ विवाह कर सकते हैं। किताबिया का अर्थ है किसी किताब को ईश्वरीय ज्ञान मानने वाले यहूदी तथा ईसाई। इनके साथ विवाह करके उन्हें मुसलमान बना लेना चाहिए। इस प्रकार भिन्न धर्मों का विवाह भी 'सही' विवाह माना जाता है।

(iv) इद्दत वाली स्त्री से विवाह—मुसलमानों में तलाक दी हुई या विधवा स्त्री के साथ विवाह किया जा सकता है, परन्तु तलाक पाने या विधवा होने के झट बाद विवाह नहीं हो सकता। ऐसी स्त्री को दूसरे विवाह के लिए कुछ समय तक इन्तज़ार करनी पड़ती है। इन्तज़ार का यह समय 'इद्दत' कहलाता है। यह व्यवस्था इसलिए की गई है ताकि यह पता चल जाय कि तलाक वाली या विधवा स्त्री पहले पति से गर्भवती है या नहीं। इद्दत वाली स्त्री से विवाह करना वर्जित है। इद्दत का समय निकल जाय तो तलाक पायी हुई अथवा विधवा स्त्री के साथ किया हुआ विवाह 'सही' माना जाता है।

हमने ऊपर कहा कि विवाह बातिल, फ़ासिद तथा सही —इन तीन प्रकार का हो सकता है। इनमें से सुन्नी कानून के अनुसार तो विवाह—इन तीन ही प्रकार का है, परन्तु शिया कानून के अनुसार विवाह बातिल तथा सही—इन दो ही प्रकार का हो सकता है।

३. विवाह की आयु

हम पहले कह आये हैं कि मुस्लिम-विवाह एक 'ठेका' है, दो व्यक्तियों का आपसी कानूनी इकरार है, समझौता है। ठेके में कुछ शर्तें होती हैं, वे शर्तें पालन न की जायें तो ठेका टूट जाता है। मुस्लिम-विवाह की मुख्य-मुख्य शर्तों का इसी लिए हमने उल्लेख किया। ठेके में दोनों पक्षों का बालिग़ होना भी ज़रूरी है, नहीं तो यह नहीं कहा जा सकता कि वे ठेके की शर्तों को समझते हैं। इसलिए मुस्लिम-विवाह में यह ज़रूरी समझा जाता है कि वर-वधू दोनों बालिग़ हों। मुस्लिम-कानून के अनुसार बालिग़ होने की आयु १५ वर्ष मानी गई है। शिया-सम्प्रदाय में लड़की की बालिग़ होने की आयु रजोदर्शन की आयु मानी जाती है, रजोदर्शन हो जाय तो लड़की बालिग़ मान ली जाती है। अपने देश में यह आयु १३–१४ वर्ष की समझी जाती है।

इसका यह अभिप्राय नहीं कि मुस्लिम-विवाह इस आयु से पहले नहीं हो सकता। नाबालिग़ लड़के-लड़कियों का विवाह संरक्षकों द्वारा हो सकता है। संरक्षकों का क्रम पिता, दादा, भाई, माता आदि—इस प्रकार माना जाता है। कोई न हो तो राजा संरक्षक माना जाता है। इसका अर्थ यह हुआ कि यद्यपि मुस्लिम-विवाह में बाल-विवाह का निषेध है, तो भी कभी-कभी माता-पिता उनका बाल्यावस्था में विवाह कर देते हैं।

बाल्यावस्था का विवाह क्योंकि लड़के-लड़की की सहमति से नहीं हुआ होता, संरक्षकों की तरफ़ से किया गया होता है, इसलिए मुसलमानों में युवक-युवति को युवावस्था प्राप्त होने पर इस विवाह को अस्वीकृत कर देने का अधिकार है। इस अधिकार को 'ख़यार-उल-बुलूग़' (Option of Puberty) कहा जाता है। हिन्दुओं के लिए यह अधिकार एक जानने की वस्तु है। यह अधिकार क्या है ?

४. 'ख़यार-उल-बुलूग़' या बाल-विवाह को अस्वीकृत कर देने का पति-पत्नी को अधिकार

वसे तो मुस्लिम-विवाह क्योंकि पति-पत्नी के बीच एक ठेका है, इसलिए मुस्लिम-कानून के अनुसार बालिग़ों का ही विवाह हो सकता है क्योंकि विवाह की शर्तों को बालिग़ ही समझ सकते हैं, परन्तु क्योंकि नाबालिग़ों के संरक्षकों को नाबालिग़ों की तरफ़ से शर्तें मंजूर करने का हक है, इसलिए संरक्षक भी नाबालिग़ों का विवाह कर देते हैं। इस प्रकार मुसलमानों में बाल-विवाह चलता है। परन्तु इस प्रकार के विवाह के लिए मुस्लिम-कानून ने नाबालिग़ लड़के-लड़कियों को एक विशेष अधिकार दिया हुआ है। वह अधिकार यह है कि बालिग़ होने पर वे इस प्रकार के विवाह को चाहें तो स्वीकृत करें, चाहे अस्वीकृत कर दें। ऐसे विवाह को स्वीकृत या अस्वीकृत करने के विकल्प को 'ख़यार-उल-बुलूग़' (Option of Puberty) कहा जाता है। अगर पति-पत्नी इस प्रकार के विवाह को अस्वीकृत कर देते हैं, तो यह समझा जाता है कि यह विवाह हुआ ही नहीं था, और इस प्रकार पति-पत्नी दोनों विवाह से स्वतंत्र हो जाते हैं। यह बात ध्यान रखने की है कि इस प्रकार के अधिकार का प्रयोग तभी किया जा सकता था अगर यह सिद्ध हो जाता कि संरक्षकों ने इन लड़के-लड़कियों का बाल-विवाह बेईमानी से या शरारत से किया है। १९३९ में 'मुस्लिम-विवाह-विच्छेद अधिनियम' (The Dissolution of Muslim Marriages Act, 1939) स्वीकृत हुआ जिसमें बाल-विवाह के विषय में संरक्षकों की बेईमानी तथा शरारतन शादी करने की शर्त को हटा दिया गया, और यह लिखा गया कि अगर किसी का विवाह उसके पिता या संरक्षक ने १५ वर्ष की आयु प्राप्त करने से पूर्व कर दिया हो और उसने १८ वर्ष पूरे न किये हों तो १८ वर्ष की आयु से पहले-पहल वह इस विवाह को अस्वीकृत कर सकता है, एक शर्त जरूर है, और वह यह कि इस अर्से में पति-पत्नी का यौन-सम्बन्ध न हुआ हो। यह सब होते हुए भी मुसलमानों में बाल-विवाह होता है, और हिन्दुओं की तरह मुस्लिम-समाज में भी यह एक गम्भीर समस्या बना हुआ है। शारदा-एक्ट भी हिन्दुओं तथा मुसलमानों दोनों पर लागू है, परन्तु दोनों इसकी अवहेलना करते हैं।

५. महर या स्त्री-धन

मुस्लिम-विवाह एक ठेका है, ठेके में कुछ शर्तें होती हैं। इनमें से कई शर्तों का जिक्र हम पहले कर आये हैं। कुछ शर्तें और भी हैं--(क) पति के यहाँ सती-साध्वी रहना, उसकी आज्ञा को शिरोधार्य करना, (ख) पति को यौन-सुख देना,

(ग) धाय न हो तो बच्चों को दूध पिलाना और (घ) पति की मृत्यु या तलाक के बाद इद्दत की अवधि का पालन करना। इद्दत की अवधि ३ महीने १३ दिन होती है। इद्दत के समय वह विवाह नहीं कर सकती।

स्त्री के लिए उक्त चार शर्तें हैं तो साथ ही उसके चार अधिकार हैं--(क) महर या स्त्री-धन का अधिकार, (ख) गुज़ारे तथा मकान में रहने का अधिकार, (ग) अन्य पत्नियाँ होने पर सब के समान व्यवहार पाने का अधिकार तथा (घ) बच्चों की परवरिश, उनके भरण-पोषण का अधिकार।

शरियत अर्थात् मुस्लिम-कानून के अनुसार 'महर' का अधिकार विशेष महत्त्वपूर्ण है, कोई विवाह 'महर' निश्चित किये बिना नहीं हो सकता, इसलिए हम इसकी यहाँ विशेष चर्चा करेंगे।

'महर' क्या है? 'महर' वह धन है जो पति अपनी पत्नी को विवाह की स्वीकृति देते हुए प्रदान करता है या प्रदान करने की शर्त्त स्वीकार करता है। 'महर' तय होने पर ही मुस्लिम-विवाह हो सकता है, बिना तय किये नहीं हो सकता। हम 'दहेज' के प्रकरण में लिख आये हैं कि प्रारम्भ में 'दहेज' वह धन था जो स्त्री का अपना था, जिसे हिन्दू-स्मृतियों में 'स्त्री-धन' कहा है। कालान्तर में स्त्री-धन नाममात्र को स्त्री-धन रहा, उस पर पुरुष का कब्ज़ा हो गया, और स्त्री के लिए रुपया माँगने के स्थान में लड़के के माता-पिता कन्या-पक्ष वालों से अपने लिए रुपया माँगने लगे। यही प्रथा 'दहेज' का रूप धारण कर गई। मूलतः 'दहेज' का रूप स्त्री-धन का ही रूप था, और मुसलमानों में आज भी 'दहेज' का यही रूप है। दहेज को वे 'महर' कहते हैं, और 'महर' स्त्री का अपना धन होता है, ऐसा धन जिस पर उसके सिवाय दूसरे किसी का अधिकार नहीं होता। 'महर' तीन प्रकार का होता है—तुरन्त-महर, स्थगित-महर तथा उचित-महर।

'महर' की धन-राशि १० दीनार या ३-४ रुपये भी हो सकती है, अधिक-से-अधिक भी हो सकती है जिसकी कोई सीमा नहीं। दहेज तो रुपये-पैसे के रूप में दे दिया जाता है, परन्तु 'महर' प्रायः दिया नहीं जाता, विवाह के समय 'महर' की राशि निश्चित कर दी जाती है। 'महर' का उद्देश्य तलाक की सम्भावना को कम करना है क्योंकि तलाक तभी सम्भव हो सकता है जब 'महर' की प्रतिज्ञात राशि स्त्री को दे दी जाय। जैसे हिन्दुओं में 'दहेज' अधिक-से-अधिक माँगने की प्रवृत्ति है, वैसे मुसलमानों में महर अधिक-से-अधिक माँगने की प्रवृत्ति है। जैसे हिन्दुओं में 'दहेज' पर सुधारक लोग प्रतिबन्ध लगाने का प्रयत्न करते हैं, वैसे मुसलमानों में 'महर' पर प्रतिबन्ध लगाने का प्रयत्न किया जा रहा है। एक बात अवश्य ध्यान रखने की है, और वह यह कि मुसलमानों में 'महर' का उद्देश्य तलाक पर रोक लगाना है। ऐसा-कुछ उद्देश्य हिन्दुओं के 'दहेज' का नहीं है। 'महर' का कुछ तो लाभ दीखता है, 'दहेज' कुप्रथा के सिवाय कुछ नहीं।

(क) तुरन्त-महर (महरे-मुअज्जल)--महर को दो भागों में बाँटा गया है—तुरन्त तथा स्थगित। तुरन्त महर वह धन-राशि है जो विवाह होते के तुरन्त

बाद पति को देनी पड़ती है। इस 'महर' की माँग किसी समय भी की जा सकती है, जिस समय यह माँगी जाय उसी समय इसे देना लाज़मी है। अगर पति 'महर' माँगने पर न दे तो स्त्री पति को वैवाहिक-अधिकार देने से इन्कार कर सकती है। मुसलमानों के कानून के अनुसार पति स्त्री के साथ यौन-सम्बन्ध तभी कर सकता है जब इस महर को दे दे। प्रायः स्त्रियाँ इस महर को माफ़ कर देती हैं।

(ख) स्थगित-महर (महरे-मुहज्जल)—यह वह धन-राशि है जो पति के मरने पर स्त्री को मिलती है। अगर पति जीवित हो और स्त्री को तलाक दे दे, तो तलाक तभी पूर्ण समझा जा सकता है जब पति इस स्थगित महर को पत्नी को दे दे। इसे स्थगित इसलिए कहा जाता है क्योंकि तलाक या पति के मरने तक यह नहीं ली जाती, तब तक स्थगित रहती है, उसके बाद मिलती है। इसकी धन-राशि भी निश्चित कर ली जाती है। इस महर के माफ़ करने का सवाल नहीं उठता। यह इसलिए दी जाती है कि तलाक होने या विधवा होने के बाद ३ महीने १३ दिन इद्दत के बिताने पड़ते हैं। उस बीच स्त्री विवाह नहीं कर सकती। उस समय इस धन से उसका गुज़ारा चलता है।

महरे-मु-अज्ज़ल तथा महरे-मु-हज्ज़ल दोनों का उच्चारण एक-सा प्रतीत होता है परन्तु दोनों के लिखनें में फ़र्क है। महरे-मु-अज्ज़ल ऐन से लिखा जाता है, महरे-मु-हज्ज़ल हमज़ा से लिखा जाता है, इसी से दोनों के अर्थों में भेद हो जाता है।

(ग) उचित-महर (महरे-मिस्ल)—अगर लड़की ने विवाह के बाद 'महर' माफ़ कर दिया है, तो भी शरियत के अनुसार उसका 'उचित-महर' निश्चित समझा जाता है। ज़रूरत पड़ने पर उसे उचित-महर दिया जाता है। वह 'महर' कितना होना चाहिए ? वह 'महर' उतना होगा जितना लड़की की माँ या बहन के विवाह के समय दिया गया होगा। माँ की मिसाल या माँ या बहन की तरह की रकम का यह महर दिया जायगा इसलिए इसे महरे-मिस्ल कहते हैं। 'महर' का होना तो हर हालत में ज़रूरी है, भले ही वह माफ़ कर दिया गया हो, अगर लड़की ने माफ़ कर दिया है तो उसके लिए नियम बनाया गया है कि वह माँ या बहन के विवाह के समय जितना 'महर' दिया गया था उतना होना उचित रहेगा।

६. मुसलमानों में विवाह के भेद या प्रकार—स्थायी, अस्थायी (मुताह)

मुसलमानों में दो प्रकार के विवाह माने जाते हैं—स्थायी तथा अस्थायी। स्थायी-विवाह का वर्णन तो हम कर आये। अस्थायी-विवाह वे हैं जिनमें स्त्री-पुरुष का एक-दूसरे के साथ यौन-सम्बन्ध का ठेका अस्थायी-काल के लिए होता है। यह काल एक दिन, एक मास, एक वर्ष—कुछ भी हो सकता है। कहने का अभि-प्राय यह है कि अस्थायी-विवाह में समय की अवधि निश्चित करनी पड़ती है। जहाँ समय निश्चित नहीं किया जाता वह स्थिर-विवाह माना जाता है। अस्थायी-विवाह की दूसरी शर्त यह है कि इसमें 'महर' की धन-राशि भी निश्चित कर ली जाती है। इस प्रकार के अस्थिर-विवाह को 'मुताह' कहते हैं।

'मुताह्'-विवाह की प्रथा को सुन्नी लोग नहीं मानते, शिया मानते हैं। 'मुताह्' का निश्चित समय जब समाप्त हो जाता है, तब विवाह अपने-आप समाप्त हो जाता है, अगर दोनों पक्ष चाहें तो 'मुताह्' के लिए फिर-से आपस में समय तथा धन-राशि की शर्त्त बाँध सकते हैं। 'मुताह्' एक प्रकार का 'अस्थायी-विवाह' (Temporary Marraige) है। यह बहुत-कुछ हिन्दुओं के 'नियोग' से मिलता-जुलता है। 'नियोग' भी सामयिक तौर पर पुत्रोत्पत्ति के लिए किया जाता है, परन्तु भेद यह है कि 'नियोग' में विवाहिता स्त्री पुत्र उत्पन्न करने के लिए किसी पुरुष के साथ सामयिक-सम्बन्ध स्थापित करती हैं, 'मुताह्' तो एक प्रकार का विवाह ही है, नियोग विवाह नहीं है।

वैसे तो विवाह के लिए यह नियम है कि पति-पत्नी दोनों मुसलमान होने चाहिएँ, परन्तु 'मुताह्'-विवाह के लिए, जो शिया-सम्प्रदाय का अभिमत विवाह है, ऐसा कोई बन्धन नहीं है। 'मुताह्'-विवाह शिया-सम्प्रदाय का पुरुष किसी भी मुसलमान, ईसाई, यहूदी, पारसी स्त्री से कर सकता है, अन्य किसी धर्म की स्त्री से नहीं, परन्तु शिया-सम्प्रदाय की स्त्री केवल शिया पुरुष से ही 'मुताह्'-विवाह कर सकती है, हर-किसी धर्म वाले पुरुष से नहीं।

'मुताह्'-विवाह में पति-पत्नी को एक-दूसरे की सम्पत्ति पर उत्तराधिकार का कोई स्वत्व प्राप्त नहीं होता, परन्तु अगर इस विवाह से कोई सन्तान हो जाय, तो वह जायज समझी जाती है और उसे दोनों से उत्तराधिकार के रूप में सम्पत्ति मिलती है। इस विवाह में तलाक का भी कोई स्थान नहीं है। निश्चित अवधि निकल जाने पर अपने-आप तलाक हो जाता है, परन्तु अगर पति चाहे तो विवाह की निश्चित अवधि से पहले ही समझौते को समाप्त कर सकता है। इसे 'हिबा-ए-मुद्दत' (Making a gift of the remaining period) कहते हैं। अगर इस बीच पति-पत्नी का यौन-सम्बन्ध हो चुका है तो पति को पूरी निश्चित महर देनी पड़ती है, अगर यौन-सम्बन्ध नहीं हुआ तो आधी महर देकर निपटारा हो जाता है। अगर समझौते का भंग स्त्री करना चाहे तो उसे अनुपात से महर की राशि छोड़नी पड़ती है। शरायत-उल-इस्लाम के अनुसार 'मुताह्'-विवाह की स्त्री को 'पत्नी'—यह नाम नहीं दिया जा सकता, शिया-कानून भी यह है कि 'मुताह्'-विवाह में स्त्री को भरण-पोषण का खर्च माँगने का भी अधिकार नहीं है, तो भी कलकत्ता हाई कोर्ट का यह निर्णय है कि उसे पत्नी के तौर पर भरण-पोषण का खर्च लेने का पूरा अधिकार है।

७. विवाह-विच्छेद—तलाक

मुसलमानों में विवाह पति-पत्नी का एक समझौता है, ठेका है। वे किन्हीं शर्तों पर विवाह करते हैं, ये शर्तें टूट जायें तो विवाह टूट जाता है। यह बात स्वाभाविक भी है। जब शर्तों को आधार बना कर विवाह किया गया, तो शर्तों को पूरा करना लाजमी है, शर्तें न पूरी हों तब यह ठेका कैसे बना रह सकता है? इतनी बात अवश्य है कि इस समझौते में तलाक के अधिकार पुरुष को अक्षुण्ण दिये गये

हैं, पुरुष के मुकाबिले में स्त्री को तलाक के अधिकार अपेक्षाकृत बहुत थोड़े हैं। पुरुष तो जब चाहे, बिना कारण बताये, सही दिमाग़ में हो या नशे में हो, तीन बार तलाक-तलाक-तलाक कह दे तो तलाक हो जाता है, स्त्री के लिए तलाक की व्यवस्था बहुत सीमित दशाओं में की गई है। पति तथा पत्नी के तलाक के अधिकारों को दृष्टि में रखते हुए तलाक के सात प्रकार हैं, जो निम्न हैं :—

(क) तलाके-अहसन;
(ख) तलाके-हसन;
(ग) तलाक-उल्-बिद्दत (तलाके-बिदाई);
(घ) इला;
(ङ) जिहर;
(च) खुला;
(छ) मुबरअत;
(ज) लियान;
(झ) अदालती तलाक।

(क) तलाके-अहसन—पति एक बार 'तलाक'-शब्द का उच्चारण करता है, और उच्चारण करने के बाद एक निश्चित अवधि तक यौन-सम्बन्ध नहीं करता। इस अवधि के निकल जाने पर तलाक हो जाता है। अगर इस बीच पति यौन-सम्बन्ध शुरू कर दे तो तलाक वापस हो जाता है।

(ख) तलाके-हसन—मुसलमानों में दो मासिक-धर्मों के बीच के समय को 'तहर' कहते हैं। लगातार तीन 'तहरों' में, हर 'तहर' में एक बार—इस प्रकार पति द्वारा तीन बार 'तलाक' कह देने से तलाक हो जाता है। हर 'तहर' में न कहा जाय तो भी तलाक वापस हो जाता है।

(ग) तलाक-उल्-बिद्दत या तलाके-बिदाई—एक ही 'तहर' में पति द्वारा तीन बार या एक ही समय में एकदम पति द्वारा तीन बार 'तलाक'-'तलाक'-'तलाक' कह देने से तलाक हो जाता है, फिर यह वापस नहीं हो सकता।

(घ) इला—अगर पति चार मास या इससे अधिक समय की अल्लाह की कसम खा कर पत्नी के साथ यौन-सम्बन्ध न करने की प्रतिज्ञा करता है, तो इस अवधि के पूरा होने पर तलाक हो जाता है। अगर इस बीच वह यौन-सम्बन्ध कर लेता है, तो यह तलाक वापस समझा जाता है।

(ङ) जिहर—अगर पति अपनी पत्नी की किसी ऐसी स्त्री से तुलना करता है जिसके साथ मुस्लिम-कानून में यौन-सम्बन्ध वर्जित है, और अगर वह इस तुलना के लिए प्रायश्चित्त नहीं करता, तो पत्नी उसे तलाक दे सकती है। इस प्रकार का तलाक अदालत द्वारा दिया जा सकता है।

(च) खुला—यह विवाह-विच्छेद भी पत्नी की तरफ़ से होता है। अगर पत्नी तलाक देना चाहे तो वह पति से प्रस्ताव कर सकती है कि वह उसकी

अपनी सम्पत्ति द्वारा क्षति-पूर्त्ति कर देगी। अगर पति मान जाय तो यह तलाक सम्पन्न हो जाता है।

(छ) मुबरअत—यह तलाक पति-पत्नी दोनों की सहमति से हो जाता है। अगर पति-पत्नी दोनों तैयार हैं तो उन्हें एक-दूसरे से जुदा होने में कोई बाधा नहीं रहती। 'खुला' में तो स्त्री पर दण्ड पड़ जाता है, उसे जुर्माना भरना पड़ता है, इसमें किसी को एक-दूसरे को कुछ देना नहीं पड़ता।

(ज) लियान—अगर पति पत्नी पर व्यभिचारिणी होने का दोषारोपण करे और आरोप वापस न ले, तो स्त्री अदालत से प्रार्थना कर सकती है कि या तो वह इस आरोप को वापस ले या उसे तलाक का अधिकार दिया जाय। अगर पति अपना आरोप वापस लेता है तब तो मुकद्दमा समाप्त हो जाता है, यदि वह वापस नहीं लेता और आरोप झूठा साबित हो जाता है, तो उसे तलाक मिल जाता है। यह स्मरण रखने की बात है कि पति द्वारा केवल व्यभिचार का आरोप लगा देने से ही स्त्री को तलाक का अधिकार नहीं मिल जाता, उसे इसके लिए अदालती कार्यवाही करनी पड़ती है।

(झ) अदालती-तलाक—स्त्री के लिए विवाह-विच्छेद का अन्तिम प्रकार अदालत द्वारा तलाक प्राप्त करना है। तलाक के उक्त नौ प्रकारों में पहले चार प्रकार पति द्वारा तथा पिछले पाँच स्त्री द्वारा तलाक प्राप्त करने के हैं, परन्तु पहले चार में जो अक्षुण्ण अधिकार पति को दिये गये हैं, पिछले पाँच में वैसे अक्षुण्ण अधिकार स्त्री को नहीं दिये गये। पिछले पाँच में अन्तिम अधिकार 'अदालती-तलाक' का है। यह अधिकार १९३९ में मुसलमान-स्त्री को 'मुस्लिम-विवाह-विच्छेद-अधिनियम—१९३९' (Dissolution of Muslim Marriages Act, 1939) द्वारा दिया गया। इस अधिनियम में यह प्रयत्न किया गया कि मुसलमान पुरुष के मुकाबिले में मुसलमान स्त्री की तलाक के सम्बन्ध में जो निर्योग्यताएँ हैं उन्हें दूर कर दिया जाय और उसे भी विशेष-विशेष परिस्थितियों में तलाक का अधिकार दिया जाय। इस कानून के अनुसार स्त्री को तलाक के क्या-क्या अधिकार प्राप्त हुए हैं?

[मुस्लिम-विवाह-विच्छेद अधिनियम, १९३९]

जैसा हमने अभी कहा, मुस्लिम-स्त्री के तलाक के अधिकार बहुत सीमित हैं, पुरुष के असीमित हैं। सुधारवादी मुसलमानों तथा मुसलमान स्त्रियों की यह माँग थी कि स्त्रियों को विशेष-विशेष अवस्थाओं में तलाक का अधिकार मिलना चाहिए। तदनुसार १९३९ में 'मुस्लिम-विवाह-विच्छेद [अधिनियम' स्वीकृत हुआ जिसकी मुख्य-मुख्य विशेषताएँ निम्न हैं :—

(i) चार वर्ष तक पता न होना—अगर पति के विषय में चार वर्ष तक कोई सूचना न मिले तो अदालत द्वारा पत्नी को तलाक का अधिकार मिल जाता है।

(ii) दो वर्ष तक पत्नी का भरण-पोषण न कर सकना—अगर पति दो वर्ष तक लगातार अपनी पत्नी का भरण-पोषण न कर सके तो उसे तलाक दिया जा सकता है।

(iii) सात या अधिक वर्षों के लिए कैद—अगर पति को सात या इससे अधिक वर्षों के लिए जेल की सज़ा हो जाय तो पति का त्याग किया जा सकता है। इस आधार पर तलाक तभी दिया जा सकता है जब सात वर्ष की सज़ा का आख़िरी तौर पर फ़ैसला हो जाय। सज़ा हो जाने पर अगर अपील चल रही है, और वह ख़ारिज नहीं हुई, तो तलाक के प्रार्थना-पत्र पर विचार नहीं हो सकेगा।

(iv) तीन वर्ष तक वैवाहिक-कर्तव्य पूरा न करना—अगर पति तीन वर्ष तक अपने वैवाहिक कर्त्तव्य पूरा न करे, तो अदालत द्वारा तलाक मिल सकता है।

(v) पति का नपुंसक होना—अगर यह सिद्ध हो जाय कि पति विवाह के समय नपुंसक था, और विवाह के बाद भी यह अवस्था अब तक जारी है तो तलाक मिल सकता है। अगर इस प्रार्थना-पत्र पर पति यह अर्ज़ी दे कि उसे एक वर्ष की और अवधि दी जाय और इस अवधि के बाद पति अदालत को अपने ठीक होने का प्रमाण दे दे तो तलाक नहीं मिलता।

(vi) दो वर्ष से पागल या कुष्ठ अथवा संक्रामक यौन-रोग से पीड़ित होना—अगर पति दो वर्ष से पागल है, असाध्य कुष्ठ-रोग से अथवा संक्रामक यौन-रोग से पीड़ित है, तो भी अदालत द्वारा तलाक मिल सकता है।

(vii) बाल-विवाह—अगर विवाह संरक्षकों ने नाबालग़ी में कर दिया हो, इस बीच पति-पत्नी का यौन-सम्बन्ध भी न हुआ हो और लड़के के १८ वर्ष पूरा होने से पहले उसने इसका प्रतिवेदन कर दिया हो, तो अदालत ऐसे विवाह को विवाह मानने से इन्कार कर सकती है।

(viii) दुर्व्यवहार—अगर पति अपनी स्त्री को पीटता हो, उसका जीवन कष्टमय बना रहा हो, बदनाम स्त्रियों के साथ रहता या व्यभिचारी-जीवन बिताता हो या पत्नी को व्यभिचार के लिए बाधित करता हो, उसकी सम्पत्ति बेचता हो या उसके साम्पत्तिक-अधिकारों में बाधा डालता हो, उसे धार्मिक-कृत्य न करने देता हो, एक से अधिक पत्नियाँ रख कर सब के साथ समान व्यवहार न करता हो, तब भी अदालत से विवाह-विच्छेद प्राप्त किया जा सकता है।

(ix) अन्य कारण—उक्त कारणों के अतिरिक्त अन्य किसी कारण से भी जो मुस्लिम-कानून के अनुसार मान्य हो, विवाह-विच्छेद की माँग की जा सकती है।

८. हिन्दू तथा मुस्लिम विवाह-विच्छेद में समानता एवं भिन्नता

हिन्दू तथा मुस्लिम विवाहों में कुछ समानता है, कुछ भेद है। इन दोनों में समानता किन-किन बातों में है?

[समानता]

(क) बहु-विवाह—हिन्दू तथा मुस्लिम विवाहों में पहली समानता इन दोनों का बहु-पत्नी-विवाह है। मुसलमानों में भी अनेक पत्नियों की आज्ञा है,

हिन्दुओं में भी। यद्यपि हिन्दुओं में अब १९५५ से 'हिन्दू-विवाह-अधिनियम' के स्वीकृत हो जाने के बाद से बहु-पत्नी-विवाह सर्वथा निषिद्ध कर दिया गया है, मुसलमानों के लिए अभी तक बहु-पत्नी-विवाह के निषेध का कोई कानून नहीं बना है। बहु-पत्नी-विवाह की आज्ञा देते हुए भी इन दोनों में इस सम्बन्ध में एक भेद यह है कि मुसलमानों में चार से अधिक पत्नियां नहीं की जा सकतीं, अगर सब से समान व्यवहार न किया जा सके तो चार भी नहीं की जा सकतीं, परन्तु हिन्दुओं में इस प्रकार की कोई विशेष व्यवस्था नहीं है। हिन्दुओं में बहु-पत्नी-विवाह का मुख्य उद्देश्य पुत्र-प्राप्ति कहा गया है। राजा दशरथ के तीन रानियां थीं, परन्तु उनके इतने विवाह इसी लिए हुए थे क्योंकि उन्हें पहली रानियों से कोई पुत्र नहीं होता था। आपस्तम्ब धर्म-सूत्र में लिखा है कि सन्तान होने पर दूसरा विवाह नहीं करना चाहिए।* वहां यह भी लिखा है कि निर्दोष पत्नी को छोड़ने वाले को छः महीने गधे की खाल ओढ़ कर प्रायश्चित्त करना चाहिए। इस काल के बाद पत्नियों की संख्या पर कोई प्रतिबन्ध नहीं रहा और हिन्दुओं में बहु-पत्नी-प्रथा बे-रोक-टोक चलती रही।

(ख) बाल-विवाह—वैसे तो मुस्लिम-विवाह-कानून के अनुसार बाल-विवाह अवैध है, और बालिग़ होने पर उन लोगों को जिनका १५ वर्ष की आयु से पहले उनके अभिभावक बाल-विवाह कर देते हैं, इस विवाह को मानने से इन्कार कर देने का अधिकार दिया गया है जिसे 'ख़यार-उल-बुलूग़' कहते हैं, परन्तु यह सब-कुछ होते हुए भी मुसलमानों में बाल-विवाह की प्रथा चली हुई है। १९३९ में जो 'मुस्लिम-विवाह-विच्छेद अधिनियम' स्वीकृत हुआ, उसमें यह व्यवस्था की गई कि १५ वर्ष की आयु से पहले जिनका विवाह हो चुका हो उन्हें १८ वर्ष की अवस्था से पहले-पहले इस प्रकार के विवाह को अस्वीकृत कर देने का अधिकार होगा। एक मुस्लिम-ग्रन्थ हिदाया में लड़के के लिए १२ और लड़की के लिए ९ वर्ष की आयु विवाह की आयु लिखी है, उसका कहना है कि लड़के-लड़की की बालिग़ होने की यही आयु है। जैसे शारदा-एक्ट से हिन्दुओं में बाल-विवाह को रोका गया वैसे १९३९ के विवाह-विच्छेद के मुसलमानों के कानून से इनमें भी बाल-विवाह को रोकने की ज़रूरत महसूस हुई।

[भिन्नता]

(क) हिन्दू-विवाह एक धार्मिक संस्कार और मुस्लिम-विवाह एक समझौता है—हिन्दुओं तथा मुसलमानों के विवाह में पहला भेद यह है कि हिन्दू-विवाह 'एक धार्मिक-संस्कार' (Sacrament) है, इसका उद्देश्य पुत्र उत्पन्न करना है, पुत्र का काम पितरों को पिण्ड-दान देकर, श्राद्ध करके उन्हें नरक से बचाना है, उनका तर्पण करना है, मुस्लिम-विवाह एक धार्मिक-संस्कार न होकर पति-पत्नी के बीच एक 'ठेका' (Contract) है, समझौता है, इसका उद्देश्य यौन-सम्बन्ध

* धर्म-प्रजासम्पन्ने दारे नान्यां कुर्वीत।

और बच्चे पैदा करना है। ये दोनों काम तो हिन्दू-विवाह में भी होते हैं, परन्तु मुस्लिम-विवाह का यह मुख्य उद्देश्य है, हिन्दू-विवाह का यह गौण उद्देश्य है।

(ख) हिन्दुओं में 'दहेज' और मुसलमानों में 'महर' की प्रथा है—हिन्दू-विवाह में दहेज दिया जाता है, यह एक प्रकार का 'वर-मूल्य' (Bridegroom Price) है, मुस्लिम-विवाह में पति पत्नी को 'महर' देता है, यह एक प्रकार का 'कन्या-मूल्य' (Bride Price) है। मुसलमानों में पत्नी को धन-राशि देने का जो इकरार किया जाता है वह इनके विवाह के ठेके होने के रूप के साथ एकदम ठीक बैठता है। अगर पति-पत्नी के बीच किन्हीं शर्तों के आधार पर विवाह होता है, तो पत्नी माँग कर सकती है कि अगर बिना कारण के पति ने उसे छोड़ दिया तो वह क्या दंड देगा? इसी का रूप मुसलमानों में 'महर' है। मुसलमानों में महर ने वही कुप्रथा का रूप धारण कर लिया है जो हिन्दुओं में दहेज ने धारण किया हुआ है, जैसे हिन्दू दहेज की प्रथा से परेशान हैं वैसे मुसलमान 'महर' की प्रथा से परेशान हैं।

(ग) तलाक—प्रचलित हिन्दू-व्यवस्था के अनुसार हिन्दुओं में पति-पत्नी का सम्बन्ध इस जन्म का ही नहीं, जन्म-जन्मान्तर का है, इसलिए इनमें १९५५ से पहले 'हिन्दू-विवाह-अधिनियम' बनने तक तलाक नहीं हो सकता था, अब कुछ विशेष अवस्थाओं में हो सकता है। इन अवस्थाओं का वर्णन हम 'तलाक' के अध्याय में कर आये हैं। मुसलमानों में क्योंकि विवाह पति-पत्नी का एक इकरार है, समझौता है, इसलिए इनमें विवाह-विच्छेद हो सकता है। इसी अध्याय में हम उन अवस्थाओं का वर्णन कर आये हैं, जिनमें मुसलमान-पति अथवा मुसलमान-पत्नी तलाक की माँग कर सकती है। १९३९ के 'मुस्लिम-विवाह-विच्छेद अधिनियम' से पहले पत्नी को तलाक के उतने अधिकार नहीं थे जितने पति को थे। अब पत्नी के भी विशेष-विशेष अवस्थाओं में, जिनका वर्णन हम कर चुके हैं, तलाक के अधिकार प्राप्त हो गये हैं।

(घ) विवाह में वर्जित-सम्बन्ध—हिन्दुओं में सगोत्र तथा सपिंड में विवाह नहीं हो सकता। सपिंड में पिता की सात तथा माता की पाँच पीढ़ियों में विवाह का निषेध था, अब वह पिता की पाँच तथा माता की तीन पीढ़ियों में नहीं हो सकता। मुसलमानों में यह नियम इतना कड़ा नहीं है। मुसलमानों में किन-किन रिश्तों में विवाह-सम्बन्ध नहीं हो सकता—इसका वर्णन हम कर आये हैं। इसका परिणाम यह है कि हिन्दुओं में विवाह का क्षेत्र बहुत सीमित रह जाता है, मुसलमानों में उनके विवाह का क्षेत्र इतना सीमित नहीं है, उनमें नजदीकी रिश्तों में विवाह-सम्बन्ध हो जाता है।

(ङ) विधवा-विवाह—हिन्दुओं में विधवा-विवाह-कानून तो बना हुआ है, परन्तु फिर भी विधवा-विवाह को बुरा माना जाता है। विवाह क्योंकि जन्म-जन्मान्तर का सम्बन्ध माना जाता है, एक धार्मिक-कृत्य, इसलिए पति की मृत्यु के बाद भी उसका पवित्र सम्बन्ध बना रहता है। मुसलमानों में विवाह एक समझौता

है। एक पति मर गया तो दूसरा पति करने में कोई अपवित्रता का विचार मन में नहीं आता, इसलिए मुस्लिम-विवाह में विधवा-विवाह जायज है। इतना अवश्य है कि विधवा अपना पुर्नविवाह कुछ समय ठहर कर कर सकती है। इस प्रतीक्षा के समय को 'इद्दत' कहते हैं। 'इद्दत' का समय प्रतीक्षा में इसलिए बिताना पड़ता है जिससे पता लग जाय कि स्त्री गर्भवती है या नहीं। अगर स्त्री गर्भवती हो तो उसकी सन्तान का पिता कौन है—इस प्रकार का झगड़ा नहीं पड़ सकता। 'इद्दत' के प्रतीक्षा-काल के बाद विधवा विवाह कर सकती है।

(च) मुताह—हम पहले लिख आये हैं कि शिया-सम्प्रदाय के मुसलमानों में एक प्रकार का अस्थायी-विवाह प्रचलित है जिसे 'मुताह' कहते हैं। इसमें पति-पत्नी कुछ निश्चित-काल के लिए, निश्चित 'महर' तय करके एक-साथ रहते हैं। इस विवाह के बच्चे जायज समझे जाते हैं। समय समाप्त होने पर ये विवाह अपने-आप समाप्त समझे जाते हैं। इस प्रकार की कोई प्रथा हिन्दुओं में नहीं है। 'नियोग' की प्रथा है, परन्तु उसका उद्देश्य सिर्फ़ पुत्र उत्पन्न करना होता है, और वह विवाहिता स्त्री कर सकती है। असल में, न मुसलमानों में 'मुताह' चलता है, न हिन्दुओं में 'नियोग' चलता है।

९. हिन्दुओं तथा मुसलमानों में स्त्री की स्थिति की तुलना

'भारतीय नारी की स्थिति'—इस अध्याय में हिन्दू तथा मुस्लिम स्त्री की स्थिति की तुलना करते हुए हम लिख आये हैं कि १९५५ के 'हिन्दू-विवाह-कानून' के पास होने के बाद से जो परिस्थितियाँ अब उत्पन्न हो गई हैं उनके आधार पर तो कहा जा सकता है कि हिन्दू-स्त्री की स्थिति अपनी मुसलमान बहिन की अपेक्षा काफ़ी ऊँची हो गई है, परन्तु अगर दोनों धर्मों में अलग-अलग-से, उनके धर्म-ग्रन्थों में प्रतिपादित स्त्री की स्थिति सम्बन्धी विचारों को ध्यान में रखा जाय, तो कहना पड़ेगा कि मुस्लिम-स्त्री की स्थिति मध्य-काल की हिन्दू-स्त्री की स्थिति से कई बातों में अच्छी रही है। किन बातों में मुस्लिम-स्त्री की स्थिति हिन्दू-स्त्री की स्थिति से अच्छी रही है?

(क) बहु-पत्नी-विवाह—यद्यपि मुसलमानों में अनेक पत्नियों से विवाह की आज्ञा रही है, तो भी उनके यहाँ इसकी कोई सीमा तो रखी गई है। वे लोग चार पत्नियों से ज्यादा से विवाह नहीं कर सकते, चार भी तब कर सकते हैं, अगर सब के साथ एक-समान बर्त्ताव का वायदा करें। हिन्दुओं में तो इसकी कोई सीमा ही नहीं रही। रजवाड़ों में रानियों से महल भरे रहते थे और इतनी स्त्रियाँ रखने पर किसी को समाज के सामने मुँह दिखाते हुए शर्म नहीं आती थी। बहु-पत्नी-विवाह का दुष्परिणाम मुस्लिम-स्त्रियाँ भी भुगतती रही हैं, परन्तु हिन्दू-स्त्रियाँ मुसलमान बहनों से भी ज्यादा इसके दुष्परिणाम का शिकार रही हैं। यह प्रथा अब नये विधान से रुकी है। नया विधान सिर्फ़ हिन्दुओं के लिए बना है, इसलिए अब मुस्लिम-महिला अपनी हिन्दू-बहन से अधिक पिछली हालत में चली गई है। आवश्यकता इस बात की है कि जैसे हिन्दुओं के लिए बहु-पत्नी-विवाह

वर्जित कर दिया गया है, वैसे मुसलमानों के लिए भी इसे वर्जित किया जाना चाहिए।

(ख) तलाक तथा विधवा-विवाह की आज्ञा—तलाक की आज्ञा होने के कारण मुसलमान स्त्रियाँ इतना दुःखमय जीवन नहीं बिताती रहीं जितना हिन्दू-स्त्रियों ने बिताया है और बिता रही हैं। मुसलमानों ने विवाह को पति-पत्नी का एक समझौता माना है और इसके तर्क-संगत परिणामों को अपनी विवाह-व्यवस्था में स्थान दिया है। अगर पति-पत्नी एक-दूसरे से दुःखी हैं, साथ नहीं रह सकते, तो सुलहनामे से तो जुदा हो सकते हैं. हिन्दुओं में तो सुलहनामे से भी जुदा नहीं हो सकते। हिन्दू-स्त्री अगर दुःखी है, तो उसे अपनी सामाजिक-व्यवस्था की बलि-वेदी पर अपने को कुर्बान करना ही होगा, करना ही होगा, उसके पास दूसरा कोई चारा नहीं है। मुस्लिम-स्त्री इस दृष्टि से बहुत अच्छी स्थिति में है। तलाक का कानून अब पास हुआ है। मुसलमानों का समाज तो तलाक को मानता है, वह उसके लिए तैयार है, हिन्दुओं का समाज तलाक के कानून बन जाने पर भी उसके लिए तैयार नहीं है। हो सकता है, धीरे-धीरे हिन्दू-स्त्रियाँ तलाक का लाभ उठाने लगें, परन्तु अभी बहुत देर तक उनसे इसका लाभ उठाने की आशा नहीं है। तलाक की तरह विधवा-विवाह भी मुसलमानों में जायज है। इनमें कोई विधवा जन्म भर दुःखी नहीं रहती, उसका विवाह हो जाता है। हिन्दुओं में विधवा होना जन्म भर का रोना है। विधवा-विवाह कानून बना है, परन्तु प्रथा इतनी ज़बर्दस्त है कि बिरली विधवा विवाह करने का साहस करती है।

(ग) महर—आर्थिक-दृष्टि से मुसलमान-स्त्री की स्थिति हिन्दू-स्त्री से बहुत अच्छी है। विवाह क्योंकि दो व्यक्तियों का इकरार है, इसलिए इसमें शर्त्त भी रखी जाती है। मुसलमानों में पत्नी की यह शर्त्त होती है कि वह उसके भरण-पोषण की ही व्यवस्था न करे, अपितु उसे स्वतंत्र रूप से धन भी दे। यह स्त्री-धन 'महर' कहलाता है। हिन्दुओं में इससे उल्टा है। कन्या-पक्ष के लोग एक तो लड़की देते हैं, उसके साथ 'दहेज' भी देते हैं। तलाक के समय स्त्री अपना 'महर' माँगती है, पति के मरने पर भी उसे 'महर' मिलता है। 'महर' की प्रथा मुसलमान-स्त्री की स्थिति को आर्थिक-दृष्टि से हिन्दू-स्त्री की अपेक्षा बहुत ऊँची बना देती है। 'महर' एक तरह से तलाक पर प्रतिबन्ध है। शादी के समय लड़की के लिए ज्यादा-से-ज्यादा 'महर' तय किया जाता है। ज्यादा 'महर' तय करने का परिणाम यह है कि ग़रीब आदमी तो आसानी से तलाक दे ही नहीं सकता। अगर तलाक दे तो 'महर' देना पड़ता है, इतनी रकम होती नहीं और तलाक की नौबत आती नहीं। अगर मुसलमानों में 'महर' की प्रथा न होती, तब तो मुस्लिम-स्त्री की स्थिति अत्यन्त दयनीय हो जाती क्योंकि पुरुष को तलाक के इतने अधिकार दिये गये हैं कि वह जब चाहता स्त्री को तलाक देकर कहीं का न रहने देता। मुस्लिम-कानून ने जहाँ एक तरफ़ पुरुष को तलाक का अक्षुण्ण अधिकार दिया है, वहाँ पुरुष की उच्छृंखलता को काटने के लिए स्त्री को 'महर' का अधिकार दिया है। इसी

लिए स्त्रियां १५०००) तक का 'महर' तय कर लेती हैं ताकि पुरुष के तलाक के उच्छृंखल अधिकार पर नियन्त्रण रहे। स्त्री अपने 'महर' के अधिकार को माफ़ कर सकती है, परन्तु अब स्त्रियां इतनी होशियार होती जा रही हैं कि पुरुष की इस कुंजी को वे अपने हाथ में रखती हैं, कम-से-कम लड़की के माता-पिता अपनी पुत्री को इस दिशा में सचेत रखते हैं।

(घ) उत्तराधिकार—'महर' के अतिरिक्त मुसलमानों में माँ, पत्नी तथा लड़की को उत्तराधिकार में हिस्सा मिलता है। पति के मर जाने पर उसकी पत्नी को पति की सम्पत्ति में से $\frac{1}{8}$ हिस्सा मिलता है, आठ हज़ार छोड़ गया तो एक हज़ार उसे मिल जाता है। यह हिस्सा बच्चों के होने-न-होने पर कम-अधिक हो जाता है। लड़की को लड़के से $\frac{1}{2}$ हिस्सा मिलता है। अगर एक पत्नी, एक लड़का और दो लड़कियां हों और पति आठ हज़ार रुपया छोड़ जाय तो एक हज़ार तो पत्नी को मिलेगा, बाकी सात हज़ार को इस प्रकार बाँटा जायगा कि लड़के को जो मिले वह एक लड़की से दुगुना हो। अगर आठ हज़ार छोड़ गया है तो माँ को १ हज़ार, लड़के को ३५०० और दोनों लड़कियों में से हर लड़की को १७५० मिलेगा क्योंकि १७५० का दुगुना ३५०० बनता है। इस्लाम में स्त्री पुरुष से और लड़की लड़के से हर क्षेत्र में आधी मानी जाती है। स्त्री का अपनी निजी सम्पत्ति पर पूर्ण अधिकार होता है। वह अपनी सम्पत्ति का $\frac{1}{3}$ हिस्सा बेच सकती है, और चाहे तो अपनी सारी सम्पत्ति दान में दे सकती है। जिस मुस्लिम-स्त्री की आर्थिक-स्थिति सदियों तक यह रही है उसकी हिन्दू-स्त्री के साथ आर्थिक-क्षेत्र में क्या तुलना की जा सकती है, उसे तो आर्थिक-दृष्टि से सर्वथा शून्य रखा गया है। 'अब हिन्दू-उत्तराधिकार-अधिनियम' के पास हो जाने पर हिन्दू-स्त्री की आर्थिक-स्थिति में कुछ सुधार हो जाने की आशा है, परन्तु इसमें अभी बहुत समय अपेक्षित है।

(ङ) विवाह के लिये स्वीकृति—मुस्लिम-विवाह में विवाह का प्रस्ताव रखा जाता है, उसकी कन्या से स्वीकृति ली जाती है। हिन्दू-विवाह में अब लोग भले ही कन्या को पूछने लगे हैं, नहीं तो सदियों से कन्या की स्वीकृति लेने की पुरानी, वैदिक परम्परा लुप्त हो चुकी है। इस दृष्टि से भी मुस्लिम-महिला की स्थिति हिन्दू-महिला से अच्छी ही समझी जानी चाहिए।

१०. फिर भी मुस्लिम-स्त्री की स्थिति हीन ही क्यों है?

मुस्लिम-स्त्री की जो कानूनी-स्थिति रही है वह हिन्दू-स्त्री से कहीं अधिक अच्छी रही है, परन्तु फिर भी व्यावहारिक-जगत् में देखा जाय तो हिन्दू-स्त्री अपनी मुस्लिम-बहिन से बहुत आगे बढ़ी हुई है। इसका क्या कारण है?

(क) मुसलमान शासक रह चुके थे इसलिये वे नवीन-प्रगतियों से अपने को अलग रखते रहे—मुसलमानों की विवाह-व्यवस्था अत्यन्त प्रगतिगामी व्यवस्था कही जा सकती है, परन्तु ऐसी व्यवस्था के होते हुए भी मुस्लिम-स्त्रियां अपने को प्रगति की अग्र पंक्ति में न रख सकीं। इसका मुख्य कारण यह है कि अंग्रेजों के इस देश में आने से पहले मुसलमानों का शासन था। मुसलमान यह बात न भूल

सके कि अभी तो वे शासक थे। इसका परिणाम यह हुआ कि अंग्रेज़ों के आगमन के साथ पाश्चात्य-शिक्षा का जो प्रवाह इस देश में उमड़ा उससे मुसलमान अपने को सर्वथा अलग रखते रहे। आंग्ल-शिक्षा का प्रभाव हिन्दुओं पर तो हुआ, मुसलमानों पर उतना नहीं हुआ, इसलिए नहीं हुआ क्योंकि मुसलमान स्वयं आंग्ल-प्रभाव से दूर रहने की कोशिश करते रहे। यही कारण है कि हिन्दू अपनी अप्रगतिगामी-व्यवस्था के बावजूद आंग्ल-सम्पर्क में आने के कारण उन्नति करते चले गये, उनकी स्त्रियाँ शिक्षा के क्षेत्र में आगे बढ़ती चली गईं, और मुस्लिम-स्त्रियाँ अपनी प्रगतिगामी-व्यवस्था के बावजूद आंग्ल-सम्पर्क से बचते रहने के कारण अपने दकियानूसी विचारों में ही चक्कर काटती रहीं।

(ख) मुसलमानों की धार्मिक कट्टरता ने भी उन्हें आगे नहीं बढ़ने दिया—मुसलमानों में धार्मिक-कट्टरता बहुत अधिक है। मुसलमान के सामने एक ही रास्ता है, इस्लाम का रास्ता। जो इस रास्ते को नहीं अपनाता वह उच्च मुसलमान नहीं है। हिन्दुओं के साथ यह बात नहीं। हिन्दू आस्तिक भी हो सकता है, नास्तिक भी हो सकता है, शाकाहारी भी हो सकता है, मांसाहारी भी हो सकता है, वह किसी बात में कट्टर नहीं है, उसके सामने सिर्फ़ एक रास्ता नहीं, सब रास्ते खुले हैं। जिसके सामने सब रास्ते खुले हों वह प्रगतिगामी विचारों को झट-से पकड़ लेता है, इसलिए पकड़ लेता है क्योंकि उसे बाँधने वाली कोई वस्तु नहीं। पाश्चात्य-विचारों की जब लहर उठी, हिन्दुओं ने उसे झट-से पकड़ लिया, मुसलमान अपनी कट्टरता के कारण उस लहर का लाभ न उठा सके। जो-कुछ सारे मुस्लिम-समाज ने किया वही-कुछ मुस्लिम-महिला ने किया। वह भी इस्लामी-विचारों में पली होने के कारण धार्मिक-कट्टरता को नहीं छोड़ सकी, और इसी लिए प्रगति के मार्ग में वह हिन्दू-स्त्री का मुकाबिला न कर सकी।

(ग) मुसलमान-स्त्रियों ने अपने अधिकारों का प्रयोग नहीं किया—यह तो ठीक है कि मुसलमान-स्त्रियों की वैवाहिक-स्थिति हिन्दू-स्त्रियों से बहुत अच्छी थी। उसे सब तरह के अधिकार थे, परन्तु ये अधिकार अब नाममात्र के रह गये थे, वह उनका प्रयोग नहीं कर रही थी। पर्दे में बन्द रहने के कारण मुस्लिम-स्त्री शिक्षा से सर्वथा शून्य रही। जिसे शिक्षा प्राप्त न हो, उसे कितने ही अधिकार क्यों न दे दिये जायें, सब बेकार हैं, और इसी लिए अशिक्षिता मुस्लिम-महिला सब अधिकारों के होते हुए भी अधिकार-शून्य ही बनी रही!

(घ) मुसलमानों में निम्न-स्तर के व्यक्ति अधिक हैं जिनमें प्रगतिगामिता का अभाव होता है—मुसलमानों में अधिकतर जन-संख्या निम्न-जातियों की है। निम्न वर्ग के लोग उच्च-वर्गों से पृथक् रहते हैं, इनके दायरे छोटे रहते हैं, इनके स्वार्थ तथा हित भी अत्यन्त सीमित होते हैं। इसका परिणाम यह होता है कि ये लोग अपनी पुरानी प्रथाओं से बँधे रहते हैं, नवीन विचारों, नवीन प्रवृत्तियों को ये लोग पचा नहीं सकते। इसके विपरीत उच्च-वर्गों के लोगों के दायरे बड़े होते हैं, उनके स्वार्थ तथा हित भी विस्तृत होते हैं, और इसी लिए इस वर्ग के लोग नवीन

विचारों, नवीन प्रवृत्तियों को अपना लेते हैं। हिन्दुओं में क्योंकि उच्च-वर्ग के लोगों की संख्या पर्याप्त रही है, इसलिए मुसलमानों की अपेक्षा हिन्दुओं में प्रगतिशीलता अधिक पायी जाती है। हिन्दुओं की प्रगतिशीलता का ही प्रतिबिम्ब उनके स्त्री-समाज पर पड़ा है और यही कारण है जिससे मुसलमान-स्त्रियां कानूनों की अनुकूलता होने पर भी हिन्दू-स्त्रियों के समान उन्नति नहीं कर सकीं।

(ङ) मुस्लिम-समाज में प्रगति १९वीं शताब्दी के समाज-सुधारक आन्दोलनों द्वारा हुई—यद्यपि मुस्लिम-समाज के कानूनों में पर्याप्त प्रगतिशीलता है तो भी व्यावहारिक तौर पर वे आगे नहीं बढ़ सके। जब १९वीं शताब्दी में हिन्दुओं ने प्रथाओं तथा रूढ़ियों को उखाड़ फेंकने का प्रयत्न किया, तब हिन्दुओं के समाज-सुधार के आन्दोलनों को देख कर मुसलमानों में भी वहाबी, अहमदिया तथा अलीगढ़ आन्दोलन आदि समाज-सुधारक आन्दोलन प्रारम्भ हुए। इन आन्दोलनों का वर्णन हमने अपनी पुस्तक 'समाज-कल्याण तथा सुरक्षा' में किया है। इन आन्दोलनों के बाद मुसलमानों में सुधार-सम्बन्धी प्रवृत्तियां बढ़ीं और उनके साथ स्त्री की स्थिति में भी सुधार हुआ।

३४

हिन्दू तथा मुस्लिम संस्थाओं का पारस्परिक प्रभाव

(IMPACT OF HINDU AND MUSLIM INSTITUTIONS)

किसी देश की भी संस्कृति, वहाँ की सामाजिक-रचना, संगठन, सब-कुछ शुद्ध, अपना ही रहे, उस पर अन्य संस्कृतियों का, अन्य देश की सामाजिक-रचना या संगठन का प्रभाव न पड़े—ऐसा नहीं होता। जब दो संस्कृतियाँ एक-दूसरे के सम्पर्क में आती हैं, तब दोनों में आदान-प्रदान, लेना-देना होता ही है। हिन्दू-संस्कृति, हिन्दू-सामाजिक-संगठन, हिन्दू-संस्थाएँ अन्य देशों की संस्कृतियों के सम्पर्क में आयीं, उनमें आदान-प्रदान हुआ, कुछ इन्होंने लिया, कुछ दूसरों को दिया, इसी प्रकार यहाँ की संस्कृति का, यहाँ के सामाजिक-संगठन का, यहाँ की संस्थाओं का निर्माण हुआ।

संसार में संस्कृतियों का, सामाजिक-संगठनों का एक-दूसरे पर प्रभाव कैसे पड़ता है—पहले हम इस पर विचार करेंगे, और फिर इस विषय पर विचार करेंगे कि मुसलमानों ने अपनी संस्कृति तथा अपने संगठनों से किस प्रकार हिन्दू-व्यवस्था को प्रभावित किया, और किस प्रकार हिन्दुओं ने अपनी संस्कृति तथा संगठनों से मुस्लिम-व्यवस्था को प्रभावित किया।

१. संस्कृति के एक-दूसरे को प्रभावित करने की प्रक्रिया

जब दो संस्कृतियाँ कारण-वश एक-दूसरे के सम्पर्क में आती हैं, तब वे एक-दूसरे पर किसी-न-किसी प्रकार का प्रभाव अवश्य डालती हैं। यह प्रभाव किस प्रकार का होता है?

(क) आत्मसात्-करण या संस्कृतीकरण (Assimilation or Acculturation)—जब कोई वस्तु दूसरी वस्तु के साथ अपने को एक कर देती है, उसमें घुल-मिल जाती है, अपनी पृथक् सत्ता को खोकर उसमें अपने को विलीन कर देती है, तब 'आत्मसात्-करण' (Assimilation) की प्रक्रिया होती है। उदाहरणार्थ, शरीर में जो भोजन जाता है वह भोजन के रूप में न रह कर भिन्न-भिन्न अंगों का रस बन जाता है। यह भोजन का शरीर के अंगों के साथ 'आत्मसात्-करण' है, इसकी स्वयं पृथक्-सत्ता न रही, यह अंगों के रूप में बदल गया। यही प्रक्रिया जब दो संस्कृतियों में होती है, जब उन दो संस्कृतियों में से एक अपने को खोकर दूसरी में विलीन कर देती है, दूसरी का ही रूप धारण कर लेती है, तब इसी 'आत्मसात्-करण' (Assimilation) की प्रक्रिया को 'संस्कृतीकरण' (Acculturation) की प्रक्रिया कहते हैं।

दो संस्कृतियाँ जब मिलती हैं तब प्रबल-संस्कृति निर्बल-संस्कृति पर इतनी हावी हो जाती है कि प्रबल में निर्बल का आत्मसात्-करण हो जाता है, निर्बल अपनी पृथक्-सत्ता खोकर सबल में विलीन हो जाती है।

(ख) विरोधीकरण या विसंस्कृतीकरण (Conflict or Contra-culturation)—जब कोई समुदाय दूसरे समुदाय के सम्पर्क में आता है, उनमें से अगर दोनों एक-दूसरे के समान बल के होते हैं, कोई दबने के लिए तैयार नहीं होता, तब उनका एक-दूसरे के साथ संघर्ष छिड़ जाता है। जब इस प्रकार की दो सबल संस्कृतियाँ एक ही मैदान में उतर पड़ती हैं, तब इनमें से कोई पीछे हटने को तैयार नहीं होती, और इनमें संघर्ष छिड़ जाता है। संस्कृतियों में इस विरोधी-करण की प्रक्रिया को संस्कृति की परिभाषा में 'विसंस्कृतीकरण' (Contra-culturation) कहा जाता है।

(ग) व्यवस्थीकरण (Accommodation)—विरोधीकरण की प्रक्रिया में या तो एक बच रहता है, दूसरा नष्ट हो जाता है, या दोनों थक कर एक-दूसरे के साथ समझौता कर लेते हैं, कुछ यह छोड़ता है, कुछ वह छोड़ता है, और अपनी बात छोड़ते हुए दोनों एक-दूसरे की कुछ-कुछ बातें ले लेते हैं। जब एक-दूसरे के समान बल की संस्कृतियाँ आमने-सामने की टक्कर में आ खड़ी होती हैं, दोनों में से कोई दूसरी को नष्ट नहीं कर सकती, तो उसमें भी कुछ अपना छोड़ना, कुछ दूसरे का लेना—यह प्रक्रिया चल पड़ती है, और इस प्रकार एक 'सामासिक-संस्कृति' (Composite Culture) का विकास होता है, जो न यह ही होती है, न वह ही होती है, जिसमें दोनों की कुछ-कुछ बातें मिली-जुली होती हैं, ये दोनों संस्कृतियाँ एक-दूसरे की बातों को अपने में 'व्यवस्थित' (Accommodate) कर लेती हैं और इस प्रकार लगातार के संघर्ष से बच जाती हैं। 'व्यवस्थान' की इस प्रक्रिया को 'व्यवस्थीकरण' कहा जा सकता है।

२. मुस्लिम तथा हिन्दू संस्कृति का एक-दूसरे पर प्रभाव

मुसलमान जब भारत में आये तब विजेता बन कर आये। विजेता होने के कारण ही उनका रोब-दाब था, उनका प्रभाव जबर्दस्त था। उनकी संस्कृति को प्रभावशाली समझने का यह राजनैतिक-कारण तो था ही, परन्तु साथ ही उनकी संस्कृति भी असाधारण-संस्कृति थी। वे एक ईश्वर की पूजा करते थे, मूर्त्ति-पूजा को नहीं मानते थे, भ्रातृ-भाव को अपने कार्य का आधार मानते थे, जाति-पाँति के भेद-भाव से मुक्त थे। राजनैतिक तथा हिन्दुओं से सर्वथा भिन्न विचार-धाराओं के कारण उनकी संस्कृति में अपूर्व जीवनी-शक्ति थी। भारतवर्ष में आकर उन्हें जिस संस्कृति से वास्ता पड़ा वह भी कोई साधारण संस्कृति नहीं थी। हजारों वर्षों से यह संस्कृति जीवित थी, और हिन्दू लोग राजनैतिक-दृष्टि से पराजित होने पर भी इन विजेताओं को म्लेच्छ ही समझते थे, इनसे छूए जाना भी पाप समझते थे। ऐसी दो विलक्षण संस्कृतियों का जब आपस में टाकरा हुआ तब उनमें एक-दूसरे को हजम कर जाने की, आत्मसात्-करण (Assimilation)

अथवा 'संस्कृतीकरण' (Acculturation) की प्रक्रिया तो हो ही नहीं सकती थी, इसलिए नहीं हो सकती थी क्योंकि दोनों प्रबल विचार-धाराओं की संस्कृतियाँ थीं, कोई संस्कृति अपने को दूसरे में विलीन करने के लिए तैयार नहीं थी। इसके दो ही परिणाम हो सकते थे। या तो वे एक-दूसरे के साथ संघर्ष करती रहें, उनमें 'विरोधीकरण' (Conflict) या 'विसंस्कृतीकरण' (Contra-culturation) की प्रक्रिया बनी रहे, या वे एक-दूसरे के साथ समझौता कर लें, 'व्यवस्थीकरण' (Accommodation) कर लें, एक-दूसरे से कुछ लें, कुछ दें, आदान-प्रदान करें, थोड़ा अपने को बदलें, थोड़ा दूसरे को बदलें, 'सामासिक-संस्कृति' (Composite culture) को जन्म दें।

हम देखेंगे कि मुस्लिम तथा हिन्दू संस्कृतियाँ एक-दूसरे को नष्ट नहीं कर सकीं, इनमें 'आत्मसात्-करण' की प्रक्रिया नहीं हुई, अपितु कभी-कभी 'विसंस्कृतीकरण' की और मुख्य तौर पर 'व्यवस्थीकरण' की प्रक्रिया हुई। इन दोनों संस्कृतियों का एक-दूसरे पर प्रभाव चार प्रकार का हुआ।

३. मुस्लिम तथा हिन्दू संस्कृति का एक-दूसरे पर चार प्रकार का प्रभाव

मुस्लिम तथा हिन्दू संस्कृति का एक-दूसरे पर प्रभाव, चाहे उसका रूप 'विसंस्कृतीकरण' का रहा हो, चाहे 'व्यवस्थीकरण' का, चार प्रकार का हुआ :—

(क) नगरों तथा उच्च वर्गों में यह प्रभाव विशेष रूप से हुआ—मुसलमान जब आक्रान्ता के रूप में भारत में आये तब उनकी प्रगतियों के केन्द्र विशेष रूप से गाँव न होकर नगर रहे। यह स्वाभाविक ही था। जब कोई आक्रान्ता किसी देश पर आक्रमण करता है तब वह बड़े-बड़े नगरों पर ही कब्जा करता है। नगर राजनैतिक तथा आर्थिक शक्ति के केन्द्र होते हैं, उन्हें अपने हाथ में कर लेने से देश की राजनैतिक तथा आर्थिक शक्ति अपने हाथ में आ जाती है। मुसलमानों ने भी नगरों पर ही आक्रमण किये और उन्हें हस्त-गत किया। क्योंकि आक्रान्ता-मुसलमानों की संख्या सीमित थी, इसलिए वे इस देश के नगरों में ही खप गये और उन्हीं में रहने लगे। इसका परिणाम यह हुआ कि नगरों में रहने वाले हिन्दू ही इन लोगों के सम्पर्क में आये और क्योंकि नगरों में उच्च-वर्ग के लोग रहते हैं, निम्न-वर्ग के नहीं, इसलिए उच्च-वर्ग के हिन्दुओं का मुसलमान-शासकों से राजनैतिक, सामाजिक तथा आर्थिक सम्पर्क हुआ। यही कारण है कि संस्कृतियों का आदान-प्रदान उच्च-वर्ग के हिन्दुओं तथा उच्च-वर्ग के मुसलमानों में जितना हुआ उतना निम्न-वर्ग के हिन्दुओं तथा निम्न-वर्ग के मुसलमानों में नहीं हुआ।

(ख) ग्रामों तथा निम्न-वर्गों में यह प्रभाव बहुत कम हुआ—नगरों में प्रभुत्व-स्थापन करने के बाद मुसलमानों का प्रभाव ग्रामों में भी पहुँचा। ग्रामों के कुछ लोगों ने इस्लाम में दीक्षा ली, साथ ही निम्न-वर्ग के लोगों ने भी यह देख कर कि हिन्दू रहते हुए तो उनका सामाजिक-स्तर ऊँचा नहीं होता, मुसलमान होने पर वे शासक-वर्ग की श्रेणी में गिने जाने लगेंगे, धर्म-परिवर्तन कर लिया। गाँवों

के तथा निम्न-वर्ग के तेली, धुनिये, जुलाहे आदि परिस्थितियों के कारण मुसलमान तो हो गये, परन्तु उन्होंने अपनी हिन्दू-प्रथाओं, परम्पराओं को नहीं छोड़ा।

(ग) 'व्यवस्थीकरण' (Accommodation) की प्रक्रिया द्वारा इस्लामी-संस्कृति पर हिन्दू-प्रभाव—हिन्दू तथा मुस्लिम संस्कृतियों के सम्पर्क का एक-दूसरे पर जो प्रभाव हुआ, उसका तीसरा रूप इस्लामी-संस्कृति स्वयं है। इस्लाम ने जब इस देश में प्रवेश किया तब यह शुद्ध एकेश्वरवादी था, ईश्वर के सिवाय किसी अन्य की पूजा में विश्वास नहीं करता था, मनुष्यमात्र को भाई-भाई समझता था, इसमें ऊँच-नीच का भेद-भाव नहीं था। हिन्दुओं के सम्पर्क में आने के बाद इसका वह शुद्ध रूप न बना रहा। इस्लाम में पीर-पूजा प्रारम्भ हो गई, जो मुसलमान शुरू-शुरू में इस देश में आये थे वे ऊँचे समझे जाने लगे, जो धर्म-परिवर्तन के द्वारा हिन्दुओं से मुसलमान बने थे वे निम्न कोटि के समझे जाने लगे, एक प्रकार के ऊँच-नीच के 'सामाजिक-संस्तरण' (Social stratification) ने मुसलमानों की सामाजिक-रचना में भी प्रवेश कर लिया। जन्म पर आश्रित ऊँच-नीच के भेद-भाव को मानने वाले हिन्दू-समाज के बीच अपने को पाकर मानवमात्र की एकता की भावना को इस्लाम देर तक न रख सका। यह एक प्रकार की 'व्यवस्थीकरण' (Accommodation) की प्रक्रिया थी।

(घ) 'विसंस्कृतीकरण' तथा 'व्यवस्थीकरण' की प्रक्रिया द्वारा हिन्दू-संस्कृति पर इस्लामी-प्रभाव—जैसे हिन्दू-संस्कृति का इलामी-संस्कृति पर प्रभाव पड़ा, वैसे इस्लामी-संस्कृति का भी हिन्दू-संस्कृति पर प्रभाव पड़ा। यह प्रभाव दो तरह का था। इस्लाम के सम्पर्क में आकर हिन्दू-संस्कृति की पहली प्रतिक्रिया विरोध की थी। क्योंकि हिन्दू-संस्कृति बलवती संस्कृति थी, सदियों की परम्परा से चली आ रही थी, इसलिए पराजित होने पर भी हिन्दू-समाज ने मुसलमानों को घृणा से देखना शुरू किया। मुसलमान म्लेच्छ था, भ्रष्ट था, उसे छूने से भी हिन्दू अपवित्र हो जाता था, जो मुसलमान को छू लेता, उसके साथ जो खा लेता वह जाति से बहिष्कृत कर दिया जाता था। मुसलमानों के भारत में आने के बाद से हिन्दुओं में जाति-व्यवस्था का कठोरता से पालन होने लगा, विवाह के नियम और अधिक जटिल हो गये। यह 'विरोधीकरण' अथवा 'विसंस्कृतीकरण' (Conflict or Contra-culturation) की प्रक्रिया थी, इस प्रक्रिया द्वारा हिन्दू-धर्म अपनी रक्षा करने पर जुट गया। परन्तु 'विरोधीकरण' की प्रक्रिया एक विजेता जाति के सम्मुख देर तक नहीं रह सकती थी। राजनैतिक तथा आर्थिक लाभ तो मुसलमानों के साथ घुल-मिल जाने में थे। मुसलमानों के हाथ में शक्ति थी, वे जिसे चाहते निहाल कर सकते थे। इन परिस्थितियों में विरोध की भावना कब तक बनी रह सकती थी। इसका परिणाम यह हुआ कि हिन्दू-समाज के कुछ हिस्सों में 'व्यवस्थीकरण' (Accommodation) की प्रक्रिया भी प्रारम्भ हो गई। जो लोग राजनैतिक तथा आर्थिक लाभ को धार्मिक लाभ की अपेक्षा अधिक महत्त्व देते थे, उन्होंने इस्लाम की दीक्षा तो नहीं ली, परन्तु

मुसलमानों की अनेक बातों को ग्रहण कर लिया। उदाहरणार्थ, कायस्थ तथा खत्री मुसलमानों के सम्पर्क में अधिक आये। कायस्थ हिसाब-किताब में दक्ष थे, खत्री व्यापार में निपुण थे। इन लोगों को यह अनुभव हुआ कि अपनी उन्नति के लिए इन्हें अपने को इस्लामी रंग में ढालना ही श्रेयस्कर रहेगा। इसी का परिणाम है कि उच्च घरानों के कायस्थों तथा खत्रियों में मुसलमानीपन पाया जाता है। मुसलमानी खान-पीन, रहन-सहन, भाषा आदि का इन जातियों पर विशेष प्रभाव पड़ा। यह सब प्रक्रिया 'व्यवस्थीकरण' (Accommodation) की प्रक्रिया थी। अंग्रेजों के आने के बाद जब हिन्दुओं तथा मुसलमानों ने मिल कर उनके प्रति विद्रोह किया तब 'व्यवस्थीकरण' की प्रक्रिया और आगे बढ़ी, परन्तु अंग्रेजों के जाने के बाद जब उन्होंने भारत का विभाजन किया तब 'विरोधीकरण' (Conflict) तथा 'विसंस्कृतीकरण' (Contra-culturation) की प्रक्रिया ने फिर जोर पकड़ लिया।

हमने देखा कि हिन्दू तथा मुस्लिम संस्कृतियों का एक-दूसरे पर प्रभाव नगरों में हुआ, गाँवों में हुआ, हिन्दू-संस्कृति का मुस्लिम-संस्कृति पर हुआ, मुस्लिम-संस्कृति का हिन्दू-संस्कृति पर हुआ। परन्तु इस प्रभाव ने व्यावहारिक तौर पर दोनों समाजों के किन-किन क्षेत्रों को प्रभावित किया ? इन दोनों के पारस्परिक-सम्पर्क से जो क्षेत्र प्रभावित हुए, वे थे—धार्मिक-क्षेत्र, सामाजिक-क्षेत्र, साहित्यिक-क्षेत्र, वास्तु-कला का क्षेत्र, चित्र-कला का क्षेत्र तथा संगीत का क्षेत्र। अब हम इन सब पर अलग-अलग विचार करेंगे।

४. धार्मिक-क्षेत्र में हिन्दू-मुस्लिम संस्कृतियों का पारस्परिक-प्रभाव

(क) इस्लाम पर हिन्दू-धर्म का प्रभाव—मुसलमानों के भारत में आने से पूर्व यवन, शक, हूण, पार्थियन, कुशाण आदि आक्रान्ता इस देश में विजय-यात्रा पर आये थे, परन्तु उनकी अपनी कोई संस्कृति नहीं थी, अपनी कोई विचार-धारा नहीं थी। वे केवल आक्रान्ता थे, राज-शक्ति को लेकर आये थे, यहाँ आकर वे यहाँ की संस्कृति में इतने विलीन हो गये कि उनका पता भी नहीं चला कि वे कहाँ हैं, उनका 'संस्कृतीकरण' (Acculturation) हो गया। मुसलमान जब आये तब हिन्दू-धर्म के लिए एक समस्या उत्पन्न हो गई। मुसलमान केवल राज-शक्ति को लेकर ही नहीं आये थे, वे अपने साथ एक नवीन विचार-धारा को लेकर आये थे। उनका कहना था कि जो लोग अल्लाह और रसूल में ईमान ले आयेंगे, मुसलमान हो जायेंगे, वे एक-बिरादरी बनायेंगे, वे सब एक माने जायेंगे, जो बाकी रहेंगे वे सब काफ़िर माने जायेंगे, और काफ़िरों के साथ युद्ध करके उन्हें खतम करना होगा। दुनिया में मुसलमान ही रह सकेंगे, दूसरा कोई न रह सकेगा। इस विचार-धारा को लेकर मुसलमान इस देश में ही नहीं आये थे, अन्य देशों में भी बस गये थे और जहाँ ये गये वहीं इन्होंने सब को मुसलमान बना लिया। अगर इस देश में जीवनी-शक्ति न होती, तो हिन्दू-धर्म भी नष्ट हो गया होता,

परन्तु ऐसा नहीं हुआ, तलवार की धार के सामने भी इस देश ने सिर नहीं झुकाया। परिणाम यह हुआ कि कुछ देर तक तो दोनों संस्कृतियों में पारस्परिक संघर्ष चलता रहा, बाद में दोनों ने अपने को बदला। हिन्दुओं ने अपने को कैसे बदला यह तो हम आगे लिखेंगे, परन्तु पहले हमें यह देखना है कि कट्टर मुसलमानों ने अपने धर्म में क्या तब्दीली की।

(i) अकबर की तौहीदे-इलाही—हिन्दुओं तथा मुसलमानों को धार्मिक-स्तर पर एक-दूसरे के निकट लाने में अकबर ने बहुत प्रयत्न किया। उसने फ़तहपुर सीकरी में एक इबादत-खाने की स्थापना की जिसमें भिन्न-भिन्न इस्लामी सम्प्रदायों के लोग धार्मिक-चर्चा करते थे। जब अकबर ने इन सब को एक-दूसरे के विरुद्ध बहस करते देखा, तो उसने इस भवन को ग़ैर-मुस्लिम सम्प्रदायों के लिए भी खोल दिया और सब धर्मों के लोगों की इस इबादत-खाने में चर्चा होने लगी। अकबर ने एक नवीन धर्म की स्थापना की जिसका नाम उसने 'तौहीदे-इलाही' रखा। इस धर्म के अनुसार १५९३ में अकबर ने यह घोषणा कर दी कि किसी को जबर्दस्ती मुसलमान नहीं बनाया जा सकता, जो हिन्दू मुसलमान बना लिया गया है वह अगर फिर हिन्दू होना चाहे तो कोई रोक नहीं सकता, जबर्दस्ती किसी का धर्म-परिवर्त्तन नहीं किया जा सकता, सब को अपना-अपना धर्म-मन्दिर बनवाने की स्वतंत्रता है, किसी विधवा को जबर्दस्ती सती नहीं किया जा सकता। अकबर के ये विचार हिन्दू-धर्म के प्रभाव के कारण बने थे। अकबर ने जोधाबाई नामक एक हिन्दू-स्त्री से विवाह किया था। उसके घर में तुलसी की पूजा होती थी, यज्ञ-याग चलता था। अकबर ने हिन्दू-प्रभाव के कारण 'अल्लोपनिषद्' भी लिखवायी थी। अकबर ने फ़ैजी के द्वारा रामायण, महाभारत, योगवासिष्ठ तथा वेदान्त-दर्शन का फ़ारसी में अनुवाद भी करवाया था। अकबर ने गो-हत्या भी बन्द कर दी। अकबर के बाद जहांगीर और शाहजहाँ हुए जिनकी माताएँ हिन्दू-स्त्रियाँ थीं इसलिए इनके घरानों में हिन्दुत्व की धीमी-धीमी छाया बनी रही। शाहजहाँ के दो पुत्रों में से औरंगजेब ने तो फिर-से इस्लामी तलवार उठा ली, परन्तु दारा ने हिन्दू-धर्म के साथ अपनी एकात्मता का परिचय दिया।

(ii) पीरों और मजारों की पूजा—मुसलमान मूर्त्ति-पूजा के कट्टर शत्रु थे, देवी-देवताओं की पूजा को नहीं मानते थे, परन्तु बहुत दिनों के सहवास से कई स्थानों में उन्होंने हिन्दुओं की धार्मिक-प्रथाओं को अपना लिया। उदाहरणार्थ, बंगाल के मुसलमान शीतला माता की पूजा करने लगे, बिहार के मुसलमान छठ का व्रत रखने लगे। धीरे-धीरे भारत के मुसलमान अरब के मुसलमान न रहे। यहाँ के मुसलमान पीरों के मजारों की पूजा करने लगे, इन मजारों में उर्स लगाने लगे, इन उर्सों में मजारों की हिन्दुओं के समाधि-मन्दिरों की तरह फल-फूल चढ़ा कर पूजा होने लगी।

इस्लाम में इस प्रकार हिन्दुत्व की पेबन्द लगने का एक कारण यह भी है कि जब हजारों-लाखों को एकदम मुसलमान बनाया गया, गाँव वालों को, अपढ़

लोगों को, जो मिला उसी को मुसलमान बना लिया गया, तो वे मुसलमान तो बन गये, परन्तु अपने देवी-देवताओं को, अपने रीति-रिवाजों को भी साथ लेते आये। उनके लिए धर्म-परिवर्त्तन धर्म की ख़ातिर नहीं हुआ, भेड़ियाधसान की तरह हो गया। यही कारण है कि जो लोग 'लाशरीक-अल्लाह' के उपासक थे वे इस देश में आकर ग़ज़नी मियाँ, पाँच पीर, पीर बदर, ख्वाजा खिजिर आदि कल्पित देवताओं की पूजा करने लगे, पीरों की पूजा होने लगी, दशहरे के अनुकरण में ताज़िये निकाले जाने लगे। आगरे के आस-पास जो मलकाना मुसलमान हैं उनके नाम हिन्दुओं जैसे होते हैं, और वे बंदगी में राम-राम कहते हैं, मियाँ-ठाकुर कहलाते हैं। अजमेर के पास कुछ मुसलमान हुसैनी-ब्राह्मण कहे जाते हैं, बिहार में मुरियारो, दरभंगा, बनगाँव और सहर्षा जिलों में कुछ ब्राह्मण हैं जो 'खाँ' पदवी से सम्बोधित किये जाते हैं। इनके मुसलमान हो जाने पर भी हिन्दुत्व की पख ने इनका पीछा नहीं छोड़ा।

(iii) सूफ़ी-सम्प्रदाय पर हिन्दू-प्रभाव—हिन्दू-धर्म का इस्लाम पर जो प्रभाव पड़ा उसका एक अच्छा उदाहरण 'सूफ़ी'-सम्प्रदाय है। सूफ़ी लोग ईश्वर तथा जीव में अभेद मानते थे, और जिस प्रकार बौद्ध-दर्शन में आत्मा का 'निर्वाण' माना जाता है, और 'निर्वाण' का अर्थ दीप-शिखा के बुझ जाने जैसा माना जाता है, इसी प्रकार सूफ़ी लोग शंकर के वेदान्त की तरह जीव की ईश्वर से पृथक् सत्ता नहीं मानते थे और बौद्धों के 'निर्वाण' की तरह जीव के 'फ़ना'—नष्ट—होने के सिद्धान्त को मानते थे। यद्यपि सूफ़ी लोग अरब से आये थे, तो भी इनके विचारों पर शंकर के वेदान्त तथा भारत के बौद्ध-धर्म का प्रभाव पड़ चुका था। सूफ़ी लोगों को मुसलमान काफ़िर समझते थे। कई सूफ़ी पीरों को मुसलमानों ने प्राण-दंड भी दिया। दसवीं सदी के सूफ़ी पीर मंसूर-अल-हल्लाल अपने वेदान्त-सम्बन्धी विचारों के कारण शहीद कर दिये गये।

डॉ० ताराचन्द का कथन है कि शंकराचार्य का अद्वैतवाद सूफ़ी-पीरों के सम्पर्क में आने के कारण उत्पन्न हुआ, सूफ़ियों से शंकराचार्य ने अद्वैत-मत सीखा। शंकराचार्य केरल के थे और क्योंकि मुसलमानों के आने से पहले मलाबार आदि में व्यापार के मार्ग से मुसलमान केरल में आते-जाते थे, इसलिए अरब के सूफ़ियों के विचार भी दक्षिणी भारत में इन व्यापारियों के ज़रिये पहुँच गये। डॉ० ताराचन्द की यह कल्पना ग़लत है क्योंकि वेदान्त की सारी परम्परा तो उपनिषदों से चली आ रही है, उस विचार-धारा को सूफ़ियों से लेने की क्या ज़रूरत थी? हाँ, मलाबार में जो मुसलमान आते-जाते रहे उनके द्वारा वेदान्त की विचार-धारा अरब देशों में पहुँची—यह मानना अधिक संगत प्रतीत होता है। तभी तो सूफ़ियों को वे लोग काफ़िर कहने लगे।

(iv) सामाजिक-क्षेत्र में हिन्दू-प्रभाव—ये प्रभाव तो हुए ही, सामाजिक-क्षेत्र में भी हिन्दुओं की अनेक बातों का मुसलमानों पर प्रभाव हुआ। उदाहरणार्थ, हिन्दू-स्त्रियों की भाँति मुसलमान स्त्रियों ने सौभाग्य के लिए माँग में सिन्दूर पूरना

शुरू किया, हिन्दुओं के श्राद्ध की भाँति मृत व्यक्ति की आत्मा की तुष्टि के लिए भोज देना और ख़ैरात बाँटनी शुरू की।

(ख) हिन्दू-धर्म पर इस्लाम का प्रभाव—जिस समय इस्लाम ने भारतवर्ष में प्रवेश किया उस समय जात-पाँत का बोलबाला था, मनुष्य मनुष्य में भेद-भाव की दीवार खड़ी हुई थी, एक ईश्वर की जगह अनेक देवी-देवताओं की पूजा का प्रचार था। इस्लाम ने जात-पाँत के विरुद्ध जो लहर पैदा की, मनुष्य मनुष्य के भेद-भाव की दीवार को ढाहने का प्रयत्न किया, एक ईश्वर की उपासना पर बल दिया—इन सब परिस्थितियों का परिणाम हिन्दू-धर्म पर हुआ, और इस युग में ऐसे सन्त-महात्मा हुए जिन्होंने जात-पाँत का खण्डन किया, मानवमात्र को परमात्मा की सन्तान होने के कारण एक श्रेणी में रखा, भिन्न-भिन्न देवी-देवताओं के स्थान में एक ईश्वर की उपासना तथा उसी की भक्ति का प्रतिपादन किया। ऐसे अनेक सन्तों में कबीर, रैदास तथा गुरु नानक भी हुए। कुछ लोगों का कहना है कि दक्षिण के लिंगायत-धर्म पर भी इस्लाम का प्रभाव पड़ा। इन सब की हम चर्चा करेंगे।

(i) कबीर—मुसलमानों के सम्पर्क में आने से हिन्दू-धर्म में जो जागृति उत्पन्न हुई उसके परिणाम-स्वरूप अनेक आचार्य हुए जिनमें स्वामी रामानन्द का नाम मुख्य है। ये आचार्य १५वीं शताब्दी के अन्त में हुए। स्वामी रामानन्द रामानुजाचार्य की शिष्य-परम्परा में १४वीं पीढ़ी में हुए। रामानुजाचार्य का मार्ग भक्ति का मार्ग था, अब तक इनके सम्प्रदाय में सिर्फ़ द्विजातियों को शिक्षा दी जाती थी, स्वामी रामानन्द ने राम-भक्ति का मन्दिर सब जातियों के लोगों के लिए खोल दिया। इन्हीं के शिष्यों में कबीर, रैदास तथा सेन भी थे। कबीर जुलाहे थे, सेन नाई थे, रैदास चमार थे। कबीर के विषय में कोई कहता है कि वे हिन्दू थे, कोई कहता है मुसलमान थे, परन्तु जो-कुछ भी थे, उनके शिष्य हिन्दू तथा मुसलमान दोनों थे। कबीर ने हिन्दुओं तथा मुसलमानों को एकता के सूत्र में बाँधने का जो प्रयत्न किया वह उनके दोहों में भरा पड़ा है। उन्होंने हिन्दुओं को कहा: 'पाहन पूजे हरि मिलै, तो मैं पूजूँ पहार; तातें या चाकी भली, पीस खाय संसार।' इसी प्रकार उन्होंने मुसलमानों को कहा: 'कांकर पाथर जोरि कै, मसजिद लई चुनाय; ता चढ़ि मुल्ला बाँग दे, बहरा हुआ खुदाय।' इस प्रकार कबीर जैसे सन्त जहाँ एक तरफ़ मुसलमानों को फटकार दे रहे थे वहाँ हिन्दुओं की मूर्त्ति-पूजा पर भी प्रहार कर रहे थे, और हिन्दू इन बातों को सुन कर कबीर की पूजा करते थे, उनका आदर करते थे।

(ii) रैदास—स्वामी रामानन्द के अनेक शिष्यों में रैदास भी एक प्रधान शिष्य थे। यद्यपि रैदास चमार-जाति के थे, तो भी इनकी ईश्वर-भक्ति को देख कर ब्राह्मण तथा अन्य उच्च-जाति के लोग इनके सम्मुख सिर झुकाते थे। जिस युग में जन्म की जात-पाँत हिन्दू-समाज को पाँचों अंगुलियों से जकड़े हुए थी उसमें एक चमार-जाति के व्यक्ति को गुरु मान कर उसके सम्मुख सिर झुकाना उस

समय की परिस्थितियों का परिणाम ही कहा जा सकता है, ऐसी परिस्थितियाँ जिनमें इस्लाम ने जन्मगत भेद-भाव की निस्सारता को स्पष्ट कर दिया था।

(iii) गुरु नानक––इस युग में हिन्दुओं की संस्कृति के मुख्य-मुख्य स्तम्भ जात-पाँत, बहु-देवता-वाद आदि पर जो आक्रमण हो रहे थे, उनमें गुरु नानक की वाणी ने भी योगदान दिया। वे हिन्दुओं के धार्मिक दिखावे के कट्टर विरोधी थे। इस्लाम ने अपनी नयी विचार-धारा से जो मैदान तैयार कर दिया था उसका लाभ इस समय के सन्तों और गुरुओं ने लिया, और हिन्दू-धर्म में नवीन विचारों का सूत्रपात कर दिया। इन नवीन विचारों पर इस्लाम का प्रभाव पड़ा––यह कहा जाय तो अत्युक्ति न होगी। गुरु नानक के विषय में कहा जाता है कि जब वे मरे तब हिन्दू तथा मुसलमान दोनों उनकी अन्तिम क्रिया करने के लिए उत्सुक थे। इससे यह प्रतीत होता है कि वे हिन्दू तथा मुसलमानों को एक-दूसरे के निकट लाने में कितने सफल हुए थे।

(iv) लिंगायत-सम्प्रदाय––दक्षिण-भारत में एक सम्प्रदाय है जिसे लिंगायत कहते हैं। लिंगायत सम्प्रदाय वाले अपने को हिन्दू कहते हैं, परन्तु वे मुर्दों को मुसलमानों की तरह गाड़ते हैं, जलाते नहीं, उनमें जाति-पाँति का भेद नहीं, तलाक और विधवा-विवाह उनमें चलते हैं, खान-पान का भी उनमें कोई भेद-भाव नहीं। दूसरे शब्दों में हैं तो वे हिन्दू, परन्तु परम्परा उनकी सब मुसलमानों की-सी है। लिंगायत-सम्प्रदाय इस्लाम के हिन्दू-धर्म पर प्रभाव का एक दृष्टान्त कहा जा सकता है।

इस प्रकरण में हमने जो-कुछ कहा उसका यह अभिप्राय नहीं कि कबीर, रदास, नानक, लिंगायत-सम्प्रदाय आदि सब मुसलमानों के प्रभाव के कारण ही हुए। हिन्दुओं में अपनी प्रचलित विचार-धारा के विरुद्ध समय-समय पर आन्दोलन होते रहे। बौद्ध-धर्म में जाति-व्यवस्था को नहीं माना जाता रहा। अनेक-देवता-वाद के साथ एक-देवता-वाद भी इस देश में चलता रहा। ये सब बातें इस देश में भी उपजीं, परन्तु इतना तो कहना ही पड़ेगा कि इन विचारों के लिए इस्लाम के इस देश में आने के बाद भूमि उपजाऊ बन गई।

५. सामाजिक-क्षेत्र में हिन्दू-मुस्लिम संस्कृतियों का पारस्परिक-प्रभाव

(क) इस्लामी सामाजिक-रचना पर हिन्दू-प्रभाव––इस्लाम ने जब भारत में प्रवेश किया तब वह इन्सान-इन्सान की एकता का नारा लेकर आया, मनुष्य-मनुष्य के भेद-भाव की दीवारों को ढाहने का दावा लेकर आया, परन्तु इस देश में जात-पाँत का विचार इतना बद्धमूल था कि यहाँ जम जाने के बाद इस्लाम में भी जन्मगत ऊँच-नीच का विचार घुस गया। मानव-समाज में जो समूह बनते हैं, उनका दो आधारों पर वर्गीकरण होता है। एक वर्गीकरण तो स्थान के आधार पर है। उदाहरणार्थ, एक जत्था एक खास स्थान पर रहता है, उस स्थान पर रहने के कारण वह दूसरों से भिन्न है। इसे 'स्थानिक-वर्गीकरण' (Spatial classification) कहा जा सकता है। दूसरा वर्गीकरण ऊँच-नीच के भेद के कारण

है। उदाहरणार्थ, ब्राह्मण-क्षत्रिय-वैश्य-शूद्र का वर्गीकरण, धनी-निर्धन का वर्गीकरण जिस आधार पर है उसम एक ऊँचा, दूसरा उससे नीचा, तीसरा उससे नीचा—इस प्रकार का वर्गीकरण है। इसे 'उदग्र-वर्गीकरण' (Vertical classification) कहते हैं। इस वर्गीकरण में समाज में भिन्न-भिन्न स्तर मान लिय जाते हैं, ऊँचे स्तर, नीचे स्तर, इसलिए इसे 'समाज का स्तरीकरण' या 'सामाजिक-स्तरण' (Social stratification) भी कह सकते ह। मुसलमान जब भारत में आये तब उनमें 'उदग्र-वर्गीकरण' या 'सामाजिक-स्तरण' (Vertical classification or stratification) नहीं था, ऊँच-नीच का भेद-भाव नहीं था, जाति-प्रथा नहीं थी, परन्तु भारतीय-सम्पर्क में आने के बाद उनमें एक प्रकार की जाति-व्यवस्था ने, ऊँच-नीच के भद-भाव ने प्रवेश किया।

डॉ० अन्सारी ने उत्तर-प्रदेश की मुस्लिम-जातियों को चार भागों में बाँटा है—अशरफ़ अर्थात् शरीफ़, जो सब से ऊँचे तबके के मुसलमान हैं। इनमें सय्यद, शेख, मुगल तथा पठान गिने जाते हैं। दूसरे दर्जे पर मुस्लिम-राजपूत आते हैं। तीसरे दर्जे पर वे जातियाँ हैं, जो हिन्दुओं से मुसलमान हुई हैं, परन्तु मुसलमान होने के कारण पाक समझी जाती हैं। इन जातियों में जुलाहा, दर्जी, कसाई, नाई, कूँजड़ा, मिरासी, कुम्हार, मनिहार, धुनिया, फ़क़ीर, धोबी और गद्दी गिने जाते हैं। चौथे दर्जे पर नापाक जातियाँ हैं जिनमें भंगी गिने जाते हैं। अपने को जो ऊँचा समझते हैं उनमें भी एक-दूसरे से ऊपर-नीचे के दर्जे माने जाते हैं। उदाहरणार्थ, सय्यद शेख की बेटी ले सकता है परन्तु शेख का सय्यद की बेटी से ब्याह वर्जित है।

(ख) हिन्दू सामाजिक-रचना पर इस्लामी प्रभाव—जिस प्रकार मुसलमानों की सामाजिक-रचना पर हिन्दू-प्रभाव के कारण मुसलमानों में 'स्तरीकरण' (Stratification) की प्रक्रिया का सूत्रपात हुआ, उसी प्रकार हिन्दुओं की सामाजिक-रचना पर मुसलमानी-प्रभाव भी पड़ा। इस प्रभाव के रूप थे—पर्दा, बाल-विवाह, दास-प्रथा तथा अन्य सामाजिक-व्यवहार।

(i) पर्दे की प्रथा—पर्दे का वर्णन कहीं-कहीं भारतीय-साहित्य में पाया जाता है, परन्तु यह शुरू-शुरू में राज-घरानों तक सीमित था। 'असूर्यम्पश्या राजदाराः'—इस प्रकार का उल्लेख मिलता है, परन्तु इसका सम्भवतः यह अर्थ था कि मुसलमानों का सम्पर्क क्योंकि बड़े-बड़े घरानों से हुआ था इसलिए शुरू-शुरू में उन्हीं ने मुसलमानों से पर्दे की प्रथा को लिया। धीरे-धीरे मुसलमानों के प्रभाव के कारण पर्दा सर्वव्यापी हो गया और हर शरीफ़ हिन्दू-स्त्री पर्दा करने लगी। सम्भवतः मुसलमानों से अपनी रक्षा करने का यह सरल तथा सर्वोत्तम उपाय था जो मुसलमानों ने ही हिन्दुओं को दिया। वैदिक-काल में पर्दा नहीं था।

(ii) बाल-विवाह की प्रथा—बाल-विवाह भी भारत की प्रथा नहीं थी, मुसलमानी-युग में ही इस प्रथा का भी श्रीगणेश हुआ। इसका कारण यह प्रतीत होता है कि इस्लाम में विवाहिता स्त्री के साथ विवाह करने का निषेध है, इसलिए

अपनी कन्याओं का अपहरण न हो इसलिए हिन्दू छोटी ही आयु की अपनी कन्याओं का विवाह करने लगे। मुसलमानों के सम्पर्क के कारण हिन्दुओं ने बाल-विवाह की प्रथा को जन्म दिया।

(iii) दास-प्रथा—मुसलमान दास रखते थे, वे इस प्रथा को अरब से इस देश में लाये थे, आते हुए अनेक दासों को अपने साथ लाये थे, उनकी खरीद-फ़रोख्त भी करते थे। यहाँ आकर इस देश के लोगों को भी उन्होंने गुलाम बनाया। मुसलमानों की इस प्रथा को कुछ हिन्दुओं ने भी ग्रहण किया।

(iv) सामाजिक-व्यवहार—हिन्दुओं के जीवन में जहाँ मुसलमानों की अनेक प्रथाओं का प्रभाव पड़ा, वहाँ उनके रहन-सहन का भी प्रभाव कम नहीं हुआ। हिन्दुओं ने विवाह के समय मुसलमानों की तरह सेहरा बाँधना शुरू किया। मुसलमानों की ईजाद की हुई बालूशाही, शकरपारा, कलाकन्द, गुलाब जामन, बरफ़ी, हलवा आदि हिन्दुओं को रस देने लगीं। अचकन, चूड़ीदार पायजामा हिन्दुओं ने मुसलमानों से लिया।

६. साहित्यिक-क्षेत्र में हिन्दू-मुस्लिम संस्कृतियों का पारस्परिक-प्रभाव

(क) उर्दू का निर्माण—हिन्दुओं तथा मुसलमानों के सम्पर्क से साहित्यिक-क्षेत्र में उर्दू-भाषा का निर्माण हुआ। हिन्दी तथा उर्दू का झगड़ा चला करता है। कोई कहता है हिन्दी पहले थी, बाद को हिन्दी में अरबी तथा पर्शियन शब्दों के प्रयोग से उर्दू बनी, कोई कहता है उर्दू पहले थी, बाद को उसमें से अरबी तथा पर्शियन शब्दों को निकाल देने और उनकी जगह संस्कृत शब्द भर देने से हिन्दी बनी। जो-कुछ भी था, यह तो स्पष्ट है कि आजकल की-सी उर्दू पहले नहीं थी। कोई समय था जब संस्कृत इस देश की भाषा थी, राजा की तथा प्रजा की, राजा-प्रजा दोनों संस्कृत बोलते थे। बाद को संस्कृत का अपभ्रंश प्राकृत-भाषा चली। उस समय संस्कृत उच्च-वर्ग की भाषा थी, प्राकृत जन-साधारण की भाषा थी। बुद्ध ने अपने प्रवचन प्राकृत में ही कहे, इसलिए कहे क्योंकि वह जन-साधारण के हृदय तक पहुँचना चाहता था। अशोक ने भी अपने शिलालेखों में प्राकृत का प्रयोग किया। संस्कृत के नाटकों में उच्च-वर्ग के लोग संस्कृत में बोलते हैं, साधारण तथा निम्न वर्ग के लोग प्राकृत में बोलते हैं। इस प्राकृत से ही जन-साधारण की अनेक भाषाओं का निर्माण हुआ, उनमें से एक हिन्दी थी जिसका निर्माण आठवीं सदी में शुरू हो गया। क्योंकि तब अरबी तथा फ़ारसी के शब्द नहीं थे, इसलिए स्वभावतः मुसलमानों के इस देश में आने से पहले जन-साधारण की भाषा संस्कृत प्रधान हिन्दी थी, इसमें कोई सन्देह नहीं हो सकता। बारहवीं सदी के आस-पास जब मुसलमान इस देश में आक्रमण-पर-आक्रमण करने के बाद यहाँ बस गये, तब उन्होंने राज-भाषा के तौर पर अरबी-फ़ारसी का इस्तेमाल शुरू किया, परन्तु यहाँ के लोगों के साथ वे सम्पर्क कैसे स्थापित करते? वे लोग दिल्ली में आ बसे थे, इसलिए दिल्ली तथा आगरे के आस-पास की भाषा को उन्होंने अपनाया। मेरठ तथा यमुना पार के रोहतक, हिसार आदि प्रदेशों को 'कुरु' कहा गया है,

और इन प्रदेशों की भाषा को 'कौरवी' कहते हैं। आजकल की खड़ी बोली ही यह 'कौरवी' भाषा थी। हिन्द की होन के कारण मुसलमानों न इसे 'हिन्दी' का नाम दिया। इस भाषा में स्वाभाविक तौर पर संस्कृत के शब्द थे, इन शब्दों के स्थान में अरबी-फ़ारसी के शब्द इस्तेमाल करना मुसलमानों के लिए आसान था। उन्होंने व्याकरण तो वही रखा जो दिल्ली तथा आगरे के आस-पास की 'कौरवी' बोली का था, जहाँ तक शब्दों का सम्बन्ध था, संस्कृत के शब्दों के स्थान में अरबी फ़ारसी के शब्दों का प्रयोग शुरू कर दिया। इस प्रकार इस भाषा को समझना हिन्दू तथा मुसलमान दोनों के लिए आसान हो गया। लश्करों में बोली जाने के कारण इसी भाषा का नाम 'उर्दू' रखा गया। इससे यह तो स्पष्ट है कि शुरू की भाषा हिन्दी थी, बाद को हिन्दी में अरबी-फ़ारसी के शब्दों की कलम लगा देने से हिन्दी ही उर्दू बन गई। हिन्दी हिन्दुओं की भाषा थी, अरबी-फ़ारसी मुसलमानों की भाषा थी, हिन्दुओं तथा मुसलमानों को भाषा तथा साहित्य के एक स्तर पर लाने के लिए उर्दू उत्पन्न हुई। एक तरह से उर्दू ने हिन्दुओं तथा मुसलमानों को एक धरातल पर लाकर खड़ा कर दिया। अब जो लोग उर्दू में से अरबी-फ़ारसी के शब्द निकाल कर उसमें संस्कृत के शब्द भरना चाहते हैं, वे उर्दू के उत्पन्न होने से पहले अपने देश में जो भाषा चल रही थी, उसी का पुनरुज्जीवन कर रहे हैं।

(ख) हिन्दी भाषा के मुसलमान लेखक—क्योंकि मुसलमानों के समय में हिन्दी से उर्दू बन रही थी, अभी बनी नहीं थी, इसलिए उस काल के लेखकों तथा कवियों को उर्दू का लेखक तथा कवि कहने के स्थान में हिन्दी का लेखक तथा कवि कहना अधिक उपयुक्त होगा। अरबी-फ़ारसी में लिखने वालों की बात दूसरी है। वे तो लिखते ही विदेशी भाषा में थे, ऐसी भाषा में जो हिन्दुस्तान की भाषा नहीं थी। परन्तु जो लोग हिन्दी में, या यों कहिये कि उर्दू में लिखते थे, वे हिन्दुस्तान की भाषा में लिखते थे, उस भाषा में लिखते थे जिसे हिन्दू तथा मुसलमान दोनों समझ सकें। इस प्रकार के अनेक मुसलमान लेखक हुए जिन्होंने इस देश की भाषा—हिन्दी या उर्दू—में पाण्डित्य प्राप्त किया। ऐसे लेखकों में अमीर ख़ुसरो का नाम मुख्य है। उस समय हिन्दी में दो बोलियाँ प्रमुख थीं—ब्रज-भाषा तथा खड़ी बोली। ब्रज-भाषा वृन्दावन के आस-पास की बोली थी। इसका पद्य में प्रयोग होता था। खड़ी बोली दिल्ली तथा आगरे के आस-पास की बोली थी। इसका गद्य तथा पद्य दोनों में प्रयोग किया गया। खड़ी बोली का गद्य तथा पद्य में प्रयोग करने वाले पहले व्यक्ति अमीर ख़ुसरो थे इसलिए इन्हें खड़ी बोली की हिन्दी तथा उर्दू का प्रवर्त्तक माना जाता है। अमीर ख़ुसरो के अलावा जायसी, रहीम, आलम तथा अकबर भी हिन्दी के मुसलमान कवि कहे जाते हैं।

(i) अमीर ख़ुसरो—अमीर ख़ुसरो तेरहवीं सदी के उत्तरार्ध में हुए। ये अफ़ग़ान सुलतान अलाउद्दीन ख़िलजी (१२९५–१३२६) और कुतुबुद्दीन मुबारकशाह (१३१६) के समकालीन थे। य पर्शियन भाषा के अगाध विद्वान् थे और उस भाषा में इन्होंने अनेक ग्रन्थ लिखे। उनके अतिरिक्त भारत के जन-

साधारण के साथ सम्पर्क स्थापित करने के लिए अमीर ख़ुसरो ने कौरवी-भाषा जिसे खड़ी बोली कहते हैं, जो दिल्ली, मेरठ तथा आगरे के आस-पास की भाषा थी, उसमें, और साथ ही ब्रज-भाषा में अनेक कविताएँ लिखीं। ख़ुसरो ने बच्चों, स्त्रियों तथा आम जनता के लिए हिन्दी की पहेलियाँ भी बनाईं। उदाहरणार्थ, 'अरथ तो इसका बूझेगा, मुंह देखो तो सूझेगा'—यह ख़ुसरो की पहेली है।

(ii) मलिक मुहम्मद जायसी—सोलहवीं सदी में हिन्दी में लिखने वाले प्रसिद्ध लेखक मलिक मुहम्मद जायसी हुए। ये साहित्य में 'जायसी' नाम से प्रसिद्ध हैं। इन्होंने 'पद्मावत'-नामक एक महा-काव्य हिन्दी में लिखा।

(iii) अब्दुर्रहीम ख़ानख़ाना या रहीम—हुमायूँ की मृत्यु १५५६ में हुई और उसके बाद उसका पुत्र अकबर मुग़ल-साम्राज्य का बादशाह बना। अकबर के समय जो प्रसिद्ध साहित्यिक हुए उनमें अब्दुर्रहीम ख़ानख़ाना का नाम सर्व-प्रसिद्ध है। ये बैराम खाँ के पुत्र थे, और अकबर के समय के अमीर-उमराओं में से एक थे। इनका प्रसिद्ध नाम 'रहीम' है। इन्होंने हिन्दी में अनेक दोहे लिखे। ये जहाँ अरबी, फ़ारसी के विद्वान् थे वहाँ संस्कृत के भी अगाध पंडित थे। तुलसी-दास जी भी अकबर के सम-कालीन थे और रहीम तथा तुलसीदास का आपस में दोहों में पत्र-व्यवहार हुआ करता था। गंग कवि अकबर के दरबार के अनेक कवियों में से अन्यतम थे और उनके एक हिन्दी-छप्पय से प्रसन्न होकर रहीम ने उन्हें छत्तीस लाख रुपए दे डाले थे।

(iv) आलम—अकबर के समय हिन्दी-कविता ने विशेष स्थान प्राप्त कर लिया था। अकबर हिन्दी का संरक्षक था। अकबर के नाम से कई कवित्त आज तक चले आ रहे हैं जिन्हें 'साहि अकब्बर' का बनाया हुआ कहा जाता है। अकबर के समकालीन एक मुसलमान साहित्यकार आलम हुए। इन्होंने 'माधवानल काम कंदला' नामक प्रेम-कहानी दोहों और चौपाइयों में लिखी थी।

७. वास्तु-कला के क्षेत्र में हिन्दू-मुस्लिम संस्कृतियों का पारस्परिक-प्रभाव

प्राचीन-संस्कृत में 'वास्तु' का अर्थ है—'घर' या 'भवन'। वेद में 'वास्तो-ष्पति' घर के स्वामी के अर्थ में प्रयुक्त होता है। भवन-निर्माण की कला को 'वास्तु-कला' (Architecture) कहते हैं। भिन्न-भिन्न संस्कृतियों की वास्तु-कला भिन्न-भिन्न है। मुसलमान जब भारत में आये तब तक वे अरब, मिश्र, ईरान आदि में अपने साम्राज्य स्थापित कर चुके थे और इन सब देशों की मिश्रित संस्कृतियों के द्वारा अपनी एक विशेष प्रकार की वास्तु-कला का विकास कर चुके थे। इधर भारत में भी सदियों से अपनी विशेष प्रकार की वास्तु-कला का प्रादुर्भाव हो चुका था। उत्तर तथा दक्षिण भारत में बड़े-बड़े विशाल मन्दिर बन चुके थे। उत्तर-भारत के मन्दिरों की तुलना में दक्षिण के मन्दिर तो इतने विशाल थे कि उनके सामने उत्तर-भारत के मन्दिर कहीं टिक ही नहीं सकते थे। मुसलमान तथा हिन्दू जब परस्पर सम्पर्क में आये, तब इन दोनों की भिन्न-भिन्न वास्तु-कला का

टाकरा हुआ, और इस टाकरें में एक मिश्रित, वर्ण-संकरी वास्तु-कला ने जन्म लिया जिसमें हिन्दू वास्तु-कला पर मुस्लिम-प्रभाव पड़ा और मुस्लिम वास्तु-कला पर हिन्दू-प्रभाव पड़ा।

(क) मुस्लिम वास्तु-कला पर हिन्दू-प्रभाव---मुस्लिम वास्तु-कला पर जहाँ अन्य देशों की वास्तु-कला का प्रभाव पड़ा, वहाँ हिन्दू-प्रभाव भी पड़ा। इस प्रभाव के निम्न प्रमाण हैं :---

(i) महमूद ग़ज़नबी की ग़ज़नी में वास्तु-कृतियों पर हिन्दू-प्रभाव---९९७ ईस्वी में महमूद ग़जनी का सुलतान बना। वह जब भारत की लूट मचा कर यहाँ से अतुल धन-सम्पत्ति लेकर ग़जनी लौटा तो अपने साथ यहाँ से हजारों शिल्पियों को भी लेता गया। ग़जनी जाकर उसने वहाँ बड़ी-बड़ी इमारतें बनवाईं, इस धन-सम्पत्ति को उन इमारतों पर खर्च किया और इन शिल्पियों का इन इमारतों के बनवाने में उपयोग किया। इसमें तो सन्देह नहीं कि इन शिल्पियों ने मुस्लिम-शिल्पियों के साथ मिल कर वहाँ की इमारतों को बनाया होगा, परन्तु इसमें भी सन्देह नहीं कि उन्होंने अपनी शिल्प-कला का पुट उन इमारतों में अवश्य दिया होगा। इसलिए जब भारत में तुर्क और अफ़गान शासक आये, तो वे ग़जनी में भारतीय शिल्पियों के सम्पर्क के कारण वहाँ की वास्तु-कला में जो परिवर्त्तन आ चुका था उससे परिचित थे और उन्हें यहाँ आकर हिन्दू वास्तु-कला को अपनी इमारतों में स्थान देने में कोई हिचकिचाहट नहीं हुई।

(ii) कुतुबुद्दीन ऐबक के समय की वास्तु-कृतियों पर हिन्दू-प्रभाव--- १२०६ में कुतुबुद्दीन दिल्ली का सुलतान बना। उसने दिल्ली के पास महरौली में कुतुब मीनार और कुतुब मस्जिद बनवाई। कुतुब मस्जिद की दीवारों पर अभी तक हिन्दू-मूर्तियाँ बनी हुई हैं। कुतुब की मीनार पर विशेषज्ञों के कथनानुसार हिन्दू छाप है जिसका कारण यह बतलाया जाता है कि इसके निर्माण में २७ हिन्दू-मन्दिरों के अवशेष प्रयुक्त हुए।

(iii) जौनपुर के सुलतानों द्वारा निर्मित अताला मस्जिद पर हिन्दू-प्रभाव---दिल्ली के शासकों की तुलना में प्रान्तीय सुलतान साहित्य, ज्ञान तथा कला के क्षेत्र में अधिक दिलचस्पी रखते थे। दिल्ली के सुलतान तो राज्य-शक्ति विस्तृत करने में लगे हुए थे, प्रान्तीय सुलतान दूसरी दिशाओं में भी प्रयत्नशील थे। उन्हीं में से एक जौनपुर के शरकी सुलतान थे। चौदहवीं सदी के अन्तिम भाग में जौनपुर के शरकी सुलतान इब्राहीम ने अताला की मस्जिद बनवाई। इस मस्जिद पर हिन्दू-प्रभाव स्पष्ट तौर पर दिखाई देता है, यहाँ तक कि अन्य मस्जिदों पर तो ऊँची मीनारें होती हैं, इसमें मीनार तक नहीं हैं। इस मस्जिद को हिन्दू-मन्दिर का दूसरा रूप कहा जा सकता है।

(iv) बंगाल के मुस्लिम सुलतानों की वास्तु-कृतियों पर हिन्दू-प्रभाव---जौनपुर की तरह बंगाल के मुस्लिम-सुलतानों की मस्जिदों, उनके मकबरों और भवनों पर भी हिन्दू वास्तु-कला की छाप दिखाई देती है।

(v) गुजरात के सुलतानों की वास्तु-कृतियों पर हिन्दू-प्रभाव—गुजरात के सुलतान तक्षक क्षत्रिय थे। पहले ये हिन्दू थे, फिर मुसलमान हो गये थे। इन्होंने गुजरात में जो मस्जिदें और मकबरे बनवाये वे उन शिल्पियों द्वारा बनवाये जिन्होंने जैन मन्दिरों का निर्माण किया था। अहमदाबाद नगर की स्थापना सुलतान अहमद शाह (१४११–१४४१) ने की। उसने अपने राज्य में महल और मस्जिदें बनवाईं जिनमें हिन्दू-शैली को प्रधानता दी। मस्जिदों का निर्माण तो पुराने टूटे हुए जैन तथा हिन्दू मन्दिरों पर किया। इसका परिणाम यह हुआ कि इन मस्जिदों में कुछ हिस्सा हिन्दू-शैली का जैसे-का-तैसा बना रहा।

(vi) दक्षिण के बहमनी राज्य के मुस्लिम-शासकों की वास्तु-कृतियों पर हिन्दू-प्रभाव—दक्षिण भारत के बहमनी राज्य की वास्तु-कला पर हिन्दू वास्तु-कला की छाप स्पष्ट है और कई लोगों का कहना है कि वहाँ की मस्जिदें हिन्दुओं के मन्दिरों के ही रूपान्तर हैं।

(ख) हिन्दू वास्तु-कला पर मुस्लिम प्रभाव—मुसलमानों की वास्तु-कला पर हिन्दू-प्रभाव हुआ, और हिन्दुओं की वास्तु-कला पर मुस्लिम-प्रभाव नहीं हुआ—ऐसी बात नहीं है। मुसलमानों की मस्जिदों पर गुम्बद होते हैं, इन गुम्बदों को हिन्दुओं ने मन्दिरों पर बनाना शुरू किया। यही कारण है कि उत्तर-भारत में जितने मन्दिर बनते हैं उनके ऊपर मस्जिदों सरीखा गुम्बद पाया जाता है। मन्दिरों के अतिरिक्त अन्य इमारतों की रचना में भी मुस्लिम-प्रभाव पड़ा। मुसलमान चापों और डाटों का भवन-निर्माण में प्रयोग करते थे, बड़े-बड़े कमरे उनकी भवन-निर्माण कला की एक विशेषता थी। हिन्दुओं ने भी चापों, डाटों का प्रयोग शुरू किया और बड़े-बड़े भवन भी बनाने शुरू किये।

हिन्दुओं तथा मुसलमानों के परस्पर-सम्पर्क से जिस वास्तु-कला का अभ्युत्थान हुआ उसे सर जान मार्शल ने 'इन्डो-सार्सेनिक-कला' (Indo-sarcenic architecture) का नाम दिया है। मुसलमानों के द्वारा भारत में गुम्बद, मीनार, डाट, चाप, मेहराब का इस्तेमाल शुरू हुआ। पहले भवन खम्भों के आधार पर खड़े होते थे, अब मेहराब के द्वारा बड़े-बड़े भवनों का निर्माण शुरू हुआ।

८. चित्र-कला के क्षेत्र में हिन्दू-मुस्लिम संस्कृतियों का पारस्परिक-प्रभाव

(क) मुग़ल-शैली—मुग़ल-काल में हिन्दू-मुस्लिम चित्र-कलाओं के समन्वय की प्रक्रिया प्रारम्भ हुई। हुमायूँ को जब शेरशाह ने परास्त कर दिया तब वह भाग कर पर्शिया चला गया। वहाँ बिजहाद नामक एक महान् चित्रकार था। उसने चित्र-कला की एक नवीन शैली का श्रीगणेश किया था। इस शैली में पर्शियन, बौद्ध आदि चित्र-शैलियों के सर्वोत्कृष्ट तत्त्वों का समन्वय था। यह ईरानी-शैली थी। बिजहाद की चित्र-कला का हुमायूँ पर बड़ा प्रभाव पड़ा। जब वह हिन्दुस्तान लौटा तब बिजहाद की शैली के अनुयायी दो चित्रकारों को अपने साथ लेता आया। इनके नाम थे—सैयद अली तबरीज़ी तथा ख्वाजा अब्दुस्समद। ये दोनों चित्रकार

भारत में स्थिर रूप से बस गय और राज-दरबार में अन्य हिन्दू चित्रकारों के सम्पर्क में आये। हुमायूँ के बाद अकबर ने अपने संरक्षण में हिन्दू-मुस्लिम चित्रकला के समन्वय को बहुत प्रोत्साहित किया। उसने हिन्दू-मुस्लिम चित्र-कला के समन्वय की शिक्षा देने के लिए एक शिक्षणालय खोला। पर्शिया से जो दो चित्रकार आये थे उनके तथा हिन्दू चित्रकारों के सहयोग से अकबर के समय जिस नवीन शैली ने जन्म लिया उसे 'मुग़ल-शैली' कहा जाता है। 'मुग़ल-शैली' क्या थी? यह 'ईरानी' तथा 'हिन्दी' शैली का समन्वय थी। इस शैली में महाभारत आदि पुरानी गाथाओं अथवा पुराने धर्म-कथानकों के स्थान में उसे अधिक जीवित बनाने के लिए वास्तविक युद्धों, साधारण मनुष्यों, पशु-पक्षी-फूल-पत्तों का चित्रण किया जाने लगा। इस युग के प्रमुख चित्रकार अब्दुस्समद, सय्यद अली तबरीज़ी, फ़र्रख बेग, दसवन्त, बसावन, सांवलदास, ताराचन्द और जगन्नाथ थे। वैसे तो अकबर के दरबार में सौ चित्रकार थे जिनमें से सत्रह अत्यन्त प्रसिद्ध थे, इन सत्रह में से भी तेरह हिन्दू थे। अबुल फ़ज़ल इन हिन्दू चित्रकारों के विषय में लिखता है कि संसार का कोई चित्रकार भी इनका मुकाबिला नहीं कर सकता।

(ख) राजपूताना तथा काँगड़ा या पहाड़ी शैली—अकबर के बाद जहांगीर ने भी इस हिन्दू-मुस्लिम समन्वयात्मक चित्र-कला को प्रोत्साहन दिया, परन्तु उसके बाद शाहजहाँ का ध्यान इधर नहीं गया। शाहजहाँ के समय राजाश्रय न मिलने के कारण चित्रकार राजपूताने के भिन्न-भिन्न राजाओं तथा पहाड़ी प्रदेशों के राजाओं के आश्रय में जाने लगे। राजपूताने के राजाओं के आश्रय में जाने से 'राजपूताना-शैली' ने जन्म लिया। इस शैली में राधा-कृष्ण, नल-दमयन्ती, महाभारत के कथानक चित्रित किये जाने लगे। मुसलमान चित्रकारों ने भी ऐसे चित्र बनाये। पहाड़ी-प्रदेशों के राजाओं के प्रश्रय से 'पहाड़ी-शैली' ने जन्म लिया। यह शली पंजाब के कांगड़ा नामक पहाड़ी जिले में पायी जाती है, यह राजस्थानी से ही मिलती-जुलती है, इसका नाम 'कांगड़ा-शैली' पड़ा। इस काल से चित्र-कला की मुग़ल-शैली का ह्रास होने लगा। इस प्रकार ये सब शैलियाँ हिन्दू-मुस्लिम सम्पर्क का परिणाम थीं।

९. संगीत-कला के क्षेत्र में हिन्दू-मुस्लिम संस्कृतियों का पारस्परिक-प्रभाव

मुसलमान लोग चित्र और संगीत दोनों के शत्रु रहे हैं। चित्र-कला के तो इसलिए क्योंकि इस्लाम में मूर्त्ति-पूजा एक शिर्क है, अपराध है। वे मूर्त्तियों के भंजक रहे हैं। चित्र-कला क्योंकि मूर्त्ति-पूजा की सहायक है, इसलिए मूर्त्तियों के भंजन के साथ चित्र-कला का भंजन भी जुड़ा हुआ है। ईरानी सभ्यता तथा भारत के सम्पर्क से इन्हें चित्र-कला से प्रेम हुआ। चित्र-कला की तरह संगीत भी तो भावना-प्रधान है। भावना का इस्लाम के साथ समन्वय कठिनता से होता है। फिर भी जब इस्लाम का ईरान से सम्पर्क हुआ, और ईरान के सूफ़ी-सम्प्रदाय को इस्लाम ने प्रभावित किया, तब संगीत के प्रति भी इस्लाम का रुख बदला। सूफ़ी लोग

भक्ति-सम्प्रदाय के थे और अपने धर्म में संगीत का प्रचुर मात्रा में प्रयोग करते थे। इस संगीत का रूप 'कव्वाली' और 'ख़याल' की शक्ल में था। मुसलमान अपने मकबरों में 'कव्वाली' और 'ख़याल'---इन संगीतों का प्रयोग करते थे। भारत में आने पर इनके इन संगीतों को भारत के संगीताचार्यों ने भी अपना लिया और देश में जगह-जगह 'कव्वाली' और 'ख़याल' गाये जाने लगे। अफ़गान युग में 'ख़याल' को प्रोत्साहन जौनपुर के इब्राहीम शाह (१४०९-१४३७) और हुसैन शाह (१४५७-१४७६)---इन शरकी सुलतानों से मिला। इब्राहीम शाह के समय में बहादुर मलिक नाम के एक संगीत-प्रेमी ने एक बड़े संगीत-सम्मेलन का आयोजन किया। संगीत-सम्मेलन में देश के बड़े-बड़े संगीताचार्य इकट्ठे हुए और उन्होंने 'संगीत-शिरोमणि'-ग्रन्थ की रचना की। मुग़ल-युग में तो संगीत की तरफ़ मुग़ल बादशाहों का विशेष ध्यान गया। हुमायूँ हर सोमवार तथा बुधवार को संगीतज्ञों को एकत्रित करके उनके गाने सुनता था। अबुल फ़ज़ल ने लिखा है कि अकबर के दरबार में ३६ संगीताचार्य थे। चित्र-कला तथा संगीत के विरोधी इस्लाम के बादशाहों को भारत के सम्पर्क ने ही संगीत-प्रेमी बनाया।

भारत के वाद्य-यंत्रों में रबाब, सरोद, दिलरुबा और ताऊस---ये वाद्य-यंत्र या तो मुसलमानों के लाये हुए हैं, या इन भारतीय वाद्य-यंत्रों को मुसलमानों ने ये नाम दिये हैं। कहते हैं, अमीर खुसरो ने भारतीय वीणा से सितार तथा भारतीय मृदंग से तबले का आविष्कार किया।

१०. भारत की संस्कृति 'सामासिक' तथा 'विशेष' दोनों है

भारत की संस्कृति की दो विशेषताएँ रही हैं। जब कभी कोई निर्बल संस्कृति इस देश में आयी है तब इसने उसे ऐसा पचा लिया है कि उसका नामो-निशान नहीं बचा, उसका 'आत्मसात्-करण' (Assimilation) हो गया है, संस्कृति की परिभाषा में उसका यहाँ की संस्कृति में 'संस्कृतीकरण' (Acculturation) हो गया है। उदाहरणार्थ, मुसलमानों के आने से पहले इस देश में शक आये, हूण आये, परन्तु वे यहीं पच गये। इस संस्कृति की दूसरी विशेषता यह रही है कि जब कभी कोई प्रबल संस्कृति इस देश में आयी है तब इसने दोधारा चाल चली है। एक चाल से तो इसने अपनी रक्षा के लिए अपनी किलेबन्दी की है, परन्तु इस किलेबन्दी से विरोधी-तत्त्व बहुत प्रबल न हो जाय, इस दृष्टि से इसने कुछ अपने को बदला है, कुछ दूसरे को बदला है। भारत के साथ मुस्लिम-संस्कृति का सम्पर्क इस बात का उदाहरण है। जब मुसलमान इस देश में आये तब एक जीवित-जागृत, सजीव संस्कृति को लेकर आये। एक तो वे विजेता थे, दूसरे उनकी संस्कृति भी सबल थी, उसकी विचार-धारा में जीवनी शक्ति थी। इस सजीव-संस्कृति के आक्रमण से अपनी रक्षा करने के लिए इस देश की संस्कृति ने दो काम किये। एक काम तो अपने को हर तरह से सजग करने का था। इस समय जाति-प्रथा को मजबूत किया गया। आक्रान्ताओं को यवन तथा म्लेच्छ कहा गया। जो इन्हें छू भी लेता वह पतित समझा जाता था। यह 'विसंस्कृतीकरण'

(Contra-Culturation) की प्रक्रिया थी। 'विसंस्कृतीकरण' की प्रक्रिया से हिन्दू-संस्कृति का पृथक्-स्वरूप बना रहा, यह आक्रान्ताओं की संस्कृति में घुल-मिल जाने के स्थान में उसके सामने डट कर, मुकाबिला करने के लिए खड़ी हो गई। दूसरा काम कुछ लेना, कुछ देना---इस प्रकार विरोधी-तत्त्व को कुछ कमजोर बनाने का था। अगर मुकाबिला ही किया जाता, विदेशी मुस्लिम-संस्कृति के विरुद्ध जिहाद ही बना रहता, तो कटुता के बढ़ जाने और अपनी संस्कृति के नष्ट हो जाने की भी सम्भावना थी। इस सम्भावना को दूर करने के लिए इस देश की संस्कृति ने आदान-प्रदान का रास्ता भी पकड़ा। इसी को हम इस अध्याय के प्रारम्भ में 'व्यवस्थीकरण' (Accommodation) की प्रक्रिया कह आये हैं।

हमने देखा कि किस प्रकार हर क्षेत्र में---धर्म, सामाजिक-व्यवहार, साहित्य, वास्तु-कला, चित्र-कला, संगीत---सभी क्षेत्रों में हिन्दू-मुस्लिम संस्कृतियों का मेल हुआ, विरोधी-तत्त्वों के होते हुए भी उनमें समन्वय स्थापित करने का प्रयत्न किया गया। इस समन्वय के कारण ही हिन्दू-संस्कृति को 'सामासिक-संस्कृति' (Composite culture) कहा जाता है। ध्यान रखने की बात यह है कि हिन्दू-संस्कृति अपनी सहिष्णुता के कारण सामासिक तो है ही, हर संस्कृति के तत्त्व को अपने भीतर खपा लेती है, परन्तु अपने को यह नष्ट नहीं होने देती, सनातन-काल से चली आ रही और सनातन-काल के लिए आगे मुँह किये चली जा रही है। इसका यही कारण है कि यह संस्कृति किन्हीं विशेष तत्त्वों को लेकर बनी है, ऐसे तत्त्व जो प्राणवान् हैं, सजीव हैं, जो दब-दब कर भी उभर आते हैं, नष्ट नहीं होने पाते।

३५

पश्चिम का भारतीय-समाज पर प्रभाव

(INFLUENCE OF THE WEST ON INDIAN SOCIETY)

१. हिन्दू, मुस्लिम तथा पाश्चात्य संस्कृति का टाकरा

(क) हिन्दू तथा मुस्लिम संस्कृति का सम्पर्क—मुस्लिम-काल में हिन्दू-संस्कृति एक तरफ़ अपने को कुछ-कुछ बदल रही थी, 'व्यवस्थीकरण' (Accommodation) की प्रक्रिया से एक 'सामासिक-संस्कृति' (Composite culture) को जन्म दे रही थी, दूसरी तरफ़ अपनी स्वतंत्र-सत्ता बनाये रखने के लिए इसमें 'विसंस्कृतीकरण' (Contra-culturation) की प्रक्रिया भी चलती जाती थी। एक तरफ़ मुसलमानों के सम्पर्क के कारण धर्म, साहित्य, कला में परिवर्त्तन आ रहा था, दूसरी तरफ़ मुसलमानों को अस्पृश्य तथा म्लेच्छ भी कहा जा रहा था। इधर मुसलमानों ने भी अपनी पहले की-सी जिहाद की मनोवृत्ति बदल दी थी, और यह जानते हुए भी कि हिन्दू शासित होने पर भी अपने को मुसलमान शासकों से सांस्कृतिक क्षेत्र में ऊँचा समझते हैं उन्होंने अपने को इस देश के अनुकूल बना लिया था। अकबर के समय से 'सामासिक-संस्कृति' की जो धारा वेग से प्रवाहित हुई थी वह औरंगज़ेब के काल में रुक गई और उसने फिर से इस्लामी कट्टरता का परिचय दिया। उसने धर्म, चित्र-कला, संगीत आदि सभी क्षेत्रों में फिर उसी पुरानी इस्लामी नीति को अपनाया जिसके अनुसार मन्दिर तोड़े गये थे, चित्र-कला और संगीत को इस्लाम का शत्रु कहा गया था, काफ़िरों को जबर्दस्ती मुसलमान बनाना मज़हब का अंग समझा गया था। औरंगज़ेब की नीति ने फिर से उस 'व्यवस्थीकरण' की प्रक्रिया को रोक दिया जो अबतक चली आ रही थी, और 'विसंस्कृतीकरण' की प्रक्रिया को बल दे दिया। औरंगज़ेब की नीति से 'विसंस्कृतीकरण' की प्रक्रिया ने जो रूप धारण किया उसका परिणाम यह हुआ कि इस समय जो सन्त-महात्मा धार्मिक-क्षेत्र में हिन्दू-संस्कृति को समेटे हुए उसकी रक्षा में तल्लीन थे, वे बरबस राजनीति के क्षेत्र में आ खड़े हुए। उत्तरी-भारत में सिक्ख-गुरुओं के चेलों ने धर्म का चोग़ा उतार कर इस्लामी तलवार का टाकरा लेना शुरू किया, दक्षिणी-भारत में समर्थ गुरु रामदास के शिष्य शिवाजी ने हिन्दू-धर्म की रक्षा के लिए रणचंडी का रूप धारण कर लिया। भारत के इतिहास का कुछ ऐसा रूप था जब पश्चिम के देशों का ध्यान भारत की तरफ़ गया।

(ख) हिन्दू तथा पाश्चात्य संस्कृति का सम्पर्क—अंग्रेज जब भारत में आये तब मुस्लिम तथा हिन्दू संस्कृति में 'विसंस्कृतीकरण' की प्रक्रिया का प्रारम्भ

हो चुका था, और हिन्दू अपनी संस्कृति को फिर से सम्भालने में लगे हुए थे। होना तो यह चाहिए था कि इस समय अंग्रेजों के एक तीसरी ही संस्कृति को लाने के कारण हिन्दू-संस्कृति अपनी रक्षा के लिए और अधिक सन्नद्ध हो जाती, तीव्र हो उठती, परन्तु ऐसा कुछ हुआ नहीं। मुसलमान यहाँ बस गये थे, समय-समय पर तलवार के ज़ोर पर भी अपने धर्म को रोपते रहे, छः सौ साल तक शासन करते रहे, परन्तु इतना सब-कुछ होने पर भी हिन्दू-संस्कृति सिर ऊँचा किये खड़ी रही। अंग्रेज यहाँ बसे नहीं, धर्म-परिवर्त्तन के लिए उन्होंने कभी तलवार हाथ में नहीं ली, परन्तु जो सिर कभी इस्लामी संस्कृति के सम्मुख नहीं झुका वह पाश्चात्य-संस्कृति के सम्मुख झुक गया। इसका क्या कारण है?

इसका कारण यह है कि मुसलमानों की संस्कृति यद्यपि सजीव थी, हिन्दुओं से भिन्न थी, तो भी वह हिन्दू-संस्कृति के टक्कर की नहीं थी। भारत की संस्कृति अरब की इस संस्कृति से सदियों पुरानी थी, अनेक उतराव-चढ़ाव देख चुकी थी। दोनों संस्कृतियों का आधार धर्म था और धार्मिक-क्षेत्र में हिन्दू अपने को किसी से नीचा नहीं समझ सकते थे। अंग्रेजों के साथ पश्चिम से जो संस्कृति आयी उसका आधार धर्म नहीं था, उसका आधार हिन्दू तथा मुस्लिम संस्कृति से सर्वथा भिन्न था। पाश्चात्य-संस्कृति का आधार क्या था? इसका आधार था पश्चिम में हो रही विचार-स्वातंत्र्य की क्रांति, धार्मिक-क्रांति, औद्योगिक-क्रांति, तथा राजनैतिक-क्रांति। अंग्रेज जब भारत में आये तब वे अपनी संस्कृति के धार्मिक-आधार को छोड़ चुके थे, उनकी संस्कृति के नये आधार बन चुके थे—विचार-स्वातंत्र्य, धार्मिक-स्वातंत्र्य, राजनैतिक-स्वातंत्र्य तथा औद्योगिक-विकास। संसार के लिए ये बिलकुल नये आधार थे और इन आधारों को लेकर जब हिन्दू तथा इस्लामी संस्कृतियों के साथ पाश्चात्य-संस्कृति का इस देश में टाकरा हुआ तब पाश्चात्य-संस्कृति के सामने इन दोनों संस्कृतियों ने अपने हथियार रख दिये। पाश्चात्य-संस्कृति के नये आधारों को लाने वाली इन चारों क्रांतियों पर कुछ विचार कर लेना ठीक रहेगा।

२. पाश्चात्य-संस्कृति में नये आधार लाने वाली क्रांतियाँ

अंग्रेज जब भारत में आये तब पश्चिम के देशों में महान् क्रान्तियाँ और परिवर्त्तन हो चुके थे। उन परिवर्तनों के रंग में रंगे हुए अंग्रेज इस देश में आये। वे क्रान्तियाँ और परिवर्तन क्या थे?

(क) पुनर्जागरण का युग (Age of Renaissance)—युरोप के इतिहास का मध्य-काल 'अन्धकार-युग' कहलाता है। इस समय धर्म का ही बोल-बाला था और धर्म ही वहाँ की सामाजिक तथा राजनैतिक रचना का आधार था। १५वीं तथा १६वीं शताब्दी में युरोप की विचार-धारा ने पलटा खाया। इस समय कॉपर्निकस (१४७६–१५४३) ने सूर्य को विश्व का केन्द्र सिद्ध किया, गैलिलियो (१५६४–१६४२) ने दूर-वीक्षण यंत्र का आविष्कार किया। इसी प्रकार अन्य भी अनेक नयी बातों का पता चला जिससे अब तक चले आ रहे ईसाइयत पर

आश्रित धार्मिक विचारों का खंडन हो गया। अब तक धर्म ने मनुष्य की स्वतंत्र-विचार करने की प्रक्रिया को जकड़ रखा था, इस युग में युरोप में नयी चेतना जागी और मनुष्य ने धर्म की रूढ़ियों से स्वतंत्र होकर विचार करना शुरू किया।

(ख) धार्मिक-सुधारणा का युग (Age of Reformation)—युरोप के पुनर्जागरण के युग का धर्म के क्षेत्र पर भी प्रभाव हुआ। जैसे कट्टर हिन्दू-धर्म के विरुद्ध अपने देश में उदार-विचारों के धर्म चले हैं वैसे ही युरोप में कट्टर ईसाइयत के खिलाफ़ प्रतिक्रिया हुई और धर्मान्धता का जोश कुछ ढीला पड़ा। इस प्रतिक्रिया के परिणामस्वरूप रोमन कैथोलिक धर्म के विरोध में ईसाइयत में ही प्रोटेस्टैन्ट धर्म की नींव पड़ी। पुनर्जागरण के युग का धर्म के क्षेत्र में यह परिणाम तो नहीं हो सकता था कि लोग ईसाइयत को ही छोड़ बैठते, परन्तु इतना परिणाम जरूर हुआ कि जनता ने उस कट्टरता को छोड़ दिया जो अब तक चली आती थी।

(ग) व्यावसायिक-क्रान्ति का युग (Age of Industrial Revolution)—पुनर्जागरण तथा धार्मिक-सुधार का नतीजा यह हुआ कि लोग स्वतंत्र-विचार को महत्त्व देने लगे। १८वीं शताब्दी में स्वतंत्र-विचार की इस प्रक्रिया से अनेक आविष्कार हुए। १७६४ में जेम्स हरग्रीव नामक एक अंग्रेज कारीगर ने एक चरखे का निर्माण किया जिससे एक के स्थान में आठ-दस सूत इकट्ठे काते जा सकते थे। १७६८ में रिचर्ड आर्कराइट एक अन्य कारीगर ने ऐसे बेलनों का निर्माण किया जो हाथ से चलने के स्थान में यन्त्र से चलते थे और जिनसे ज्यादा काम लिया जा सकता था। धीरे-धीरे स्टीम ऐंजिन बने, रेल-गाड़ियाँ बनीं, और औद्योगिक क्रांति ने युरोप की काया पलट दी। इस समय युरोप में सामन्तवाद समाप्त होने लगा, पूंजीवाद पैदा होने लगा, धनी-मजदूर की श्रेणियाँ बनने लगीं, व्यक्तिवाद जन्म लेने लगा। व्यावसायिक-क्रांति पहले-पहल इंग्लैण्ड में शुरू हुई, परन्तु बाद को इसने सारे युरोप को प्रभावित कर दिया।

(घ) राजनैतिक-क्रान्ति का युग (Age of Political Revolution)—स्वतंत्र-विचार ने जिस व्यावसायिक-क्रांति को जन्म दिया उससे युरोप की सदियों से सोई हुई जनता जाग उठी। अबतक वह भेड़-बकरियों की तरह लाठी से हाँकी जा रही थी, अब वह ठिठक कर खड़ी हो गई, मानवता की पुकार ने उसे चौकन्ना कर दिया। अभी तक तो वह यही समझती थी कि राजा के प्रताप से सब-कुछ चल रहा है, या पादरी-पुरोहित ही संसार के चक्र को चला रहे हैं, अब उसे समझ पड़ गया कि वास्तविक-सत्ता राजा या पुरोहित के हाथ में नहीं है, जनता के हाथ में है। पुनर्जागरण, आर्थिक-सुधार, व्यावसायिक-क्रांति—इन सब का परिणाम राजनैतिक-क्रांति के रूप में हुआ और हर देश की सरकार बदलने लगी, राजा-महाराजाओं, पादरी-पुरोहितों की जगह जनता के शासन का युग आ गया, अठारहवीं शताब्दी में फ्रांस की राज्य-क्रांति हुई। राज्य-क्रांति पहले-पहल फ्रांस में शुरू हुई, परन्तु बाद को इसने सारे युरोप को प्रभावित कर दिया। युरोप में लोक-तंत्र और जन-सत्ता का युग आ गया।

जब अंग्रेज भारत में आये तब उपरोक्त क्रांतियों के कारण युरोप की भूमि में समानता, स्वतंत्रता, उदारता, तर्कवाद, पूँजीवाद, व्यक्तिवाद, प्रजातंत्र, उद्योगीकरण तथा नगरीकरण की हवाएँ बहने लगी थीं, और यद्यपि इस देश में इन विचारों का प्रचार करना उनका उद्देश्य नहीं था, तो भी जब वे यहाँ आये तब उन द्वारा प्रचारित अंग्रेज़ी-शिक्षा से ये विचार अपने-आप इस देश की विचार-धारा को प्रभावित करने लगे। जिन नये आधारों को लेकर नवीन पाश्चात्य-संस्कृति का जन्म हुआ था वे अंग्रेज़ी-राज के कारण भारत को बिना किसी कश्मकश के प्राप्त हो गये, और इन नवीन पाश्चात्य-आधारों ने भारत के सामाजिक, आर्थिक, साहित्यिक, नैतिक—सभी क्षेत्रों को प्रभावित किया। भारत में अंग्रेज किस प्रकार आये और क्यों उन्हें इस देश में अंग्रेज़ी-शिक्षा के प्रचारित करने की आवश्यकता हुई ?

३. अंग्रेज़ों का भारत में आगमन

कभी बहुत प्राचीन-काल में भारत का पश्चिम से व्यापार होता था। इसके बाद जब युरोप तथा भारत के बीच मुस्लिम-साम्राज्य का उदय हुआ तब पश्चिम तथा भारत का सम्बन्ध टूट गया, परन्तु हिन्दुस्तान सोने की चिड़िया है—यह भावना युरोप में बनी रही। यद्यपि युरोप को भारत की भौगोलिक-स्थिति का ज्ञान न रहा, तो भी समय-समय पर वहाँ के लोगों में भारत का पता लगाने की जिज्ञासा उठती रही। इसी जिज्ञासा के फल-स्वरूप १४९२ में स्पेन का कोलम्बस भारत का पता लगाने निकला, परन्तु वह अमरीका जा निकला और उसी को वह 'भारत' समझता रहा। १४९८ में पुर्त्तगाल का वास्को-डी-गामा अपने बेड़े को लेकर सचमुच 'भारत' आ पहुँचा। और २७-२८ मई को उसका बेड़ा कालीकट के किनारे आ लगा। इस के बाद भारत का रास्ता युरोप के देशों के लिए खुल गया और पोर्त्तुगीज, डच, फ्रेंच, अंग्रेज सब इस देश के साथ व्यापारिक-सम्बन्ध स्थापित करने के लिए एक-से-एक आगे बढ़ने लगे। हमारी संस्कृति पर क्योंकि अंग्रेज़ों का ही प्रभाव पड़ा, इसलिए हम उन्हीं की चर्चा करेंगे।

१६०० ईस्वी में इंग्लैण्ड में ईस्ट इण्डिया कम्पनी की स्थापना हुई। इसका उद्देश्य भारत के साथ व्यापार करना था। १६०८ में जहाँगीर ने इस कम्पनी को सूरत में तम्बाकू का गोदाम बनाने की आज्ञा दे दी और इसी लिए तम्बाकू का नाम 'सुरती' पड़ गया। बंगाल के एक सूबेदार ने किसी अंग्रेज डाक्टर से इलाज कराया था। वह ठीक हो गया। इनाम में १६५१ में उसने अंग्रेज़ों को हुगली में कोठी बनाने की आज्ञा दे दी। १६७९ में औरंगजेब ने अंग्रेज़ों को हुगली नदी में जहाज चलाने की आज्ञा दी। औरंगजेब की मृत्यु के बाद इस देश की हुकूमत को लड़-खड़ाता देख कर अंग्रेज़ों में व्यापार-लिप्सा के अतिरिक्त राज्य-लिप्सा भी उत्पन्न हुई। अबतक वे व्यापार की दृष्टि से यहाँ थे, अब उन्हें राज-सत्ता को भी अपने हाथ में लेने के सपने आने लगे। अब बाकायदा कम्पनी ने फ़ौजें रखनी शुरू कीं। १७५७ में पलासी की लड़ाई हुई जिसमें अंग्रेज़ों की धाक सब पर बैठ गई। १७५७

से १८५७ तक कम्पनी का अखण्ड राज रहा। १८५७ में कम्पनी के कारनामों से देश में विद्रोह हुआ, ग़दर मचा और उसके बाद कम्पनी को भारी मुआविज़ा देकर कम्पनी से ब्रिटिश-सरकार ने हिन्दुस्तान का राज अपने हाथ में ले लिया। जो रकम कम्पनी को दी गई वह भारत पर कर्ज़ा दिखा दिया गया। १८५७ से १९४७ तक अंग्रेज़ी हुकूमत रही, उसके बाद देश स्वतंत्र हो गया।

ईस्ट इण्डिया कम्पनी तथा ब्रिटिश-सरकार का उद्देश्य व्यापार करना था। हिन्दुस्तान में कच्चा माल मिलता था, इसे ले जाकर, पक्का माल बनाकर फिर वे इसे यहीं पर लाकर बेचते थे। हिन्दुस्तान उनके लिए कच्चे माल की खान और पक्के माल की मंडी थी। व्यापार के इस सिलसिले में वे राजा बन बैठे। राजा बन कर वे यहाँ शासन-व्यवस्था कैसे चलाते? अंग्रेज़ मुसलमानों की तरह यहाँ बस तो गये नहीं थे। उनकी भाषा भिन्न थी, वेश-भूषा भिन्न थी, सब-कुछ भिन्न था। जब तक अंग्रेज़ों तथा हिन्दुस्तानियों के बीच दो-भाषिये न तैयार होते तब तक अंग्रेज़ों का काम कैसे चलता? वे सीधे तो हुकूमत कर नहीं सकते थे, इसलिए ऐसे लोगों की ज़रूरत थी जो अंग्रेज़ों की तरफ़ से, अंग्रेज़ों के वफ़ादार होकर, हिन्दुस्तानी रहते हुए अंग्रेज़ बनकर हुकूमत चलाते। ऐसे व्यक्ति कहाँ से आते? ऐसों को पैदा करने के लिए एक ही उपाय था, और वह यह था कि यहाँ इस प्रकार के शिक्षणालय खोले जायँ जिनमें अंग्रेज़ी भाषा की शिक्षा दी जाय, जिनमें शिक्षा पाये हुए व्यक्तियों द्वारा शासन-सूत्र को चलाया जाय।

४. भारत में आंग्ल-शिक्षा का सूत्रपात तथा उसका प्रभाव

(क) संस्कृत तथा अरबी की शिक्षाओं का प्रारंभ—ईस्ट इण्डिया कम्पनी का मुख्य उद्देश्य व्यापार करना था, व्यापार करते-करते वह राज-काज करने लगी। १७८० में कम्पनी-सरकार ने यह निश्चय किया कि भारत में अंग्रेज़ी कानून के स्थान में भारतीय-कानून जारी किया जाय। हिन्दू-कानून केवल संस्कृत जानने वाले पण्डित तथा मुस्लिम-कानून केवल अरबी जानने वाले मौलवी जान सकते थे, अतः आवश्यक हो गया कि संस्कृत के पण्डित और अरबी के मौलवी तैयार किये जायँ। इसी उद्देश्य से १७८१ में वारन हेस्टिंग्स ने मौलवी पैदा करने के लिए 'कलकत्ता मदरसा' और १७९१ में बनारस के रेज़ीडेंट जोनाथन डंकन ने पण्डित पैदा करने के लिए 'बनारस संस्कृत कालेज' की स्थापना की।

(ख) अंग्रेज़ी-शिक्षा का प्रारंभ—१८१३ में ईस्ट-इण्डिया कम्पनी का भारत में व्यापार करने का चार्टर (आज्ञा-पत्र) ब्रिटिश पार्लियामेंट द्वारा बदला गया। सर चार्ल्स ग्रांट के, जो कम्पनी के डायरेक्टरों में से थे, विशेष प्रयत्न से आज्ञा-पत्र बदलते समय यह धारा भी बढ़ा दी गई कि अन्य खर्चों के बाद बची हुई रकम में से १ लाख रुपया प्रतिवर्ष भारतीय साहित्य के पुनरुद्धार, भारतीय विद्वानों के प्रोत्साहन तथा विज्ञानों की उन्नति के लिए लगाया जाय। दस वर्ष तक इस रुपये का कोई उपयोग नहीं किया गया। १८२३ में एक कमेटी बना दी गई, जिसने 'संस्कृत' तथा 'अरबी' में पुस्तकें छपवाना शुरू किया और संस्कृत

तथा अरबी को प्रोत्साहन देने के लिए 'कलकत्ता-संस्कृत-कालेज', 'आगरा-कालेज' तथा 'दिल्ली-कालेज' की स्थापना की। इस कमेटी में यह झगड़ा उठ खड़ा हुआ कि 'संस्कृत' तथा 'अरबी' की पुस्तकें छपवाना ठीक है या नहीं, इससे धन का दुरुपयोग तो नहीं हो रहा? इस झगड़े का कमेटी कुछ फ़ैसला न कर सकी। कमेटी में दो दल बने रहे। एक दल 'संस्कृत' तथा 'अरबी' का पक्षपाती था, दूसरा दल 'अंग्रेज़ी'-शिक्षा देने का पक्षपाती था। यह झगड़ा चल ही रहा था कि १८३४ में लार्ड मैकाले गवर्नर-जनरल बेंटिक की कार्य-कारिणी समिति के सदस्य बन कर आये, और २ फ़रवरी १८३५ को उन्होंने अपनी रिपोर्ट लिख कर इस झगड़े का निपटारा कर दिया। लार्ड मैकाले ने लिखा कि हमें ऐसे व्यक्ति उत्पन्न करने हैं, जो शरीर से भारतीय हों, परन्तु रहन-सहन, वेश-भूषा, बोल-चाल, विचार आदि में अंग्रेज़ हों, तभी हमारा राज चल सकता है। इस प्रकार अंग्रेज़ी-शिक्षा की नींव डाल दी गई और आज शिक्षा के क्षेत्र में जो स्थिति दिखलाई देती है उसका सूत्रपात हुआ।

(ग) अंग्रेज़ी-शिक्षा का प्रभाव—किसी देश को आमूल-चूल बदलना हो, तो उसके शिक्षणालयों को अपने ढंग पर ढालना शुरू कर देना इसका सर्वोत्तम उपाय है। आज के युवक कल के समाज को बनाते हैं। आज के युवकों में जो विचार शिक्षा द्वारा रोप दिये जायेंगे उन्हीं विचारों का कल का समाज बनेगा। इस दृष्टि से मैकाले ने एक बहुत दूरदर्शिता का काम किया। जो काम मुसलमानों की तलवार न कर सकी वह अंग्रेज़ों ने बिना पत्ता हिलाये कर दिया। १८४४ में लार्ड हार्डिज ने यह तय कर दिया कि उच्च नौकरियाँ अंग्रेज़ी पढ़े-लिखों को ही मिलेंगी। ऐसा निर्णय करना अंग्रेज़ों के लिए आवश्यक भी था क्योंकि इसके बिना उनका शासन इस देश में नहीं चल सकता था। इसका परिणाम यह हुआ कि आंग्ल-शिक्षा प्राप्त करने के लिए एक-दूसरे से होड़ होने लगी और सारे देश का ध्यान आंग्ल-शिक्षा प्राप्त करने की तरफ़ लग गया क्योंकि इसी प्रकार उनकी आजीविका की समस्या हल हो सकती थी। कुछ तो अंग्रेज़ों के शासक होने की वजह से, और कुछ आंग्ल-शिक्षा प्राप्त कर लेने के बाद नौकरी मिल जाने की वजह से इस देश में लोगों ने अपनी संस्कृति को छोड़ना शुरू किया, 'संस्कृतीकरण' (Acculturation) की प्रक्रिया शुरू हो गई। यह प्रक्रिया उस प्रक्रिया से भिन्न थी जो मुसलमानों के समय शुरू हुई थी। मुसलमान तो यहाँ बस गये थे, कुछ यहाँ का उन्होंने लिया और कुछ अपना दिया था। उनकी संस्कृति भी बहुत बलवती नहीं थी। उनके यहाँ रहते 'सांस्कृतिक-व्यवस्थीकरण' (Cultural Accommodation) की प्रक्रिया जारी रही, परन्तु अंग्रेज़ यहाँ बसने के लिए तैयार नहीं थे, इसलिए वे तो अपने को क्या बदलते। उनकी संस्कृति भी मुस्लिम-संस्कृति से अधिक बलवती थी, धर्म पर आधारित न होकर पूरी, सोलह आना भौतिक थी। इस भौतिक-संस्कृति की चकाचौंध ने नव-युवकों को इतना मोह लिया कि वे अपनी संस्कृति को सर्वथा हेय समझने लगे, पाश्चात्य-संस्कृति के उपासक होने लगे। इस 'संस्कृतीकरण'

(Acculturation) की प्रतिक्रिया भी हुई। लोग पश्चात्य-संस्कृति के विरुद्ध भी उठ खड़े हुए, 'विसंस्कृतीकरण' (Contra-culturation) चला। उसका वर्णन हम आगे करेंगे, परन्तु यहाँ हमें यह देखना है कि आंग्ल-भाषा, आंग्ल-शिक्षा प्राप्त करने का भारतीय-समाज पर, हिन्दुओं तथा मुसलमानों पर क्या प्रभाव पड़ा ?

आंग्ल-शिक्षा प्राप्त करने वाले युवकों को नौकरियाँ तो मिलती ही थीं, परन्तु जब उन्होंने अंग्रेजी के ग्रन्थ पढ़ना शुरू किया, तो उन्हें यह भी पता चला कि पाश्चात्य-देशों में किस प्रकार 'पुनर्जागरण' (Renaissance) का युग आया, इस जागरण के युग में विज्ञान का अभ्युदय हुआ, भिन्न-भिन्न आविष्कार हुए, मनुष्य ने अर्थहीन प्राचीन रूढ़ियों तथा प्रथाओं को छिन्न-भिन्न कर दिया; किस प्रकार वहाँ 'धार्मिक-सुधारणा' (Reformation) का युग आया, इस धार्मिक-सुधार के युग में पादरी-पुरोहितों की बेड़ी को वहाँ के लोगों ने तोड़ दिया, धर्म के क्षेत्र में वे स्वतंत्र होकर विचार करने लगे; किस प्रकार वहाँ नवीन आविष्कारों के कारण 'औद्योगिक-क्रांति' (Industrial Revolution) हुई, इस क्रांति के परिणामस्वरूप वहाँ सामन्त-पद्धति का, जो हमारी जमींदारी-प्रथा का ही दूसरा रूप थी, नाश हुआ; किस प्रकार वहाँ 'राजनैतिक-क्रांति' (Political Revolution) हुई, इंग्लैण्ड में राजा के अधिकार पार्लियामेंट को प्राप्त हुए, फ्रांस में स्वतंत्रता, समानता तथा बन्धुता का नारा शहर-शहर और गली-गली में गूंज उठा। आंग्ल-शिक्षा से जहाँ इस देश के युवक शरीर से भारतीय लेकिन विचारों से अंग्रेज होने लगे, वहाँ उनमें अपने देश की दशा बदलने की भावना भी जाग उठी। उनके सामने इंग्लैण्ड का मध्य-युग का इतिहास भी था, वर्त्तमान-युग का इतिहास भी था। इंग्लैण्ड की मध्य-युग में जो अवस्था थी वही अंग्रेजों के इस देश में आने पर भारत की अवस्था थी। इस देश के युवक आंग्ल-शिक्षा प्राप्त कर रहे थे, कुछ अंश में ये अंग्रेजी पढ़े-लिखे हिन्दुस्तानी अंग्रेज होते जाते थे, उनमें अपनी संस्कृति तथा सभ्यता के प्रति घृणा उत्पन्न होती जाती थी, परन्तु साथ ही उनमें से अनेक के हृदय में हिन्दुस्तान को इस मध्य-युग के अन्धकार में से निकालने की भावना भी जड़ पकड़ती जाती थी। इस आंग्ल-शिक्षा का परिणाम यह हुआ कि भारत की आर्थिक, राजनैतिक, सामाजिक तथा धार्मिक रचना पर पश्चिम के नवीन विचारों का प्रभाव पड़ने लगा और उनमें परिवर्तन आने लगा। हम आगे इन्हीं प्रभावों तथा परिवर्तनों पर प्रकाश डालेंगे।

५. पश्चिम के सम्पर्क का भारत की आर्थिक-रचना पर प्रभाव

(क) कृषि तथा कुटीरोद्योग की अर्थ-व्यवस्था—अंग्रेजों ने भारत में जो-कुछ किया, अपने भले के लिए किया, अपने बणिज-व्यापार को बढ़ाने के लिए किया। अपना भला करते-करते हिन्दुस्तान का भला भी हो गया—इसम उनका कोई दोष नहीं, वे तो इस देश का अपने देश की समृद्धि के लिए पूरा-पूरा उपयोग करना चाहते थे। उन्होंने अंग्रेजी-शिक्षा इस देश के भले के लिए नहीं जारी की

थी, अपने कारोबार चलाने के लिए, बाबू उत्पन्न करने के लिए जारी की थी, परन्तु अंग्रेजी शिक्षा प्राप्त करने वाला यह वर्ग अंग्रेजी इतिहास पढ़ कर अपने देश की बात भी सोचने लगा। आर्थिक-क्षेत्र में भी अंग्रेज यहाँ बड़े-बड़े उद्योग-धंधे नहीं चलाना चाहते थे, भारत में 'उद्योगीकरण' की प्रक्रिया तो अंग्रेजों के सम्पर्क के कारण शुरू हो गई। अंग्रेज न आते तो शायद यह प्रक्रिया पहले शुरू हो जाती। जापान ने ५० वर्षों में अपने देश का उद्योगीकरण कर लिया, वहाँ कोई अंग्रेज नहीं गये थे। अंग्रेज जब भारत में आये तब देश कृषि-प्रधान था, कृषि के साथ यहाँ घर-घर में महीन कपड़ा बुना जाता था, इस कपड़े की इंग्लैण्ड तक में भारी माँग थी। अंग्रेज यह चाहते थे कि भारत कृषि-प्रधान देश ही बना रहे, यहाँ जूट, कपास पैदा हों, इन्हें सस्ते दामों में खरीद कर वे इंग्लैण्ड भेजें, वहाँ के लिवरपूल तथा लंकाशायर की मिलों में कपड़ा बने, और उसे महँगे दामों में वे उसे इस देश में बेच कर पैसा पैदा करें। यही कारण है कि अंग्रेजों की इस नीति के कारण आज तक भारत कृषि-प्रधान देश ही बना हुआ है, अभी इसका उद्योगीकरण नहीं हुआ। महात्मा गांधी भी भारत को कृषि-प्रधान देश ही देखना चाहते थे, परन्तु वे यहाँ के गाँवों को आत्म-निर्भर बनाना चाहते थे, अंग्रेज उन्हें कृषि-प्रधान मात्र रहने देना चाहते थे, इसके साथ उसकी आत्म-निर्भरता को मिटा देना चाहते थे। कृषि के अतिरिक्त यहाँ लघु-उद्योग थे, यहाँ के कुटीरोद्योगों में बने महीन कपड़ों पर पश्चिम के लोग फ़िदा थे। इसका अंग्रेजों के व्यापार पर प्रभाव पड़ता था, इसलिए उन्होंने इन उद्योगों को नष्ट करने के सब उपाय किये और भरसक प्रयत्न किया कि भारत अंग्रेजों के लिए कच्चा माल पैदा करने वाला केवल कृषि-प्रधान देश बना रहे।

(ख) उद्योगीकरण की अर्थ-व्यवस्था---अंग्रेजों का भरसक प्रयत्न यह रहा कि भारत का उद्योगीकरण न हो, अगर हो जाता है तो उनके माल की खपत किस मंडी में होगी? परन्तु परिस्थितियाँ ऐसी बन गईं कि उन्हें विवश होकर इस देश का उद्योगीकरण करना पड़ा। १९१४-१८ के विश्व-युद्ध में भूमध्य-सागर पर अंग्रेजों के दुश्मनों का कब्जा था, इसलिए अंग्रेजी जहाज अपना माल लेकर इस देश में नहीं आ सकते थे। इधर टर्की भी जर्मनी के साथ था और ईराक, सीरिया आदि के देश युद्ध के मैदान बने हुए थे। इधर अंग्रेजी फ़ौजें लड़ाई में जूझ रही थीं। इनको माल कहाँ से भेजा जाता? ऐसी हालत में विवश होकर अंग्रेजों को भारत में व्यावसायिक-कारखाने खोलने वालों को प्रोत्साहन देना पड़ा। प्रथम विश्व-युद्ध के बाद से परिस्थितियों-वश भारत का उद्योगीकरण प्रारम्भ हुआ और यहाँ की अर्थ-व्यवस्था ने नया रूप धारण किया। जो व्याव-सायिक-क्रांति इंगलैण्ड में १८वीं शताब्दी में हुई, उसका अपने देश में २०वीं शताब्दी के प्रारम्भ में इस देश के अंग्रेजों के सम्पर्क में आने के कारण सूत्रपात हुआ।

(ग) पूंजीपति तथा मजदूर नामक 'श्रेणी-विभाग' का प्रारम्भ---भारत में उद्योगीकरण के परिणामस्वरूप कलकत्ता, बम्बई, अहमदाबाद, मद्रास आदि

बड़े-बड़े शहरों में मिलें खड़ी होने लगीं, इन मिलों में भारत के गाँवों से मजदूरों के समूह-के-समूह काम करने के लिए आने लगे। मिल-मालिक मिलों से अन्धाधुन्ध रुपया कमाने लगे, पूँजीपति की एक श्रेणी पैदा हो गई; इसी तरह मिलों में काम करने वाले मजदूरों की भी एक दूसरी श्रेणी बन गई। भारत में अब तक जाति-व्यवस्था थी, उसका आधार सामाजिक था। वह व्यवस्था तो बनी रही, उसके साथ एक नई व्यवस्था उत्पन्न हो गई—श्रेणी-व्यवस्था—इसका आधार आर्थिक था। पूँजीवादी-युग में जाति-व्यवस्था का स्थान शनैः शनैः श्रेणी-व्यवस्था ले लेती है। वही प्रक्रिया अपने देश में शुरू हो गई। श्रेणी-व्यवस्था में श्रमी-संघ बनते हैं; मिलों में हड़तालें होती हैं, मजदूर-मालिक के झगड़े होते हैं, इन झगड़ों को निपटाने के लिए कानून बनते हैं—यह सब-कुछ यहाँ हुआ और हो रहा है।

(घ) समाजवाद तथा साम्यवाद का आन्दोलन—जिस देश में उद्योगीकरण होता है उसमें मजदूरों को आपस में मिलने-जुलने का अवसर बहुत मिलने लगता है। वे अपनी तथा पूँजीपति की आर्थिक-विषमता पर विचार-विनिमय करने लगते हैं। इस आर्थिक-विषमता को कौन बर्दाश्त कर सकता है? इस विषमता को दूर करने के आन्दोलन प्रारम्भ हो जाते हैं। ये आन्दोलन जबतक अहिंसा तथा शान्ति के उपायों तक सीमित रहते हैं, तब तक इन्हें 'समाजवाद' (Socialism) कहा जाता है, जब इनका लक्ष्य उत्पादन के साधनों पर जबर्दस्ती कब्जा करके मजदूर-राज स्थापित करना हो जाता है तब इसे 'साम्यवाद' (Communism) कहते हैं। औद्योगिक-क्रान्ति के ये दो नतीजे युरोप में हुए। अंग्रेजों के सम्पर्क में आने तथा यहाँ भी उद्योगीकरण की प्रक्रिया के प्रारम्भ हो जाने के कारण यहाँ की अर्थ-व्यवस्था में भी समाजवाद तथा साम्यवाद का सूत्रपात हो गया। अब ये दोनों विचार-धाराएँ अपने देश में काफ़ी पनप चुकी हैं।

(ङ) रेल, तार, डाक, बिजली की व्यवस्था—अंग्रेजों ने अपनी सुविधा के लिए यातायात की व्यवस्था की थी. रेल, तार, डाक, बिजली का प्रबन्ध किया था। इस सब प्रबन्ध से उनके व्यापार तथा शासन को बहुत बल मिला। रेल से वे अपने माल को, और जरूरत पड़ने पर अपनी फ़ौजों को एक स्थान से दूसरे स्थान तक आसानी से पहुँचा सकते थे, तार-डाक से इस विशाल देश के किसी भाग में भी बैठे हुए हर स्थान की हालत से वे परिचित रहते थे। इन सब का देश की आर्थिक-व्यवस्था पर भी प्रभाव पड़ा और भारत में उद्योगीकरण की प्रक्रिया के प्रारम्भ होने पर बिजली से कारखाने चलने लगे, रेलों से व्यापार बढ़ा, डाक-तार से देश-विदेश के व्यापार को प्रोत्साहन मिला। इन सब का प्रभाव देश की आर्थिक-व्यवस्था पर पड़े बिना न रह सका।

६. पश्चिम के सम्पर्क का भारत की राजनैतिक-रचना पर प्रभाव

(क) अंग्रेजों में राष्ट्रीयता, राष्ट्र तथा लोक-तन्त्र का विकास हो चुका था—जिन लोगों की भाषा एक है, धर्म एक है, ऐतिहासिक-परम्परा एक है, साहित्य, विचार, प्रथाएँ एक हैं, एक शब्द में जिनकी 'संस्कृति' एक है, उनका एक

अलग राष्ट्र होना चाहिए। जिन लोगों की भाषा, धर्म, परम्परा, साहित्य, विचार, प्रथाएँ, एक शब्द में जिन की 'संस्कृति' भिन्न है, उनका पृथक् राष्ट्र होना चाहिए। समान-संस्कृति की भावना को 'राष्ट्रीयता' (Nationality) कहा जाता है और एक-समान संस्कृति के लोगों में जब राजनैतिक-चेतना उत्पन्न हो जाती है, अपने को सांस्कृतिक-दृष्टि से ही नहीं, राजनैतिक-दृष्टि से भी उनमें एक-दूसरे को एक समझने की भावना पैदा हो जाती है, तब 'राष्ट्र' (Nation) का भाव उत्पन्न हो जाता है। जब कोई समाज सजग तथा सजीव होता है तब उसमें पहले राष्ट्रीयता की भावना जागती है और उसके बाद वह अपने को राजनैतिक-शक्ति के आधार पर एक राष्ट्र बनाने का प्रयत्न करता है।

राजनैतिक-शक्ति के आधार पर अपने को एक राष्ट्र बनाने का क्या अर्थ है? इसका यह अर्थ है कि जो समाज अपने को राष्ट्र कहता है वह स्वतंत्र होना चाहिए, दूसरे किसी राष्ट्र के आधीन नहीं होना चाहिए। जब तक कोई समाज स्वतंत्र नहीं है तब तक वह राष्ट्र भी नहीं बना। यह सम्भव है कि किसी समाज में 'राष्ट्रीयता' की भावना उत्पन्न हो जाय, परन्तु वह 'राष्ट्र' न बन सके। 'राष्ट्रीयता' की भावना के उत्पन्न होने का परिणाम 'राष्ट्र' का बनना होना चाहिए, परन्तु यह जरूरी नहीं कि 'राष्ट्रीयता' के उत्पन्न होते ही 'राष्ट्र' भी बन जाय। अंग्रेजों के समय भारत में 'राष्ट्रीयता' की भावना उत्पन्न हो गई थी, परन्तु यह 'राष्ट्र' नहीं बना था। 'राष्ट्र' तो यह १९४७ में स्वतंत्रता की प्राप्ति के बाद बना। 'राष्ट्रीयता' के लिए स्वतंत्रता आवश्यक नहीं है, 'राष्ट्र' के लिए स्वतंत्रता आवश्यक है। स्वतंत्रता के बिना कोई राष्ट्र राष्ट्र कहला ही नहीं सकता।

सांस्कृतिक-एकता की चेतना उत्पन्न होने पर 'राष्ट्रीयता' आती है, राजनैतिक-एकता की चेतना उत्पन्न होने पर वही राष्ट्रीयता 'राष्ट्र' का रूप धारण कर लेती है। जब तक 'राष्ट्रीयता' तथा 'राष्ट्र' की भावना नहीं पैदा होती तब-तक एक देश दूसरे देश पर शासन करता है, और किसी को महसूस भी नहीं होता कि उन पर दूसरा-कोई हुकूमत कर रहा है। दूसरेपन की भावना ही तब पैदा होती है जब किसी समाज में 'राष्ट्रीयता' की भावना जाग जाती है। जब 'राष्ट्रीयता' की भावना जाग जाती है, तब उस 'राष्ट्रीयता' को दबाने वाले तत्व शत्रु समझे जाते हैं, और उनके साथ संघर्ष छिड़ जाता है।

अंग्रेज जब भारत में आये तब उनमें 'राष्ट्रीयता' की भावना मौजूद थी, उनकी 'राष्ट्रीयता' एक 'राष्ट्र' का रूप भी धारण कर चुकी थी। इन दोनों बातों के साथ उनमें एक तीसरी बात भी थी। वे एक स्वतंत्र राष्ट्र के निवासी ही नहीं थे, उनके राष्ट्र में लोक-तंत्र राज्य की स्थापना भी हो चुकी थी। किसी देश का 'राष्ट्र' बन जाना एक बात है, राष्ट्र बन जाने के बाद उसमें 'लोक-तंत्र' (Democracy) का होना दूसरी बात है। राष्ट्रीयता की जागृति के बाद जब देश स्वतंत्र होता है, तब वह 'राष्ट्र' कहलाता है, 'राष्ट्र' बनने के बाद जब राष्ट्र का निर्माण जनता के हाथ में आ जाता है, राजा-महाराजाओं या डिक्टटरों के हाथ में

नहीं रहता, तब वह 'लोक-तंत्र' या 'जन-सत्ता' कहलाता है। अंग्रेज़ों में 'राष्ट्रीयता' और 'राष्ट्र' की सत्ता ही नहीं थी, उनमें 'लोक-तंत्र' भी पैदा हो चुका था।

(ख) भारत में राष्ट्रीयता, राष्ट्र तथा लोक-तंत्र की भावना की जागृति—मुसलमानों के समय भारतीय-संस्कृति पर जो प्रहार हुआ था उसके दो परिणाम निकले थे। कुछ लोग तो जबर्दस्ती मुसलमान बना लिये गये थे, उन लोगों ने तो अपनी संस्कृति को सर्वथा त्याग दिया था। परन्तु कोई शासक सदा के लिए जबर्दस्ती से शासन नहीं कर सकता, इसलिए कुछ काल के बाद हिन्दू तथा मुस्लिम संस्कृतियों में परस्पर आदान-प्रदान, 'व्यवस्थीकरण' (Accommodation) की प्रक्रिया प्रारम्भ हो गई। अंग्रेज़ों के समय जबर्दस्ती किसी को अपनी संस्कृति छोड़ने के लिए बाधित नहीं किया गया। शिक्षा के माध्यम से यहाँ के लोग जिस पाश्चात्य-संस्कृति के सम्पर्क में आये उसका प्रभाव स्वयमेव उन पर इतना जबर्दस्त पड़ा कि अपने-आप वे अपने बाप-दादाओं की संस्कृति को घृणा की दृष्टि से देखने लगे। उन्हें अपनी भाषा, वेष-भूषा, आचार-व्यवहार, प्रथा, रीति-रिवाज, परम्पराएँ सब हेय दीखने लगीं और 'व्यवस्थीकरण' (Accommodation) की जगह 'संस्कृतीकरण' (Acculturation) की प्रक्रिया प्रारम्भ हो गई। हिन्दू अपने को हिन्दू कहते रहे, परन्तु हिन्दूपन की हर-एक बात से उन्हें नफ़रत होने लगी। ऐसी स्थिति में राष्ट्रीयता, राष्ट्र या लोक-तंत्र की भावना कहाँ तक रह सकती थी। जो काम मुसलमान जबर्दस्ती और तलवार के ज़ोर पर न कर सके वही काम अंग्रेज़ अपनी बलवती सभ्यता के द्वारा करने में सफल हो रहे थे।

हिन्दू-संस्कृति की यह विशेषता है कि यह सदियों तक सोई रहती है, परन्तु जब भी इस पर सीधा या टेढ़ा प्रहार होता है तब यह एकदम जागृत हो जाती है, और बचाव के उपाय निकाल लेती है। मुस्लिम-प्रहार के सामने इसने 'व्यवस्थीकरण' की प्रक्रिया द्वारा अपने को बचाया, अंग्रेज़ी-प्रहार उससे मीठा था परन्तु तेज था। इस समय इस सभ्यता में 'विसंस्कृतीकरण' (Contra-culturation) की प्रक्रिया प्रारम्भ हो गई। जहाँ हिन्दू-संस्कृति के नष्ट होने में पाश्चात्य-शिक्षा कारण बन रही थी, वहाँ इसके बचाव में भी पाश्चात्य-शिक्षा ने ही काम किया। शिक्षित हिन्दुओं में एक ऐसा वर्ग उत्पन्न हो गया जिसने आंग्ल-साहित्य में 'राष्ट्रीयता', 'राष्ट्र', 'लोक-तंत्र' की बातें पढ़ कर हिन्दू-जाति को चौकन्ना करना शुरू किया। उन्होंने खतरे की घंटी बजाई और कहा कि हमें अपने को पाश्चात्य-सभ्यता के सामने मर-मिटने से बचाना होगा। पाश्चात्य-सभ्यता के सम्पर्क से इन लोगों ने 'राष्ट्रीयता' का पाठ पढ़ा। पश्चिम के देशों ने अपने राष्ट्रों की स्वतंत्रता के लिए संग्राम किये थे, अपने देशों की रक्षा के लिए खून बहाया था, वहाँ की जनता ने राजाओं के एकाधिकारों के विरुद्ध अपने को स्वतंत्रता की बलि-वेदी पर चढ़ाया था। मेज़िनी, गेरीबाल्डी के कथानकों को पढ़ कर इस देश के वासियों में वही स्वतंत्रता के विचार ज़ोर क्यों न मारते। इस सब का परिणाम यह हुआ कि भारत की राष्ट्रीयता पाश्चात्य-शिक्षा के प्रभाव से मरते-मरते पाश्चात्य-शिक्षा के प्रभाव

से ही बच गई। पाश्चात्य-शिक्षा के प्रभाव से जहाँ लोग अपने-आप अपने धर्म, अपनी संस्कृति को त्याग रहे थे वहाँ इसी शिक्षा के प्रभाव से इस देश की संस्कृति को बचाने वाले भी उठ खड़े हुए।

(ग) १८८५ में इण्डियन नेशनल कांग्रेस की स्थापना—इस देश की राष्ट्रीयता को बचाने के लिए जो पहले-पहल संगठित, राजनतिक उद्योग हुआ उसका रूप १८८५ में 'इंडियन नेशनल कांग्रेस' की स्थापना था। इस समय कांग्रेस में वही लोग शामिल थे जो अंग्रेजी के रंग में रंगे हुए थे, लच्छेदार अंग्रेजी बोलते थे, अंग्रेजी वेश-भूषा में रहते थे, परन्तु भारत की राष्ट्रीयता को बचाना चाहते थ। ये लोग अंग्रेजों के साथ खुल कर लड़ाई नहीं लड़ सकते थे। साल में एक बार किसी बड़े शहर में इकट्ठे होकर लेक्चरबाजी कर लेते थे, प्रस्ताव पास करते थे और फिर अपने घरों में आ बैठते थे। यह कहना संगत न होगा कि इनका देश की जनता पर कोई प्रभाव नहीं था। उस समय लोग इतना भी बहुत समझते थे। अंग्रेजों के विरुद्ध कोई बोल रहा है—यह बात जनता के लिए बहुत थी। वे सदियों से, मुस्लिम-काल से राज-शक्ति द्वारा इतने पीड़ित चले आ रहे थे कि सरकार के विरुद्ध जलसे करना उनके लिए चमत्कारी बात थी। परन्तु इतने से तो राज नहीं बदल जाता। धीरे-धीरे कांग्रेस में उग्र विचारों के लोग आने लगे। १९०७ में सूरत में कांग्रेस में दो दल हो गये। इनमें से एक दल जो अब तक लेक्चरबाजी करता तथा प्रस्ताव पास करता आ रहा था 'नरम-दल' कहलाने लगा, जो दल स्वतंत्रता-प्राप्ति के लिए, राजनैतिक-अधिकार प्राप्त करने के लिए क्रियात्मक उपाय प्रयोग में लाना चाहता था वह 'गरम-दल' कहलाने लगा। 'गरम-दल' के नेता लोकमान्य बाल गंगाधर तिलक, लाला लाजपत राय तथा विपिनचन्द्र पाल हुए जिन्हें उन दिनों बाल-लाल-पाल कहा जाता था।

(घ) १९२०-२१ का महात्मा गांधी का सत्याग्रह-आन्दोलन—१९१४-१८ के प्रथम विश्व-युद्ध के समय ब्रिटिश-सरकार ने यह घोषित किया कि वह राष्ट्रीयता, राष्ट्र, स्वाधीनता तथा लोक-तंत्रवाद के लिए रण-क्षेत्र में उतरी है। युरोप के जिन देशों में राज-सत्ता जनता के हाथ में नहीं है उनमें जन-सत्ता को स्थापित करना ही मित्र-राष्ट्रों का उद्देश्य है। ब्रिटिश-सरकार ने यह भी घोषणा की कि युद्ध के बाद वे भारत में भी इन सिद्धान्तों को लागू करने में कोई कोर-कसर नहीं रखेंगे। इसका परिणाम यह हुआ कि भारत ने विश्व-युद्ध के समय अंग्रेजों का साथ दिया और महात्मा गांधी ने सेना में भारतीय सैनिकों की भर्त्ती में सहयोग दिया। युद्ध की समाप्ति पर जब अंग्रेजों ने अपने वायदे पूरे न किये, तब महात्मा गांधी के नेतृत्व में १९२०-२१ में सत्याग्रह-आन्दोलन का सूत्रपात हुआ। अब तक कांग्रेस के पास क्रियात्मक कार्य कुछ नहीं था, अब महात्मा गांधी ने विदेशी वस्त्रों का बहिष्कार, सरकारी स्कूलों का बहिष्कार, सरकारी नौकरियों का बहिष्कार, हर तरह का बहिष्कार तथा अंग्रेजों के साथ असहयोग—ये कार्य-क्रम जारी किये। महात्मा गांधी ने 'विसंस्कृतीकरण' (Contra-culturation)

की प्रक्रिया को चरम सीमा तक पहुँचा दिया। उनका ढंग अपना निराला था। उनका कहना था कि हम अंग्रेजों से मानवता के नाते प्रेम करते हैं, परन्तु उनके शासन से घृणा करते हैं। इस बात का उत्तर अंग्रेज क्या देते? महात्मा गांधी का १९२०–२१ का आन्दोलन भारत को स्वराज्य दिलवाने में तो सफल न हुआ, परन्तु स्वराज्य पाने की तड़पन दूर-से-दूर, गाँव-गाँव तक के बच्चे तक में पैदा हो गई।

(ङ) १९३०–३१ का महात्मा गांधी का दूसरा आन्दोलन—पहले आन्दोलन के बाद १९३०–३१ में महात्मा गांधी ने दूसरा आन्दोलन खड़ा किया। पहले आन्दोलन में तो विदेशी वस्तुओं का बहिष्कार आदि किया गया था, कानूनों को नहीं तोड़ा गया था, दूसरे आन्दोलन में महात्मा गांधी ने ब्रिटिश-सरकार के उन कानूनों को तोड़ने की घोषणा की जिन्हें वे जनता के लिए अहितकर समझते थे। महात्मा गांधी ने स्वयं नमक-कर का कानून तोड़ा, जगह-जगह लोग नमक बनाने लगे, शराब की भट्टियों पर धरना देने लगे, विदेशी कपड़ों के व्यापारियों की दुकानों पर सत्याग्रही मोर्चाबन्दी करने लगे, जेलों में सत्याग्रहियों को रखने की जगह न रही। अबतक ब्रिटिश-सत्ता अपने कानून की शक्ति के भरोसे टिकी हुई थी, जनता में कानून तोड़ने का भय था, अब जो आन्दोलन उठा उसमें जनता को कानून का भय जाता रहा। कोई भी राज जनता में कानून के भय उठ जाने पर आगे नहीं चल सकता।

(च) १९३९–४५ का महात्मा गांधी का तीसरा आन्दोलन तथा सुभाष-चन्द्र बोस की आजाद-हिन्द-फ़ौज—१९३९–४५ में दूसरा विश्व-युद्ध हुआ। इस बीच महात्मा गांधी ने ब्रिटिश सरकार को कहा कि अगर वे हिन्दुस्तान को स्वतंत्रता दे देते हैं तो भारत अपने पूर्ण बल से उनका साथ देगा। अंग्रेज टालमटोल करते रहे। महात्मा गांधी ने इस समय एक तीसरा आन्दोलन खड़ा किया। नारा था—'अंग्रेजो, भारत छोड़ दो'। इस नारे का प्रभाव यह हुआ कि देश की जनता अंग्रेजी-शासन के विरुद्ध भड़क उठी। लोगों ने रेल, तार, डाक को नष्ट करना शुरू किया। उधर सुभाषचन्द्र बोस ने जर्मनी तथा जापान की सहायता से आजाद-हिन्द-फ़ौज को संगठित किया और हिन्दुस्तान की सीमा पर आकर बाकायदा युद्ध छेड़ दिया। अंग्रेजों को मालूम हो गया कि सारा देश नेताजी सुभाष-चन्द्र बोस के साथ है। इस बीच बम्बई में भारतीय जल-सेना ने अंग्रेजों के विरुद्ध विद्रोह कर दिया। इन सब बातों का परिणाम यह हुआ कि अंग्रेज समझ गये कि अब हिन्दुस्तान को जबर्दस्ती अपने आधीन रखने से उन्हें कोई लाभ नहीं और १५ अगस्त १९४७ को अंग्रेजों ने भारत को स्वतंत्र कर दिया।

(छ) भारत की राजनैतिक-रचना पर लोक-तन्त्र-वाद का अंग्रेजी-प्रभाव—अंग्रेज तो भारत से चले गये, भारत एक 'राष्ट्र' बन गया, परन्तु 'राष्ट्र' बन जाने के बाद यहाँ की राजनैतिक-रचना पर अंग्रेजों के साथ सदियों का सम्पर्क होने के कारण अंग्रेजी-प्रभाव पड़ा। भारत एक स्वतंत्र 'राष्ट्र' ही नहीं बना, यहाँ 'लोक-तंत्र' की भी स्थापना हुई। 'लोक-तंत्र' के आधारभूत-तत्त्वों को यहाँ की शिक्षित

जनता सदियों से आंग्ल-सम्पर्क के कारण ग्रहण कर रही थी, इसलिए इस प्रकार की राजनैतिक-रचना अपने देश को अधिक अनुकल प्रतीत हुई।

७. पश्चिम के सम्पर्क का भारत की सामाजिक-रचना पर प्रभाव

मुस्लिम-संस्कृति के साथ टाकरा होने पर हिन्दू-संस्कृति ने 'व्यवस्थीकरण' (Accommodation) की प्रक्रिया को अपनाया, कुछ खुद बदली, कुछ मुस्लिम-संस्कृति को बदला, परन्तु आंग्ल-संस्कृति के साथ टाकरा होने पर 'संस्कृतीकरण' (Acculturation) का खतरा पैदा हो गया, यह खतरा पैदा हो गया कि कहीं इस सभ्यता के वार से हिन्दू संस्कृति समाप्त ही न हो जाय, इस देश के नव-युवक नाममात्र के हिन्दू रहें, परन्तु दूसरी हर तरह से पाश्चात्य रंग में रंग जायें। इस विकट परिस्थिति में हिन्दू-संस्कृति की चेतना जागी और अपने को बचाने के लिए इसमें दो प्रकार की प्रतिक्रिया उत्पन्न हुई। एक प्रतिक्रिया तो वही थी, 'व्यवस्थीकरण' (Accommodation) की प्रक्रिया, दूसरी प्रक्रिया पाश्चात्य-संस्कृति के साथ सीधी टक्कर लेना था, यह 'विसंस्कृतीकरण' (Contra-culturation) की प्रक्रिया थी। 'व्यवस्थीकरण' का प्रभाव इस देश की सामाजिक-रचना पर हुआ, 'संस्कृतीकरण' का प्रभाव इस देश की धार्मिक-रचना पर हुआ। जहां तक समाज में प्रचलित कुरीतियां थीं, उन्हें पाश्चात्य-संस्कृति का पुट पाने वाला हिन्दू-युवक घृणा की दृष्टि से देखने लगा था। अंग्रेजों की सभ्यता में तो ये बुराइयां नहीं थीं। इस स्थिति को संभालने के लिए हिन्दू-संस्कृति में 'व्यवस्थीकरण' की प्रक्रिया प्रारम्भ हुई, और सती-प्रथा, बालिका-वध, बाल-विवाह, विधवा-विवाह, बहु-विवाह, तलाक, दहेज आदि के सम्बन्ध में नवीन दृष्टि-कोण को अपनाया गया। इसके अतिरिक्त 'विसंस्कृतीकरण' की प्रक्रिया भी हिन्दू-समाज तथा मुस्लिम-समाज—इन दोनों में हुई और ऋषि दयानन्द, स्वामी विवेकानन्द, सर सय्यद अहमद आदि हिन्दू तथा मुस्लिम नेताओं ने अपने धर्म की नींवों को दृढ़ बनाने का प्रयत्न किया। हम इस प्रकरण में पहले सामाजिक तथा फिर धार्मिक पहलू पर यह बात कैसे घटती है—यह स्पष्ट करने का प्रयत्न करेंगे।

'व्यवस्थीकरण' की प्रक्रिया द्वारा हिन्दू-समाज ने जिन सामाजिक-संस्थाओं में परिवर्तन किया और उन्हें नवीन-युग की प्रवृत्तियों के अनुसार बदल डाला, वे निम्न थीं :

(क) जाति-व्यवस्था के स्थान में श्रेणी-व्यवस्था—अबतक हमारी व्यवस्था में जात-पांत के बन्धन अत्यन्त जटिल थे, ऊँची जात वाला नीची जात वाले के साथ छू जाता, तो एक संकट उपस्थित हो जाता था, उसके साथ खा-पी तो सकता ही नहीं था, परन्तु अंग्रेजों के आने के बाद जब सब जात के लोग रेल-गाड़ी के एक ही डब्बे में काफ़ी जगह न होने के कारण खचाखच भर कर जाने लगे तब कौन किसकी जात पूछता। समय था, काशी में जब पानी के नलके लगने लगे

तब कट्टरपन्थी हिन्दुओं ने इसका विरोध किया। उन्होंने कहा कि न-जाने कौन-कौन नीच-जाति के लोग जल-विभाग में काम करेंगे, परन्तु आगे चलकर हर-कोई अपने घर में नल लगवाने के लिए उत्सुक हो गया। समुद्र-यात्रा तो हिन्दुओं में इसलिए निषिद्ध थी कि इससे धर्म भ्रष्ट हो जाता है, म्लेच्छों के सम्पर्क के कारण जाति नष्ट हो जाती है, आज हर-कोई समुद्र-यात्रा के लिए उत्सुक हो गया है, जो विलायत हो आया वह मानो तीर्थ कर आया है। आज के होटलों में सब एक साथ खाने लगे हैं।

जाति-व्यवस्था तो अब विगठित होती जा रही है, उसके स्थान में श्रेणी-व्यवस्था आती जा रही है। जाति-व्यवस्था धार्मिक-युग का परिणाम थी, श्रेणी-व्यवस्था औद्योगिक-युग का परिणाम है। पाश्चात्य-देशों में औद्योगिक-क्रांति के बाद जब कल-कारखाने खुले तब एक श्रेणी पूँजीपतियों की बन गई, दूसरी श्रेणी मजदूरों की बन गई। अंग्रेजों के इस देश में आने के बाद जब यहाँ भी कल-कारखाने खड़े होने लगे तब पूँजीपति-मजदूर-वर्ग का बन जाना स्वाभाविक था। भारत की सामाजिक-रचना पर अंग्रेजों का प्रभाव यह पड़ा कि यहाँ जाति-व्यवस्था ढीली होने लगी, श्रेणी-व्यवस्था उसका स्थान लेने लगी, सामाजिक-बंधन शिथिल होने लगे, आर्थिक-बन्धन जटिल होने लगे। इस प्रभाव को 'सामाजार्थिक' (Socio-economic) कहा जा सकता है।

(ख) अन्तर्जातीय-विवाह—शिक्षा-संस्थाओं में लड़के-लड़कियों के लिए अलग-अलग प्रबन्ध न होने के कारण ये दोनों एक ही संस्थाओं में शिक्षा ग्रहण करते थे। इस 'सह-शिक्षा' का परिणाम यह हुआ कि युवक-युवति प्रेम के कारण भी विवाह करने लगे। अभी-तक नाई जाता था, लड़की देख आता था, अब लड़का लड़की एक-साथ सहवास के कारण प्रेम उत्पन्न हो जाने से विवाह करने लगे। इन विवाहों से जाति-प्रथा का आधार टूटने लगा। दफ्तरों में पुरुष तथा स्त्री एक-साथ काम करने लगे, इससे भी अन्तर्जातीय-विवाहों को प्रोत्साहन मिला।

(ग) स्त्रियों की स्थिति में परिवर्त्तन—पाश्चात्य-देशों में स्त्रियों को मताधिकार प्राप्त करने के लिए अत्यन्त संघर्ष में से गुजरना पड़ा, उनकी स्थिति अत्यन्त शोचनीय थी, परन्तु जब उनका इस देश के साथ सम्पर्क हुआ तब वहाँ स्त्रियों में जागृति शुरू हो गई थी। वहाँ के जागृत स्त्री-समाज का इस देश के शिक्षित स्त्री-समाज पर एकदम प्रभाव पड़ा। यहाँ तो स्त्री पैर की जूती समझी जाती थी, उसे किसी प्रकार का कोई अधिकार नहीं था, पढ़ना-लिखना तो स्त्री के लिए सर्वथा वर्जित था। पाश्चात्य-सम्पर्क से इन सब दिशाओं में एकदम परिवर्त्तन हो गया और अब तो वह स्थिति आ गई है जब विधान में स्त्री तथा पुरुष के बीच स्थिति-सम्बन्धी किसी प्रकार का भेद किया ही नहीं जा सकता। स्त्रियों की स्थिति सुधारने के लिए अब तो अनेक कानून बन गये हैं। १९५५ के 'हिन्दू-विवाह-अधिनियम' के अनुसार बहु-विवाह निषिद्ध हो गया है, उन्हें विशेष-विशेष अवस्थाओं में तलाक का अधिकार दे दिया गया है, १९५६ के 'हिन्दू-

उत्तराधिकार-अधिनियम' के अनुसार उन्हें सम्पत्ति में भी अधिकार मिल गया है। ये सब सामाजिक-परिवर्त्तन पाश्चात्य-संस्कृति के सम्पर्क के कारण उत्पन्न हुए हैं।

(घ) सामाजिक-कुरीतियों का उन्मूलन—अपने देश में अनेक सामाजिक-कुरीतियों ने जन्म ले लिया था। पर्दे की प्रथा, सती-प्रथा, बाल-विवाह, बालिका-वध, विधवा का आजन्म वैधव्य, अस्पृश्यता आदि ऐसी कुप्रथाएँ थीं जिनकी तरफ़ पाश्चात्य-संसार की उदार-शिक्षा पाये हुए व्यक्ति अत्यन्त घृणा की दृष्टि से देखने लगे थे। इन प्रथाओं से हिन्दू-समाज खोखला हो रहा था परन्तु इनकी धर्म के नाम पर रक्षा की जा रही थी। पाश्चात्य-संस्कृति के सम्पर्क का यह हितकारी प्रभाव हुआ कि हिन्दू-समाज ने इन कुप्रथाओं को दूर करने का संकल्प कर लिया। अब तो इनमें से हर कुप्रथा के विरुद्ध कानून बन चुके हैं और अनेक कुप्रथाओं को तो अब भला भी जा चुका है। बाकी रही-सही कुप्रथाएँ धीरे-धीरे लुप्त हो जायेंगी—इसमें सन्देह नहीं।

(ङ) संयुक्त-परिवार-प्रणाली का विगठन—भारत की अब तक जो आर्थिक-रचना चली आ रही थी उसका सामाजिक-प्रभाव यह था कि यहाँ के परिवार संयुक्त-परिवार-प्रणाली के ढाँचे में ढले हुए थे। गाँवों में या तो लोग खेती करते थे या यहाँ लघु-उद्योग चलते थे। खेती के लिए सारे-के-सारे परिवार की जरूरत पड़ती थी, लघु-उद्योग भी घरों में चलते थे, इसलिए उनमें सारा परिवार लगा रहता था। पाश्चात्य-संस्कृति के यहाँ आने से उद्योगीकरण की प्रक्रिया प्रारम्भ हुई, बड़े-बड़े शहरों में कल-कारखाने लगने लगे, लोग खेती और कुटीरोद्योग छोड़ कर इन कारखानों में काम करने के लिए गाँवों से शहर जाने लगे। इस प्रकार संयुक्त-परिवार अपने-आप टूटने लगे। संयुक्त-परिवार क्यों टूट रहे हैं, उनके स्थान में वैयक्तिक परिवार क्यों बन रहे हैं—इन सब बातों पर हम पहले एक अध्याय में विस्तार-पूर्वक विचार कर आये हैं। यहाँ इतना ही कहना है कि उद्योगप्रधान, व्यक्तिवादी तथा स्वतंत्रतापरक पाश्चात्य-संस्कृति के प्रभाव से भारत में भी संयुक्त-परिवार से वैयक्तिक-परिवार बनने लगे।

८. पश्चिम के सम्पर्क का भारत की धार्मिक-रचना पर प्रभाव

हम लिख आये हैं कि पाश्चात्य-संस्कृति का इस देश की संस्कृति से जब सम्पर्क हुआ तब दो प्रतिक्रियाएँ हुईं—'व्यवस्थीकरण' तथा 'विसंस्कृतीकरण'। 'व्यवस्थीकरण' की प्रक्रिया से किस प्रकार हिन्दू-समाज ने अपनी सामाजिक-रचना को बदल डाला—इसके कुछ दृष्टांत हमने ऊपर दिये। 'विसंस्कृतीकरण' की प्रक्रिया ने क्या रूप लिया? इस प्रक्रिया ने हिन्दू तथा मुस्लिम समाज में अनेक नवीन धार्मिक-संस्थाओं को जन्म दिया। इन संस्थाओं का उद्देश्य अपने-अपने धर्म को पाश्चात्य-प्रभाव से बचाने तथा दृढ़ आधारों पर खड़ा करने के अतिरिक्त उसे नवीन विचारों और प्रवृत्तियों के अनुकूल बनाना भी था।

[हिन्दुओं की नवीन धार्मिक-संस्थाएँ]

(क) ब्राह्म-समाज--इस समाज की स्थापना राजा राममोहन राय (१७७२-१८३३) ने १८२८ में कलकत्ते में की। राजा राममोहन राय फ़ारसी, अंग्रेज़ी तथा संस्कृत---इन तीनों भाषाओं के विद्वान् थे। पहले तो सरकारी नौकरी करते रहे, बाद में सब-कुछ छोड़ कर सुधार के आन्दोलन में लग गये। ये अंग्रेज़ी-शिक्षा से काफ़ी प्रभावित थे। सती-प्रथा के विरुद्ध इन्होंने प्रबल आन्दोलन किया। इनकी मृत्यु के बाद श्री रवीन्द्रनाथ ठाकुर के पिता श्री देवेन्द्रनाथ ठाकुर १८४३ में इस समाज में सम्मिलित हुए और उनकी देख-रेख में ब्राह्म-समाज का संगठन एक विशेष समाज का रूप धारण कर गया। इस समाज में बाकायदा दीक्षा दी जाने लगी। पाश्चात्य-शिक्षा से प्रभावित होने के कारण ये हिन्दू-कुरीतियों को दूर करना चाहते थे, परन्तु वेदों तथा उपनिषदों को त्यागना नहीं चाहते थे, हिन्दू-भावना को नष्ट होने देने से बचाना चाहते थे। इस बीच १८५७ में श्री केशवचन्द्र सेन इस समाज में प्रविष्ट हुए। पाश्चात्य-शिक्षा ने केशवचन्द्र सेन को बहुत अधिक प्रभावित कर दिया था। वे न ईश्वर में विश्वास करते थे, न वेदों-उपनिषदों में, न हिन्दू-धर्म में। उन्होंने यज्ञोपवीत भी उतार कर फेंक दिया। युरोप के तर्क-वाद के जिस मार्ग पर ब्राह्म-समाज चलना चाहता था उसका यही स्वाभाविक परिणाम था, परन्तु श्री देवेन्द्रनाथ ठाकुर हिन्दू-संस्कृति को बचाना चाहते थे, उसे नष्ट नहीं करना चाहते थे। जात-पाँत को न मानना, विधवा-विवाह का समर्थन आदि तो देवेन्द्रनाथ तथा केशवचन्द्र दोनों कर रहे थे, परन्तु केशवचन्द्र इस सुधार की दिशा में बहुत आगे निकल गये थे, वे तो हिन्दू-धर्म का ही जड़ से उन्मूलन कर रहे थे। इसका परिणाम यह हुआ कि ब्राह्म-समाज में दो दल हो गये। एक दल तो हिन्दू-धर्म तथा हिन्दू-संस्कृति को बनाये रखते हुए सामाजिक-कुप्रथाओं को हटाना चाहता था, सामाजिक-सुधार करना चाहता था, दूसरा दल जिसके नेता केशवचन्द्र सेन थे, हिन्दू धर्म तथा संस्कृति की भी पर्वाह नहीं करता था।

(ख) प्रार्थना-समाज---श्री केशवचन्द्र सेन ने अपने विचारों के प्रचार के लिए देश के भिन्न-भिन्न स्थानों की यात्रा की। उन्हीं के प्रयत्न से १८६७ में बम्बई में प्रार्थना-समाज की स्थापना हुई। ब्राह्म-समाज का ही दूसरा रूप बम्बई में प्रार्थना-समाज हुआ। भेद यह था कि ब्राह्म-समाज के बंगाली नेता केशवचन्द्र सेन पुरानी कुप्रथाओं के साथ पुरानी हिन्दू-परम्परा को भी तिलांजलि दे रहे थे, प्रार्थना-समाज के महाराष्ट्री नेता जस्टिस गोविंद रानाडे हिन्दू-धर्म में सुधार तो चाहते थे परन्तु पुरानी परम्परा को भी तोड़ देना नहीं चाहते थे। रानाडे का कहना था कि सुधार अच्छी चीज़ है, परन्तु सुधार के जोश में हमारे पुरखाओं के सदियों पुराने अनुभवों को ताक में नहीं रखा जा सकता। वर्त्तमान को भूत की पृष्ठ-भूमि में ही बदलना ठीक है। इस दृष्टि से प्रार्थना-समाज के प्रवर्त्तकों ने हिन्दू रहते हुए ही अनेक संस्थाओं की स्थापना की जिनमें अनाथालय,

विधवाश्रम तथा कन्या-पाठशालाएँ थीं। इन्होंने एक दलितोद्धार मिशन भी खोला।

(ग) रामकृष्ण-मिशन—परमहंस रामकृष्ण (१८३४–१८८६) एक उच्च-कोटि के साधक थे। इन्होंने रामकृष्ण-मिशन की स्थापना नहीं की, परन्तु इनकी मृत्यु के बाद इनके शिष्य स्वामी विवेकानन्द ने इस मिशन की स्थापना की। ये शिकागो के १८९३ के विश्व-धर्म-सम्मेलन में सम्मिलित हुए और वहाँ भारतीय अध्यात्मवाद की व्याख्या करने के बाद जब देश लौटे तब यहाँ रामकृष्ण-मिशन की नींव रखी। स्वामी विवेकानन्द का कहना था कि पुरानी रूढ़ियाँ सब ठीक नहीं हैं, परन्तु सब ग़लत भी नहीं हैं। पुरानी हर बात को हेय समझने की सुधारवादियों की प्रवृत्ति की उन्होंने भर्त्सना की। इस समय जो लोग हिन्दू-धर्म से विमुख हो रहे थे, वे उनकी अमरीका में सफलता देख कर फिर से एक बार हिन्दू-धर्म की विशेषताओं की तरफ़ देखने लगे। अभी तक हिन्दू-धर्म का कुत्सित रूप ही शिक्षित-समाज के सम्मुख आया था, स्वामी विवेकानन्द ने उसके विशाल, शुद्ध रूप को संसार के सम्मुख रखा और देश-वासियों की इस धर्म तथा इस संस्कृति से उठती हुई आस्था फिर एक बार इस पर जमने लगी।

(घ) आर्य-समाज—बंगाल में ब्राह्म-समाज, महाराष्ट्र में प्रार्थना-समाज तथा उत्तर-भारत में आर्य-समाज—इन सब संस्थाओं ने एक ही समय में धर्म-सुधार तथा समाज-सुधार का बीड़ा उठाया। यह सब एक-साथ तथा एक ही समय में क्यों हुआ? इसका यही कारण हो सकता है कि पाश्चात्य-संस्कृति के प्रभाव से हिन्दू धर्म तथा संस्कृति के नष्ट होने का जो संकट उत्पन्न हो गया था उससे बचने के लिए हिन्दू धर्म तथा संस्कृति की यह स्वाभाविक प्रतिक्रिया थी। इस प्रतिक्रिया का रूप जितना आर्य-समाज में प्रकट हुआ उतना अन्य किसी संस्था में प्रकट नहीं हुआ। अन्य संस्थाएँ भी हिन्दू-धर्म और हिन्दू-संस्कृति की रक्षा के लिए जन्मी थीं, परन्तु चलते-चलते डगमगा जाती थीं, आर्य-समाज सीधा अपने लक्ष्य की तरफ़ बढ़ता चला गया। इसने सामाजिक-कुरीतियों पर कुठाराघात किया, साथ ही पाश्चात्य-संस्कृति पर भी उतना ही गहरा वार किया। आर्य-समाज ने हिन्दू-धर्म तथा हिन्दू-संस्कृति को अपने शुद्ध वैदिक-धर्म के रूप में विश्व के मंच पर ला खड़ा किया जिस रूप में यह पाश्चात्य-संस्कृति से किसी प्रकार कम नहीं थी। आर्य-समाज की स्थापना सर्व-प्रथम बम्बई में १८७५ में ऋषि दयानन्द (१८२४–१८८३) ने की। ऋषि दयानन्द मूर्ति-पूजा के विरोधी थे। वे एक ईश्वर को मानने वाले थे। उस समय ईसाई, मुसलमान तथा आंग्ल-शिक्षा पाया हुआ समाज हिन्दू-धर्म की खिल्ली उड़ाता था। जिन बातों की ये लोग खिल्ली उड़ाते थे उन सब के विषय में ऋषि दयानन्द ने एक नवीन दृष्टि-कोण रखा। उनका कहना था कि शुद्ध हिन्दू-धर्म में ये बातें हैं ही नहीं। असली हिन्दू-धर्म वैदिक-धर्म है, और वेदों में न मूर्ति-पूजा का विधान है, न देवी-देवताओं का, न बाल-विवाह का, न जन्म की जात-पाँत का, न श्राद्ध का। वेदों में स्त्री तथा पुरुष को

स्थिति समान है। ऋषि दयानन्द ने ज़बानी जमा-खर्च से ही काम नहीं किया, उन्होंने वेदों का भाष्य भी किया, यह दर्शान के लिए किया जिससे यह सिद्ध हो कि वेदों के विषय में वे जो कुछ कहते हैं वह निराधार नहीं है। आर्य-समाज ने एक तरफ़ हिन्दू-धर्म का संस्कार कर, उसे वैदिक-धर्म का नाम देकर पाश्चात्य-संस्कृति के प्रभाव से इस देश की संस्कृति से विमुख होती शिक्षित-जनता का ध्यान भारतीय-संस्कृति पर केन्द्रित कर दिया, दूसरी तरफ़ सब दिशाओं में सुधार शुरू कर दिये। दलितोद्धार, विधवाश्रम, अनाथालय, पुत्री-पाठशालाएँ, गुरुकुल, डी० ए० वी० कालेज, शुद्धि-सभाएँ—ये सब आन्दोलन आर्य-समाज ने हिन्दू-धर्म तथा संस्कृति की रक्षा के लिए खड़े किये जिनमें उसे अभूतपूर्व सफलता मिली।

(ङ) थियोसोफ़िकल सोसाइटी—मैडम ब्लैवट्स्की तथा कर्नल ऑलकॉट ने १८७५ में थियोसोफ़िकल सोसाइटी की स्थापना अमरीका में की। इन्हें कहीं से पता चला कि स्वामी दयानन्द नाम के एक सुधारक हैं, जो हिन्दू-धर्म तथा हिन्दू-संस्कृति की रक्षा के लिए आन्दोलन कर रहे हैं, साथ-साथ सुधारवादी भी हैं। इन्होंने स्वामी जी को पत्र लिखा और आर्यसमाज के अन्तर्गत कार्य करने की इच्छा प्रकट की। स्वामी दयानन्द ने इन्हें भारत आने का निमन्त्रण दे दिया। १८७९ में ये भारत आये और थियोसोफ़िकल-सोसाइटी को आर्य-समाज की शाखा बना कर कार्य शुरू किया। ये हिन्दू-समाज की हर रूढ़ि की वैज्ञानिक-व्याख्या करने लगे, देवी-देवताओं की, भूत-प्रेत की चर्चा करने लगे। स्वामी दयानन्द हिन्दू-संस्कृति का नारा लगाने के साथ-साथ रूढ़ियों पर भी कुठाराघात कर रहे थे, परन्तु इस सोसाइटी ने हिन्दू-धर्म का नारा बुलन्द करने के साथ-साथ इन रूढ़ियों को भी वैज्ञानिक आधार देना शुरू कर दिया। दोनों में मत-भेद उत्पन्न हो गया और आर्य-समाज तथा थियोसोफ़िकल-सोसाइटी का सम्बन्ध टूट गया। मद्रास के अदयार में इन्होंने अपना केन्द्र खोला। मैडम ब्लैवट्स्की तथा कर्नल ऑलकॉट के बाद श्रीमती ऐनी बीसेंट इस सोसाइटी की संचालिका बनीं। इन सब का कहना यह था कि भारत की रूढ़ियाँ, यहाँ की परम्पराएँ हेय नहीं हैं, उनका वैज्ञानिक आधार है। इस संस्था से हिन्दू-धर्म तथा हिन्दू-संस्कृति को बड़ा बल मिला और जो हिन्दू अपने धर्म से लजाने लगे थे, वे हिन्दू-धर्म की हर बात की वैज्ञानिक-व्याख्या करने लगे।

ये सब प्रक्रियाएँ 'विसंस्कृतीकरण' की प्रक्रियाएँ थीं, इनका उद्देश्य हिन्दू-संस्कृति को पाश्चात्य-संस्कृति के सम्पर्क में आकर नष्ट होने से बचाना था, और अपने उद्देश्य में ये सफल हुई।

[मुसलमानों की नवीन धार्मिक-संस्थाएँ]

(क) वहाबी सम्प्रदाय—जैसे १९वीं शताब्दी में हिन्दुओं में समाज-सुधारक संस्थाएँ उत्पन्न हुईं, वैसे इस्लाम के अनुयायियों में भी अनेक समाज-सुधारक संस्थाओं ने जन्म लिया। इनमें से एक का नाम वहाबी-सम्प्रदाय था। इस सम्प्रदाय का जन्म तो अरब में हुआ था जहाँ मुहम्मद अब्दुल वहाब नामक एक

सुधारक ने १८वीं शताब्दी के अन्तिम चरण में 'वहाबी-आन्दोलन' प्रारम्भ किया, परन्तु १९वीं शताब्दी के प्रारम्भ में भारत के मुसलमानों में भी इस सम्प्रदाय के अनुयायी बनने लगे। इस देश में सय्यद अहमद बरेलवी और शेख़ करामत अली इस सम्प्रदाय के मुख्य नेता थे। इनका उद्देश्य इस्लाम की कुरीतियों को दूर करना था। पीरों और मकबरों की पूजा के ये लोग विरोधी थे।

(ख) देवबन्द का मदरसा—इस्लाम का इस्लामी ढंग से अध्ययन करने के लिए मुसलमानों ने सहारनपुर जिले के देवबन्द में एक मदरसा खोला जिसमें दूर-दूर से मुसलमान आकर शिक्षा ग्रहण करने लगे। इस मदरसे में इस्लाम का गहराई से अनुशीलन किया जाता था और आजकल के ज्ञान-विज्ञान की उपेक्षा कर के इस्लाम के मूल-ग्रन्थों का मूल-भाषा में अध्ययन किया जाता था। पाश्चात्य-संस्कृति से इस देश में 'संस्कृतीकरण' (Acculturation) की जो प्रक्रिया चल पड़ी थी, जिस प्रक्रिया से हिन्दू हिन्दू नहीं रहते थे, मुसलमान मुसलमान नहीं रहते थे, उस प्रक्रिया को रोकने के लिए मुस्लिम-जगत् की तरफ़ से देवबन्द का मदरसा 'विसंस्कृतीकरण' (Contra-culturation) की प्रक्रिया का उदाहरण था।

(ग) अलीगढ़ का आन्दोलन—सर सय्यद अहमद खाँ (१८१७–१८९८) का विचार था कि अंग्रेजी-शिक्षा के प्रचार द्वारा मुसलमानों में जागृति उत्पन्न करनी चाहिए। मुसलमान क्योंकि अंग्रेजों के आने से पहले इस देश का शासन चला रहे थे, इसलिए वे अंग्रेजी-शिक्षा को अपनाने से कतराते थे। सर सय्यद का कहना था कि हिन्दू-लोग अंग्रेजी-शिक्षा से उन्नति कर रहे हैं, सरकारी नौकरियों को अपने हाथों में ले रहे हैं, मुसलमानों को इस बात में हिन्दुओं से पीछे नहीं रहना चाहिए। इसी उद्देश्य से अलीगढ़ में पहले एक कालेज खोला गया, जो पीछे अलीगढ़ यूनीवर्सिटी का रूप धारण कर गया। अलीगढ़-यूनीवर्सिटी मुसलमानों का शिक्षा का ही केन्द्र न रहा, वह उनके राजनैतिक-आन्दोलनों का भी केन्द्र हो गया। हिन्दुओं में 'विसंस्कृतीकरण' की प्रक्रिया द्वारा अपनेपन की चेतना जाग रही थी। इस समय जो सामाजिक तथा धार्मिक आन्दोलन उनमें उठ खड़े हुए थे उनसे राजनैतिक-चेतना का भी सूत्रपात हो गया था। यह सब अंग्रेजों को अभिप्रेत न था। उन्होंने हिन्दुओं की 'विसंस्कृतीकरण' की प्रक्रिया के विरोध में मुसलमानों में हिन्दुओं के प्रति 'विसंस्कृतीकरण' की प्रक्रिया को जगाया, हिन्दू-मुस्लिम वैमनस्य उत्पन्न किया जिससे हिन्दू लोग अंग्रेजों के साथ उलझने के स्थान में मुसलमानों के साथ उलझ जायें। इस बात के लिए उन्होंने मुसलमानों को विशेष राजनैतिक अधिकार देने शुरू किये, मुसलमानों में यह भावना उत्पन्न कर दी कि हिन्दुओं का हित जिस बात में है मुसलमानों का उसमें अहित है। अंग्रेजों का अभिप्राय यह था कि हिन्दुओं तथा मुसलमानों में अंग्रेजों के विरुद्ध जो 'विसंस्कृतीकरण' की प्रक्रिया उठ खड़ी हुई है उस प्रक्रिया का रुख हिन्दुओं तथा मुसलमानों को आपस में टकराने की तरफ़ फेर दिया जाय। इस उद्देश्य में अलीगढ़ के इस शिक्षा-केन्द्र द्वारा अत्यन्त सफलता मिली। अंग्रेजों का भला

इसी में था कि हिन्दू-मुसलमान एक होकर उनके साथ लड़ने के स्थान में आपस में लड़ मरें। इस नीति का उग्र रूप हिन्दुस्तान तथा पाकिस्तान के रूप में प्रकट हुआ।

९. भारतीय संस्कृति का स्वरूप सामासिकता में है

भिन्न-भिन्न संस्कृतियों का जब एक-दूसरे से सम्पर्क होता है, तब तीन प्रक्रियाएँ होती हैं—'संस्कृतीकरण', 'विसंस्कृतीकरण' तथा 'समासीकरण'। ये तीनों प्रक्रियाएँ हिन्दू-संस्कृति में होती रही हैं, परन्तु अन्ततोगत्वा हिन्दू-संस्कृति 'समासीकरण' की प्रक्रिया से ही अबतक जीवित है। ये तीनों क्या हैं?

(क) संस्कृतीकरण (Acculturation)—'संस्कृतीकरण' की प्रक्रिया तब होती है जब कोई निर्बल संस्कृति सबल तथा सतेज संस्कृति के सम्पर्क में आती है। इस देश में शक आये, हूण आये, परन्तु वे यहाँ की संस्कृति में विलीन हो गये, उनका पता भी न चला कि वे कहाँ से आये थे, कहाँ समाप्त हो गये। इस दृष्टि से हिन्दू-संस्कृति ने दूसरी संस्कृतियों का 'संस्कृतीकरण' तो किया है, इसका किसी संस्कृति में 'संस्कृतीकरण' नहीं हुआ, यह किसी संस्कृति में विलीन नहीं हुई। जब इस प्रकार का खतरा पैदा हुआ तब इसमें 'विसंस्कृतीकरण' (Contra-culturation) की प्रक्रिया प्रारंभ हो गई और यह बलवती होकर अपने अस्तित्व को कायम रख सकी।

(ख) विसंस्कृतीकरण (Contra-culturation)—'विसंस्कृतीकरण' की प्रक्रिया तब होती हैं जब दो सबल संस्कृतियों का एक-दूसरे के साथ टाकरा होता है। जब मुसलमान इस देश में आये तब वे एक जीवित-जागृत संस्कृति को लेकर आये। उस संस्कृति के सम्पर्क में आने से हिन्दू-संस्कृति में अपनी रक्षा की भावना उत्पन्न हुई और 'विसंस्कृतीकरण' की प्रक्रिया चल पड़ी। मुस्लिम-विजेताओं को म्लेच्छ कहा जाने लगा, उनसे सम्पर्क भी पतित करने वाला कहा गया। इस काल में जात-पाँत ने हिन्दू-धर्म को नष्ट हो जाने से रक्षा की। अंग्रेजी-सभ्यता के सम्पर्क से भी हिन्दू-सभ्यता के नष्ट होने का उपक्रम बँध गया था, परन्तु इस विकट परिस्थिति में भी 'विसंस्कृतीकरण' की प्रक्रिया फिर जी उठी, और यह देश ईसाई होने अथवा अपनी संस्कृति को पाश्चात्य-प्रभाव में सर्वथा खो देने से बच गया।

(ग) समासीकरण (Composite culture)—संस्कृतीकरण में तो एक संस्कृति का अपना अस्तित्व ही मिट जाता है इसलिए समस्या बनी नहीं रहती, विसंस्कृतीकरण में हर समय संघर्ष बना रहता है, इसलिए समस्या हर समय परेशान करती है। हिन्दू-समाज ने इस समस्या का समाधान यही निकाला था कि ऐसी परिस्थिति उत्पन्न होने पर कुछ स्वयं बदला जाय, कुछ दूसरे को बदला जाय। यह प्रक्रिया 'व्यवस्थीकरण' (Accommodation) की प्रक्रिया है, संस्कृति की परिभाषा में इसे 'समासीकरण' (Composite culture) की प्रक्रिया कहा जाता है। हिन्दू-संस्कृति की यह विशेषता है कि यह अपना अस्तित्व बनाये रखने के लिए विरोधी संस्कृतियों का मुकाबिला करती है और फिर आदान-प्रदान की

प्रक्रिया द्वारा परिस्थितियों को सम्मुख रख कर कुछ स्वयं बदलती है, कुछ दूसरी संस्कृति को बदलती है, और नष्ट होने के स्थान में अपने आधार-भूत तत्त्वों को बनाये रखते हुए अपना चोला बदल लेती है। इसी दृष्टि से इसे सामासिक-संस्कृति कहा जाता है। भारतीय-संस्कृति में आर्य, द्राविड़, शक, हूण, अफगान, मुग़ल सभी तत्त्व मौजूद हैं, यह संस्कृति इन सब संस्कृतियों का सम्मिश्रण है। समन्वय तथा सामंजस्य इस संस्कृति की विशेषता है। विचार की भिन्नता के कारण यहाँ किसी पर अत्याचार नहीं किया गया। सहिष्णुता इस संस्कृति का आधार है। इस संस्कृति में ईश्वरवादी भी हैं, अनीश्वरवादी भी हैं, एकेश्वरवादी भी हैं, वेदान्तवादी भी हैं, जात-पाँत मानने वाले, जात-पात को तोड़ने वाले, अध्यात्म-वादी तथा भौतिकवादी---सभी को इस देश की संस्कृति में स्थान है क्योंकि इस देश के ऋषि-मुनियों का कहना था कि यथार्थ सत्य को कोई नहीं जान सकता, हम सब उस सत्य को खोजते हुए उसके किसी एक अंश की ही झलक देख पाते हैं।

अंग्रेज कवि क्लिपलिंग ने कहा था---पूर्व पूर्व है, पश्चिम पश्चिम है, दोनों का समन्वय नहीं हो सकता---East is East and West is West and never the twain will meet.---परन्तु भारत की सांस्कृतिक-परम्परा इस बात का जीवित-जागृत खंडन है। यहाँ की संस्कृति का सामासिक-रूप इस बात का प्रमाण है कि मनुष्य-मनुष्य के विचारों में कितनी ही भिन्नता क्यों न हो, वे सब एक देश, एक समाज तथा एक राष्ट्र में भाई-भाई बन कर रह सकते हैं।

३६

ग्राम-पंचायत

(VILLAGE-PANCHAYATS)

१. पंचायत का पूर्व-इतिहास

स्वायत्त-शासन का यही अर्थ नहीं है कि कुछ थोड़े-बहुत लोगों के हाथ में सत्ता आ जाये, असली स्वायत्त-शासन तो तभी होता है जब जनता के हर व्यक्ति के हाथ में सत्ता आती है। वैदिक-युग में जनता के हर व्यक्ति के हाथ में सत्ता थी—इसका प्रमाण अज्ञात-काल से चली आ रही 'पंचायत-प्रणाली' है। 'पंचायत-प्रणाली' का अर्थ है—गाँव के हर व्यक्ति के हाथ में शासन की बाग-डोर दे देना। महात्मा गांधी ने पंचायतों के विषय में लिखा था: "स्वतंत्रता का प्रारम्भ धरातल से होना चाहिए। प्रत्येक गाँव एक छोटा गण-राज्य (Republic) होना चाहिए जिसके हाथ में सब अधिकार हों।" श्री अलतेकर ने लिखा है कि लड़ाई छेड़ने और सन्धि करने के दो अधिकारों को छोड़ कर बाकी सब अधिकार इस देश की पंचायतों को प्राप्त थे। पंचायतें ग्राम की रक्षा करती थीं, कर लगाती और वसूल करती थीं, गाँव के झगड़ों को निपटाती थीं, अकाल और संकटों के समय ऋण उठाती थीं, पाठशालाएँ, अनाथालय, विद्यालय खोलती थीं, मंदिरों की देख-रेख करती थीं, एक तरह से ये छोटा-सा गण-राज्य थीं। असली जन-सत्ता पंचायतों के हाथ में थी। भिन्न-भिन्न कालों में इनकी सत्ता किस प्रकार थी—यह जानना जरूरी है।

(क) वैदिक-काल में स्वायत्त-शासन—पंचायत का आधार-भूत तत्त्व तो स्वायत्त-शासन ही है। वैदिक-काल में 'पंचायत' शब्द नहीं मिलता परन्तु उस काल के साहित्य से इतना पता अवश्य चलता है कि उस समय स्वायत्त-शासन, या दूसरे शब्दों में जनता का शासन था। प्राचीन आर्य जब भारत में फैलते गये तो आर्येतर लोग इनके आधीन रहने लगे। आर्य लोग अपने को 'जन' कहते थे, 'जनता'-शब्द 'जन' से ही बना है, जब किसी एक स्थान पर आर्यों की बस्ती बस जाती थी तो उसे 'जन-पद' कहा जाता था, इनके राज्य को 'जान-राज्य' कहा जाता था। 'जान-राज्य' का अर्थ है जनों का, हर व्यक्ति का राज्य। अंग्रेजी में इसका अनुवाद 'Democracy' किया जा सकता है। वैदिक-काल का शासन 'स्वायत्त-शासन' था—'जान-राज्य', जनता का राज्य। जनता के अंग थे, चार वर्ण—ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र—जिन्हें 'आर्य' कहा जाता था, और

पाँचवें 'आर्येतर'—या आर्यों से भिन्न जो भी लोग थे। जब आर्यों ने आर्येतरों को भी यहाँ की 'जनता' कहना शुरू किया, ऐसी जनता जिसमें आर्य-अनार्य सभी शामिल थे, तब यहाँ 'जान-राज्य' प्रारम्भ हुआ और यहाँ की जनता 'पंचजनाः' कहलाने लगी। वेद में जगह-जगह 'पंचजनाः' का वर्णन आया है जिसका अर्थ है—यहाँ की सारी अर्थात् चार वर्णों के आर्य तथा आर्येतर इन सब की मिली-जुली जनता। श्रीकृष्ण का शंख 'पांचजन्य' कहलाता था। इसका अर्थ भी यही है कि जब देश की सम्पूर्ण जनता को ललकारा जाता था तब 'पांचजन्य'-शंख पूरा जाता था। 'पंचायत'-शब्द का आधार-भूत विचार यही प्रतीत होता है। जनता का विभाग पाँच वर्गों में था जिसे 'पंचजनाः' कहते थे, और वे स्वशासन करते थे जिसे 'जान-राज्य' कहते थे—'पंच-जनाः' और 'जान-राज्य' के भाव से 'पंचायत' का विचार उत्पन्न हुआ। जिसका अर्थ है—पाँच का स्वायत्त-शासन।

(ख) मध्य-काल में स्वायत्त-शासन—वैदिक-काल की यही शासन-व्यवस्था भारत के नगरों तथा ग्रामों में प्रचलित रही और मध्य-युग में इसी प्रकार का इस देश में स्वायत्त-शासन था। मौर्य-काल के समय नगरों का स्वायत्त-शासन कैसा था इसका वर्णन मैगस्थनीज़ के यात्रा-विवरण में पाया जाता है। उसने पाटलीपुत्र के नगर-शासन का विस्तृत वर्णन किया है। उसने लिखा है कि पाटलीपुत्र में शासन के लिए एक नगर-सभा थी। यह नगर-सभा ६ उप-समितियों में बँटी हुई थी। प्रत्येक उप-समिति में पाँच-पाँच सदस्य थे। इस प्रकार नगर-सभा के कुल ३० सदस्य थे। पहली उप-समिति औद्योगिक तथा शिल्प-सम्बन्धी कार्यों का निरीक्षण करती थी, दूसरी उप-समिति विदेशियों का स्वागत-सत्कार करती तथा उनकी गति-विधियों का पता लगाती रहती थी, तीसरी उप-समिति जन-गणना करती थी, चौथी उप-समिति क्रय-विक्रय के नियम बनाती थी, पाँचवीं उप-समिति व्यापारियों की वस्तुओं का पता रखती थी कि मिलावटी-अशुद्ध वस्तुएँ तो नहीं बेची जातीं, छठी उप-समिति कर वसूल करती थी, जो वस्तु बेची जाती थी उसका दसवाँ भाग नगर-सभा को दिया जाता था, यह छठी उप-समिति इस धन की वसूली करती थी। ये छहों उप-समितियाँ अपना-अपना कार्य अलग-अलग तो करती ही थीं, साथ ही सामूहिक रूप से सार्वजनिक कार्यों को करना भी इन सब का सम्मिलित कर्त्तव्य था। इस प्रकार का नगरों का शासन ग्रीस के 'नगर-राज्यों' (City States) में पाया जाता था। नगरों की व्यवस्था 'जन-पद-व्यवस्था' कहलाती थी, इसी व्यवस्था के आधार पर ग्रामों की व्यवस्था बनी थी। ग्राम के मुखिया को मनु-स्मृति में 'ग्रामिक'[१] कहा है। कौटिल्य अर्थशास्त्र में भी ग्राम की व्यवस्था का वर्णन करते हुए 'ग्रामिक' का उल्लेख है। ग्रामिक ग्राम के अन्य मुख्य व्यक्तियों के सहयोग से अपराधियों को

१. ग्रामे दोषान् समुत्पन्नान् ग्रामिकः शनैः स्वयम्।
शंसेद् ग्रामदशेशाय दशेशो विंशतीशिनम्॥ मनु० ७।११५।

दण्ड देता था, किसी-किसी अपराध पर अपराधी को गाँव से बहिष्कृत कर सकता था। ग्राम की अपनी सार्वजनिक निधि भी होती थी। जुर्माने इस निधि में जमा किये जाते थे। ग्राम की तरफ़ से सार्वजनिक-कार्य किये जाते थे और इन कार्यों पर जो व्यय होता था उसमें सबको अपना-अपना हिस्सा देना पड़ता था। ग्राम-सभा का काम न्याय करना भी होता था और ग्राम-सभा न्याय के जिन नियमों को बनाती थी वे राज्य में मान्य समझे जाते थे। इस सबसे पता चलता है कि नगर तथा ग्राम दोनों का संगठन स्वायत्त-शासन की विचार-धारा पर बना हुआ था। १०वीं शताब्दी के शुक्रनीति-सार में ग्रामीण-संगठनों का वर्णन पाया जाता है। उस वर्णन से प्रतीत होता है कि ग्राम-पंचायतों के सदस्यों का बाकायदा चुनाव होता था, ग्राम-पंचायतों को 'शासन' (Executive) तथा 'न्याय' (Judiciary)—इन दोनों प्रकार के अधिकार प्राप्त थे, ग्राम-पंचायतों के सदस्य अत्यन्त सम्मान के साथ देखे जाते थे, पंचायतें भूमि-कर वसूल करती थीं, गोचर-भूमि पंचायती-भूमि मानी जाती थी, पंचायतें शान्ति, सुरक्षा, शिक्षा, स्वास्थ्य, भवन-निर्माण का कार्य करती तथा गाँव के झगड़ों को निपटाती थीं। कुछ प्राचीन शिला-लेखों से भी प्राचीन-काल की ग्राम-पंचायतों के विषय में कुछ प्रकाश पड़ता है। दक्षिण भारत के चिंगलपट ज़िले के उत्तरमेरूर ग्राम में जो शिला-लेख मिला है उससे प्रतीत होता है कि गाँव की कार्यकारिणी के सदस्य चिट्ठी डाल कर चुने जाते थे, गाँव के तीस वार्डों में प्रत्येक बालिग़ व्यक्ति द्वारा सदस्यता के लिए कई व्यक्तियों के नाम प्रस्तावित किये जाते थे। इन सब नामों की पर्चियाँ एक बर्तन में डाल कर अबोध बच्चे से उठवायी जाती थीं और जिसकी पर्ची आती थी वह सदस्य घोषित कर दिया जाता था।

सर चार्ल्स मैटकाफ़ का कथन है कि भारत की पंचायतें क्या थीं, हर गाँव एक छोटा-सा स्वतंत्र तथा आत्म-निर्भर राज्य था। भारत में शक, हूण, तुर्क, मंगोल, अफ़ग़ान, मुग़ल आये, इनके साम्राज्य स्थापित हुए, परन्तु इनका नगरों पर तो प्रभाव हुआ, ग्रामों पर प्रभाव नहीं हुआ, उन्होंने पंचायतों के कार्य में हस्त-क्षेप करना उचित नहीं समझा क्योंकि ऐसा करने से सारे देश की शासन-व्यवस्था अस्त-व्यस्त हो जाती। यही कारण है कि भिन्न-भिन्न राज्यों और संस्कृतियों के यहाँ आने पर भी ग्रामों का जीवन वैसे-का-वैसा बना रहा और दिल्ली में भले ही जिस-किसी का राज्य रहा, गाँवों में गाँव वालों का ही राज रहा और भारत की आर्थिक तथा सामाजिक व्यवस्था नहीं टूटी। इसी को 'विकेन्द्रीकरण' (Decentralization) या 'पंचायत-राज' कहा जाता है। अंग्रेज़ों के आने से 'पंचायत-राज' की यह व्यवस्था टूट गई। हर बात को अंग्रेज़ी राज ने केन्द्रित करना चाहा। उनके लिए यह स्वाभाविक भी था। वे बाहर से आये थे, बाहर का बन कर ही यहाँ रहते थे। वे दिल्ली में बैठे थे। अगर हर बात को मुट्ठी में न रखते, तो किसी समय भी सत्ता उनके हाथ से निकल सकती थी। इसी लिए उन्होंने सारी शक्ति गाँव से खींच कर थाने में, थाने से ज़िले में, ज़िले

से प्रान्त में और प्रान्तों से केन्द्र में समेट ली। इसी को सत्ता का 'केन्द्रीकरण' (Centralization) कहा जाता है। अंग्रेजों के आने से पहले वैदिक-काल से लेकर मुस्लिम-काल तक गाँवों में शक्ति निहित रही, और सत्ता के 'विकेन्द्रीकरण' की परिपाटी जारी रही।

२. पंचायतों के ह्रास के कारण

जैसा हमने कहा, अंग्रेजों के भारत में आने से पूर्व इस देश में ग्रामों में पंचायतों द्वारा शासन होता था। ये पंचायतें अपने प्रबन्ध में स्वतंत्र थीं। सन्धि करने तथा लड़ाई छेड़ने का काम तो पंचायतें नहीं कर सकती थीं, बाकी सब कामों में पंचायतें लगभग स्वतंत्र थीं। पंचायतों के कारण देश में राज-तंत्र-शासन होने पर भी प्रजातंत्र-शासन था। श्री जवाहरलाल नेहरू ने ठीक कहा है कि पंचायतें प्रजातंत्र की पाठशालाएँ हैं। प्रजातंत्र का पहला पाठ इस देश के निवासी पंचायत में ही सीखते थे। अंग्रेजों को यहाँ की प्रजातंत्र पर आश्रित पंचायत-व्यवस्था को देख कर अत्यन्त आश्चर्य हुआ था। उनके लिए इस व्यवस्था द्वारा शासन करना कठिन था क्योंकि इस व्यवस्था द्वारा तो शासन जनता के हाथ में चला जाता था। यह उन्हें अभीष्ट न था। उन्होंने जिस शासन-व्यवस्था को जारी किया उससे पंचायतों का दिनोंदिन ह्रास होने लगा। अंग्रेजों की शासन-व्यवस्था के निम्न कारणों से पंचायतों का ह्रास तेजी से हुआ—

(क) लगान वसूल करने की पद्धति—लगान वसूल करने के सम्बन्ध में पहले यहाँ 'महालवारी'-प्रथा थी। इसका यह अर्थ है कि लगान किसान से व्यक्ति-रूप से वसूल न करके 'महाल' से वसूल किया जाता था। गाँवों के कुछ समूहों को 'महाल' कहा जाता था। वसूली का यह काम, जैसा हम पहले कह आये हैं, पंचायत के सुपुर्द था। अंग्रेजों के समय जमींदारी-प्रथा जारी की गई। जमींदार गाँव वालों से मनचाहा लगान वसूल करता किन्तु निश्चित रकम सरकार के खजाने में जमा कर देता था। जिन किसानों का कोई जमींदार नहीं था, वे खुद लगान खजाने में जमा करते थे। अंग्रेजों ने यह कानून बनाया कि लगान व्यक्ति को स्वयं जमा करना होगा। इस कानून के बनने से पंचायत-प्रथा की लगान वसूल करने की दृष्टि से आवश्यकता न रही।

(ख) पुलिस तथा कचहरी की व्यवस्था—जैसा हम शुक्रनीति-सार के समय की पंचायत का वर्णन करते हुए लिख आये हैं, पंचायत का काम 'शासन' (Executive) तथा 'न्याय' (Judiciary)—ये दोनों था, इसलिए अंग्रेजों के आने से पहले गाँव की सुरक्षा तथा आपसी झगड़े निपटा कर न्याय करना ंचायत के सुपुर्द था, परन्तु अंग्रेजों के समय पुलिस की सुदृढ़ व्यवस्था हो जाने के कारण गाँव की सुरक्षा की जिम्मेदारी पंचायत की न रह कर पुलिस की हो गई। इसी प्रकार झगड़े निपटाना तथा न्याय-व्यवस्था करना भी पंचायत के हाथ में न रह कर अदालत तथा कचहरी के हाथ में चला गया। इस प्रकार पंचायत के पास काम न रहने के कारण भी उनका ह्रास होने लगा।

(ग) पंचायत की जगह जिला-बोर्डों का निर्माण---१८४२ में नगरों के सुशासन के लिए म्युनिसिपैलिटियां बनीं। इसी प्रकार १८८२ में लार्ड रिपन के उद्योग से ग्रामों के सुशासन के लिए डिस्ट्रिक्ट बोर्डों का निर्माण हुआ। डिस्ट्रिक्ट बोर्डों का काम जिले भर के गांवों का प्रबन्ध करना था। इनके बनने से राज-सत्ता पंचायतों के हाथ में न रही, डिस्ट्रिक्ट बोर्डों के हाथ में आ गई। दूसरे शब्दों में हम कह सकते हैं कि अब तक जो राज-सत्ता 'विकेन्द्रित' (Decentralized) थी, गांव-गांव में बिखरी पड़ी थी, वह जिले में 'केन्द्रित' (Centralized) हो गई, जिले के शासकों के हाथ में चली गई।

३. पंचायतों को पुनर्जीवित करने का प्रयत्न

[स्वतन्त्रता-प्राप्ति से पहले]

(क) १८४२ में शहरों में म्युनिसिपैलिटियों का निर्माण---१८४२ तथा १८६२ में अंग्रेजों ने यह देख कर कि शासन-व्यवस्था को सुचारु रूप से चलाने के लिए शहरों को कुछ अधिकार देने चाहिएं, बड़े-बड़े शहरों में म्युनिसिपल-कमेटियां बनाईं जिनका काम शहरों का स्थानीय प्रबन्ध करना था। १८७० में लार्ड मेयो के प्रस्ताव के अनुसार शहरों में इन म्युनिसिपैलिटियों की संख्या बढ़ा दी गई, किन्तु अभी तक गांवों की तरफ़ किसी का ध्यान नहीं गया। स्थानीय-निकायों को ठीक ढंग से चलाने और शहरों तक ही उन्हें सीमित न रखने का श्रेय लार्ड रिपन को है।

(ख) १८८२ में गांवों में डिस्ट्रिक्ट बोर्डों का निर्माण---जैसे १८४२ में म्युनिसिपैलिटियों का निर्माण हुआ, वैसे १८८२ में ग्रामों की शासन-व्यवस्था को सुचारु रूप से चलाने के लिए डिस्ट्रिक्ट-बोर्डों का निर्माण हुआ। इस कार्य का श्रेय लार्ड रिपन को है। लार्ड रिपन का काल 'स्थानीय-निकाय विकास-काल' कहा जाता है।

(ग) १९०९ से १९१९ में ग्रामों में पंचायतों का निर्माण---१९०९ में रायल कमीशन बना। इस कमीशन ने कहा कि हम अब तक ग्रामों का पुनर्निर्माण करने में इसलिए सफल नहीं हुए क्योंकि हमने नींव से पुनर्निर्माण के कार्य को नहीं शुरू किया। इस देश की नींव यहां के गांव हैं। अगर हम गांवों का पुन-र्निर्माण करना चाहते हैं, तो पंचायतों का पुनर्जीवन करना होगा। १९१९ में जब मौन्टेगू-चेम्सफ़ोर्ड सुधारों के अनुसार स्व-शासन के अधिकार को मान कर सत्ता प्रान्तीय मन्त्रियों के हाथ में दे दी गई, तब ग्राम-पंचायतों की तरफ़ का ध्यान विशेष रूप से गया। इस समय जगह-जगह ग्राम-पंचायतें बनीं। हर प्रान्त में ग्राम-पंचायत-कानून बने। १९१९ में बंगाल में, १९२० में मद्रास, बम्बई तथा उत्तर-प्रदेश में, १९२६ में बिहार, उड़ीसा, असम में ग्राम-पंचायत-कानून स्वीकृत हुआ। बड़ौदा, मैसूर, ट्रावनकोर, कोचीन, कोल्हापुर, इन्दौर, बीकानेर, पटियाला, भोपाल आदि देसी रियासतों में भी पंचायत-कानून बने। इन कानूनों के बनने के बावजूद क्योंकि पंचायतों को कोई विशेष अधिकार नहीं

दिये गये थे, इसलिए ये कानून काग़ज़ी-कानून बने रहे, और पंचायतों का पुनरुज्जीवन न हो सका।

[स्वतन्त्रता-प्राप्ति के बाद]

(क) 'संविधान' में पंचायत-निर्माण की व्यवस्था—१९४७ को भारत स्वतंत्र हुआ और तब से देश-वासियों का ध्यान पंचायत-निर्माण की तरफ़ विशेष रूप से गया। १९४७ में स्व-शासन तो स्थापित हो गया, परन्तु स्व-शासन तभी स्व-शासन कहा जा सकता है जब जनता के हाथ में सत्ता हो। इस देश की जनता तो गाँवों में फैली पड़ी है। जब तक उस जनता के हाथ में सत्ता नहीं दी जाती तब तक विधान-सभाओं और संसदों के सदस्य चुन लेने से तो काम नहीं चल सकता। ये सदस्य तो प्रान्तों में या केन्द्र में जाकर बैठ जाते हैं। जनता के हाथ में सत्ता कैसे आये। सिर्फ़ मत-दान का अधिकार दे देने से भी काम नहीं चलता। मत-दान से चुने जाने वाले भी प्रान्त अथवा केन्द्र में जा बैठते हैं। सत्ता गाँव में रहे—यह कैसे किया जाय? इस बात को स्वतंत्र-भारत में अनुभव किया गया और संविधान बनाते हुए इसे स्पष्ट कर दिया गया।

भारतीय-संविधान के अनुच्छेद ४० में लिखा है: "राज्य ग्राम-पंचायतों का संगठन करने के लिए अग्रसर होगा तथा उन्हें ऐसी शक्तियाँ तथा अधिकार प्रदान करेगा जो उन्हें स्वायत्त-शासन की इकाइयों के रूप में कार्य करने योग्य बनाने के लिए आवश्यक हों।"*

(ख) सर्व-प्रथम उत्तर-प्रदेश में ग्राम-पंचायतों का निर्माण—'संविधान' के उक्त निर्देश के अनुसार सर्व-प्रथम उत्तर-प्रदेश में ७ दिसम्बर १९४७ को 'उत्तर-प्रदेशीय पंचायत-राज अधिनियम' स्वीकृत किया गया जिसके अनुसार पंचायत-सभा और पंचायत-अदालत का पहला चुनाव फरवरी १९४९ को कर दिया गया। इस कानून का संशोधन १९५४ में हुआ। वैसे तो ग्राम-पंचायत कानून स्वतंत्रता-प्राप्ति से पहले ही बन चुके थे, परन्तु अब स्वतंत्रता-प्राप्ति के बाद इन पंचायतों को विशेष रूप से संगठित करने का प्रत्येक प्रांत ने प्रयत्न किया। उत्तर-प्रदेश के इस अधिनियम के सदृश अन्य प्रान्तों ने भी कानून बनाये। इन कानूनों में 'ग्राम-सभा', 'ग्राम-पंचायत' तथा 'पंचायती-अदालत'—इन तीन की व्यवस्था थी। इन व्यवस्थाओं का आशय राज-शक्ति को 'विकेन्द्रित' (Decentralized) करना था। इन तीनों का क्या रूप है—यह स्पष्ट करने की आवश्यकता है।

४. पंचायतों का वर्तमान रूप

उत्तर-प्रदेश में १९२० में 'यू० पी० ग्राम-पंचायत एक्ट' पास हुआ, परन्तु वह काग़ज़ी कानून बना रहा। १९४७ में 'उत्तर-प्रदेश पंचायत-राज एक्ट'

* 40. "The State shall take steps to organise Village Panchayats and endow them with such powers and authority as may be necessary to enable them to function as units of self-government."—*The Constitution of India.*

पास हुआ जो कि क्रियान्वित हो रहा है। इस समय उत्तर-प्रदेश में पंचायतों का जो रूप है वही प्रायः हर प्रान्त में है, इसलिए उत्तर-प्रदेश की पंचायतों की 'ग्राम-सभा,' 'ग्राम-पंचायत' तथा 'पंचायती-अदालत' के संगठन को जान लेना काफ़ी है।

(क) ग्राम-सभा—१००० से अधिक की आबादी के गाँवों में एक ग्राम-सभा होगी। जिन गाँवों की आबादी कम होगी, उन्हें पास के दूसरे गाँवों के साथ मिला दिया जायगा। २१ वर्ष का हर व्यक्ति—पुरुष हो, स्त्री हो—ग्राम-सभा का सदस्य माना जायगा। ग्राम-सभा की दो बैठकें अवश्य होंगी—एक ख़रीफ़ की फ़सल के बाद, दूसरी रबी की फ़सल के बाद। कुल सदस्यों का पाँचवाँ भाग गाँव-सभा की बैठक के लिए कोरम समझा जायगा, परन्तु कोरम पूरा न होने के कारण स्थगित बैठक के लिए दुबारा कोरम की जरूरत न होगी। यदि ग्राम-सभा के २० सदस्य लिखित माँग करें, तो आवेदन-पत्र के आने के ३० दिन के भीतर सभा बुलानी होगी। ग्राम-सभा अपना सभापति अपने-आप चुनेगी। ख़रीफ़ की फ़सल के बाद की बैठक में सालाना बजट बनाया जायगा, और रबी की फ़सल की बाद की बैठक में बजट का रुपया ठीक-से व्यय हुआ या नहीं—इस पर विचार होगा। ग्राम-सभा की बैठक में गाँव के सब वयस्क सदस्य, जिनकी संख्या एक हज़ार तक हो सकती है, भाग लेंगे, किसी को भाग लेने से वंचित नहीं किया जा सकता।

(ख) ग्राम-पंचायत—परन्तु हर समय तो ग्राम-सभा बुलाई नहीं जा सकती, उसकी संख्या बहुत अधिक जो है। जैसे हर जगह एक बड़ी सभा की एक छोटी सभा—'कार्य-कारिणी-समिति'— होती है, वैसे ग्राम-सभा की भी कार्य-कारिणी चुनी जाती है जिसे 'ग्राम-पंचायत' कहते हैं। इसमें सब लोग नहीं होते, ग्राम के चुने हुए लोग होते हैं, जो लगातार ग्राम-सभा की तरफ़ से काम करते रहते हैं। ग्राम-सभा के १००० सदस्यों के पीछे ग्राम पंचायत के ३० सदस्य, १००० से २००० सदस्य-संख्या पर ३६ सदस्य, २००० से ३००० की सदस्य-संख्या पर ३९, ३ व ४ हज़ार की संख्या पर ४५ और ४ हज़ार से ऊपर की सदस्य-संख्या पर ५१ सदस्य चुने जाते हैं। अनुसूचित-जातियों की संख्या के अनुपात से पंचायत में उनका स्थान सुरक्षित रखना होता है। इस प्रकार ग्राम-पंचायत को ग्राम-सभा चुनती है, और एक तरह से यह ग्राम-सभा की 'कार्यकारिणी-समिति' है। ग्राम-सभा के प्रधान तथा उप-प्रधान ग्राम-पंचायत के भी प्रधान तथा उप-प्रधान समझे जाते हैं। पंचायत के सदस्यों का काल तीन वर्ष का होता है, और उनमें से भी एक-तिहाई सदस्य प्रति वर्ष हटते जाते हैं, उनकी जगह प्रतिवर्ष नवीन सदस्यों का चुनाव होता है, और इस प्रकार ग्राम-पंचायत कभी भंग नहीं होती।

ग्राम-पंचायतों का कार्य-क्षेत्र भी निर्धारित कर दिया गया है। ग्राम-पंचायतों के लिए दो प्रकार के कार्य हैं—'अनिवार्य' तथा 'ऐच्छिक'। अनिवार्य-कार्यों में सड़कों की देख-भाल और मरम्मत, उनको सम-तल करना, चौड़ा करना, ग्राम की सफ़ाई, कूएँ-तालाबों की व्यवस्था, उन्हें शुद्ध रखना, मैला जमा न होने देना, जन्म-मृत्यु का लेखा रखना, प्राथमिक-शिक्षा की व्यवस्था करना, पटवारी,

सिपाही, चौकीदार आदि से अगर ग्राम-वासियों को शिकायत हो, तो उसे ऊपर के अधिकारियों तक पहुँचाना—ये सब काम ग्राम-पंचायतों के लिए आवश्यक हैं। ऐच्छिक-कार्यों में ग्रामवासियों की चिकित्सा का प्रबन्ध करना, वाचनालय तथा पुस्तकालय स्थापित करना, खेती तथा जानवरों की नस्ल को सुधारना, खेल-कूद तथा अखाड़ों का आयोजन, रेडियो का प्रबन्ध, ग्राम की रक्षा के लिए स्वयं-सेवक-दल का निर्माण, मेले-तमाशे-हाट-बाजार का लगाना—ये सब ऐच्छिक-कार्य हैं, जिन्हें ग्राम-पंचायत कर सकती है।

परन्तु इन कामों के लिए रुपया चाहिए। रुपए के लिए ग्राम-पंचायत को कुछ टैक्स लगाने के अधिकार दे दिये गये हैं। ग्राम-पंचायत मजदूरों से २ रु० सालाना, पल्लेदारों से ३ रु०, गाड़ीवानों से १।। रु०, व्यापारियों से ८ रु० सालाना वसूल कर सकती है; १९३९ के काश्तकारी-कानून के मातहत लगान में से १ आना रुपया टैक्स वसूल कर सकती है; बाहर से पैंठ तथा मेलों में जो व्यापारी अपना माल बेचने के लिए आयें उन पर टैक्स लगा सकती है; पशुओं की बिक्री, कसाई-खानों से टैक्स वसूल कर सकती है; ३००० रुपये वार्षिक की आय वालों पर गृह-कर लगा सकती है। इसके अतिरिक्त सरकार भी ग्राम-पंचायतों को आर्थिक-सहायता देती है। अब तो जमींदारी खत्म हो गई, इसलिए सरकार जमीन की मालिक है। अब जो लेगान वसूल होगा वह सरकार ग्राम-पंचायतों के द्वारा वसूल करने की सोच रही है। इस वसूली के लिए सरकार की तरफ़ से १ आना रुपया ग्राम-सभाओं को कमीशन दिया जायगा जिससे ग्राम-पंचायतों के पास काफ़ी रुपया जमा हो जायगा और इस रुपये को ग्राम-पंचायत अपने विकास कार्यों पर व्यय कर सकेगी।

(ग) पंचायती-अदालत—जब ग्राम-सभाएँ पंचायत के सदस्य चुनती हैं तब पांच अतिरिक्त सदस्यों को भी पंचायती-अदालत के लिए चुन लेती हैं। हर गाँव की अपनी पंचायती-अदालत नहीं होती, कुछ गाँव मिलाकर उनकी पंचायती-अदालत बना दी जाती है। हर गाँव के पाँच-पाँच मिलाकर ४–५ गाँवों में २०–२५ सदस्य हो जाते हैं। ये सदस्य मिलकर स्वयं अपना एक सरपंच चुन लेते हैं। सरपंचों और सहायक सरपंचों का पढ़ा-लिखा होना आवश्यक है। प्रत्येक मुकदमे के लिए सरपंच पहले चुने हुए २०–२५ पंचों में से पाँच पंचों का एक 'बेंच' नियुक्त कर देता है—वादी के गाँव का एक, और प्रतिवादी के गाँव का एक पंच इस बेंच में होना आवश्यक है, शेष तीन पंच अन्य गाँवों के होते हैं और यह 'बेंच' मुकदमा सुन कर उस पर फ़ैसला करती है।

पंचायती-अदालत फ़ौजदारी तथा दीवानी—दोनों प्रकार के फ़ैसले करती है। फ़ौजदारी में निम्न मामले पंचायती-अदालत सुन सकती है—अदालती समन न लेना, सार्वजनिक मार्ग पर लड़ाई, मार-पीट, तेज गाड़ी चलाना, गन्दे गाने गाना, बेगार लेना, ४०० रुपए से कम की चोरी, बलात्कार, कुएँ या जलाशय को गन्दा करना, आग लगाना। इन मामलों में पंचायती-अदालत जेल की सजा नहीं दे सकती, १०० रु० तक जुर्माना कर सकती है। दीवानी मामलों में १००

रुपए तक के मुकदमे का यह अदालत फ़ैसला कर सकती है, जायदाद, वसीयत आदि के मुकदमों को नहीं सुन सकती। यदि कोई अदालत बहुत अच्छा काम करती हो, तो उसे राज्य-सरकार ५०० रु० तक के दीवानी मुकदमे सुनने का अधिकार दे सकती है।

५. ज़िला-बोर्ड, अन्तरिम ज़िला-परिषद् तथा ज़िला-परिषद्

जैसा पहले कहा जा चुका है, ज़िले का काम व्यवस्थित रूप से चलाने के लिए लार्ड रिपन के उद्योग से १८८२ में डिस्ट्रिक्ट-बोर्डों का संगठन प्रारम्भ हुआ। पंचायतों का क्षेत्र तो अपने गाँव तक सीमित रहता है, परन्तु सब ज़िले के संगठन की भी आवश्यकता है ताकि ज़िले भर की शिक्षा, स्वास्थ्य, चिकित्सा, कृषि, पशु-पालन आदि की समस्याओं को ग़ैर-सरकारी तौर पर हल किया जाय और यह कार्य जनता के हाथों में सौंपा जाय। इसी उद्देश्य से ज़िला-बोर्डों की स्थापना हुई थी जिसमें चुनाव से कुछ लोग आते थे और ज़िले की समस्याओं को सुलझाते थे। अब ज़िला-बोर्डों की जगह राज-सत्ता के 'विकेन्द्रीकरण' के लिए ज़िला-परिषदों की स्थापना हो रही है और इस दिशा में उत्तर-प्रदेश तथा राजस्थान सरकार ने कदम बढ़ाया है। इन राज्यों में ज़िला-परिषदों का संगठन निम्न प्रकार हुआ है:

६. उत्तर-प्रदेश में अन्तरिम ज़िला-परिषदों तथा ज़िला-परिषदों की स्थापना

उत्तर-प्रदेश की सरकार ने ज़िले के संगठन की रचना में कुछ हेर-फेर करना आवश्यक समझा और डिस्ट्रिक्ट बोर्डों के पिछले जो चुनाव होने वाले थे उन्हें रोक कर प्रान्त के ५१ ज़िलों में १९५८ में 'अन्तरिम-ज़िला-परिषद्-अध्यादेश' (Interim Zila Parishad Ordinance, 1958) जारी किया। इस अध्यादेश का उद्देश्य यह था कि ज़िला-बोर्डों की जगह ज़िला-परिषदें बनायी जायें, और जब तक ज़िला-परिषदें बनाने का अधिनियम विधान-सभा में स्वीकृत न हो जाय तब तक अन्तरिम-काल के लिए अन्तरिम-ज़िला-परिषदें काम करें। यह अन्तरिम-ज़िला-परिषद् ज़्यादा-से-ज़्यादा उपयोगी हो सके, इसमें ज़िले के सब ऐसे व्यक्ति जो ज़िले में कुछ भी रचनात्मक कार्य करते हैं भाग ले सकें, इस उद्देश्य से इसका संगठन ऐसा किया गया जिसमें प्रायः सभी उपयोगी व्यक्ति आ जाते हैं। अन्तरिम-ज़िला-परिषद् के सदस्य जो ग़ैर-सरकारी तथा सरकारी होते हैं, निम्न प्रकार लिये गये। इस परिषद् का अध्यक्ष ज़िलाधीश बनाया गया।

[ग़ैर-सरकारी सदस्य]

(क) ज़िले के लोक-सभा, राज्य-सभा, विधान-सभा तथा विधान-परिषद् के सदस्य।

(ख) ज़िले का एक हरिजन कार्यकर्त्ता, अगर वह उक्त सदस्यों में से कोई नहीं है।

(ग) जिले की एक सामाजिक तथा रचनात्मक कार्यकर्त्री देवी, अगर वह उक्त सदस्यों में कोई नहीं है।

(घ) पांच ग़ैर-सरकारी सदस्य जिन्हें सरकार मनोनीत करे जिनमें एक औद्योगिक कार्यों में तथा गृह और कुटीर उद्योग में रुचि रखता हो।

(ङ) जिलाधीश द्वारा मनोनीत दो ग़ैर-सरकारी सदस्य, जिनमें से एक स्काऊट एसोसियेशन का उच्च अधिकारी हो और दूसरा जो विकास-कार्यों में रुचि रखता हो।

(च) मंत्री जिला सैनिक, नाविक तथा वायु-सेना बोर्ड (अगर जिले में हो)।

(छ) अध्यक्ष भूतपूर्व जिला-बोर्ड।

(ज) जिला बोर्ड के मनोनीत सात सदस्य।

(झ) जिले के हा० से० स्कूलों के प्रिन्सिपलों द्वारा चुना हुआ एक प्रतिनिधि।

(ञ) मैनेजिंग डायरेक्टर जिला को-ऑपरेटिव बैंक।

(ट) अध्यक्ष जिला को-औपरेटिव डिवेलपमेंट फ़ेडरेशन।

(ठ) समस्त चेयरमैन नगर-पालिका, नोटिफ़ाइड एरिया या टाऊन एरिया।

(ड) गाँव-सभाओं के प्रतिनिधि।

(ढ) एक प्रतिनिधि जिले की हर गन्ना मारकेटिंग सोसाइटी से।

(ण) संयोजक भारत-सेवक समाज।

(त) राज्य-नियोजन बोर्ड का जिले में रहने वाला ग़ैर-सरकारी सदस्य।

(थ) कृषि-पंडित, अगर जिले में रहता हो।

(द) राज्य-कृषि-बोर्ड का ग़ैर-सरकारी सदस्य, अगर जिले में रहता हो।

[सरकारी-सदस्य]

उक्त ४०–४२ ग़ैर-सरकारी सदस्यों के अतिरिक्त अन्तरिम-जिलापरिषद् के २९–३० सरकारी सदस्य बनाये गये, जो निम्न प्रकार थे—

जिलाधीश (अध्यक्ष), जिला-नियोजन-अधिकारी (मंत्री), जिला पूर्ति-अधिकारी, जिला पशु-पालन-अधिकारी, जिला स्वास्थ्य-अधिकारी, जिला विद्यालय-निरीक्षक, सब-डिवीजनल आफ़िसर कैनाल्स, असिस्टेंट एन्जीनीयर स्वायत्त-शासन, एक्जीक्यूटिव-एन्जीनियर निर्माण-विभाग, जिला रोजगार-अधिकारी, सिविल सर्जन, डिवीजनल-फ़ौरेस्ट-अधिकारी, सब-डिवीजनल-आफ़िसर, जिला उद्योग अधिकारी, जिला सूचना-अधिकारी, जिला कृषि-अधिकारी, जिला सहकारी-अधिकारी, सुपरिंटेंडेंट ऑफ पुलिस, सहायक पंचायत-राज अधिकारी, जिला हरिजन कल्याण-अधिकारी, सहायक समाज-कल्याण अधिकारी, जिला संगठक प्रान्तीय-रक्षक-दल, जिला संगठिका महिला-मंगल-योजना।

अब ३१ जुलाई १९५९ में उत्तर-प्रदेश की विधान-सभा में अन्तरिम जिला-परिषद् के स्थान में जिला-परिषद् के स्थिर रूप से बनाये जाने का प्रस्ताव रखा गया है और आशा की जाती है कि शीघ्र ही डिस्ट्रिक्ट बोर्डों तथा अन्तरिम जिला-परिषदों के स्थान में जिला-परिषदें कार्य करने लगेंगी।

७. राजस्थान में पंचायतों की स्थापना द्वारा सत्ता का विकेन्द्रीकरण

जैसा हम लिख चुके हैं 'पंचायत-व्यवस्था' का मुख्य लक्ष्य राज-सत्ता का 'विकेन्द्रीकरण' (Decentralization of political power) है। वैसे तो हर प्रान्त में पंचायतें बनाने का यही लक्ष्य है, परन्तु इस लक्ष्य को अपनी चरम-सीमा तक पहुँचाने में कदम राजस्थान-सरकार ने उठाया है। केरल में भी इसी दिशा में कार्य हुआ है और अन्य प्रान्तों में भी धीरे-धीरे इसी लक्ष्य को सम्मुख रख कर कार्य करने की योजना है। राजस्थान में पंचायतें बनाकर 'विकेन्द्रीकरण' की प्रक्रिया को किस प्रकार कार्यान्वित किया गया है—इसका यहाँ कुछ वर्णन कर देना जरूरी है।

सत्ता के विकेन्द्रीकरण की तरफ़ राजस्थान ने २ अक्तूबर १९५९ में कदम बढ़ाया। राजस्थान-सरकार ने सत्ता के 'विकेन्द्रीकरण' के लिए त्रि-स्तरीय व्यवस्था (Three-tier system) बनाई है। पहला स्तर 'ग्राम' (Village) है, दूसरा स्तर सामुदायिक-योजनाओं का 'खंड' (Block) है, तीसरा स्तर जिला (District) है। 'ग्राम' के स्तर पर 'ग्राम-पंचायत' (Village Panchayat) बनाई गई है, 'खंड' के स्तर पर 'खंड-समिति' (Block Samiti) बनाई गई है, 'जिले' के स्तर पर 'जिला-परिषद्' (Zila Parishad) बनाई गई है।

एक गाँव को या कई गाँवों को मिला कर उनकी ग्राम-सभाओं के निर्वाचन द्वारा जो 'ग्राम-पंचायत' बनाई जायेगी उसमें ८–१० निर्वाचित-सदस्य होंगे और एक प्रधान होगा जो सरपंच कहलायेगा। यह सरपंच ही गाँव का मुख्य कार्य वाहक होगा। इसी को मनुस्मृति तथा कौटिलीय अर्थशास्त्र में 'ग्रामिक' कहा गया है। 'ग्राम-पंचायत' के बाद 'खंड समिति' बनेगी जिसे 'पंचायत-समिति' भी कहा गया है। इसे 'खंड-समिति' इसलिए कहते हैं क्योंकि ये सामुदायिक विकास-योजनाओं के 'विकास-खंडों' की सीमा में होंगी, इसे 'पंचायत-समिति' इसलिए कहते हैं क्योंकि इनमें पंचायतों के सरपंच सदस्य होंगे। 'पंचायत-समिति' में ग्राम-पंचायतों के सरपंच, और कुछ विशेष हितों, जैसे खेती, हरिजनों, आदि-वासियों और स्त्रियों के विशेष प्रतिनिधि होंगे। इन विशेष हितों का प्रतिनिधित्व करने वाले सदस्यों को नामज़द करने का अधिकार 'पंचायत-समिति' के सदस्यों को होगा। विधान-सभा के सदस्य 'पंचायत-समिति' के 'सहकारी-सदस्य' (Associate members) रहेंगे। इसके बाद 'जिला-परिषद्' बनेगी।

'जिला-परिषद्' में जिले की सब पंचायत-समितियों के प्रधान, उस क्षेत्र विशेष के संसद्-सदस्य और विधान-सभा के सदस्य, कुछ विशेष हितों जैसे हरिजनों, आदिवासियों, स्त्रियों और सहकारी-समितियों का प्रतिनिधित्व करने वाले सदस्य होंगे। जिले का कलेक्टर भी उसका सदस्य होगा लेकिन उसे मत देने का अधिकार नहीं होगा।

(क) ग्राम-पंचायत—ग्राम-सभा से चुने हुए सदस्य 'ग्राम-पंचायत' में जायेंगे, ग्राम-पंचायत के सरपंच 'पंचायत-समिति' में जायेंगे, पंचायत-समितियों के प्रधान 'जिला-परिषद्' में जायेंगे—इसलिए असली सत्ता 'ग्राम-पंचायतों' के हाथ में आ जायेगी। इसी को सत्ता का 'विकेन्द्रीकरण' कहा जाता है। इस दृष्टि से ग्रामों के सम्बन्ध में योजनाएँ बनाने और उन्हें क्रियान्वित करने की मूल इकाई ग्राम-पंचायत होगी।

(ख) पंचायत-समिति—पंचायत-समितियाँ अपने क्षेत्र के लिए योजनाएँ बनायेंगी और उन्हें पंचायतों और दूसरी कार्य-संचालन समितियों के माध्यम से क्रियान्वित करेंगी। पंचायत-समितियाँ ग्राम-संस्थाओं के कार्य की देख-भाल करेंगी और उनके लिए तकनीकी और प्रशासक कर्मचारी मुहैया करेंगी। क्योंकि उद्देश्य ग्राम-संस्थाओं को मजबूत बनाना है, इसलिए काफ़ी सुविधाओं की व्यवस्था की गई है। पंचायत-समितियों के कार्य-क्षेत्र में खेती के विकास-सम्बन्धी सब काम, सहकारिता, भूमि का उद्धार, सिंचाई, पशु-पालन, जन-शक्ति का उपयोग, गाँव की सफ़ाई और स्वास्थ्य, संचार-व्यवस्था, उद्योग, आपातकालीन सहायता, आँकड़े इकट्ठे करना; जंगलात, आवास, प्रचार, हाट-व्यवस्था, लघु-बचत के कार्य-क्रम, मेलों की व्यवस्था, लोक-कला और संस्कृति की उन्नति आदि होंगे। पंचायत-समितियाँ जो योजनाएँ बनायेंगी, वे ऐसी अवश्य होनी चाहिएँ जो प्रान्तीय-सरकार की योजना तथा केन्द्रीय सरकार की योजना के ढाँचे में ठीक बैठ सकें।

ग्राम-पंचायत तथा पंचायत-समितियों की आमदनी के साधन निम्न होंगे—(i) पहली पंचायतों के सुपुर्द जो काम थे, अगर वे अधूरे रह गये हैं तो उनके पूरा करने के लिए सरकारी अनुदान, (ii) कुछ निश्चित समय के लिए दिया जाने वाला वार्षिक अनुदान, (iii) जो योजनाएँ इन पंचायतों को सरकार की तरफ़ से दी जायेंगी उनके पूरा करने के लिए जितना रुपया पंचायत खर्च करेगी उसके बराबर सरकारी अनुदान, (iv) प्रान्तीय सरकार द्वारा कर्ज़ के रूप में दिया गया रुपया, (v) पंचायत-समिति द्वारा कर्ज़ के रूप में जनता से लिया गया रुपया, (vi) करों से होने वाली आय।

(ग) जिला-परिषद्—जिला-परिषद् को अधिकार होगा कि वह पंचायत-समितियों के बजट का निरीक्षण करे; राज्य-सरकार द्वारा जिले के लिए दिये गये तदर्थ अनुदान को उनमें बाँटे; उनके कार्य-कर्मों का निरीक्षण करे और उनमें समन्वय स्थापित करे; राज्य सरकार को सलाह दे; उन सब कामों का निरीक्षण करे जो

पंचवर्षीय-योजना के अन्तर्गत जिले में किए जाने हैं; खेती सम्बन्धी और दूसरे कार्यों की प्रगति का ब्यौरा रखे; योजना के लक्ष्यों के प्रति सचेत रहे और आँकड़े इकट्ठे करने के अलावा शिविरों और गोष्ठियों की व्यवस्था करे। लोकतन्त्र के विकेन्द्रीकरण की योजना का मूल उद्देश्य यह है कि अब तक जो काम राज्य-सरकार करती रही है, उसमें जनता और उसके जिला और खंड स्तर की प्रतिनिधि-संस्थाएँ भी भाग ले सकें और साथ ही विभिन्न स्तरों पर काम करने वाले लोगों में अधिक-से-अधिक विश्वास उत्पन्न किया जा सके।

प्रान्तीय सरकार को यह अधिकार होगा कि वह उस पंचायत-समिति या जिला-परिषद् को जो अपने अधिकारों का उपयोग करने में असफल रहे, भंग कर सकती है या भंग होने के लिए बाध्य कर सकती है। वह किसी भी पंचायत-समिति के किसी प्रस्ताव को रद्द या स्थगित कर सकती है, बशर्ते कि वह जनता के हितों के विरुद्ध हो। जिला-परिषद्, पंचायत-समिति और पंचायतों को दिये जाने वाले मूल अधिकारों से और कोई सहायक अधिकार खुद-ब-खुद नहीं मिल जाते। उन्हें अधिकार देने के साथ-साथ सावधानी भी बरती जाएगी। इतना अवश्य है कि राज्य सरकार कोई भी कदम उठाने से पहले संस्था को यह मौका देगी कि वह अपने में सुधार कर सके।

असली नियंत्रण तो जनता के हाथ में होगा जो कि विभिन्न स्तर पर काम करने वाली प्रतिनिधि-संस्थाओं को चुनेगी। यह सच है कि पहले कभी जनता ने इन संस्थाओं के कार्य में कोई दिलचस्पी नहीं ली। ऐसा इसलिए होता रहा क्योंकि अभी तक इस बात की ओर ध्यान नहीं दिया गया था कि इन संस्थाओं का जनता की आँखों में कोई महत्त्व है। सरकारी प्रतिनिधियों की भी इनके बारे में कोई अच्छी राय नहीं थी और दूसरी ओर इन संस्थाओं का क्षेत्र बहुत सीमित था क्योंकि इनके साधन बहुत कम थे और इन पर बहुत कड़ा नियंत्रण रखा जाता था। इसलिए सबसे जरूरी बात यह है कि ऐसा कदम उठाया जाय जिससे सबसे नीचे के स्तर पर पूर्ण रूप से लोकतन्त्र लाया जा सके। इस उद्देश्य से अधिनियम में एक खास उपबन्ध रखा गया है कि कुछ खास किस्म के फैसले पंचायत के निर्वाचित सदस्यों के दो-तिहाई बहुमत से ही होंगे। ये विषय निम्न होंगे :— पीने, नहाने और कपड़े धोने के पानी के कुएँ, तालाब वगैरह बनवाना, गाँव की गलियाँ बनवाना, गाँव वालों के लिए टट्टियाँ बनवाना और नये मकान बनवाना।

अधिनियम के अन्तर्गत एक और व्यवस्था यह है कि पंचायतों को चाहिए कि हर साल दो बार पंचायत के क्षेत्र में रहने वाले वयस्कों की एक बैठक बुलाए जिसमें शुरू किये गये कार्यक्रमों की प्रगति पर विचार किया जाय और भविष्य के लिए नये कार्यक्रम बनाये जायें। इससे पंचायत द्वारा शुरू किये गये कार्यक्रमों के बारे में लोगों को जानकारी मिलेगी और उनका उत्साह बढ़ेगा। इन दो बैठकों के अलावा पंचायत के सरपंच और दूसरे सदस्यों को चाहिए कि वे गाँव के बड़े आदमियों से भी सलाह-मशवरा करते रहें। स्थानीय संस्थाओं के प्रतिनिधियों

को इस बात का अच्छी तरह ध्यान रखना होगा कि आर्थिक दृष्टि से पिछड़े हुए लोग प्रगति की दौड़ में पीछे न रह जायें। सरपंच और प्रधान को यह बात ध्यान में रखनी होगी कि ज्यादा जरूरतमन्दों की ओर पहले ध्यान दिया जाय।

८. राजस्थान की पंचायत-व्यवस्था में भिन्न-भिन्न स्तरों के संगठनों का समन्वय

विभिन्न स्तरों पर काम करने वाली विभिन्न सरकारी संस्थाओं में समन्वय स्थापित करने की आवश्यकता पहले की अपेक्षा अब कहीं ज्यादा है। अब यह सम्भावना हो सकती है कि निचले स्तर पर काम करने वाले कर्मचारी क्रियाशील न रहें। साथ ही संस्थाएँ उनको दी जाने वाली प्रशासन-सम्बन्धी और तकनीकी सलाह को दखलन्दाजी समझ कर उसकी ओर ध्यान न दें। इन दोनों ही प्रवृत्तियों को बढ़ने से रोकना होगा। प्रशासन के विकेन्द्रीकरण के द्वारा जनता खुद अपना प्रशासन चलाएगी। अब सरकार को बार-बार लोगों से सहयोग की अपील करने की जरूरत नहीं पड़ेगी। बल्कि अब जनता सरकार से सहयोग की अपील करेगी। यही कारण है कि सरकार ने आयुक्तों को कार्यक्रम-सलाहकार नियुक्त कर दिया है।

कार्यक्रम-सलाहकार के रूप में आयुक्त सरकारी कर्मचारियों और इन संस्थाओं के प्रतिनिधियों को मिलकर उन्हें सरकारी नीति के उद्देश्य समझाएँगे। वे सरकार को इन सुझावों के प्रति जनता की प्रतिक्रिया के बारे में सूचित करेंगे ताकि नयी-नयी आवश्यकताओं को देखते हुए सरकारी नीति में रद्दोबदल हो सके। इस नयी व्यवस्था में आयुक्त का कार्य लगभग जिला-विकास-अधिकारी जैसा होगा। उसे यह ध्यान रखना होगा कि ये संस्थाएँ तरक्की करें और लोगों में अपनी संस्थाओं को ज्यादा कामयाब बनाने का इरादा दृढ़ हो। वे इस बात का भी ध्यान रखेंगे कि जिला-स्तर पर काम करने वाले सरकारी कर्मचारी इन संस्थाओं की ओर पूरा-पूरा ध्यान दें।

विकास-अधिकारियों और विस्तार-अधिकारियों को पंचायत-समितियों में काम करने के लिए भेजा जाएगा। निम्नलिखित नौकरियों पर काम करने वाले सदस्य राजस्थान पंचायत-समिति और जिला-परिषद् सेवा के आधीन होंगे :--

(i) ग्राम सेवक।
(ii) ग्राम सेविकाएँ।
(iii) प्राइमरी स्कूल के अध्यापक।
(iv) क्लर्क आदि।
(v) क्षेत्र में काम करने वाले कर्मचारी।
(vi) टीका लगाने वाले कर्मचारी आदि।

इनकी भरती सबॉर्डिनेट सर्विस कमीशन करेगा।

स्थायी सेवाओं में काम करने वाले कर्मचारियों और निर्वाचित प्रतिनिधियों में आपसी सम्बन्ध जोड़ना होगा और एक स्वस्थ परम्परा कायम करनी होगी। निर्वाचित प्रतिनिधि और स्थायी सेवा में काम करने वाले कर्मचारियों को अपने-अपने कामों के सम्बन्ध में एक समझौता करना होगा। यह समझौता लिखित नहीं होगा। एक बार काम का बंटवारा हो जाने के बाद समाज-सेवकों को अपने कार्य-क्षेत्र में पूरी स्वतंत्रता दी जाएगी। संक्षेप में निम्न वर्गों में स्वस्थ परम्परा का विकास करना होगा :—

(i) पंचायतों में जनता के प्रतिनिधियों और पंचायत-समितियों में;
(ii) पंचायत-समितियों और जिला परिषद् में;
(iii) पंचायत-समितियों और राज्य सरकार में; और
(iv) पंचायत-समितियों और प्रशासन-सम्बन्धी अधिकारियों में।

हर व्यक्ति को चाहे उसका ओहदा कुछ भी क्यों न हो, कुछ सेवा सम्बन्धी नियमों का पालन करना होगा।

आगे आने वाला समय कई दृष्टियों से काफ़ी कठिन होगा। संक्रमण-काल में कार्यदक्षता और सरलता की दृष्टि से कुछ गिरावट आ सकती है। उसके लिए हर स्तर पर काम करने वाले और हर वर्ग के लोगों की सलाह लेनी होगी जिससे संक्रमण-काल की कठिनाइयों को दूर किया जा सके; कुछ विशेष कदम उठाने होंगे जिससे आगामी गिरावट को रोका जा सके। झूठी प्रतिष्ठा की बात छोड़नी होगी और हर व्यक्ति के मन में ऐसी भावना उत्पन्न करनी होगी कि वह एक सुगठित दल का सदस्य है जो एक, और केवल एक ही उद्देश्य के लिए कार्यबद्ध है और वह उद्देश्य है इस नयी त्रि-स्तरी व्यवस्था को कामयाब बनाना।

हमने देखा कि राजस्थान में 'विकेन्द्रीकरण' की प्रक्रिया को किस प्रकार गाँव से जिले तक तीन स्तरों में बाँटा गया है, और हर स्तर पर विशेष-विशेष अधिकार दिये गये हैं। इन अधिकारों के दिये जाने से राजस्थान की ग्राम-पंचायत-व्यवस्था को एक क्रांतिकारी व्यवस्था कहा जा रहा है। अब अन्य प्रांत भी राज-सत्ता के 'विकेन्द्रीकरण' की इस प्रक्रिया को अपने-अपने यहाँ जारी करने वाले हैं।

९. उत्तर-प्रदेश तथा राजस्थान की पंचायतों में भेद

पंचायतें तो प्रायः सभी प्रान्तों में बनी हैं, उत्तर-प्रदेश में भी, राजस्थान में भी, अन्य प्रान्तों में भी, परन्तु २ अक्तूबर १९५९ को राजस्थान में जिस पंचायत-राज की स्थापना हुई है उसे ही मुख्य तौर पर सत्ता का विकेन्द्रीकरण कहा गया है। इसका क्या कारण है? इसका कारण यह है कि बलवन्तराय मेहता कमेटी ने पंचायतों के विषय में यह सिफारिश की थी कि पंचायतों को असली सत्ता दे देनी चाहिये, उन्हें सरकारी मशीन का पुर्जा नहीं रखना चाहिए, इनमें जनता के हाथ में सत्ता दे देनी चाहिये, सरकारी कर्मचारियों को इनमें सहायक के तौर पर कार्य करना चाहिये, अधिकारी के तौर पर नहीं। यह कार्य उत्तर-प्रदेश में नहीं हुआ; राजस्थान, आन्ध्र तथा केरल में हुआ है। असल में देखा जाय

तो सत्ता का यथार्थ रूप में विकेन्द्रीकरण तभी कहा जायगा जब आर्थिक तथा प्रशासनिक सत्ता राजस्थान आदि की तरह पंचायत के हाथ में आ जायगी। यह परीक्षण कहाँ तक सफल होगा—यह भविष्य बतलायेगा।

१०. पंचायतों के कार्य का मूल्यांकन

पंचायतें ठीक तरह से कार्य करें इसके लिए सरकार ने अपनी तरफ़ से पर्याप्त व्यवस्था कर रखी है। 'पंचायत-राज अधिनियम' के अनुसार पंचायतों के कार्य की देख-रेख के लिए अनेक अधिकारी नियुक्त किये हुए हैं। पंचायत-निरीक्षक, पंचायत-अफ़सर, पंचायत-डायरेक्टर आदि अनेक अधिकारी हैं जिनका काम पंचायतों की व्यवस्था को देखना है। ग्राम-सभा, ग्राम-पंचायत तथा पंचायती-अदालत के बजट को पंचायत-निरीक्षक देखता है। जो पंचायतें ठीक काम नहीं करतीं उन्हें सरकार भंग भी कर सकती है, परन्तु इतना सब-कुछ नियन्त्रण रखने पर भी कई कारणों से पंचायतें उतना संतोषजनक कार्य नहीं कर रहीं जितना करने की उनसे आशा थी। इसके निम्न कारण हैं :

(क) जातिवाद—अभी तक जाति का विचार अपने देश में काफ़ी जड़ पकड़े हुए है। ऊँच-नीच का भेद भी इस जातिवाद की ही उपज है। गाँवों के लोग प्रायः अशिक्षित हैं, जाति के विचार के ऊपर वे नहीं उठ सकते। इसका परिणाम यह होता है कि जब कोई बात पंचायत में आती है तब उसे व्यक्ति की जाति की दृष्टि से देखा जाता है। तथाकथित नीच जाति के व्यक्ति के साथ पूरा-पूरा न्याय नहीं हो पाता। पंचायतों के चुनाव में भी यह कभी नहीं हो सकता कि तथाकथित नीच जाति का व्यक्ति कभी पंचायत के किसी उच्च-पद पर चुन लिया जाय।

(ख) गुटबन्दी—प्रत्येक गाँव में जो मुख्य-मुख्य व्यक्ति होते हैं उनके अपने-अपने गुट होते हैं। इस प्रकार के गुट शहरों में भी होते हैं। गुट के लोग अपने साथियों का योग्यता की दृष्टि से नहीं, परन्तु गुटबन्दी के कारण साथ देते हैं। गाँवों में तो दुश्मनी भी पुश्तैनी चलती है और उसके साथ बनी गुटबन्दी भी पुश्तैनी चलती है। इस कारण भी पंचायतें निष्पक्ष-भाव से गाँव-सुधार का कार्य नहीं कर पातीं।

(ग) निर्धनता—इसके अतिरिक्त पंचायत का कार्य ऐसा है जिसमें वही व्यक्ति भाग ले सकता है जो आर्थिक-दृष्टि से निश्चिन्त हो। हमारे ग्रामवासी प्रातः से सायं तक अपनी रोटी-पानी की व्यवस्था में ही जुटे रहते हैं, उन्हें पंचायती बातों के लिए समय ही कहाँ है। इसी लिए जो खाते-पीते लोग हैं, वे फ़ुर्सत में बैठ कर जो फ़ैसला कर देते हैं, उसे गाँव के लोग चुपके से मान लेते हैं। इसमें सन्देह नहीं कि ज्यों-ज्यों देश की निर्धनता दूर होगी, लोग अन्य दिशाओं में भी दिलचस्पी लेने लगेंगे।

(घ) अशिक्षा—पंचायतों के कार्य में इच्छित सफलता न मिलने का कारण ग्रामवासियों का शिक्षित न होना भी है। वे अभी अपने अधिकारों के

प्रति उतने सचेत नहीं हुए जितना उन्हें होना चाहिए। ज्यों-ज्यों शिक्षा का प्रचार बढ़ता जायगा, ज्यों-ज्यों वे अपने अधिकारों को समझते जायेंगे, त्यों-त्यों वे पंचायती-संगठन में अब तक की अपनी उदासीनता को छोड़ कर इसमें हिस्सा लेने लगेंगे।

११. पंचायत-राज तथा लोक-तंत्र

पंचायत-राज का अर्थ सत्ता का विकेन्द्रीकरण है—यह हमने लिखा। राजस्थान में पंचायतों की स्थापना करके किस प्रकार तीन स्तरों पर सत्ता का विकेन्द्रीकरण किया गया है—यह भी हमने देखा। विकेन्द्रीकरण की इस प्रक्रिया को अगर दृढ़ कर दिया जाय, तो उसका देश की 'लोकतंत्र-व्यवस्था' (Democracy) पर भी विशेष प्रभाव पड़ सकता है। श्री जयप्रकाश नारायण जैसे विचारकों का कथन है कि इस समय जिस प्रकार की लोक-तंत्र-व्यवस्था अपने देश में चल रही है उसमें हर-कोई पार्टीबाज़ी में पड़ जाता है, जात-बिरादरी के आधार पर वोट इकट्ठे करने लगता है। कहने को तो यह जनतंत्र है, परन्तु इसमें असली जनता की आवाज़ नहीं होती, जो धड़ेबन्दी कर लेता है वही जनता का नाम लेकर शासन का अंग बन जाता है। ऐसा लोक-तंत्र युरोप की उपज है, भारत के लोकतंत्र का मूलाधार तो 'पंचायत' है। सत्ता के विकेन्द्रीकरण को अगर शासन-व्यवस्था का आधार बना लिया जाय, तो वास्तविक-सत्ता गाँव या मोहल्ले के हाथ में होगी। गाँव वाले सर्व-सम्मति से अपने प्रतिनिधि चुनें, इन प्रतिनिधियों में से विकास-खंड के लिए प्रतिनिधि चुने जायें, उनमें से ज़िले के लिए, उनमें से प्रांत के लिए, और प्रान्त के लिए जो चुन जायें, उनमें से केन्द्र के लिए प्रतिनिधि चुने जायें। इस प्रकार सत्ता का मूल आधार गाँव होगा, गाँव की पंचायत होगी। जो लोग चुने जायें वे नीचे से, गाँव के स्तर से और अगर शहर से चुने जायें तो शहर की मोहल्ला-कमेटियों के स्तर से नितरते हुए ऊपर उभरें, हाई कमांड की तरफ़ से जनता पर थोपे न जायें, तभी सत्ता जनता के हाथ में आयी—ऐसा समझा जा सकता है। आज ऐसा नहीं हो रहा। आज जिसे हम लोकतंत्र कहते हैं उसे दल-तंत्र या पार्टी-तंत्र कहना अधिक उपयुक्त होगा। चतुर व्यक्ति चालबाजियों से, तरह-तरह के हथकंडों से पहले पार्टी का टिकट और फिर जनता का वोट ले उड़ते हैं। श्री जयप्रकाश नारायण तथा अन्य अनेक विचारक इस प्रकार के लोक-तंत्र को पाश्चात्य लोक-तंत्र कहते हैं, भारतीय लोक-तंत्र नहीं कहते। भारतीय लोक-तंत्र तब होगा जब पंचायत-राज होगा, सत्ता किसी दल या पार्टी में केन्द्रित न होकर जनता के हर व्यक्ति के हाथ में आयेगी, सत्ता केन्द्रित न रह कर विकेन्द्रित हो जायगी, चुनाव ऊपर से न लड़ा जाकर नीचे से लड़ा जायेगा। इस प्रकार के चुनाव में जो व्यक्ति खड़ा होगा उसे जनता खड़ा करेगी, वह जनता जिसे सत्ता का मूल आधार होना चाहिए। आज के लोक-तंत्र कहे जाने वाले चुनाव में जो व्यक्ति खड़ा होता है उसे जनता नहीं खड़ा करती, कोई दल, कोई पार्टी खड़ा करती है, और इसी लिए इसमें दलबन्दी बढ़ती जाती है।

परिशिष्ट

प्रजातिवाद के सिद्धान्त की आलोचना करते हुए ७४ पृष्ठ में ४ थी पंक्ति के आगे एक अलग पैरा देकर निम्न स्थल और जोड़ दिया जाय--

( ) रक्त-समूह के भेद के कारण प्रजातिवाद (Racism due to blood-group)—हम पहले दर्शा आये हैं कि मानव-समाज के रुधिर को A, B, O तथा AB---इस प्रकार चार भागों में बांटा गया है। रुधिर के इन भेदों के आधार पर प्रजातीय भेद होता है---यह प्रजातिवादियों का कथन है। परन्तु इस कथन में भी कोई सचाई नहीं, क्योंकि यह संभव है कि भाई-भाई एक रक्त-समूह के न हों। उदाहरणार्थ, यह संभव है कि एक भाई रक्त-समूह की दृष्टि से 'A' रक्त-समूह का हो, दूसरा भाई 'B' रक्त-समूह का हो। जब एक ही माता-पिता की सन्तान भिन्न-भिन्न रक्त-समूहों की हो सकती है, तब रक्त को प्रजाति का आधार कैसे माना जा सकता है ?

'O' रक्त-समूह के व्यक्तियों का रुधिर सब-किसी को दिया जा सकता है; 'AB' रक्त-समूह के व्यक्ति हर-किसी के रुधिर को अपने भीतर ले सकते हैं; 'A' रक्त को 'O' या 'B' को नहीं दिया जा सकता; 'B' रक्त को 'O' या 'A' रक्त वाले को नहीं दिया जा सकता; 'AB' रक्त 'O', 'A' तथा 'B' रक्त वाले को नहीं दिया जा सकता। ऐसी हालत में अगर एक भाई का 'B' रक्त है, और दूसरे भाई का 'O' रक्त है, तो भाई-भाई को एक-दूसरे का रुधिर देना ख़तरनाक है। यह संभव है कि तथाकथित किसी भिन्न जाति के व्यक्ति का रुधिर हमारे अनुकूल हो, और अपनी जाति के व्यक्ति का रुधिर हमारे प्रतिकूल हो। इससे स्पष्ट है कि रक्त-समूह के आधार पर प्रजातिवाद की पुष्टि नहीं की जा सकती।

अशुद्धि-शुद्धि-पत्र

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
५२	२२	डा० डी० एन०	५. डा० डी० एन०
८७	२	५,३०	५.३०
१११	३३	सल्थाल	सन्थाल
१८७	२१	Bridge	Bride
३२८	२६	धारा	धारा
३६१	९	निर्वाचन	प्रतिनिधित्व
३६९	३३	खोदने वाबे	खोदने वाले
३९८	१५	६.	५.
४२६	३५	Burges	Burgess
४३८	१	३३८	४३८
५४९	१६	आर्ा क	आर्थिक
५९१	१	वर्णन।	वर्णन

शब्द-सूची तथा शब्दानुक्रमणिका
(GLOSSARY AND WORD-INDEX)

नामानुक्रमणिका

UNIVERSITY OF AGRA

B. A. Examination

Papers on Peoples and Institutions of India

1951

(1) Give a brief account of the racial elements in India. To what extent have they affected the formation of caste in India?

(2) In what ways has the caste system served the development and preservation of Hindu society? Illustrate your answer fully.

(3) What advantages did the joint family system assure to the Hindus in their social life? Explain its structure in relation to the holdings of property and its management.

(4) Do you agree with the view that the Hindu marriage system is disintegrating? Discuss the present tendencies in its development.

(5) Give the main arguments for and against early marriages in India. What is your opinion of the effects of late marriages?

(6) What is the extent of the custom of prohibition of widow remarriage? State its effect on society and morals.

(7) State the demands of women in relation to marriage and property. To what extent have they succeeded?

(8) Explain the ideas of *Gotra* (गोत्र) and *Pravara* (प्रवर) which prevail in India. How do they affect marriage relations in Indian Society?

(9) Give a brief description of the matrilineal system of Malabar. What are its essential differences from other systems?

(10) Trace the factors which bring polyandry into existence. What are the types of polyandry prevalent in India?

1952

1. "A geographical survey of India reveals distinct cultural and social regions with marked differences in the types of habitations, social institutions, habits and psycho-traits of the population". Discuss and illustrate.

2. "There are in India to day a large number of tribes, some of which have come into contact with advanced culture groups, but mostly still living isolated from civilisation". What do you know about these tribes?

3. Distinguish clearly between *varna* (वर्ण), *jati* (जाति), and *gotra* (गोत्र), and explain their role in the Hindu social structure.

4. Do you agree with the view that the caste system in India has proved to be a stabilising and integrating force? Give reasons for your answer.

5. "The present untouchable classes should be given special education facilities. For education, with the consequent amelioration of economic position, will alone enable the reformer to solve the problem of untouchability". Examine the steps taken so far to eradicate untouchability and the results achieved.

6. Discuss the main features of the Indian joint family system and account for its comparative disintegration in the recent times.

7. "Fusion of blood through intermarriage has been found to be an effective method of cementing alliances and nurturing nationalities", Would you advocate mixed marriages in India today? How and why?

Or,

Describe briefly the points of contact and difference between the Hindu and Muslim marriage systems prevalent in India.

8. "Indian history has been distinguished throughout by a tendency towards toleration. Other peoples' faiths have been preserved, other peoples customs respected; not only preserved and respected but assimilated.." Illustrate.

Or,

Discuss the influence of the Moguls on Indian art, culture, social life and institutions.

9. "The West has met the East. What is required at the moment is judicious blend of Western materialism and Indian sprituality". Discuss, with illustrations from Indian life and thought to-day.

10. Write short notes on *any three* of the following:

(*a*) Matriarchal and patriarchal family system.

(*b*) The Hindu Code Bill.

(*c*) *Anuloma* (अनुलोम) and *Pratiloma* (प्रतिलोम) marriages.

(*d*) The doctrine of *karma* (कर्म).

(*e*) The '*huqqa-pani* (हुक्का पानी) as caste sanction.

(*f*) Polygamy in India.

1953

1. 'From immemorial times, India has been the meeting place of conflicting races and civilizations marked by a process of assimilation and synthesis.' Discuss with illustrations.

2. Do you agree with the view that criminals are born and not made? Illustrate your answer from what you know of the criminal tribes of India.

3. Analyze the chief characteristics of caste in India and discuss its role in the Hindu social structure.

4. 'The mass of Indian womanhood still lives in the mediaeval ages and nowhere has woman been so exploited as in India.' Examine the steps taken and results achieved in removing the disabilities from which Indian women suffer.

5. Discuss the view that the problem of the so-called untouchables is mainly social and economic, and not religious or political.

6. Describe the main features of the matrilineal and patrilineal systems found in India and account for the persistence of the latter amongst the 'more civilized'.

7. Examine the evil effects of the system of child marriage in India and account for the failure of legal remedies against this social practice.

8. 'Those who seek to boast today of the purity of Hindu or of Muslim culture in India are ignorant of history or else they lack the capacity to understand the historical processes.' Evaluate the results of the impact of these two cultures on Indian life.

9. Discuss the socio-economic effects of the process of progressive urbanization on Indian village life. How far will the re-establishment of village *panchayats* restore to the village communities their ancient status?

10. Write short notes on *any three* of the following:—

(*a*) *Mitakshara* and *Dayabhaga* systems of inheritance.

(*b*) Muslim law of divorce.

(*c*) *Sagotra* and *Sapinda*.

(*d*) The aboriginals in India.

(*e*) Inter-caste marriages.

(*f*) *Anuloma* and *Pratiloma*.

(*g*) Indians overseas.

1954

1. What are the disabilities of scheduled castes in India? What efforts are being made by the Government and society to remove them?

2. Trace the origin of races in India and point out their distinctive features.

3. What is the position of Polygamy in India? On what grounds can it be justified?

4. Is the profession of a criminal hereditary? Can he be made to leave it? If so, give suggestions for his reformation.

5. What is the ethical justification of widow marriage? What are its legal and social aspects?

6. On what grounds are inter-caste marriages desirable? Can they promote national unity?

7. Write a critical note on 'Hindu social customs' covering not more than seven pages of your answer books.

8. Describe the system of marriages among Muslims. To what extent does it differ from other systems prevalent in India?

9. Compare the Village *Panchayats* of ancient India with those of recent origin. Point out the Progress they have made in recent years.

10. 'East is East and West is West' and never the twain will meet!' Comment.

1955

1. Define 'tribe', 'clan', caste', class' and 'dual organization'.

2. What are different sub-types of the Negro race? Which of these are found in India and where are they found?

3. 'Function and function alone is responsible for the origin of the caste structure in India.' Comment on this statement.

4. How would you classify races? Discuss the race lements in the population of Northern India.

5. Discuss the role of the village *panchayat* in the reconstruction of Indian rural life.

6. Describe briefly the marriage customs of your family or of your caste and indicate the magical practices associated with such customs.

7. Distinguish between 'animism and animatism'. Which of these characterizes Indian 'tribal religions'?

8. Discuss the effects of missionary activities on tribal life in India.

9. What are the Different types of exogamy found in India? What are the social effects of exogamy?

10. 'No-one has placed woman where she belongs today; and no one can put her where she does not want to belong'. Comment on this statement.

11. Write short notes on any three of the following:—
Totem; Levirate; Matri-local residence; Mana; Gotul; Intrusion Marriage; *Pratilom* marriage.

1956

1. Define 'Gotra' and describe its function in the Hindu Social organisation.

2. Neolithic age has been called an age of revolution. Why?

3. Caste is a 'Brahmanic child of the Indo-Aryan culture cradled in the land of the Ganges and thence transferred to other parts of India by the Brahmin prospectors.'

4. Define 'Race', Nation' and 'Culture' and in brief discuss their Sociological implications.

5. What suggestions would you like to make for tribal rehabilitation in the new social set-up of the country?

6. Discuss the impact of Islam on Hindu society.

7. How do you account for the existence of untouchability in India? What measures would you suggest for its eradication?

8. What do you think are the main problems connected with the Hindu marriage? How far is the Special Marriage Act likely to eradidate them?

9. What role can the Village panchayat play in the changing pattern of the village community?

10. 'Whatever is Hindu in practice, in ideas, in ideals and in institutions must be kept up and preserved as the most sacred heritage of our forefathers'. Comment.

11. Write short notes on *any three* of the following.:—
Clan, Exogamy, *Anulom* marriage, *Varna*, Youth organisation.

1957

1. Define 'Race' and mention the racial strains found in the tribal population of India.

रेस (race) की परिभाषा करते हुए भारतीय जन-जातियों में पाये जाने वाले रेस के तत्वों (racial strains) का वर्णन कीजिये।

2. Article 40 of the Indian Constitution lays down, 'The State shall take steps to organize village *panchayats* and endow them with such powers and authority as may be necessary to enable them to function as units of self-government.' As a sociologist, give arguments in support of this constitutional provision.

भारतीय संविधान की ४० वीं धारा के अनुसार राज्य ग्रामपंचायतों को संगठित करने तथा उनको ऐसे अधिकार और सत्ता "जो उनको स्थानीय-शासन की इकाई के रूप में कार्य करने में आवश्यक एवं सहायक होंगे, प्रदान करने की ओर कदम उठायेंगे।" एक समाजशास्त्री के दृष्टिकोण से इस संविधानीय योजना के पक्ष में तर्क दीजिये।

3. Analyse, in brief, the impact of Western thought on Hindu social institutions.

हिन्दू सामाजिक संस्थाओं पर, पश्चिमी विचार के प्रभाव का संक्षिप्त विश्लेषण कीजिये।

4. What is 'Tribe'? How does it differ from 'caste'?

वनजाति (tribe) किसे कहते हैं? उसमें और जाति (caste) में क्या अन्तर है?

5. Give a brief critique of various theories of origin of the caste system.

जाति-प्रथा-उत्पत्ति सम्बन्धी विभिन्न मतों की संक्षेप में समीक्षा कीजिए।

6. What are the chief ideals of the Hindu family? What functional change have they undergone under the impact of civilization?

हिन्दू-परिवार के मुख्य आदर्श क्या हैं ? सभ्यता के समघात (impact) से उनमें क्या परिवर्तन हुए हैं ?

7. Do you subscribe to the view that the caste system is responsible for the existence of untouchability in India? Would you advocate its eradication to root out the evil of untouchability?

क्या आप मानते हैं कि भारत में अछूत-समस्या का अस्तित्व जाति-प्रथा के कारण है ? इसको दूर करने के लिए क्या आप जाति-प्रथा निवारण का पक्ष-पोषण करेंगे ?

8. 'The re-examination of the principles of Hindu life by the women themselves is the greatest challenge that Hindu society faces today.' Is this challenge a fact? If so, analyze its causes.

"वर्तमान समय में स्त्रियों द्वारा हिन्दू-जीवन के सिद्धान्तों का पुन:परीक्षण हिन्दू-समाज के लिए एक महानतम चुनौती है ।" क्या यह चुनौती वास्तविक है ? यदि हाँ, तो इसके कारणों का विश्लेषण कीजिए ।

9. Discuss the likely effects of recent social legislative measures passed by Indian Parliament on Hindu social organisation.

भारत Parliament में बनाये हुए नये सामाजिक कानूनों का हिन्दू सामाजिक-संगठन पर क्या-क्या प्रभाव पड़ेगा, उसकी व्याख्या कीजिए।

10. Discuss the importance of village *panchayats* in the social economy of a rural community in India. Indicate the measures adopted by Government to increase their importance.

गांव-पंचायत का भारत के ग्रामीण सामाजिक जीवन व्यवस्था (social-economy) में क्या महत्व है, उसकी व्याख्या कीजिए। सरकार ने इसकी महत्वता बढ़ाने के लिये क्या-क्या उपाय किए हैं ?

1958

1. Do you subscribe to the view that the joint family is disintegrating in India? If so, analyze its causes.

क्या आप इस मत से सहमत हैं कि भारत में सम्मिलित परिवार विघटित हो रहा है ? यदि हाँ, तो इसके कारणों का विश्लेषण कीजिए ।

2. Analyze the changes which the caste system has undergone under the impact of Islam and the West.

मुस्लिम और पश्चिमी सभ्यता के समघात से जाति-प्रथा में उत्पन्न परिवर्तनों का विश्लेषण कीजिये ।

3. Describe the main features of tribal religion in India and show its relation with Hinduism.

भारतीय आदिवासियों के धर्म की मुख्य विशेषताओं का वर्णन करते हुए, उसके और हिन्दुत्व के सम्बन्ध पर प्रकाश डालिये।

4. India has been described as a museum of races. Why?

भारतवर्ष को प्रजातियों का एक अजायबघर कहा गया है, क्यों?

5. 'The origin of the position of exterior castes is partly racial, partly religious and partly a matter of social custom'. Elaborate this statement critically with a view to throwing light on the origin of untouchability in India.

"बहिष्कृत जातियों (exterior castes) के स्तर की उत्पत्ति अंशतः प्रजातीय, अंशतः धार्मिक और अंशतः सामाजिक प्रथा का परिणाम है।" अस्पृश्यता की उत्पत्ति पर प्रकाश डालने के दृष्टिकोण से इस कथन की समालोचना कीजिये।

6. Compare and contrast the status of woman in Hindu and Muslim social organizations.

हिन्दू और मुस्लिम-समाज में पाई जानेवाली स्त्री-प्रतिष्ठा (status of woman) की तुलना कीजिये।

7. 'But in spite of all the ravings of the priests, caste is simply a crystallized social institution, which, after doing its service, is now filling the atmosphere of India with stink.' Comment.

ब्राह्मणों के लाख कहने के बावजूद भी, जाति केवल एक विशृङ्खलित सामाजिक संस्था है, जो अपनी सेवाओं के पश्चात्, अब भारतवर्ष के वातावरण को दुर्गन्ध से भर रही है।" इस कथन की आलोचना कीजिये।

8. What objectives have led to the revival of the village *Panchayat*? How far, in your opinion, have those objectives been fulfilled since its revival?

जिन उद्देश्यों को लेकर ग्रामपंचायत का पुनरुन्नयन किया गया है, उनका वर्णन कीजिये। आपके मत में उन उद्देश्यों की पूर्ति कहाँ तक हुई है?

9. Write short notes on *any two* of the following:—
(a) *Varna* and caste, (b) polyandry and polygyny,
(c) *anulom* and *pratilom*.

निम्नलिखित में से किन्हीं दो पर टिप्पणी लिखिये :—

(क) वर्ण और जाति; (ख) बहुपतित्व और बहुपत्नीत्व;
(ग) अनुलोम और प्रतिलोम।

1959

1. What is caste? Is it developing into class in contemporary India?

जाति क्या है? क्या आधुनिक भारत में 'जाति' क्रमशः 'वर्ग' के रूप में विकसित हो रही है?

2. Describe the main stages of economic development in tribal India.

भारतीय आदिवासी समाजों में आर्थिक विकास के प्रमुख स्तरों का वर्णन कीजिए।

3. Analyze the social factors responsible for changing the structure of family and kinship in India.

भारत में परिवार और सम्बन्ध-प्रणाली के गठन में परिवर्तन के लिए उत्तरदायी सामाजिक कारकों का विश्लेषण कीजिए।

4. Trace the distribution of polyandry in India. Describe its main features.

भारत में बहु-पतित्व का वितरण दर्शित करते हुए, उसकी प्रमुख विशेषताओं का वर्णन कीजिए।

5. Describe the social and governmental efforts made in India to improve the status of the untouchables.

भारत में अछूतों की स्थिति में सुधार के लिए जो सामाजिक तथा शासकीय प्रयत्न हुए हैं उनका वर्णन कीजिए।

6. Outline the social structure of village communities in India.

भारतीय ग्रामीण समुदायों के सामाजिक गठन की एक रूपरेखा प्रस्तुत कीजिए।

7. Write a short essay on 'Muslim marriage in India'.

"भारतीय मुस्लिम-समाज में विवाह" पर एक संक्षिप्त निबन्ध लिखिए।

8. In what ways, according to you, will the Hindu Code affect the traditional structure of Hindu society.

आपके मतानुसार "हिन्दू कोड" हिन्दू-समाज के परम्परागत गठन को किस तरह प्रभावित करेगा ?

9. In what spheres of Indian life is the influence of the West most pronounced?

भारतीय जीवन के किन पक्षों में पश्चिम का प्रभाव विशेषरूप से पड़ा है?

10. Write short notes on *any two* of the following:—
(*a*) Divorce in contemporary India. (*b*) Religion in tribal India. (*c*) New stone Age in India. (*d*) Breakdown of joint family.

निम्नलिखित विषयों में से किन्हीं दो पर संक्षिप्त टिप्पणियाँ लिखिए:—

(क) सम-सामयिक भारत में विवाह-विच्छेद। (ख) आदिवासी भारत में धर्म। (ग) भारत में नव प्रस्तर-युग। (घ) सम्मिलित परिवार का विघटन।